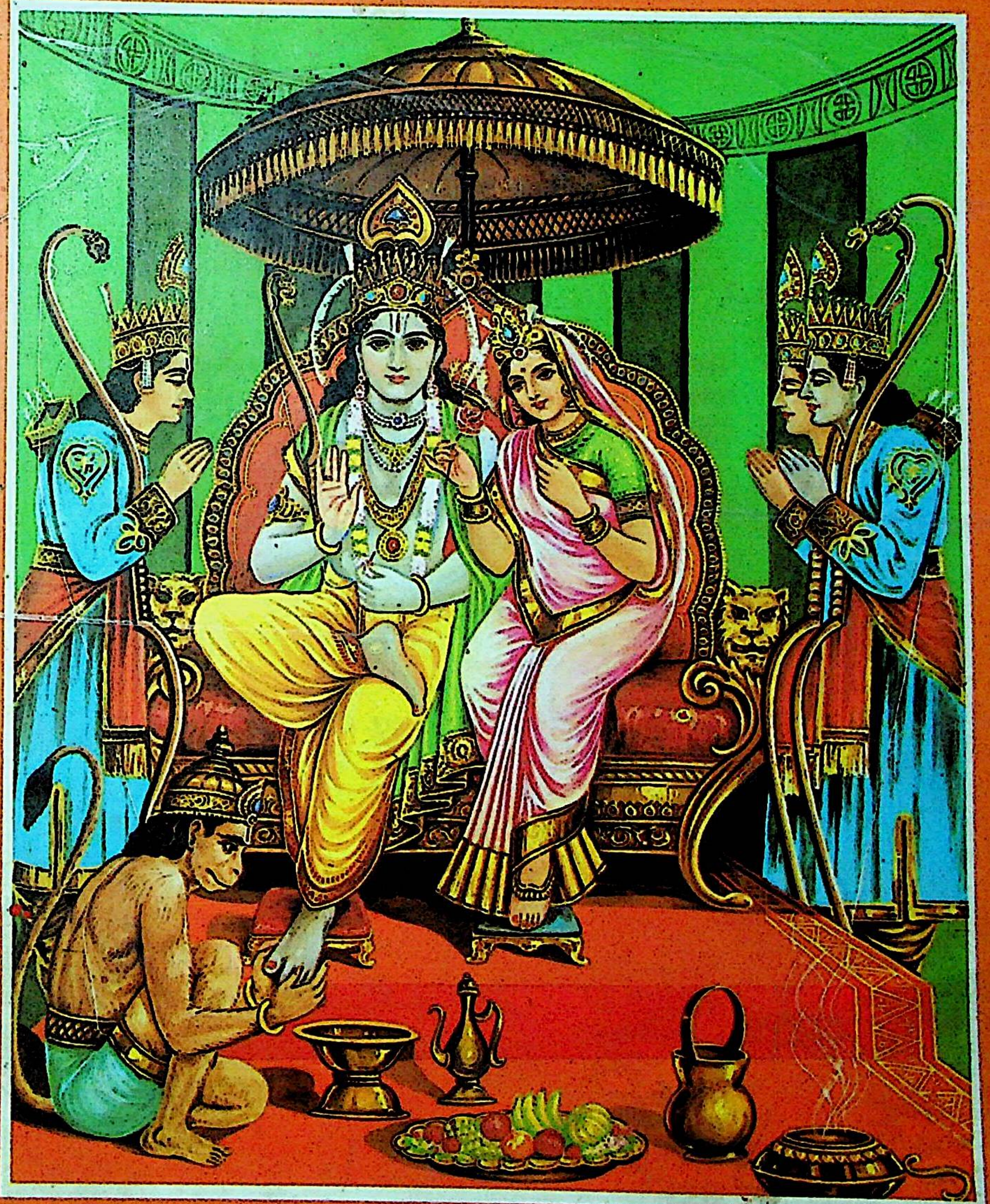
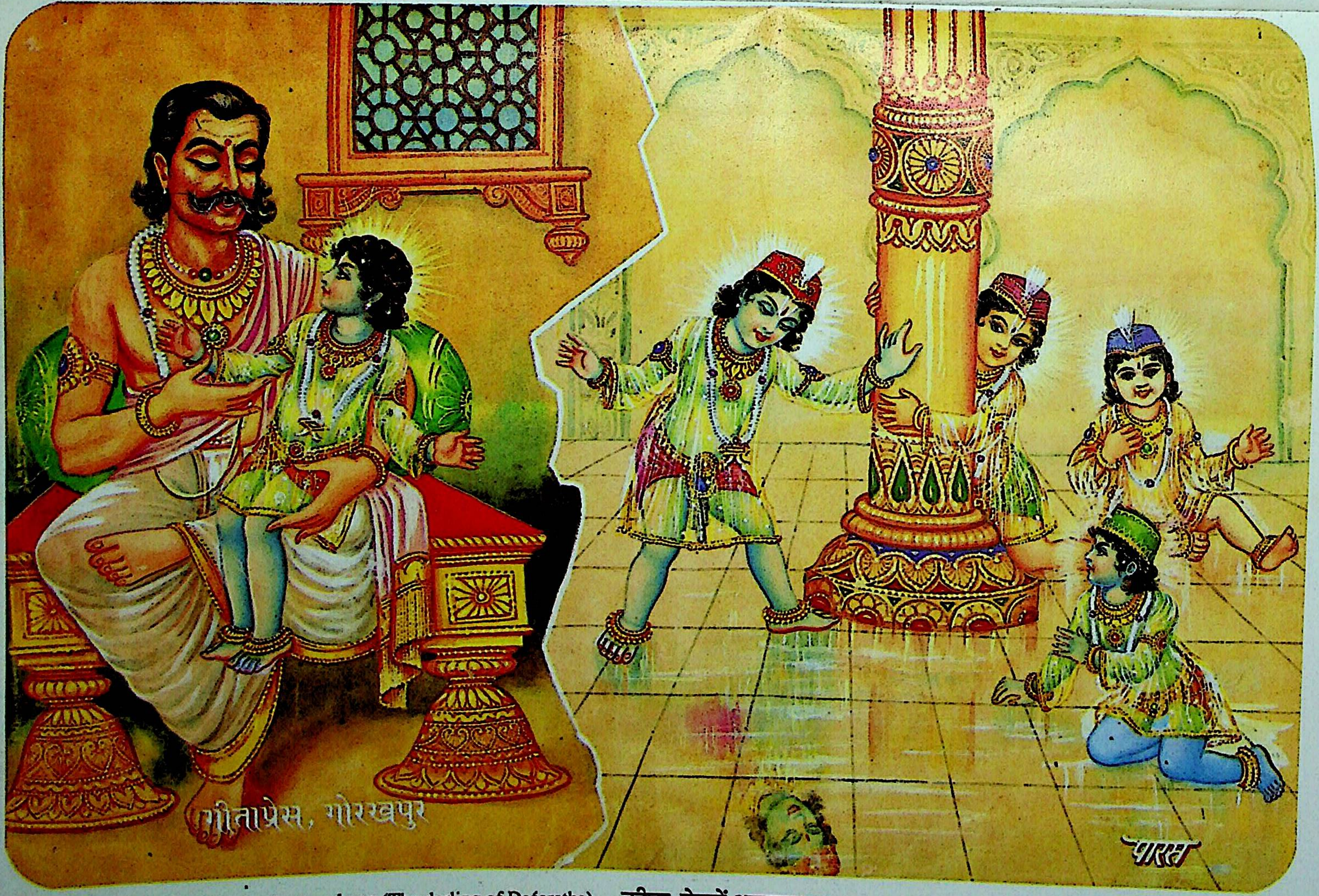
अध्यात्मरामायण

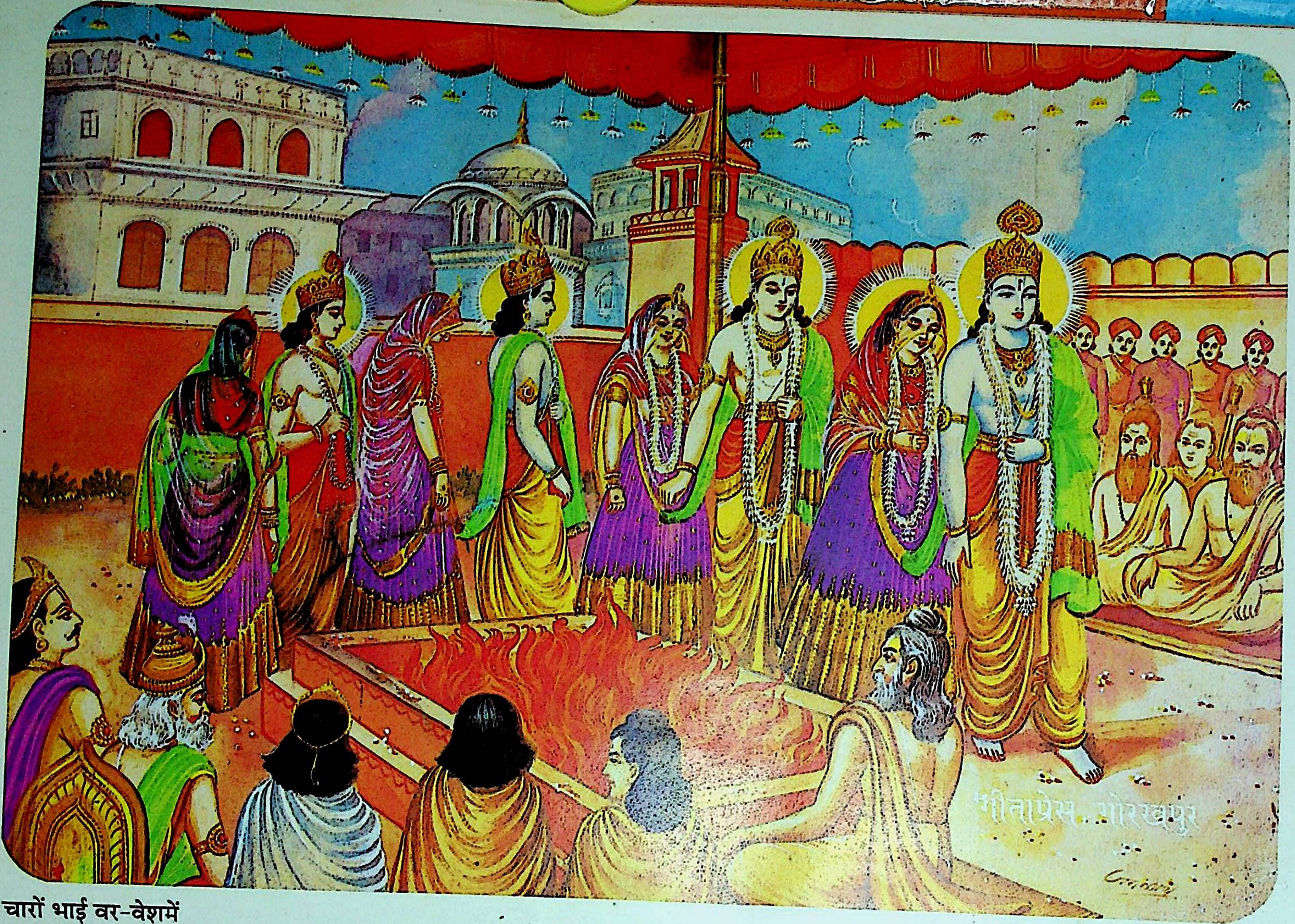
हिन्दी अनुवादसहित



गीताप्रेस, गोरखपुर

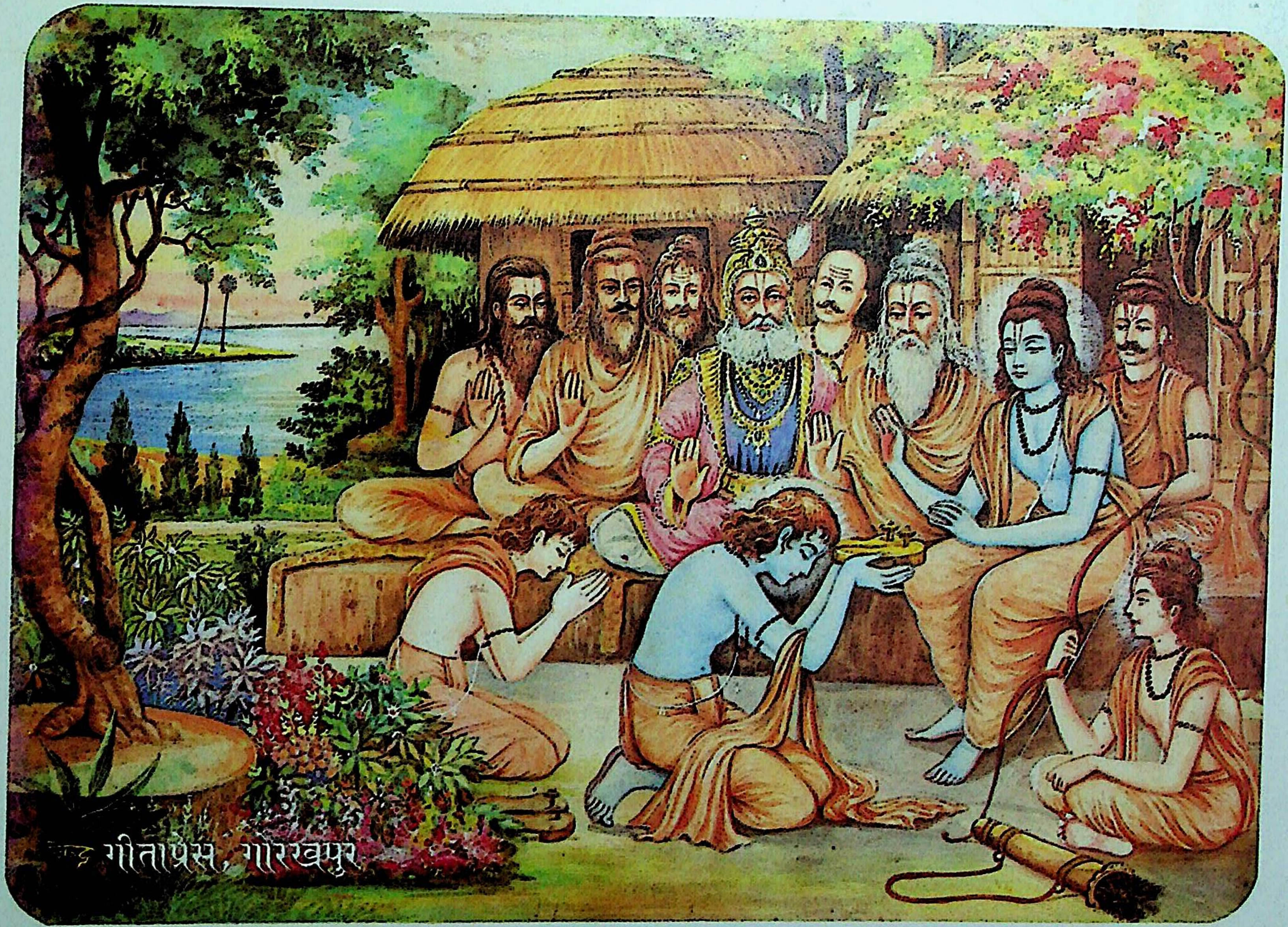


श्रीदशरथ-नन्दन Śrī Daśarathanandana (The darling of Daśaratha) क्रीड़ा-वेशमें आनन्दकन्द The blissful Lord in sport-costume



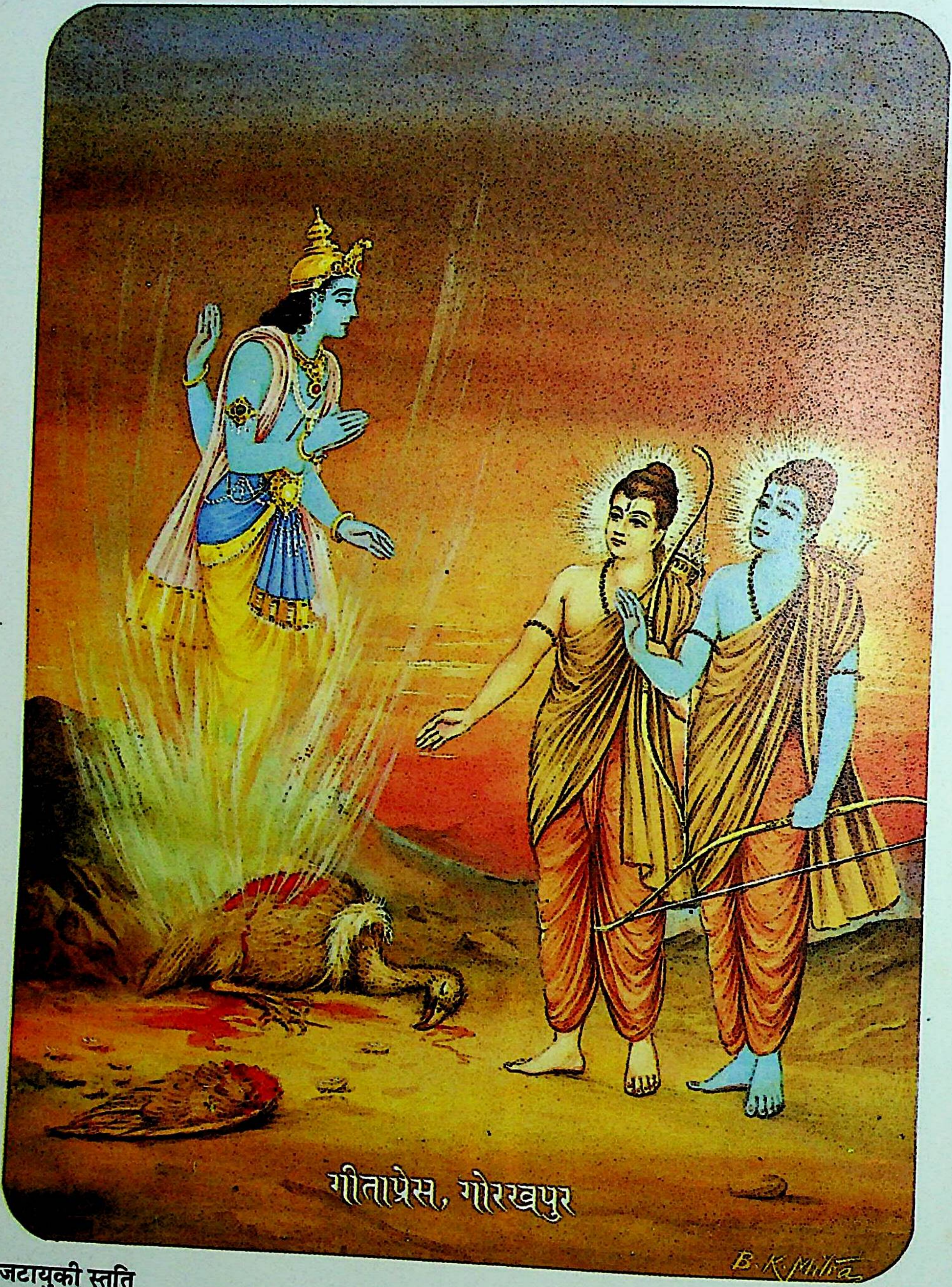
चारों भाई वर-वेशमें

The four brothers in wedding-costume



पादुका-दान

Sandals handed over



जटायुकी स्तुति

The Prayer by Jaṭāyu



हनुमानजीकी प्रार्थना

The Prayer by Hanumāna



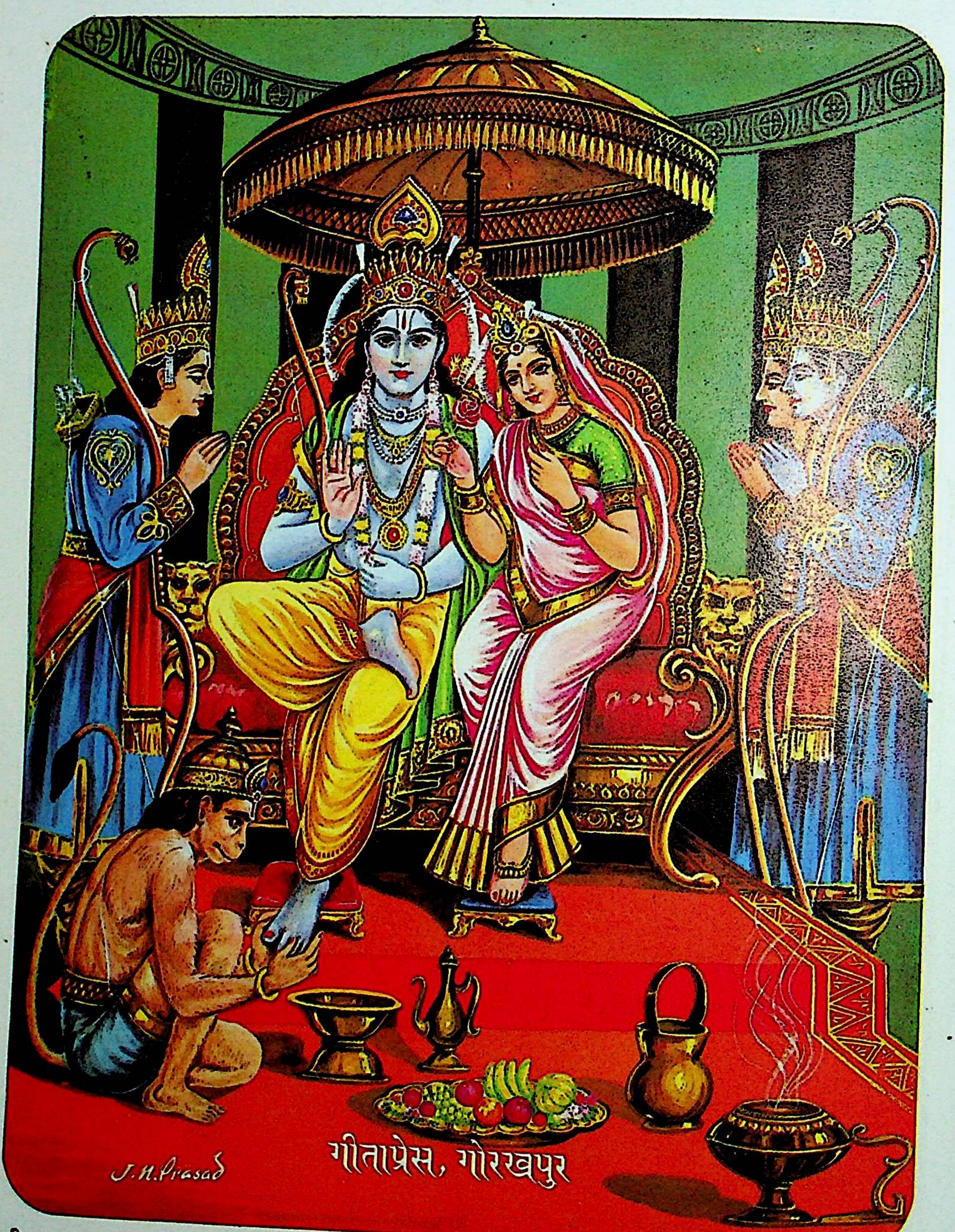
भूधराकार हनुमान

The mountainous Hanumāna



भगवान् श्रीरामका राज्याभिषेक

The coronation of Lord Rāma



श्रीरामदरबारकी झाँकी

Rāma's Court—A panoramic view

॥ ॐ ॥

अध्यात्मरामायण

हिन्दी-अनुवादसहित

आलोड्याखिलवेदराशिमसकृद्यत्तारकंब्रह्म त-
द्रामो विष्णुरहस्यमूर्तिरिति यो विज्ञाय भूतेश्वरः।
उद्धृत्याखिलसारसङ्ग्रहमिदं सङ्क्षेपतः प्रस्फुटं
श्रीरामस्य निगूढतत्त्वमखिलं प्राह प्रियायै भवः॥

अनुवादक—

मुनिलाल

प्रकाशक—गोबिन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९८९ से २०५७ तक	२,२३,२५०
सं० २०५८ अट्ठाईसवाँ संस्करण	५,०००
	योग २,२८,२५०

मूल्य—पचास रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : (०५५१) ३३४७२१; फैक्स ३३६९९७
e-mail:gitapres@ndf.vsnl.net.in | visit us at: www.gitapress.org

श्रीहरिः

निवेदन

***

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

भगवान्‌की लीलाका रहस्य कौन जान सकता है। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, महात्मा और सिद्धगण आजन्म उसीका मनन करते रहनेपर भी उसका पार नहीं पा सके। किन्तु वह इतनी दुर्विज्ञेय और गूढ़ होनेपर भी कितनी मधुर, मनमोहिनी और कल्याणमयी है। रसिकजन संसारके सभी भोगोंको छोड़कर अपनी आयुको एकमात्र उसीके अनुशीलनमें लगाकर अपनेको अत्यन्त बड़भागी समझते हैं। वे उसकी माधुरीका आस्वादन करते-करते कभी नहीं अघाते। अन्य लौकिक एवं पारलौकिक भोगोंका पर्यवसान उनसे विरक्त हो जाने—अघा जानेमें होता है, किन्तु इस लोकोत्तर रससे इसके रसिकका चित्त कभी नहीं ऊबता। जिसका चित्त इससे ऊबने लगे, समझना चाहिये उसने इसका आस्वादन ही नहीं किया। इसीलिये रसिकचक्रचूड़ामणि श्रीमद्‌गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

धन्य हैं वे महाभाग, जिन्हें उसके यथेष्ठ आस्वादनका सौभाग्य प्राप्त हुआ है!

भगवान्‌के उसी दुर्लभ गूढ़ रहस्यको, जिसका यथावत् समझना बड़े-बड़े मेधावी आचार्य और योगनिष्ठ यतियोंके लिये भी अत्यन्त कठिन है और जिसे विभिन्नरूपसे ग्रहण करनेके कारण ही इस अनादि संसारमें अनादिकालसे अनन्त सम्प्रदायों और मतोंकी प्रवृत्ति होती आयी है, मुझ-जैसे मन्दमतिको ठीक-ठीक समझ लेना कैसे सम्भव है? उसे समझनेके योग्य मेरे पास विद्या, बुद्धि, विवेक अथवा श्रद्धा आदि कोई भी तो सामग्री नहीं है। इस ओर मेरा प्रवृत्त होना भी बड़ी हँसीकी बात है और प्रवृत्त होनेके अनन्तर जितनी भी सेवा मुझसे बनी है उसपर भी मुझे तो आश्चर्य है। मैं इस बातको स्वयं ही अनुभव करता हूँ कि इस अनधिकार चेष्टामें प्रवृत्त होकर मैं विद्या और विद्वानोंका अपराध कर रहा हूँ।

किन्तु, एक विचार है जो मुझे इन संकोच और आश्चर्य दोनोंहीसे मुक्त कर देता है। हम पद-पदपर देखते हैं कि अपनी इच्छा न होनेपर भी हमें बलात् बहुत-से ऐसे कार्योंमें लग जाना पड़ता है, जिनमें प्रवृत्त होनेकी पहले कभी आशा भी नहीं थी। इसका कारण यही है कि हमारी सारी प्रवृत्तियोंका नियामक कोई और ही है, जो देहाभिमानके पर्देमें छिपा हुआ हमारे अन्तःकरणमें विराजमान है। हमारी सारी प्रवृत्तियाँ उस हृदयस्थित देवके ही इशारेपर नाचती रहती हैं। वस्तुतः तो 'हमारी प्रवृत्तियाँ, हमारी चित्तवृत्तियाँ' ऐसा कहना और मानना भी अज्ञानवश परिच्छिन्न अहंकारको स्वीकार करनेके ही कारण है। विज्ञान-विभावसुका विमल प्रकाश होनेपर अज्ञानान्धकारके नष्ट होते ही जब देहाभिमानरूप उलूक न जाने कहाँ लुक जाता है, तब कर्ता, कर्म और करणादिका कोई भेद नहीं रहता। फिर तो प्रवृत्ति, प्रवर्त्तक और प्रवर्त्य—सब कुछ एकमात्र वह अन्तर्यामी ही रहते हैं, जिनके यत्किञ्चित् कृपा-कटाक्षसे ही यह सम्पूर्ण प्रपञ्च भासित हो रहा है तथा जिनकी सत्ता पाकर ही यह सर्वथा असत् होनेपर भी, ध्रुव—सत्य बना हुआ है। अतः हमारा सारा

संकोच और आश्चर्य तभीतक है जबतक हम सच्चे कर्ताको भूलकर तुच्छ देहाभिमानके सिरपर सारे कर्तृत्व-भोक्तृत्वका भार लाद देते हैं और उस देहाभिमानको देहाभिमान न समझकर अपना परमार्थस्वरूप मान बैठते हैं, नहीं तो जो लीलामय बिना किसी प्रयोजनके केवल लीलाके लिये ही इच्छामात्रसे इस अनन्त ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं, जिनकी मायासे मोहित होकर हमारी इस हाड़-मांसके पञ्जरमें आत्मबुद्धि होती है और फिर इसीकी आसक्तिमें फँसकर स्त्री-धन-धरती आदि महाघृणित और असार वस्तुओंमें रमणीय-बुद्धि होती है तथा जिनके लेशमात्र कृपाकणसे यह अनन्त ब्रह्माण्ड बालूकी भीत हो जाता है, उन महामहिम सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वरके लिये क्या दुष्कर है? उनकी जैसी इच्छा होती है उसी ओर सबको प्रवृत्त होना पड़ता है और उनकी इच्छाके अनुसार ही उन्हें उसमें सफलता अथवा असफलता प्राप्त होती रहती है।

अस्तु, 'तोमार इच्छा पूर्ण हउक करुणामय स्वामी' इस बंग-कहावतके अनुसार प्रभुने जो कार्य सौंपा है उसे उन्हींका काम समझकर उन्हींके इङ्गितके अनुसार करते रहनेमें ही हमारा कल्याण है; और वास्तवमें हम करते भी ऐसा ही हैं, परन्तु ऐसा समझते नहीं। इसीलिये उसकी सफलता-असफलतामें हर्ष-शोकके शिकार होते हैं। प्रभु हमें ऐसा ही समझते रहनेकी शक्ति प्रदान करें।

श्रीमदध्यात्मरामायण कोई नवीन ग्रन्थ नहीं है, जिसके विषयमें कुछ विशेष कहनेकी आवश्यकता हो। यह परम पवित्र गाथा साक्षात् भगवान् शङ्करने अपनी प्रेयसी आदिशक्ति श्रीपार्वतीजीको सुनायी है। यह आख्यान ब्रह्माण्डपुराणके उत्तरखण्डके अन्तर्गत माना जाता है। अतः इसके रचयिता महामुनि वेदव्यासजी ही हैं। इसमें परम रसायन रामचरितका वर्णन करते-करते पद-पदपर प्रसङ्ग उठाकर भक्ति, ज्ञान, उपासना, नीति और सदाचार-सम्बन्धी दिव्य उपदेश दिये गये हैं। विविध विषयोंका विवरण रहनेपर भी इसमें प्रधानता अध्यात्मतत्त्वके विवेचनकी ही है। इसीलिये यह 'अध्यात्मरामायण' कहलाता है। उपदेशभागके सिवा इसका कथाभाग भी कुछ कम महत्त्वका नहीं है। भगवान् श्रीराम मूर्तिमान् अध्यात्मतत्त्व हैं, उनके परमपावन चरित्रकी महिमाका कहाँतक वर्णन किया जाय? आजकल जिस श्रीरामचरितमानसमें अवगाहनकर करोड़ों नर-नारी अपनेको कृतकृत्य मान रहे हैं, उसके कथानकका आधार भी अधिकांशमें यही ग्रन्थ है। श्रीरामचरितमानसकी कथा जितनी अध्यात्मरामायणसे मिलती-जुलती है उतनी और किसीसे नहीं मिलती। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने भी इसीका प्रामाण्य सबसे अधिक स्वीकार किया है।

अबतक इस ग्रन्थके कई अनुवाद हो चुके हैं। चार-पाँच तो मेरे देखनेमें भी आये हैं। प्रस्तुत अनुवादमें श्रीवेंकटेश्वर स्टीमप्रेसद्वारा प्रकाशित स्वर्गीय पं० बलदेवप्रसादजी मिश्र तथा स्वर्गीय पं० रामेश्वरजी भट्टके अनुवादोंसे सहायता ली गयी है। इसके लिये उक्त दोनों महानुभावोंका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ। इस ग्रन्थरत्नका अनुवाद करनेका आदेश देकर गीताप्रेसने मुझे इसके अनुशीलनका अमूल्य अवसर दिया है और फिर उसीने इसका संशोधन कराकर इसे प्रकाशित करनेकी भी कृपा की है, इस उपकारके लिये मैं सञ्चालकोंका हृदयसे आभारी हूँ।

अन्तमें, जिन लीलामयके लीलाकटाक्षसे प्रेरित होकर यह लीला हुई है, उनकी यह लीला आदरपूर्वक उन्हींको समर्पित है। इसमें यदि कुछ अच्छा है तो उन्हींके कृपाकटाक्षका प्रसाद है और जो भूल है वह मेरी अहंकारजनित धृष्टताका फल है। इत्यलम्।

विनीत—
अनुवादक

*****

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

सर्ग	विषय	पृष्ठ

सुन्दरकाण्ड

युद्धकाण्ड

उत्तरकाण्ड

ॐ

अध्यात्मरामायण

माहात्म्य

रामं विश्वमयं वन्दे रामं वन्दे रघूद्वहम्। रामं विप्रवरं वन्दे रामं श्यामाग्रजं भजे॥
यस्य वागंशुतश्च्यूतं रम्यं रामायणामृतम्। शैलजासेवितं वन्दे तं शिवं सोमरूपिणम्॥
सच्चिदानन्दसंदोहं भक्तिभूतिविभूषणम्। पूर्णानन्दमहं वन्दे सद्गुरं शङ्करं स्वयम्॥
अज्ञानध्वान्तसंहर्त्री ज्ञानालोकविलासिनी। चन्द्रचूडवचश्चन्द्रचन्द्रिकेयं विराजते॥

अप्रमेयत्रयातीतनिर्मलज्ञानमूर्तये।
मनोगिरां विदूराय दक्षिणामूर्तये नमः॥ १॥

सूत उवाच

कदाचिन्नारदो योगी परानुग्रहवाञ्छया।
पर्यटन्सकलाँल्लोकान् सत्यलोकमुपागमत्॥ २॥

तत्र दृष्ट्वा मूर्तिमद्भिश्छन्दोभिः परिवेष्टितम्।
बालार्कप्रभया सम्यग्भासयन्तं सभागृहम्॥ ३॥

मार्कण्डेयादिमुनिभिः स्तूयमानं मुहुर्मुहुः।
सर्वार्थगोचरज्ञानं सरस्वत्या समन्वितम्॥ ४॥

चतुर्मुखं जगन्नाथं भक्ताभीष्टफलप्रदम्।
प्रणम्य दण्डवद्भक्त्या तुष्टाव मुनिपुङ्गवः॥ ५॥

सन्तुष्टस्तं मुनिं प्राह स्वयम्भूर्वैष्णवोत्तमम्।
किं प्रष्टुकामस्त्वमसि तद्वदिष्यामि ते मुने॥ ६॥

इत्याकर्ण्य वचस्तस्य मुनिर्ब्रह्माणमब्रवीत्।
त्वत्तः श्रुतं मया सर्वं पूर्वमेव शुभाशुभम्॥ ७॥

इदानीमेकमेवास्ति श्रोतव्यं सुरसत्तम।
तद्रहस्यमपि ब्रूहि यदि तेऽनुग्रहो मयि॥ ८॥

प्राप्ते कलियुगे घोरे नराः पुण्यविवर्जिताः।
दुराचाररताः सर्वे सत्यवार्तापराङ्मुखाः॥ ९॥

परापवादनिरताः परद्रव्याभिलाषिणः।
परस्त्रीसक्तमनसः परहिंसापरायणाः॥ १०॥

जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे परे, त्रिगुणातीत, मलहीन, ज्ञानस्वरूप और मन, वाणी आदिके अविषय हैं उन दक्षिणामूर्ति भगवान् (सदाशिव) को नमस्कार है॥ १॥

श्रीसूतजी बोले—एक समय योगिराज नारदजी दूसरोंपर कृपा करनेके लिये समस्त लोकोंमें विचरते हुए सत्यलोकमें पहुँचे॥ २॥ वहाँ मूर्तिमान् वेदोंसे घिरे हुए, अपनी बालसूर्यके समान प्रभासे सभाभवनको पूर्णतया देदीप्यमान् करते हुए, मार्कण्डेय आदि मुनिजनोंसे बारम्बार स्तुति किये जाते हुए सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान रखनेवाले और भक्तोंको इच्छित फल देनेवाले सरस्वती-युक्त जगत्पति ब्रह्माजीको देखकर मुनिश्रेष्ठ नारदजीने उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भक्तिभावसे स्तुति की॥ ३—५॥

तब स्वयम्भू ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर वैष्णवाग्रणी श्रीनारदजीसे कहा—"मुने! तुम क्या पूछना चाहते हो? मैं तुमसे वह सब कहूँगा"॥ ६॥ ब्रह्माजीके ये वचन सुनकर नारदजीने उनसे कहा, "हे देवश्रेष्ठ! शुभाशुभ कर्मोंका वर्णन तो मैं आपसे पहले ही सुन चुका हूँ। अब मुझे एक ही बात और सुननी है; यदि मुझपर आपकी कृपा है तो गोपनीय होनेपर भी वह सुनाइये॥ ७-८॥ अब घोर कलियुगके आनेपर मनुष्य पुण्यकर्म छोड़ देंगे और सत्यभाषणसे विमुख होकर दुराचारमें प्रवृत्त हो जायँगे॥ ९॥ वे दूसरोंकी निन्दामें तत्पर रहेंगे, दूसरोंके धनकी इच्छा करेंगे, परस्त्रीमें चित्त लगावेंगे और परायी हिंसा करेंगे॥ १०॥

देहात्मदृष्टयो मूढा नास्तिकाः पशुबुद्धयः ।
मातापितृकृतद्वेषाः स्त्रीदेवाः कामकिङ्कराः ॥ ११ ॥
विप्रा लोभग्रहग्रस्ता वेदविक्रयजीविनः ।
धनार्जनार्थमभ्यस्तविद्या मदविमोहिताः ॥ १२ ॥
त्यक्तस्वजातिकर्माणः प्रायशः परवञ्चकाः ।
क्षत्रियाश्च तथा वैश्याः स्वधर्मत्यागशीलिनः ॥ १३ ॥
तद्वच्छूद्राश्च ये केचिद्ब्राह्मणाचारतत्पराः ।
स्त्रियश्च प्रायशो भ्रष्टा भर्त्रवज्ञाननिर्भयाः ॥ १४ ॥
श्वशुरद्रोहकारिण्यो भविष्यन्ति न संशयः ।
एतेषां नष्टबुद्धीनां परलोकः कथं भवेत् ॥ १५ ॥
इति चिन्ताकुलं चित्तं जायते मम सन्ततम् ।
लघूपायेन येनैषां परलोकगतिर्भवेत् ।
तमुपायमुपाख्याहि सर्वं वेत्ति यतो भवान् ॥ १६ ॥
इत्यृषेर्वाक्यमाकर्ण्य प्रत्युवाचाम्बुजासनः ।
साधु पृष्टं त्वया साधो वक्ष्ये तच्छृणु सादरम् ॥ १७ ॥
पुरा त्रिपुरहन्तारं पार्वती भक्तवत्सला ।
श्रीरामतत्त्वं जिज्ञासुः पप्रच्छ विनयान्विता ॥ १८ ॥
प्रियायै गिरिशस्तस्यै गूढं व्याख्यातवान् स्वयम् ।
पुराणोत्तममध्यात्मरामायणमिति स्मृतम् ॥ १९ ॥
तत्पार्वती जगद्धात्री पूजयित्वा दिवानिशम् ।
आलोचयन्ती स्वानन्दमग्ना तिष्ठति साम्प्रतम् ॥ २० ॥
प्रचरिष्यति तल्लोके प्राण्यदृष्टवशाद्यदा ।
तस्याध्ययनमात्रेण जना यास्यन्ति सद्गतिम् ॥ २१ ॥
तावद्विजृम्भते पापं ब्रह्महत्यापुरःसरम् ।
यावज्जगति नाध्यात्मरामायणमुदेष्यति ॥ २२ ॥
तावत्कलिमहोत्साहो निःशङ्कं सम्प्रवर्तते ।
यावज्जगति नाध्यात्मरामायणमुदेष्यति ॥ २३ ॥
तावद्यमभटाः शूराः सञ्चरिष्यन्ति निर्भयाः ।
यावज्जगति नाध्यात्मरामायणमुदेष्यति ॥ २४ ॥
तावत्सर्वाणि शास्त्राणि विवदन्ते परस्परम् ॥ २५ ॥
तावत्स्वरूपं रामस्य दुर्बोधं महतामपि ।
यावज्जगति नाध्यात्मरामायणमुदेष्यति ॥ २६ ॥

वे मूढ़ देहमें ही आत्मबुद्धिवाले और नास्तिक होंगे, उनकी बुद्धि पशुओंके समान होगी और वे कामके गुलाम होकर स्त्रीके भक्त और माता-पिताके द्रोही बनेंगे ॥ ११ ॥ ब्राह्मणगण लोभरूपी ग्रहसे ग्रस्त और वेद बेचकर अपनी आजीविका चलानेवाले होंगे, वे धनोपार्जनके लिये ही विद्याभ्यास करेंगे और (विद्या तथा ब्राह्मणत्वके) मदसे उन्मत्त हो जायँगे ॥ १२ ॥ क्षत्रिय और वैश्यगण भी स्वधर्मको त्यागनेवाले तथा अपने जाति-कर्मोंको छोड़कर प्रायः दूसरोंको ठगनेवाले ही होंगे ॥ १३ ॥ इसी प्रकार जो शूद्र होंगे वे भी ब्राह्मणोंके आचारमें तत्पर हो जायँगे तथा स्त्रियाँ प्रायः भ्रष्टाचारिणी और अपने पतिका अपमान करनेमें निडर होंगी ॥ १४ ॥ निस्सन्देह वे अपने सास-ससुरोंसे द्रोह करेंगी। इन नष्ट-बुद्धियोंका परलोक किस प्रकार सुधरेगा ? ॥ १५ ॥ इस चिन्तासे मेरा चित्त निरन्तर व्याकुल रहता है। जिस सुगम उपायसे इनका परलोक सुधर सकता हो वह आप मुझे बतलाइये क्योंकि आप सभी कुछ जानते हैं" ॥ १६ ॥

देवर्षि नारदजीके ये वचन सुनकर कमलासन ब्रह्माजी बोले—"हे साधो ! तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है। मैं उसे बतलाता हूँ, तुम श्रद्धापूर्वक सुनो ॥ १७ ॥ पूर्वकालमें भक्तवत्सला पार्वतीजीने श्रीराम-तत्त्वकी जिज्ञासासे त्रिपुर-विनाशक भगवान् शङ्करसे विनयपूर्वक प्रश्न किया था ॥ १८ ॥ तब अपनी प्रियासे श्रीमहादेवजीने जिस गूढ़ रहस्यका वर्णन किया था वह उत्तम पुराण अध्यात्मरामायणके नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ १९ ॥ अब जगज्जननी पार्वतीजी उसका पूजन कर रात-दिन उसीका मनन करती आत्मानन्दमें मग्न रहती हैं ॥ २० ॥ जिस समय प्राणियोंके सौभाग्यसे उसका लोकमें प्रचार होगा उस समय उसके अध्ययनमात्रसे लोग शुभगति प्राप्त करेंगे ॥ २१ ॥ संसारमें ब्रह्महत्यादि पाप तभीतक रहेंगे जबतक अध्यात्मरामायणका प्रादुर्भाव नहीं होगा ॥ २२ ॥ कलियुगका महान् उत्साह तभीतक निःशङ्क रहेगा जबतक संसारमें अध्यात्मरामायणका उदय न होगा ॥ २३ ॥ यमराजके शूरवीर दूत तभीतक निर्भय विचरते रहेंगे जबतक जगत्में अध्यात्मरामायण प्रकट नहीं होगा ॥ २४ ॥ और सम्पूर्ण शास्त्रोंमें परस्पर विवाद तभीतक रहेगा तथा महापुरुषोंको भी भगवान् रामका स्वरूप तभीतक दुर्बोध रहेगा जबतक संसारमें अध्यात्म-रामायणका प्रकाश नहीं होगा ॥ २५-२६ ॥

अध्यात्मरामायणसङ्कीर्तनश्रवणादिजम् ।
फलं वक्तुं न शक्नोमि कात्स्न्र्येन मुनिसत्तम ॥ २७ ॥

तथापि तस्य माहात्म्यं वक्ष्ये किञ्चित्तवानघ ।
शृणु चित्तं समाधाय शिवेनोक्तं पुरा मम ॥ २८ ॥

अध्यात्मरामायणतः श्लोकं श्लोकार्धमेव वा ।
यः पठेद्भक्तिसंयुक्तः स पापान्मुच्यते क्षणात् ॥ २९ ॥

यस्तु प्रत्यहमध्यात्मरामायणमनन्यधीः ।
यथाशक्ति वदेद्भक्त्या स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ३० ॥

यो भक्त्यार्चयतेऽध्यात्मरामायणमतन्द्रितः ।
दिने दिनेऽश्वमेधस्य फलं तस्य भवेन्मुने ॥ ३१ ॥

यदृच्छयापि योऽध्यात्मरामायणमनादरात् ।
अन्यतः शृणुयान्मर्त्यः सोऽपि मुच्येत पातकात् ॥ ३२ ॥

नमस्करोति योऽध्यात्मरामायणमदूरतः ।
सर्वदेवार्चनफलं स प्राप्नोति न संशयः ॥ ३३ ॥

लिखित्वा पुस्तकेऽध्यात्मरामायणमशेषतः ।
यो दद्याद्रामभक्तेभ्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ३४ ॥

अधीतेषु च वेदेषु शास्त्रेषु व्याकृतेषु च ।
यत्फलं दुर्लभं लोके तत्फलं तस्य सम्भवेत् ॥ ३५ ॥

एकादशीदिनेऽध्यात्मरामायणमुपोषितः ।
यो रामभक्तः सदसि व्याकरोति नरोत्तमः ॥ ३६ ॥

तस्य पुण्यफलं वक्ष्ये शृणु वैष्णवसत्तम ।
प्रत्यक्षरं तु गायत्रीपुरश्चर्याफलं भवेत् ॥ ३७ ॥

उपवासव्रतं कृत्वा श्रीरामनवमीदिने ।
रात्रौ जागरितोऽध्यात्मरामायणमनन्यधीः ।
यः पठेच्छृणुयाद्वापि तस्य पुण्यं वदाम्यहम् ॥ ३८ ॥

कुरुक्षेत्रादिनिखिलपुण्यतीर्थेष्वनेकशः ।
आत्मतुल्यं धनं सूर्यग्रहणे सर्वतोमुखे ॥ ३९ ॥
विप्रेभ्यो व्यासतुल्येभ्यो दत्त्वा यत्फलमश्नुते ।
तत्फलं सम्भवेत्तस्य सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ४० ॥

यो गायते मुदाध्यात्मरामायणमहर्निशम् ।
आज्ञां तस्य प्रतीक्षन्ते देवा इन्द्रपुरोगमाः ॥ ४१ ॥

"हे मुनिश्रेष्ठ ! मैं अध्यात्मरामायणके कीर्तन और श्रवण आदिसे होनेवाले फलका पूर्णतया वर्णन नहीं कर सकता, तथापि हे अनघ ! मैं तुम्हें उसका थोड़ा-सा माहात्म्य सुनाता हूँ। इसे पूर्वकालमें मुझसे शिवजीने कहा था; तुम सावधान होकर सुनो— ॥ २७-२८ ॥ जो पुरुष अध्यात्मरामायणका एक अथवा आधा श्लोक भी भक्तिपूर्वक पढ़ता है वह तत्क्षण पापमुक्त हो जाता है ॥ २९ ॥ जो इस अध्यात्मरामायणको नित्यप्रति अनन्य बुद्धिसे भक्तिपूर्वक यथाशक्ति सुनाता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ३० ॥ हे मुने ! जो पुरुष आलस्य छोड़कर भक्तिभावसे प्रतिदिन अध्यात्मरामायणका पूजन करता है उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ ३१ ॥ जो मनुष्य दूसरोंसे अनियमपूर्वक अनादरसे भी अध्यात्मरामायण श्रवण करता है वह भी पातकसे छूट जाता है ॥ ३२ ॥ जो कोई अध्यात्मरामायणके निकट जाकर उसे नमस्कार करता है वह समस्त देवताओंकी पूजाका फल पाता है— इसमें सन्देह नहीं ॥ ३३ ॥

'जो पुरुष अध्यात्मरामायणकी सम्पूर्ण पुस्तक लिखकर राम-भक्तोंको देता है उसे जो पुण्य होता है उसका फल सुनो ॥ ३४ ॥ उसे वह फल मिलता है जो वेदोंके पढ़नेसे और शास्त्रोंकी व्याख्या करनेसे भी संसारमें दुर्लभ है ॥ ३५ ॥ जो नरश्रेष्ठ रामभक्त एकादशीको उपवास करके सभामें अध्यात्मरामायणकी व्याख्या करता है, हे वैष्णवश्रेष्ठ ! उसके पुण्यका फल बतलाता हूँ, सुनो। उसे एक-एक अक्षरके पढ़नेमें गायत्रीके पुरश्चरणका फल मिलता है ॥ ३६-३७ ॥ जो पुरुष रामनवमीके दिन निराहार रहकर और फिर रात्रिको जागरण कर अनन्य बुद्धिसे अध्यात्मरामायणको पढ़ता या सुनता है, अब मैं उसका पुण्य बतलाता हूँ ॥ ३८ ॥ कुरुक्षेत्रादि सम्पूर्ण पवित्र तीर्थोंमें सर्वग्रस्त सूर्यग्रहणके समय अनेकों बार व्यासजीके समान ब्राह्मणोंको अपने बराबर धन देनेसे जो फल होता है उसे वही फल मिलता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, यह सर्वथा सत्य है, सर्वथा सत्य है ॥ ३९-४० ॥ जो मनुष्य अहर्निश प्रसन्नचित्तसे अध्यात्मरामायणका गान करता है उसकी आज्ञाकी इन्द्रादि देवगण प्रतीक्षा किया करते हैं ॥ ४१ ॥

पठन्प्रत्यहमध्यात्मरामायणमनुव्रतः ।
यद्यत्करोति तत्कर्म ततः कोटिगुणं भवेत् ॥ ४२ ॥

तत्र श्रीरामहृदयं यः पठेत्सुसमाहितः ।
स ब्रह्मघ्नोऽपि पूतात्मा त्रिभिरेव दिनैर्भवेत् ॥ ४३ ॥

श्रीरामहृदयं यस्तु हनूमत्प्रतिमान्तिके ।
त्रिःपठेत्प्रत्यहं मौनी स सर्वेप्सितभाग्भवेत् ॥ ४४ ॥

पठन् श्रीरामहृदयं तुलस्यश्वत्थयोर्यदि ।
प्रत्यक्षरं प्रकुर्वीत ब्रह्महत्यानिवर्तनम् ॥ ४५ ॥

श्रीरामगीतामाहात्म्यं कृत्स्नं जानाति शङ्करः ।
तदर्धं गिरिजा वेत्ति तदर्धं वेद्म्यहं मुने ॥ ४६ ॥

तत्ते किञ्चित्प्रवक्ष्यामि कृत्स्नं वक्तुं न शक्यते ।
यज्ज्ञात्वा तत्क्षणाल्लोकश्चित्तशुद्धिमवाप्नुयात् ॥ ४७ ॥

श्रीरामगीता यत्पापं न नाशयति नारद ।
तन्न नश्यति तीर्थादौ लोके क्वापि कदाचन ।
तन्न पश्याम्यहं लोके मार्गमाणोऽपि सर्वदा ॥ ४८ ॥

रामेणोपनिषत्सिन्धुमुन्मथ्योत्पादितां मुदा ।
लक्ष्मणायार्पितां गीतासुधां पीत्वामरो भवेत् ॥ ४९ ॥

जमदग्निसुतः पूर्वं कार्तवीर्यवधेच्छया ।
धनुर्विद्यामभ्यसितुं महेशस्यान्तिके वसन् ॥ ५० ॥

अधीयमानां पार्वत्या रामगीतां प्रयत्नतः ।
श्रुत्वा गृहीत्वाशु पठन्नारायणकलामगात् ॥ ५१ ॥

ब्रह्महत्यादिपापानां निष्कृतिं यदि वाञ्छति ।
रामगीतां मासमात्रं पठित्वा मुच्यते नरः ॥ ५२ ॥

दुष्प्रतिग्रहदुर्भोज्यदुरालापादिसम्भवम् ।
पापं यत्तत्कीर्तनेन रामगीता विनाशयेत् ॥ ५३ ॥

शालग्रामशिलाग्रे च तुलस्यश्वत्थसन्निधौ ।
यतीनां पुरतस्तद्वद्रामगीतां पठेत्तु यः ॥ ५४ ॥

स तत्फलमवाप्नोति यद्वाचोऽपि न गोचरम् ॥ ५५ ॥

अध्यात्मरामायणका नित्यप्रति नियमपूर्वक पाठ करनेसे मनुष्य जो कुछ पुण्यकर्म करता है वह करोड़गुना हो जाता है ॥ ४२ ॥

"इस (अध्यात्मरामायण) मेंसे जो पुरुष खूब समाहित होकर श्रीरामहृदयका पाठ करता है वह ब्रह्म-हत्यारा भी हो तो भी तीन दिनमें ही पवित्र हो जाता है ॥ ४३ ॥ जो पुरुष हनुमान्‌जीकी प्रतिमाके समीप प्रतिदिन तीन बार मौन होकर श्रीरामहृदयका पाठ करता है वह समस्त इच्छित फल प्राप्त करता है ॥ ४४ ॥ और यदि कोई पुरुष तुलसी या पीपलके निकट श्रीराम-हृदयका पाठ करे तो वह एक-एक अक्षरपर (अपनी) ब्रह्महत्या-(जैसे पापों) को दूर कर देता है ॥ ४५ ॥

"हे मुने! श्रीरामगीताका माहात्म्य पूरा-पूरा तो श्रीमहादेवजी ही जानते हैं; उनसे आधा पार्वतीजी जानती हैं और उनसे आधा मैं जानता हूँ ॥ ४६ ॥ सो उसे पूरा कह भी नहीं सकता, उसमेंसे थोड़ा-सा तुम्हें सुनाता हूँ, जिसके जाननेमात्रसे चित्त तत्काल शुद्ध हो जाता है ॥ ४७ ॥ हे नारद! जिस पापको श्रीरामगीताने नष्ट नहीं किया वह संसारमें कभी किसी तीर्थादिसे भी नष्ट नहीं हो सकता, मैं सदा ढूँढ़नेपर भी उस पापको नहीं देख पाता अर्थात् ऐसा कोई पाप ही नहीं है जो श्रीरामगीतासे नष्ट नहीं होता ॥ ४८ ॥ जिस गीतामृतको भगवान् रामने उपनिषत्सागरका मन्थन कर निकाला और फिर बड़ी प्रसन्नतासे लक्ष्मणजीको दिया (मनुष्यको चाहिये कि) उसका पान करके अमर हो जाय ॥ ४९ ॥ पूर्वकालमें सहस्त्रार्जुनके वधकी इच्छासे जमदग्निनन्दन परशुरामजी धनुर्विद्याका अभ्यास करनेके लिये श्रीमहादेवजीके पास रहते थे ॥ ५० ॥ उस समय रामगीताका अध्ययन करती हुई पार्वतीजीसे इसे यत्नपूर्वक सुनकर और तुरंत ही हृदयङ्गम कर इसका पाठ करते-करते वे श्रीनारायणके कलारूप हो गये ॥ ५१ ॥ यदि कोई पुरुष ब्रह्महत्या आदि घोर पापोंसे मुक्त होना चाहे तो केवल एक मास रामगीताका पाठ करनेसे छूट सकता है ॥ ५२ ॥ बुरे दान, निषिद्ध भोजन और खोटी बोलचाल आदिसे जो पाप होता है उसे रामगीता पाठमात्रसे नष्ट कर देती है ॥ ५३ ॥ जो पुरुष शालग्राम-शिलाके आगे, तुलसी या पीपलके पास अथवा यतिजनोंके सामने रामगीताका पाठ करता है उसे वह फल मिलता है जो वाणीका भी विषय नहीं है ॥ ५४-५५ ॥

रामगीतां पठन्भक्त्या यः श्राद्धे भोजयेद् द्विजान् ।
तस्य ते पितरः सर्वे यान्ति विष्णोः परं पदम् ॥ ५६ ॥

एकादश्यां निराहारो नियतो द्वादशीदिने ।
स्थित्वागस्त्यतरोर्मूले रामगीतां पठेत्तु यः ।
स एव राघवः साक्षात्सर्वदेवैश्च पूज्यते ॥ ५७ ॥

विना दानं विना ध्यानं विना तीर्थावगाहनम् ।
रामगीतां नरोऽधीत्य तदनन्तफलं लभेत् ॥ ५८ ॥

बहुना किमिहोक्तेन शृणु नारद तत्त्वतः ।
श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासागमशतानि च ।
अर्हन्ति नाल्पमध्यात्मरामायणकलामपि ॥ ५९ ॥

अध्यात्मरामचरितस्य मुनीश्वराय
माहात्म्यमेतदुदितं कमलासनेन ।
यः श्रद्धया पठति वा शृणुयात्स मर्त्यः
प्राप्नोति विष्णुपदवीं सुरपूज्यमानः ॥ ६० ॥

जो मनुष्य श्राद्धमें रामगीताका भक्तिपूर्वक पाठ करके ब्राह्मणोंको भोजन कराता है उसके वे समस्त पितृगण भगवान् विष्णुके परम धामको जाते हैं ॥ ५६ ॥ जो पुरुष एकादशीके दिन निराहार और जितेन्द्रिय रहकर द्वादशीको अगस्त्य-वृक्षके नीचे बैठकर रामगीताका पाठ करता है वह साक्षात् रामरूप ही है, उसकी समस्त देवगण पूजा करते हैं ॥ ५७ ॥ रामगीताका पाठ करनेसे मनुष्य बिना किसी दान, ध्यान अथवा तीर्थ-स्नानके ही अक्षय फल पाता है ॥ ५८ ॥ हे नारद ! और अधिक क्या कहा जाय जो वास्तविक बात है वह सुन— श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहास आदि सैकड़ों शास्त्र श्रीअध्यात्मरामायणकी एक तुच्छ कलाके समान भी नहीं हैं" ॥ ५९ ॥

यह अध्यात्मरामायणका माहात्म्य श्रीब्रह्माजीने मुनिराज नारदसे कहा है। इसे जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक पढ़ता या सुनता है वह देवताओंसे पूजित होकर श्रीविष्णु-भगवान्का पद प्राप्त करता है ॥ ६० ॥

★

इति श्रीब्रह्माण्डपुराणे उत्तरखण्डेऽध्यात्मरामायणमाहात्म्यं सम्पूर्णम् ।

★



ॐ

अध्यात्मरामायण

बालकाण्ड

प्रथम सर्ग

रामहृदय

यः पृथ्वीभरवारणाय दिविजैः
संप्रार्थितश्चिन्मयः
संजातः पृथिवीतले रविकुले
मायामनुष्योऽव्ययः ।
निश्चक्रं हतराक्षसः पुनरगाद्
ब्रह्मत्वमाद्यं स्थिरां
कीर्तिं पापहरां विधाय जगतां
तं जानकीशं भजे ॥ १ ॥

जिन चिन्मय अविनाशी प्रभुने पृथिवीका भार उतारनेके लिये देवताओंकी प्रार्थनासे पृथिवीतलपर सूर्यवंशमें माया-मानवरूपसे अवतार लिया और जो राक्षसोंके समूहको मारकर तथा संसारमें अपनी पाप-विनाशिनी अविचल कीर्ति स्थापितकर पुनः अपने आद्य ब्रह्मस्वरूपमें लीन हो गये, उन श्रीजानकीनाथका मैं भजन करता हूँ ॥ १ ॥

विश्वोद्भवस्थितिलयादिषु हेतुमेकं
मायाश्रयं विगतमायमचिन्त्यमूर्तिम् ।
आनन्दसान्द्रममलं निजबोधरूपं
सीतापतिं विदिततत्त्वमहं नमामि ॥ २ ॥

जो विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आदिके एकमात्र कारण हैं, मायाके आश्रय होकर भी मायातीत हैं, अचिन्त्यस्वरूप हैं, आनन्दघन हैं, उपाधिकृत दोषोंसे रहित हैं तथा स्वयंप्रकाशस्वरूप हैं, उन तत्त्ववेत्ता श्रीसीतापतिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

पठन्ति ये नित्यमनन्यचेतसः
शृण्वन्ति चाध्यात्मिकसंज्ञितं शुभम् ।
रामायणं सर्वपुराणसंमतं
निर्धूतपापा हरिमेव यान्ति ते ॥ ३ ॥
अध्यात्मरामायणमेव नित्यं
पठेद्यदीच्छेद्भवबन्धमुक्तिम् ।
गवां सहस्रायुतकोटिदानात्
फलं लभेद्यः शृणुयात्स नित्यम् ॥ ४ ॥
पुरारिगिरिसंभूता श्रीरामार्णवसङ्गता ।
अध्यात्मरामगङ्गेयं पुनाति भुवनत्रयम् ॥ ५ ॥

जो लोग इस सर्वपुराणसम्मत पवित्र अध्यात्म-रामायणका एकाग्रचित्तसे नित्य पाठ करते हैं और जो इसे सुनते हैं, वे पापरहित होकर श्रीहरिको ही प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥ यदि कोई संसार-बन्धनसे मुक्त होना चाहता हो तो वह अध्यात्मरामायणका ही नित्य पाठ करे। जो कोई मनुष्य इसका नित्य श्रवण करता है वह लाखों करोड़ गोदानका फल प्राप्त करता है ॥ ४ ॥ श्रीशङ्कररूप पर्वतसे निकली हुई रामरूप समुद्रमें मिलनेवाली यह अध्यात्म-रामायणरूपिणी गङ्गा त्रिलोकीको पवित्र कर रही है ॥ ५ ॥

कैलासाग्रे कदाचिद्रविशतविमले
मन्दिरे रत्नपीठे
संविष्टं ध्याननिष्ठं त्रिनयनमभयं
सेवितं सिद्धसंघैः।
देवी वामाङ्कसंस्था गिरिवरतनया
पार्वती भक्तिनम्रा
प्राहेदं देवमीशं सकलमलहरं
वाक्यमानन्दकन्दम् ॥ ६ ॥

एक समय कैलासपर्वतके शिखरपर सैकड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान शुभ्र भवनमें रत्नसिंहासनपर ध्यानावस्थित बैठे हुए, सिद्ध-समूहसेवित, नित्यनिर्भय, सर्वपापहारी आनन्दकन्द देवदेव भगवान् त्रिनयनसे उनके वामाङ्कमें विराजमान श्रीगिरिराजकुमारी पार्वतीने भक्ति-भावसे नम्रतापूर्वक ये वाक्य कहे ॥ ६ ॥

पार्वत्युवाच

नमोऽस्तु ते देव जगन्निवास
सर्वात्मदृक् त्वं परमेश्वरोऽसि।
पृच्छामि तत्त्वं पुरुषोत्तमस्य
सनातनं त्वं च सनातनोऽसि ॥ ७ ॥

गोप्यं यदत्यन्तमनन्यवाच्यं
वदन्ति भक्तेषु महानुभावाः।
तदप्यहोऽहं तव देव भक्ता
प्रियोऽसि मे त्वं वद यत्तु पृष्टम् ॥ ८ ॥

ज्ञानं सविज्ञानमथानुभक्ति-
वैराग्ययुक्तं च मितं विभास्वत्।
जानाम्यहं योषिदपि त्वदुक्तं
यथा तथा ब्रूहि तरन्ति येन ॥ ९ ॥

पृच्छामि चान्यच्च परं रहस्यं
तदेव चाग्रे वद वारिजाक्ष।
श्रीरामचन्द्रेऽखिललोकसारे
भक्तिर्दृढा नौर्भवति प्रसिद्धा ॥ १० ॥

भक्तिः प्रसिद्धा भवमोक्षणाय
नान्यत्ततः साधनमस्ति किञ्चित्।
तथापि हृत्संशयबन्धनं मे
विभेत्तुमर्हस्यमलोक्तिभिस्त्वम् ॥ ११ ॥

वदन्ति रामं परमेकमाद्यं
निरस्तमायागुणसंप्रवाहम्।
भजन्ति चाहर्निशमप्रमत्ताः
परं पदं यान्ति तथैव सिद्धाः ॥ १२ ॥

श्रीपार्वतीजी बोलीं—हे देव! हे जगन्निवास! आपको नमस्कार है; आप सबके अन्तःकरणोंके साक्षी और परमेश्वर हैं। मैं आपसे श्रीपुरुषोत्तम भगवान्का सनातन तत्त्व पूछना चाहती हूँ, क्योंकि आप भी सनातन हैं ॥ ७ ॥ महानुभावलोग जो अत्यन्त गोपनीय विषय होता है तथा अन्य किसीसे कहनेयोग्य नहीं होता उसे भी अपने भक्तजनोंसे कह देते हैं। हे देव! मैं भी आपकी भक्ता हूँ, मुझे आप अत्यन्त प्रिय हैं। इसलिये मैंने जो कुछ पूछा है वह वर्णन कीजिये ॥ ८ ॥ जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य संसार-समुद्रसे पार हो जाते हैं उस भक्ति और वैराग्यसे परिपूर्ण प्रकाशमय आत्मज्ञानका वर्णन आप विज्ञानसहित इस प्रकार स्वल्प शब्दोंमें कीजिये जिससे मैं स्त्री होनेपर भी आपके वचनोंको (सहज ही) समझ सकूँ ॥ ९ ॥ हे कमलनयन! मैं एक परम गुह्य रहस्य आपसे और पूछती हूँ, कृपया आप पहले उसे ही वर्णन करें। यह तो प्रसिद्ध ही है कि अखिल-लोक-सार श्रीरामचन्द्रजीकी विशुद्ध भक्ति संसारसागरको तरनेके लिये सुदृढ़ नौका है ॥ १० ॥ संसारसे मुक्त होनेके लिये भक्ति ही प्रसिद्ध उपाय है उससे श्रेष्ठ और कोई भी साधन नहीं है; तथापि आप अपने विशुद्ध वचनोंसे मेरे हृदयकी संशय-ग्रन्थिका छेदन कीजिये ॥ ११ ॥ प्रमादरहित सिद्धगण श्रीरामचन्द्रजीको परम, अद्वितीय, सबके आदिकारण और प्रकृतिके गुण-प्रवाहसे परे बतलाते हैं तथा वे अहर्निश उनका भजन करके परमपद भी प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

वदन्ति केचित्परमोऽपि रामः
स्वाविद्यया संवृतमात्मसंज्ञम्।
जानाति नात्मानमतः परेण
सम्बोधितो वेद परात्मतत्त्वम्॥ १३॥

यदि स्म जानाति कुतो विलापः
सीताकृतेऽनेन कृतः परेण।
जानाति नैवं यदि केन सेव्यः
समो हि सर्वैरपि जीवजातैः॥ १४॥

अत्रोत्तरं किं विदितं भवद्भि-
स्तद्ब्रूत मे संशयभेदि वाक्यम्॥ १५॥

श्रीमहादेव उवाच

धन्यासि भक्तासि परात्मनस्त्वं
यज्ज्ञातुमिच्छा तव रामतत्त्वम्।
पुरा न केनाप्यभिचोदितोऽहं
वक्तुं रहस्यं परमं निगूढम्॥ १६॥

त्वयाद्य भक्त्या परिनोदितोऽहं
वक्ष्ये नमस्कृत्य रघूत्तमं ते।
रामः परात्मा प्रकृतेरनादि-
रानन्द एकः पुरुषोत्तमो हि॥ १७॥

स्वमायया कृत्स्नमिदं हि सृष्ट्वा
नभोवदन्तर्बहिरास्थितो यः।
सर्वान्तरस्थोऽपि निगूढ आत्मा
स्वमायया सृष्टमिदं विचष्टे॥ १८॥

जगन्ति नित्यं परितो भ्रमन्ति
यत्सन्निधौ चुम्बकलोहवद्धि।
एतन्न जानन्ति विमूढचित्ताः
स्वाविद्यया संवृतमानसा ये॥ १९॥

स्वाज्ञानमप्यात्मनि शुद्धबुद्धे
स्वारोपयन्तीह निरस्तमाये।
संसारमेवानुसरन्ति ते वै
पुत्रादिसक्ताः पुरुकर्मयुक्ताः॥ २०॥

जानन्ति नैवं हृदये स्थितं वै
चामीकरं कण्ठगतं यथाज्ञाः।

परन्तु कोई-कोई कहते हैं कि राम परब्रह्म होनेपर भी अपनी मायासे आवृत हो जानेके कारण अपने आत्मस्वरूपको नहीं जानते थे। इसलिये अन्य (वसिष्ठादि) के उपदेशसे उन्होंने आत्मतत्त्वको जाना॥ १३॥ अतः मैं पूछती हूँ कि यदि वे आत्मतत्त्वको जानते थे, तो उन परमात्माने सीताके लिये इतना विलाप क्यों किया? और यदि उन्हें आत्मज्ञान नहीं था तो वे अन्य सामान्य जीवोंके समान ही हुए; फिर उनका भजन क्यों किया जाना चाहिये? इस विषयमें आपका क्या विचार है सो ऐसे वाक्योंमें कहिये जिससे मेरा सन्देह निवृत्त हो जाय॥ १४-१५॥

श्रीमहादेवजी बोले—देवि! तुम धन्य हो, तुम परमात्माकी परम भक्त हो, जो तुम्हें रामका तत्त्व जाननेकी इच्छा हुई है। इससे पूर्व, इस परमगूढ़ रहस्यका वर्णन करनेके लिये मुझसे और किसीने नहीं कहा॥ १६॥ आज तुमने मुझसे भक्तिपूर्वक प्रश्न किया है इसलिये मैं श्रीरघुनाथजीकी वन्दना कर तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देता हूँ। श्रीरामचन्द्रजी निःसन्देह प्रकृतिसे परे, परमात्मा, अनादि, आनन्दघन, अद्वितीय और पुरुषोत्तम हैं॥ १७॥ जो अपनी मायासे ही इस सम्पूर्ण जगत्को रचकर इसके बाहर-भीतर सब ओर आकाशके समान व्याप्त हैं तथा जो आत्मारूपसे सबके अन्तःकरणमें स्थित हुए अपनी मायासे इस विश्वको परिचालित कर रहे हैं॥ १८॥ चुम्बकके निकट होनेसे जिस प्रकार जड लोहेमें गति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार जिनकी सन्निधिमात्रसे यह विश्व सदा सब ओर भ्रमता रहता है उन परमात्मा रामको, जिनका हृदय आत्माके अज्ञानसे ढका हुआ है वे मूढ़जन नहीं जान सकते॥ १९॥ वे मूढ़ उन मायातीत शुद्ध-बुद्ध परमात्मामें भी अपने अज्ञानको आरोपित करते हैं अर्थात् उन्हें भी अपने समान ही अज्ञानी मानते हैं, तथा सर्वदा वे स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त रहनेवाले पामर जीव बहुत-से कर्मोंमें लगे रहकर संसार-चक्रमें ही पड़े रहते हैं॥ २०॥ वे अज्ञजन अपने गलेमें पड़े हुए कण्ठेको न जाननेके समान अपने ही हृदयमें स्थित परमात्मा रामको नहीं जानते (इसीलिये उनमें अज्ञानादिका आरोप करते हैं)।

यथाप्रकाशो न तु विद्यते रवौ
　　ज्योतिःस्वभावे परमेश्वरे तथा ।
विशुद्धविज्ञानघने रघूत्तमेऽ-
　　विद्या कथं स्यात्परतः परात्मनि ॥ २१ ॥

यथा हि चाक्ष्णा भ्रमता गृहादिकं
　　विनष्टदृष्टेर्भ्रमतीव दृश्यते ।
तथैव देहेन्द्रियकर्तुरात्मनः
　　कृतं परेऽध्यस्य जनो विमुह्यति ॥ २२ ॥

नाहो न रात्रिः सवितुर्यथा भवेत्
　　प्रकाशरूपाव्यभिचारतः क्वचित् ।
ज्ञानं तथाज्ञानमिदं द्वयं हरौ
　　रामे कथं स्थास्यति शुद्धचिद्घने ॥ २३ ॥

तस्मात्परानन्दमये रघूत्तमे
　　विज्ञानरूपे हि न विद्यते तमः ।
अज्ञानसाक्षिण्यरविन्दलोचने
　　मायाश्रयत्वान्न हि मोहकारणम् ॥ २४ ॥

अत्र ते कथयिष्यामि रहस्यमपि दुर्लभम् ।
सीतारामरुत्सूनुसंवादं मोक्षसाधनम् ॥ २५ ॥

पुरा रामायणे रामो रावणं देवकण्टकम् ।
हत्वा रणे रणश्लाघी सपुत्रबलवाहनम् ॥ २६ ॥

सीतया सह सुग्रीवलक्ष्मणाभ्यां समन्वितः ।
अयोध्यामगमद्रामो हनूमत्प्रमुखैर्वृतः ॥ २७ ॥

अभिषिक्तः परिवृतो वसिष्ठाद्यैर्महात्मभिः ।
सिंहासने समासीनः कोटिसूर्यसमप्रभः ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा तदा हनूमन्तं प्राञ्जलिं पुरतः स्थितम् ।
कृतकार्यं निराकाङ्क्षं ज्ञानापेक्षं महामतिम् ॥ २९ ॥

रामः सीतामुवाचेदं ब्रूहि तत्त्वं हनूमते ।
निष्कल्मषोऽयं ज्ञानस्य पात्रं नौ नित्यभक्तिमान् ॥ ३० ॥

तथेति जानकी प्राह तत्त्वं रामस्य निश्चितम् ।
हनूमते प्रपन्नाय सीता लोकविमोहिनी ॥ ३१ ॥

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम् ॥ ३२ ॥

वास्तवमें तो जिस प्रकार सूर्यमें कभी अन्धकार नहीं रहता उसी प्रकार प्रकृत्यादिसे अतीत, विशुद्ध-विज्ञानघन, ज्योतिःस्वरूप, परमेश्वर परमात्मा राममें भी अविद्या नहीं रह सकती ॥ २१ ॥ और जिस प्रकार चक्कर लगाते समय मनुष्यको नेत्रोंके घूमनेसे गृह आदि भी घूमते हुए प्रतीत होते हैं उसी प्रकार लोग अपने देह और इन्द्रियरूप कर्ताके किये हुए कर्मोंका आत्मामें आरोप करके मोहित हो जाते हैं ॥ २२ ॥ प्रकाशरूपताका कभी व्यभिचार न होनेसे जिस प्रकार सूर्यमें रात-दिनका भेद नहीं होता—वह सर्वदा एक समान प्रकाशमान रहता है—उसी प्रकार शुद्धचेतनघन भगवान् राममें ज्ञान और अज्ञान दोनों कैसे रह सकते हैं ? ॥ २३ ॥ अतएव परानन्दस्वरूप विज्ञानघन अज्ञान-साक्षी कमलनयन भगवान् राममें अज्ञानका लेश भी नहीं है; क्योंकि वे मायाके अधिष्ठान हैं इसलिये वह उन्हें मोहित नहीं कर सकती ॥ २४ ॥ हे पार्वति ! इस विषयमें मैं तुम्हें सीता, राम और हनुमान्‌जीके मोक्षका साधनरूप संवाद सुनाता हूँ जो अत्यन्त गोपनीय और परम दुर्लभ है ॥ २५ ॥

पूर्वकालमें रामावतारके समय जब युद्धप्रिय श्रीरामचन्द्रजी देवताओंके कण्टकरूप रावणको सन्तान, सेना और वाहनोंके सहित युद्धमें मारकर सीता, सुग्रीव और लक्ष्मणके सहित हनुमान् आदि वानरोंसे घिरे हुए अयोध्यापुरीमें आये ॥ २६-२७ ॥ और वहाँ आकर राज्याभिषेक होनेपर वसिष्ठ आदि महात्माओंसे घिरकर करोड़ों सूर्योंकी प्रभा धारण कर जब सिंहासनपर विराजमान हुए ॥ २८ ॥ उस समय, जो सेवाके समस्त कार्य कर चुका है और उनका कोई बदला नहीं चाहता है ऐसे भोगेच्छारहित महामति हनुमान्‌जीको ज्ञानाभिलाषासे अपने सम्मुख हाथ जोड़े खड़े देखकर श्रीरामचन्द्रजीने सीताजीसे ऐसा कहा—"सीते ! यह हनुमान् हम दोनोंमें अत्यन्त भक्ति रखता है, इसलिये यह निष्पाप है और ज्ञानका सुयोग्य पात्र है। अतः तुम इसे मेरे तत्त्वका उपदेश करो" ॥ २९-३० ॥ तब लोक-विमोहिनी जनकनन्दिनी सीताजी श्रीरामचन्द्रजी-से 'बहुत अच्छा' कह शरणागत हनुमान्‌को भगवान् रामका निश्चित तत्त्व बताने लगीं ॥ ३१ ॥

सीताजीने कहा—"वत्स हनुमन् ! तुम रामको साक्षात् अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म समझो; ये निःसन्देह समस्त उपाधियोंसे रहित, सत्तामात्र, मन तथा इन्द्रियोंके

आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरञ्जनम्।
सर्वव्यापिनमात्मानं स्वप्रकाशमकल्मषम्॥ ३३॥

मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यन्तकारिणीम्।
तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतन्द्रिता॥ ३४॥

तत्सान्निध्यान्मया सृष्टं तस्मिन्नारोप्यतेऽबुधैः।
अयोध्यानगरे जन्म रघुवंशेऽतिनिर्मले॥ ३५॥

विश्वामित्रसहायत्वं मखसंरक्षणं ततः।
अहल्याशापशमनं चापभङ्गो महेशितुः॥ ३६॥

मत्पाणिग्रहणं पश्चाद्भार्गवस्य मदक्षयः।
अयोध्यानगरे वासो मया द्वादशवार्षिकः॥ ३७॥

दण्डकारण्यगमनं विराधवध एव च।
मायामारीचमरणं मायासीताहृतिस्तथा॥ ३८॥

जटायुषो मोक्षलाभः कबन्धस्य तथैव च।
शबर्याः पूजनं पश्चात्सुग्रीवेण समागमः॥ ३९॥

वालिनश्च वधः पश्चात्सीतान्वेषणमेव च।
सेतुबन्धश्च जलधौ लंकायाश्च निरोधनम्॥ ४०॥

रावणस्य वधो युद्धे सपुत्रस्य दुरात्मनः।
विभीषणे राज्यदानं पुष्पकेण मया सह॥ ४१॥

अयोध्यागमनं पश्चाद्राज्ये रामाभिषेचनम्।
एवमादीनि कर्माणि मयैवाचरितान्यपि।

आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि॥ ४२॥

रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोच-
त्याकाङ्क्षते त्यजति नो न करोति किञ्चित्।
आनन्दमूर्तिरचलः परिणामहीनो
मायागुणाननुगतो हि तथा विभाति॥ ४३॥

ततो रामः स्वयं प्राह हनूमन्तमुपस्थितम्।
शृणु तत्त्वं प्रवक्ष्यामि ह्यात्मानात्मपरात्मनाम्॥ ४४॥

आकाशस्य यथा भेदस्त्रिविधो दृश्यते महान्।
जंलाशये महाकाशस्तदवच्छिन्न एव हि।
प्रतिबिम्बाख्यमपरं दृश्यते त्रिविधं नमः॥ ४५॥

अविषय, आनन्दघन, निर्मल, शान्त, निर्विकार, निरञ्जन, सर्वव्यापक, स्वयंप्रकाश और पापहीन परमात्मा ही हैं॥ ३२-३३॥ और मुझे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और अन्त करनेवाली मूल-प्रकृति जानो। मैं ही निरालस्य होकर इनकी सन्निधिमात्रसे इस विश्वकी रचना किया करती हूँ॥ ३४॥ तो भी इनकी सन्निधिमात्रसे की हुई मेरी रचनाको बुद्धिहीन लोग इनमें आरोपित कर लेते हैं। अतएव, अयोध्यापुरीमें अत्यन्त पवित्र रघुकुलमें इनका जन्म लेना॥ ३५॥ फिर विश्वामित्रजीकी सहायता करना, उनके यज्ञकी रक्षा करना, अहल्याको शापमुक्त करना, श्रीमहादेवजीके धनुषको तोड़ना॥ ३६॥ तत्पश्चात् मेरा पाणिग्रहण करना, परशुरामजीका गर्व-खण्डन करना तथा बारह वर्षतक मेरे साथ अयोध्यापुरीमें रहना॥ ३७॥ फिर दण्डकारण्यमें जाना, विराधका वध करना, माया-मृगरूप मारीचका मारा जाना, मायामयी सीताका हरा जाना॥ ३८॥ तदनन्तर जटायु और कबन्धका मुक्त होना, शबरीद्वारा भगवान्‌का पूजित होना और सुग्रीवसे मित्रता होना॥ ३९॥ फिर बालिका वध करना, सीताजीकी खोज करना, समुद्रका पुल बँधवाना और लङ्कापुरीको घेर लेना॥ ४०॥ तथा पुत्रोंके सहित दुरात्मा रावणको युद्धमें मारना एवं विभीषणको लङ्काका राज्य देकर पुष्पक-विमानद्वारा मेरे साथ अयोध्या लौट आना, फिर श्रीरामजीका राज्यपदपर अभिषिक्त होना—इत्यादि समस्त कर्म यद्यपि मेरे ही किये हुए हैं तो भी अज्ञानीलोग उन्हें इन निर्विकार सर्वात्मा भगवान् राममें आरोपित करते हैं॥ ४१-४२॥ ये राम तो (वास्तवमें) न चलते हैं, न ठहरते हैं, न शोक करते हैं, न इच्छा करते हैं, न त्यागते हैं और न कोई अन्य क्रिया ही करते हैं। ये आनन्दस्वरूप, अविचल और परिणामहीन हैं, केवल मायाके गुणोंसे व्याप्त होनेके कारण ही ये वैसे प्रतीत होते हैं''॥ ४३॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने सम्मुख खड़े हुए पवनपुत्र हनुमान्‌से स्वयं कहा—''मैं तुम्हें आत्मा, अनात्मा और परमात्माका तत्त्व बताता हूँ, (सावधान होकर) सुनो॥ ४४॥ जलाशयमें आकाशके तीन भेद स्पष्ट दिखायी देते हैं—एक महाकाश[1] दूसरा जलावच्छिन्न आकाश[2] और तीसरा प्रतिबिम्बाकाश[3]। जैसे आकाशके ये तीन बड़े-बड़े भेद दिखायी देते हैं॥ ४५॥

१. जो सर्वत्र व्याप्त है। २. जो केवल जलाशयमें ही परिमित है। ३. जो जलमें प्रतिबिम्बित है।

बुद्ध्यवच्छिन्नचैतन्यमेकं पूर्णमथापरम्।
आभासस्त्वपरं बिम्बभूतमेवं त्रिधा चितिः ॥ ४६ ॥

साभासबुद्धेः कर्तृत्वमवच्छिन्नेऽविकारिणि।
साक्षिण्यारोप्यते भ्रान्त्या जीवत्वं च तथाबुधैः ॥ ४७ ॥

आभासस्तु मृषा बुद्धिरविद्याकार्यमुच्यते।
अवच्छिन्नं तु तद्ब्रह्म विच्छेदस्तु विकल्पतः ॥ ४८ ॥

अवच्छिन्नस्य पूर्णेन एकत्वं प्रतिपाद्यते।
तत्त्वमस्यादिवाक्यैश्च साभासस्याहमस्तथा ॥ ४९ ॥

ऐक्यज्ञानं यदोत्पन्नं महावाक्येन चात्मनोः।
तदाविद्या स्वकार्यैश्च नश्यत्येव न संशयः ॥ ५० ॥

एतद्विज्ञाय मद्भक्तो मद्भावायोपपद्यते।
मद्भक्तिविमुखानां हि शास्त्रगर्तेषु मुह्यताम्।
न ज्ञानं न च मोक्षः स्यात्तेषां जन्मशतैरपि ॥ ५१ ॥

इदं रहस्यं हृदयं ममात्मनो
मयैव साक्षात्कथितं तवानघ।
मद्भक्तिहीनाय शठाय न त्वया
दातव्यमैन्द्रादपि राज्यतोऽधिकम् ॥ ५२ ॥

श्रीमहादेव उवाच

एतत्तेऽभिहितं देवि श्रीरामहृदयं मया।
अतिगुह्यतमं हृद्यं पवित्रं पापशोधनम् ॥ ५३ ॥

साक्षाद्रामेण कथितं सर्ववेदान्तसंग्रहम्।
यः पठेत्सततं भक्त्या स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ५४ ॥

ब्रह्महत्यादिपापानि बहुजन्मार्जितान्यपि।
नश्यन्त्येव न सन्देहो रामस्य वचनं यथा ॥ ५५ ॥

योऽतिभ्रष्टोऽतिपापी परधनपर-
दारेषु नित्योद्यतो वा

उसी प्रकार चेतन भी तीन प्रकारका है—एक तो बुद्ध्यवच्छिन्न चेतन (जो बुद्धिमें व्याप्त है), दूसरा जो सर्वत्र परिपूर्ण है और तीसरा जो बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होता है—जिसको आभासचेतन कहते हैं ॥ ४६ ॥ इनमेंसे केवल आभासचेतनके सहित बुद्धिमें ही कर्तृत्व है अर्थात् चिदाभासके सहित बुद्धि ही सब कार्य करती है। किन्तु अज्ञजन भ्रान्तिवश निरवच्छिन्न, निर्विकार, साक्षी आत्मामें कर्तृत्व और जीवत्वका आरोप करते हैं अर्थात् उसे ही कर्ता-भोक्ता मान लेते हैं ॥ ४७ ॥ (हमने जिसे जीव कहा है उसमें) आभास-चेतन तो मिथ्या है (क्योंकि सभी आभास मिथ्या ही हुआ करते हैं), बुद्धि अविद्याका कार्य है और परब्रह्म परमात्मा वास्तवमें विच्छेदरहित है, अतः उसका विच्छेद भी विकल्पसे ही माना हुआ है ॥ ४८ ॥ (इसी प्रकार उपाधियोंका बाध करते हुए) साभास अहंरूप अवच्छिन्न चेतन (जीव) की 'तत्त्वमसि' (तू वह है) आदि महावाक्योंद्वारा पूर्ण चेतन (ब्रह्म) के साथ एकता बतलायी जाती है ॥ ४९ ॥ जब महावाक्यद्वारा (इस प्रकार) जीवात्मा और परमात्माकी एकताका ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उस समय अपने कार्योंसहित अविद्या नष्ट हो ही जाती है—इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ५० ॥ मेरा भक्त इस उपर्युक्त तत्त्वको समझकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होनेका पात्र हो जाता है पर जो लोग मेरी भक्तिको छोड़कर शास्त्ररूप गढ़ेमें पड़े भटकते रहते हैं उन्हें सौ जन्मतक भी न तो ज्ञान होता है और न मोक्ष ही प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥ हे अनघ! यह परम रहस्य मुझ आत्मस्वरूप रामका हृदय है; और साक्षात् मैंने ही तुम्हें सुनाया है। यदि तुम्हें इन्द्रलोकके राज्यसे भी अधिक सम्पत्ति मिले तो भी तुम इसे मेरी भक्तिसे हीन किसी दुष्ट पुरुषको मत सुनाना" ॥ ५२ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे देवि! मैंने तुम्हें यह अत्यन्त गोपनीय, हृदयहारी, परम पवित्र और पापनाशक 'श्रीरामहृदय' सुनाया है ॥ ५३ ॥ यह समस्त वेदान्तका सार-संग्रह साक्षात् श्रीरामचन्द्रजीका कहा हुआ है। जो कोई इसे भक्तिपूर्वक सदा पढ़ता है वह निस्सन्देह मुक्त हो जाता है ॥ ५४ ॥ इसके पठनमात्रसे अनेक जन्मोंके सञ्चित ब्रह्महत्यादि समस्त पाप निस्सन्देह नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि श्रीरामके वचन ऐसे ही हैं ॥ ५५ ॥ जो कोई अत्यन्त भ्रष्ट अतिशय पापी, परधन और परस्त्रियोंमें सदा

स्तेयी ब्रह्मघ्नमातापितृवधनिरतो
योगिवृन्दापकारी ।
यः संपूज्याभिरामं पठति च हृदयं
रामचन्द्रस्य भक्त्या
योगीन्द्रैरप्यलभ्यं पदमिह लभते
सर्वदेवैः स पूज्यम् ॥ ५६ ॥

प्रवृत्त रहनेवाला, चोर, ब्रह्म-हत्यारा, माता-पिताका वध करनेमें लगा हुआ और योगिजनोंका अहित करनेवाला मनुष्य भी श्रीरामचन्द्रजीका पूजन कर इस रामहृदयका भक्तिपूर्वक पाठ करता है वह समस्त देवताओंके पूज्य उस परमपदको प्राप्त होता है जो योगिराजोंको भी परम दुर्लभ है ॥ ५६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे बालकाण्डे श्रीरामहृदयं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीय सर्ग

भारपीडिता पृथिवीका ब्रह्मादि देवताओंके पास जाना और भगवान्‌का उनकी प्रार्थनासे प्रकट होकर उन्हें धैर्य बँधाना

पार्वत्युवाच

धन्यास्म्यनुगृहीतास्मि कृतार्थास्मि जगत्प्रभो ।
विच्छिन्नो मेऽतिसन्देहग्रन्थिर्भवदनुग्रहात् ॥ १ ॥

त्वन्मुखाद्गलितं रामतत्त्वामृतरसायनम् ।
पिबन्त्या मे मनो देव न तृप्यति भवापहम् ॥ २ ॥

श्रीरामस्य कथा त्वत्तः श्रुता संक्षेपतो मया ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण स्फुटाक्षरम् ॥ ३ ॥

पार्वतीजी बोलीं—हे जगत्प्रभो ! आपकी कृपासे अनुगृहीत होकर मैं धन्य और कृतकृत्य हो गयी तथा मेरी कठिन सन्देहग्रन्थि टूट गयी ॥ १ ॥ हे देव ! आपके मुखसे चूते हुए भवभयहारी रामतत्त्वरूप अमृतमय रसायनका पान करते-करते मेरा मन तृप्त नहीं होता ॥ २ ॥ मैंने आपके मुखसे श्रीरामचन्द्रजीकी कथा संक्षेपसे सुनी । अब मैं उसे स्पष्ट शब्दोंमें विस्तारपूर्वक सुनना चाहती हूँ ॥ ३ ॥

श्रीमहादेव उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि गुह्याद्गुह्यतरं महत् ।
अध्यात्मरामचरितं रामेणोक्तं पुरा मम ॥ ४ ॥

तदद्य कथयिष्यामि शृणु तापत्रयापहम् ।
यच्छ्रुत्वा मुच्यते जन्तुरज्ञानोत्थमहाभयात् ।
प्राप्नोति परमामृद्धिं दीर्घायुः पुत्रसन्ततिम् ॥ ५ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे देवि ! सुनो, मैं तुम्हें गुह्यसे भी गुह्य महान् अध्यात्मरामायण सुनाता हूँ, जो पहले मुझे श्रीरामचन्द्रजीने ही सुनायी थी ॥ ४ ॥ अब मैं तुम्हें वह तापत्रयहारी अध्यात्मरामायण सुनाता हूँ, सावधान होकर सुनो । जिसके सुननेसे जीव अज्ञानजन्य महाभयसे छूट जाता है और परम ऐश्वर्य, दीर्घ आयु तथा पुत्र-पौत्रादि प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

भूमिर्भारेण भग्ना दशवदनमुखाशेष-
रक्षोगणानां
धृत्वा गोरूपमादौ दिविजमुनिजनैः
साकमब्जासनस्य ।
गत्वा लोकं रुदन्ती व्यसनमुपगतं
ब्रह्मणे प्राह सर्वं
ब्रह्मा ध्यात्वा मुहूर्तं सकलमपि हृदा-
वेदशेषात्मकत्वात् ॥ ६ ॥

एक बार रावण आदि राक्षसोंके भारसे व्यथित हो पृथिवी गौका रूप धारण कर देवता और मुनिजनोंके सहित श्रीब्रह्माजीके लोकको गयी । वहाँ पहुँचकर उसने रोते हुए, अपनेपर पड़ा हुआ सारा दुःख ब्रह्माजीसे कहा । तब ब्रह्माजीने एक मुहूर्ततक ध्यानस्थ हो अपने मनमें उसकी दुःखनिवृत्तिका सम्पूर्ण उपाय जान लिया क्योंकि वे सर्वान्तर्यामी हैं ॥ ६ ॥

तस्मात्क्षीरसमुद्रतीरमगमद् ब्रह्माथ देवैर्वृतो
देव्या चाखिललोकहृत्स्थमजरं सर्वज्ञमीशं हरिम्।
अस्तौषीच्छ्रुतिसिद्धनिर्मलपदैः स्तोत्रैः पुराणोद्भवै-
र्भक्त्या गद्गदया गिरातिविमलै-रानन्दवाष्पैर्वृतः ॥ ७ ॥

ततः स्फुरत्सहस्रांशुसहस्रसदृशप्रभः।
आविरासीद्धरिः प्राच्यां दिशां व्यपनयंस्तमः ॥ ८ ॥

कथंचिद्दृष्टवान्ब्रह्मा दुर्दर्शमकृतात्मनाम्।
इन्द्रनीलप्रतीकाशं स्मितास्यं पद्मलोचनम् ॥ ९ ॥

किरीटहारकेयूरकुण्डलैः कटकादिभिः।
विभ्राजमानं श्रीवत्सकौस्तुभप्रभयान्वितम् ॥ १० ॥

स्तुवद्भिः सनकाद्यैश्च पार्षदैः परिवेष्टितम्।
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविराजितम् ॥ ११ ॥

स्वर्णयज्ञोपवीतेन स्वर्णवर्णाम्बरेण च।
श्रिया भूम्या च सहितं गरुडोपरि संस्थितम् ॥ १२ ॥

हर्षगद्गदया वाचा स्तोतुं समुपचक्रमे ॥ १३ ॥

ब्रह्मोवाच

नतोऽस्मि ते पदं देव प्राणबुद्धीन्द्रियात्मभिः।
यच्चिन्त्यते कर्मपाशाद्धृदि नित्यं मुमुक्षुभिः ॥ १४ ॥

मायया गुणमय्या त्वं सृजस्यवसि लुम्पसि।
जगत्तेन न ते लेप आनन्दानुभवात्मनः ॥ १५ ॥

तथा शुद्धिर्न दुष्टानां दानाध्ययनकर्मभिः।
शुद्धात्मता ते यशसि सदा भक्तिमतां यथा ॥ १६ ॥

अतस्त्वदङ्घ्रिर्मे दृष्टश्चित्तदोषापनुत्तये।
सद्योऽन्तर्हृदये नित्यं मुनिभिः सात्वतैर्वृतः ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् वहाँसे समस्त देवताओंके सहित श्रीब्रह्माजी पृथिवीको साथ लेकर क्षीरसागरके तटपर गये और वहाँ उन्होंने अत्यन्त निर्मल आनन्दाश्रुओंसे परिप्लुत हो अखिल-लोकान्तर्यामी, अजर, सर्वज्ञ, भगवान् हरिकी अति निर्मल भक्तियुक्त गद्गदवाणीसे श्रुतिसिद्ध विमल पदों और पुराणोक्त स्तोत्रोंद्वारा स्तुति की ॥ ७ ॥ तब सहस्रों देदीप्यमान सूर्योंके समान प्रभाशाली भगवान् हरि (अपने तेजसे) सब दिशाओंके अन्धकारको दूर करते हुए पूर्व-दिशामें प्रकट हुए ॥ ८ ॥ पुण्यहीन पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुर्दर्शनीय भगवान् हरिको (उनके अमित तेजके कारण) ब्रह्माजीने भी बड़ी कठिनतासे देख पाया। इन्द्रनीलमणिके समान उनका तेजोमय श्याम वर्ण था, मुखपर मधुर मुसकान थी और कमलके समान विशाल और मनोहर नेत्र थे ॥ ९ ॥ वे किरीट, हार, केयूर, कुण्डल और कटक आदि आभूषणोंसे सुशोभित तथा श्रीवत्स और कौस्तुभमणिकी प्रभासे युक्त थे ॥ १० ॥ उन्हें स्तुति करते हुए सनकादि पार्षद चारों ओरसे घेरे हुए थे और उनकी शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म तथा वनमालासे अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ ११ ॥ वे सोनेके यज्ञोपवीत और पीताम्बरसे सुशोभित एवं लक्ष्मी और भूमिके सहित गरुडपर विराजमान थे। (उनकी ऐसी दिव्य छविको देखकर) पितामह ब्रह्माजी हर्षसे गद्गदकण्ठ हो स्तुति करने लगे ॥ १२-१३ ॥

ब्रह्माजी बोले—हे देव! कर्मपाशसे मुक्त होनेके लिये मुमुक्षुजन अपने प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और मनसे जिनका नित्य चिन्तन करते हैं आपके उन चरणारविन्दोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १४ ॥ आप अपनी त्रिगुणमयी मायाका आश्रय करके ही इस जगत्की उत्पत्ति, पालन और लय करते हैं; किन्तु ज्ञानानन्दस्वरूप आप इससे लिप्त नहीं होते ॥ १५ ॥ हे भगवन्! आपके विमल यशमें सदा प्रेम रखनेवाले भक्तोंका अन्तःकरण जैसा शुद्ध होता है वैसी शुद्धि मलिन अन्तःकरणवाले पुरुष दान और अध्ययन आदि शुभ कर्मोंसे नहीं प्राप्त कर सकते ॥ १६ ॥ अतः भक्त मुनिजन जिनका निरन्तर अपने हृदयमें ध्यान करते हैं ऐसे आपके चरण-कमलोंका आज मैंने अपने अन्तःकरणके दोषोंका तत्क्षण नाश करनेके लिये दर्शन किया है ॥ १७ ॥

ब्रह्माद्यैः स्वार्थसिद्ध्यर्थमस्माभिः पूर्वसेवितः ।
अपरोक्षानुभूत्यर्थं ज्ञानिभिर्हृदि भावितः ॥ १८ ॥

तवाङ्घ्रिपूजानिर्माल्यतुलसीमालया विभो ।
स्पर्धते वक्षसि पदं लब्ध्वापि श्रीः सपत्निवत् ॥ १९ ॥

अतस्त्वत्पादभक्तेषु तव भक्तिः श्रियोऽधिका ।
भक्तिमेवाभिवाञ्छन्ति त्वद्भक्ताः सारवेदिनः ॥ २० ॥

अतस्त्वत्पादकमले भक्तिरेव सदास्तु मे ।
संसारामयतप्तानां भेषजं भक्तिरेव ते ॥ २१ ॥

इति ब्रुवन्तं ब्रह्माणं बभाषे भगवान् हरिः ।
किं करोमीति तं वेधाः प्रत्युवाचातिहर्षितः ॥ २२ ॥

भगवन् रावणो नाम पौलस्त्यतनयो महान् ।
राक्षसानामधिपतिर्मद्दत्तवरदर्पितः ॥ २३ ॥

त्रिलोकीं लोकपालांश्च बाधते विश्वबाधकः ।
मानुषेण मृतिस्तस्य मया कल्याण कल्पिता ।

अतस्त्वं मानुषो भूत्वा जहि देवरिपुं प्रभो ॥ २४ ॥

श्रीभगवानुवाच

कश्यपस्य वरो दत्तस्तपसा तोषितेन मे ॥ २५ ॥

याचितः पुत्रभावाय तथेत्यङ्गीकृतं मया ।
स इदानीं दशरथो भूत्वा तिष्ठति भूतले ॥ २६ ॥

तस्याहं पुत्रतामेत्य कौसल्यायां शुभे दिने ।
चतुर्धात्मानमेवाहं सृजामीतरयोः पृथक् ॥ २७ ॥

योगमायापि सीतेति जनकस्य गृहे तदा ।
उत्पत्स्यते तया सार्धं सर्वं सम्पादयाम्यहम् ।
इत्युक्त्वान्तर्दधे विष्णुर्ब्रह्मा देवानथाब्रवीत् ॥ २८ ॥

ब्रह्मोवाच

विष्णुर्मानुषरूपेण भविष्यति रघोः कुले ॥ २९ ॥

यूयं सृजध्वं सर्वेऽपि वानरेष्वंशसम्भवान् ।
विष्णोः सहायं कुरुत यावत्स्थास्यति भूतले ॥ ३० ॥

आपके इन चरण-कमलोंका पहले भी हम ब्रह्मा आदि देवगणने अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये सेवन किया है और ज्ञानी मुनिजनोंने अपरोक्षानुभवके लिये अपने हृदयमें निरन्तर ध्यान किया है ॥ १८ ॥ हे विभो ! लक्ष्मीजी आपके वक्षःस्थलमें स्थान पाकर भी आपकी चरणपूजाके समय चढ़ी हुई तुलसीकी मालासे सौतकी तरह डाह करती हैं ॥ १९ ॥ आपके चरण-कमलोंमें प्रेम रखनेवाले भक्तोंमें आपका प्रेम लक्ष्मीजीसे भी बढ़कर है। इसलिये आपके सारग्राही भक्तजन केवल आपकी भक्तिकी ही इच्छा करते हैं ॥ २० ॥ अतएव हे देव ! आपके चरण-कमलोंमें मेरी सर्वदा भक्ति रहे; क्योंकि संसार-रोगके रोगियोंके लिये आपकी भक्ति ही एकमात्र औषध है ॥ २१ ॥

इस प्रकार स्तुति करते हुए ब्रह्मासे भगवान् हरिने कहा, "मैं तुम्हारा क्या कार्य करूँ ?" तब ब्रह्माने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे कहा ॥ २२ ॥ "भगवन्! पुलस्त्यनन्दन विश्रवाका पुत्र रावण राक्षसोंका राजा है। वह मेरे वरके प्रभावसे अत्यन्त अभिमानी हो गया है ॥ २३ ॥ वह सम्पूर्ण विश्वका बाधक तीनों लोकों और लोकपालोंको पीड़ा पहुँचाता है। हे कल्याणरूप ! मैंने उसकी मृत्यु मनुष्यके हाथ रखी है। इसलिये हे प्रभो ! आप मनुष्यरूप धारणकर उस देवशत्रुका वध कीजिये" ॥ २४ ॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने कश्यपकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर उन्हें वर दिया था। उन्होंने मुझसे पुत्ररूपसे उत्पन्न होनेकी प्रार्थना की थी, तब मैंने 'बहुत अच्छा' कह उसे स्वीकार कर लिया था। इस समय वे पृथ्वीपर राजा दशरथ होकर विद्यमान हैं ॥ २५-२६ ॥ उन्हींके यहाँ पुत्ररूपसे पृथक्-पृथक् चार अंशोंमें प्रकट होकर मैं शुभ दिनोंमें कौसल्याके और अन्य दो माताओंके गर्भसे जन्म लूँगा ॥ २७ ॥ उसी समय मेरी योगमाया भी जनकजीके घरमें सीतारूपसे उत्पन्न होगी; उसको साथ लेकर मैं तुम्हारा सम्पूर्ण कार्य सिद्ध करूँगा। ऐसा कह भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये; तब ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा ॥ २८ ॥

ब्रह्माजी बोले—भगवान् विष्णु रघुकुलमें मनुष्य-रूपसे अवतार लेंगे। तुमलोग भी सब अपने-अपने अंशसे वानरवंशमें पुत्र उत्पन्न करो तथा जबतक श्रीविष्णुभगवान्

इति देवान्समादिश्य समाश्वास्य च मेदिनीम्।
ययौ ब्रह्मा स्वभवनं विज्वरः सुखमास्थितः ॥ ३१ ॥

देवाश्च सर्वे हरिरूपधारिणः
स्थिताः सहायार्थमितस्ततो हरेः।
महाबलाः पर्वतवृक्षयोधिनः
प्रतीक्षमाणा भगवन्तमीश्वरम् ॥ ३२ ॥

भूलोकमें रहें तबतक उनकी सहायता करते रहो ॥ २९-३० ॥ इस प्रकार देवताओंको आज्ञा दे और पृथ्वीको ढाढ़स बँधा ब्रह्माजी अपने लोकको चले गये और वहाँ निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ३१ ॥ इधर समस्त देवगण पर्वत और वृक्षोंद्वारा लड़नेवाले महाबलवान् वानरोंका रूप धारणकर भगवान्की सहायताके लिये उनकी प्रतीक्षा करते हुए जहाँ-तहाँ रहने लगे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे बालकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीय सर्ग

भगवान्का जन्म और बाललीला

श्रीमहादेव उवाच

अथ राजा दशरथः श्रीमान्सत्यपरायणः।
अयोध्याधिपतिर्वीरः सर्वलोकेषु विश्रुतः ॥ १ ॥

सोऽनपत्यत्वदुःखेन पीडितो गुरुमेकदा।
वसिष्ठं स्वकुलाचार्यमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥ २ ॥

स्वामिन्पुत्राः कथं मे स्युः सर्वलक्षणलक्षिताः।
पुत्रहीनस्य मे राज्यं सर्वं दुःखाय कल्पते ॥ ३ ॥

ततोऽब्रवीद्वसिष्ठस्तं भविष्यन्ति सुतास्तव।
चत्वारः सत्त्वसम्पन्ना लोकपाला इवापराः ॥ ४ ॥

शान्ताभर्तारमानीय ऋष्यशृङ्गं तपोधनम्।
अस्माभिः सहितः पुत्रकामेष्टिं शीघ्रमाचर ॥ ५ ॥

तथेति मुनिमानीय मन्त्रिभिः सहितः शुचिः।
यज्ञकर्म समारेभे मुनिभिर्वीतकल्मषैः ॥ ६ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—एक बार सकललोकप्रसिद्ध सत्यपरायण श्रीमान् अयोध्यापति वीरवर महाराज दशरथने पुत्रके न होनेसे अत्यन्त दुःखित हो अपने कुलके आचार्य गुरुवर वसिष्ठजीको बुला उन्हें प्रणामकर इस प्रकार कहा ॥ १-२ ॥ "स्वामिन्! यह बताइये कि मेरे सर्वसुलक्षणोंसे सम्पन्न पुत्र किस प्रकार हो सकते हैं? क्योंकि बिना पुत्रके यह सम्पूर्ण राज्य मुझे दुःखरूप हो रहा है" ॥ ३ ॥

तब राजा दशरथसे वसिष्ठजीने कहा—"तुम्हारे साक्षात् दूसरे लोकपालोंके समान अत्यन्त सामर्थ्यवान् चार पुत्र होंगे ॥ ४ ॥ तुम शान्ताके पति तपोधन ऋष्यशृङ्ग*को बुलाकर शीघ्र ही हमें साथ लेकर पुत्रेष्टि-यज्ञका अनुष्ठान करो" ॥ ५ ॥

राजाने "बहुत अच्छा" कह मुनिवर ऋष्यशृङ्गको बुलाया और मन्त्रियोंके सहित पवित्र होकर निष्पाप मुनिजनोंकी सहायतासे यज्ञानुष्ठान आरम्भ किया ॥ ६ ॥

*ऋष्यशृङ्ग मुनिवर विभाण्डकके पुत्र थे। एक बार विभाण्डक मुनि एक कुण्डमें समाधि लगाये बैठे थे, उसी समय उधरसे उर्वशी अप्सरा निकली। उसे देखकर मुनिका वीर्य स्खलित हो गया। उसे जलके साथ एक मृगी पी गयी। उसीसे इनका जन्म हुआ। माताके समान इनके शिरपर भी शृङ्ग (सींग) होनेकी सम्भावना थी, इसलिये पिता विभाण्डकने इनका नाम ऋष्यशृङ्ग रखा। एक बार अङ्ग देशमें घोर अनावृष्टि हुई। उस समय मुनियोंने अङ्गनरेश रोमपादसे कहा, यदि बालब्रह्मचारी ऋष्यशृङ्गको यहाँ लाया जा सके तो वृष्टि हो। राजाके प्रयत्नसे वे आ गये। उनके अङ्गदेशमें आते ही पुष्कल वर्षा हो गयी। राजाने उनका ऐसा अद्भुत प्रभाव देखकर उन्हें अपनी कन्या शान्ता विवाह दी। कहीं-कहीं ऐसा भी कहा जाता है कि यह शान्ता महाराज दशरथकी पुत्री थी और इन्होंने इसे अपने मित्र रोमपादको गोद दे दिया था।

श्रद्धया हूयमानेऽग्नौ तप्तजाम्बूनदप्रभः ।
पायसं स्वर्णपात्रस्थं गृहीत्वोवाच हव्यवाट् ॥ ७ ॥

गृहाण पायसं दिव्यं पुत्रीयं देवनिर्मितम् ।
लप्स्यसे परमात्मानं पुत्रत्वेन न संशयः ॥ ८ ॥

इत्युक्त्वा पायसं दत्त्वा राज्ञे सोऽन्तर्दधेऽनलः ।
ववन्दे मुनिशार्दूलौ राजा लब्धमनोरथः ॥ ९ ॥

वसिष्ठऋष्यशृङ्गाभ्यामनुज्ञातो ददौ हविः ।
कौसल्यायै सकैकेय्यै अर्धमर्धं प्रयत्नतः ॥ १० ॥

ततः सुमित्रा संप्राप्ता जगृध्नुः पौत्रिकं चरुम् ।
कौसल्या तु स्वभागार्धं ददौ तस्यै मुदान्विता ॥ ११ ॥

कैकेयी च स्वभागार्धं ददौ प्रीतिसमन्विता ।
उपभुज्य चरुं सर्वाः स्त्रियो गर्भसमन्विताः ॥ १२ ॥

देवता इव रेजुस्ताः स्वभासा राजमन्दिरे ।
दशमे मासि कौसल्या सुषुवे पुत्रमद्भुतम् ॥ १३ ॥

मधुमासे सिते पक्षे नवम्यां कर्कटे शुभे ।
पुनर्वस्वृक्षसहिते उच्चस्थे ग्रहपञ्चके ॥ १४ ॥

मेषं पूषणि संप्राप्ते पुष्पवृष्टिसमाकुले ।
आविरासीज्जगन्नाथः परमात्मा सनातनः ॥ १५ ॥

नीलोत्पलदलश्यामः पीतवासाश्चतुर्भुजः ।
जलजारुणनेत्रान्तः स्फुरत्कुण्डलमण्डितः ॥ १६ ॥

सहस्रार्कप्रतीकाशः किरीटी कुञ्चितालकः ।
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविराजितः ॥ १७ ॥

अनुग्रहाख्यहृत्स्थेन्दुसूचकस्मितचन्द्रिकः ।
करुणारससम्पूर्णविशालोत्पललोचनः ।
श्रीवत्सहारकेयूरनूपुरादिविभूषणः ॥ १८ ॥

दृष्ट्वा तं परमात्मानं कौसल्या विस्मयाकुला ।
हर्षाश्रुपूर्णनयना नत्वा प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ १९ ॥

यज्ञानुष्ठानके समय अग्निमें श्रद्धापूर्वक आहुति देनेपर तप्त सुवर्णके समान दीप्तिमान् हव्यवाहन भगवान् अग्नि एक स्वर्णपात्रमें पायस लेकर प्रकट हुए और बोले ॥ ७ ॥ "हे राजन्! यह देवताओंकी बनायी हुई पुत्रप्रदायिनी दिव्य पायस (खीर) लो। इसके द्वारा तुम निस्सन्देह साक्षात् परमात्माको पुत्ररूपसे प्राप्त करोगे" ॥ ८ ॥

अग्निदेव ऐसा कहकर और वह खीर राजाको देकर अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर राजाने सफलमनोरथ हो मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ और ऋष्यशृङ्गकी चरण-वन्दना की और उन दोनोंकी आज्ञासे बड़ी सावधानीके साथ वह हवि महारानी कौसल्या और कैकेयीमें आधी-आधी बाँट दी ॥ ९-१० ॥ तदनन्तर उस पुत्र देनेवाले चरुको लेनेकी इच्छासे सुमित्राजी भी वहाँ आ पहुँचीं। इसपर कौसल्याजीने प्रसन्नतापूर्वक अपने भागमेंसे आधा उन्हें दे दिया ॥ ११ ॥ तथा कैकेयीने भी प्रीतिपूर्वक अपने भागमेंसे आधा सुमित्राको दिया। इस प्रकार उस हविको खाकर सभी रानियाँ गर्भवती हो गयीं ॥ १२ ॥

वे तीनों रानियाँ उस राजभवनमें अपनी कान्तिसे देवताओंके समान शोभा पाने लगीं। फिर दसवाँ महीना लगनेपर कौसल्याने एक अद्भुत बालकको जन्म दिया ॥ १३ ॥ चैत्रमासके शुक्ल पक्षकी नवमीके दिन शुभ कर्क-लग्नमें पुनर्वसु-नक्षत्रके समय जब कि पाँच ग्रह उच्च स्थानमें तथा सूर्य मेषराशिपर थे तब (मध्याह्न-कालमें) सनातन परमात्मा जगन्नाथका आविर्भाव हुआ। उस समय आकाश दिव्य पुष्पोंकी वर्षासे पूर्ण हो गया ॥ १४-१५ ॥ जो नीलकमलदलके समान श्यामवर्ण हैं, पीताम्बर पहने हुए हैं और चार भुजाएँ धारण किये हैं तथा जिनके नेत्रोंके भीतरका भाग अरुण कमलके समान शोभायमान है, कानोंमें कान्तिमान् कुण्डल सुशोभित हैं ॥ १६ ॥ हजारों सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, जिनके सिरपर प्रकाशमान मुकुट और घुँघराली अलकें हैं, हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म तथा गलेमें वैजयन्ती माला विराजमान है ॥ १७ ॥ जिनके मुख-कमलपर हृदयस्थ अनुग्रहरूप चन्द्रमाकी सूचना देनेवाली मुसकानरूप चन्द्रिका छिटक रही है, जिनके करुणा-रस-पूर्ण नयन कमलदलके समान विशाल हैं तथा जो श्रीवत्स, हार, केयूर और नूपुर आदि आभूषणोंसे विभूषित हैं ॥ १८ ॥ पुत्ररूपसे प्रकट हुए उन परमात्माको देखकर कौसल्याने विस्मयसे व्याकुल हो, नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भर, हाथ जोड़कर

कौसल्योवाच

देवदेव नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर ।
परमात्माच्युतोऽनन्तः पूर्णस्त्वं पुरुषोत्तमः ॥ २० ॥

वदन्त्यगोचरं वाचां बुद्ध्यादीनामतीन्द्रियम् ।
त्वां वेदवादिनः सत्तामात्रं ज्ञानैकविग्रहम् ॥ २१ ॥

त्वमेव मायया विश्वं सृजस्यवसि हंसि च ।
सत्त्वादिगुणसंयुक्तस्तुर्य एवामलः सदा ॥ २२ ॥

करोषीव न कर्ता त्वं गच्छसीव न गच्छसि ।
शृणोषि न शृणोषीव पश्यसीव न पश्यसि ॥ २३ ॥

अप्राणो ह्यमनाः शुद्ध इत्यादि श्रुतिरब्रवीत् ।
समः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्नपि न लक्ष्यसे ॥ २४ ॥

अज्ञानध्वान्तचित्तानां व्यक्त एव सुमेधसाम् ।
जठरे तव दृश्यन्ते ब्रह्माण्डाः परमाणवः ॥ २५ ॥

त्वं ममोदरसम्भूत इति लोकान्विडम्बसे ।
भक्तेषु पारवश्यं ते दृष्टं मेऽद्य रघूत्तम ॥ २६ ॥

संसारसागरे मग्ना पतिपुत्रधनादिषु ।
भ्रमामि मायया तेऽद्य पादमूलमुपागता ॥ २७ ॥

देव त्वद्रूपमेतन्मे सदा तिष्ठतु मानसे ।
आवृणोतु न मां माया तव विश्वविमोहिनी ॥ २८ ॥

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।
दर्शयस्व महानन्दबालभावं सुकोमलम् ।
ललितालिङ्गनालापैस्तरिष्याम्युत्कटं तमः ॥ २९ ॥

श्रीभगवानुवाच

यद्यदिष्टं तवास्त्यम्ब तत्तद्भवतु नान्यथा ॥ ३० ॥

अहं तु ब्रह्मणा पूर्वं भूमेर्भारापनुत्तये ।
प्रार्थितो रावणं हन्तुं मानुषत्वमुपागतः ॥ ३१ ॥

नमस्कार करते हुए कहा ॥ १९ ॥

श्रीकौसल्याजी बोलीं—हे देवदेव ! आपको नमस्कार है; हे शङ्ख-चक्र-गदाधर ! आप अच्युत और अनन्त परमात्मा हैं तथा सर्वत्र पूर्ण पुरुषोत्तम हैं ॥ २० ॥ वेदवादीगण आपको मन और वाणी आदिके अविषय तथा इन्द्रियोंसे अतीत सत्तामात्र और एकमात्र ज्ञानस्वरूप बतलाते हैं ॥ २१ ॥ आप ही अपनी मायासे सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे युक्त होकर इस विश्वकी रचना, पालन और संहार करते हैं तथापि वास्तवमें आप सदा निर्मल तुरीय पदमें स्थित हैं ॥ २२ ॥ आप कर्ता नहीं हैं तथापि करते-से प्रतीत होते हैं, चलते नहीं हैं फिर भी चलते-से मालूम पड़ते हैं, न सुनते हुए भी सुनते-से दिखायी देते हैं और न देखकर भी देखते हुए-से प्रतीत होते हैं ॥ २३ ॥ भगवती श्रुति भी कहती है कि आप "प्राण और मनसे रहित तथा शुद्ध" हैं। आप समस्त प्राणियोंमें समानभावसे स्थित हैं, तथापि जिनका अन्तःकरण अज्ञानान्धकारसे ढँका हुआ है उन्हें आप दिखायी नहीं देते, आपका साक्षात्कार सुबुद्धि पुरुषोंको ही होता है। हे भगवन् ! आपके उदरमें अनेकों ब्रह्माण्ड परमाणुओंके समान दिखायी देते हैं तथापि "आपने मेरे पेटसे जन्म लिया" ऐसा जो आप लोगोंमें प्रकट कर रहे हैं इससे मैंने आज आपकी भक्तवत्सलता देख ली ॥ २४—२६ ॥ हे प्रभो ! मैं आपकी मायासे मोहित होकर संसार-सागरमें डूबी हुई पति, पुत्र और धन आदिके फेरमें पड़ रही थी; आज परम सौभाग्यवश आपके चरण-कमलोंकी शरणमें आयी हूँ ॥ २७ ॥ हे देव ! आपकी यह मनोहर मूर्ति सदा मेरे हृदयमें विराजमान रहे और आपकी विश्वविमोहिनी माया मुझे न व्यापे ॥ २८ ॥ हे विश्वात्मन् ! अपने इस अलौकिक रूपका उपसंहार कीजिये और परम आनन्द-दायक सुकोमल बालरूप धारण कीजिये जिसके अति सुखद आलिङ्गन और सम्भाषणादिसे मैं घोर अज्ञानान्धकारको पार कर जाऊँगी ॥ २९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे मातः ! आप जो-जो चाहती हैं, वही हो, उसके विरुद्ध कुछ भी न हो। पूर्वकालमें मुझसे पृथिवीका भार उतारनेके लिये ब्रह्माने प्रार्थना की थी, अतः रावणादि निशाचरोंको मारनेके लिये ही मैंने मनुष्यरूपसे अवतार लिया है ॥ ३०-३१ ॥

त्वया दशरथेनाहं तपसाराधितः पुरा।
मत्पुत्रत्वाभिकाङ्क्षिण्या तथा कृतमनिन्दिते ॥ ३२ ॥

रूपमेतत्त्वया दृष्टं प्राक्तनं तपसः फलम्।
मद्दर्शनं विमोक्षाय कल्पते ह्यन्यदुर्लभम् ॥ ३३ ॥

संवादमावयोर्यस्तु पठेद्वा शृणुयादपि।
स याति मम सारूप्यं मरणे मत्स्मृतिं लभेत् ॥ ३४ ॥

इत्युक्त्वा मातरं रामो बालो भूत्वा रुरोद ह।
बालत्वेऽपीन्द्रनीलाभो विशालाक्षोऽतिसुन्दरः ॥ ३५ ॥

बालारुणप्रतीकाशो लालिताखिललोकपः।
अथ राजा दशरथः श्रुत्वा पुत्रोद्भवोत्सवम्।
आनन्दार्णवमग्नोऽसावाययौ गुरुणा सह ॥ ३६ ॥

रामं राजीवपत्राक्षं दृष्ट्वा हर्षाश्रुसंप्लुतः।
गुरुणा जातकर्माणि कर्तव्यानि चकार सः ॥ ३७ ॥

कैकेयी चाथ भरतमसूत कमलेक्षणा।
सुमित्रायां यमौ जातौ पूर्णेन्दुसदृशाननौ ॥ ३८ ॥

तदा ग्रामसहस्राणि ब्राह्मणेभ्यो मुदा ददौ।
सुवर्णानि च रत्नानि वासांसि सुरभीः शुभाः ॥ ३९ ॥

यस्मिन् रमन्ते मुनयो विद्ययाऽज्ञानविप्लवे।
तं गुरुः प्राह रामेति रमणाद्राम इत्यपि ॥ ४० ॥

भरणाद्भरतो नाम लक्ष्मणं लक्षणान्वितम्।
शत्रुघ्नं शत्रुहन्तारमेवं गुरुरभाषत ॥ ४१ ॥

लक्ष्मणो रामचन्द्रेण शत्रुघ्नो भरतेन च।
द्वन्द्वीभूय चरन्तौ तौ पायसांशानुसारतः ॥ ४२ ॥

हे अनिन्दिते! दशरथजीके सहित तुमने भी मुझे पुत्ररूपसे प्राप्त करनेकी इच्छासे तपस्या करते हुए मेरी आराधना की थी। उसीको मैंने इस समय प्रकट होकर पूर्ण किया है ॥ ३२ ॥ तुमने अपनी पूर्व तपस्याके फलसे ही मेरा यह दिव्य रूप देखा है। मेरा दर्शन मोक्षपद देनेवाला होता है; पुण्यहीन जनोंके लिये इसका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ३३ ॥ जो व्यक्ति हमारे इस संवादको पढ़ेगा या सुनेगा वह मेरी सारूप्य मुक्ति (समानरूपता) प्राप्त करेगा और मरणकालमें उसे मेरी स्मृति बनी रहेगी ॥ ३४ ॥

मातासे इस प्रकार कह भगवान् बालरूप होकर रोने लगे। उनका बालरूप भी इन्द्रनीलमणिके समान श्यामवर्ण बड़े-बड़े नेत्रोंवाला और अति सुन्दर था ॥ ३५ ॥ वह प्रभातकालीन बालसूर्यके समान अरुणज्योतिर्मय था। भगवान्ने अवतरित होकर उस सुमनोहर बालरूपसे सभी लोकपालोंको परम आनन्दित कर दिया। तत्पश्चात् जब महाराज दशरथजीने पुत्रोत्पत्ति-रूप उत्सवका शुभ समाचार सुना तो वे मानो आनन्द-समुद्रमें डूब गये और गुरु वसिष्ठजीके साथ राजभवनमें आये ॥ ३६ ॥ वहाँ आकर कमलनयन रामको देखकर वे आनन्दाश्रुओंसे पूर्ण हो गये और गुरुजीद्वारा उनके जातकर्म आदि आवश्यक संस्कार कराये ॥ ३७ ॥ तदनन्तर कमलनयनी कैकेयीसे भरतका जन्म हुआ और सुमित्रासे पूर्णचन्द्रके समान मुखवाले दो यमज बालक उत्पन्न हुए ॥ ३८ ॥ उस समय महाराज दशरथने अति उत्साहपूर्वक सहस्रों ग्राम, बहुत-सा सुवर्ण, अनेक रत्न, नाना प्रकारके वस्त्र और शुभलक्षणोंवाली अनेकों गौएँ ब्राह्मणोंको दीं ॥ ३९ ॥

विज्ञानके द्वारा अज्ञानके नष्ट हो जानेपर मुनिजन जिनमें रमण करते हैं अथवा जो अपनी सुन्दरतासे भक्त जनोंके चित्तोंको रमाते (आनन्दमय करते) हैं उनका नाम गुरु वसिष्ठजीने 'राम' रखा ॥ ४० ॥ इसी प्रकार गुरुजीने संसारका पोषण करनेवाला होनेसे दूसरे पुत्रका नाम 'भरत', समस्त सुलक्षणसम्पन्न होनेसे तीसरेका नाम 'लक्ष्मण' और शत्रुओंका घातक होनेसे चौथे पुत्रका नाम 'शत्रुघ्न' रखा ॥ ४१ ॥ कौसल्या और कैकेयीके दिये हुए पायसांशोंके अनुसार लक्ष्मणजी रामचन्द्रजीके और शत्रुघ्नजी भरतजीके जोड़ीदार होकर रहने लगे ॥ ४२ ॥

रामस्तु लक्ष्मणेनाथ विचरन्बाललीलया ।
रमयामास पितरौ चेष्टितैर्मुग्धभाषितैः ॥ ४३ ॥

भाले स्वर्णमयाश्वत्थपर्णमुक्ताफलप्रभम् ।
कण्ठे रत्नमणिव्रातमध्यद्वीपिनखाञ्चितम् ॥ ४४ ॥

कर्णयोः स्वर्णसम्पन्नरत्नार्जुनसटालुकम् ।
शिञ्जानमणिमञ्जीरकटिसूत्राङ्गदैर्वृतम् ॥ ४५ ॥

स्मितवक्त्राल्पदशनमिन्द्रनीलमणिप्रभम् ।
अङ्गणे रिङ्गमाणं तं तर्णकाननु सर्वतः ॥ ४६ ॥

दृष्ट्वा दशरथो राजा कौसल्या मुमुदे तदा ।
भोक्ष्यमाणो दशरथो राममेहीति चासकृत् ॥ ४७ ॥

आह्वयत्यतिहर्षेण प्रेम्णा नायाति लीलया ।
आनयेति च कौसल्यामाह सा सस्मिता सुतम् ॥ ४८ ॥

धावत्यपि न शक्नोति स्प्रष्टुं योगिमनोगतिम् ।
प्रहसन्स्वयमायाति कर्दमाङ्कितपाणिना ।
किञ्चिद् गृहीत्वा कवलं पुनरेव पलायते ॥ ४९ ॥

कौसल्या जननी तस्य मासि मासि प्रकुर्वती ।
वायनानि विचित्राणि समलङ्कृत्य राघवम् ॥ ५० ॥

अपूपान्मोदकान्कृत्वा कर्णशष्कुलिकास्तथा ।
कर्णपूरांश्च विविधान् वर्षवृद्धौ च वायनम् ॥ ५१ ॥

गृहकृत्यं तया त्यक्तं तस्य चापल्यकारणात् ।
एकदा रघुनाथोऽसौ गतो मातरमन्तिके ॥ ५२ ॥

भोजनं देहि मे मातर्न श्रुतं कार्यसक्तया ।
ततः क्रोधेन भाण्डानि लगुडेनाहनत्तदा ॥ ५३ ॥

शिक्यस्थं पातयामास गव्यं च नवनीतकम् ।
लक्ष्मणाय ददौ रामो भरताय यथाक्रमम् ॥ ५४ ॥

शत्रुघ्नाय ददौ पश्चाद्दधि दुग्धं तथैव च ।
सूदेन कथिते मात्रे हास्यं कृत्वा प्रधावति ॥ ५५ ॥

लक्ष्मणजीके साथ विचरते हुए श्रीरामचन्द्रजी अपनी बाललीलाओं, चेष्टाओं और भोली-भाली बातोंसे माता-पिताको आनन्दित करने लगे ॥ ४३ ॥

जिसके ललाटपर मोतियोंसे सजाया हुआ देदीप्यमान सुवर्णमय अश्वत्थपत्र (पीपलका पत्ता) तथा गलेमें रत्न और मणिसमूहके साथ बीच-बीचमें व्याघ्रनख सजाकर गूँथी हुई लड़ियाँ सुशोभित हैं ॥ ४४ ॥ कानोंमें अर्जुनवृक्षके कच्चे फलोंके समान रत्नजटित सुवर्णके आभूषण लटक रहे हैं, तथा जो झनकारते हुए मणिमय नूपुर, सुवर्णमेखला और बाजूबंदसे विभूषित हैं ॥ ४५ ॥ उस इन्द्रनील-मणिकी-सी आभावाले तथा स्वल्प दाँतोंसे युक्त मुसकाते हुए मुखवाले बालकको राजभवनके आँगनमें बछड़ेके पीछे-पीछे सब ओर बालगतिसे दौड़ते देख महाराज दशरथ और माता कौसल्या अति आनन्दित होते थे। जिस समय महाराज भोजन करने बैठते तो 'राम ! आ' ऐसा कह-कहकर अति हर्ष और प्रेमपूर्वक उन्हें बारम्बार बुलाते। जब खेलमें लगे रहनेके कारण वे न आते तो वे कौसल्यासे 'इसे पकड़ ला' ऐसा कहकर उन्हें लानेके लिये कहते। किन्तु जो योगिजनोंके चित्तके एकमात्र आश्रय हैं ऐसे पुत्रको कौसल्याजी हँसकर दौड़ती हुई भी न पकड़ पातीं। (उस समय माताको थकी देखकर) वे स्वयं ही कीचमें सने हुए हाथोंसे हँसते-हँसते वहाँ आ जाते और एक-आध ग्रास खाकर ही फिर भाग जाते ॥ ४६—४९ ॥ माता कौसल्या रामको भली प्रकार वस्त्राभूषण पहनाकर प्रतिमास नाना प्रकारकी मिठाई बनाकर उत्सव मनाया करती थी। और वर्षगाँठके दिन भी पूआ, लड्डू, जलेबी, कचौड़ी आदि विविध व्यञ्जन बनाकर उत्सव मनाती थीं ॥ ५०-५१ ॥

रामकी चपलताके कारण कौसल्याने घरका काम करना छोड़ दिया था। एक दिन रामजी माताके पास गये ॥ ५२ ॥ और कहा—"माता ! मुझे कुछ खानेको दे।" किन्तु काममें लगी होनेसे माताने न सुना। तब क्रोधित होकर उन्होंने डंडेसे सब बर्तन फोड़ डाले ॥ ५३ ॥ तथा छीकेपर रखे हुए गोरस और माखनको गिरा लिया और उसे तथा वहाँ रखे हुए समस्त दूध-दहीको भी क्रमशः लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नको बाँट दिया। तब रसोइयेने जाकर माता कौसल्यासे कहा। वह हँसती हुई पकड़नेको दौड़ीं ॥ ५४-५५ ॥

आगतां तां विलोक्याथ ततः सर्वैः पलायितम्।
कौसल्या धावमानापि प्रस्खलन्ती पदे पदे ॥ ५६ ॥

रघुनाथं करे धृत्वा किञ्चिन्नोवाच भामिनी।
बालभावं समाश्रित्य मन्दं मन्दं रुरोद ह ॥ ५७ ॥

ते सर्वे लालिता मात्रा गाढमालिङ्ग्य यत्नतः।
एवमानन्दसन्दोहजगदानन्दकारकः ॥ ५८ ॥

मायाबालवपुर्धृत्वा रमयामास दम्पती।
अथ कालेन ते सर्वे कौमारं प्रतिपेदिरे ॥ ५९ ॥

उपनीता वसिष्ठेन सर्वविद्याविशारदाः।
धनुर्वेदे च निरताः सर्वशास्त्रार्थवेदिनः ॥ ६० ॥

बभूवुर्जगतां नाथा लीलया नररूपिणः।
लक्ष्मणस्तु सदा राममनुगच्छति सादरम् ॥ ६१ ॥

सेव्यसेवकभावेन शत्रुघ्नो भरतं तथा।
रामश्चापधरो नित्यं तूणीबाणान्वितः प्रभुः ॥ ६२ ॥

अश्वारूढो वनं याति मृगयायै सलक्ष्मणः।
हत्वा दुष्टमृगान्सर्वान्पित्रे सर्वं न्यवेदयत् ॥ ६३ ॥

प्रातरुत्थाय सुस्नातः पितरावभिवाद्य च।
पौरकार्याणि सर्वाणि करोति विनयान्वितः ॥ ६४ ॥

बन्धुभिः सहितो नित्यं भुक्त्वा मुनिभिरन्वहम्।
धर्मशास्त्ररहस्यानि शृणोति व्याकरोति च ॥ ६५ ॥

एवं परात्मा मनुजावतारो
मनुष्यलोकाननुसृत्य सर्वम्।
चक्रेऽविकारी परिणामहीनो
विचार्यमाणे न करोति किञ्चित् ॥ ६६ ॥

माताको आती देखकर वे सब बालक भाग गये। माता कौसल्या भी उनके पीछे दौड़ीं, किन्तु वे पग-पगपर फिसलने लगीं ॥ ५६ ॥ अन्तमें उन्होंने रामको पकड़ लिया, किन्तु कहा कुछ भी नहीं। उस समय रामजी बालभावसे धीरे-धीरे रोने लगे ॥ ५७ ॥ तब उन सबको भयभीत देखकर माताने उन्हें बड़े प्रेमसे हृदय लगाकर प्यार किया। इस प्रकार जगदानन्दकारक आनन्दघन भगवान् राम मायामय बालरूप धारणकर राजदम्पति दशरथ और कौसल्याको आनन्दित करने लगे। तदुपरान्त कुछ काल बीतनेपर उन चारों भाइयोंने कौमार-अवस्थामें प्रवेश किया ॥ ५८-५९ ॥

तब वसिष्ठजीने उनका उपनयन-संस्कार किया और लीलासे ही नररूप धारण करनेवाले सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी (चारों भाई) समस्त शास्त्रोंका मर्म जाननेवाले तथा धनुर्वेद आदि सम्पूर्ण विद्याओंके पारगामी हो गये। उन सब भाइयोंमें लक्ष्मणजी सेव्य-सेवकभावसे आदरपूर्वक सदा रामचन्द्रजीका अनुगमन करते थे और उसी प्रकार शत्रुघ्नजी सदा भरतजीकी सेवामें उपस्थित रहते थे। भगवान् राम नित्यप्रति लक्ष्मणजीके सहित धनुष, बाण और तरकस धारणकर घोड़ेपर सवार हो दुष्ट पशुओंको मारनेके लिये वनको जाते और वहाँ उन सिंह-व्याघ्रादिको मारकर उन सबकी बात पिताजीको निवेदन कर देते ॥ ६०—६३ ॥ प्रातःकाल उठकर स्नान करनेके अनन्तर वे माता-पिताको प्रणाम करते और फिर नम्रतापूर्वक नगर-निवासियोंके समस्त कार्य करते ॥ ६४ ॥ फिर भाइयोंसहित भोजन करके नित्यप्रति मुनिजनोंसे धर्मशास्त्रोंका मर्म सुनते और स्वयं भी उनकी व्याख्या करते ॥ ६५ ॥

इस प्रकार अविकारी और परिणामहीन परमात्माने मनुष्यावतार लेकर मनुष्योंके आचरणका अनुगमन करते हुए समस्त कार्य किये; पर विचार करके देखा जाय तो वे कुछ भी नहीं करते ॥ ६६ ॥

★

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे बालकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

★

चतुर्थ सर्ग

विश्वामित्रजीका आगमन; राम और लक्ष्मणका उनके साथ जाना और ताटकाका वध करना

श्रीमहादेव उवाच

कदाचित्कौशिकोऽभ्यागादयोध्यां ज्वलनप्रभः।
द्रष्टुं रामं परात्मानं जातं ज्ञात्वा स्वमायया॥ १ ॥

दृष्ट्वा दशरथो राजा प्रत्युत्थायाचिरेण तु।
वसिष्ठेन समागम्य पूजयित्वा यथाविधि॥ २ ॥

अभिवाद्य मुनिं राजा प्राञ्जलिर्भक्तिनम्रधीः।
कृतार्थोऽस्मि मुनीन्द्राहं त्वदागमनकारणात्॥ ३ ॥

त्वद्विधा यद्गृहं यान्ति तत्रैवायान्ति संपदः।
यदर्थमागतोऽसि त्वं ब्रूहि सत्यं करोमि तत्॥ ४ ॥

विश्वामित्रोऽपि तं प्रीतः प्रत्युवाच महामतिः।
अहं पर्वणि संप्राप्ते दृष्ट्वा यष्टुं सुरान्पितॄन्॥ ५ ॥

यदारभे तदा दैत्या विघ्नं कुर्वन्ति नित्यशः।
मारीचश्च सुबाहुश्चापरे चानुचरास्तयोः॥ ६ ॥

अतस्तयोर्वधार्थाय ज्येष्ठं रामं प्रयच्छ मे।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा तव श्रेयो भविष्यति॥ ७ ॥

वसिष्ठेन सहामन्त्र्य दीयतां यदि रोचते।
पप्रच्छ गुरुमेकान्ते राजा चिन्तापरायणः॥ ८ ॥

किं करोमि गुरो रामं त्यक्तुं नोत्सहते मनः।
बहुवर्षसहस्रान्ते कष्टेनोत्पादिताः सुताः॥ ९ ॥

चत्वारोऽमरतुल्यास्ते तेषां रामोऽतिवल्लभः।
रामस्त्वितो गच्छति चेन्न जीवामि कथञ्चन॥ १० ॥

प्रत्याख्यातो यदि मुनिः शापं दास्यत्यसंशयः।
कथं श्रेयो भवेन्मह्यमसत्यं चापि न स्पृशेत्॥ ११ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—एक बार अग्निके समान तेजस्वी महर्षि विश्वामित्र परमात्माको अपनी ही मायासे रामरूपमें प्रकट हुए जान उनके दर्शन करनेके लिये अयोध्यापुरीमें आये॥ १॥ उन्हें देखते ही महाराज दशरथ तुरंत उठ खड़े हुए और वसिष्ठजीके सहित आगे आकर उनका स्वागत किया और यथाविधि पूजन तथा अभिवादन कर राजाने भक्ति-विनम्र-चित्तसे हाथ जोड़कर मुनिसे कहा—"हे मुनीन्द्र! आपके शुभागमनसे आज मैं कृतकृत्य हो गया॥ २-३॥ जिस घरमें आप-जैसे महानुभाव पधारते हैं उसमें सभी सम्पत्तियाँ आ जाती हैं। अब आप यह बताइये कि आपका शुभागमन किसलिये हुआ है? मैं आपसे सत्य कहता हूँ, मैं आपकी आज्ञाका पालन अवश्य करूँगा"॥ ४॥

तब महामति विश्वामित्रजीने उनसे कहा—"जब कभी पर्वकाल उपस्थित हुआ देखकर मैं देव और पितृगणोंके लिये यजन करना आरम्भ करता हूँ तो सदा ही मारीच, सुबाहु और उनके अन्यान्य अनुयायी दैत्यगण उसमें विघ्न डाल देते हैं॥ ५-६॥ अतएव उनका वध करनेके लिये तुम अपने बड़े पुत्र रामको भाई लक्ष्मणके सहित मुझे दो इससे तुम्हारा भी परम कल्याण होगा॥ ७॥ इस विषयमें वसिष्ठजीसे सम्मति करके यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम मुझे दोनों कुमारोंको दे दो।" तब राजाने चिन्ताकुल होकर एकान्तमें गुरुजीसे पूछा॥ ८॥ "हे गुरो! सहस्रों वर्ष बीतनेपर बड़े कष्टसे मुझे ये देवताओंके सदृश चार पुत्र मिले हैं। इनमें राम मुझे बहुत ही प्रिय है, सो अब मैं क्या करूँ? मेरा चित्त तो रामको छोड़नेके लिये तैयार नहीं है। यदि राम यहाँसे चला जायगा तो मैं किसी प्रकार भी जी नहीं सकूँगा॥ ९-१०॥ परन्तु यदि मैं सूखा जवाब दूँ तो यह निश्चय है कि मुनि मुझे शाप दे देंगे। अतः अब यह बताइये कि मेरा हित किस प्रकार हो और मैं असत्य-भाषणसे भी कैसे बचूँ?"॥ ११॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु राजन्देवगुह्यं गोपनीयं प्रयत्नतः।
रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातनः ॥ १२ ॥

भूमेर्भारावताराय ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा।
स एव जातो भवने कौसल्यायां तवानघ ॥ १३ ॥

त्वं तु प्रजापतिः पूर्वं कश्यपो ब्रह्मणः सुतः।
कौसल्या चादितिर्देवमाता पूर्वं यशस्विनी।
भवन्तौ तप उग्रं वै तेपाथे बहुवत्सरम् ॥ १४ ॥

अग्राम्यविषयौ विष्णुपूजाध्यानैकतत्परौ।
तदा प्रसन्नो भगवान् वरदो भक्तवत्सलः ॥ १५ ॥

वृणीष्व वरमित्युक्ते त्वं मे पुत्रो भवामल।
इति त्वया याचितोऽसौ भगवान्भूतभावनः ॥ १६ ॥

तथेत्युक्त्वाद्य पुत्रस्ते जातो रामः स एव हि।
शेषस्तु लक्ष्मणो राजन् राममेवान्वपद्यत ॥ १७ ॥

जातौ भरतशत्रुघ्नौ शङ्खचक्रे गदाभृतः।
योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी ॥ १८ ॥

विश्वामित्रोऽपि रामाय तां योजयितुमागतः।
एतद्गुह्यतमं राजन्न वक्तव्यं कदाचन ॥ १९ ॥

अतः प्रीतेन मनसा पूजयित्वाथ कौशिकम्।
प्रेषयस्व रमानाथं राघवं सहलक्ष्मणम् ॥ २० ॥

वसिष्ठेनैवमुक्तस्तु राजा दशरथस्तदा।
कृतकृत्यमिवात्मानं मेने प्रमुदितान्तरः ॥ २१ ॥

आहूय रामरामेति लक्ष्मणेति च सादरम्।
आलिङ्ग्य मूर्ध्न्यवघ्राय कौशिकाय समर्पयत् ॥ २२ ॥

ततोऽतिहृष्टो भगवान्विश्वामित्रः प्रतापवान्।
आशीर्भिरभिनन्द्याथ आगतौ रामलक्ष्मणौ ॥ २३ ॥

गृहीत्वा चापतूणीरबाणखड्गधरौ ययौ।
किञ्चिद्देशमतिक्रम्य राममाहूय भक्तितः ॥ २४ ॥

वसिष्ठजी बोले—राजन्! देवताओंसे भी गुप्त रखने योग्य बात सुनो, इसे किसी प्रकार प्रकट न होने देना चाहिये। ये राम मनुष्य नहीं हैं, साक्षात् पुराणपुरुष परमात्मा ही (अपनी मायासे) इस रूपमें प्रकट हुए हैं ॥ १२ ॥ हे अनघ! पूर्वकालमें पृथिवीका भार उतारनेके लिये ब्रह्माजीने भगवान्से प्रार्थना की थी, उसे पूर्ण करनेके लिये उन परमेश्वरने तुम्हारे यहाँ कौसल्याके गर्भसे जन्म लिया है ॥ १३ ॥ पूर्वजन्ममें तुम ब्रह्माजीके पुत्र प्रजापति कश्यप थे और यशस्विनी कौसल्या देवमाता अदिति थीं। उस समय तुम दोनोंने बहुत वर्षोंतक ग्राम्य-विषयोंसे रहित और एकमात्र भगवान् विष्णुकी पूजा तथा ध्यानमें तत्पर रहकर बड़ा उग्र तप किया। तब कालान्तरमें भक्तवत्सल वरदायक भगवान्ने तुम दोनोंपर प्रसन्न होकर कहा कि 'वर माँगो' तो तुमने (भगवान्से) यही माँगा कि 'हे निरञ्जन! आप हमारे पुत्र हों' तब भूतभावन भगवान्ने कहा कि 'ऐसा ही हो।' इसलिये वे ही विष्णुभगवान् इस समय रामरूपसे तुम्हारे पुत्र हुए हैं और (उनकी सेवा करनेके लिये) शेषजी लक्ष्मणके रूपमें प्रकट होकर उनके अनुयायी हुए हैं ॥ १४—१७ ॥ भगवान् गदाधरके शङ्ख और चक्रने भरत और शत्रुघ्नके रूपसे अवतार लिया है तथा योगमाया जनकदुलारी सीताजी होकर प्रकट हुई हैं ॥ १८ ॥ इस समय विश्वामित्रजी रामसे सीताका संयोग करानेके लिये ही आये हैं। राजन्! यह रहस्य अत्यन्त गुह्य है, इसे कभी प्रकाशित मत करना ॥ १९ ॥ (अब सम्पूर्ण रहस्य तुमको मालूम हो गया है) इसलिये अब तुम प्रसन्नचित्तसे श्रीविश्वामित्रजीका सत्कार करके लक्ष्मीपति श्रीरघुनाथजीको लक्ष्मणसहित इनके साथ भेज दो ॥ २० ॥

वसिष्ठजीके इस प्रकार कहनेपर राजा दशरथने उस समय अपनेको कृतकृत्य माना और प्रसन्नचित्तसे आदरपूर्वक 'हे राम! हे राम! हे लक्ष्मण!' ऐसा कहकर पुकारा तथा उन दोनों भाइयोंके आनेपर उन्हें हृदयसे लगाकर और सिर सूँघकर श्रीविश्वामित्रजीको सौंप दिया ॥ २१-२२ ॥ तब अति प्रतापी भगवान् विश्वामित्रजीने उन्हें अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद देकर सम्मानित किया और फिर धनुष, तरकश, बाण एवं खड्ग आदिसे सुसज्जित होकर अपने पास आये हुए राम और लक्ष्मणको साथ लेकर वहाँसे चल पड़े। थोड़ी दूर जानेपर

ददौ बलां चातिबलां विद्ये द्वे देवनिर्मिते ।
ययोर्ग्रहणमात्रेण क्षुत्क्षामादि न जायते ॥ २५ ॥

तत उत्तीर्य गङ्गां ते ताटकावनमागमन् ।
विश्वामित्रस्तदा प्राह रामं सत्यपराक्रमम् ॥ २६ ॥

अत्रास्ति ताटका राम राक्षसी कामरूपिणी ।
बाधते लोकमखिलं जहि तामविचारयन् ॥ २७ ॥

तथेति धनुरादाय सगुणं रघुनन्दनः ।
टङ्कारमकरोत्तेन शब्देनापूरयद्वनम् ॥ २८ ॥

तच्छ्रुत्वासहमाना सा ताटका घोररूपिणी ।
क्रोधसंमूर्च्छिता राममभिदुद्राव मेघवत् ॥ २९ ॥

तामेकेन शरेणाशु ताडयामास वक्षसि ।
पपात विपिने घोरा वमन्ती रुधिरं बहु ॥ ३० ॥

ततोऽतिसुन्दरी यक्षी सर्वाभरणभूषिता ।
शापात्पिशाचतां प्राप्ता मुक्ता रामप्रसादतः ॥ ३१ ॥

नत्वा रामं परिक्रम्य गता रामाज्ञया दिवम् ॥ ३२ ॥
ततोऽतिहृष्टः परिरभ्य रामं
मूर्धन्यवघ्राय विचिन्त्य किञ्चित् ।
सर्वास्त्रजालं सरहस्यमन्त्रं
प्रीत्याभिरामाय ददौ मुनीन्द्रः ॥ ३३ ॥

विश्वामित्रजीने भक्तिपूर्वक रामको बुलाया और उन्हें देवनिर्मित बला और अतिबला नामकी ऐसी दो विद्याएँ दीं, जिनके ग्रहण करनेसे ही क्षुधा और दुर्बलता आदिकी बाधा नहीं होती ॥ २३—२५ ॥

तदनन्तर गङ्गाजीको पारकर वे ताटकावनमें आये, तब विश्वामित्रजीने सत्यपराक्रमी रामसे कहा ॥ २६ ॥ "यहाँ एक ताटका नामकी इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी रहती है जो इस प्रदेशके समस्त निवासियोंको अत्यन्त कष्ट पहुँचाती है, तुम बिना कुछ सोच-विचार किये उसे मार डालो" ॥ २७ ॥ तब रघुनाथजीने 'बहुत अच्छा' कह धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर टङ्कार किया, जिसके शब्दसे वह सम्पूर्ण वन गुञ्जायमान हो गया ॥ २८ ॥ उस शब्दको सुनकर घोररूपिणी ताटका उसे सहन न कर सकनेके कारण क्रोधसे पागल होकर मेघके समान रामकी ओर दौड़ी ॥ २९ ॥ भगवान् रामने तुरंत ही उसके वक्षःस्थलमें एक बाण मारा, जिससे वह घोर राक्षसी बहुत-सा रुधिर उगलती हुई उस वनमें गिर पड़ी ॥ ३० ॥ फिर शापवश पिशाचताको प्राप्त हुई वह ताटका श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे शापमुक्त होकर एक सर्वालङ्कार-विभूषिता परम सुन्दरी यक्षिणी हो गयी तथा रामचन्द्रजीकी परिक्रमा करके उन्हें प्रणामकर उनकी आज्ञासे स्वर्गलोकको चली गयी ॥ ३१-३२ ॥ तब मुनिवर विश्वामित्रजीने अति हर्षित होकर रामजीका आलिङ्गन किया और उनका सिर सूँघकर कुछ सोच-विचारकर रहस्य और मन्त्रादिके सहित समस्त अस्त्र-शस्त्र प्रीतिपूर्वक अभिराम रामको दिये ॥ ३३ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे बालकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चम सर्ग

मारीच और सुबाहुका दमन तथा अहल्योद्धार

श्रीमहादेव उवाच

तत्र कामाश्रमे रम्ये कानने मुनिसङ्कुले ।
उषित्वा रजनीमेकां प्रभाते प्रस्थिताः शनैः ॥ १ ॥
सिद्धाश्रमं गताः सर्वे सिद्धचारणसेवितम् ।
विश्वामित्रेण संदिष्टा मुनयस्तन्निवासिनः ॥ २ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! तदुपरान्त विश्वामित्रजीके सहित वे दोनों भाई एक रात मुनिजन-संकुलित अति सुन्दर उस कामाश्रम नामक वनमें रहकर प्रातःकाल होते ही धीरे-धीरे वहाँसे चले ॥ १ ॥ तब वे सब सिद्ध और चारणोंसे सेवित सिद्धाश्रमपर आये।

पूजां च महतीं चक्रू रामलक्ष्मणयोर्द्रुतम्।
श्रीरामः कौशिकं प्राह मुने दीक्षां प्रविश्यताम्॥ ३ ॥

दर्शयस्व महाभाग कुतस्तौ राक्षसाधमौ।
तथेत्युक्त्वा मुनिर्यष्टुमारेभे मुनिभिः सह॥ ४ ॥

मध्याह्ने ददृशाते तौ राक्षसौ कामरूपिणौ।
मारीचश्च सुबाहुश्च वर्षन्तौ रुधिरास्थिनी॥ ५ ॥

रामोऽपि धनुरादाय द्वौ बाणौ सन्दधे सुधीः।
आकर्णान्तं समाकृष्य विससर्ज तयोः पृथक्॥ ६ ॥

तयोरेकस्तु मारीचं भ्रामयञ्छतयोजनम्।
पातयामास जलधौ तदद्भुतमिवाभवत्॥ ७ ॥

द्वितीयोऽग्निमयो बाणः सुबाहुमजयत्क्षणात्।
अपरे लक्ष्मणेनाशु हतास्तदनुयायिनः॥ ८ ॥

पुष्पौघैराकिरन्देवा राघवं सहलक्ष्मणम्।
देवदुन्दुभयो नेदुस्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः॥ ९ ॥

विश्वामित्रस्तु संपूज्य पूजार्हं रघुनन्दनम्।
अङ्के निवेश्य चालिङ्ग्य भक्त्या वाष्पाकुलेक्षणः॥ १० ॥

भोजयित्वा सह भ्रात्रा रामं पक्वफलादिभिः।
पुराणवाक्यैर्मधुरैर्निनाय दिवसत्रयम्॥ ११ ॥

चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते कौशिको राममब्रवीत्।
राम राम महायज्ञं द्रष्टुं गच्छामहे वयम्॥ १२ ॥

विदेहराजनगरे जनकस्य महात्मनः।
तत्र माहेश्वरं चापमस्ति न्यस्तं पिनाकिना॥ १३ ॥

द्रक्ष्यसि त्वं महासत्त्वं पूज्यसे जनकेन च।
इत्युक्त्वा मुनिभिस्ताभ्यां ययौ गङ्गासमीपगम्॥ १४ ॥

गौतमस्याश्रमं पुण्यं यत्राहल्यास्थिता तपः।
दिव्यपुष्पफलोपेतपादपैः परिवेष्टितम्॥ १५ ॥

वहाँके रहनेवाले मुनिजनोंने विश्वामित्रजीकी आज्ञासे शीघ्रतापूर्वक राम और लक्ष्मणका बड़ा सत्कार किया। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने विश्वामित्रजीसे कहा—"हे मुने! आप दीक्षामें स्थित होइये॥ २-३॥ और हे महाभाग! हमें केवल यह दिखा दीजिये कि वे राक्षसाधम कहाँ हैं?" तब मुनिवरने 'बहुत अच्छा' कहकर अन्य मुनियोंके साथ यज्ञ करना आरम्भ कर दिया॥ ४॥

मध्याह्नके समय मारीच और सुबाहु नामक वे दोनों कामरूपी राक्षस रक्त और अस्थियोंकी वर्षा करते दिखायी दिये॥ ५॥ बुद्धिमान् रामने भी दो बाण लेकर धनुषपर चढ़ाये और कर्णपर्यन्त खींचकर अलग-अलग उन दोनों राक्षसोंकी ओर छोड़े॥ ६॥ उनमेंसे एक बाणने मारीचको आकाशमें घुमते हुए सौ योजनकी दूरीपर समुद्रमें गिरा दिया। यह एक बड़ा ही आश्चर्य-सा हो गया॥ ७॥ दूसरे अग्निमय बाणने क्षणभरमें सुबाहुको भस्म कर डाला तथा जो उनके अन्यान्य अनुयायी थे उन सबको तुरंत ही लक्ष्मणजीने मार डाला॥ ८॥

उस समय देवताओंने लक्ष्मणजीके सहित श्रीरघुनाथजीपर फूल बरसाये और देवदुन्दुभि आदि बाजोंका घोष किया तथा सिद्ध और चारणगण उनकी स्तुति करने लगे॥ ९॥ विश्वामित्रजीने पूजनीय रघुनाथजीका भली प्रकार पूजन किया और उन्हें गोदमें ले नेत्रोंमें भक्तिपूर्वक प्रेमाश्रु भरकर गले लगा लिया॥ १०॥ फिर भाई लक्ष्मणके सहित रामको पके फल आदि खिलाकर पुराण और इतिहासादिकी मधुर कथाएँ सुनाते हुए तीन दिन बिताये॥ ११॥ चौथा दिन आनेपर विश्वामित्रजीने रामसे कहा—"हे राम! महात्मा जनकजीका बड़ा भारी यज्ञ देखनेके लिये हमलोग जनकपुर चलेंगे। वहाँ श्रीमहादेवजीका धरोहरके रूपमें रखा हुआ एक बड़ा भारी धनुष है॥ १२-१३॥ उस सुदृढ़ धनुषको तुम देखोगे और महाराज जनक तुम्हारा भली प्रकार सत्कार करेंगे।" विश्वामित्रजी इस प्रकार कह मुनियोंको और राम-लक्ष्मणको साथ ले गङ्गाजीके निकट मुनिश्रेष्ठ गौतमजीके उस पवित्र आश्रमपर आये जो दिव्य और पवित्र फलोंवाले वृक्षोंसे घिरा हुआ था और जहाँ अहल्या तप कर रही थी॥ १४-१५॥

मृगपक्षिगणैर्हीनं नानाजन्तुविवर्जितम्।
दृष्ट्वोवाच मुनिं श्रीमान् रामो राजीवलोचनः॥ १६॥

कस्यैतदाश्रमपदं भाति भास्वच्छुभं महत्।
पत्रपुष्पफलैर्युक्तं जन्तुभिः परिवर्जितम्॥ १७॥

आह्लादयति मे चेतो भगवन् ब्रूहि तत्त्वतः॥ १८॥

विश्वामित्र उवाच

शृणु राम पुरा वृत्तं गौतमो लोकविश्रुतः।
सर्वधर्मभृतां श्रेष्ठस्तपसाराधयन् हरिम्॥ १९॥

तस्मै ब्रह्मा ददौ कन्यामहल्यां लोकसुन्दरीम्।
ब्रह्मचर्येण सन्तुष्टः शुश्रूषणपरायणाम्॥ २०॥

तया सार्धमिहावात्सीद्गौतमस्तपतां वरः।
शक्रस्तु तां धर्षयितुमन्तरं प्रेप्सुरन्वहम्॥ २१॥

कदाचिन्मुनिवेषेण गौतमे निर्गते गृहात्।
धर्षयित्वाथ निरगात्त्वरितं मुनिरप्यगात्॥ २२॥

दृष्ट्वा यान्तं स्वरूपेण मुनिः परमकोपनः।
पप्रच्छ कस्त्वं दुष्टात्मन्मम रूपधरोऽधमः॥ २३॥

सत्यं ब्रूहि न चेद्भस्म करिष्यामि न संशयः।
सोऽब्रवीद्देवराजोऽहं पाहि मां कामकिङ्करम्॥ २४॥

कृतं जुगुप्सितं कर्म मया कुत्सितचेतसा।
गौतमः क्रोधताम्राक्षः शशाप दिविजाधिपम्॥ २५॥

योनिलम्पट दुष्टात्मन्सहस्रभगवान्भव।
शप्त्वा तं देवराजानं प्रविश्य स्वाश्रमं द्रुतम्॥ २६॥

दृष्ट्वाहल्यां वेपमानां प्राञ्जलिं गौतमोऽब्रवीत्।
दुष्टे त्वं तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम॥ २७॥

निराहारा दिवारात्रं तपः परममास्थिता।
आतपानिलवर्षादिसहिष्णुः परमेश्वरम्॥ २८॥

ध्यायन्ती राममेकाग्रमनसा हृदि संस्थितम्।
नानाजन्तुविहीनोऽयमाश्रमो मे भविष्यति॥ २९॥

कमलनयन श्रीमान् रामजीने उस आश्रमको मृग, पक्षी तथा नाना प्रकारके जीवोंसे रहित देख मुनिवर कौशिकसे कहा॥ १६॥ "यह पत्र, पुष्प और फल आदिसे सम्पन्न तथा जीवशून्य महान् आश्रम जो बड़ा सुन्दर, रमणीय और पवित्र दीख पड़ता है, किसका है? भगवन्! इसे देखकर मेरा चित्त अति आह्लादित हो रहा है; आप इसका सब वृत्तान्त यथावत् कहिये"॥ १७-१८॥

श्रीविश्वामित्रजी बोले—हे राम! इस आश्रमका पूर्व-वृत्तान्त सुनो। पहले इस आश्रममें जगद्विख्यात धार्मिक-श्रेष्ठ मुनिवर गौतमजी तपस्याद्वारा श्रीहरिकी आराधना करते हुए रहते थे॥ १९॥ उनके ब्रह्मचर्यसे संतुष्ट होकर भगवान् ब्रह्माजीने उनकी सेवाके लिये उन्हें अहल्या नामकी एक लोकसुन्दरी सेवा-परायणा कन्या दी॥ २०॥ और तापसप्रवर गौतमजी उस अहल्याके साथ यहाँ रहने लगे, इधर देवराज इन्द्र अहल्याके रूप-लावण्यपर मुग्ध होकर नित्यप्रति उसके साथ रमण करनेका अवसर देखने लगे॥ २१॥

एक दिन मुनिवर गौतमके बाहर चले जानेपर वह गौतमके रूपसे अहल्याके साथ रमण कर जल्दीसे वहाँसे चलता बना, इसी समय मुनि भी वहाँ लौट आये॥ २२॥ उसे अपना रूप धारणकर वहाँसे जाते देख गौतम मुनिने अत्यन्त कुपित होकर पूछा—'रे दुष्टात्मन्! रे अधम! मेरे रूपको धारण करनेवाला तू कौन है?॥ २३॥ सच-सच बता, नहीं तो मैं तुझे अभी भस्म कर दूँगा—इसमें सन्देह न करना।" तब वह बोला— "भगवन्! मैं कामके वशीभूल देवराज इन्द्र हूँ, मेरी रक्षा कीजिये॥ २४॥ मुझ पापात्माने बड़ा घृणित कार्य किया है।" तब गौतमने क्रोधसे आँखें लाल कर देवराजको शाप दिया॥ २५॥ "हे दुष्टात्मन्! तू योनिलम्पट है इसलिये तेरे शरीरमें सहस्र भग हो जायँ।" इस प्रकार देवराजको शाप देकर मुनिने अपने आश्रममें प्रवेश किया तो देखा कि अहल्या भयसे काँपती हुई हाथ जोड़े खड़ी है। उसे देखकर गौतमने कहा—"हे दुष्टे! तू मेरे आश्रममें शिलामें निवास कर॥ २६-२७॥ यहाँ तू निराहार रहकर धूप, वायु और वर्षा आदिको सहन करती हुई दिन-रात तपस्या कर और एकाग्रचित्तसे हृदयमें विराजमान परमात्मा रामका ध्यान कर। अबसे यह मेरा आश्रम विविध प्रकारके जीव-जन्तुओंसे रहित हो जायगा॥ २८-२९॥

एवं वर्षसहस्त्रेषु ह्यनेकेषु गतेषु च।
रामो दाशरथिः श्रीमानागमिष्यति सानुजः ॥ ३० ॥

यदा त्वदाश्रयशिलां पादाभ्यामाक्रमिष्यति।
तदैव धूतपापा त्वं रामं संपूज्य भक्तितः ॥ ३१ ॥

परिक्रम्य नमस्कृत्य स्तुत्वा शापाद्विमोक्ष्यसे।
पूर्ववन्मम शुश्रूषां करिष्यसि यथासुखम् ॥ ३२ ॥

इत्युक्त्वा गौतमः प्रागाद्धिमवन्तं नगोत्तमम्।
तदाद्यहल्या भूतानामदृश्या स्वाश्रमे शुभे ॥ ३३ ॥

तव पादरजःस्पर्शं काङ्क्षते पवनाशना।
आस्तेऽद्यापि रघुश्रेष्ठ तपो दुष्करमास्थिता ॥ ३४ ॥

पावयस्व मुनेर्भार्यामहल्यां ब्रह्मणः सुताम्।
इत्युक्त्वा राघवं हस्ते गृहीत्वा मुनिपुङ्गवः ॥ ३५ ॥

दर्शयामास चाहल्यामुग्रेण तपसा स्थिताम्।
रामः शिलां पदा स्पृष्ट्वा तां चापश्यत्तपोधनाम् ॥ ३६ ॥

ननाम राघवोऽहल्यां रामोऽहमिति चाब्रवीत्।
ततो दृष्ट्वा रघुश्रेष्ठं पीतकौशेयवाससम् ॥ ३७ ॥

चतुर्भुजं शङ्खचक्रगदापङ्कजधारिणम्।
धनुर्बाणधरं रामं लक्ष्मणेन समन्वितम् ॥ ३८ ॥

स्मितवक्त्रं पद्मनेत्रं श्रीवत्साङ्कितवक्षसम्।
नीलमाणिक्यसङ्काशं द्योतयन्तं दिशो दश ॥ ३९ ॥

दृष्ट्वा रामं रमानाथं हर्षविस्फारितेक्षणा।
गौतमस्य वचः स्मृत्वा ज्ञात्वा नारायणं परम् ॥ ४० ॥

संपूज्य विधिवद्राममर्घ्यादिभिरनिन्दिता।
हर्षाश्रुजलनेत्रान्ता दण्डवत्प्रणिपत्य सा ॥ ४१ ॥

उत्थाय च पुनर्दृष्ट्वा रामं राजीवलोचनम्।
पुलकाङ्कितसर्वाङ्गा गिरा गद्गदयैलत ॥ ४२ ॥

अहल्योवाच

अहो कृतार्थास्मि जगन्निवास ते
पादाब्जसंलग्नरजःकणादहम्।
स्पृशामि यत्पद्मजशङ्करादिभि-
र्विमृग्यते रन्धितमानसैः सदा ॥ ४३ ॥

इसी प्रकार कई हजार वर्ष बीत जानेपर यहाँ दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी भाई लक्ष्मणके साथ आयेंगे ॥ ३० ॥ जिस समय वे तेरी आश्रयभूत शिलापर अपने दोनों चरण रखेंगे उसी समय तू पापमुक्त हो जायगी तथा भक्तिपूर्वक श्रीरामचन्द्रजीका पूजन कर उनकी परिक्रमा और नमस्कारपूर्वक स्तुति कर शापसे छूट जायगी और फिर पूर्ववत् मेरी सुखपूर्वक सेवा करने लगेगी" ॥ ३१-३२ ॥ ऐसा कहकर महर्षि गौतम पर्वतश्रेष्ठ हिमालयपर चले गये। हे रघुश्रेष्ठ ! उसी दिनसे यह अहल्या वायु भक्षण करती हुई कठोर तपस्यामें स्थित हो आपके चरण-रजके स्पर्शकी कामनासे आजतक प्राणियोंसे अलक्षिता रहकर अपने शुभ आश्रममें रहती है ॥ ३३-३४ ॥ हे राम ! अब तुम ब्रह्माजीकी पुत्री गौतम-पत्नी अहल्याका उद्धार करो।

मुनिवर विश्वामित्रजीने ऐसा कह रघुनाथजीका हाथ पकड़ उन्हें उग्र तपमें स्थित अहल्याको दिखलाया। तब श्रीरामचन्द्रजीने अपने चरणसे उस शिलाको स्पर्शकर तपस्विनी अहल्याको देखा ॥ ३५-३६ ॥ उसे देखकर भगवान् रामने "मैं राम हूँ" ऐसा कहकर प्रणाम किया।

तब अहल्याने रेशमी पीताम्बर धारण किये श्रीरघुनाथजीको देखा ॥ ३७ ॥ उनकी चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित थे, कंधेपर धनुष-बाण विराजमान थे तथा साथमें श्रीलक्ष्मणजी थे ॥ ३८ ॥ उनका मुख मुसकानयुक्त, नेत्र कमलदलके समान और वक्षःस्थल श्रीवत्साङ्कसे सुशोभित था। अपने नीलमणिसदृश श्याम विग्रहसे वे दसों दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे ॥ ३९ ॥ रमानाथ श्रीरामचन्द्रको देखकर अहल्याके नेत्र हर्षसे खिल गये और उसे मुनिवर गौतमके वाक्योंका स्मरण हो आया। तब उन्हें साक्षात् श्रीनारायण जान उस अनिन्दिताने अर्घ्यादिसे उनका विधिवत् पूजन किया और नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया ॥ ४०-४१ ॥ फिर खड़ी होकर वह कमलनयन भगवान् रामको देख सर्वाङ्गसे पुलकित हो गद्गदवाणीसे उनकी स्तुति करने लगी ॥ ४२ ॥

अहल्या बोली—हे जगन्निवास ! आपके चरण-कमलोंके रजःकणका स्पर्श कर आज मैं कृतार्थ हो गयी। अहो ! (बड़े भाग्यकी बात है कि) आपके जिन पदारविन्दोंका ब्रह्मा और शंकर आदि एकाग्रचित्तसे सर्वदा अनुसन्धान किया करते हैं उन्हींका आज मैं स्पर्श कर रही हूँ ॥ ४३ ॥

अहो विचित्रं तव राम चेष्टितं
मनुष्यभावेन विमोहितं जगत्।
चलस्यजस्त्रं चरणादिवर्जितः
सम्पूर्ण आनन्दमयोऽतिमायिकः ॥ ४४ ॥

यत्पादपङ्कजपरागपवित्रगात्रा
भागीरथी भवविरिञ्चिमुखान्पुनाति।
साक्षात्स एव मम दृग्विषयो यदास्ते
किं वर्ण्यते मम पुराकृतभागधेयम् ॥ ४५ ॥

मर्त्यावतारे मनुजाकृतिं हरिं
रामाभिधेयं रमणीयदेहिनम्।
धनुर्धरं पद्मविशाललोचनं
भजामि नित्यं न परान्भजिष्ये ॥ ४६ ॥

यत्पादपङ्कजरजः श्रुतिभिर्विमृग्यं
यन्नाभिपङ्कजभवः कमलासनश्च।
यन्नामसाररसिको भगवान्पुरारि-
स्तं रामचन्द्रमनिशं हृदि भावयामि ॥ ४७ ॥

यस्यावतारचरितानि विरिञ्चिलोके
गायन्ति नारदमुखा भवपद्मजाद्याः।
आनन्दजाश्रुपरिषिक्तकुचाग्रसीमा
वागीश्वरी च तमहं शरणं प्रपद्ये ॥ ४८ ॥

सोऽयं परात्मा पुरुषः पुराण
एकः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
मायातनुं लोकविमोहनीयां
धत्ते परानुग्रह एष रामः ॥ ४९ ॥

अयं हि विश्वोद्भवसंयमाना-
मेकः स्वमायागुणबिम्बितो यः।
विरिञ्चिविष्णवीश्वरनाम भेदान्
धत्ते स्वतन्त्रः परिपूर्ण आत्मा ॥ ५० ॥

नमोऽस्तु ते राम तवाङ्घ्रिपङ्कजं
श्रिया धृतं वक्षसि लालितं प्रियात्।
आक्रान्तमेकेन जगत्त्रयं पुरा
ध्येयं मुनीन्द्रैरभिमानवर्जितैः ॥ ५१ ॥

हे राम! आपकी लीलाएँ बड़ी विचित्र हैं, आपके मानुष-भावसे सम्पूर्ण जगत् मोहित हो रहा है। आप पूर्णानन्दमय और अति मायावी हैं; क्योंकि चरणादिहीन होकर भी आप निरन्तर चलते रहते हैं ॥ ४४ ॥ जिनके चरण-कमलके परागसे पवित्र हुई श्रीगङ्गाजी, शिव और ब्रह्मा आदि जगदीश्वरोंको भी पवित्र करती हैं, आज साक्षात् वे ही मेरे नेत्रोंके विषय हो रहे हैं—मैं अपने पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका किस प्रकार वर्णन करूँ ? ॥ ४५ ॥ जिन्होंने परम सुन्दर मानवदेहसे मर्त्यलोकमें अवतार लिया है, मैं उन धनुषधारी कमलदल-लोचन भगवान् रामको सर्वदा भजती हूँ और किसीको भी नहीं भजना चाहती ॥ ४६ ॥ जिनके चरण-कमलोंकी रजको श्रुतियाँ भी ढूँढ़ती रहती हैं, जिनकी नाभिसे उत्पन्न हुए कमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए हैं तथा जिनके नामामृतके भगवान् शङ्कर रसिक हैं, उन श्रीरामचन्द्रजीका मैं अपने हृदयमें अहर्निश ध्यान करती हूँ ॥ ४७ ॥ जिनके अवतार-चरित्रोंका नारदादि देवर्षिगण, ब्रह्मा और महादेव आदि देवेश्वरगण तथा आनन्दाश्रुओंसे जिनके कुचमण्डल भीगे हुए हैं वे सरस्वतीजी भी ब्रह्मलोकमें निरन्तर गान किया करती हैं उन प्रभुकी मैं शरण लेती हूँ ॥ ४८ ॥ उन्हीं पुराणपुरुष परमात्मा रामने संसारपर परम अनुग्रह करनेके लिये एक स्वयंप्रकाश, अनन्त और सबके आदिकारण होते हुए भी यह जगन्मोहन मायामय रूप धारण किया है ॥ ४९ ॥ जो अकेले ही संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशके लिये अपनी मायाके गुणोंका आश्रय कर ब्रह्मा, विष्णु और महादेव नामक विभिन्न रूप धारण करते हैं वे स्वतन्त्र और परिपूर्ण आत्मा आप ही हैं ॥ ५० ॥ हे राम! आपके जिन चरण-कमलोंको श्रीलक्ष्मीजी अपने वक्षःस्थलपर रखकर बड़े प्रेमसे लाड़ लड़ाती हैं, जिन्होंने पूर्वकालमें (बलि-बन्धनके समय) एक ही पगमें सम्पूर्ण त्रिलोकी माप ली थी तथा अभिमान-हीन मुनिजन जिनका निरन्तर ध्यान किया करते हैं उन आपके चरण-कमलोंको मैं नमस्कार करती हूँ ॥ ५१ ॥

जगतामादिभूतस्त्वं जगत्त्वं जगदाश्रयः ।
सर्वभूतेष्वसंयुक्त एको भाति भवान्परः ॥ ५२ ॥

ओंकारवाच्यस्त्वं राम वाचामविषयः पुमान् ।
वाच्यवाचकभेदेन भवानेव जगन्मयः ॥ ५३ ॥

कार्यकारणकर्तृत्वफलसाधनभेदतः ।
एको विभासि राम त्वं मायया बहुरूपया ॥ ५४ ॥

त्वन्मायामोहितधियस्त्वां न जानन्ति तत्त्वतः ।
मानुषं त्वाभिमन्यन्ते मायिनं परमेश्वरम् ॥ ५५ ॥

आकाशवत्त्वं सर्वत्र बहिरन्तर्गतोऽमलः ।
असङ्गो ह्यचलो नित्यः शुद्धो बुद्धः सदव्ययः ॥ ५६ ॥

योषिन्मूढाहमज्ञा ते तत्त्वं जाने कथं विभो ।
तस्मात्ते शतशो राम नमस्कुर्यामनन्यधीः ॥ ५७ ॥

देव मे यत्र कुत्रापि स्थिताया अपि सर्वदा ।
त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे ॥ ५८ ॥

नमस्ते पुरुषाध्यक्ष नमस्ते भक्तवत्सल ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश नारायण नमोऽस्तु ते ॥ ५९ ॥

भवभयहरमेकं भानुकोटिप्रकाशं
करधृतशरचापं कालमेघावभासम् ।
कनकरुचिरवस्त्रं रत्नवत्कुण्डलाढ्यं
कमलविशदनेत्रं सानुजं राममीडे ॥ ६० ॥

स्तुत्वैवं पुरुषं साक्षाद्राघवं पुरतः स्थितम् ।
परिक्रम्य प्रणम्याशु सानुज्ञाता ययौ पतिम् ॥ ६१ ॥

अहल्यया कृतं स्तोत्रं यः पठेद्भक्तिसंयुतः ।
स मुच्यतेऽखिलैः पापैः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ६२ ॥

पुत्राद्यर्थे पठेद्भक्त्या रामं हृदि निधाय च ।
संवत्सरेण लभते वन्ध्या अपि सुपुत्रकम् ॥ ६३ ॥

हे प्रभो ! आप ही जगत्के आदिकारण, आप ही जगत्-रूप और आप ही उसके आश्रय हैं, तथापि आप समस्त प्राणियोंसे पृथक् हैं और अद्वितीय परब्रह्मरूपसे प्रकाशमान हैं ॥ ५२ ॥ हे राम ! आप ओंकारके वाच्य हैं तथा आप ही वाणीके अगोचर परम पुरुष हैं। हे प्रभो ! वाच्य-वाचक (शब्द-अर्थ) भेदसे आप ही सम्पूर्ण जगत्-रूप हैं ॥ ५३ ॥ हे राम ! आप अकेले ही बहु-रूपमयी मायाके आश्रयसे कार्य, कारण, कर्तृत्व, फल और साधनाके भेदसे अनेक रूपोंमें भासमान हो रहे हैं ॥ ५४ ॥ आपकी मायासे जिनकी बुद्धि मोहित हो रही है वे लोग आपका वास्तविक रूप नहीं जान सकते। आप मायापति परमेश्वरको वे मूढ़जन साधारण मनुष्य समझते हैं ॥ ५५ ॥ आप आकाशके समान बाहर-भीतर सब ओर विराजमान, निर्मल, असङ्ग, अचल, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्यस्वरूप और अव्यय हैं ॥ ५६ ॥ हे विभो ! मैं मूढ़ और अज्ञानी स्त्री-जाति भला आपके तत्त्वको क्या जानूँ ? अतः हे राम ! मैं अनन्यभावसे आपको सैकड़ों बार केवल नमस्कार ही करती हूँ ॥ ५७ ॥ हे देव ! मैं जहाँ-कहीं भी रहूँ वहीं सर्वदा आपके चरणकमलोंमें मेरी आसक्तिपूर्ण भक्ति बनी रहे ॥ ५८ ॥ हे पुरुषोत्तम ! आपको नमस्कार है; हे भक्तवत्सल ! आपको नमस्कार है; हे हृषीकेश ! आपको नमस्कार है; हे नारायण ! आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ ५९ ॥ जो संसारके एकमात्र भय दूर करनेवाले हैं, करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान हैं, कर-कमलोंमें धनुष और बाण धारण किये हैं, श्याम मेघके समान आभावाले हैं, सुवर्णके समान पीत वस्त्र धारण किये हैं, रत्न-जटित कुण्डलोंसे सुशोभित हैं तथा जिनके कमल-दलके समान अति सुन्दर विशाल नेत्र हैं, भाई लक्ष्मणसहित उन श्रीरघुनाथजीकी मैं स्तुति करती हूँ ॥ ६० ॥

इस प्रकार सम्मुख खड़े हुए साक्षात् परमपुरुष श्रीरघुनाथजीकी स्तुति, परिक्रमा और वन्दना कर वह उनकी आज्ञा ले शीघ्र ही अपने पतिके पास चली गयी ॥ ६१ ॥

जो पुरुष अहल्याके किये हुए इस स्तोत्रको भक्तिपूर्वक पढ़ता है वह समस्त पापोंसे मुक्त होकर परब्रह्मपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ६२ ॥ जो वन्ध्या स्त्री भी श्रीरामचन्द्रजीको हृदयमें धारणकर पुत्रकी कामनासे

सर्वान्कामानवाप्नोति रामचन्द्रप्रसादतः ॥ ६४ ॥
ब्रह्मघ्नो गुरुतल्पगोऽपि पुरुषः
स्तेयी सुरापोऽपि वा
मातृभ्रातृविहिंसकोऽपि सततं
भोगैकबद्धातुरः ।
नित्यं स्तोत्रमिदं जपन् रघुपतिं
भक्त्या हृदिस्थं स्मरन्
ध्यायन्मुक्तिमुपैति किं पुनरसौ
स्वाचारयुक्तो नरः ॥ ६५ ॥

इसका भक्तिपूर्वक पाठ करे तो एक वर्षमें ही उसे श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त हो सकता है तथा श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं ॥ ६३-६४ ॥ ब्राह्मणका वध करनेवाला, गुरु-स्त्रीसे भोग करनेवाला, चोर, मद्यप, माता-पिता और भाईकी हिंसा करनेवाला तथा निरन्तर भोगासक्त रहनेवाला पुरुष भी यदि अपने हृदयमें विराजमान श्रीरघुनाथजीका भक्तिपूर्वक नित्य स्मरण करता है और उनका ध्यान करते हुए इस स्तोत्रका पाठ करता है तो मुक्त हो जाता है; फिर स्वधर्म-परायण पुरुषोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ६५ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे बालकाण्डे अहल्योद्धरणं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठ सर्ग

धनुर्भङ्ग और विवाह

सूत उवाच

विश्वामित्रोऽथ तं प्राह राघवं सहलक्ष्मणम् ।
गच्छामो वत्स मिथिलां जनकेनाभिपालिताम् ॥ १ ॥

दृष्ट्वा क्रतुवरं पश्चादयोध्यां गन्तुमर्हसि ।
इत्युक्त्वा प्रययौ गङ्गामुत्तर्तुं सहराघवः ।
तस्मिन्काले नाविकेन निषिद्धो रघुनन्दनः ॥ २ ॥

सूतजी बोले—तदनन्तर विश्वामित्रजीने लक्ष्मणके सहित श्रीरामचन्द्रजीसे कहा, "वत्स ! अब हम महाराज जनकसे पालित मिथिलापुरीको चलेंगे ॥ १ ॥ वहाँ यज्ञोत्सव देखकर फिर तुम अयोध्यापुरीको लौट सकते हो ।" ऐसा कह वे रघुनाथजीके साथ गङ्गाजी पार करनेके लिये तटपर आये, तब नाविकने रघुनाथजीको नावपर चढ़नेसे रोक दिया ॥ २ ॥

नाविक उवाच

क्षालयामि तव पादपङ्कजं
नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम् ।
मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते
पादयोरिति कथा प्रथीयसी ॥ ३ ॥

पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा
पश्चात्परं तीरमहं नयामि ।
नोचेत्तरी सद्युवती मलेन
स्याच्चेद्विभो विद्धि कुटुम्बहानिः ॥ ४ ॥

इत्युक्त्वा क्षालितौ पादौ परं तीरं ततो गताः ।
कौशिको रघुनाथेन सहितो मिथिलां ययौ ॥ ५ ॥

नाविक बोला—हे नाथ ! यह बात प्रसिद्ध है कि आपके चरणोंमें कोई मनुष्य बना देनेवाला चूर्ण है। (आपने अभी शिलाको स्त्री बना दिया, फिर) शिला और काष्ठमें भेद ही क्या है ? अतः नौकापर चढ़ानेसे पूर्व मैं आपके चरणकमलोंको धोऊँगा ॥ ३ ॥ इस प्रकार आपके चरणोंको मलरहित करके मैं आपको श्रीगङ्गाजीके उस पार ले चलूँगा । नहीं तो हे विभो ! आपके चरणरजके स्पर्शसे यदि मेरी नौका सुन्दरी युवती हो गयी तो मेरे कुटुम्बकी आजीविका ही मारी जायगी ॥ ४ ॥ ऐसा कहकर केवटने उनके चरण धोये और फिर गङ्गाजीके पार ले गया । वहाँसे राम और लक्ष्मणके सहित श्रीविश्वामित्रजी मिथिलापुरीको चले ॥ ५ ॥

विदेहस्य पुरं प्रातर्ऋषिवाटं समाविशत्।
प्राप्तं कौशिकमाकर्ण्य जनकोऽतिमुदान्वितः॥ ६ ॥

पूजाद्रव्याणि संगृह्य सोपाध्यायः समाययौ।
दण्डवत्प्रणिपत्याथ पूजयामास कौशिकम्॥ ७ ॥

पप्रच्छ राघवौ दृष्ट्वा सर्वलक्षणसंयुतौ।
द्योतयन्तौ दिशः सर्वाश्चन्द्रसूर्याविवापरौ॥ ८ ॥

कस्यैतौ नरशार्दूलौ पुत्रौ देवसुतोपमौ।
मनःप्रीतिकरौ मेऽद्य नरनारायणाविव॥ ९ ॥

प्रत्युवाच मुनिः प्रीतो हर्षयन् जनकं तदा।
पुत्रौ दशरथस्यैतौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ १० ॥

मखसंरक्षणार्थाय मयानीतौ पितुः पुरात्।
आगच्छन् राघवो मार्गे ताटकां विश्वघातिनीम्॥ ११ ॥

शरेणैकेन हतवान्नोदितो मेऽतिविक्रमः।
ततो ममाश्रमं गत्वा मम यज्ञविहिंसकान्॥ १२ ॥

सुबाहुप्रमुखान्हत्वा मारीचं सागरेऽक्षिपत्।
ततो गङ्गातटे पुण्ये गौतमस्याश्रमं शुभम्॥ १३ ॥

गत्वा तत्र शिलारूपा गौतमस्य वधूः स्थिता।
पादपङ्कजसंस्पर्शात्कृता मानुषरूपिणी॥ १४ ॥

दृष्ट्वाहल्यां नमस्कृत्य तया सम्यक्प्रपूजितः।
इदानीं द्रष्टुकामस्ते गृहे माहेश्वरं धनुः॥ १५ ॥

पूजितं राजभिः सर्वैर्दृष्टमित्यनुशुश्रुवे।
अतो दर्शय राजेन्द्र शैवं चापमनुत्तमम्।
दृष्ट्वायोध्यां जिगमिषुः पितरं द्रष्टुमिच्छति॥ १६ ॥

इत्युक्तो मुनिना राजा पूजार्हाविति पूजया।
पूजयामास धर्मज्ञो विधिदृष्टेन कर्मणा॥ १७ ॥

ततः सम्प्रेषयामास मन्त्रिणं बुद्धिमत्तरम्।

जनक उवाच

शीघ्रमानय विश्वेशचापं रामाय दर्शय॥ १८ ॥

प्रातःकाल होते ही वे विदेहनगरमें पहुँचकर ऋषियोंके निवासस्थानमें ठहर गये। उसी समय, विश्वामित्रजीके आगमनकी सूचना पाकर जनकजी अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक पूजन-सामग्री लिये अपने पुरोहितके साथ वहाँ आये और साष्टाङ्ग दण्डवत् कर उन्होंने मुनिवर कौशिककी पूजा की॥ ६-७॥ फिर साक्षात् दूसरे सूर्य और चन्द्रमाके समान अपने तेजसे सम्पूर्ण दिशाओंको देदीप्यमान करते हुए उन सर्व-लक्षण-सम्पन्न रघुकुमारोंको देखकर पूछा—॥ ८॥ "ये देवपुत्रोंके समान दो नरशार्दूल किसके पुत्र हैं; ये मेरे हृदयमें इस समय नर और नारायणके समान प्रीति उत्पन्न करते हैं"॥ ९॥

तब मुनिवर विश्वामित्रजीने महाराज जनकको आनन्दित करते हुए प्रसन्नतापूर्वक कहा— "ये दोनों भाई राम और लक्ष्मण कोसल-नरेश दशरथजीके पुत्र हैं॥ १०॥ मैं इन्हें अपने यज्ञकी रक्षाके लिये अयोध्यासे ले आया था। मार्गमें आते समय मेरी प्रेरणासे इन अति पराक्रमी रघुनाथजीने एक ही बाणसे विश्वघातिनी ताटकाको मार डाला, फिर मेरे आश्रममें पहुँचकर मेरा यज्ञ विध्वंस करनेवाले सुबाहु आदि राक्षसोंको मार डाला तथा मारीचको समुद्रमें फेंक दिया। तदनन्तर ये गङ्गातटपर महर्षि गौतमके पुनीत आश्रममें आये और वहाँ शिला-रूपसे स्थित गौतम-पत्नीको देख अपने चरणकमलके स्पर्शसे उसे मनुष्यरूप बना दिया॥ ११—१४॥ अहल्याको देखकर रामजीने उसे नमस्कार किया, फिर उससे भलीप्रकार पूजा ग्रहणकर इस समय तुम्हारे यहाँ शङ्करका धनुष देखनेके लिये आये हैं॥ १५॥ हमने सुना है उस धनुषकी तुम्हारे यहाँ बड़ी पूजा होती है और सब राजा लोग उसे देख गये हैं। अतः हे राजेन्द्र! आप महादेवजीका वह उत्तम धनुष इन्हें दिखा दीजिये, क्योंकि ये उसे देखकर शीघ्र ही अपने माता-पितासे मिलनेके लिये अयोध्या जाना चाहते हैं"॥ १६॥

मुनिवर विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर धर्मज्ञ राजा जनकने राम और लक्ष्मणको पूजनीय समझकर उनकी विधिपूर्वक पूजा की॥ १७॥ फिर अपने बुद्धिमान् मन्त्रीको यह कहकर भेजा कि तुम शीघ्र ही श्रीविश्वेश्वरका धनुष लाकर रामचन्द्रजीको दिखाओ॥ १८॥

ततो गते मन्त्रिवरे राजा कौशिकमब्रवीत्।
यदि रामो धनुर्धृत्वा कोट्यामारोपयेद्गुणम्॥ १९ ॥

तदा मयात्मजा सीता दीयते राघवाय हि।
तथेति कौशिकोऽप्याह रामं संवीक्ष्य सस्मितम्॥ २० ॥

शीघ्रं दर्शय चापाग्र्यं रामायामिततेजसे।
एवं ब्रुवति मौनीश आगताश्चापवाहकाः॥ २१ ॥

चापं गृहीत्वा बलिनः पञ्चसाहस्रसङ्ख्यकाः।
घण्टाशतसमायुक्तं मणिवज्रादिभूषितम्॥ २२ ॥

दर्शयामास रामाय मन्त्री मन्त्रयतां वरः।
दृष्ट्वा रामः प्रहृष्टात्मा बद्ध्वा परिकरं दृढम्॥ २३ ॥

गृहीत्वा वामहस्तेन लीलया तोलयन् धनुः।
आरोपयामास गुणं पश्यत्स्वखिलराजसु॥ २४ ॥

ईषदाकर्षयामास पाणिना दक्षिणेन सः।
बभञ्जाखिलहृतसारो दिशः शब्देन पूरयन्॥ २५ ॥

दिशश्च विदिशश्चैव स्वर्गं मर्त्यं रसातलम्।
तदद्भुतमभूत्तत्र देवानां दिवि पश्यताम्॥ २६ ॥

आच्छादयन्तः कुसुमैर्देवाः स्तुतिभिरीडिरे।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ननृतुश्चाप्सरोगणाः॥ २७ ॥

द्विधा भग्नं धनुर्दृष्ट्वा राजालिङ्ग्य रघूद्वहम्।
विस्मयं लेभिरे सीतामातरोऽन्तःपुराजिरे॥ २८ ॥

सीता स्वर्णमयीं मालां गृहीत्वा दक्षिणे करे।
स्मितवक्त्रा स्वर्णवर्णा सर्वाभरणभूषिता॥ २९ ॥

मुक्ताहारैः कर्णपत्रैः क्वणच्चरणनूपुरा।
दुकूलपरिसंवीता वस्त्रान्तर्व्यञ्जितस्तनी॥ ३० ॥

रामस्योपरि निक्षिप्य स्मयमाना मुदं ययौ।
ततो मुमुदिरे सर्वे राजदाराः स्वलङ्कृतम्॥ ३१ ॥

मन्त्रीके चले जानेपर राजाने श्रीविश्वामित्रजीसे कहा, "यदि रामचन्द्रजी उस धनुषको उठाकर उसकी कोटियोंपर रोंदा चढ़ा देंगे तो निश्चय मैं उन्हें ही अपनी कन्या सीता विवाह दूँगा।" तब विश्वामित्रजीने रामजीकी ओर देखते हुए मुसकराकर कहा—"ठीक है॥ १९-२०॥ राजन्! आप शीघ्र ही वह श्रेष्ठ धनुष अमिततेजस्वी रघुनाथजीको दिखाइये।" मुनीश्वरके ऐसा कहते ही बड़े बलवान् पाँच हजार धनुष-वाहक उस धनुष-श्रेष्ठको लेकर वहाँ आ पहुँचे। उस धनुषमें सैकड़ों घंटियाँ बँधी हुई थीं तथा वह हीरे और मणि आदि रत्नोंसे सुसज्जित था॥ २१-२२॥ तब परामर्श-दाताओंमें श्रेष्ठ उन मन्त्रिवरने रामको वह धनुष दिखाया। प्रसन्नचित्त श्रीरामजीने उसे देखते ही दृढ़तासे कमर कसकर उस धनुषको खेल करते हुए बायें हाथसे उठाकर थाम लिया और सब राजाओंके देखते-देखते उसपर रोंदा चढ़ा दिया॥ २३-२४॥ फिर सबके हृदयसर्वस्व भगवान् रामने अपने दायें हाथसे उस धनुषको थोड़ा-सा खींचा और दसों दिशाओंको गुञ्जायमान करते हुए तोड़ डाला॥ २५॥ दिशा, विदिशा, स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और रसातल आदि समस्त पातालोंमें वह शब्द गूँज उठा। स्वर्गलोकसे देवगणोंके देखते-देखते यह एक बड़ा आश्चर्य-सा हो गया॥ २६॥ देवताओंने पुष्प बरसाकर भगवान्‌को ढँक दिया और दुन्दुभी आदि बाजे बजाते हुए उनकी स्तुति की तथा अप्सराएँ नृत्य करने लगीं॥ २७॥

धनुषके दो खण्ड हुए देख महाराज जनकने रघुनाथजीका आलिङ्गन किया और अन्तःपुरके आँगनमें स्थित सीताजीकी माताएँ अत्यन्त विस्मित हुईं॥ २८॥ तत्पश्चात् सर्वालंकारविभूषिता, सुवर्ण-वर्णा श्रीसीताजी अपने दाहिने हाथमें सुवर्णमयी माला लिये मन्द-मन्द मुसकाती हुई वहाँ आयीं॥ २९॥ वे मुक्ताहार, कर्णफूल और झमझमाते हुए पायजेब आदि आभूषणोंसे विभूषिता थीं तथा शरीरमें अति उत्तम साड़ी पहने हुए थीं जिसमेंसे उनके पीन-पयोधर झलक रहे थे॥ ३०॥

सीताजी नम्रतापूर्वक मुसकाते हुए वह जयमाल रामचन्द्रजीके ऊपर डालकर प्रसन्न हुईं। उस समय श्रीरामचन्द्रजीके सर्वालंकारविभूषित भुवनमोहन रूपको

गवाक्षजालरन्ध्रेभ्यो दृष्ट्वा लोकविमोहनम्।
ततोऽब्रवीन्मुनिं राजा सर्वशास्त्रविशारदः॥ ३२॥

भो कौशिक मुनिश्रेष्ठ पत्रं प्रेषय सत्वरम्।
राजा दशरथः शीघ्रमागच्छतु सपुत्रकः॥ ३३॥

विवाहार्थं कुमाराणां सदारः सहमन्त्रिभिः।
तथेति प्रेषयामास दूतांस्त्वरितविक्रमान्॥ ३४॥

ते गत्वा राजशार्दूलं रामश्रेयो न्यवेदयन्।
श्रुत्वा रामकृतं राजा हर्षेण महताप्लुतः॥ ३५॥

मिथिलागमनार्थाय त्वरयामास मन्त्रिणः।
गच्छन्तु मिथिलां सर्वे गजाश्वरथपत्तयः॥ ३६॥

रथमानय मे शीघ्रं गच्छाम्यद्यैव मा चिरम्।
वसिष्ठस्त्वग्रतो यातु सदारः सहितोऽग्निभिः॥ ३७॥

राममातॄः समादाय मुनिर्मे भगवान् गुरुः।
एवं प्रस्थाप्य सकलं राजर्षिर्विपुलं रथम्॥ ३८॥

महत्या सेनया सार्धमारुह्य त्वरितो ययौ।
आगतं राघवं श्रुत्वा राजा हर्षसमाकुलः॥ ३९॥

प्रत्युज्जगाम जनकः शतानन्दपुरोधसा।
यथोक्तपूजया पूज्यं पूजयामास सत्कृतम्॥ ४०॥

रामस्तु लक्ष्मणेनाशु ववन्दे चरणौ पितुः।
ततो हृष्टो दशरथो रामं वचनमब्रवीत्॥ ४१॥

दिष्ट्या पश्यामि ते राम मुखं फुल्लाम्बुजोपमम्।
मुनेरनुग्रहात्सर्वं सम्पन्नं मम शोभनम्॥ ४२॥

इत्युक्त्वाघ्राय मूर्धानमालिङ्ग्य च पुनः पुनः।
हर्षेण महताविष्टो ब्रह्मानन्दं गतो यथा॥ ४३॥

ततो जनकराजेन मन्दिरे सन्निवेशितः।
शोभने सर्वभोगाढ्ये सदारः ससुतः सुखी॥ ४४॥

ततः शुभे दिने लग्ने सुमुहूर्ते रघूत्तमम्।
आनयामास धर्मज्ञो रामं सभ्रातृकं तदा॥ ४५॥

रत्नस्तम्भसुविस्तारे सुवितान सुतोरणे।
मण्डपे सर्वशोभाढ्ये मुक्तापुष्पफलान्विते॥ ४६॥

झरोखोंमेंसे देखकर समस्त रानियाँ अति आनन्दित हुईं। फिर सर्वशास्त्रज्ञ महाराज जनकने मुनिवर विश्वामित्रजीसे कहा— ॥ ३१-३२॥ "मुनिवर कौशिकजी! आप तुरंत ही महाराज दशरथके पास पत्र भेजिये; वे कुमारोंके विवाहोत्सवके लिये शीघ्र ही पुत्र, महिषियों और मन्त्रियोंके साथ यहाँ पधारें।" तब विश्वामित्रजीने 'बहुत अच्छा' कह शीघ्रगामी दूतोंको भेजा॥ ३३-३४॥

दूतोंने जाकर राजशार्दूल दशरथसे रामका कुशलक्षेम कहा। उनसे रामचन्द्रजीके अद्भुत कृत्यका वृत्तान्त सुनकर महाराज परमानन्दमें डूब गये॥ ३५॥ फिर आपने मिथिलापुरीको चलनेके लिये शीघ्रता करते हुए मन्त्रियोंसे कहा—"हाथी, घोड़े, रथ और पदातियोंके सहित सब लोग मिथिलापुरीको चलो॥ ३६॥ मेरा रथ भी तुरंत ले आओ, देरी न करो, मैं भी आज ही चलूँगा। अग्नियोंके और अरुन्धतीके सहित मेरे गुरु मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठजी रामकी माताओंको लेकर सबसे आगे चलें।" इस प्रकार सबका कूँच करा एक विशाल रथपर आरूढ़ हो राजर्षि दशरथजी बड़े दलबलके सहित शीघ्रतापूर्वक मिथिलापुरीको चले। रघुकुल-तिलक दशरथजीको आये हुए सुन महाराज जनक हर्षपूर्वक पुरोहित शतानन्दजीको ले उन्हें लेने गये और उन पूजनीय राजाका यथोचित रीतिसे सत्कार कर पूजन किया॥ ३७—४०॥ तदनन्तर लक्ष्मणके सहित रामजीने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया; तब राजा दशरथने प्रसन्न होकर रामसे कहा— ॥ ४१॥ "राम! आज बड़े भाग्यसे मैं तुम्हारा विकसित कमलके समान मुख देख रहा हूँ; मुनिवरके अनुग्रहसे सब प्रकार मेरा कल्याण ही हुआ"॥ ४२॥ ऐसा कह वे उन्हें पुनः-पुनः हृदयसे लगा और उनका मस्तक सूँघ अत्यन्त हर्षसे मानो ब्रह्मानन्दमें डूब गये॥ ४३॥ तदनन्तर महाराज जनकने उन्हें रानियों और राजकुमारोंके सहित समस्त भोग-सामग्रियोंसे पूर्ण एक परम सुन्दर महलमें सुखपूर्वक ठहराया॥ ४४॥

फिर शुभ दिनमें शुभ मुहूर्त और लग्नके समय धर्मज्ञ जनकजीने भाइयोंसहित रामको बुलाया॥ ४५॥ और एक सर्वशोभासम्पन्न विस्तीर्ण मण्डपमें जिसमें रत्नजटित स्तम्भ, सुन्दर वितान, मनोहर तोरण तथा मोतियोंके पुष्प और फल लगे हुए थे तथा जो सुवर्ण-भूषण-भूषित

वेदविद्भिः सुसम्बाधे ब्राह्मणैः स्वर्णभूषितैः ।
सुवासनीभिः परितो निष्ककण्ठीभिरावृते ॥ ४७ ॥

भेरीदुन्दुभिनिर्घोषैर्गीतनृत्यैः समाकुले ।
दिव्यरत्नाञ्चिते स्वर्णपीठे रामं न्यवेशयत् ॥ ४८ ॥

वसिष्ठं कौशिकं चैव शतानन्दः पुरोहितः ।
यथाक्रमं पूजयित्वा रामस्योभयपार्श्वयोः ॥ ४९ ॥

स्थापयित्वा स तत्राग्निं ज्वालयित्वा यथाविधि ।
सीतामानीय शोभाढ्यां नानारत्नविभूषिताम् ॥ ५० ॥

सभार्यो जनकः प्रायाद्रामं राजीवलोचनम् ।
पादौ प्रक्षाल्य विधिवत्तदपो मूर्ध्न्यधारयत् ॥ ५१ ॥

या धृता मूर्ध्नि शर्वेण ब्रह्मणा मुनिभिः सदा ।
ततः सीतां करे धृत्वा साक्षतोदकपूर्वकम् ॥ ५२ ॥

रामाय प्रददौ प्रीत्या पाणिग्रहविधानतः ।
सीता कमलपत्राक्षी स्वर्णमुक्तादिभूषिता ॥ ५३ ॥

दीयते मे सुता तुभ्यं प्रीतो भव रघूत्तम ।
इति प्रीतेन मनसा सीतां रामकरेऽर्पयन् ॥ ५४ ॥

मुमोद जनको लक्ष्मीं क्षीराब्धिरिव विष्णवे ।
ऊर्मिलां चौरसीं कन्यां लक्ष्मणाय ददौ मुदा ॥ ५५ ॥

तथैव श्रुतकीर्तिं च माण्डवीं भ्रातृकन्यके ।
भरताय ददावेकां शत्रुघ्नायापरां ददौ ॥ ५६ ॥

चत्वारो दारसम्पन्ना भ्रातरः शुभलक्षणाः ।
विरेजुः प्रभया सर्वे लोकपाला इवापरे ॥ ५७ ॥

ततोऽब्रवीद्वसिष्ठाय विश्वामित्राय मैथिलः ।
जनकः स्वसुतोदन्तं नारदेनाभिभाषितम् ॥ ५८ ॥

यज्ञभूमिविशुद्ध्यर्थं कर्षतो लाङ्गलेन मे ।
सीतामुखात्समुत्पन्ना कन्यका शुभलक्षणा ॥ ५९ ॥

तामद्राक्षमहं प्रीत्या पुत्रिकाभावभाविताम् ।
अर्पिता प्रियभार्यायै शरच्चन्द्रनिभानना ॥ ६० ॥

वेदपाठी ब्राह्मणोंसे खचाखच भरा हुआ था और सुन्दर वस्त्र धारण किये निष्ककण्ठी (सुहागिन) नारियोंसे समाकुल था, श्रीरामचन्द्रजीको एक दिव्य-रत्न-जटित सुवर्ण-सिंहासनपर बैठाया। उस समय भेरी और दुन्दुभि आदि बाजों तथा नृत्य और गान आदिका बड़ा तुमुल कोलाहल हो रहा था॥ ४६—४८॥ तब पुरोहित शतानन्दने श्रीवसिष्ठ और विश्वामित्रजीका क्रमशः पूजन कर उनको रामचन्द्रजीके दोनों ओर बैठा दिया। फिर वहाँ विधिपूर्वक अग्नि प्रज्वलित की गयी तथा नाना-रत्न-विभूषिता सीताको साथ लेकर महारानीसहित महाराज जनकजी कमलनयन रामजीके पास आये और विधि-पूर्वक उनके चरण धोकर अपने सिरपर चरणोदक रखा॥ ४९—५१॥ जिसे शिव, ब्रह्मा और अन्यान्य मुनिजन भी सदा अपने मस्तकपर धारण करते हैं। फिर सीताजीका हाथ पकड़कर उसे जल और चावलसहित पाणिग्रहणकी विधिसे प्रीतिपूर्वक श्रीरामचन्द्रजीके कर-कमलोंमें दे दिया और कहा—"रघुश्रेष्ठ ! मैं सुवर्ण और मुक्ता आदिसे विभूषिता अपनी पुत्री कमललोचना सीता आपको सौंपता हूँ, आप प्रसन्न होइये।" इस प्रकार सीताजीको प्रसन्न चित्तसे श्रीरामचन्द्रजीके कर-कमलोंमें सौंपकर जनकजी ऐसे आनन्दमग्न हो गये जैसे क्षीरसागर श्रीविष्णुभगवान्के करकमलोंमें लक्ष्मीको सौंपकर हुआ था। फिर उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी औरसी कन्या उर्मिला लक्ष्मणजीको विवाह दी॥ ५२—५५॥ तथा अपने भाईकी पुत्रियाँ माण्डवी और श्रुतकीर्ति क्रमशः भरत और शत्रुघ्नको दीं॥ ५६॥ इस प्रकार सुलक्षणसम्पन्न चारों भाई पत्नियोंके सहित साक्षात् दूसरे लोकपालोंके समान अपने प्रकाशसे सुशोभित हुए॥ ५७॥

तदनन्तर, मिथिलापति महाराज जनकने, पुत्री जानकीके विषयमें देवर्षि नारदने जो कुछ कहा था वह सब वृत्तान्त वसिष्ठ और विश्वामित्रजीको सुनाया॥ ५८॥ वे बोले—"एक बार मैं यज्ञभूमिकी शुद्धिके लिये हल जोत रहा था, उसी समय मेरे हलके सीता (अग्रभाग) से यह शुभलक्षणा कन्या प्रकट हुई॥ ५९॥ उस समय मैंने इसे देखा और इसमें मुझे पुत्रीवत् प्रीति हुई, इसलिये मैंने इस चन्द्रमुखीको अपनी प्रियपत्नीको सौंप दिया॥ ६०॥

एकदा नारदोऽभ्यागाद्विविक्ते मयि संस्थिते।
रणयन्महतीं वीणां गायन्नारायणं विभुम्॥ ६१॥

पूजितः सुखमासीनो मामुवाच सुखान्वितः।
शृणुष्व वचनं गुह्यं तवाभ्युदयकारणम्॥ ६२॥

परमात्मा हृषीकेशो भक्तानुग्रहकाम्यया।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं रावणस्य वधाय च॥ ६३॥

जातो राम इति ख्यातो मायामानुषवेषधृक्।
आस्ते दाशरथिर्भूत्वा चतुर्धा परमेश्वरः॥ ६४॥

योगमायापि सीतेति जाता वै तव वेश्मनि।
अतस्त्वं राघवायैव देहि सीतां प्रयत्नतः॥ ६५॥

नान्येभ्यः पूर्वभार्यैषा रामस्य परमात्मनः।
इत्युक्त्वा प्रययौ देवगतिं देवमुनिस्तदा॥ ६६॥

तदारभ्य मया सीता विष्णोर्लक्ष्मीर्विभाव्यते।
कथं मया राघवाय दीयते जानकी शुभा॥ ६७॥

इति चिन्तासमाविष्टः कार्यमेकमचिन्तयम्।
मत्पितामहगेहे तु न्यासभूतमिदं धनुः॥ ६८॥

ईश्वरेण पुरा क्षिप्तं पुरदाहादनन्तरम्।
धनुरेतत्पणं कार्यमिति चिन्त्य कृतं तथा॥ ६९॥

सीतापाणिग्रहार्थाय सर्वेषां माननाशनम्।
त्वत्प्रसादान्मुनिश्रेष्ठ रामो राजीवलोचनः॥ ७०॥

आगतोऽत्र धनुर्द्रष्टुं फलितो मे मनोरथः।
अद्य मे सफलं जन्म राम त्वां सह सीतया॥ ७१॥

एकासनस्थं पश्यामि भ्राजमानं रविं यथा।
त्वत्पादाम्बुधरो ब्रह्मा सृष्टिचक्रप्रवर्तकः॥ ७२॥

बलिस्त्वत्पादसलिलं धृत्वाभूद्दिविजाधिपः।
त्वत्पादपांसुसंस्पर्शादहल्या भर्तृशापतः॥ ७३॥

सद्य एव विनिर्मुक्ता कोऽन्यस्त्वत्तोऽधिरक्षिता॥ ७४॥
यत्पादपङ्कजपरागसुरागयोगि-
वृन्दैर्जितं भवभयं जितकालचक्रैः।
यन्नामकीर्तनपरा जितदुःखशोका
देवास्तमेव शरणं सततं प्रपद्ये॥ ७५॥

एक दिन जब मैं एकान्तमें बैठा हुआ था, मेरे पास महर्षि नारदजी अपनी महती नामकी वीणा बजाते और सर्वव्यापक श्रीहरिका गुण गाते हुए आये॥ ६१॥ मेरे पूजा-सत्कारादि कर चुकनेपर वे सुखपूर्वक बैठकर प्रसन्नतापूर्वक मुझसे बोले, 'राजन्! अपने कल्याणका कारणरूप यह परम गुप्त वचन सुनो—॥ ६२॥ परमात्मा हृषीकेश भक्तोंपर कृपा, देवताओंकी कार्य-सिद्धि और रावणका वध करनेके लिये माया-मानवरूपसे अवतीर्ण होकर 'राम' नामसे विख्यात हुए हैं। वे परमेश्वर अपने चार अंशोंसे दशरथके पुत्र होकर अयोध्यामें रहते हैं॥ ६३-६४॥ और इधर योगमायाने तुम्हारे यहाँ सीताके रूपसे जन्म लिया है। अतः तुम प्रयत्नपूर्वक इस सीताका पाणिग्रहण रघुनाथजीके साथ ही करना और किसीसे नहीं—क्योंकि यह पहलेसे ही परमात्मा रामकी ही भार्या है, ऐसा कहकर देवर्षि नारदजी आकाश-मार्गसे चले गये॥ ६५-६६॥ तबसे इस सीताको मैं विष्णुभगवान्‌की भार्या लक्ष्मी ही समझता हूँ। फिर यह सोचते हुए कि 'शुभलक्षणा जानकीको किस प्रकार रघुनाथजीको दूँ', मैंने एक युक्ति विचारी। पूर्वकालमें श्रीमहादेवजीने त्रिपुरासुरको भस्म करनेके अनन्तर यह धनुष मेरे दादाके यहाँ धरोहरके रूपमें रखा था। मैंने यह सोचकर कि 'सीताके पाणिग्रहणके लिये सबके गर्वनाशक इस धनुषको ही पण (बाजी) बनाना चाहिये' वैसा ही किया। हे मुनिश्रेष्ठ! आपकी कृपासे यहाँ कमलनयन रामजी धनुष देखने आ गये; इससे मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया। हे राम! आज मेरा जन्म सफल हो गया जो मैं सूर्यके समान देदीप्यमान और सीताके साथ एक आसनपर विराजमान आपको देख रहा हूँ। प्रभो! आपके चरणोदकको सिरपर धारण करके ही ब्रह्माजी सृष्टि-चक्रके प्रवर्तक हुए हैं॥ ६७—७२॥ आपके चरणोदकके प्रतापसे बलिको इन्द्र-पद प्राप्त हुआ है और आपकी ही चरण-धूलिके स्पर्शसे अहल्या तुरंत पतिके शापसे मुक्त हो गयी। आपसे बढ़कर हमारा रक्षक और कौन है॥ ७३-७४॥ जिनके चरण-कमल-परागके रसिक, काल-चक्रको जीतनेवाले योगिजनोंने संसार-भयको भी जीत लिया है तथा जिनके नाम-कीर्तनमें लगे रहकर देवगण दुःख और शोकको जीत लेते हैं, उन आपकी मैं निरन्तर शरण ग्रहण करता हूँ"॥ ७५॥

इति स्तुत्वा नृपः प्रादाद्राघवाय महात्मने ।
दीनाराणां कोटिशतं रथानामयुतं तदा ॥ ७६ ॥

अश्वानां नियुतं प्रादाद्गजानां षट्शतं तथा ।
पत्तीनां लक्षमेकं तु दासीनां त्रिशतं ददौ ॥ ७७ ॥

दिव्याम्बराणि हारांश्च मुक्तारत्नमयोज्ज्वलान् ।
सीतायै जनकः प्रादात्प्रीत्या दुहितृवत्सलः ॥ ७८ ॥

वसिष्ठादीन्सुसंपूज्य भरतं लक्ष्मणं तथा ।
पूजयित्वा यथान्यायं तथा दशरथं नृपम् ॥ ७९ ॥

प्रस्थापयामास नृपो राजानं रघुसत्तमम् ।
सीतामालिङ्ग्य रुदतीं मातरः साश्रुलोचनाः ॥ ८० ॥

श्वश्रूशुश्रूषणपरा नित्यं राममनुव्रता ।
पातिव्रत्यमुपालम्ब्य तिष्ठ वत्से यथासुखम् ॥ ८१ ॥

प्रयाणकाले रघुनन्दनस्य
भेरीमृदङ्गानकतूर्यघोषः ।
स्वर्वासिभेरीघनतूर्यशब्दैः
संमूर्च्छितो भूतभयङ्करोऽभूत् ॥ ८२ ॥

महात्मा रघुनाथजीकी इस प्रकार स्तुति कर महाराज जनकने उन्हें दहेजमें सौ करोड़ दीनार (सुवर्णमुद्रा), दस हजार रथ, दस लक्ष घोड़े, छः सौ हाथी, एक लाख पदाति और तीन सौ दासियाँ दीं ॥ ७६-७७ ॥ तथा सीताजीको भी पुत्रीवत्सल जनकजीने प्रेमपूर्वक अनेकों दिव्य वस्त्र तथा मोती और रत्न-जटित उज्ज्वल हार दिये ॥ ७८ ॥ तदनन्तर उन्होंने वसिष्ठादिकी पूजा की; फिर भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और राजा दशरथका धन-दानादिसे यथोचित सत्कार कर रघुश्रेष्ठ महाराज दशरथको विदा किया। फिर माताओंने रोती हुई सीताको गले लगा नेत्रोंमें जल भरकर कहा— ॥ ७९-८० ॥ ''वत्से ! तुम सासुकी सेवा करती हुई सदा रामचन्द्रजीकी अनुगामिनी रह पातिव्रत-धर्मका अवलम्बन कर सुखपूर्वक रहना'' ॥ ८१ ॥ तदनन्तर रघुकुलतिलक श्रीरघुनाथजीके कूच करते समय भेरी, मृदङ्ग, आनक और तूर्य आदि बाजोंका घोष, आकाशमें देवताओंके बजाये हुए भेरी, झाँझ और तूर्य आदिके शब्द मिलकर प्राणियोंको भय उपजानेवाला हुआ ॥ ८२ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे बालकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तम सर्ग

परशुरामजीसे भेंट

सूत उवाच

अथ गच्छति श्रीरामे मैथिलाद्योजनत्रयम् ।
निमित्तान्यतिघोराणि ददर्श नृपसत्तमः ॥ १ ॥

नत्वा वसिष्ठं पप्रच्छ किमिदं मुनिपुङ्गव ।
निमित्तानीह दृश्यन्ते विषमाणि समन्ततः ॥ २ ॥

वसिष्ठस्तमथ प्राह भयमागामि सूच्यते ।
पुनरप्यभयं तेऽद्य शीघ्रमेव भविष्यति ॥ ३ ॥

मृगाः प्रदक्षिणं यान्ति पश्य त्वां शुभसूचकाः ।
इत्येवं वदतस्तस्य ववौ घोरतरोऽनिलः ॥ ४ ॥

मुष्णंश्चक्षूंषि सर्वेषां पांसुवृष्टिभिरर्दयन् ।
ततो व्रजन्ददर्शाग्रे तेजोराशिमुपस्थितम् ॥ ५ ॥

सूतजी बोले—श्रीरामचन्द्रजीके मिथिलापुरीसे तीन योजन चले जानेपर नृपश्रेष्ठ दशरथजीने अत्यन्त घोर अपशकुन देखे ॥ १ ॥ तब उन्होंने वसिष्ठजीको प्रणाम करके पूछा—''मुनिश्रेष्ठ ! क्या कारण है कि चारों ओर भयङ्कर अपशकुन दिखायी दे रहे हैं ?'' ॥ २ ॥

वसिष्ठजीने कहा—''इन अपशकुनोंसे किसी आगामी भयकी सूचना होती है, किन्तु (साथ ही यह भी सूचित होता है कि) फिर शीघ्र ही अभय प्राप्त होगा ॥ ३ ॥ क्योंकि देखो तुम्हारी दायीं ओर शुभसूचक मृगगण जा रहे हैं।'' वसिष्ठजीके ऐसा कहते ही बड़ा प्रचण्ड वायु चलने लगा ॥ ४ ॥ उसने धूलि बरसाकर सबके नेत्रोंको मूँद दिया। फिर उन्होंने चलते-चलते तेजका पुञ्ज अपने सम्मुख उपस्थित हुआ देखा ॥ ५ ॥

कोटिसूर्यप्रतीकाशं विद्युत्पुञ्जसमप्रभम्।
तेजोराशिं ददर्शाथ जामदग्न्यं प्रतापवान्॥ ६ ॥

नीलमेघनिभं प्रांशुं जटामण्डलमण्डितम्।
धनुःपरशुपाणिं च साक्षात्कालमिवान्तकम्॥ ७ ॥

कार्तवीर्यान्तकं रामं दृप्तक्षत्रियमर्दनम्।
प्राप्तं दशरथस्याग्रे कालमृत्युमिवापरम्॥ ८ ॥

तं दृष्ट्वा भयसन्त्रस्तो राजा दशरथस्तदा।
अर्घ्यादिपूजां विस्मृत्य त्राहि त्राहीति चाब्रवीत्॥ ९ ॥

दण्डवत्प्रणिपत्याह पुत्रप्राणं प्रयच्छ मे।
इति ब्रुवन्तं राजानमनादृत्य रघूत्तमम्॥ १० ॥

उवाच निष्ठुरं वाक्यं क्रोधात्प्रचलितेन्द्रियः।
त्वं राम इति नाम्ना मे चरसि क्षत्रियाधम॥ ११ ॥

द्वन्द्वयुद्धं प्रयच्छाशु यदि त्वं क्षत्रियोऽसि वै।
पुराणं जर्जरं चापं भङ्क्त्वा त्वं कत्थसे मुधा॥ १२ ॥

अस्मिंस्तु वैष्णवे चाप आरोपयसि चेद्गुणम्।
तदा युद्धं त्वया सार्धं करोमि रघुवंशज॥ १३ ॥

नो चेत्सर्वान्हनिष्यामि क्षत्रियान्तकरो ह्यहम्।
इति ब्रुवति वै तस्मिंश्चचाल वसुधा भृशम्॥ १४ ॥

अन्धकारो बभूवाथ सर्वेषामपि चक्षुषाम्।
रामो दाशरथिर्वीरो वीक्ष्य तं भार्गवं रुषा॥ १५ ॥

धनुराच्छिद्य तद्धस्तादारोप्य गुणमञ्जसा।
तूणीराद्बाणमादाय संधायाकृष्य वीर्यवान्॥ १६ ॥

उवाच भार्गवं रामं शृणु ब्रह्मन्वचो मम।
लक्ष्यं दर्शय बाणस्य ह्यमोघो मम सायकः॥ १७ ॥

लोकान्पादयुगं वापि वद शीघ्रं ममाज्ञया।
अयं लोकः परो वाथ त्वया गन्तुं न शक्यते॥ १८ ॥

एवं त्वं हि प्रकर्तव्यं वद शीघ्रं ममाज्ञया।
एवं वदति श्रीरामे भार्गवो विकृताननः॥ १९ ॥

फिर उन्होंने करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी, विद्युत्-पुञ्जके समान प्रभा-सम्पन्न, महाप्रतापी, तेजोराशि, नील-मेघकी-सी आभावाले, उन्नतकाय, जटा-जूटधारी, हाथमें धनुष और परशु लिये, प्राणियोंका नाश करनेवाले साक्षात् कालके समान परशुरामजीको आते देखा॥ ६-७॥ उन्होंने देखा कि कार्तवीर्यका वध करनेवाले और गर्वीले क्षत्रियोंका मान मर्दन करनेवाले परशुरामजी जो दूसरे यमराजके समान हैं, महाराज दशरथके सामने खड़े हैं॥ ८॥

उस समय महाराज दशरथ उन्हें देखते ही भयभीत हो गये और अर्घ्यादिसे उनकी पूजा करना भूलकर 'रक्षा करो, रक्षा करो'—ऐसा कहकर पुकारने लगे॥ ९॥ और दण्डवत्-प्रणाम करके बोले—'मुझे पुत्रके प्राणोंका दान दीजिये।'

इस प्रकार प्रार्थना करते हुए राजाकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर उन्होंने क्रोधसे व्याकुल हो कठोर वाणीसे रघूत्तम श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—"अरे क्षत्रियाधम! तू मेरे ही समान 'राम' नामसे विख्यात होकर पृथ्वीमें विचरता है॥ १०-११॥ सो यदि तू वास्तवमें क्षत्रिय है तो मेरे साथ द्वन्द्वयुद्ध कर; एक पुराने जीर्ण-शीर्ण धनुषको तोड़कर व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा कर रहा है?॥ १२॥ अरे रघुकुलोत्पन्न! यदि तू इस वैष्णव धनुषपर रोंदा चढ़ा देगा तो मैं तेरे साथ युद्ध करूँगा॥ १३॥ नहीं तो मैं अभी सबको मार डालूँगा; क्योंकि क्षत्रियोंका अन्त करना तो मेरा काम ही है।" परशुरामजीके ऐसा कहनेपर पृथ्वी बारम्बार काँपने लगी॥ १४॥ और सबके नेत्रोंके सामने अन्धकार छा गया।

तब दशरथ-नन्दन वीरवर रामने परशुरामजीकी ओर रोषपूर्वक देखते हुए उनके हाथसे धनुष छीन लिया और उसपर अनायास ही रोंदा चढ़ाकर अपने तरकशसे बाण निकालकर उसपर रखा और उसे खींचकर भृगुनन्दन परशुरामजीसे कहा—"ब्रह्मन्! मेरी बात सुनो, मेरा बाण अमोघ है—यह व्यर्थ नहीं जाता। इसके लिये शीघ्र ही लक्ष्य दिखाओ॥ १५—१७॥ (अपने पुण्यसे जीते हुए) लोक अथवा अपने चरण—इन दोनोंमेंसे मेरी आज्ञासे शीघ्र ही किसी एकको बताओ। (उसीको इस बाणसे बेध डालूँगा) अब तुम इस लोक या परलोकमें कहीं नहीं जा सकते॥ १८॥ अब तुम्हारे साथ मेरा जो कुछ कर्तव्य है वह तुम मेरी आज्ञासे शीघ्र ही बताओ।"

रामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर भृगुनन्दन परशुरामजीका

संस्मरन्पूर्ववृत्तान्तमिदं वचनमब्रवीत्।
राम राम महाबाहो जाने त्वां परमेश्वरम्॥ २०॥

पुराणपुरुषं विष्णुं जगत्सर्गलयोद्भवम्।
बाल्येऽहं तपसा विष्णुमाराधयितुमञ्जसा॥ २१॥

चक्रतीर्थं शुभं गत्वा तपसा विष्णुमन्वहम्।
अतोषयं महात्मानं नारायणमनन्यधीः॥ २२॥

ततः प्रसन्नो देवेशः शङ्खचक्रगदाधरः।
उवाच मां रघुश्रेष्ठ प्रसन्नमुखपङ्कजः॥ २३॥

श्रीभगवानुवाच

उत्तिष्ठ तपसो ब्रह्मन्फलितं ते तपो महत्।
मच्चिदंशेन युक्तस्त्वं जहि हैहयपुङ्गवम्॥ २४॥

कार्तवीर्यं पितृहणं यदर्थं तपसः श्रमः।
ततस्त्रिःसप्तकृत्वस्त्वं हत्वा क्षत्रियमण्डलम्॥ २५॥

कृत्स्नां भूमिं कश्यपाय दत्त्वा शान्तिमुपावह।
त्रेतामुखे दाशरथिर्भूत्वा रामोऽहमव्ययः॥ २६॥

उत्पत्स्ये परया शक्त्या तदा द्रक्ष्यसि मां ततः।
मत्तेजः पुनरादास्ये त्वयि दत्तं मया पुरा॥ २७॥

तदा तपश्चरँल्लोके तिष्ठ त्वं ब्रह्मणो दिनम्।
इत्युक्त्वान्तर्दधे देवस्तथा सर्वं कृतं मया॥ २८॥

स एव विष्णुस्त्वं राम जातोऽसि ब्रह्मणार्थितः।
मयि स्थितं तु त्वत्तेजस्त्वयैव पुनराहृतम्॥ २९॥

अद्य मे सफलं जन्म प्रतीतोऽसि मम प्रभो।
ब्रह्मादिभिरलभ्यस्त्वं प्रकृतेः पारगो मतः॥ ३०॥

त्वयि जन्मादिषड्भावा न सन्त्यज्ञानसंभवाः।
निर्विकारोऽसि पूर्णस्त्वं गमनादिविवर्जितः॥ ३१॥

यथा जले फेनजालं धूमो वह्नौ तथा त्वयि।
त्वदाधारा त्वद्विषया माया कार्यं सृजत्यहो॥ ३२॥

यावन्मायावृता लोकास्तावत्त्वां न विजानते।
अविचारितसिद्धैषाविद्या विद्याविरोधिनी॥ ३३॥

मुख मलिन हो गया॥ १९॥ फिर उन्होंने पूर्व वृत्तान्तको स्मरणकर यह कहा—"हे राम! हे राम! हे महाबाहो! मैंने आप परमेश्वरको जान लिया॥ २०॥ आप साक्षात् संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण, पुराण-पुरुष भगवान् विष्णु हैं! मैं बाल्यावस्थामें तपके द्वारा विष्णुभगवान्‌की आराधना करनेके लिये अकस्मात् परम पवित्र चक्रतीर्थमें पहुँचा और वहाँ प्रतिदिन अनन्यभावसे तपस्या करते हुए मैंने परमात्मा नारायण भगवान् विष्णुको प्रसन्न किया॥ २१-२२॥ हे रघुश्रेष्ठ! उस समय शङ्ख-चक्र-गदाधारी प्रसन्नवदन देवेश्वर विष्णुने मुझसे प्रसन्न होकर कहा— ॥ २३॥

श्रीभगवान् बोले—हे ब्रह्मन्! तपस्या छोड़कर खड़े हो, तुम्हारा महान् तप सफल हो गया! तुम मेरे चिदंशसे युक्त होकर, जिसके लिये यह तपस्या करनेका कष्ट उठाया है उस पितृघाती हैहयश्रेष्ठ कार्तवीर्यका वध करो और फिर इक्कीस बार समस्त क्षत्रियोंको मारकर॥ २४-२५॥ सम्पूर्ण पृथिवी कश्यपजीको दे शान्ति लाभ करो। मैं अविनाशी परमात्मा त्रेतायुगमें दशरथके यहाँ 'राम' नामसे जन्म लूँगा। उस समय मेरी परमशक्ति (सीता) के सहित तुम मुझे देखोगे। तब (पहले) इस समय तुम्हें दिया हुआ अपना तेज मैं फिर ग्रहण कर लूँगा॥ २६-२७॥ तबसे तुम तपस्या करते हुए कल्पान्तपर्यन्त पृथिवीमें रहोगे। ऐसा कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये; और मैंने जैसा उन्होंने कहा था वैसा ही किया॥ २८॥

हे राम! आप वही विष्णु हैं। ब्रह्माकी प्रार्थनासे आपने जन्म लिया है। आपका जो तेज मुझमें स्थित था वह आज आपने फिर ले लिया॥ २९॥ हे प्रभो! आज मेरा जन्म सफल हो गया जो मैंने आपको पहचान लिया; क्योंकि आप तो ब्रह्मा आदिसे भी अप्राप्य और प्रकृतिसे भी परे माने गये हैं॥ ३०॥ आपमें अज्ञानजन्य जन्मादि छः भाव-विकार नहीं हैं तथा आप गमनादिसे रहित निर्विकार और पूर्ण हैं॥ ३१॥

अहो! जलके फेन-समूह और अग्निके धूएँके समान आपके आश्रित और आपहीको विषय करनेवाली माया नाना प्रकारके विचित्र कार्योंकी रचना करती है॥ ३२॥ मनुष्य जबतक मायासे आवृत रहते हैं तबतक आपको नहीं जान सकते। विद्याकी विरोधिनी यह अविद्या जबतक विचार नहीं किया जाता तभीतक रहती है॥ ३३॥

अविद्याकृतदेहादिसङ्घाते प्रतिबिम्बिता ।
चिच्छक्तिर्जीवलोकेऽस्मिन् जीव इत्यभिधीयते ॥ ३४ ॥

यावद्देहमनःप्राणबुद्ध्यादिष्वभिमानवान् ।
तावत्कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिभाग्भवेत् ॥ ३५ ॥

आत्मनः संसृतिर्नास्ति बुद्धेर्ज्ञानं न जात्विति ।
अविवेकाद्द्वयं युङ्क्त्वा संसारीति प्रवर्तते ॥ ३६ ॥

जडस्य चित्समायोगाच्चित्त्वं भूयाच्चितेस्तथा ।
जडसङ्गाज्जडत्वं हि जलाग्न्योर्मेलनं यथा ॥ ३७ ॥

यावत्त्वत्पादभक्तानां सङ्गसौख्यं न विन्दति ।
तावत्संसारदुःखौघान्न निवर्तेन्नरः सदा ॥ ३८ ॥

तत्सङ्गलब्धया भक्त्या यदा त्वां समुपासते ।
तदा माया शनैर्याति तानवं प्रतिपद्यते ॥ ३९ ॥

ततस्त्वज्ज्ञानसम्पन्नः सद्गुरुस्तेन लभ्यते ।
वाक्यज्ञानं गुरोर्लब्ध्वा त्वत्प्रसादाद्विमुच्यते ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वद्भक्तिहीनानां कल्पकोटिशतैरपि ।
न मुक्तिशङ्का विज्ञानशङ्का नैव सुखं तथा ॥ ४१ ॥

अतस्त्वत्पादयुगले भक्तिर्मे जन्मजन्मनि ।
स्यात्त्वद्भक्तिमतां सङ्गोऽविद्या याभ्यां विनश्यति ॥ ४२ ॥

लोके त्वद्भक्तिनिरतास्त्वद्धर्मामृतवर्षिणः ।
पुनन्ति लोकमखिलं किं पुनः स्वकुलोद्भवान् ॥ ४३ ॥

नमोऽस्तु जगतां नाथ नमस्ते भक्तिभावन ।
नमः कारुणिकानन्त रामचन्द्र नमोऽस्तु ते ॥ ४४ ॥

देव यद्यत्कृतं पुण्यं मया लोकजिगीषया ।
तत्सर्वं तव बाणाय भूयाद्राम नमोऽस्तु ते ॥ ४५ ॥

ततः प्रसन्नो भगवान् श्रीरामः करुणामयः ।
प्रसन्नोऽस्मि तव ब्रह्मन्यत्ते मनसि वर्तते ॥ ४६ ॥

दास्ये तदखिलं कामं मा कुरुष्वात्र संशयम् ।
ततः प्रीतेन मनसा भार्गवो राममब्रवीत् ॥ ४७ ॥

अविद्याजन्य देहादि संघातोंमें प्रतिबिम्बित हुई चित्-शक्ति ही इस जीव-लोकमें 'जीव' कहलाती है ॥ ३४ ॥ यह जीव जबतक देह, मन, प्राण और बुद्धि आदिमें अभिमान करता है तभीतक कर्तृत्व, भोक्तृत्व और सुख-दुःखादिको भोगता है ॥ ३५ ॥ वास्तवमें आत्मामें जन्म-मरणादि संसार किसी भी अवस्थामें नहीं है और बुद्धिमें कभी ज्ञानशक्ति नहीं है। अविवेकसे इन दोनोंको मिलाकर जीव 'संसारी हूँ' ऐसा मानकर कर्ममें प्रवृत्त हो जाता है ॥ ३६ ॥ जल और अग्निका मेल होनेसे जैसे जलमें उष्णता और अग्निमें शान्तता उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार जड (बुद्धि) का चेतन (आत्मा) से संयोग होनेसे उसमें चेतनता और चेतन आत्माका जड-बुद्धि-से संयोग होनेसे उसमें (कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि) जडता प्रकट हो जाती है ॥ ३७ ॥ हे राम ! जबतक मनुष्य आपके चरण-कमलोंके भक्तोंका सङ्गसुख निरन्तर अनुभव नहीं करता तबतक संसारके दुःख-समूहसे पार नहीं होता ॥ ३८ ॥ जब वह भक्तजनोंके सङ्गसे प्राप्त हुई भक्तिद्वारा आपकी उपासना करता है तब आपकी माया शनैः-शनैः चली जाती है और वह क्षीण होने लगती है ॥ ३९ ॥ फिर उस साधकको आपके ज्ञानसे सम्पन्न सद्गुरुकी प्राप्ति होती है और उन सद्गुरुदेवसे महावाक्यका बोध पाकर वह आपकी कृपासे मुक्त हो जाता है ॥ ४० ॥ अतः आपकी भक्तिसे शून्य पुरुषोंको सौ करोड़ कल्पोंमें भी मुक्ति अथवा ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेकी सम्भावना नहीं है और इसीलिये उन्हें वास्तविक सुख मिलनेकी भी सम्भावना नहीं है ॥ ४१ ॥ अतः मैं यही चाहता हूँ कि जन्म-जन्मान्तरमें आपके चरण-युगलमें मेरी भक्ति हो और मुझे आपके भक्तों-का सङ्ग मिले; क्योंकि इन्हीं दोनों साधनोंसे अविद्याका नाश होता है ॥ ४२ ॥ संसारमें आपकी भक्तिमें तत्पर और भगवद्धर्मरूप अमृतकी वर्षा करनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण लोकको पवित्र कर देते हैं, फिर वे अपने कुलमें उत्पन्न हुए पुरुषोंको पवित्र कर देते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ४३ ॥ हे जगन्नाथ ! आपको नमस्कार है। हे भक्तिभावन ! आपको नमस्कार है। हे करुणामय ! हे अनन्त ! आपको नमस्कार है। हे रामचन्द्र ! आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ ४४ ॥ हे देव ! मैंने पुण्यलोक-प्राप्तिके लिये जो कुछ पुण्य कर्म किये हैं वे सब आपके इस बाणके लक्ष्य हों। हे राम ! आपको नमस्कार है" ॥ ४५ ॥ तब करुणामय भगवान् श्रीरामचन्द्रने प्रसन्न होकर कहा—"हे ब्रह्मन् ! मैं प्रसन्न हूँ, तुम्हारे हृदयमें जो-जो कामनाएँ हैं उन सभीको मैं पूर्ण करूँगा, इसमें सन्देह न करना।" तब परशुरामजी-ने प्रसन्न-चित्त होकर रामसे कहा— ॥ ४६-४७ ॥

यदि मेऽनुग्रहो राम तवास्ति मधुसूदन।
त्वद्भक्तसङ्गस्त्वत्पादे दृढा भक्तिः सदास्तु मे॥ ४८॥

स्तोत्रमेतत्पठेद्यस्तु भक्तिहीनोऽपि सर्वदा।
त्वद्भक्तिस्तस्य विज्ञानं भूयादन्ते स्मृतिस्तव॥ ४९॥

तथेति राघवेणोक्तः परिक्रम्य प्रणम्य तम्।
पूजितस्तदनुज्ञातो महेन्द्राचलमन्वगात्॥ ५०॥

राजा दशरथो हृष्टो रामं मृतमिवागतम्।
आलिङ्ग्यालिङ्ग्य हर्षेण नेत्राभ्यां जलमुत्सृजत्॥ ५१॥

ततः प्रीतेन मनसा स्वस्थचित्तः पुरं ययौ।
रामलक्ष्मणशत्रुघ्नभरता देवसंमिताः।
स्वां स्वां भार्यामुपादाय रेमिरे स्वस्वमन्दिरे॥ ५२॥

मातापितृभ्यां संहृष्टो रामः सीतासमन्वितः।
रेमे वैकुण्ठभवने श्रिया सह यथा हरिः॥ ५३॥

युधाजिन्नाम कैकेयीभ्राता भरतमातुलः।
भरतं नेतुमागच्छत्स्वराज्यं प्रीतिसंयुतः॥ ५४॥

प्रेषयामास भरतं राजा स्नेहसमन्वितः।
शत्रुघ्नं चापि संपूज्य युधाजितमरिन्दमः॥ ५५॥

कौसल्या शुशुभे देवी रामेण सह सीतया।
देवमातेव पौलोम्या शच्या शक्रेण शोभना॥ ५६॥

साकेते लोकनाथप्रथितगुणगणो
लोकसङ्गीतकीर्तिः
श्रीरामः सीतयास्तेऽखिलजननिकरा-
नन्दसन्दोहमूर्तिः।
नित्यश्रीर्निर्विकारो निरवधिविभवो
नित्यमायानिरासो
मायाकार्यानुसारी मनुज इव सदा
भाति देवोऽखिलेशः॥ ५७॥

"हे मधुसूदन राम! यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है तो मुझे सदा आपके भक्तोंका सङ्ग रहे और आपके चरणकमलोंमें मेरी सुदृढ़ भक्ति हो॥ ४८॥ तथा कोई भक्तिहीन पुरुष भी यदि इस स्तोत्रका पाठ करे तो उसे सर्वदा आपकी भक्ति मिले और ज्ञान प्राप्त हो तथा अन्तमें आपकी स्मृति रहे"॥ ४९॥

तदनन्तर रघुनाथजीके 'ऐसा ही हो' इस प्रकार कहनेपर परशुरामजीने उनकी परिक्रमा कर उन्हें प्रणाम किया और उनसे पूजित हो उनकी आज्ञासे महेन्द्रपर्वतपर चले गये॥ ५०॥ राजा दशरथने रामको मानो मृत्युसे लौटे हुए समझ अत्यन्त हर्षसे बारम्बार आलिङ्गन किया और नेत्रोंसे आनन्दाश्रुओंकी वर्षा करने लगे॥ ५१॥ तदनन्तर वे सब प्रसन्नचित्तसे अपनी अयोध्यापुरीमें आये। वहाँ पहुँचकर राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ देवताओंके समान अपने-अपने महलोंमें रमण करने लगे॥ ५२॥ सीताके सहित श्रीरामचन्द्रजी अपने पिता-माताओंका आनन्द बढ़ाते हुए इस प्रकार रमण करने लगे जैसे वैकुण्ठलोकमें भगवान् विष्णु लक्ष्मीके साथ विहार करते हैं॥ ५३॥

इसी समय कैकेयीके भाई भरतजीके मामा युधाजित् भरतको प्रीतिपूर्वक अपने यहाँ ले जानेके लिये आये॥ ५४॥ शत्रुदमन महाराज दशरथने भी युधाजित्का सत्कार कर उनके स्नेहवश भरत और शत्रुघ्नको उनके साथ भेज दिया॥ ५५॥

तदुपरान्त देवी कौसल्या राम और सीताके सहित इस प्रकार सुशोभित हुईं जैसे पुलोम-पुत्री शची और इन्द्रके सहित देवमाता अदिति शोभायमान होती हैं॥ ५६॥ जिनके गुणगण ब्रह्मा आदि सकल लोकपालोंमें प्रसिद्ध हैं, जिनकी कीर्ति सम्पूर्ण लोकोंमें गायी जाती है, जो सारे मनुष्योंके आनन्द-समूहकी मूर्ति हैं, जो नित्य, शोभाधाम, निर्विकार, अनन्त-वैभव और सदा मायातीत होकर भी माया-कार्योंका अनुसरण करते हुए सदा मनुष्यके समान प्रतीत होते हैं वे अखिलेश्वर भगवान् राम सीताजीके साथ साकेत (अयोध्या) धाममें विराजने लगे॥ ५७॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे बालकाण्डे सप्तमः सर्गः॥ ७॥

समाप्तमिदं बालकाण्डम्

ॐ

अध्यात्मरामायण

अयोध्याकाण्ड

प्रथम सर्ग

भगवान् रामके पास नारदजीका आना

श्रीमहादेव उवाच

एकदा सुखमासीनं रामं स्वान्तःपुराजिरे।
सर्वाभरणसंपन्नं रत्नसिंहासने स्थितम्॥ १॥

नीलोत्पलदलश्यामं कौस्तुभामुक्तकन्धरम्।
सीतया रत्नदण्डेन चामरेणाथ वीजितम्॥ २॥

विनोदयन्तं ताम्बूलचर्वणादिभिरादरात्।
नारदोऽवतरद्द्रष्टुमम्बराद्यत्र राघवः॥ ३॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशः शरच्चन्द्र इवामलः।
अतर्कितमुपायातो नारदो दिव्यदर्शनः॥ ४॥

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय रामः प्रीत्या कृताञ्जलिः।
ननाम शिरसा भूमौ सीतया सह भक्तिमान्॥ ५॥

उवाच नारदं रामः प्रीत्या परमया युतः।
संसारिणां मुनिश्रेष्ठ दुर्लभं तव दर्शनम्।
अस्माकं विषयासक्तचेतसां नितरां मुने॥ ६॥

अवाप्तं मे पूर्वजन्मकृतपुण्यमहोदयैः।
संसारिणापि हि मुने लभ्यते सत्समागमः॥ ७॥

अतस्त्वद्दर्शनादेव कृतार्थोऽस्मि मुनीश्वर।
किं कार्यं ते मया कार्यं ब्रूहि तत्करवाणि भोः॥ ८॥

अथ तं नारदोऽप्याह राघवं भक्तवत्सलम्।
किं मोहयसि मां राम वाक्यैर्लोकानुसारिभिः॥ ९॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! एक दिन जब सर्वालङ्कारविभूषित श्रीरामचन्द्रजी अपने अन्तःपुरके आँगनमें एक रत्नसिंहासनपर सुखपूर्वक बैठे हुए थे॥ १॥ तथा जिस समय नीलोत्पलदलश्याम कौस्तुभमणिमण्डित उन रघुनाथजीपर श्रीसीताजी रत्नदण्डयुक्त चँवर डुला रही थीं॥ २॥ और वे आदरपूर्वक दिये हुए ताम्बूल-चर्वणादिसे आनन्दित हो रहे थे, उसी समय उन्हें देखनेके लिये देवर्षि नारदजी आकाशसे उतरे॥ ३॥ शुद्ध स्फटिक मणिके समान स्वच्छ और शरच्चन्द्रके समान निर्मल दिव्यमूर्ति श्रीनारदजीको इस प्रकार अचानक आते देख भगवान् राम सहसा उठ खड़े हुए और सीताजीके सहित प्रेम और भक्तिपूर्वक हाथ जोड़कर पृथिवीपर सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया॥ ४-५॥

फिर भगवान् रामने परम प्रीतिपूर्वक नारदजीसे कहा—"हे मुनिश्रेष्ठ! हम-जैसे विषयासक्त संसारी मनुष्योंके लिये आपका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। हे मुने! आज अपने पूर्वजन्म-कृत पुण्य-पुञ्जके उदय होनेसे ही मुझे आपका दर्शन हुआ है, क्योंकि हे मुने! पुण्योदय होनेपर संसारी पुरुषको भी सत्सङ्ग प्राप्त हो जाता है॥ ६-७॥ अतः हे मुनीश्वर! आज आपके दर्शनसे ही मैं कृतार्थ हो गया, अब मुझे आपका क्या कार्य करना होगा सो कहिये, उसे मैं (इस समय) पूर्ण करूँ"॥ ८॥

तब नारदजीने भक्तवत्सल भगवान् रामसे कहा—"हे राम! आप सामान्य मनुष्योंके-से इन वाक्योंसे मुझे क्यों मोहित कर रहे हैं॥ ९॥

संसार्यहमिति प्रोक्तं सत्यमेतत्त्वया विभो ।
जगतामादिभूता या सा माया गृहिणी तव ॥ १० ॥

त्वत्सन्निकर्षाज्जायन्ते तस्यां ब्रह्मादयः प्रजाः ।
त्वदाश्रया सदा भाति माया या त्रिगुणात्मिका ॥ ११ ॥

सूतेऽजस्रं शुक्लकृष्णलोहिताः सर्वदा प्रजाः ।
लोकत्रयमहागेहे गृहस्थस्त्वमुदाहृतः ॥ १२ ॥

त्वं विष्णुर्जानकी लक्ष्मीः शिवस्त्वं जानकी शिवा ।
ब्रह्मा त्वं जानकी वाणी सूर्यस्त्वं जानकी प्रभा ॥ १३ ॥

भवान् शशाङ्कः सीता तु रोहिणी शुभलक्षणा ।
शक्रस्त्वमेव पौलोमी सीता स्वाहानलो भवान् ॥ १४ ॥

यमस्त्वं कालरूपश्च सीता संयमिनी प्रभो ।
निर्ऋतिस्त्वं जगन्नाथ तामसी जानकी शुभा ॥ १५ ॥

राम त्वमेव वरुणो भार्गवी जानकी शुभा ।
वायुस्त्वं राम सीता तु सदागतिरितीरिता ॥ १६ ॥

कुबेरस्त्वं राम सीता सर्वसंपत्प्रकीर्तिता ।
रुद्राणी जानकी प्रोक्ता रुद्रस्त्वं लोकनाशकृत् ॥ १७ ॥

लोके स्त्रीवाचकं यावत्तत्सर्वं जानकी शुभा ।
पुन्नामवाचकं यावत्तत्सर्वं त्वं हि राघव ॥ १८ ॥

तस्माल्लोकत्रये देव युवाभ्यां नास्ति किञ्चन ॥ १९ ॥

त्वदाभासोदिताज्ञानमव्याकृतमितीर्यते ।
तस्मान्महांस्ततः सूत्रं लिङ्गं सर्वात्मकं ततः ॥ २० ॥

अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पञ्चप्राणेन्द्रियाणि च ।
लिङ्गमित्युच्यते प्राज्ञैर्जन्ममृत्युसुखादिमत् ॥ २१ ॥

स एव जीवसंज्ञश्च लोके भाति जगन्मयः ।
अवाच्यानाद्यविद्यैव कारणोपाधिरुच्यते ॥ २२ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमुपाधित्रितयं चितेः ।
एतैर्विशिष्टो जीवः स्याद्वियुक्तः परमेश्वरः ॥ २३ ॥

हे विभो ! आपने जो यह कहा कि 'मैं संसारी हूँ' सो ठीक ही है, क्योंकि सम्पूर्ण संसारकी जो आदिकारण है वह माया आपकी गृहिणी है ॥ १० ॥ हे प्रभो ! आपकी सन्निधिमात्रसे ही उस मायासे ब्रह्मा आदि सब प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं, वह सत्त्व-रज-तमोमयी त्रिगुणात्मिका माया सदा आपके आश्रित होकर ही भासमान होती है तथा स्वगुणानुरूप शुक्ल, लोहित और कृष्णवर्ण प्रजा उत्पन्न करती है। इस त्रिलोकीरूप महागृहके आप गृहस्थ कहे गये हैं ॥ ११-१२ ॥ आप भगवान् विष्णु हैं और जानकीजी लक्ष्मीजी हैं; आप शिव हैं और जानकीजी पार्वती हैं। आप ब्रह्मा हैं और जानकीजी सरस्वती हैं तथा आप सूर्यदेव हैं और जानकीजी प्रभा हैं ॥ १३ ॥ आप चन्द्रमा हैं, शुभलक्षणा सीताजी रोहिणी हैं; आप इन्द्र हैं और सीता पुलोम-कन्या शची हैं तथा आप अग्नि हैं और सीताजी स्वाहा हैं ॥ १४ ॥ हे प्रभो ! आप सबके कालरूप यम हैं और सीता संयमिनी हैं, हे जगन्नाथ ! आप निर्ऋति हैं और जानकीजी तामसी हैं ॥ १५ ॥ हे राम ! आप वरुण हैं और शुभलक्षणा जानकी भृगु-कन्या वारुणी हैं, आप वायु हैं तथा सीताजी सदागति हैं ॥ १६ ॥ हे राम ! आप कुबेर हैं और सीताजी उनकी सब सम्पत्ति हैं तथा आप लोकसंहारकारी रुद्र हैं और सीताजी रुद्राणी कहलाती हैं ॥ १७ ॥ हे राघव ! निःसन्देह संसारमें जो कुछ पुरुषवाचक है वह सब आप हैं और स्त्रीवाचक सब श्रीजानकीजी हैं; अतः हे देव ! त्रिलोकीमें आप दोनोंसे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ॥ १८-१९ ॥ आपहीके आभाससे प्रकट हुआ अज्ञान अव्याकृत कहलाता है, उससे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) और सूत्रात्मासे सर्वात्मक लिङ्गदेह उत्पन्न होता है ॥ २० ॥ अहंकार, बुद्धि, पञ्चप्राण और दस इन्द्रियाँ इनके समूहको ही प्राज्ञजन जन्म, मृत्यु और सुख-दुःखादि धर्मोंवाला लिङ्गदेह बताते हैं ॥ २१ ॥ वह (लिङ्गदेहाभिमानी चेतनाभास) ही जगत्‌में तन्मय हुआ जीव नामसे विख्यात है। अनिर्वचनीय और अनादि अविद्या ही (इस जीवकी) कारण-उपाधि कही जाती है ॥ २२ ॥ शुद्ध चेतनकी स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन उपाधियाँ हैं। इन उपाधियोंसे युक्त होनेसे वह जीव कहलाता है और इससे रहित होनेसे परमेश्वर कहा जाता है ॥ २३ ॥

जाग्रत्स्वप्रसुषुप्त्याख्या संसृतिर्या प्रवर्तते ।
तस्या विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रस्त्वं रघूत्तम ॥ २४ ॥

त्वत्त एव जगज्जातं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
त्वय्येव लीयते कृत्स्नं तस्मात्त्वं सर्वकारणम् ॥ २५ ॥

रज्जावहिमिवात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं भवेत् ।
परात्माहमिति ज्ञात्वा भयदुःखैर्विमुच्यते ॥ २६ ॥

चिन्मात्रज्योतिषा सर्वाः सर्वदेहेषु बुद्धयः ।
त्वया यस्मात्प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो भवान् ॥ २७ ॥

अज्ञानान्न्यस्यते सर्वं त्वयि रज्जौ भुजङ्गवत् ।
त्वज्ज्ञानाल्लीयते सर्वं तस्माज्ज्ञानं सदाभ्यसेत् ॥ २८ ॥

त्वत्पादभक्तियुक्तानां विज्ञानं भवति क्रमात् ।
तस्मात्त्वद्भक्तियुक्ता ये मुक्तिभाजस्त एव हि ॥ २९ ॥

अहं त्वद्भक्तभक्तानां तद्भक्तानां च किङ्करः ।
अतो मामनुगृह्णीष्व मोहयस्व न मां प्रभो ॥ ३० ॥

त्वन्नाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा मे जनकः प्रभो ।
अतस्तवाहं पौत्रोऽस्मि भक्तं मां पाहि राघव ॥ ३१ ॥

इत्युक्त्वा बहुशो नत्वा स्वानन्दाश्रुपरिप्लुतः ।
उवाच वचनं राम ब्रह्मणा नोदितोऽस्म्यहम् ॥ ३२ ॥

रावणस्य वधार्थाय जातोऽसि रघुसत्तम ।
इदानीं राज्यरक्षार्थं पिता त्वामभिषेक्ष्यति ॥ ३३ ॥

यदि राज्याभिसंसक्तो रावणं न हनिष्यसि ।
प्रतिज्ञा ते कृता राम भूभारहरणाय वै ॥ ३४ ॥

तत्सत्यं कुरु राजेन्द्र सत्यसंधस्त्वमेव हि ।
श्रुत्वैतद्गदितं रामो नारदं प्राह सस्मितम् ॥ ३५ ॥

शृणु नारद मे किञ्चिद्विद्यतेऽविदितं क्वचित् ।
प्रतिज्ञातं च यत्पूर्वं करिष्ये तन्न संशयः ॥ ३६ ॥

हे रघुश्रेष्ठ ! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ऐसी जो तीन प्रकारकी सृष्टि है उससे आप विलक्षण हैं और उसके चेतनमात्र साक्षी हैं ॥ २४ ॥ यह सम्पूर्ण जगत् आपहीसे उत्पन्न हुआ है, आपहीमें स्थित है और आपहीमें लीन होता है। इसलिये आप ही सबके कारण हैं ॥ २५ ॥ रज्जुमें सर्प-भ्रमके समान अपनेको जीव माननेसे मनुष्यको भय होता है, पर वही जब यह समझ लेता है कि 'मैं परमात्मा हूँ' तो सम्पूर्ण भय और दुःखोंसे छूट जाता है ॥ २६ ॥ क्योंकि चिन्मात्र ज्योतिःस्वरूप आप ही सबके शरीरोंमें स्थित होकर उनकी बुद्धियोंको प्रकाशित कर रहे हैं इसलिये आप ही सबके आत्मा हैं ॥ २७ ॥ रज्जुमें सर्प-भ्रमके समान अज्ञानसे ही आपमें सम्पूर्ण जगत्‌की कल्पना की जाती है, सो आपका ज्ञान होनेसे वह सब लीन हो जाती है। सुतरां मनुष्यको सदा ज्ञानका अभ्यास करना चाहिये ॥ २८ ॥ आपके चरणकमलोंकी भक्तिसे युक्त पुरुषोंको ही क्रमशः ज्ञानकी प्राप्ति होती है, अतः जो पुरुष आपकी भक्तिसे युक्त हैं वे ही वास्तवमें मुक्तिके पात्र हैं ॥ २९ ॥ हे प्रभो ! मैं आपके भक्तोंके भक्त और उनके भी भक्तोंका दास हूँ, अतः आप मुझे मोहित न कर मुझपर अनुग्रह कीजिये ॥ ३० ॥ हे प्रभो ! आपके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए ब्रह्माजी मेरे पिता हैं, अतः मैं आपका पौत्र हूँ। हे राघव ! आप मुझ भक्तकी रक्षा कीजिये'' ॥ ३१ ॥

इस प्रकार कहकर और बारम्बार प्रणाम कर श्रीनारदजीने नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भरकर कहा—''हे रघुश्रेष्ठ ! मुझे ब्रह्माजीने आपके पास भेजा है; आपका अवतार रावणका वध करनेके लिये हुआ है, किन्तु अब पिता दशरथ आपको राज्यशासनके लिये अभिषिक्त करनेवाले हैं ॥ ३२-३३ ॥ हे राम ! यदि राज्यमें आसक्त होकर आप रावणको न मारेंगे तो पृथिवीका भार उतारनेके लिये जो आपने प्रतिज्ञा की थी उसका क्या होगा ! ॥ ३४ ॥ अतः हे राजेन्द्र ! आप उसे सत्य कीजिये क्योंकि आप सत्यप्रतिज्ञ ही हैं।''

नारदजीके ये वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने मुसकराकर कहा ॥ ३५ ॥ ''नारदजी ! सुनिये, क्या कोई ऐसी बात भी है जिसे मैं न जानता होऊँ ! मैंने पहले जो कुछ प्रतिज्ञा की है वह मैं निस्सन्देह पूर्ण करूँगा ॥ ३६ ॥

किन्तु कालानुरोधेन तत्तत्प्रारब्धसंक्षयात्।
हरिष्ये सर्वभूभारं क्रमेणासुरमण्डलम्॥ ३७॥

रावणस्य विनाशार्थं श्वो गन्ता दण्डकाननम्।
चतुर्दश समास्तत्र ह्युषित्वा मुनिवेषधृक्॥ ३८॥

सीतामिषेण तं दुष्टं सकुलं नाशयाम्यहम्।
एवं रामे प्रतिज्ञाते नारदः प्रमुमोद ह॥ ३९॥

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा दण्डवत्प्रणिपत्य तम्।
अनुज्ञातश्च रामेण ययौ देवगतिं मुनिः॥ ४०॥

संवादं पठति शृणोति संस्मरेद्वा
यो नित्यं मुनिवररामयोः स भक्त्या।
संप्राप्नोत्यमरसुदुर्लभं विमोक्षं
कैवल्यं विरतिपुरःसरं क्रमेण॥ ४१॥

किन्तु कालक्रमसे जिन-जिनका प्रारब्ध क्षीण होता जायगा उन-उन दैत्योंको ही मारकर मैं क्रमशः पृथिवीका भार उतारूँगा॥ ३७॥ रावणका वध करनेके लिये मैं कल दण्डकारण्यको जाऊँगा और वहाँ चौदह वर्ष मुनिवेष धारण कर रहूँगा॥ ३८॥ उस दुष्टको सीता-हरणके मिषसे मैं कुटुम्बके सहित नष्ट कर दूँगा।''

रामचन्द्रजीके इस प्रकार प्रतिज्ञा करनेपर नारदजी अति प्रसन्न हुए॥ ३९॥ तदनन्तर उन्होंने रामजीकी तीन परिक्रमाएँ कीं और उन्हें दण्डवत्-प्रणाम कर उनकी आज्ञा ले आकाश-मार्गसे देवलोकको चले गये॥ ४०॥ जो मनुष्य नारद और रामचन्द्रजीके इस संवादको नित्य भक्तिपूर्वक पढ़ता, सुनता या स्मरण करता है वह वैराग्यपूर्वक क्रमशः देवताओंको अत्यन्त दुर्लभ कैवल्य मोक्षपद प्राप्त कर लेता है॥ ४१॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अयोध्याकाण्डे प्रथमः सर्गः॥ १॥

द्वितीय सर्ग

राज्याभिषेककी तैयारी तथा वसिष्ठजी और रघुनाथजीका संवाद

महादेव उवाच

अथ राजा दशरथः कदाचिद्रहसि स्थितः।
वसिष्ठं स्वकुलाचार्यमाहूयेदमभाषत॥ १॥

भगवन् राममखिलाः प्रशंसन्ति मुहुर्मुहुः।
पौराश्च निगमा वृद्धा मन्त्रिणश्च विशेषतः॥ २॥

ततः सर्वगुणोपेतं रामं राजीवलोचनम्।
ज्येष्ठं राज्येऽभिषेक्ष्यामि वृद्धोऽहं मुनिपुङ्गव॥ ३॥

भरतो मातुलं द्रष्टुं गतः शत्रुघ्नसंयुतः।
अभिषेक्ष्ये श्व एवाशु भवांस्तच्चानुमोदताम्॥ ४॥

सम्भाराः सम्भ्रियन्तां च गच्छ मन्त्रय राघवम्।
उच्छ्रीयन्तां पताकाश्च नानावर्णाः समन्ततः॥ ५॥

श्रीमहादेवजी बोले—एक दिन एकान्तमें बैठे हुए राजा दशरथने अपने कुल-पुरोहित वसिष्ठजीको बुलाकर कहा॥ १॥ ''भगवन्! सभी पुरवासी, वेदार्थाभिज्ञ बड़े-बूढ़े और मन्त्रिजन रामकी विशेषतया बारम्बार प्रशंसा किया करते हैं॥ २॥ इसलिये हे मुनिश्रेष्ठ! मेरा विचार है कि मैं अपने सर्वगुणसम्पन्न ज्येष्ठ पुत्र कमलनयन रामको राज्यपदपर अभिषिक्त कर दूँ क्योंकि मैं अब वृद्ध हो गया हूँ॥ ३॥ इस समय भरत शत्रुघ्नके साथ अपने मामाके यहाँ मिलने गया है, तथापि मैं कल शीघ्र ही रामका राज्याभिषेक करना चाहता हूँ। इस विषयमें आप भी अपनी सम्मति दे दीजिये॥ ४॥ हे मुनिश्रेष्ठ! आप अभिषेककी सामग्री एकत्रित कराइये और रघुनाथजीके पास जाकर उनको यथोचित सम्मति दीजिये। इस समय नगरमें सब ओर रंग-बिरंगी झंडियाँ लगायी जानी

तोरणानि विचित्राणि स्वर्णमुक्तामयानि वै ।
आहूय मन्त्रिणं राजा सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तमम् ॥ ६ ॥

आज्ञापयति यद्यत्त्वां मुनिस्तत्तत्समानय ।
यौवराज्येऽभिषेक्ष्यामि श्वोभूते रघुनन्दनम् ॥ ७ ॥

तथेति हर्षात्स मुनिं किं करोमीत्यभाषत ।
तमुवाच महातेजा वसिष्ठो ज्ञानिनां वरः ॥ ८ ॥

श्वः प्रभाते मध्यकक्षे कन्यकाः स्वर्णभूषिताः ।
तिष्ठन्तु षोडश गजः स्वर्णरत्नादिभूषितः ॥ ९ ॥

चतुर्दन्तः समायातु ऐरावतकुलोद्भवः ।
नानातीर्थोदकैः पूर्णाः स्वर्णकुम्भाः सहस्रशः ॥ १० ॥

स्थाप्यन्तां नववैयाघ्रचर्माणि त्रीणि चानय ।
श्वेतच्छत्रं रत्नदण्डं मुक्तामणिविराजितम् ॥ ११ ॥

दिव्यमाल्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
मुनयः सत्कृतास्तत्र तिष्ठन्तु कुशपाणयः ॥ १२ ॥

नर्तक्यो वारमुख्याश्च गायका वेणुकास्तथा ।
नानावादित्रकुशला वादयन्तु नृपाङ्गणे ॥ १३ ॥

हस्त्यश्वरथपादाता बहिस्तिष्ठन्तु सायुधाः ।
नगरे यानि तिष्ठन्ति देवतायतनानि च ॥ १४ ॥

तेषु प्रवर्ततां पूजा नानाबलिभिरादृता ।
राजानः शीघ्रमायान्तु नानोपायनपाणयः ॥ १५ ॥

इत्यादिश्य मुनिः श्रीमान् सुमन्त्रं नृपमन्त्रिणम् ।
स्वयं जगाम भवनं राघवस्यातिशोभनम् ॥ १६ ॥

रथमारुह्य भगवान्वसिष्ठो मुनिसत्तमः ।
त्रीणि कक्षाण्यतिक्रम्य रथात्क्षितिमवातरत् ॥ १७ ॥

अन्तः प्रविश्य भवनं स्वाचार्यत्वादवारितः ।
गुरुमागतमाज्ञाय रामस्तूर्णं कृताञ्जलिः ॥ १८ ॥

प्रत्युद्गम्य नमस्कृत्य दण्डवद् भक्तिसंयुतः ।
स्वर्णपात्रेण पानीयमानिनायाशु जानकी ॥ १९ ॥

चाहिये ॥ ५ ॥ तथा चित्र-विचित्र सुवर्ण और मोतियोंके तोरण (झालर) बाँधे जाने चाहिये।'' उसी समय राजाने मन्त्रिश्रेष्ठ सुमन्त्रको बुलाकर आज्ञा दी कि मैं कल रघुनाथजीको युवराज-पदपर अभिषिक्त करूँगा, उसके लिये मुनिवर वसिष्ठजी जो-जो सामग्री बतायें वह सब एकत्रित करो ॥ ६-७ ॥

राजा दशरथसे 'बहुत अच्छा' कह सुमन्त्रने हर्षपूर्वक मुनिवरसे कहा कि 'मैं क्या करूँ ?' तब ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी वसिष्ठजीने उससे कहा— ॥ ८ ॥ ''कल प्रातःकाल मध्यद्वारपर सुवर्ण-भूषण-भूषित सोलह कन्याएँ खड़ी रहनी चाहिये; तथा सुवर्ण और रत्न आदिसे विभूषित ऐरावतके कुलमें उत्पन्न एक चार दाँतोंवाला हाथी रहना चाहिये; नाना तीर्थोंके जलसे पूर्ण हजारों सुवर्ण कलश मँगवाये जायँ ॥ ९-१० ॥ तीन नवीन व्याघ्र-चर्म लाकर रखो और मुक्तामणि-सुशोभित रत्नदण्डयुक्त एक श्वेत छत्र लाओ ॥ ११ ॥ अनेकों दिव्य मालाएँ, दिव्य वस्त्र और दिव्य आभूषण लाकर रखे जाने चाहिये तथा अभिषेक-स्थानपर भली प्रकार सम्मान किये हुए अनेकों मुनिजन हाथमें कुशा लिये हुए उपस्थित रहें ॥ १२ ॥ अनेकों नर्तकियाँ, मुख्य-मुख्य वाराङ्गनाएँ, गायक, वेणुवादक तथा कुशल बाजे बजानेवाले महाराज दशरथके आँगनमें गाना-बजाना करें ॥ १३ ॥ अभिषेक-स्थानके बाहर हाथी, घोड़े, रथ और पदाति यह चतुरंगिणी सेना अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर खड़ी रहे। नगरमें जितने देवालय हैं उन सबमें नाना प्रकारकी बलि-सामग्रीसे देवोंकी पूजा की जाय तथा राजालोग शीघ्र ही नाना प्रकारकी भेंटें लेकर आवें'' ॥ १४-१५ ॥

राजमन्त्री सुमन्त्रको इस प्रकार आज्ञा दे श्रीमान् वसिष्ठजी स्वयं श्रीरघुनाथजीके परम सुन्दर महलमें गये ॥ १६ ॥ मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीने रथपर चढ़कर रघुनाथजीके महलकी तीन पौरियाँ पार कीं और फिर पृथिवीपर उतर पड़े ॥ १७ ॥ तदनन्तर आचार्य होनेके कारण बिना रोक-टोकके वे भीतर चले गये। उस समय गुरुजीको आये देख रामचन्द्रजीने तुरंत हाथ जोड़कर उनका स्वागत किया और भक्तिपूर्वक दण्डवत्-प्रणाम किया। उसी समय सीताजी सुवर्णके पात्रमें जल ले आयीं ॥ १८-१९ ॥

रत्नासने समावेश्य पादौ प्रक्षाल्य भक्तितः ।
तदपः शिरसा धृत्वा सीतया सह राघवः ॥ २० ॥

धन्योऽस्मीत्यब्रवीद्रामस्तव पादाम्बुधारणात् ।
श्रीरामेणैवमुक्तस्तु प्रहसन्मुनिरब्रवीत् ॥ २१ ॥

त्वत्पादसलिलं धृत्वा धन्योऽभूद्गिरिजापतिः ।
ब्रह्मापि मत्पिता ते हि पादतीर्थहताशुभः ॥ २२ ॥

इदानीं भाषसे यत्त्वं लोकानामुपदेशकृत् ।
जानामि त्वां परात्मानं लक्ष्म्या संजातमीश्वरम् ॥ २३ ॥

देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं भक्तानां भक्तिसिद्धये ।
रावणस्य वधार्थाय जातं जानामि राघव ॥ २४ ॥

तथापि देवकार्यार्थं गुह्यं नोद्घाटयाम्यहम् ।
यथा त्वं मायया सर्वं करोषि रघुनन्दन ॥ २५ ॥

तथैवानुविधास्येऽहं शिष्यस्त्वं गुरुरप्यहम् ।
गुरुर्गुरूणां त्वं देव पितॄणां त्वं पितामहः ॥ २६ ॥

अन्तर्यामी जगद्यात्रावाहकस्त्वमगोचरः ।
शुद्धसत्त्वमयं देहं धृत्वा स्वाधीनसम्भवम् ॥ २७ ॥

मनुष्य इव लोकेऽस्मिन् भासि त्वं योगमायया ।
पौरोहित्यमहं जाने विगर्ह्यं दूष्यजीवनम् ॥ २८ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले रामः परमात्मा जनिष्यते ।
इति ज्ञातं मया पूर्वं ब्रह्मणा कथितं पुरा ॥ २९ ॥

ततोऽहमाशया राम तव सम्बन्धकाङ्क्षया ।
अकार्षं गर्हितमपि तवाचार्यत्वसिद्धये ॥ ३० ॥

ततो मनोरथो मेऽद्य फलितो रघुनन्दन ।
त्वदधीना महामाया सर्वलोकैकमोहिनी ॥ ३१ ॥

मां यथा मोहयेन्नैव तथा कुरु रघूद्वह ।
गुरुनिष्कृतिकामस्त्वं यदि देह्येतदेव मे ॥ ३२ ॥

तब रघुनाथजीने गुरुजीको रत्नसिंहासनपर बैठाकर उनके चरण धोये और सीताजीके सहित उस चरणोदकको भक्तिपूर्वक अपने सिरपर रखकर कहा—"हे मुने! आपके चरणोदकको धारणकर आज मैं कृतकृत्य हो गया।" भगवान् रामके इस प्रकार कहनेपर मुनिवर वसिष्ठने हँसकर कहा ॥ २०-२१ ॥ "हे राम! आपके पादोदकको मस्तकपर धारणकर पार्वतीवल्लभ भगवान् शंकर धन्य-धन्य हो गये तथा मेरे पिता ब्रह्माजी भी आपके पादतीर्थका सेवन करनेसे ही निष्पाप हो गये हैं ॥ २२ ॥ इस समय केवल संसारको यह उपदेश करनेके लिये ही कि 'गुरुके साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये' आप इस प्रकार सम्भाषण कर रहे हैं। मैं भली प्रकार जानता हूँ आप लक्ष्मीके सहित प्रकट हुए साक्षात् परमात्मा विष्णु हैं ॥ २३ ॥ हे राघव! मैं जानता हूँ आपने देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये, भक्तोंकी भक्ति सफल करनेके लिये और रावणका वध करनेके लिये ही अवतार लिया है ॥ २४ ॥ तथापि देवताओंकी कार्य-सिद्धिके लिये मैं इस गुप्त रहस्यको प्रकट नहीं करता। हे रघुनन्दन! जिस प्रकार मायाके आश्रयसे आप सब कार्य करेंगे उसी प्रकार मैं भी 'तुम शिष्य हो और मैं गुरु हूँ' इस सम्बन्धके अनुकूल व्यवहार करूँगा। किन्तु हे देव! वास्तवमें तो आप ही गुरुओंके गुरु और पितृगणोंके भी पितामह हैं ॥ २५-२६ ॥ आप अन्तर्यामी, जगद्व्यवहारके प्रवर्त्तक और मन-वाणीके अविषय हैं; और स्वेच्छासे यह शुद्ध सत्त्वमय शरीर धारणकर इस लोकमें अपनी योगमायासे मनुष्यके समान प्रतीत होते हैं। मैं यह जानता हूँ कि पुरोहिताई अति निन्दनीय और दूषित जीविका है ॥ २७-२८ ॥ तो भी जब पूर्वकालमें ब्रह्माजीके कहनेसे मुझे यह मालूम हुआ कि इक्ष्वाकुवंशमें परमात्मा राम अवतार लेंगे ॥ २९ ॥ तब हे राम! आपसे सम्बन्ध जोड़नेकी इच्छासे आपका आचार्य बननेके लिये इस निन्दनीय पदको भी मैंने स्वीकार कर लिया ॥ ३० ॥ हे रघुनन्दन! आज मेरी इच्छा पूर्ण हो गयी। अब यदि आप गुरु-ऋणसे उऋण होना चाहते हैं तो मुझे यही दीजिये कि आपके अधीन रहनेवाली आपकी सर्वलोकविमोहिनी महामाया मुझे मोहित न करे ॥ ३१-३२ ॥

प्रसङ्गात्सर्वमप्युक्तं न वाच्यं कुत्रचिन्मया ।
राज्ञा दशरथेनाहं प्रेषितोऽस्मि रघूद्वह ॥ ३३ ॥

त्वामामन्त्रयितुं राज्ये श्वोऽभिषेक्ष्यति राघव ।
अद्य त्वं सीतया सार्धमुपवासं यथाविधि ॥ ३४ ॥

कृत्वा शुचिर्भूमिशायी भव राम जितेन्द्रियः ।
गच्छामि राजसान्निध्यं त्वं तु प्रातर्गमिष्यसि ॥ ३५ ॥

इत्युक्त्वा रथमारुह्य ययौ राजगुरुर्द्रुतम् ।
रामोऽपि लक्ष्मणं दृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ३६ ॥

सौमित्रे यौवराज्ये मे श्वोऽभिषेको भविष्यति ।
निमित्तमात्रमेवाहं कर्ता भोक्ता त्वमेव हि ॥ ३७ ॥

मम त्वं हि बहिःप्राणो नात्र कार्या विचारणा ।
ततो वसिष्ठेन यथा भाषितं तत्तथाकरोत् ॥ ३८ ॥

वसिष्ठोऽपि नृपं गत्वा कृतं सर्वं न्यवेदयत् ।
वसिष्ठस्य पुरो राज्ञा ह्युक्तं रामाभिषेचनम् ॥ ३९ ॥

यदा तदैव नगरे श्रुत्वा कश्चित्पुमान् जगौ ।
कौसल्यायै राममात्रे सुमित्रायै तथैव च ॥ ४० ॥

श्रुत्वा ते हर्षसम्पूर्णे ददतुर्हारमुत्तमम् ।
तस्मै ततः प्रीतमनाः कौसल्या पुत्रवत्सला ॥ ४१ ॥

लक्ष्मीं पर्यचरद्देवीं रामस्यार्थप्रसिद्धये ।
सत्यवादी दशरथः करोत्येव प्रतिश्रुतम् ॥ ४२ ॥

कैकेयीवशगः किन्तु कामुकः किं करिष्यति ।
इति व्याकुलचित्ता सा दुर्गां देवीमपूजयत् ॥ ४३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवा देवीं वाणीमचोदयन् ।
गच्छ देवि भुवो लोकमयोध्यायां प्रयत्नतः ॥ ४४ ॥

रामाभिषेकविघ्नार्थं यतस्व ब्रह्मवाक्यतः ।
मन्थरां प्रविशस्वादौ कैकेयीं च ततः परम् ॥ ४५ ॥

हे रघुश्रेष्ठ ! इस समय प्रसंगवश मैंने ये सब बातें आपसे कह दी हैं, मैं ऐसा और कहीं भी न कहूँगा। हे राघव ! महाराज दशरथने इस बातकी सूचना देनेके लिये कि कल वे आपको राजपदपर अभिषिक्त करेंगे—मुझे आपके पास भेजा है। आज आप सीताके सहित विधिपूर्वक उपवास और शुद्धता तथा इन्द्रियजयपूर्वक पृथिवीपर शयन करें। अब मैं राजाके पास जाता हूँ, आप कल प्रातःकाल वहाँ पधारें" ॥ ३३—३५ ॥

ऐसा कह राजपुरोहित वसिष्ठजी रथपर चढ़कर तुरंत ही चले गये। तब रामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीकी ओर देखकर हँसते हुए कहा— ॥ ३६ ॥ "हे सुमित्रानन्दन ! कल मेरा युवराज-पदपर अभिषेक होगा, सो मैं तो केवल निमित्त-मात्र ही होऊँगा, उसके कर्ता-भोक्ता तो तुम्हीं होगे ॥ ३७ ॥ क्योंकि मेरे बाह्यप्राण तो तुम्हीं हो—इसमें कोई विशेष सोच-विचारकी आवश्यकता नहीं है।" तदनन्तर वसिष्ठजी जैसा कह गये थे रघुनाथजीने वैसा ही किया ॥ ३८ ॥ इधर वसिष्ठजीने भी राजा दशरथके पास आकर जो कुछ कियां था, सो सब सुना दिया। जिस समय महाराज दशरथ वसिष्ठजीसे रामचन्द्रजीके अभिषेकके विषयमें कह रहे थे उसी समय किसी पुरुषने यह समाचार सुनकर सम्पूर्ण नगरमें सुना दिया और राममाता कौसल्या तथा सुमित्राको भी यह सूचना दे दी ॥ ३९-४० ॥ उन दोनोंने सुनते ही अति हर्षपूर्ण हो उसे एक अत्युत्तम हार दिया। तदुपरान्त पुत्रवत्सला कौसल्याने रामचन्द्रजीकी इष्ट-सिद्धिके लिये लक्ष्मीदेवीका पूजन किया। 'राजा दशरथ सत्यवादी हैं और उनके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि वे अपनी प्रतिज्ञाका पालन करते हैं ॥ ४१-४२ ॥ किन्तु वे कामी और कैकेयीके वशीभूत हैं ऐसी अवस्थामें क्या वे इस प्रतिज्ञाको पूर्ण कर सकेंगे !' इस प्रकारकी चिन्तासे व्याकुल होकर वह दुर्गादेवीका पूजन करने लगीं ॥ ४३ ॥

इसी समय देवताओंने सरस्वतीदेवीसे आग्रह किया कि "हे देवि ! तुम यत्नपूर्वक भूलोकमें अयोध्यापुरीमें जाओ ॥ ४४ ॥ और वहाँ ब्रह्माजीकी आज्ञासे रामचन्द्रजीके राज्याभिषेकमें विघ्न उपस्थित करनेके लिये यत्न करो। प्रथम तो तुम मन्थरामें प्रवेश करना और फिर कैकेयीमें ॥ ४५ ॥

ततो विघ्ने समुत्पन्ने पुनरेहि दिवं शुभे।
तथेत्युक्त्वा तथा चक्रे प्रविवेशाथ मन्थराम् ॥ ४६ ॥

सापि कुब्जा त्रिवक्रा तु प्रासादाग्रमथारुहत्।
नगरं परितो दृष्ट्वा सर्वतः समलङ्कृतम् ॥ ४७ ॥

नानातोरणसम्बाधं पताकाभिरलङ्कृतम्।
सर्वोत्सवसमायुक्तं विस्मिता पुनरागमत् ॥ ४८ ॥

धात्रीं पप्रच्छ मातः किं नगरं समलङ्कृतम्।
नानोत्सवसमायुक्ता कौसल्या चातिहर्षिता ॥ ४९ ॥

ददाति विप्रमुख्येभ्यो वस्त्राणि विविधानि च।
तामुवाच तदा धात्री रामचन्द्राभिषेचनम् ॥ ५० ॥

श्वो भविष्यति तेनाद्य सर्वतोऽलङ्कृतं पुरम्।
तच्छ्रुत्वा त्वरितं गत्वा कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ॥ ५१ ॥

पर्यङ्कस्थां विशालाक्षीमेकान्ते पर्यवस्थिताम्।
किं शेषे दुर्भगे मूढे महद्भयमुपस्थितम् ॥ ५२ ॥

न जानीषेऽतिसौन्दर्यमानिनी मत्तगामिनी ॥ ५३ ॥

रामस्यानुग्रहाद्राज्ञः श्वोऽभिषेको भविष्यति।
तच्छ्रुत्वा सहसोत्थाय कैकेयी प्रियवादिनी ॥ ५४ ॥

तस्यै दिव्यं ददौ स्वर्णनूपुरं रत्नभूषितम्।
हर्षस्थाने किमिति मे कथ्यते भयमागतम् ॥ ५५ ॥

भरतादधिको रामः प्रियकृन्मे प्रियंवदः।
कौसल्यां मां समं पश्यन् सदा शुश्रूषते हि माम् ॥ ५६ ॥

रामाद्भयं किमापन्नं तव मूढे वदस्व मे।
तच्छ्रुत्वा विषसादाथ कुब्जाकारणवैरिणी ॥ ५७ ॥

शृणु मद्वचनं देवि यथार्थं ते महद्भयम्।
त्वां तोषयन् सदा राजा प्रियवाक्यानि भाषते ॥ ५८ ॥

हे शुभे ! इस प्रकार विघ्न उपस्थित हो जानेपर तुम फिर स्वर्गलोकको लौट आना।'' इसपर सरस्वतीने 'बहुत अच्छा' कहकर वैसा ही किया और प्रथम मन्थरामें प्रवेश किया ॥ ४६ ॥

तब तीन स्थानमें टेढ़ी वह कुबड़ी मन्थरा महलकी अट्टालिकापर चढ़ी और उसने देखा कि नगर सब ओरसे सजाया गया है ॥ ४७ ॥ उसमें नाना प्रकारकी बन्दनवारें बँधी हुई हैं, चित्र-विचित्र पताकाएँ सुशोभित हो रही हैं और सब ओर उत्सव हो रहे हैं। यह देखकर वह अत्यन्त विस्मिता हो नीचे उतर आयी ॥ ४८ ॥ और धायसे पूछा—''मैया ! आज नगर क्यों सजाया गया है और महारानी कौसल्या भी नाना प्रकारसे उत्सव मनाती हुई अत्यन्त हर्षपूर्वक उत्तमोत्तम ब्राह्मणोंको विविध वस्त्राभूषण क्यों दे रही हैं!'' तब धायने उससे कहा—''कल श्रीरामजीका राज्याभिषेक होगा, इसीलिये आज सब ओरसे नगर सजाया गया है।'' यह सुनते ही उसने तुरंत ही कैकेयीके पास जाकर कहा ॥ ४९—५१ ॥ विशालाक्षी कैकेयी उस समय एकान्तमें पलंगपर बैठी थी, उससे मन्थरा बोली—''अयि अभागिनि मूढे ! कैसे सो रही हो, तुम्हारे लिये बड़ा भारी सङ्कट उपस्थित हुआ है ॥ ५२ ॥ हे मतवाली चालवाली ! तुम्हें अपनी सुन्दरताका बड़ा घमण्ड है इसीलिये तुम्हें किसी बातका पता ही नहीं रहता ॥ ५३ ॥ देखो, महाराजकी कृपासे कल रामका राज्याभिषेक होनेवाला है।''

यह सुनकर प्रियवादिनी कैकेयी सहसा उठ खड़ी हुई ॥ ५४ ॥ और उसे अति दिव्य रत्नजटित सुवर्णनूपुर देकर कहा, ''अरी ! यह तो बड़े आनन्दकी बात है, इसमें तू संकट उपस्थित हुआ कैसे बतलाती है ॥ ५५ ॥ राम तो भरतकी अपेक्षा मेरा अधिक प्रिय करनेवाला और मधुरभाषी है, वह तो कौसल्या तथा मुझे समान भावसे देखता हुआ सदा ही मेरी सेवा किया करता है ॥ ५६ ॥ अरी मूर्खे ! तू यह तो बता कि तुझे रामसे क्या भय उपस्थित हुआ है ?''

यह सुनकर बिना कारण वैर करनेवाली मन्थरा विषाद करने लगी ॥ ५७ ॥ और बोली, ''देवि ! मेरी बात सुनो, वास्तवमें तुम्हारे लिये बड़ा संकट उपस्थित हुआ है। राजा तुम्हें सन्तुष्ट करनेके लिये ही सदा चिकनी-चुपड़ी

कामुकोऽतथ्यवादी च त्वां वाचा परितोषयन्।
कार्यं करोति तस्या वै राममातुः सुपुष्कलम्॥ ५९॥

मनस्येतन्निधायैव प्रेषयामास ते सुतम्।
भरतं मातुलकुले प्रेषयामास सानुजम्॥ ६०॥

सुमित्रायाः समीचीनं भविष्यति न संशयः।
लक्ष्मणो राममन्वेति राज्यं सोऽनुभविष्यति॥ ६१॥

भरतो राघवस्याग्रे किङ्करो वा भविष्यति।
विवास्यते वा नगरात्प्राणैर्वा हाप्यतेऽचिरात्॥ ६२॥

त्वं तु दासीव कौसल्यां नित्यं परिचरिष्यसि।
ततोऽपि मरणं श्रेयो यत्सपत्न्याः पराभवः॥ ६३॥

अतः शीघ्रं यतस्वाद्य भरतस्याभिषेचने।
रामस्य वनवासार्थं वर्षाणि नव पञ्च च॥ ६४॥

ततो रूढोऽभये पुत्रस्तव राज्ञि भविष्यति।
उपायं ते प्रवक्ष्यामि पूर्वमेव सुनिश्चितम्॥ ६५॥

पुरा देवासुरे युद्धे राजा दशरथः स्वयम्।
इन्द्रेण याचितो धन्वी सहायार्थं महारथः॥ ६६॥

जगाम सेनया सार्धं त्वया सह शुभानने।
युद्धं प्रकुर्वतस्तस्य राक्षसैः सह धन्विनः॥ ६७॥

तदाक्षकीलो न्यपतच्छिन्नस्तस्य न वेद सः।
त्वं तु हस्तं समावेश्य कीलरन्ध्रेऽतिधैर्यतः॥ ६८॥

स्थितवत्यसितापाङ्गि पतिप्राणपरीप्सया।
ततो हत्वासुरान्सर्वान् ददर्श त्वामरिन्दमः॥ ६९॥

आश्चर्यं परमं लेभे त्वामालिङ्ग्य मुदान्वितः।
वृणीष्व यत्ते मनसि वाञ्छितं वरदोऽस्म्यहम्॥ ७०॥

वरद्वयं वृणीश्व त्वमेवं राजावदत्स्वयम्।
त्वयोक्तो वरदो राजन्यदि दत्तं वरद्वयम्॥ ७१॥

त्वय्येव तिष्ठतु चिरं न्यासभूतं ममानघ।
यदा मेऽवसरो भूयात्तदा देहि वरद्वयम्॥ ७२॥

बातें बना दिया करते हैं॥ ५८॥ वे बड़े कामी और मिथ्यावादी हैं, तुम्हें इस प्रकार केवल बातोंसे ही बहलाकर रामकी माताका ही पूरा-पूरा कार्य किया करते हैं॥ ५९॥ अपने मनमें यही ठानकर उन्होंने छोटे भाई शत्रुघ्नके सहित तुम्हारे पुत्र भरतको ननिहाल भेज दिया है॥ ६०॥ इसमें सुमित्राके लिये तो निस्सन्देह सब कुछ ठीक ही होगा, क्योंकि लक्ष्मण रामके अनुगामी हैं इसलिये वे तो राज्य ही भोगेंगे॥ ६१॥ किन्तु भरतको या तो रामका दास होकर रहना पड़ेगा या उन्हें शीघ्र ही नगरसे निकाल दिया जायगा अथवा उनका प्राणघात किया जायगा॥ ६२॥ और तुम्हें दासीके समान सदा कौसल्याकी सेवा करनी पड़ेगी। इस प्रकार सौतसे अपमानित होकर रहनेकी अपेक्षा तो मरना ही अच्छा है॥ ६३॥ इसलिये अब तुम शीघ्र ही भरतके राज्याभिषेक और रामके चौदह वर्षतक वनवासके लिये प्रयत्न करो॥ ६४॥ हे रानी! ऐसा होनेपर तुम्हारे पुत्र भरत निष्कण्टक राज्यपदपर आरूढ़ हो जायँगे। इसके लिये मैंने जो पहलेसे ही सोच रखा है वह उपाय तुम्हें बताती हूँ॥ ६५॥ पूर्वकालमें देवासुरसंग्रामके समय स्वयं इन्द्रने धनुर्धर महारथी राजा दशरथसे सहायताके लिये प्रार्थना की थी॥ ६६॥ हे सुमुखि! उस समय सेनाके सहित वे तुम्हें साथ लेकर वहाँ गये थे। जिस समय धनुर्धर महाराज दशरथ राक्षसोंसे युद्ध करनेमें निमग्न थे, उस समय उनके बिना जाने रथकी धुरीकी कील टूटकर गिर गयी, तब अत्यन्त धैर्यपूर्वक तुमने अपना हाथ उस कीलके छिद्रमें लगा दिया॥ ६७-६८॥ और हे कृष्णाक्षि! पतिकी प्राणरक्षाके लिये तुम बहुत देरतक इसी स्थितिमें रही। तदनन्तर समस्त दैत्योंको मार चुकनेपर शत्रुदमन महाराज दशरथने तुम्हें देखा॥ ६९॥ तुम्हें ऐसी स्थितिमें देखकर उन्हें अति आश्चर्य हुआ और अति प्रसन्नतासे तुम्हें गले लगाकर वे बोले—"मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ, तुम्हें जो इच्छा हो सो माँग लो॥ ७०॥ इस समय तुम दो वर माँग सकती हो।" राजाके इस प्रकार कहनेपर तुमने कहा—"राजन्! यदि आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे दो वर देना चाहते हैं॥ ७१॥ तो हे अनघ! मेरी यह धरोहर बहुत समयतक आप ही रखिये, जिस समय इनका अवसर आवे उस समय आप ये दोनों वर मुझे दे दीजियेगा"॥ ७२॥

तथेत्युक्त्वा स्वयं राजा मन्दिरं व्रज सुव्रते ।
त्वत्तः श्रुतं मया पूर्वमिदानीं स्मृतिमागतम् ॥ ७३ ॥

अतः शीघ्रं प्रविश्याद्य क्रोधागारं रुषान्विता ।
विमुच्य सर्वाभरणं सर्वतो विनिकीर्य च ।
भूमावेव शयाना त्वं तूष्णीमातिष्ठ भामिनि ॥ ७४ ॥

यावत्सत्यं प्रतिज्ञाय राजाभीष्टं करोति ते ।
श्रुत्वा त्रिवक्रयोक्तं तत्तदा केकयनन्दिनी ॥ ७५ ॥

तथ्यमेवाखिलं मेने दुःसङ्गाहितविभ्रमा ।
तामाह कैकेयी दुष्टा कुतस्ते बुद्धिरीदृशी ॥ ७६ ॥

एवं त्वां बुद्धिसम्पन्नां न जाने वक्रसुन्दरि ।
भरतो यदि राजा मे भविष्यति सुतः प्रियः ॥ ७७ ॥

ग्रामान् शतं प्रदास्यामि मम त्वं प्राणवल्लभा ।
इत्युक्त्वा कोपभवनं प्रविश्य सहसा रुषा ॥ ७८ ॥

विमुच्य सर्वाभरणं परिकीर्य समन्ततः ।
भूमौ शयाना मलिना मलिनाम्बरधारिणी ॥ ७९ ॥

प्रोवाच शृणु मे कुब्जे यावद्रामो वनं व्रजेत् ।
प्राणांस्त्यक्ष्येऽथ वा वक्रे शयिष्ये तावदेव हि ॥ ८० ॥

निश्चयं कुरु कल्याणि कल्याणं ते भविष्यति ।
इत्युक्त्वा प्रययौ कुब्जा गृहं सापि तथाकरोत् ॥ ८१ ॥

धीरोऽत्यन्तदयान्वितोऽपि सगुणा-
चारान्वितो वाथवा
नीतिज्ञो विधिवाददेशिकपरो
विद्याविवेकोऽथवा ।
दुष्टानामतिपापभावितधियां
सङ्गं सदा चेद्भजे-
त्तद्बुद्ध्या परिभावितो व्रजति तत्
साम्यं क्रमेण स्फुटम् ॥ ८२ ॥

अतः सङ्गः परित्याज्यो दुष्टानां सर्वदैव हि ।
दुःसङ्गी च्यवते स्वार्थाद्यथेयं राजकन्यका ॥ ८३ ॥

तब राजाने 'बहुत अच्छा' कहकर तुमसे कहा 'हे सुव्रते ! अब घर चलो ।' महारानीजी ! यह सम्पूर्ण वृत्तान्त पहले तुम्हींसे मैंने सुना था, इस समय मुझे यह स्मरण हो आया है ॥ ७३ ॥ अतः हे भामिनि ! अब तुम शीघ्र ही रोषपूर्वक कोपभवनमें जाओ और अपने समस्त आभूषण उतारकर इधर-उधर बखेर दो तथा जबतक सत्य प्रतिज्ञा-पूर्वक राजा तुम्हारा अभीष्ट कार्य करनेको तत्पर न हों तबतक चुपचाप पृथिवीपर पड़ी रहो ।''

त्रिवक्रा मन्थराकी ये बातें सुनकर दुःसङ्गवश बुद्धि भ्रष्ट हो जानेके कारण दुष्टा कैकेयीने उस समय उसका कथन सर्वथा ठीक मान लिया और उससे कहा—''तुझमें ऐसी बुद्धि कहाँसे आ गयी ? ॥ ७४—७६ ॥ अरी बाँकी सुन्दरी ! मैं तुझे इतनी बुद्धिमती नहीं जानती थी ! यदि मेरा प्रिय पुत्र भरत राजा हो गया तो मैं तुझे सौ गाँव दूँगी; तू तो मुझे प्राणोंके समान प्यारी है ।' ऐसा कहकर कैकेयीने रोषपूर्वक कोपभवनमें प्रवेश किया ॥ ७७-७८ ॥ और अपने सब आभूषण उतारकर इधर-उधर बखेर दिये तथा मैले-कुचैले वस्त्र पहनकर अति मलिन दशामें पृथिवीमें पड़कर बोली, ''अरी कुब्जे ! सुन, जबतक राम वनको न जायँगे, प्राण भले ही छूट जायँ, मैं इसी प्रकार पड़ी रहूँगी'' ॥ ७९-८० ॥

तब कुब्जा यह समझाकर कि 'हे कल्याणि ! तुम निःसन्देह ऐसा ही करना, इससे अवश्य तुम्हारा कल्याण होगा—अपने घर चली गयी और कैकेयीने भी वैसा ही किया ॥ ८१ ॥

सच है, कोई पुरुष अत्यन्त धैर्यवान्, दयालु, सद्गुणी, सदाचारी, नीतिज्ञ, कर्तव्यनिष्ठ और गुरुका भक्त अथवा विद्या-विवेक-सम्पन्न भी क्यों न हो, यदि निरन्तर अत्यन्त पापबुद्धि दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग करेगा तो अवश्य ही क्रमशः उन्हींकी बुद्धिसे प्रभावित होकर उन्हींके समान हो जायगा ॥ ८२ ॥ इसलिये सदा ही दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग छोड़ना चाहिये, क्योंकि दुःसङ्गसे पुरुष इस राजकन्या (कैकेयी) के समान ही पुरुषार्थच्युत हो जाता है ॥ ८३ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अयोध्याकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीय सर्ग

राजा दशरथका कैकेयीको वर देना

श्रीमहादेव उवाच

ततो दशरथो राजा रामाभ्युदयकारणात्।
आदिश्य मन्त्रिप्रकृतीः सानन्दो गृहमाविशत्॥ १ ॥

तत्रादृष्ट्वा प्रियां राजा किमेतदति विह्वलः।
या पुरा मन्दिरं तस्याः प्रविष्टे मयि शोभना॥ २ ॥

हसन्ती मामुपायाति सा किं नैवाद्य दृश्यते।
इत्यात्मन्येव संचिन्त्य मनसातिविदूयता॥ ३ ॥

पप्रच्छ दासीनिकरं कुतो वः स्वामिनी शुभा।
नायाति मां यथापूर्वं मत्प्रिया प्रियदर्शना॥ ४ ॥

ता ऊचुः क्रोधभवनं प्रविष्टा नैव विद्महे।
कारणं तत्र देव त्वं गत्वा निश्चेतुमर्हसि॥ ५ ॥

इत्युक्तो भयसन्त्रस्तो राजा तस्याः समीपगः।
उपविश्य शनैर्देहं स्पृशन्वै पाणिनाब्रवीत्॥ ६ ॥

किं शेषे वसुधापृष्ठे पर्यङ्कादीन् विहाय च।
मां त्वं खेदयसे भीरु यतो मां नावभाषसे॥ ७ ॥

अलङ्कारं परित्यज्य भूमौ मलिनवाससा।
किमर्थं ब्रूहि सकलं विधास्ये तव वाञ्छितम्॥ ८ ॥

को वा तवाहितं कर्ता नारी वा पुरुषोऽपि वा।
स मे दण्ड्यश्च वध्यश्च भविष्यति न संशयः॥ ९ ॥

ब्रूहि देवि यथा प्रीतिस्तदवश्यं ममाग्रतः।
तदिदानीं साधयिष्ये सुदुर्लभमपि क्षणात्॥ १० ॥

जानासि त्वं मम स्वान्तं प्रियं मां स्ववशे स्थितम्।
तथापि मां खेदयसे वृथा तव परिश्रमः॥ ११ ॥

ब्रूहि कं धनिनं कुर्यां दरिद्रं ते प्रियङ्करम्।
धनिनं क्षणमात्रेण निर्धनं च तवाहितम्॥ १२ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—तदनन्तर महाराज दशरथने रामचन्द्रजीके अभ्युदयके लिये प्रजावर्ग और मन्त्रियोंको (माङ्गलिक कार्योंके लिये) आज्ञा देकर आनन्दपूर्वक अपने रनिवासमें प्रवेश किया॥ १॥ वहाँ अपनी प्रिया कैकेयीको न देखकर वे अत्यन्त विह्वल होकर मन-ही-मन कहने लगे, 'क्या कारण है, जो पहले अपने महलमें घुसते ही सदा हँसती हुई मेरे सामने आती थी वह सुमुखी आज दिखायी ही नहीं दे रही है?' अपने चित्तमें अत्यन्त दुःख मानकर इसी प्रकार सोचते-सोचते॥ २-३॥ उन्होंने दासियोंसे पूछा—'आज तुम्हारी शुभलक्षणा स्वामिनी कहाँ है? वह प्रियदर्शना प्रिया आज पूर्ववत् मेरे सामने क्यों नहीं आती?'॥ ४॥

दासियोंने कहा—"देव! कारण तो मालूम नहीं, किन्तु आज वे कोप-भवनमें गयी हुई हैं; आप स्वयं ही वहाँ जाकर सब हाल जान लीजिये"॥ ५॥

दासियोंके इस प्रकार कहनेपर राजा भयभीत होकर उसके पास गये और वहाँ बैठकर उसके शरीरपर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए बोले—॥ ६॥ "अयि भीरु! आज पलंग आदिको छोड़कर इस प्रकार पृथिवीपर क्यों पड़ी हो? तुम हमसे कुछ बोलती नहीं हो, इसमें हमें बड़ा खेद हो रहा है॥ ७॥ समस्त आभूषण छोड़कर तुम मलिन वस्त्र पहने हुए पृथिवीपर क्यों पड़ी हो? तुम्हारी जो इच्छा हो सो कहो, मैं सब पूर्ण करूँगा॥ ८॥ तुम्हारा अनिष्ट करनेवाला कौन है? वह स्त्री हो अथवा पुरुष अवश्य मेरे दण्डका पात्र होगा। यही नहीं, उसका वध भी किया जा सकता है॥ ९॥ हे देवि! जिस प्रकार तुम्हारी प्रसन्नता हो वह मुझसे अवश्य कहो। वह कार्य अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी मैं इसी समय एक क्षणमें ही पूरा कर दूँगा॥ १०॥ तुम मेरे हृदयको जानती ही हो, मैं तुम्हारा अत्यन्त प्रिय और तुम्हारे वशीभूत हूँ। फिर भी तुम मुझे खिन्न करती हो? तुम्हारा यह परिश्रम व्यर्थ है॥ ११॥ बताओ, तुम्हारा प्रिय करनेवाले किस कंगालको मैं धनी कर दूँ अथवा तुम्हारे अप्रियकारी किस धनपतिको एक

ब्रूहि कं वा वधिष्यामि वधार्हो वा विमोक्ष्यते ।
किमत्र बहुनोक्तेन प्राणान्दास्यामि ते प्रिये ॥ १३ ॥

मम प्राणात्प्रियतरो रामो राजीवलोचनः ।
तस्योपरि शपे ब्रूहि त्वद्धितं तत्करोम्यहम् ॥ १४ ॥

इति ब्रुवाणं राजानं शपन्तं राघवोपरि ।
शनैर्विमृज्य नेत्रे सा राजानं प्रत्यभाषत ॥ १५ ॥

यदि सत्यप्रतिज्ञोऽसि शपथं कुरुषे यदि ।
याच्ञां मे सफलां कर्तुं शीघ्रमेव त्वमर्हसि ॥ १६ ॥

पूर्वं देवासुरे युद्धे मया त्वं परिरक्षितः ।
तदा वरद्वयं दत्तं त्वया मे तुष्टचेतसा ॥ १७ ॥

तद्द्वयं न्यासभूतं मे स्थापितं त्वयि सुव्रत ।
तत्रैकेन वरेणाशु भरतं मे प्रियं सुतम् ॥ १८ ॥

एभिः संभृतसंभारैर्यौवराज्येऽभिषेचय ।
अपरेण वरेणाशु रामो गच्छतु दण्डकान् ॥ १९ ॥

मुनिवेषधरः श्रीमान् जटावल्कलभूषणः ।
चतुर्दश समास्तत्र कन्दमूलफलाशनः ॥ २० ॥

पुनरायातु तस्यान्ते वने वा तिष्ठतु स्वयम् ।
प्रभाते गच्छतु वनं रामो राजीवलोचनः ॥ २१ ॥

यदि किञ्चिद्विलम्बेत प्राणांस्त्यक्ष्ये तवाग्रतः ।
भव सत्यप्रतिज्ञस्त्वमेतदेव मम प्रियम् ॥ २२ ॥

श्रुत्वैतद्दारुणं वाक्यं कैकेय्या रोमहर्षणम् ।
निपपात महीपालो वज्राहत इवाचलः ॥ २३ ॥

शनैरुन्मील्य नयने विमृज्य परया भिया ।
दुःस्वप्नो वा मया दृष्टो ह्यथवा चित्तविभ्रमः ॥ २४ ॥

इत्यालोक्य पुरः पत्नीं व्याघ्रीमिव पुरः स्थिताम् ।
किमिदं भाषसे भद्रे मम प्राणहरं वचः ॥ २५ ॥

रामः कमपराधं ते कृतवान्कमलेक्षणः ।
ममाग्रे राघवगुणान्वर्णयस्यनिशं शुभान् ॥ २६ ॥

क्षणमें ही कंगाल बना दूँ ? ॥ १२ ॥ बताओ, किस अवध्यको मार डालूँ और किस वध्यको छोड़ दूँ। हे प्रिये ! इस विषयमें और अधिक क्या कहूँ, मैं तुम्हें अपने प्राण भी दे सकता हूँ ॥ १३ ॥ कमलनयन राम मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। मैं उन्हींकी शपथ करके कहता हूँ कि तुम्हें जो कुछ प्रिय हो मैं वही करूँगा'' ॥ १४ ॥

महाराज दशरथके रामकी सौगन्ध खाकर इस प्रकार कहनेपर कैकेयीने धीरे-धीरे अपने आँसू पोंछकर राजासे कहा— ॥ १५ ॥ "राजन् ! यदि आप सत्यप्रतिज्ञ हैं और शपथ भी करते हैं तो शीघ्र ही मैं जो कुछ माँगूँ उसे सफल कर देना चाहिये ॥ १६ ॥ पूर्वकालमें देवासुर-संग्राममें मैंने आपकी रक्षा की थी। उस समय प्रसन्नचित्त होकर आपने मुझे दो वर देनेको कहा था ॥ १७ ॥ हे सुव्रत ! मैंने वे दोनों वर आपके पास धरोहरके रूपमें रख दिये थे। अब उनमेंसे एक वरसे तो तुरंत ही मेरे प्रिय पुत्र भरतको इस एकत्रित की हुई सामग्रीसे युवराज-पदपर अभिषिक्त कीजिये और दूसरेसे तुरंत ही राम दण्डक-वनको चले जायँ ॥ १८-१९ ॥ वहाँ श्रीमान् रामको जटा-वल्कलादि धारणकर कंद-मूल-फल खाते हुए मुनिवेषसे चौदह वर्षतक रहना चाहिये ॥ २० ॥ उसके पश्चात् अपनी इच्छासे चाहे वे अयोध्यामें लौट आवें अथवा वनहीमें रहें, किन्तु कमलनयन राम कल सबेरे ही अवश्य वनको चले जायँ ॥ २१ ॥ यदि इसमें कुछ देरी होगी तो आपके सामने ही मैं अपने प्राण छोड़ दूँगी। आप अपनी प्रतिज्ञा सत्य कीजिये, मेरा प्रिय कार्य बस यही है'' ॥ २२ ॥

कैकेयीके ऐसे रोमाञ्चकारी कठोर वचन सुनकर महाराज दशरथ वज्राहत पर्वतके समान गिर पड़े ॥ २३ ॥ तत्पश्चात् धीरे-धीरे नेत्र खोलकर अति भयपूर्वक आँसू पोंछे और मन-ही-मन कहने लगे—'मैंने यह कोई दुःस्वप्न देखा है या मेरे चित्तको भ्रम हो गया है ?'' ॥ २४ ॥

इसी समय अपने सामने सिंहिनीके समान बैठी हुई रानी कैकेयीको देखकर कहने लगे—"हे भद्रे ! मेरे प्राणोंको हरनेवाले तुम ये क्या वचन बोल रही हो ॥ २५ ॥ कमलनयन रामने तुम्हारा क्या अपराध किया है ? तुम तो अहर्निश मेरे सामने रामके शुभ गुण गाया करती

कौसल्यां मां समं पश्यन् शुश्रूषां कुरुते सदा ।
इति ब्रुवन्ती त्वं पूर्वमिदानीं भाषसेऽन्यथा ॥ २७ ॥

राज्यं गृहाण पुत्राय रामस्तिष्ठतु मन्दिरे ।
अनुगृह्णीष्व मां वामे रामान्नास्ति भयं तव ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वाश्रुपरीताक्षः पादयोर्निपपात ह ।
कैकेयी प्रत्युवाचेदं सापि रक्तान्तलोचना ॥ २९ ॥

राजेन्द्र किं त्वं भ्रान्तोऽसि उक्तं तद्भाषसेऽन्यथा ।
मिथ्या करोषि चेत्स्वीयं भाषितं नरको भवेत् ॥ ३० ॥

वनं न गच्छेद्यदि रामचन्द्रः
प्रभातकालेऽजिनचीरयुक्तः ।
उद्बन्धनं वा विषभक्षणं वा
कृत्वा मरिष्ये पुरतस्तवाहम् ॥ ३१ ॥

सत्यप्रतिज्ञोऽहमितीह लोके
विडम्बसे सर्वसभान्तरेषु ।
रामोपरि त्वं शपथं च कृत्वा
मिथ्याप्रतिज्ञो नरकं प्रयाहि ॥ ३२ ॥

इत्युक्तः प्रियया दीनो मग्नो दुःखार्णवे नृपः ।
मूर्च्छितः पतितो भूमौ विसंज्ञो मृतको यथा ॥ ३३ ॥

एवं रात्रिर्गता तस्य दुःखात्संवत्सरोपमा ।
अरुणोदयकाले तु बन्दिनो गायका जगुः ॥ ३४ ॥

निवारयित्वा तान् सर्वान्कैकेयी रोषमास्थिता ।
ततः प्रभातसमये मध्यकक्षमुपस्थिताः ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या ऋषयः कन्यकास्तथा ।
छत्रं च चामरं दिव्यं गजो वाजी तथैव च ॥ ३६ ॥

अन्याश्च वारमुख्या याः पौरजानपदास्तथा ।
वसिष्ठेन यथाज्ञप्तं तत्सर्वं तत्र संस्थितम् ॥ ३७ ॥

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च रात्रौ निद्रां न लेभिरे ।
कदा द्रक्ष्यामहे रामं पीतकौशेयवाससम् ॥ ३८ ॥

थी ॥ २६ ॥ तुम तो पहले कहा करती थी कि 'राम मुझे और कौसल्याको समान जानकर सदा ही मेरी सेवा किया करते हैं।' फिर इस समय तुम यह उलटी बात कैसे कह रही हो ? ॥ २७ ॥ तुम अपने पुत्रके लिये राज्य ले लो, किन्तु रामको घर ही रहने दो। हे वामे ! तुम मुझपर कृपा करो, रामसे तुम्हें कोई भय नहीं है'' ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर महाराज दशरथ नेत्रोंमें जल भरकर कैकेयीके चरणोंमें गिर पड़े। तब उस कैकेयीने आँखे लाल करके यों कहा— ॥ २९ ॥ ''राजेन्द्र ! क्या तुम्हारी बुद्धिमें भ्रम हो गया है जो अपने कथनके विपरीत बोल रहे हो; याद रखो यदि तुमने अपनी प्रतिज्ञा भंग कर दी तो तुम्हें नरक भोगना पड़ेगा ॥ ३० ॥ सुनो, यदि कल प्रातःकाल ही मृगचर्म और वल्कल-वस्त्र धारणकर राम वनको न गये तो मैं तुम्हारे सामने ही फाँसी लगाकर या विष खाकर मर जाऊँगी ॥ ३१ ॥ तुम संसारमें सभी सभाओंमें 'मैं सत्यप्रतिज्ञ हूँ' ऐसा कहकर लोगोंको धोखेमें डाला करते हो, अब तुम रामकी शपथ करके की हुई प्रतिज्ञाको भी तोड़ रहे हो, अतः तुम्हें नरकमें जाना पड़ेगा'' ॥ ३२ ॥

अपनी प्रियाके ऐसे कठोर वचन सुनकर महाराज दशरथ दुःख-समुद्रमें डूबकर बड़े व्याकुल हो गये और मृतकके समान मूर्च्छित तथा संज्ञाशून्य होकर पृथिवीपर गिर पड़े ॥ ३३ ॥ इस प्रकार अत्यन्त दुःखके कारण उनकी वह रात्रि एक वर्षके समान बीती। इधर अरुणोदय होते ही गायक और बन्दीजन स्तुतिगान करने लगे ॥ ३४ ॥ किन्तु कैकेयी उन सबको रोककर क्रोधसे बैठी हुई थी। तदनन्तर प्रातःकाल होनेपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ऋषिगण, कन्याएँ, दिव्य छत्र और चँवर तथा हाथी और घोड़े आदि सभी अभिषेकोपयोगी वस्तुएँ मध्यद्वारपर उपस्थित की गयीं ॥ ३५-३६ ॥ इनके अतिरिक्त वसिष्ठजीके आज्ञानुसार मुख्य-मुख्य वाराङ्गनाएँ तथा पुरवासी और जनपदवासी भी वहाँ उपस्थित हो गये ॥ ३७ ॥ उस रात स्त्री, बालक और वृद्ध किसीको भी नींद नहीं आयी। सभीको यह चटपटी लगी रही कि हम रेशमी पीताम्बर पहने भगवान् रामको कब देखेंगे ? ॥ ३८ ॥

सर्वाभरणसम्पन्नं किरीटकटकोज्ज्वलम्।
कौस्तुभाभरणं श्यामं कन्दर्पशतसुन्दरम्॥ ३९॥

अभिषिक्तं समायातं गजारूढं स्मितान्ननम्।
श्वेतच्छत्रधरं तत्र लक्ष्मणं लक्षणान्वितम्॥ ४०॥

रामं कदा वा द्रक्ष्यामः प्रभातं वा कदा भवेत्।
इत्युत्सुकधियः सर्वे बभूवुः पुरवासिनः॥ ४१॥

नेदानीमुत्थितो राजा किमर्थं चेति चिन्तयन्।
सुमन्त्रः शनकैः प्रायाद्यत्र राजावतिष्ठते॥ ४२॥

वर्धयन् जयशब्देन प्रणमञ्शिरसा नृपम्।
अतिखिन्नं नृपं दृष्ट्वा कैकेयीं समपृच्छत॥ ४३॥

देवि कैकेयि वर्धस्व किं राजा दृश्यतेऽन्यथा।
तमाह कैकेयी राजा रात्रौ निद्रां न लब्धवान्॥ ४४॥

राम रामेति रामेति राममेवानुचिन्तयन्।
प्रजागरेण वै राजा ह्यस्वस्थ इव लक्ष्यते।
राममानय शीघ्रं त्वं राजा द्रष्टुमिहेच्छति॥ ४५॥

अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि।
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणो वाक्यं राजा मन्त्रिणमब्रवीत्॥ ४६॥

सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम्।
इत्युक्तस्त्वरितं गत्वा सुमन्त्रो राममन्दिरम्॥ ४७॥

अवारितः प्रविष्टोऽयं त्वरितं राममब्रवीत्।
शीघ्रमागच्छ भद्रं ते राम राजीवलोचन॥ ४८॥

पितुर्गेहं मया सार्धं राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति।
इत्युक्तो रथमारुह्य सम्भ्रमात्त्वरितो ययौ॥ ४९॥

रामः सारथिना सार्धं लक्ष्मणेन समन्वितः।
मध्यकक्षे वसिष्ठादीन् पश्यन्नेव त्वरान्वितः॥ ५०॥

पितुः समीपं सङ्गम्य ननाम चरणौ पितुः।
राममालिङ्गितुं राजा समुत्थाय ससम्भ्रमः॥ ५१॥

जो समस्त आभूषणोंसे सुसज्जित, उज्ज्वल किरीट और कटक पहने हुए हैं तथा कौस्तुभमणिसे विभूषित और सैकड़ों कामदेवोंके समान सुन्दर श्यामवर्ण हैं एवं सर्व-सुलक्षण-सम्पन्न श्रीलक्ष्मणजीने जिनके ऊपर श्वेत छत्र लगा रखा है ऐसे श्रीरामको राज्याभिषेकके अनन्तर मन्द मुसकानके सहित हाथीपर चढ़कर आते हुए हम कब देखेंगे? वह मङ्गलप्रभात कब होगा? इस प्रकार सभी पुरवासियोंका चित्त अति उत्कण्ठित हो रहा था॥ ३९—४१॥

इसी समय मन्त्रिवर सुमन्त्र यह सोचकर कि 'महाराज अभीतक कैसे नहीं उठे' धीरेसे जहाँ राजा दशरथ थे वहाँ गये॥ ४२॥ वहाँ पहुँचकर उन्होंने जय-जयकार कर राजाको सिर झुकाकर प्रणाम किया और उन्हें अत्यन्त खिन्न देखकर कैकेयीसे पूछा—॥ ४३॥ "देवि कैकेयि! आपका अभ्युदय हो, कहिये आज महाराज अनमने कैसे दिखायी देते हैं?" इसपर कैकेयीने कहा—"आज महाराजको रात्रिमें बिलकुल नींद नहीं आयी॥ ४४॥ रात्रिभर रामका चिन्तन करते हुए 'राम, राम, राम' ही रटते रहे हैं। इस प्रकार जागते रहनेके कारण ही राजा कुछ अस्वस्थ-से दिखायी देते हैं। महाराज रामको यहाँ देखना चाहते हैं, इसलिये तुम शीघ्र ही उन्हें लिवा लाओ"॥ ४५॥

भामिनि! महाराजकी आज्ञा पाये बिना मैं कैसे जा सकता हूँ? मन्त्रीका यह वचन सुनकर महाराज बोले—॥ ४६॥ "सुमन्त्र! मैं मनोहरमूर्ति रामको देखूँगा। तुम उन्हें शीघ्र ही ले आओ।" राजाके ऐसा कहते ही सुमन्त्र तुरंत रामके महलको गये॥ ४७॥ और बिना रोक-टोकके तुरंत भीतर जाकर रामसे कहा—"कमलनयन राम! तुम्हारा कल्याण हो, तुम शीघ्र ही मेरे साथ पिताजीके घर चलो, महाराज तुम्हें देखना चाहते हैं।" यह सुनते ही राम चकित-से होकर तुरंत ही रथपर चढ़कर चले॥ ४८-४९॥ सारथी और लक्ष्मणके सहित भगवान् रामने मध्यद्वारपर विराजमान वसिष्ठादि गुरुजनोंका केवल दर्शनमात्रसे ही सत्कार कर जल्दीसे पिताजीके पास पहुँच उनके चरणोंमें प्रणाम किया। उस समय रामको गले लगानेके लिये ज्यों ही उठकर महाराज दशरथने आवेगके साथ हाथ बढ़ाये कि वे बीचहीमें

बाहू प्रसार्य रामेति दुःखान्मध्ये पपात ह।
हाहेति रामस्तं शीघ्रमालिङ्ग्याङ्के न्यवेशयत्॥ ५२॥

राजानं मूर्च्छितं दृष्ट्वा चुक्रुशुः सर्वयोषितः।
किमर्थं रोदनमिति वसिष्ठोऽपि समाविशत्॥ ५३॥

रामः पप्रच्छ किमिदं राज्ञो दुःखस्य कारणम्।
एवं पृच्छति रामे सा कैकेयी राममब्रवीत्॥ ५४॥

त्वमेव कारणं ह्यत्र राज्ञो दुःखोपशान्तये।
किञ्चित्कार्यं त्वया राम कर्तव्यं नृपतेर्हितम्॥ ५५॥

कुरु सत्यप्रतिज्ञस्त्वं राजानं सत्यवादिनम्।
राज्ञा वरद्वयं दत्तं मम सन्तुष्टचेतसा॥ ५६॥

त्वदधीनं तु तत्सर्वं वक्तुं त्वां लज्जते नृपः।
सत्यपाशेन सम्बद्धं पितरं त्रातुमर्हसि॥ ५७॥

पुत्रशब्देन चैतद्धि नरकात्त्रायते पिता।
रामस्तयोदितं श्रुत्वा शूलेनाभिहतो यथा॥ ५८॥

व्यथितः कैकेयीं प्राह किं मामेवं प्रभाषसे।
पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम्॥ ५९॥

सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम्।
अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः॥ ६०॥

उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः।
उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते॥ ६१॥

अतः करोमि तत्सर्वं यन्मामाह पिता मम।
सत्यं सत्यं करोम्येव रामो द्विर्नाभिभाषते॥ ६२॥

इति रामप्रतिज्ञां सा श्रुत्वा वक्तुं प्रचक्रमे।
राम त्वदभिषेकार्थं संभाराः संभृताश्च ये॥ ६३॥

तैरेव भरतोऽवश्यमभिषेच्यः प्रियो मम।
अपरेण वरेणाशु चीरवासा जटाधरः॥ ६४॥

वनं प्रयाहि शीघ्रं त्वमद्यैव पितुराज्ञया।
चतुर्दश समास्तत्र वस मुन्यन्नभोजनः॥ ६५॥

दुःखपूर्वक 'हा राम! हा राम!' कहते हुए गिर पड़े। तब रामचन्द्रजीने हाहाकार करते हुए अति शीघ्रतासे उन्हें गले लगाकर अपनी गोदमें बैठा लिया॥ ५०—५२॥

'महाराजको मूर्च्छित देखकर रनिवासकी समस्त महिलाएँ रोने लगीं। तब यह सोचकर कि 'यह रुदन क्यों हो रहा है?' वहाँ वसिष्ठजी भी चले आये॥ ५३॥ भगवान् रामने कैकेयीसे पूछा—"महाराजके इस दुःखका क्या कारण है?" उनके इस प्रकार पूछनेपर कैकेयी बोली—॥ ५४॥ "हे राम! महाराजके इस दुःखके कारण तुम्हीं हो, तुम्हें उनके दुःखके शान्त करनेके लिये उनका कुछ प्रिय कार्य करना होगा॥ ५५॥ तुम सत्यप्रतिज्ञ हो, महाराजको भी सत्यवादी बनाओ। उन्होंने प्रसन्न होकर मुझे दो वर दिये हैं॥ ५६॥ किन्तु उनकी सफलता तुम्हारे ही अधीन है। महाराजको तो तुमसे कहनेमें संकोच मालूम होता है; किन्तु तुम्हें सत्यपाशमें बँधे हुए अपने पिताजीकी अवश्य रक्षा करनी चाहिये॥ ५७॥ क्योंकि 'पुत्र' शब्दका अर्थ ही यह है कि जो पिताकी नरकसे रक्षा करता है।'

कैकेयीकी बातें सुनकर रामने मानो शूलसे विद्ध हुएके समान व्यथित होकर कहा—"मातः! आज हमसे ऐसी बातें क्यों करती हो? पिताजीके लिये मैं जीवन दे सकता हूँ, भयंकर विष पी सकता हूँ॥ ५८-५९॥ और सीता, कौसल्या तथा राज्यको भी छोड़ सकता हूँ। जो पुत्र पिताकी आज्ञाके बिना ही उनका अभीष्ट कार्य करता है वह उत्तम है॥ ६०॥ जो पिताके कहनेपर करता है वह मध्यम होता है और जो कहनेपर भी नहीं करता है वह पुत्र तो विष्ठाके समान है॥ ६१॥ अतः पिताजीने मेरे लिये जो कुछ आज्ञा की है उसे मैं अवश्य पूर्ण करूँगा, यह सर्वथा सत्य है; राम दो बात कभी नहीं कहता"॥ ६२॥

रामकी ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर कैकेयीने इस प्रकार कहना आरम्भ किया, "हे राम! तुम्हारे अभिषेकके लिये जो कुछ सामग्री एकत्रित की गयी है॥ ६३॥ उसके द्वारा निश्चय ही मेरे प्रिय पुत्र भरतका अभिषेक होना चाहिये। (यही मेरा प्रथम वर है।) दूसरे वरके अनुसार पिताकी आज्ञासे आज तुरंत ही तुम वल्कल-वस्त्र और जटा धारणकर वनको जाओ और वहाँ मुनिजनोचित भोजन करते हुए

एतदेव पितुस्तेऽद्य कार्यं त्वं कर्तुमर्हसि ।
राजा तु लज्जते वक्तुं त्वामेवं रघुनन्दन ॥ ६६ ॥

चौदह वर्षतक रहो ॥ ६४-६५ ॥ बस, तुम्हारे पिताका यही कार्य है, जो तुम्हें करना चाहिये । किन्तु राजा इन सब बातोंको तुमसे कहनेमें संकोच करते हैं" ॥ ६६ ॥

श्रीराम उवाच

भरतस्यैव राज्यं स्यादहं गच्छामि दण्डकान् ।
किन्तु राजा न वक्तीह मां न जानेऽत्र कारणम् ॥ ६७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले—माता ! भरत आनन्दसे यह राज्य भोगें और मैं भी अभी दण्डकारण्यको जाता हूँ। किन्तु इसका कारण मालूम नहीं होता कि महाराज मुझसे क्यों नहीं कहते ? ॥ ६७ ॥

श्रुत्वैतद्रामवचनं दृष्ट्वा रामं पुरः स्थितम् ।
प्राह राजा दशरथो दुःखितो दुःखितं वचः ॥ ६८ ॥

स्त्रीजितं भ्रान्तहृदयमुन्मार्गपरिवर्तिनम् ।
निगृह्य मां गृहाणेदं राज्यं पापं न तद्भवेत् ॥ ६९ ॥

एवं चेदनृतं नैव मां स्पृशेद्रघुनन्दन ।
इत्युक्त्वा दुःखसन्तप्तो विललाप नृपस्तदा ॥ ७० ॥

हा राम हा जगन्नाथ हा मम प्राणवल्लभ ।
मां विसृज्य कथं घोरं विपिनं गन्तुमर्हसि ॥ ७१ ॥

रामके ये वचन सुनकर और उन्हें अपने सामने बैठे देखकर दुःखातुर महाराज दशरथने इस प्रकार अति दुःखभरे वचन कहे— ॥ ६८ ॥ "राम ! मुझ स्त्रीपरवश, भ्रान्तचित्त, कुमार्गगामी पापात्माको बाँधकर यह राज्य ले लो; इससे तुम्हें कोई पाप न लगेगा ॥ ६९ ॥ हे रघुनन्दन ! ऐसा होनेपर मुझे भी असत्य स्पर्श न करेगा ।" ऐसा कह राजा दशरथ दुःखातुर होकर विलाप करने लगे ॥ ७० ॥ 'हा राम ! हा जगन्नाथ ! हा प्राणप्यारे ! मुझे छोड़कर तुम घोर वनमें जाना कैसे उचित समझ रहे हो ?' ॥ ७१ ॥

इति रामं समालिङ्ग्य मुक्तकण्ठो रुरोद ह ।
विमृज्य नयने रामः पितुः सजलपाणिना ॥ ७२ ॥

आश्वासयामास नृपं शनैः स नयकोविदः ।
किमत्र दुःखेन विभो राज्यं शास्तु मेऽनुजः ॥ ७३ ॥

अहं प्रतिज्ञां निस्तीर्य पुनर्यास्यामि ते पुरम् ।
राज्यात्कोटिगुणं सौख्यं मम राजन्वने सतः ॥ ७४ ॥

त्वत्सत्यपालनं देवकार्यं चापि भविष्यति ।
कैकेय्याश्च प्रियो राजन्वनवासो महागुणः ॥ ७५ ॥

इदानीं गन्तुमिच्छामि व्येतु मातुश्च हृज्ज्वरः ।
सम्भाराश्चोपह्रीयन्तामभिषेकार्थमाहताः ॥ ७६ ॥

मातरं च समाश्वास्य अनुनीय च जानकीम् ।
आगत्य पादौ वन्दित्वा तव यास्ये सुखं वनम् ॥ ७७ ॥

ऐसा कहकर उन्होंने रामको गले लगा लिया और जी खोलकर रोने लगे । तब रामने हाथमें जल लेकर पिताके आँसू पोंछे ॥ ७२ ॥ और नीतिकुशल रामजीने धीरे-धीरे उन्हें ढाढस बँधाया । वे कहने लगे—'प्रभो ! यदि मेरे छोटे भाई भरत राज्यशासन करें तो इसमें दुःखकी क्या बात है ? ॥ ७३ ॥ मैं भी इस प्रतिज्ञाका पालन कर फिर आपके पास अयोध्या लौट ही आऊँगा । और हे राजन् ! वनमें रहनेसे तो मुझे राज्यसे भी करोड़गुना सुख होगा ॥ ७४ ॥ इसमें आपके सत्यकी रक्षा होगी, देवताओंका कार्य सिद्ध होगा और कैकेयीका भी हित होगा; अतः हे राजन् ! वनवासमें सब प्रकार महान् गुण है ॥ ७५ ॥ अब मैं शीघ्र ही जाना चाहता हूँ; माता कैकेयीकी हार्दिक व्यथा शान्त हो । अभिषेकके लिये एकत्रित की हुई यह सामग्री अलग रख दी जाय ॥ ७६ ॥ माता कौसल्याको सान्त्वना देकर और जानकीको समझा-बुझाकर मैं अभी आता हूँ और आपके चरणोंकी वन्दना कर आनन्दपूर्वक वनको जाता हूँ ॥ ७७ ॥

इत्युक्त्वा तु परिक्रम्य मातरं द्रष्टुमाययौ ।
कौसल्यापि हरेः पूजां कुरुते रामकारणात् ॥ ७८ ॥

ऐसा कह उन्होंने पिताकी परिक्रमा की और मातासे मिलनेके लिये आये । इस समय माता कौसल्या रामके मङ्गलके लिये श्रीविष्णुभगवान्‌की पूजा कर रही

होमं च कारयामास ब्राह्मणेभ्यो ददौ धनम्।
ध्यायते विष्णुमेकाग्रमनसा मौनमास्थिता ॥ ७९ ॥

अन्तःस्थमेकं घनचित्प्रकाशं
निरस्तसर्वातिशयस्वरूपम्।
विष्णुं सदानन्दमयं हृदब्जे
सा भावयन्ती न ददर्श रामम् ॥ ८० ॥

थीं ॥ ७८ ॥ उन्होंने कुछ पहले हवन कराके ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन दिया था और इस समय वह मौन धारणकर एकाग्रचित्तसे श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान कर रही थीं ॥ ७९ ॥ अपने हृदयमें अन्तर्यामी, चिद्घनस्वरूप, तेजोमय, निरतिशयस्वरूप, सदानन्दमय भगवान् विष्णुका ध्यान करती रहनेके कारण उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको नहीं देख पाया ॥ ८० ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अयोध्याकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थ सर्ग

भगवान् रामका मातासे विदा होना तथा सीता और लक्ष्मणके सहित वनगमनकी तैयारी करना

श्रीमहादेव उवाच

ततः सुमित्रा दृष्ट्वैनं रामं राज्ञीं ससम्भ्रमा।
कौसल्यां बोधयामास रामोऽयं समुपस्थितः ॥ १ ॥

श्रुत्वैव रामनामैषा बहिर्दृष्टिप्रवाहिता।
रामं दृष्ट्वा विशालाक्षमालिङ्ग्याङ्के न्यवेशयत् ॥ २ ॥

मूर्ध्न्यवघ्राय पस्पर्श गात्रं नीलोत्पलच्छवि।
भुङ्क्ष्व पुत्रेति च प्राह मिष्टमन्नं क्षुधार्दितः ॥ ३ ॥

रामः प्राह न मे मातर्भोजनावसरः कृतः।
दण्डकागमने शीघ्रं मम कालोऽद्य निश्चितः ॥ ४ ॥

कैकेयीवरदानेन सत्यसन्धः पिता मम।
भरताय ददौ राज्यं ममाप्यारण्यमुत्तमम् ॥ ५ ॥

चतुर्दश समास्तत्र ह्युषित्वा मुनिवेषधृक्।
आगमिष्ये पुनः शीघ्रं न चिन्तां कर्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा सहसोद्विग्ना मूर्च्छिता पुनरुत्थिता।
आह रामं सुदुःखार्ता दुःखसागरसम्प्लुता ॥ ७ ॥

यदि राम वनं सत्यं यासि चेन्नय मामपि।
त्वद्विहीना क्षणार्द्धं वा जीवितं धारये कथम् ॥ ८ ॥

यथा गौर्बालकं वत्सं त्यक्त्वा तिष्ठेन्न कुत्रचित्।
तथैव त्वां न शक्नोमि त्यक्तुं प्राणात्प्रियं सुतम् ॥ ९ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वती! तब महारानी सुमित्राने रामको देखकर सम्भ्रमपूर्वक महारानी कौसल्याको चेत कराकर बताया कि राम खड़े हुए हैं ॥ १ ॥ रामका नाम सुनते ही उनकी बहिर्दृष्टि हुई और उन्होंने विशालनयन रामको देख गले लगाकर गोदमें बैठा लिया ॥ २ ॥ तथा उनका सिर सूँघकर उनके नील कमल-सदृश श्याम शरीरपर हाथ फेरा और कहा—"बेटा! भूख लगी होगी कुछ मिष्टान्न खा लो" ॥ ३ ॥

रामजी बोले—"माता! मुझे भोजन करनेका समय नहीं है; क्योंकि आज मेरे लिये यह समय शीघ्र ही दण्डकारण्य जानेके लिये निश्चित किया गया है ॥ ४ ॥ मेरे सत्यप्रतिज्ञ पिताजीने माता कैकेयीको वर देकर भरतको राज्य और मुझे अति उत्तम वनवास दिया है ॥ ५ ॥ वहाँ मुनिवेषसे चौदह वर्ष रहकर मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा, आप किसी प्रकारकी चिन्ता न करें" ॥ ६ ॥

अचानक ऐसी बात सुनकर माता कौसल्या दुःखसे अचेत हो गयीं और फिर चेत होनेपर दुःख-सागरमें उछलती-डूबती दुःखातुर होकर रामसे कहने लगीं ॥ ७ ॥ "राम! यदि सचमुच ही तुम वनको जाते हो तो मुझे भी साथ ले चलो; तुम्हारे बिना मैं आधे क्षण भी कैसे जीवित रह सकती हूँ ॥ ८ ॥ जिस प्रकार गौ अपने अल्पवयस्क बछड़ेको छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकती, उसी प्रकार मैं भी तुझ अपने प्राणप्रिय पुत्रको नहीं छोड़ सकती ॥ ९ ॥

भरताय प्रसन्नश्चेद्राज्यं राजा प्रयच्छतु ।
किमर्थं वनवासाय त्वामाज्ञापयति प्रियम् ॥ १० ॥

कैकेय्या वरदो राजा सर्वस्वं वा प्रयच्छतु ।
त्वया किमपराद्धं हि कैकेय्या वा नृपस्य वा ॥ ११ ॥

पिता गुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः ।
पित्राऽऽज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेयमहं सुतम् ॥ १२ ॥

यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लङ्घ्य नृपवाक्यतः ।
तदा प्राणान्परित्यज्य गच्छामि यमसादनम् ॥ १३ ॥

लक्ष्मणोऽपि ततः श्रुत्वा कौसल्यावचनं रुषा ।
उवाच राघवं वीक्ष्य दहन्निव जगत्त्रयम् ॥ १४ ॥

उन्मत्तं भ्रान्तमनसं कैकेयीवशवर्तिनम् ।
बद्ध्वा निहन्मि भरतं तद्बन्धून्मातुलानपि ॥ १५ ॥

अद्य पश्यन्तु मे शौर्यं लोकान्प्रदहतः पुरा ।
राम त्वमभिषेकाय कुरु यत्नमरिन्दम ॥ १६ ॥

धनुष्पाणिरहं तत्र निहन्यां विघ्नकारिणः ।
इति ब्रुवन्तं सौमित्रिमालिङ्ग्य रघुनन्दनः ॥ १७ ॥

शूरोऽसि रघुशार्दूल ममात्यन्तहिते रतः ।
जानामि सर्वं ते सत्यं किन्तु तत्समयो न हि ॥ १८ ॥

यदिदं दृश्यते सर्वं राज्यं देहादिकं च यत् ।
यदि सत्यं भवेत्तत्र आयासः सफलश्च ते ॥ १९ ॥

भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चलाः ।
आयुरप्यग्निसन्तप्तलोहस्थजलबिन्दुवत् ॥ २० ॥

यथा व्यालगलस्थोऽपि भेको दंशानपेक्षते ।
तथा कालाहिना ग्रस्तो लोको भोगानशाश्वतान् ॥ २१ ॥

करोति दुःखेन हि कर्मतन्त्रं
शरीरभोगार्थमहर्निशं नरः ।
देहस्तु भिन्नः पुरुषात्समीक्ष्यते
को वात्र भोगः पुरुषेण भुज्यते ॥ २२ ॥

यदि राजा भरतसे प्रसन्न हैं तो उन्हें राज्य भले ही दें, परन्तु तुझ प्रिय पुत्रको वनवासकी आज्ञा क्यों देते हैं ॥ १० ॥ कैकेयीको वर देकर चाहे महाराज अपना सर्वस्व दे डालें (इसमें कोई आपत्ति नहीं), किन्तु तुमने राजा अथवा कैकेयीका क्या बिगाड़ा है ? ॥ ११ ॥ हे राम ! जिस प्रकार पिता तुम्हारे गुरु हैं उसी प्रकार मैं भी तो उनसे अधिक तुम्हारी गुरु हूँ ! यदि पिताने तुमसे वन जानेको कहा है तो मैं तुम्हें रोकती हूँ ॥ १२ ॥ यदि मेरे वाक्यका उल्लङ्घन कर तुम राजाकी आज्ञासे वनको चले जाओगे तो मैं अपना प्राण छोड़कर यमपुरको चली जाऊँगी ॥ १३ ॥

तब लक्ष्मणने भी कौसल्याके वचन सुनकर रामजीकी ओर देखकर रोषसे त्रिलोकीको दग्ध करते हुए-से कहा ॥ १४ ॥ "मैं उन्मत्त, भ्रान्तचित्त और कैकेयीके वशवर्ती राजा दशरथको बाँधकर भरतको उनके सहायक मामा आदिके सहित मार डालूँगा ॥ १५ ॥ आज सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध करनेवाले कालानलके समान मेरे पौरुषको पहले वे सब लोग देख लें। हे शत्रुदमन राम ! आप अभिषेककी तैयारी कीजिये ॥ १६ ॥ उसमें विघ्न उपस्थित करनेवालोंको मैं हाथमें धनुष-बाण लेकर मार डालूँगा।"

लक्ष्मणजीके इस प्रकार कहनेपर रघुनाथजीने उन्हें गले लगाकर कहा ॥ १७ ॥ "रघुश्रेष्ठ ! तुम बड़े शूरवीर और मेरे परम हितकारी हो। तुम जो कुछ कहते हो वह मैं सब सत्य मानता हूँ, किन्तु यह उसका समय नहीं है ॥ १८ ॥ यह जो कुछ राज्य और देह आदि दिखायी देता है वह सब यदि सत्य होता तो अवश्य तुम्हारा परिश्रम सफल होता ॥ १९ ॥ किन्तु ये भोग तो मेघरूपी वितानमें चमकती हुई बिजलीके समान चञ्चल हैं और आयु अग्निमें तपाये हुए लोहेपर पड़ी हुई जलकी बूँदके समान क्षणिक है ॥ २० ॥ जिस प्रकार सर्पके मुँहमें पड़ा हुआ भी मेंढ़क मच्छरोंको ताकता रहता है, उसी प्रकार लोग कालरूप सर्पसे ग्रस्त हुए भी अनित्य भोगोंको चाहते रहते हैं ॥ २१ ॥ कैसा आश्चर्य है कि शरीरके भोगोंके लिये ही मनुष्य रात-दिन अति कष्ट सहकर नाना प्रकारकी क्रियाएँ करता रहता है। यदि यह समझ ले कि शरीर आत्मासे भिन्न है तो फिर भला पुरुष कैसे किसी भोगको भोग

पितृमातृसुतभ्रातृदारबन्ध्वादिसंगमः ।
प्रपायामिव जन्तूनां नद्यां काष्ठौघवच्चलः ॥ २३ ॥

छायेव लक्ष्मीश्चपला प्रतीता
तारुण्यमम्बूर्मिवदध्रुवं च ।
स्वप्नोपमं स्त्रीसुखमायुरल्पं
तथापि जन्तोरभिमान एषः ॥ २४ ॥

संसृतिः स्वप्नसदृशी सदा रोगादिसङ्कुला ।
गन्धर्वनगरप्रख्या मूढस्तामनुवर्तते ॥ २५ ॥

आयुष्यं क्षीयते यस्मादादित्यस्य गतागतैः ।
दृष्ट्वान्येषां जरामृत्यू कथञ्चिन्नैव बुध्यते ॥ २६ ॥

स एव दिवसः सैव रात्रिरित्येव मूढधीः ।
भोगाननुपतत्येव कालवेगं न पश्यति ॥ २७ ॥

प्रतिक्षणं क्षरत्येतदायुरामघटाम्बुवत् ।
सपत्ना इव रोगौघाः शरीरं प्रहरन्त्यहो ॥ २८ ॥

जरा व्याघ्रीव पुरतस्तर्जयन्त्यवतिष्ठते ।
मृत्युः सहैव यात्येष समयं सम्प्रतीक्षते ॥ २९ ॥

देहेऽहंभावमापन्नो राजाहं लोकविश्रुतः ।
इत्यस्मिन्मनुते जन्तुः कृमिविड्भस्मसंज्ञिते ॥ ३० ॥

त्वगस्थिमांसविण्मूत्ररेतोरक्तादिसंयुतः ।
विकारी परिणामी च देह आत्मा कथं वद ॥ ३१ ॥

यमास्थाय भवाँल्लोकं दग्धुमिच्छति लक्ष्मण ।
देहाभिमानिनः सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति हि ॥ ३२ ॥

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता ।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते ॥ ३३ ॥

अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्तिका ।
तस्माद्यत्नः सदा कार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः ।
कामक्रोधादयस्तत्र शत्रवः शत्रुसूदन ॥ ३४ ॥

सकता है ! ॥ २२ ॥ पिता, माता, पुत्र, भाई, स्त्री और बन्धु-बान्धवोंका संयोग प्याऊपर एकत्रित हुए जीवों अथवा नदी-प्रवाहसे इकट्ठी हुई लकड़ियोंके समान चञ्चल है ॥ २३ ॥ यह निस्सन्देह दिखायी पड़ता है कि लक्ष्मी छायाके समान चञ्चल, यौवन जल-तरङ्गके समान अनित्य है, स्त्री-सुख स्वप्नके समान मिथ्या और आयु अत्यन्त अल्प है तथापि प्राणियोंका इनमें कितना अभिमान है ॥ २४ ॥ यह संसार सदा रोगादि-संकुल तथा स्वप्न और गन्धर्वनगरके समान मिथ्या है, मूढ़जन ही इसको सत्य मानकर इसका अनुकरण करते हैं ॥ २५ ॥ नित्य सूर्यके उदय और अस्त होनेसे आयु क्षीण हो रही है तथा नित्य ही दूसरोंकी वृद्धावस्था और मृत्यु होती देखी जाती है तो भी मूढ़ पुरुषको किसी प्रकार चेत नहीं होता ॥ २६ ॥ नित्यप्रति उसी प्रकार दिन और रात होते हैं किन्तु मूढ़मति पुरुष भोगोंके पीछे ही दौड़ता है, कालकी गतिको नहीं देखता ॥ २७ ॥ कच्चे घड़ेमें भरे हुए जलके समान आयु प्रतिक्षण क्षीण हो रही है और रोग-समूह शत्रुओंके समान शरीरको नष्ट करते हैं ॥ २८ ॥ वृद्धावस्था सिंहिनीके समान डराती हुई सामने खड़ी है और यह मृत्यु भी उसके साथ ही चलती हुई (अन्त) समयकी प्रतीक्षा कर रही है ॥ २९ ॥ किन्तु देहमें अहं-भावना करनेवाला जीव इस कृमि, विष्ठा और भस्मरूप शरीरको ही 'मैं लोक-प्रसिद्ध राजा हूँ, ऐसा मानता है ॥ ३० ॥ हे लक्ष्मण ! तुम कुछ सोचकर बताओ कि जिसके आश्रयसे तुम संसारको दग्ध करना चाहते हो वह त्वचा, अस्थि, मांस, विष्ठा, मूत्र, शुक्र और रुधिर आदिसे बना हुआ विकारी और परिणामी देह आत्मा किस प्रकार हो सकता है ? हे भाई ! इस देहाभिमानसे युक्त पुरुषमें ही सम्पूर्ण दोष प्रकट हुआ करते हैं ॥ ३१-३२ ॥ 'मैं देह हूँ' इस बुद्धिका नाम ही अविद्या है और 'मैं देह नहीं, चेतन आत्मा हूँ' इसीको विद्या कहते हैं ॥ ३३ ॥ अविद्या जन्म-मरणरूप संसारकी कारण है और विद्या उसको निवृत्त करनेवाली है, अतः मोक्षकामियोंको सदा विद्योपार्जनका प्रयत्न करना चाहिये। हे शत्रुदमन ! काम-क्रोध आदि इस

तत्रापि क्रोध एवालं मोक्षविघ्नाय सर्वदा ।
येनाविष्टः पुमान्हन्ति पितृभ्रातृसुहृत्सखीन् ॥ ३५ ॥

क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम् ।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज ॥ ३६ ॥

क्रोध एष महान् शत्रुस्तृष्णा वैतरणी नदी ।
सन्तोषो नन्दनवनं शान्तिरेव हि कामधुक् ॥ ३७ ॥

तस्माच्छान्तिं भजस्वाद्य शत्रुरेवं भवेन्न ते ।
देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यादिभ्यो विलक्षणः ॥ ३८ ॥

आत्मा शुद्धः स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः ।
यावद्देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्वं नात्मनो विदुः ॥ ३९ ॥

तावत्संसारदुःखौघैः पीड्यन्ते मृत्युसंयुताः ।
तस्मात्त्वं सर्वदा भिन्नमात्मानं हृदि भावय ॥ ४० ॥

बुद्ध्यादिभ्यो बहिः सर्वमनुवर्तस्व मा खिदः ।
भुञ्जन्प्रारब्धमखिलं सुखं वा दुःखमेव वा ॥ ४१ ॥

प्रवाहपतितं कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यसे ।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव ॥ ४२ ॥

अन्तःशुद्धस्वभावस्त्वं लिप्यसे न च कर्मभिः ।
एतन्मयोदितं कृत्स्नं हृदि भावय सर्वदा ॥ ४३ ॥

संसारदुःखैरखिलैर्बाध्यसे न कदाचन ।
त्वमप्यम्ब मयाऽऽदिष्टं हृदि भावय नित्यदा ॥ ४४ ॥

समागमं प्रतीक्षस्व न दुःखैः पीड्यसे चिरम् ।
न सदैकत्र संवासः कर्ममार्गानुवर्तिनाम् ॥ ४५ ॥

यथा प्रवाहपतितप्लवानां सरितां तथा ।
चतुर्दशसमासङ्ख्या क्षणार्द्धमिव जायते ॥ ४६ ॥

अनुमन्यस्व मामम्ब दुःखं सन्त्यज्य दूरतः ।
एवं चेत्सुखसंवासो भविष्यति वने मम ॥ ४७ ॥

साधनमें विघ्न करनेवाले शत्रु हैं ॥ ३४ ॥ उनमें भी मोक्षमें विघ्न उपस्थित करनेके लिये तो एकमात्र क्रोध ही पर्याप्त है, जिसका आवेश होनेसे पुरुष पिता, माता, सुहृद् और बन्धुओंका भी वध कर डालता है ॥ ३५ ॥ मनके सन्तापका मूल क्रोध ही है और क्रोध ही संसारका बन्धन तथा धर्मका क्षय करनेवाला है। इसलिये तुम क्रोधको छोड़ दो ॥ ३६ ॥ यह क्रोध महान् शत्रु है, तृष्णा वैतरणी नदी है, सन्तोष नन्दनवन है और शान्ति ही कामधेनु है ॥ ३७ ॥ इसलिये तुम शान्ति धारण करो, इससे (क्रोधरूपी) शत्रुका तुमपर प्रभाव न होगा। आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि आदिसे पृथक् तथा शुद्ध, स्वयंप्रकाश, अविकारी और निराकार है। जबतक मनुष्य देह, इन्द्रिय और प्राण आदिसे आत्माकी भिन्नता नहीं जानते तबतक वे मृत्युपाशमें बँधकर सांसारिक दुःख-समूहसे पीड़ित होते रहते हैं। इसलिये तुम सर्वदा अपने हृदयमें बुद्धि आदिसे आत्माको भिन्न अनुभव करो, इस सम्पूर्ण बाह्य व्यवहारका अनुवर्तन करो; और सुख अथवा दुःखरूप जैसा प्रारब्ध हो उसीको भोगते हुए चित्तमें खेद न मानो ॥ ३८—४१ ॥ हे रघुपुत्र ! बाहरसे (इन्द्रिय आदि द्वारा) कर्तृत्व प्रकट करते हुए जो कार्य प्रारब्धवश उपस्थित हो उसे करते रहनेसे भी तुम बन्धनमें नहीं पड़ोगे ॥ ४२ ॥ भीतरसे राग-द्वेषरहित और शुद्धस्वभाव रहनेके कारण तुम कर्मोंसे लिप्त न होगे। मेरे इस सम्पूर्ण कथनपर तुम सर्वदा अपने हृदयमें विचार करो ॥ ४३ ॥ ऐसा करनेसे तुम सम्पूर्ण सांसारिक दुःखोंसे कभी बाधित न होगे। हे मातः ! तुम भी मेरे इस कथनपर नित्य विचार करना ॥ ४४ ॥ और मेरे फिर मिलनेकी प्रतीक्षा करती रहना। तुम्हें अधिक काल दुःख न होगा। कर्मबन्धनमें बँधे हुए जीवोंका सदा एक ही साथ रहना-सहना नहीं हुआ करता ॥ ४५ ॥ जैसे नदीके प्रवाहमें पड़कर बहती हुई डोंगियाँ सदा साथ-साथ ही नहीं चलतीं। माता ! यह चौदह वर्षकी अवधि आधे क्षणके समान बीत जायगी। आप अब दुःखको दूर करके हमें वन जानेकी अनुमति दीजिये। आपके ऐसा करनेसे मैं वनमें सुखपूर्वक रह सकूँगा" ॥ ४६-४७ ॥

इत्युक्त्वा दण्डवन्मातुः पादयोरपतच्चिरम् ।
उत्थाप्याङ्के समावेश्य आशीर्भिरभ्यनन्दयत् ॥ ४८ ॥

सर्वे देवाः सगन्धर्वा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
रक्षन्तु त्वां सदा यान्तं तिष्ठन्तं निद्रया युतम् ॥ ४९ ॥

इति प्रस्थापयामास समालिङ्ग्य पुनः पुनः ।
लक्ष्मणोऽपि तदा रामं नत्वा हर्षाश्रुगद्गदः ॥ ५० ॥

आह राम ममान्तःस्थः संशयोऽयं त्वया हृतः ।
यास्यामि पृष्ठतो राम सेवां कर्तुं तदादिश ॥ ५१ ॥

अनुगृह्णीष्व मां राम नोचेत्प्राणांस्त्यजाम्यहम् ।
तथेति राघवोऽप्याह लक्ष्मणं याहि माचिरम् ॥ ५२ ॥

प्रतस्थे तां समाधातुं गतः सीतापतिर्विभुः ।
आगतं पतिमालोक्य सीता सुस्मितभाषिणी ॥ ५३ ॥

स्वर्णपात्रस्थसलिलैः पादौ प्रक्षाल्य भक्तितः ।
पप्रच्छ पतिमालोक्य देव किं सेनया विना ॥ ५४ ॥

आगतोऽसि गतः कुत्र श्वेतच्छत्रं च ते कुतः ।
वादित्राणि न वाद्यन्ते किरीटादिविवर्जितः ॥ ५५ ॥

सामन्तराजसहितः सम्भ्रमान्नागतोऽसि किम् ।
इति स्म सीतया पृष्टो रामः सस्मितमब्रवीत् ॥ ५६ ॥

राज्ञा मे दण्डकारण्ये राज्यं दत्तं शुभेऽखिलम् ।
अतस्तत्पालनार्थाय शीघ्रं यास्यामि भामिनि ॥ ५७ ॥

अद्यैव यास्यामि वनं त्वं तु श्वश्रूसमीपगा ।
शुश्रूषां कुरु मे मातुर्न मिथ्यावादिनो वयम् ॥ ५८ ॥

इति ब्रुवन्तं श्रीरामं सीता भीताब्रवीद्वचः ।
किमर्थं वनराज्यं ते पित्रा दत्तं महात्मना ॥ ५९ ॥

ऐसा कह श्रीरामचन्द्रजी बहुत देरतक दण्डके समान माताके चरणोंमें पड़े रहे। तदनन्तर माताने उन्हें उठाकर गोदमें बैठा लिया और आशीर्वाद देकर उनकी प्रशंसा की ॥ ४८ ॥ वे बोलीं—"तुम्हारे चलते, बैठते अथवा सोते समय गन्धर्वोंसहित ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदिक सम्पूर्ण देवगण तुम्हारी सर्वदा रक्षा करें" ॥ ४९ ॥

इस प्रकार बारम्बार हृदयसे लगाकर माताने रामको विदा किया। तब लक्ष्मणजीने भी रामजीसे आँखोंमें आनन्दाश्रु भरकर गद्गद वाणीसे कहा—"हे राम ! आपने मेरा आन्तरिक सन्देह दूर कर दिया, अब मैं आपकी सेवा करनेके लिये आपके पीछे-पीछे चलूँगा। आप इसके लिये आज्ञा दीजिये ॥ ५०-५१ ॥ हे प्रभो ! आप मुझपर कृपा कीजिये, नहीं तो मैं प्राण छोड़ दूँगा।" तब रघुनाथजीने भी लक्ष्मणसे कहा—'बहुत अच्छा, चलो देरी न करो' ॥ ५२ ॥

तदनन्तर सीतापति भगवान् राम सीताजीको समझानेके लिये चले और अपने महलमें पहुँचे। तब मन्द-मुसकानपूर्वक बोलनेवाली श्रीसीताजीने पतिदेवको आते देख एक सुवर्णपात्रमें जल लेकर भक्तिपूर्वक उनके चरण धोये और स्वामीकी ओर देखते हुए पूछा—"देव ! इस समय सेनाके बिना ही आप कैसे आये हैं ? आप प्रातःकाल कहाँ गये थे ? आपका श्वेत छत्र कहाँ है ? बाजोंका बजना क्यों बंद हो गया है और आप किरीटादि राजोचित आभूषणोंसे रहित क्यों हैं ? ॥ ५३—५५ ॥ आप मन्त्री और राजाओंके सहित बड़े ठाट-बाटसे क्यों नहीं आये ?"

सीताजीके इस प्रकार पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीने मुसकराकर कहा ॥ ५६ ॥ "हे शुभे ! पिताजीने मुझे दण्डकारण्यका सम्पूर्ण राज्य दिया है, अतः हे भामिनि ! मैं शीघ्र ही उसका पालन करनेके लिये वहाँ जाऊँगा ॥ ५७ ॥ मैं आज ही वनको जाऊँगा; तुम अपनी सासके पास जाकर उनकी सेवा-शुश्रूषामें रहो। मैं झूठ नहीं बोलता" ॥ ५८ ॥

रामचन्द्रजीके इस प्रकार कहनेपर सीताजीने भयभीत होकर कहा—"आपके महात्मा पिताजीने आपको वनका राज्य क्यों दिया है ?" ॥ ५९ ॥

तामाह रामः कैकेय्यै राजा प्रीतो वरं ददौ ।
भरताय ददौ राज्यं वनवासं ममानघे ॥ ६० ॥

तब रामचन्द्रजीने उनसे कहा—"हे अनघे! महाराजने प्रसन्नतापूर्वक कैकेयीको वर देकर भरतको राज्य और मुझे वनवास दिया है ॥ ६० ॥

चतुर्दश समास्तत्र वासो मे किल याचितः ।
तया देव्या ददौ राजा सत्यवादी दयापरः ॥ ६१ ॥

देवी कैकेयीने मेरे लिये चौदह वर्षतक वनमें रहना माँगा था, सो सत्यवादी दयालु महाराजने देना स्वीकार कर लिया है ॥ ६१ ॥

अतः शीघ्रं गमिष्यामि मा विघ्नं कुरु भामिनि ।
श्रुत्वा तद्रामवचनं जानकी प्रीतिसंयुता ॥ ६२ ॥

अहमग्रे गमिष्यामि वनं पश्चात्त्वमेष्यसि ।
इत्याह मां विना गन्तुं तव राघव नोचितम् ॥ ६३ ॥

अतः हे भामिनि! मैं शीघ्र ही वहाँ जाऊँगा, तुम इसमें किसी प्रकारका विघ्न खड़ा न करना।" रामचन्द्रजीके ऐसे वचन सुनकर सीताजीने प्रसन्नतापूर्वक कहा—"पहले मैं वनको जाऊँगी, उसके पीछे आप आना। हे राघव! मुझे छोड़कर आपको वनमें जाना उचित नहीं है" ॥ ६२-६३ ॥

तामाह राघवः प्रीतः स्वप्रियां प्रियवादिनीम् ।
कथं वनं त्वां नेष्येऽहं बहुव्याघ्रमृगाकुलम् ॥ ६४ ॥

तब रघुनाथजीने प्रसन्न होकर अपनी प्रिया प्रियवादिनी जानकीसे कहा—"मैं तुम्हें अनेकों व्याघ्रादि वन्य-पशुओंसे पूर्ण वनमें कैसे साथ ले चलूँ॥ ६४ ॥

राक्षसा घोररूपाश्च सन्ति मानुषभोजिनः ।
सिंहव्याघ्रवराहाश्च सञ्चरन्ति समन्ततः ॥ ६५ ॥

वहाँ मनुष्योंको खानेवाले भयंकर राक्षस रहते हैं और सब ओर सिंह, व्याघ्र तथा शूकर आदि हिंस्र-जीव फिरते हैं ॥ ६५ ॥

कट्वम्लफलमूलानि भोजनार्थं सुमध्यमे ।
अपूपानि व्यञ्जनानि विद्यन्ते न कदाचन ॥ ६६ ॥

हे सुन्दर कमरवाली! वहाँ भोजनके लिये कड़ुए और खट्टे फल-मूलादि ही मिलते हैं, किसी प्रकारके पूए आदि व्यञ्जन वहाँ कभी नहीं मिलते ॥ ६६ ॥

काले काले फलं वापि विद्यते कुत्र सुन्दरि ।
मार्गो न दृश्यते क्वापि शर्कराकण्टकान्वितः ॥ ६७ ॥

हे सुन्दरि! वे फल भी सदा नहीं मिलते, किसी-किसी समय कहीं मिलते हैं। उस वनमें कहीं-कहीं तो धूलि और काँटोंसे ढके रहनेके कारण मार्ग भी दिखायी नहीं देता ॥ ६७ ॥

गुहागह्वरसम्बाधं झिल्लीदंशादिभिर्युतम् ।
एवं बहुविधं दोषं वनं दण्डकसंज्ञितम् ॥ ६८ ॥

वह दण्डकारण्य ऐसे ही अनेकों दोषोंसे भरा हुआ है। उसमें अनेकों गुफाएँ और गड्ढे हैं तथा वह झिल्ली और डासों आदिसे भरा हुआ है ॥ ६८ ॥

पादचारेण गन्तव्यं शीतवातातपादिमत् ।
राक्षसादीन्वने दृष्ट्वा जीवितं हास्यसेऽचिरात् ॥ ६९ ॥

ऐसे वनमें शीत, वायु और घाम आदिके समय भी पैदल ही चलना पड़ता है। मुझे सन्देह है कि तुम वनमें राक्षसादिकी भयंकर मूर्ति देखकर तुरंत ही प्राणत्याग कर बैठोगी ॥ ६९ ॥

तस्माद्भद्रे गृहे तिष्ठ शीघ्रं द्रक्ष्यसि मां पुनः ।
रामस्य वचनं श्रुत्वा सीता दुःखसमन्विता ॥ ७० ॥

प्रत्युवाच स्फुरद्वक्त्रा किञ्चित्कोपसमन्विता ।
कथं मामिच्छसे त्यक्तुं धर्मपत्नीं पतिव्रताम् ॥ ७१ ॥

इसलिये हे भद्रे! तुम घर ही रहो, मुझे शीघ्र ही फिर देख पाओगी।"

रामके ये वचन सुनकर सीताने दुःखातुर होकर कुछ क्रोधसे ओंठ कँपाते हुए कहा—"मुझ पतिव्रता धर्मपत्नीको आप घर क्यों छोड़ना चाहते हैं; ॥ ७०-७१ ॥

त्वदनन्यामदोषां मां धर्मज्ञोऽसि दयापरः ।
त्वत्समीपे स्थितां राम को वा मां धर्षयेद्वने ॥ ७२ ॥

फलमूलादिकं यद्यत्तव भुक्तावशेषितम् ।
तदेवामृततुल्यं मे तेन तुष्टा रमाम्यहम् ॥ ७३ ॥

त्वया सह चरन्त्या मे कुशाः काशाश्च कण्टकाः ।
पुष्पास्तरणतुल्या मे भविष्यन्ति न संशयः ॥ ७४ ॥

अहं त्वा क्लेशये नैव भवेयं कार्यसाधिनी ।
बाल्ये मां वीक्ष्य कश्चिद्वै ज्योतिः शास्त्रविशारदः ॥ ७५ ॥
प्राह ते विपिने वासः पत्या सह भविष्यति ।
सत्यवादी द्विजो भूयाद्गमिष्यामि त्वया सह ॥ ७६ ॥

अन्यत्किञ्चित्प्रवक्ष्यामि श्रुत्वा मां नय काननम् ।
रामायणानि बहुशः श्रुतानि बहुभिर्द्विजैः ॥ ७७ ॥

सीतां विना वनं रामो गतः किं कुत्रचिद्वद ।
अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी ॥ ७८ ॥

यदि गच्छसि मां त्यक्त्वा प्राणांस्त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः ।
इति तं निश्चयं ज्ञात्वा सीताया रघुनन्दनः ॥ ७९ ॥

अब्रवीद्देवि गच्छ त्वं वनं शीघ्रं मया सह ।
अरुन्धत्यै प्रयच्छाशु हारानाभरणानि च ॥ ८० ॥

ब्राह्मणेभ्यो धनं सर्वं दत्त्वा गच्छामहे वनम् ।
इत्युक्त्वा लक्ष्मणेनाशु द्विजानाहूय भक्तितः ॥ ८१ ॥

ददौ गवां वृन्दशतं धनानि
वस्त्राणि दिव्यानि विभूषणानि ।
कुटुम्बवद्भ्यः श्रुतशीलवद्भ्यो
मुदा द्विजेभ्यो रघुवंशकेतुः ॥ ८२ ॥

अरुन्धत्यै ददौ सीता मुख्यान्याभरणानि च ।
रामो मातुः सेवकेभ्यो ददौ धनमनेकधा ॥ ८३ ॥

स्वकान्तःपुरवासिभ्यः सेवकेभ्यस्तथैव च ।
पौरजानपदेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ॥ ८४ ॥

आप धर्मज्ञ और दयालु हैं, फिर अपनी अनन्यभक्ता और दोषहीना मुझ पत्नीको क्यों छोड़ते हैं ? हे राम ! वनमें भी आपके पास रहते हुए मेरा कोई क्या बिगाड़ सकता है ? ॥ ७२ ॥ जो भी फल-मूलादि आपके खानेसे बचेंगे वे ही मेरे लिये अमृतके समान होंगे। उनसे सन्तुष्ट होकर मैं आनन्दपूर्वक रहूँगी ॥ ७३ ॥ इसमें कोई सन्देह नहीं कि आपके साथ विचरते हुए मेरे लिये कुश-काश और कण्टकादि भी फूलोंके बिछौनोंके समान होंगे ॥ ७४ ॥ मैं आपको किसी प्रकारका कष्ट न दूँगी, बल्कि आपके कार्यमें सहायिका होऊँगी। बाल्यावस्थामें एक ज्योतिष-शास्त्रविशारद महात्माने मुझे देखकर कहा था कि तू अपने पतिके साथ वनमें रहेगी। उन ब्राह्मण महोदयका वाक्य सत्य हो, मैं अवश्य आपके साथ वनमें चलूँगी ॥ ७५-७६ ॥ एक बात और कहती हूँ, उसे सुनकर आप मुझे वनको ले चलिये। आपने बहुत-से ब्राह्मणोंके मुखसे बहुत-सी रामायणें सुनी होंगी ॥ ७७ ॥ बताइये, इनमेंसे किसीमें भी क्या सीताके बिना रामजी वनको गये हैं ? अतः मैं आपकी पूर्णतया सहायिका होकर अवश्य आपके साथ चलूँगी ॥ ७८ ॥ यदि आप मुझे छोड़कर चले जायँगे तो मैं अभी आपके सामने ही अपने प्राण छोड़ दूँगी।"

तब रघुनाथजीने सीताका ऐसा दृढ़ निश्चय देखकर कहा—"देवि ! तुम शीघ्र ही मेरे साथ वनको चलो, ये हार आदि सम्पूर्ण आभूषण वसिष्ठजीकी स्त्री अरुन्धतीको दे दो ॥ ७९-८० ॥ हम अपना सम्पूर्ण धन ब्राह्मणोंको देकर वनको चलेंगे।"

ऐसा कह भगवान् रामने लक्ष्मणजीद्वारा भक्तिपूर्वक ब्राह्मणोंको बुलवाया ॥ ८१ ॥ और उन रघुकुलकेतु भगवान् रामने प्रसन्नतापूर्वक सैकड़ों गौओंके झुंड, बहुत-सा धन, दिव्य वस्त्र और आभूषण कुटुम्बी तथा विद्वान् और शीलसम्पन्न ब्राह्मणोंको दिये ॥ ८२ ॥ सीताजीने अपने मुख्य-मुख्य आभूषण अरुन्धतीजीको दे दिये तथा अपनी माताके सेवकोंको भी रामने बहुत-सा धन दिया ॥ ८३ ॥ इसी प्रकार अपने अन्तःपुरवासी सेवकों, पुरवासियों, देशवासियों तथा ब्राह्मणोंको भी उन्होंने बहुत-सा धन दिया ॥ ८४ ॥

लक्ष्मणोऽपि सुमित्रां तु कौसल्यायै समर्पयत्।
धनुष्पाणिः समागत्य रामस्याग्रे व्यवस्थितः ॥ ८५ ॥
रामः सीता लक्ष्मणश्च जग्मुः सर्वे नृपालयम् ॥ ८६ ॥

इधर श्रीलक्ष्मणजीने भी अपनी माता सुमित्राको कौसल्याजीको सौंप दिया और आप हाथमें धनुष लेकर रामके सामने आकर खड़े हो गये। तदनन्तर राम, लक्ष्मण और सीता सब महाराज दशरथके पास चले ॥ ८५-८६ ॥

श्रीरामः सह सीतया नृपपथे
गच्छन् शनैः सानुजः
पौरान् जानपदान्कुतूहलदृशः
सानन्दमुद्वीक्षयन्।
श्यामः कामसहस्रसुन्दरवपुः
कान्त्या दिशो भासयन्
पादन्यासपवित्रिताखिलजगत्
प्रापालयं तत्पितुः ॥ ८७ ॥

सहस्रों कामदेवोंके समान सुन्दर श्याम शरीरवाले भगवान् राम सीता और छोटे भाई लक्ष्मणके सहित अपनी कान्तिसे दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए धीरे-धीरे राजमार्गसे चले। उस समय जो पुरवासी और जनपदवासी लोग कुतूहलवश आनन्दमयी दृष्टिसे उनकी ओर देख रहे थे, उनके देखते हुए और अपने चरण-स्पर्शसे सम्पूर्ण संसारको पवित्र करते हुए वे अपने पिताके घर पहुँचे ॥ ८७ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अयोध्याकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चम सर्ग

भगवान्‌का वनगमन

श्रीमहादेव उवाच

आयान्तं नागरा दृष्ट्वा मार्गे रामं सजानकिम्।
लक्ष्मणेन समं वीक्ष्य ऊचुः सर्वे परस्परम् ॥ १ ॥
कैकेय्या वरदानादि श्रुत्वा दुःखसमावृताः।
बत राजा दशरथः सत्यसन्धं प्रियं सुतम् ॥ २ ॥
स्त्रीहेतोरत्यजत्कामी तस्य सत्यात्मता कुतः।
कैकेयी वा कथं दुष्टा रामं सत्यं प्रियङ्करम् ॥ ३ ॥
विवासयामास कथं क्रूरकर्मातिमूढधीः।
हे जना नात्र वस्तव्यं गच्छामोऽद्यैव काननम् ॥ ४ ॥
यत्र रामः सभार्यश्च सानुजो गन्तुमिच्छति।
पश्यन्तु जानकीं सर्वे पादचारेण गच्छतीम् ॥ ५ ॥
पुंभिः कदाचिद्दृष्टा वा जानकी लोकसुन्दरी।
सापि पादेन गच्छन्ती जनसङ्घेष्वनावृता ॥ ६ ॥
रामोऽपि पादचारेण गजाश्वादिविवर्जितः।
गच्छति द्रक्ष्यथ विभुं सर्वलोकैकसुन्दरम् ॥ ७ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—जानकी और लक्ष्मणके सहित श्रीरामचन्द्रजीको मार्गमें आते देख और कैकेयीके वरदानादिका समाचार सुन समस्त नगरवासी दुःखातुर होकर आपसमें कहने लगे—"हाय! कामवश राजा दशरथने अपने सत्यपरायण प्रिय पुत्रको स्त्रीके कारण छोड़ दिया? उसकी सत्यपरायणता कैसे रही? और दुष्टा कैकेयीने भी सत्यवादी और प्रियकारी रामको क्यों वनवास दिया? वह ऐसी क्रूरकर्मा और हतबुद्धि क्यों हो गयी? भाइयो! अब हमें यहाँ न रहना चाहिये; हम भी आज ही वनको चलेंगे, जहाँ स्त्री और छोटे भाईके सहित श्रीराम जाना चाहते हैं। देखो तो, आज जानकीजी पैदल चल रही हैं ॥ १—५ ॥ हाय! जिस त्रिलोकसुन्दरी जानकीको पहले कभी किसी पुरुषने शायद ही देखा हो, वही आज बिना किसी परदेके जनसमूहमें पैदल चल रही हैं ॥ ६ ॥ भाइयो! इन सर्वलोकैकसुन्दर भगवान् रामकी ओर भी देखो, ये भी आज बिना हाथी-घोड़ेके पैदल ही जा रहे

राक्षसी कैकेयीनाम्नी जाता सर्वविनाशिनी ।
रामस्यापि भवेद्दुःखं सीतायाः पादयानतः ॥ ८ ॥

बलवान्विधिरेवात्र पुंप्रयत्नो हि दुर्बलः ।
इति दुःखाकुले वृन्दे साधूनां मुनिपुङ्गवः ॥ ९ ॥

अब्रवीद्वामदेवोऽथ साधूनां सङ्घमध्यगः ।
मानुशोचथ रामं वा सीतां वा वच्मि तत्त्वतः ॥ १० ॥

एष रामः परो विष्णुरादिनारायणः स्मृतः ।
एषा सा जानकी लक्ष्मीर्योगमायेति विश्रुता ॥ ११ ॥

असौ शेषस्तमन्वेति लक्ष्मणाख्यश्च साम्प्रतम् ।
एष मायागुणैर्युक्तस्तत्तदाकारवानिव ॥ १२ ॥

एष एव रजोयुक्तो ब्रह्माभूद्विश्वभावनः ।
सत्त्वाविष्टस्तथा विष्णुस्त्रिजगत्प्रतिपालकः ॥ १३ ॥

एष रुद्रस्तामसोऽन्ते जगत्प्रलयकारणम् ।
एष मत्स्यः पुरा भूत्वा भक्तं वैवस्वतं मनुम् ॥ १४ ॥

नाव्यारोप्य लयस्यान्ते पालयामास राघवः ।
समुद्रमथने पूर्वं मन्दरे सुतलं गते ॥ १५ ॥

अधारयत्स्वपृष्ठेऽद्रिं कूर्मरूपी रघूत्तमः ।
मही रसातलं याता प्रलये सूकरोऽभवत् ॥ १६ ॥

तोलयामास दंष्ट्राग्रे तां क्षोणीं रघुनन्दनः ।
नारसिंहं वपुः कृत्वा प्रह्लादवरदः पुरा ॥ १७ ॥

त्रैलोक्यकण्टकं रक्षः पाटयामास तन्नखैः ।
पुत्रराज्यं हृतं दृष्ट्वा ह्यदित्या याचितः पुरा ॥ १८ ॥

वामनत्वमुपागम्य याच्ञया चाहरत्पुनः ।
दुष्टक्षत्रियभूभारनिवृत्त्यै भार्गवोऽभवत् ॥ १९ ॥

स एव जगतां नाथ इदानीं रामतां गतः ।
रावणादीनि रक्षांसि कोटिशो निहनिष्यति ॥ २० ॥

मानुषेणैव मरणं तस्य दृष्टं दुरात्मनः ।
राज्ञा दशरथेनापि तपसाराधितो हरिः ॥ २१ ॥

हैं ॥ ७ ॥ यह कैकेयी नामकी राक्षसी सबका नाश करनेके लिये उत्पन्न हुई है। भाई ! इन सीताजीके पैदल चलनेसे रामजीको भी तो बड़ा दुःख होता होगा ॥ ८ ॥ किन्तु किया क्या जाय ? इसमें दैव ही प्रबल है, पुरुषका प्रयत्न सर्वथा असमर्थ है।''

इस प्रकार साधु-समाजको दुःखातुर देख मुनिवर वामदेव उनके बीचमें आकर कहने लगे—''मैं आपलोगोंको वास्तविक बात बताता हूँ, आप इन राम और सीताके लिये किसी प्रकारकी चिन्ता न करें ॥ ९-१० ॥ ये राम आदिनारायण भगवान् विष्णु हैं और ये जानकीजी योगमाया नामसे विख्यात श्रीलक्ष्मीजी हैं ॥ ११ ॥ इस समय जो लक्ष्मण नाम धारण कर इनका अनुगमन कर रहे हैं, ये शेषजी हैं। ये पुरुषोत्तम भगवान् ही मायाके गुणोंसे युक्त होकर विभिन्न आकारवाले-से प्रतीत हुआ करते हैं ॥ १२ ॥ रजोगुणसे युक्त होकर ये ही विश्वरचयिता ब्रह्माजी हुए हैं और सत्त्वगुणविशिष्ट होनेपर ये ही त्रिलोकरक्षक भगवान् विष्णु होते हैं ॥ १३ ॥ तथा कल्पान्तमें तमोगुणका आश्रय कर ये ही जगत्का प्रलय करनेवाले रुद्र होते हैं। पूर्वकालमें इन्हीं रघुनाथजीने मत्स्यरूप होकर अपने भक्त वैवस्वत मनुको नावमें बैठाकर प्रलयकालके समय उनकी रक्षा की थी। समुद्र-मन्थनके समय, जब मन्दराचल पाताललोकको जाने लगा ॥ १४-१५ ॥ तब इन्हीं रघुनाथजीने कूर्मरूप होकर उसे अपनी पीठपर धारण किया था। प्रलयकालमें जब पृथिवी रसातलको चली गयी तो ये शूकररूप हुए ॥ १६ ॥ और उस पृथिवीको अपनी दाढ़ोंपर उठा लिया। इसी प्रकार एक बार प्रह्लादको वर देनेके लिये इन्होंने नृसिंहरूप धारण किया ॥ १७ ॥ और तीनों लोकोंके कण्टकरूप दैत्यराज हिरण्यकशिपुको अपने नखोंसे फाड़ डाला। एक बार अपने पुत्र इन्द्रका राज्य गया हुआ देख जब अदितिने इनसे प्रार्थना की ॥ १८ ॥ तब इन्होंने वामनरूप धारणकर याचना करके उसे फिर लौटा लिया। इन्होंने पृथिवीके भाररूप दुष्ट क्षत्रियगणोंको नष्ट करनेके लिये भृगुपुत्र परशुरामका रूप धारण किया था ॥ १९ ॥ वे ही जगत्प्रभु इस समय रामरूपसे प्रकट हुए हैं; अब ये रावण आदि करोड़ों राक्षसोंका वध करेंगे ॥ २० ॥ उस दुरात्माकी मृत्यु मनुष्यके हाथ ही बदी है। महाराज दशरथने (अपने पूर्वजन्ममें) तपस्याद्वारा भगवान् विष्णुकी इसलिये

पुत्रत्वाकाङ्क्षया विष्णोस्तदा पुत्रोऽभवद्धरिः ।
स एव विष्णुः श्रीरामो रावणादिवधाय हि ॥ २२ ॥

गन्ताद्यैव वनं रामो लक्ष्मणेन सहायवान् ।
एषा सीता हरेर्माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ॥ २३ ॥

राजा वा कैकेयी वापि नात्र कारणमण्वपि ।
पूर्वेद्युर्नारदः प्राह भूभारहरणाय च ॥ २४ ॥

रामोऽप्याह स्वयं साक्षाच्छ्वो गमिष्याम्यहं वनम् ।
अतो रामं समुद्दिश्य चिन्तां त्यजत बालिशाः ॥ २५ ॥

रामरामेति ये नित्यं जपन्ति मनुजा भुवि ।
तेषां मृत्युभयादीनि न भवन्ति कदाचन ॥ २६ ॥

का पुनस्तस्य रामस्य दुःखशङ्का महात्मनः ।
रामनाम्नैव मुक्तिः स्यात्कलौ नान्येन केनचित् ॥ २७ ॥

मायामानुषरूपेण विडम्बयति लोककृत् ।
भक्तानां भजनार्थाय रावणस्य वधाय च ॥ २८ ॥

राज्ञश्चाभीष्टसिद्ध्यर्थं मानुषं वपुराश्रितः ।
इत्युक्त्वा विरराामाथ वामदेवो महामुनिः ॥ २९ ॥

श्रुत्वा तेऽपि द्विजाः सर्वे रामं ज्ञात्वा हरिं विभुम् ।
जहुर्हृत्संशयग्रन्थिं राममेवान्वचिन्तयन् ॥ ३० ॥

य इदं चिन्तयेन्नित्यं रहस्यं रामसीतयोः ।
तस्य रामे दृढा भक्तिर्भवेद्विज्ञानपूर्विका ॥ ३१ ॥

रहस्यं गोपनीयं वो यूयं वै राघवप्रियाः ।
इत्युक्त्वा प्रययौ विप्रस्तेऽपि रामं परं विदुः ॥ ३२ ॥

ततो रामः समाविश्य पितृगेहमवारितः ।
सानुजः सीतया गत्वा कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

आगताः स्मो वयं मातस्त्रयस्ते सम्मतं वनम् ।
गन्तुं कृतधियः शीघ्रमाज्ञापयतु नः पिता ॥ ३४ ॥

आराधना की थी कि वे उनके यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लें; इसीलिये भगवान् इनके पुत्र हुए हैं। वे विष्णुभगवान् ही श्रीरामचन्द्रजी हैं। अब ये रावणके वधके लिये आज ही लक्ष्मणसहित वनको जायँगे। ये सीताजी जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाली साक्षात् भगवान्की माया हैं॥ २१—२३ ॥ इनके वन-गमनमें राजा या कैकेयी अणुमात्र भी कारण नहीं हैं। कल ही इनसे नादजीने पृथिवीका भार उतारनेके लिये प्रार्थना की थी॥ २४ ॥ उस समय स्वयं रामने भी उनसे यही कहा था कि कल मैं वनको जाऊँगा। अतः भोले भाइयो ! आपलोग रामके लिये कोई चिन्ता न करें॥ २५ ॥ संसारमें जो लोग नित्यप्रति 'राम-राम' जपा करते हैं उनको भी किसी समय मृत्युके भय आदि नहीं होते॥ २६ ॥ फिर उन महात्मा रामके लिये तो दुःखकी शंका ही कैसे हो सकती है ? कलियुगमें तो एकमात्र राम-नामसे ही मुक्ति हो सकती है और किसी उपायसे नहीं॥ २७ ॥ ये जगत्कर्ता प्रभु भक्तोंको गुण-कीर्तनका सुयोग देनेके लिये और रावणको मारनेके लिये ही मायामानुषरूपसे संसारमें लीला कर रहे हैं॥ २८ ॥ इसके सिवा राजा दशरथकी मनोरथ-सिद्धिके लिये भी इन्होंने यह मनुष्य-शरीर धारण किया है।'' ऐसा कहकर महामुनि वामदेवजी मौन हो गये ॥ २९ ॥

यह सुन वहाँ एकत्रित हुए सब द्विजगणोंने भी भगवान् रामको सर्वव्यापक श्रीविष्णुभगवान् जाना और वे अपने हृदयका संशय छोड़कर श्रीरामचन्द्रजीका ही स्मरण करने लगे॥ ३० ॥ 'जो पुरुष नित्यप्रति राम और सीताके इस रहस्यका मनन करेगा, उसकी भगवान् राममें विज्ञानके सहित दृढ़ भक्ति हो जायगी॥ ३१ ॥ आप सब लोग रामके परम प्रिय हैं अतः इस रहस्यको सदा गुप्त रखें, ऐसा कह विप्रवर वामदेवजी वहाँसे चले गये और पुरजनोंने भी जाना कि राम परमात्मा हैं॥ ३२ ॥

तदनन्तर रामजीने बिना किसी रोक-टोकके पिताके महलमें प्रवेश किया और लक्ष्मण तथा सीताके सहित वहाँ पहुँचकर कैकेयीसे कहा— ॥ ३३ ॥ ''माताजी ! आपके कथनानुसार हम तीनों वनको जानेके लिये तैयार होकर आ गये हैं; अब शीघ्र ही पिताजी हमें आज्ञा दें'' ॥ ३४ ॥

इत्युक्त्वा सहसोत्थाय चीराणि प्रददौ स्वयम् ।
रामाय लक्ष्मणायाथ सीतायै च पृथक्पृथक् ॥ ३५ ॥

रामस्तु वस्त्राण्युत्सृज्य वन्यचीराणि पर्यधात् ।
लक्ष्मणोऽपि तथा चक्रे सीता तत्र विजानती ॥ ३६ ॥

हस्ते गृहीत्वा रामस्य लज्जया मुखमैक्षत ।
रामो गृहीत्वा तच्चीरमंशुके पर्यवेष्टयत् ॥ ३७ ॥

तद्दृष्ट्वा रुरुदुः सर्वे राजदाराः समन्ततः ।
वसिष्ठस्तु तदाकर्ण्य रुदितं भर्त्सयन् रुषाः ॥ ३८ ॥

कैकेयीं प्राह दुर्वृत्ते राम एव त्वया वृतः ।
वनवासाय दुष्टे त्वं सीतायै किं प्रयच्छसि ॥ ३९ ॥

यदि रामं समन्वेति सीता भक्त्या पतिव्रता ।
दिव्याम्बरधरा नित्यं सर्वाभरणभूषिता ॥ ४० ॥

रमयत्वनिशं रामं वनदुःखनिवारिणी ।
राजा दशरथोऽप्याह सुमन्त्रं रथमानय ॥ ४१ ॥

रथमारुह्य गच्छन्तु वनं वनचरप्रियाः ।
इत्युक्त्वा राममालोक्य सीतां चैव सलक्ष्मणम् ॥ ४२ ॥

दुःखान्निपतितो भूमौ रुरोदाश्रुपरिप्लुतः ।
आरुरोह रथं सीता शीघ्रं रामस्य पश्यतः ॥ ४३ ॥

रामः प्रदक्षिणं कृत्वा पितरं रथमारुहत् ।
लक्ष्मणः खड्गयुगलं धनुस्तूणीयुगं तथा ॥ ४४ ॥

गृहीत्वा रथमारुह्य नोदयामास सारथिम् ।
तिष्ठ तिष्ठ सुमन्त्रेति राजा दशरथोऽब्रवीत् ॥ ४५ ॥

गच्छ गच्छेति रामेण नोदितोऽचोदयद्रथम् ।
रामे दूरं गते राजा मूर्च्छितः प्रापतद्भुवि ॥ ४६ ॥

पौरास्तु बालवृद्धाश्च वृद्धा ब्राह्मणसत्तमाः ।
तिष्ठ तिष्ठेति रामेति क्रोशन्तो रथमन्वयुः ॥ ४७ ॥

रामके ऐसा कहनेपर कैकेयीने सहसा उठकर स्वयं ही राम, लक्ष्मण और सीताको अलग-अलग वल्कल-वस्त्र दिये ॥ ३५ ॥ तब रामचन्द्रजीने अपने राजोचित वस्त्रोंको उतारकर वनवासियोंके-से वस्त्र धारण किये; लक्ष्मणजीने भी ऐसा ही किया किन्तु सीताजी उन्हें पहनना नहीं जानती थीं ॥ ३६ ॥ अतः उन वस्त्रोंको हाथमें लेकर वे लज्जापूर्वक रामजीकी ओर देखने लगीं । तब रामचन्द्रजीने उस चीरको लेकर सीताजीके वस्त्रोंपर ही लपेट दिया ॥ ३७ ॥

यह देखकर रनिवासकी सभी स्त्रियाँ रोने लगीं । तब वसिष्ठजीने उनके रोनेका शब्द सुनकर क्रोधित हो कैकेयीको डाँटते हुए कहा—"अयि दुःशीले ! तूने तो केवल रामके वन जानेका ही वर माँगा है न ? फिर तू सीताको भी वनके वस्त्र कैसे देती है ? ॥ ३८-३९ ॥ यदि पतिव्रता सीता भक्तिवश रामके साथ जाना चाहती है तो वह समस्त आभूषणोंसे विभूषित और दिव्य वस्त्र धारण किये हुए ही जाय ॥ ४० ॥ तथा नित्यप्रति रामके वनवास-दुःखको दूर करती हुई उनको आनन्दित करे ।"

तब महाराज दशरथने सुमन्त्रसे कहा—"सुमन्त्र ! तुम रथ ले आओ ॥ ४१ ॥ वनवासियोंके प्रिय ये राम आदि रथपर चढ़कर ही वनको जायँगे ।" ऐसा कह वे सीता और लक्ष्मणके सहित रामको देखकर दुःखसे पृथिवीपर गिर पड़े और आँखोंमें आँसू भरकर रोने लगे । तब रामजीके देखते-देखते शीघ्र ही सीताजी रथपर चढ़ीं ॥ ४२-४३ ॥ फिर रामचन्द्रजी पिताकी परिक्रमा कर रथारूढ़ हुए और उनके पीछे दो खड्ग तथा दो धनुष और तरकश लेकर लक्ष्मणजी सवार हुए और सारथिसे रथ हाँकनेको कहा । तब राजा दशरथ कहने लगे—'सुमन्त्र ! ठहरो, ठहरो ॥ ४४-४५ ॥ किन्तु रामचन्द्रजीने 'चलो, चलो' कहकर शीघ्रता करनेको कहा । इसलिये सुमन्त्रने रथ हाँक दिया । रामके दूर निकल जानेपर महाराज मूर्च्छित होकर पृथिवीपर गिर पड़े ॥ ४६ ॥ तदनन्तर समस्त पुरवासी, बालक-वृद्ध और वयोवृद्ध मुनिगण 'हे राम ! ठहरो, मत जाओ' इस प्रकार चिल्लाते हुए रथके पीछे-पीछे चले ॥ ४७ ॥

राजा रुदित्वा सुचिरं मां नयन्तु गृहं प्रति ।
कौसल्याया राममातुरित्याह परिचारकान् ॥ ४८ ॥

किञ्चित्कालं भवेत्तत्र जीवनं दुःखितस्य मे ।
अत ऊर्ध्वं न जीवामि चिरं रामं विना कृतः ॥ ४९ ॥

ततो गृहं प्रविश्यैव कौसल्यायाः पपात ह ।
मूर्च्छितश्च चिराद्बुद्ध्वा तूष्णीमेवावतस्थिवान् ॥ ५० ॥

रामस्तु तमसातीरं गत्वा तत्रावसत्सुखी ।
जलं प्राश्य निराहारो वृक्षमूलेऽस्वपद्विभुः ॥ ५१ ॥

सीतया सह धर्मात्मा धनुष्पाणिस्तु लक्ष्मणः ।
पालयामास धर्मज्ञः सुमन्त्रेण समन्वितः ॥ ५२ ॥

पौराः सर्वे समागत्य स्थितास्तस्याविदूरतः ।
शक्ता रामं पुरं नेतुं नोचेद्गच्छामहे वनम् ॥ ५३ ॥

इति निश्चयमाज्ञाय तेषां रामोऽतिविस्मितः ।
नाहं गच्छामि नगरमेते वै क्लेशभागिनः ॥ ५४ ॥

भविष्यन्तीति निश्चित्य सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ।
इदानीमेव गच्छामः सुमन्त्र रथमानय ॥ ५५ ॥

इत्याज्ञप्तः सुमन्त्रोऽपि रथं वाहैरयोजयत् ।
आरुह्य रामः सीता च लक्ष्मणोऽपि ययुर्द्रुतम् ॥ ५६ ॥

अयोध्याभिमुखं गत्वा किञ्चिद्दूरं ततो ययुः ।
तेऽपि राममदृष्ट्वैव प्रातरुत्थाय दुःखिताः ॥ ५७ ॥

रथनेमिगतं मार्गं पश्यन्तस्ते पुरं ययुः ।
हृदि रामं ससीतं ते ध्यायन्तस्तस्थुरन्वहम् ॥ ५८ ॥

सुमन्त्रोऽपि रथं शीघ्रं नोदयामास सादरम् ।
स्फीताञ्जनपदान्पश्यन् रामः सीतासमन्वितः ॥ ५९ ॥

गङ्गातीरं समागच्छच्छृङ्गवेराविदूरतः ।
गङ्गां दृष्ट्वा नमस्कृत्य स्नात्वा सानन्दमानसः ॥ ६० ॥

राजा दशरथ बहुत देरतक रोते रहे, फिर उन्होंने अपने सेवकोंसे कहा—"मुझे रामकी माता कौसल्याके घर ले चलो ॥ ४८ ॥ मुझ दुःखियाका वहाँ रहकर कुछ काल जीना हो सकता है; किन्तु रामसे रहित होकर अब मैं अधिक काल जीवित नहीं रह सकूँगा" ॥ ४९ ॥ तब कौसल्याके घर पहुँचते ही राजा अचेत होकर पृथिवीपर गिर पड़े; फिर बहुत देर पीछे चेत होनेपर वे चुपचाप बैठे रहे ॥ ५० ॥

इधर श्रीरामचन्द्रजी तमसा नदीके तटपर पहुँचकर वहाँ सुखपूर्वक रहे और रात्रिके समय बिना कुछ आहार किये केवल जल पीकर सीताजीके सहित वृक्षके नीचे सो गये। तथा सुमन्त्रके सहित धर्मात्मा लक्ष्मणजी धनुष लेकर उनकी रक्षा करते रहे ॥ ५१-५२ ॥ उनके पास ही समस्त पुरवासी आकर ठहर गये। उन्होंने निश्चय किया कि हम या तो रामको अयोध्या लौटा ले चलेंगे, नहीं तो हम भी इनके साथ वनको ही चले जायँगे ॥ ५३ ॥ रामचन्द्रजीको उनके इस निश्चयका पता चलनेपर अति विस्मय हुआ और उन्होंने यह सोचकर कि मैं तो अयोध्याको लौटूँगा नहीं, ये व्यर्थ वनमें क्लेश भोगेंगे, सुमन्त्रको बुलाकर कहा—"सुमन्त्र! तुम रथ ले आओ, हम अभी चलेंगे" ॥ ५४-५५ ॥

रामकी ऐसी आज्ञा होनेपर सुमन्त्रने रथमें घोड़े जोत दिये। तब राम, लक्ष्मण और सीता उसपर चढ़कर शीघ्रतासे चले ॥ ५६ ॥ उन्होंने अपना रथ कुछ दूर अयोध्याकी ओर ले जाकर फिर वनकी ओर बढ़ाया। प्रातःकाल होनेपर पुरवासियोंने उठकर जब रामको न देखा तो वे अत्यन्त दुःखी हुए ॥ ५७ ॥ और रथके पहियोंकी लीकके मार्गको देखते हुए वे अयोध्यापुरीमें लौट आये तथा प्रतिदिन हृदयमें राम और सीताका ध्यान करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ ५८ ॥

इधर सुमन्त्रने भी शीघ्र ही आदरपूर्वक अपना रथ बढ़ाया। तब सीताके सहित श्रीरामचन्द्रजी विस्तृत देशोंको देखते हुए शृङ्गवेरपुरके पास गङ्गाजीके तटपर पहुँचे। गङ्गाजीको देखकर उन्होंने प्रसन्नचित्तसे नमस्कार करके

शिंशपावृक्षमूले स निषसाद रघूत्तमः।
ततो गुहो जनैः श्रुत्वा रामागममहोत्सवम्॥ ६१॥

सखायं स्वामिनं द्रष्टुं हर्षात्तूर्णं समापतत्।
फलानि मधुपुष्पादि गृहीत्वा भक्तिसंयुतः॥ ६२॥

रामस्याग्रे विनिक्षिप्य दण्डवत्प्रापतद्भुवि।
गुहमुत्थाप्य तं तूर्णं राघवः परिषस्वजे॥ ६३॥

संपृष्टकुशलो रामं गुहः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
धन्योऽहमद्य मे जन्म नैषादं लोकपावन॥ ६४॥

बभूव परमानन्दः स्पृष्ट्वा तेऽङ्गं रघूत्तम।
नैषादराज्यमेतत्ते किङ्करस्य रघूत्तम॥ ६५॥

त्वदधीनं वसन्नत्र पालयास्मान् रघूद्वह।
आगच्छ यामो नगरं पावनं कुरु मे गृहम्॥ ६६॥

गृहाण फलमूलानि त्वदर्थं सञ्चितानि मे।
अनुगृह्णीष्व भगवन् दासस्तेऽहं सुरोत्तम॥ ६७॥

रामस्तमाह सुप्रीतो वचनं शृणु मे सखे।
न वेक्ष्यामि गृहं ग्रामं नव वर्षाणि पञ्च च॥ ६८॥

दत्तमन्येन नो भुञ्जे फलमूलादि किञ्चन।
राज्यं ममैतत्ते सर्वं त्वं सखा मेऽतिवल्लभः॥ ६९॥

वटक्षीरं समानाय्य जटामुकुटमादरात्।
बबन्ध लक्ष्मणेनाथ सहितो रघुनन्दनः॥ ७०॥

जलमात्रं तु सम्प्राश्य सीतया सह राघवः।
आस्तृतं कुशपर्णाद्यैः शयनं लक्ष्मणेन हि॥ ७१॥

उवास तत्र नगरप्रासादाग्रे यथा पुरा।
सुष्वाप तत्र वैदेह्या पर्यङ्क इव संस्कृते॥ ७२॥

ततोऽविदूरे परिगृह्य चापं
सबाणतूणीरधनुः स लक्ष्मणः।
ररक्ष रामं परितो विपश्यन्
गुहेन सार्धं सशरासनेन॥ ७३॥

स्नान किया॥ ५९-६०॥ और फिर रघुश्रेष्ठ रामजी शिंशपा (सीसम) के वृक्षकी छायामें बैठे। इसी समय निषादराज गुहने लोगोंके मुखसे रामजीके आनेका मङ्गल समाचार सुना॥ ६१॥ यह सुनते ही वह तुरंत अपने एकमात्र सखा और स्वामी श्रीरघुनाथजीको देखनेके लिये प्रसन्न चित्तसे भक्तिपूर्वक फल, शहद और पुष्पादि लेकर वहाँ आया॥ ६२॥ और वह भेंटकी सामग्री रामके आगे डालकर दण्डके समान पृथिवीपर गिर पड़ा। तब श्रीरघुनाथजीने उसे तुरंत ही उठाकर गले लगा लिया॥ ६३॥

तदुपरान्त रामजीके कुशल पूछनेपर गुहने हाथ जोड़कर कहा—"हे लोकपावन! मैं धन्य हूँ, आज मेरा निषाद-जातिमें जन्म लेना सफल हो गया॥ ६४॥ हे रघुश्रेष्ठ! आपके अङ्ग-सङ्गसे मुझे परम आनन्द प्राप्त हुआ है। हे रघुवर! आपके दासका यह नैषादराज्य आपहीका है, इसलिये हे रघुनाथजी! आप यहाँ रहकर हमलोगोंकी रक्षा कीजिये। चलिये नगरमें पधारकर मेरा घर पवित्र कीजिये॥ ६५-६६॥ हे भगवन्! आपके लिये मैंने जो कुछ फल-मूलादि एकत्रित किये हैं उन्हें स्वीकार कीजिये। हे सुरश्रेष्ठ! मैं आपका दास हूँ, आप मुझपर कृपा कीजिये"॥ ६७॥

तब रामचन्द्रजीने अति प्रसन्न होकर उससे कहा—"मित्र! सुनो, मैं चौदह वर्षतक किसी घर या गाँवमें नहीं जा सकता॥ ६८॥ और न किसी औरके दिये हुए फल-मूलादि ही खा सकता हूँ। मित्र! तुम्हारा यह सम्पूर्ण राज्य मेरा ही है और तुम भी मेरे अत्यन्त प्रिय सखा हो'॥ ६९॥

तदनन्तर रघुनाथजीने वटका दूध मँगाकर लक्ष्मणके सहित भली प्रकार सँवारकर जटाजूट बाँधे॥ ७०॥ लक्ष्मणजीने कुश और पत्तोंकी एक शय्या बना दी, उसीपर केवल जल पीकर सीताके सहित श्रीरघुनाथजी विराजमान हुए और पहले जिस प्रकार अयोध्यापुरीके महलमें जनकनन्दिनीके सहित सुसज्जित पलंगपर पौढ़ते थे उसी प्रकार सो गये॥ ७१-७२॥ उनके पास ही धनुष, बाण और तरकश लिये हुए श्रीलक्ष्मणजी धनुषधारी गुहके सहित धनुष चढ़ाकर इधर-उधर देखते हुए श्रीरामचन्द्रजीकी रखवाली करने लगे॥ ७३॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अयोध्याकाण्डे पञ्चमः सर्गः॥ ५॥

षष्ठ सर्ग

गङ्गोत्तरण तथा भरद्वाज और वाल्मीकिजीसे भेंट

श्रीमहादेव उवाच

सुप्तं रामं समालोक्य गुहः सोऽश्रुपरिप्लुतः।
लक्ष्मणं प्राह विनयाद् भ्रातः पश्यसि राघवम्॥ १ ॥

शयानं कुशपत्रौघसंस्तरे सीतया सह।
यः शेते स्वर्णपर्यङ्के स्वास्तीर्णे भवनोत्तमे॥ २ ॥

कैकेयी रामदुःखस्य कारणं विधिना कृता।
मन्थराबुद्धिमास्थाय कैकेयी पापमाचरत्॥ ३ ॥

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणः प्राह सखे शृणु वचो मम।
कः कस्य हेतुर्दुःखस्य कश्च हेतुः सुखस्य वा॥ ४ ॥

स्वपूर्वार्जितकर्मैव कारणं सुखदुःखयोः॥ ५ ॥

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥ ६ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनद्वेष्यमध्यस्थबान्धवाः।
स्वयमेवाचरन्कर्म तथा तत्र विभाव्यते॥ ७ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं स्वकर्मवशगो नरः।
यद्यद्यथागतं तत्तद् भुक्त्वा स्वस्थमना भवेत्॥ ८ ॥

न मे भोगागमे वाञ्छा न मे भोगविवर्जने।
आगच्छत्वथ मागच्छत्वभोगवशगो भवेत्॥ ९ ॥

यस्मिन् देशे च काले च यस्माद्वा येन केन वा।
कृतं शुभाशुभं कर्म भोज्यं तत्तत्र नान्यथा॥ १० ॥

अलं हर्षविषादाभ्यां शुभाशुभफलोदये।
विधात्रा विहितं यद्यत्तदलङ्घ्यं सुरासुरैः॥ ११ ॥

सर्वदा सुखदुःखाभ्यां नरः प्रत्यवरुध्यते।
शरीरं पुण्यपापाभ्यामुत्पन्नं सुखदुःखवत्॥ १२ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! उस समय रामजीको सोते देख गुहने आँखोंमें आँसू भरकर नम्रता-पूर्वक लक्ष्मणजीसे कहा—"भाई! देखते हो, जो रघुनाथजी अपने भव्य-भवनमें सुन्दर बिछौनेसे युक्त सुवर्णनिर्मित पलंगपर पौढ़ते थे वे ही आज सीताजीके सहित कुश और पत्तोंकी साथरीपर पड़े हुए हैं॥ १-२॥ विधाताने रामजीके इस दुःखका कारण कैकेयीको बना दिया। मन्थराकी बुद्धिपर विश्वास करके कैकेयीने यह बड़ा पापका काम किया!"॥ ३॥

यह सुनकर लक्ष्मणजीने कहा—"भाई! मेरी बात सुनो? किसीके दुःख अथवा सुखका कारण दूसरा कौन है? अर्थात् कोई भी नहीं है। मनुष्यका पूर्वकृत कर्म ही उसके सुख अथवा दुःखका कारण होता है॥ ४-५॥ सुख और दुःखका देनेवाला कोई और नहीं है; 'कोई अन्य सुख-दुःख देता है' यह समझना कुबुद्धि है। 'मैं करता हूँ' यह वृथा अभिमान है, क्योंकि लोग अपने-अपने कर्मोंकी डोरीमें बँधे हुए हैं॥ ६॥ यह मनुष्य स्वयं ही पृथक्-पृथक् आचरण करके उसके अनुसार सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, द्वेष्य, मध्यस्थ और बन्धु आदिकी कल्पना कर लेता है॥ ७॥ अतः मनुष्यको चाहिये कि प्रारब्धानुसार सुख या दुःख जो कुछ भी जैसे-जैसे प्राप्त हो उसे वैसे ही भोगते हुए सदा प्रसन्नचित्त रहे॥ ८॥ हमें न तो भोगोंकी प्राप्तिकी इच्छा है और न उन्हें त्यागनेकी। भोग आयें या न आयें हम भोगोंके अधीन नहीं हैं॥ ९॥ जिस देश अथवा जिस कालमें जिस किसीके द्वारा शुभ अथवा अशुभ कर्म किया जाता है, उसे निस्सन्देह उसी प्रकार भोगना पड़ता है॥ १०॥ अतः शुभ अथवा अशुभ कर्मफलके उदय होनेपर हर्ष अथवा दुःख मानना व्यर्थ है, क्योंकि विधाताकी गतिका देवता अथवा दैत्य कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता है॥ ११॥ मनुष्य सदा ही दुःख और सुखसे घिरा रहता है; क्योंकि मनुष्य-शरीर पाप और पुण्यके मेलसे उत्पन्न होनेके कारण सुख-दुःखमय ही

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
द्वयमेतद्धि जन्तूनामलङ्घ्यं दिनरात्रिवत्॥ १३॥

सुखमध्ये स्थितं दुःखं दुःखमध्ये स्थितं सुखम्।
द्वयमन्योन्यसंयुक्तं प्रोच्यते जलपङ्कवत्॥ १४॥

तस्माद्धैर्येण विद्वांस इष्टानिष्टोपपत्तिषु।
न हृष्यन्ति न मुह्यन्ति सर्वं मायेति भावनात्॥ १५॥

गुहलक्ष्मणयोरेवं भाषतोर्विमलं नभः।
बभूव रामः सलिलं स्पृष्ट्वा प्रातः समाहितः॥ १६॥

उवाच शीघ्रं सुदृढां नावमानय मे सखे।
श्रुत्वा रामस्य वचनं निषादाधिपतिर्गुहः॥ १७॥

स्वयमेव दृढां नावमानिनाय सुलक्षणाम्।
स्वामिन्नारुह्यतां नौका सीतया लक्ष्मणेन च॥ १८॥

वाहये ज्ञातिभिः सार्धमहमेव समाहितः।
तथेति राघवः सीतामारोप्य शुभलक्षणाम्॥ १९॥

गुहस्य हस्तावालम्ब्य स्वयं चारोहदच्युतः।
आयुधादीन् समारोप्य लक्ष्मणोऽप्यारुरोह च॥ २०॥

गुहस्तान्वाहयामास ज्ञातिभिः सहितः स्वयम्।
गङ्गामध्ये गता गङ्गां प्रार्थयामास जानकी॥ २१॥

देवि गङ्गे नमस्तुभ्यं निवृत्ता वनवासतः।
रामेण सहिताहं त्वां लक्ष्मणेन च पूजये॥ २२॥

इत्युक्त्वा परकूलं तौ शनैरुत्तीर्य जग्मतुः॥ २३॥

गुहोऽपि राघवं प्राह गमिष्यामि त्वया सह।
अनुज्ञां देहि राजेन्द्र नोचेत्प्राणांस्त्यजाम्यहम्॥ २४॥

श्रुत्वा नैषादिवचनं श्रीरामस्तमथाब्रवीत्।
चतुर्दश समाः स्थित्वा दण्डके पुनरप्यहम्॥ २५॥

आयास्याम्युदितं सत्यं नासत्यं रामभाषितम्।
इत्युक्त्वालिङ्ग्य तं भक्तं समाश्वास्य पुनः पुनः॥ २६॥

निवर्तयामास गुहं सोऽपि कृच्छ्राद्ययौ गृहम्॥ २७॥

है॥ १२॥ सुखके पीछे दुःख और दुःखके पीछे सुख आता है। ये दोनों ही दिन और रात्रिके समान जीवोंसे अलङ्घनीय हैं॥ १३॥ सुखके भीतर दुःख और दुःखके भीतर सुख सर्वदा वर्तमान रहता है। ये दोनों ही जल और कीचड़के समान आपसमें मिले हुए रहते हैं॥ १४॥ इसलिये विद्वान् लोग 'सब कुछ माया ही है' इस भावनाके कारण इष्ट या अनिष्टकी प्राप्तिमें धैर्य रखकर हर्ष या शोक नहीं मानते'' ॥ १५॥

गुह और लक्ष्मणके इस प्रकार बातचीत करते-करते आकाशमें उजाला हो गया। तब रामचन्द्रजीने सावधानतापूर्वक आचमन कर प्रातः क्रिया की॥ १६॥ और बोले—''मित्र! शीघ्र ही मेरे लिये एक सुदृढ़ नौका लाओ।'' रामके ये वचन सुनकर निषादराज गुह स्वयं ही एक सुलक्षण-सम्पन्न सुदृढ़ नौका ले आये और बोले—''स्वामिन्! सीता और लक्ष्मणके सहित नावपर चढ़िये॥ १७-१८॥ अपने जाति-भाइयोंके साथ मैं स्वयं इसे सावधानतापूर्वक चलाऊँगा।'' तब रघुनाथजीने 'बहुत अच्छा' कह प्रथम शुभलक्षणा सीताजीको उसपर चढ़ाया॥ १९॥ फिर गुहका हाथ पकड़कर श्रीअच्युत भगवान् रघुनाथजी स्वयं चढ़े। तदनन्तर अपने आयुधादिको रख श्रीलक्ष्मणजी नौकारूढ़ हुए॥ २०॥

तब गुहने अपने जाति-भाइयोंके सहित स्वयं नौका चलायी। जिस समय नाव गङ्गाजीके बीचमें पहुँची तब जानकीजीने गङ्गाजीसे प्रार्थना की—॥ २१॥ ''देवि गङ्गे! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ। वनवाससे लौटनेपर मैं राम और लक्ष्मणके सहित तुम्हारी पूजा करूँगी।'' इस प्रकार प्रार्थना करनेके पश्चात् वे शनैः-शनैः पार उतरकर आगे चलने लगे॥ २२-२३॥ तब गुहने श्रीरघुनाथजीसे कहा—''हे राजेन्द्र! मैं भी आपके साथ ही चलूँगा; आप मुझे आज्ञा दीजिये, नहीं तो मैं प्राण छोड़ दूँगा॥ २४॥

निषादपुत्रके वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने उनसे कहा—''मैं चौदह वर्ष दण्डकारण्यमें रहकर यहाँ फिर आऊँगा। मैं जो कुछ कहता हूँ सत्य ही कहता हूँ, रामकी बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती।'' ऐसा कह रामजीने भक्त गुहको ढाढस बँधा उसे बारम्बार गले लगाकर विदा किया। तब निषादराज गुह बड़ी कठिनतासे घर लौटे॥ २५—२७॥

ततो रामस्तु वैदेह्या लक्ष्मणेन समन्वितः ॥ २८ ॥

भरद्वाजाश्रमपदं गत्वा बहिरुपस्थितः ।
तत्रैकं बटुकं दृष्ट्वा रामः प्राह च हे बटो ॥ २९ ॥

रामो दाशरथिः सीतालक्ष्मणाभ्यां समन्वितः ।
आस्ते बहिर्वनस्येति ह्युच्यतां मुनिसन्निधौ ॥ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा सहसा गत्वा पादयोः पतितो मुनेः ।
स्वामिन् रामः समागत्य वनाद्बहिरवस्थितः ॥ ३१ ॥

सभार्यः सानुजः श्रीमानाह मां देवसन्निभः ।
भरद्वाजाय मुनये ज्ञापयस्व यथोचितम् ॥ ३२ ॥

तच्छ्रुत्वा सहसोत्थाय भरद्वाजो मुनीश्वरः ।
गृहीत्वार्घ्यं च पाद्यं च रामसामीप्यमाययौ ॥ ३३ ॥

दृष्ट्वा रामं यथान्यायं पूजयित्वा सलक्ष्मणम् ।
आह मे पर्णशालां भो राम राजीवलोचन ॥ ३४ ॥

आगच्छ पादरजसा पुनीहि रघुनन्दन ।
इत्युक्त्वोटजमानीय सीतया सह राघवौ ॥ ३५ ॥

भक्त्या पुनः पूजयित्वा चकारातिथ्यमुत्तमम् ।
अद्याहं तपसः पारं गतोऽस्मि तव सङ्गमात् ॥ ३६ ॥

ज्ञातं राम तवोदन्तं भूतं चागामिकं च यत् ।
जानामि त्वां परात्मानं मायया कार्यमानुषम् ॥ ३७ ॥

यदर्थमवतीर्णोऽसि प्रार्थितो ब्रह्मणा पुरा ।
यदर्थं वनवासस्ते यत्करिष्यसि वै पुरः ॥ ३८ ॥

जानामि ज्ञानदृष्ट्याहं जातया त्वदुपासनात् ।
इतः परं त्वां किं वक्ष्ये कृतार्थोऽहं रघूत्तम ॥ ३९ ॥

यस्त्वां पश्यामि काकुत्स्थं पुरुषं प्रकृतेः परम् ।
रामस्तमभिवाद्याह सीतालक्ष्मणसंयुतः ॥ ४० ॥

अनुग्राह्यास्त्वया ब्रह्मन्वयं क्षत्रियबान्धवाः ।
इति सम्भाष्य तेऽन्योन्यमुषित्वा मुनिसन्निधौ ॥ ४१ ॥

तदनन्तर जानकीजी और लक्ष्मणके सहित श्रीरामचन्द्रजी भरद्वाज मुनिके आश्रमके पास पहुँचकर बाहर खड़े हो गये। वहाँ एक ब्रह्मचारीको देखकर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—"हे बटो ! मुनिवरसे जाकर कहो कि दशरथका पुत्र राम सीता और लक्ष्मणके सहित आश्रमके बाहर खड़ा है" ॥ २८—३० ॥

रघुनाथजीका यह कथन सुनकर ब्रह्मचारीने तुरंत ही मुनिवरके पास जाकर उनके चरणोंमें सिर रखकर कहा—"भगवन् ! पत्नी और छोटे भाईके सहित श्रीमान् रामचन्द्र आये हैं और आश्रमके बाहर खड़े हैं। उन देवतुल्य श्रीरामजीने मुझसे कहा है कि मुनिवर भरद्वाजको इसकी यथायोग्य सूचना दो" ॥ ३१-३२ ॥

यह सुनकर मुनिनाथ भरद्वाज सहसा उठ खड़े हुए और अर्घ्य-पाद्यादि लेकर रामके पास आये ॥ ३३ ॥ रामको देखकर उन्होंने लक्ष्मणजीसहित उनकी नियमानुसार पूजा की और कहा—"हे राम ! हे कमलनयन रघुनन्दन ! आइये, अपनी चरण-रजसे मेरी पर्णशालाको पवित्र कीजिये।" ऐसा कह वे सीताजीके सहित दोनों रघुकुमारोंको अपनी कुटियामें ले आये ॥ ३४-३५ ॥ और फिर उनका भक्तिपूर्वक पूजन कर भली प्रकार आतिथ्य-सत्कार किया। तदनन्तर मुनिवर बोले—"राम ! आज आपके समागमसे मेरी तपस्या पूर्ण हो गयी ॥ ३६ ॥ हे रघुनन्दन ! मैं आपका भूत और भविष्यत् सम्पूर्ण वृत्तान्त जानता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि आप साक्षात् परमात्मा हैं और कार्यकी सिद्धिके लिये ही मायासे मनुष्यरूप हुए हैं ॥ ३७ ॥ पूर्वकालमें ब्रह्माके प्रार्थना करनेसे जिस लिये आपने अवतार लिया है, जिस लिये आपको वनवास हुआ है और जो कुछ आप आगे करेंगे वह सब, आपकी उपासनाद्वारा प्राप्त हुई ज्ञान-दृष्टिसे मैं जानता हूँ। हे रघुश्रेष्ठ ! आपसे मैं अधिक क्या कहूँ ? मैं तो कृतार्थ हो गया, जो आज प्रकृतिसे परे साक्षात् पुरुषोत्तम आप ककुत्स्थनन्दनको देख रहा हूँ।"

तब सीता और लक्ष्मणके सहित श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें प्रणाम करके कहा— ॥ ३८—४० ॥ "ब्रह्मन् ! हम क्षत्रिय-कुलोत्पन्न हैं; अतः आपकी कृपाके पात्र हैं।" इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेसे कहनेके उपरान्त वे मुनिके यहाँ ठहर गये ॥ ४१ ॥

प्रातरुत्थाय यमुनामुत्तीर्य मुनिदारकैः ।
कृताप्लवेन मुनिना दृष्टमार्गेण राघवः ॥ ४२ ॥

प्रययौ चित्रकूटाद्रिं वाल्मीकेर्यत्र चाश्रमः ।
गत्वा रामोऽथ वाल्मीकेराश्रमं ऋषिसङ्कुलम् ॥ ४३ ॥

नानामृगद्विजाकीर्णं नित्यपुष्पफलाकुलम् ।
तत्र दृष्ट्वा समासीनं वाल्मीकिं मुनिसत्तमम् ॥ ४४ ॥

ननाम शिरसा रामो लक्ष्मणेन च सीतया ।
दृष्ट्वा रामं रमानाथं वाल्मीकिर्लोकसुन्दरम् ॥ ४५ ॥

जानकीलक्ष्मणोपेतं जटामुकुटमण्डितम् ।
कन्दर्पसदृशाकारं कमनीयाम्बुजेक्षणम् ॥ ४६ ॥

दृष्ट्वैव सहसोत्तस्थौ विस्मयानिमिषेक्षणः ।
आलिङ्ग्य परमानन्दं रामं हर्षाश्रुलोचनः ॥ ४७ ॥

पूजयित्वा जगत्पूज्यं भक्त्यार्घ्यादिभिरादृतः ।
फलमूलैः स मधुरैर्भोजयित्वा च लालितः ॥ ४८ ॥

राघवः प्राञ्जलिः प्राह वाल्मीकिं विनयान्वितः ।
पितुराज्ञां पुरस्कृत्य दण्डकानागता वयम् ॥ ४९ ॥

भवन्तो यदि जानन्ति किं वक्ष्यामोऽत्र कारणम् ।
यत्र मे सुखवासाय भवेत्स्थानं वदस्व तत् ॥ ५० ॥

सीतया सहितः कालं किञ्चित्तत्र नयाम्यहम् ।
इत्युक्तो राघवेणासौ मुनिः सस्मितमब्रवीत् ॥ ५१ ॥

त्वमेव सर्वलोकानां निवासस्थानमुत्तमम् ।
तवापि सर्वभूतानि निवाससदनानि हि ॥ ५२ ॥

एवं साधारणं स्थानमुक्तं ते रघुनन्दन ।
सीतया सहितस्येति विशेषं पृच्छतस्तव ॥ ५३ ॥

तद्वक्ष्यामि रघुश्रेष्ठ यत्ते नियतमन्दिरम् ।
शान्तानां समदृष्टीनामद्वेष्टॄणां च जन्तुषु ।
त्वामेव भजतां नित्यं हृदयं तेऽधिमन्दिरम् ॥ ५४ ॥

प्रातःकाल जागनेपर श्रीरघुनाथजी मुनिकुमारोंकी बनायी हुई डोंगीपर चढ़कर यमुनाके पार हुए और मुनिवरके बताये हुए मार्गसे चित्रकूट-पर्वतकी ओर चले जहाँ वाल्मीकिजीका आश्रम था। उस ऋषिगणोंसे भरे हुए, नाना मृग और पक्षियोंसे समाकुल तथा सर्वदा फल-पुष्पादिसे परिपूर्ण वाल्मीकिजीके आश्रममें जाकर श्रीरामचन्द्रजीने देखा कि मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकिजी बैठे हुए हैं ॥ ४२—४४ ॥ तब श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मण और सीताके सहित उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया। तब श्रीवाल्मीकिजीने सुन्दर कमलके समान नेत्रवाले, कामदेवकी-सी आकृतिवाले, जटा-मुकुटधारी, त्रिलोक-मोहन लक्ष्मीपति श्रीरामचन्द्रजीको सीता और लक्ष्मणके सहित देखा ॥ ४५-४६ ॥

उन्हें देखते ही श्रीवाल्मीकिजी सहसा उठ खड़े हुए, उनके नेत्र आश्चर्यसे निमेषशून्य हो गये और उन्होंने नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भर परमानन्दस्वरूप श्रीरामचन्द्रजीका आलिङ्गन किया ॥ ४७ ॥ तथा अति भक्तिभावसे जगत्पूज्य भगवान् रामकी अर्घ्यादिसे सादर पूजा कर उन्हें मीठे-मीठे फल-मूलादि खिलाकर उनका लालन किया ॥ ४८ ॥

तब श्रीरघुनाथजीने अति नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर श्रीवाल्मीकिजीसे कहा—"हम पिताजीकी आज्ञा मानकर दण्डकवनमें आये हैं ॥ ४९ ॥ आप सब कुछ जानते ही हैं, फिर हम आपको इसका कारण क्या बतायें ? अब आप मुझे कोई ऐसा स्थान बताइये जहाँ मैं सुखपूर्वक रह सकूँ ॥ ५० ॥ आपके बताये हुए उस स्थानमें मैं सीताके साथ रहकर कुछ समय बिताऊँगा।"

रघुनाथजीके इस प्रकार कहनेपर मुनिवरने मुसकराकर कहा— ॥ ५१ ॥ "हे राम ! सम्पूर्ण प्राणियोंके आप ही एकमात्र उत्तम निवास-स्थान हैं और सब जीव भी आपके निवास-गृह हैं ॥ ५२ ॥ हे रघुनन्दन ! इस प्रकार यह मैंने आपका साधारण निवासस्थान बताया, परन्तु आपने विशेष-रूपसे सीताके सहित अपने रहनेका स्थान पूछा है इसलिये हे रघुश्रेष्ठ ! अब मैं आपका जो निश्चित गृह है वह बताता हूँ। जो शान्त, समदर्शी और सम्पूर्ण जीवोंके प्रति द्वेषहीन हैं तथा अहर्निश आपका ही भजन करते हैं उनका हृदय आपका

धर्माधर्मान्परित्यज्य त्वामेव भजतोऽनिशम्।
सीतया सह ते राम तस्य हृत्सुखमन्दिरम्॥ ५५॥

त्वन्मन्त्रजापको यस्तु त्वामेव शरणं गतः।
निर्द्वन्द्वो निःस्पृहस्तस्य हृदयं ते सुमन्दिरम्॥ ५६॥

निरहङ्कारिणः शान्ता ये रागद्वेषवर्जिताः।
समलोष्टाश्मकनकास्तेषां ते हृदयं गृहम्॥ ५७॥

त्वयि दत्तमनोबुद्धिर्यः सन्तुष्टः सदा भवेत्।
त्वयि सन्त्यक्तकर्मा यस्तन्मनस्ते शुभं गृहम्॥ ५८॥

यो न द्वेष्ट्यप्रियं प्राप्य प्रियं प्राप्य न हृष्यति।
सर्वं मायेति निश्चित्य त्वां भजेत्तन्मनो गृहम्॥ ५९॥

षड्भावादिविकारान्यो देहे पश्यति नात्मनि।
क्षुत्तृट् सुखं भयं दुःखं प्राणबुद्ध्योर्निरीक्षते॥ ६०॥

संसारधर्मैर्निर्मुक्तस्तस्य ते मानसं गृहम्॥ ६१॥

पश्यन्ति ये सर्वगुहाशयस्थं
त्वां चिद्घनं सत्यमनन्तमेकम्।
अलेपकं सर्वगतं वरेण्यं
तेषां हृदब्जे सह सीतया वस॥ ६२॥

निरन्तराभ्यासदृढीकृतात्मनां
त्वत्पादसेवापरिनिष्ठितानाम्।
त्वन्नामकीर्त्या हतकल्मषाणां
सीतासमेतस्य गृहं हृदब्जे॥ ६३॥

राम त्वन्नाममहिमा वर्ण्यते केन वा कथम्।
यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवाप्तवान्॥ ६४॥

अहं पुरा किरातेषु किरातैः सह वर्धितः।
जन्ममात्रद्विजत्वं मे शूद्राचाररतः सदा॥ ६५॥

शूद्रायां बहवः पुत्रा उत्पन्ना मेऽजितात्मनः।
ततश्चौरैश्च सङ्गम्य चौरोऽहमभवं पुरा॥ ६६॥

प्रधान निवास-स्थान है॥ ५३-५४॥ जो धर्म और अधर्म दोनोंको छोड़कर निरन्तर आपका ही भजन करता है, हे राम! उसके हृदय-मन्दिरमें सीताके सहित आप सुखपूर्वक रहते हैं॥ ५५॥ जो आपहीके मन्त्रका जाप करता है, आपहीकी शरणमें रहता है तथा द्वन्द्वहीन और निःस्पृह है उसका हृदय आपका सुन्दर मन्दिर है॥ ५६॥ जो अहंकारशून्य, शान्तस्वभाव, राग-द्वेषरहित और मृत-पिण्ड, पत्थर तथा सुवर्णमें समान दृष्टि रखनेवाले हैं, उनका हृदय आपका घर है॥ ५७॥ जो आपहीमें मन और बुद्धिको लगाकर सदा सन्तुष्ट रहता है और अपने समस्त कर्म आपहीको अर्पण कर देता है उसका मन ही आपका शुभ गृह है॥ ५८॥ जो अप्रियको पाकर द्वेष नहीं करता और प्रियको पाकर हर्षित नहीं होता तथा 'यह सम्पूर्ण प्रपञ्च मायामात्र है' ऐसा निश्चय कर सदा आपका भजन करता है उसका मन ही आपका घर है॥ ५९॥ जो (सत्ता, जन्म लेना, बढ़ना, बदलना, क्षीण होना और नष्ट होना—इन) छः विकारोंको ही शरीरमें देखता है, आत्मामें नहीं तथा क्षुधा, तृषा, सुख, दुःख और भय आदिको प्राण और बुद्धिके ही विकार मानता है और स्वयं सांसारिक धर्मोंसे मुक्त रहता है उसका चित्त आपका निज गृह है॥ ६०-६१॥ जो लोग चिद्घन, सत्यस्वरूप, अनन्त, एक, निर्लेप, सर्वगत और स्तुत्य आप परमेश्वरको समस्त अन्तःकरणोंमें विराजमान देखते हैं, हे राम! उनके हृदय-कमलमें आप सीताजीके सहित निवास कीजिये॥ ६२॥ निरन्तर अभ्यास करनेसे जिनका चित्त स्थिर हो गया है, जो सर्वदा आपकी चरण-सेवामें लगे रहते हैं तथा आपके नाम-संकीर्तनसे जिनके पाप नष्ट हो गये हैं उनके हृदय-कमलमें सीताके सहित आपका निवास-गृह है॥ ६३॥ हे राम! जिसके प्रभावसे मैंने ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त किया है, आपके उस नामकी महिमा कोई किस प्रकार वर्णन कर सकता है?॥ ६४॥ पूर्वकालमें मैं किरातोंके साथ रहता था और उन्हींके साथ रहकर बड़ा हुआ। मैं निरन्तर शूद्रोंके आचरणोंमें रत रहता था, मेरी द्विजातीयता केवल जन्ममात्रकी थी॥ ६५॥ मुझ अजितेन्द्रियके शूद्राके गर्भसे बहुत-से पुत्र उत्पन्न हुए। उस समय चोरोंके समागमसे मैं भी पक्का चोर हो गया

धनुर्बाणधरो नित्यं जीवानामन्तकोपमः ।
एकदा मुनयः सप्त दृष्टा महति कानने ॥ ६७ ॥

साक्षान्मया प्रकाशन्तो ज्वलनार्कसमप्रभाः ।
तानन्वधावं लोभेन तेषां सर्वपरिच्छदान् ॥ ६८ ॥

ग्रहीतुकामस्तत्राहं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवम् ।
दृष्ट्वा मां मुनयोऽपृच्छन्किमायासि द्विजाधम ॥ ६९ ॥

अहं तानब्रवं किञ्चिदादातुं मुनिसत्तमाः ।
पुत्रदारादयः सन्ति बहवो मे बुभुक्षिताः ॥ ७० ॥

तेषां संरक्षणार्थाय चरामि गिरिकानने ।
ततो मामूचुरव्यग्राः पृच्छ गत्वा कुटुम्बकम् ॥ ७१ ॥

यो यो मया प्रतिदिनं क्रियते पापसञ्चयः ।
यूयं तद्भागिनः किं वा नेति वेति पृथक्पृथक् ॥ ७२ ॥

वयं स्थास्यामहे तावदागमिष्यसि निश्चयः ।
तथेत्युक्त्वा गृहं गत्वा मुनिभिर्यदुदीरितम् ॥ ७३ ॥

अपृच्छं पुत्रदारादींस्तैरुक्तोऽहं रघूत्तम ।
पापं तवैव तत्सर्वं वयं तु फलभागिनः ॥ ७४ ॥

तच्छ्रुत्वा जातनिर्वेदो विचार्य पुनरागमम् ।
मुनयो यत्र तिष्ठन्ति करुणापूर्णमानसाः ॥ ७५ ॥

मुनीनां दर्शनादेव शुद्धान्तःकरणोऽभवम् ।
धनुरादीन्परित्यज्य दण्डवत्पतितोऽस्म्यहम् ॥ ७६ ॥

रक्षध्वं मां मुनिश्रेष्ठा गच्छन्तं निरयार्णवम् ।
इत्यग्रे पतितं दृष्ट्वा मामूचुर्मुनिसत्तमाः ॥ ७७ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते सफलः सत्समागमः ।
उपदेक्ष्यामहे तुभ्यं किञ्चित्तेनैव मोक्ष्यसे ।
परस्परं समालोच्य दुर्वृत्तोऽयं द्विजाधमः ॥ ७८ ॥

उपेक्ष्य एव सद्वृत्तैस्तथापि शरणं गतः ।
रक्षणीयः प्रयत्नेन मोक्षमार्गोपदेशतः ॥ ७९ ॥

इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम् ।
एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा ॥ ८० ॥

था ॥ ६६ ॥ जीवोंके अन्तकर्ता कालके समान मैं सदा धनुष-बाण धारण किये रहता था। एक दिन एक घोर वनमें मैंने साक्षात् सप्तर्षियोंको जाते देखा। वे अपनी प्रभासे अग्नि और सूर्यके समान प्रकाशमान थे। उनके सम्पूर्ण वस्त्रादि छीननेकी इच्छासे मैं लोभके वश होकर उनके पीछे दौड़ा और बोला—'ठहरो, ठहरो।' तब मुनीश्वरोंने मेरी ओर देखकर पूछा—'हे द्विजाधम ! क्यों आ रहा है।' ॥ ६७—६९ ॥ मैंने कहा—'हे मुनिश्रेष्ठगण ! मेरे बहुत-से भूखे पुत्र-कलत्रादि हैं। अतः उनके पोषणार्थ कुछ लेनेके लिये आ रहा हूँ ॥ ७० ॥ उन्हींका पालन-पोषण करनेके लिये मैं वन-पर्वतादिमें घूमता फिरता हूँ।' तब उन मुनीश्वरोंने मुझसे निर्भयतापूर्वक कहा—'अच्छा, एक बार अपने कुटुम्बियोंके पास जाकर प्रत्येकसे अलग-अलग पूछ कि मैं प्रतिदिन जो पाप सञ्चय करता हूँ उसके आपलोग भी भागी हैं या नहीं ? ॥ ७१-७२ ॥ इस बातका निश्चय रख कि जबतक तू लौटकर आवेगा हम यहीं रहेंगे।' मैं 'बहुत अच्छा' कह अपने घर आया और जिस प्रकार मुनीश्वरोंने मुझसे कहा था मैंने अपने पुत्र-स्त्री आदिसे पूछा। हे रघुश्रेष्ठ ! तब वे बोले, 'वह पाप तो सब तुझीको लगेगा, हम तो उससे प्राप्त हुए फल (धन आदि) को ही भोगनेवाले हैं ॥ ७३-७४ ॥ यह सुनकर मुझे अति वैराग्य हुआ और मैं विचार करता हुआ, जहाँ करुणासे परिपूर्ण हृदयवाले मुनीश्वर थे, वहाँ आया ॥ ७५ ॥ तब उन मुनीश्वरोंके दर्शनमात्रसे ही मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया और मैं धनुष आदिको फेंककर दण्डके समान पृथिवीपर गिर पड़ा ॥ ७६ ॥ 'हे मुनिश्रेष्ठगण ! इस पाप-समुद्रमें पड़ते हुए मेरी आप रक्षा कीजिये'—इस प्रकार चिल्लाते हुए मुझे अपने सामने पड़ा देख वे मुनिश्रेष्ठ मुझसे बोले— ॥ ७७ ॥ 'खड़ा हो, खड़ा हो, तेरा सत्संग सफल हो गया है; तेरा अवश्य कल्याण होगा। हम तुझे थोड़ा-सा उपदेश करते हैं उसीसे तू मुक्त हो जायगा।' तब उन्होंने आपसमें मिलकर यह विचार किया कि यद्यपि यह ब्राह्मणाधम अत्यन्त दुराचारी होनेसे श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये उपेक्षाका ही पात्र है तथापि अब यह शरणमें आ गया है, इसलिये मोक्ष मार्गके उपदेशद्वारा इसकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी ही चाहिये ॥ ७८-७९ ॥ हे राम ! ऐसा विचारकर उन्होंने आपके नामाक्षरोंको उलटा करके मुझसे कहा 'तू इसी स्थानपर रहकर एकाग्रचित्तसे सदा 'मरा-मरा' जपा

आगच्छामः पुनर्यावत्तावदुक्तं सदा जप ।
इत्युक्त्वा प्रययुः सर्वे मुनयो दिव्यदर्शनाः ॥ ८१ ॥

अहं यथोपदिष्टं तैस्तथाकरवमञ्जसा ।
जपन्नेकाग्रमनसा बाह्यं विस्मृतवानहम् ॥ ८२ ॥

एवं बहुतिथे काले गते निश्चलरूपिणः ।
सर्वसङ्गविहीनस्य वल्मीकोऽभून्ममोपरि ॥ ८३ ॥

ततो युगसहस्रान्ते ऋषयः पुनरागमन् ।
मामूचुर्निष्क्रमस्वेति तच्छ्रुत्वा तूर्णमुत्थितः ॥ ८४ ॥

वल्मीकान्निर्गतश्चाहं नीहारादिव भास्करः ।
मामप्याहुर्मुनिगणा वाल्मीकिस्त्वं मुनीश्वर ॥ ८५ ॥

वल्मीकात्सम्भवो यस्माद् द्वितीयं जन्म तेऽभवत् ।
इत्युक्त्वा ते ययुर्दिव्यगतिं रघुकुलोत्तम ॥ ८६ ॥

अहं ते राम नाम्नश्च प्रभावादीदृशोऽभवम् ।
अद्य साक्षात्प्रपश्यामि ससीतं लक्ष्मणेन च ॥ ८७ ॥

रामं राजीवपत्राक्षं त्वां मुक्तो नात्र संशयः ।
आगच्छ राम भद्रं ते स्थलं वै दर्शयाम्यहम् ॥ ८८ ॥

एवमुक्त्वा मुनिः श्रीमाँल्लक्ष्मणेन समन्वितः ।
शिष्यैः परिवृतो गत्वा मध्ये पर्वतगङ्गयोः ॥ ८९ ॥

तत्र शालां सुविस्तीर्णां कारयामास वासभूः ।
प्राक्पश्चिमं दक्षिणोदक् शोभनं मन्दिरद्वयम् ॥ ९० ॥

जानक्या सहितो रामो लक्ष्मणेन समन्वितः ।
तत्र ते देवसदृशा ह्यवसन् भवनोत्तमे ॥ ९१ ॥

वाल्मीकिना तत्र सुपूजितोऽयं
रामः ससीतः सह लक्ष्मणेन ।
देवैर्मुनीन्द्रैः सहितो मुदास्ते
स्वर्गे यथा देवपतिः सशच्या ॥ ९२ ॥

कर ॥ ८० ॥ जबतक हम फिर लौटकर आयें तबतक तू सर्वदा हमारे कथनानुसार इसका जाप कर।' ऐसा कहकर वे सब दिव्य-दर्शन मुनीश्वर चले गये ॥ ८१ ॥ तब उन्होंने मुझे जैसा उपदेश किया था मैंने ठीक वैसा ही किया। इस प्रकार निरन्तर एकाग्रचित्तसे जप करते-करते मुझे बाह्य ज्ञान नहीं रहा ॥ ८२ ॥ इस तरह बहुत समयतक निश्चलतापूर्वक रहनेसे मुझ सर्वसङ्गविहीनके ऊपर वल्मीक (मिट्टीका ढेर) बन गया ॥ ८३ ॥ तदनन्तर, एक हजार युग बीतनेपर वे ऋषिगण फिर लौटे और मुझसे कहा—'निकल आओ' यह सुनकर मैं तुरंत खड़ा हो गया ॥ ८४ ॥ और जिस प्रकार कुहरेको पार करके सूर्य निकल आता है उसी प्रकार मैं वल्मीकसे निकल आया। तब मुनिगणने मुझसे कहा 'हे मुनिवर ! तुम वाल्मीकि हो ॥ ८५ ॥ इस समय तुम वल्मीकसे निकले हो इसलिये तुम्हारा यह दूसरा जन्म हुआ है।' हे रघुश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर वे दिव्यलोकको चले गये ॥ ८६ ॥ हे राम ! आपके नामके प्रभावसे मैं ऐसा हो गया जो आज सीता और लक्ष्मणके सहित साक्षात् आप कमलनयनको देख रहा हूँ। अहा ! मैं निस्सन्देह मुक्त हो गया—हे राम ! आपका मङ्गल हो, आइये, मैं आपको रहनेके लिये स्थान दिखलाता हूँ ॥ ८७-८८ ॥

ऐसा कह शिष्योंसे घिरे हुए श्रीमान् मुनिवर वाल्मीकिजीने लक्ष्मणके सहित गङ्गा और पर्वतके बीचके स्थलमें जाकर वहाँ भगवान् रामके रहनेके लिये एक सुविशाल शाला बनवायी, उसमें एक पूर्व-पश्चिम और दूसरा उत्तर-दक्षिण ऐसे दो सुन्दर घर बनाये गये ॥ ८९-९० ॥ उस भव्य भवनमें जानकीके सहित श्रीराम और लक्ष्मण देवताओंके समान रहने लगे ॥ ९१ ॥ श्रीवाल्मीकिजीसे भली प्रकार सम्मान पाकर देवता और मुनिजनोंके सहित श्रीरामचन्द्रजी वहाँ सीता और लक्ष्मणके साथ इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे जैसे स्वर्गलोकमें शचीके साथ देवराज इन्द्र रहते हैं ॥ ९२ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अयोध्याकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तम सर्ग

सुमन्त्रका प्रत्यागमन, राजा दशरथका स्वर्गवास तथा भरतजीका ननिहालसे आना और वसिष्ठजीके आदेशसे पिताका अन्त्येष्टि-संस्कार करना

श्रीमहादेव उवाच

सुमन्त्रोऽपि तदायोध्यां दिनान्ते प्रविवेश ह।
वस्त्रेण मुखमाच्छाद्य वाष्पाकुलितलोचनः ॥ १ ॥

बहिरेव रथं स्थाप्य राजानं द्रष्टुमाययौ।
जयशब्देन राजानं स्तुत्वा तं प्रणनाम ह ॥ २ ॥

ततो राजा नमन्तं तं सुमन्त्रं विह्वलोऽब्रवीत्।
सुमन्त्र रामः कुत्रास्ते सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३ ॥

कुत्र त्यक्तस्त्वया रामः किं मां पापिनमब्रवीत्।
सीता वा लक्ष्मणो वापि निर्दयं मां किमब्रवीत् ॥ ४ ॥

हा राम हा गुणनिधे हा सीते प्रियवादिनि।
दुःखार्णवे निमग्नं मां म्रियमाणं न पश्यसि ॥ ५ ॥

विलप्यैवं चिरं राजा निमग्नो दुःखसागरे।
एवं मन्त्री रुदन्तं तं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

रामः सीता च सौमित्रिर्मया नीता रथेन ते।
शृङ्गवेरपुराभ्याशे गङ्गाकूले व्यवस्थिताः ॥ ७ ॥

गुहेन किञ्चिदानीतं फलमूलादिकं च यत्।
स्पृष्ट्वा हस्तेन सम्प्रीत्या नाग्रहीद्विससर्ज तत् ॥ ८ ॥

वटक्षीरं समानाय्य गुहेन रघुनन्दनः।
जटामुकुटमाबद्ध्य मामाह नृपते स्वयम् ॥ ९ ॥

सुमन्त्र ब्रूहि राजानं शोकस्तेऽस्तु न मत्कृते।
साकेतादधिकं सौख्यं विपिने नो भविष्यति ॥ १० ॥

मातुर्मे वन्दनं ब्रूहि शोकं त्यजतु मत्कृते।
आश्वासयतु राजानं वृद्धं शोकपरिप्लुतम् ॥ ११ ॥

सीता चाश्रुपरीताक्षी मामाह नृपसत्तम।
दुःखगद्गदया वाचा रामं किञ्चिदवेक्षती ॥ १२ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—इधर सायंकालके समय सुमन्त्रने भी वस्त्रसे मुख ढाँपकर नेत्रोंमें जल भरे हुए अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया ॥ १ ॥ रथको बाहर ही खड़ाकर वे राजाको देखनेके लिये अन्तःपुरमें गये और जय-शब्दसे उनकी स्तुति कर उन्हें प्रणाम किया ॥ २ ॥

राजाने सुमन्त्रको नमस्कार करते देख दुःखसे व्याकुल होकर कहा—"सुमन्त्र! सीता और लक्ष्मणके सहित राम कहाँ हैं? ॥ ३ ॥ तुमने रामको कहाँ छोड़ा है? उन्होंने मुझ पापीके लिये क्या कहा? तथा सीता और लक्ष्मणने भी मुझ निर्दयीके लिये क्या कहा है? ॥ ४ ॥ हा राम! हा गुणनिधे! हा प्रियवादिनि सीते! क्या तुम मुझको दुःख-समुद्रमें डूबकर मरते हुए नहीं देखते हो?" ॥ ५ ॥

इस प्रकार बहुत देरतक विलाप करके राजा दुःख-समुद्रमें डूब गये। महाराजको इस प्रकार रोते देख मन्त्रीने हाथ जोड़कर कहा— ॥ ६ ॥ "महाराज! मैं राम, सीता और लक्ष्मणको आपके रथमें बैठाकर ले गया था। वे शृङ्गवेरपुरके पास गङ्गाजीके किनारे जाकर टिके ॥ ७ ॥ वहाँ निषादराज गुह कुछ फल-मूलादि ले आया, किन्तु रामजीने उन्हें ग्रहण नहीं किया, केवल प्रीतिपूर्वक हाथसे छूकर ही छोड़ दिया ॥ ८ ॥ तदनन्तर श्रीरघुनाथजीने गुहसे वटका दूध मँगवाकर अपनी जटाओंका मुकुट बनाया और फिर वे स्वयं मुझसे बोले— ॥ ९ ॥ 'सुमन्त्र! महाराजसे कहना वे हमारे लिये शोक न करें; हमें वनमें अयोध्यासे भी अधिक सुख प्राप्त होगा ॥ १० ॥ मातासे भी मेरा प्रणाम कहकर कहना कि मेरे लिये शोक करना छोड़ दें। महाराज वृद्ध और शोकाकुल हैं, उन्हें भली प्रकार ढाढस बँधाना' ॥ ११ ॥ हे नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर नेत्रोंमें जल भरकर कुछ-कुछ रामकी ओर देखते हुए सीताने दुःखसे गद्गद कण्ठ हो मुझसे कहा— ॥ १२ ॥

साष्टाङ्गं प्रणिपातं मे ब्रूहि श्वश्र्वोः पदाम्बुजे ।
इति प्ररुदती सीता गता किञ्चिदवाङ्मुखी ॥ १३ ॥

ततस्तेऽश्रुपरीताक्षा नावमारुरुहुस्तदा ।
यावद्गङ्गां समुत्तीर्य गतास्तावदहं स्थितः ॥ १४ ॥

ततो दुःखेन महता पुनरेवाहमागतः ।
ततो रुदन्ती कौसल्या राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

कैकेय्यै प्रियभार्यायै प्रसन्नो दत्तवान्वरम् ।
त्वं राज्यं देहि तस्यैव मत्पुत्रः किं विवासितः ॥ १६ ॥

कृत्वा त्वमेव तत्सर्वमिदानीं किं नु रोदिषि ।
कौसल्यावचनं श्रुत्वा क्षते स्पृष्ट इवाग्निना ॥ १७ ॥

पुनः शोकाश्रुपूर्णाक्षः कौसल्यामिदमब्रवीत् ।
दुःखेन म्रियमाणं मां किं पुनर्दुःखयस्यलम् ॥ १८ ॥

इदानीमेव मे प्राणा उत्क्रमिष्यन्ति निश्चयः ।
शप्तोऽहं बाल्यभावेन केनचिन्मुनिना पुरा ॥ १९ ॥

पुराहं यौवने दृप्तश्चापबाणधरो निशि ।
अचरं मृगयासक्तो नद्यास्तीरे महावने ॥ २० ॥

तत्रार्धरात्रसमये मुनिः कश्चित्तृषार्दितः ।
पिपासार्दितयोः पित्रोर्जलमानेतुमुद्यतः ।
अपूरयज्जले कुम्भं तदा शब्दोऽभवन्महान् ॥ २१ ॥

गजः पिबति पानीयमिति मत्वा महानिशि ।
बाणं धनुषि सन्धाय शब्दवेधिनमक्षिपम् ॥ २२ ॥

हा हतोऽस्मीति तत्राभूच्छब्दो मानुषसूचकः ।
कस्यापि न कृतो दोषो मया केन हतो विधे ॥ २३ ॥

प्रतीक्षते मां माता च पिता च जलकाङ्क्षया ।
तच्छ्रुत्वा भयसन्त्रस्तस्ततोऽहं पौरुषं वचः ॥ २४ ॥

शनैर्गत्वाथ तत्पार्श्वं स्वामिन्दशरथोऽस्म्यहम् ।
अजानता मया विद्धस्त्रातुमर्हसि मां मुने ॥ २५ ॥

'दोनों सासुओंके चरण-कमलोंमें मेरा साष्टाङ्ग प्रणाम कहना। ऐसा कह कुछ सिर झुकाकर रोती हुई वे वहाँसे चली गयीं ॥ १३ ॥ इसके पीछे वे सब नेत्रोंमें जल भरे हुए नावपर चढ़े। जबतक वे गङ्गाजीको पार कर उस पार पहुँचे तबतक मैं वहीं खड़ा रहा ॥ १४ ॥ फिर वहाँसे चलकर बड़े दुःखसे मैं यहाँ पहुँचा हूँ।''

तब कौसल्याने रोती हुई राजासे इस प्रकार कहा— ॥ १५ ॥ ''राजन्! आपने यदि प्रसन्न होकर अपनी प्रिया कैकेयीको वर दिया तो भले ही आपने उसीके पुत्रको राज्य दिया होता, किन्तु मेरे पुत्रको देशनिकाला क्यों दिया ? ॥ १६ ॥ और अपने-आप ही यह सारी करतूत करके अब आप रोते क्यों हैं ?'' कौसल्याके ये वचन सुनकर महाराजको ऐसी वेदना हुई मानो घावमें अग्निका स्पर्श हो गया हो ॥ १७ ॥

तब महाराजने नेत्रोंमें शोकाश्रु भरकर कौसल्यासे कहा—''मैं तो आप ही दुःखसे मर रहा हूँ, फिर इस प्रकार मुझे और दुःख क्यों देती हो ? इससे क्या लाभ है ? ॥ १८ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि मेरे प्राण अभी निकलनेवाले हैं। पूर्वकालमें मेरी मूर्खताके कारण मुझे एक मुनीश्वरने शाप दिया था ॥ १९ ॥ (वह कथा इस प्रकार है—) पहले एक बार मैं युवावस्थाके मदसे उन्मत्त हुआ मृगयामें आसक्त होकर रात्रिके समय धनुष और बाण लिये एक घोर वनमें नदीके किनारे घूम रहा था ॥ २० ॥ उस आधी रातके समय किन्हीं प्यासे मुनीश्वरने अपने तृषित माता-पिताके निमित्त जल ले जानेके लिये जलमें घड़ा डुबोया; उस समय उसका महान् शब्द हुआ ॥ २१ ॥ तब यह सोचकर कि इस घोर रात्रिमें कोई हाथी जल पी रहा है, मैंने अपने धनुषपर शब्दवेधी बाण चढ़ाकर छोड़ा ॥ २२ ॥ वहाँपर मनुष्यकी सूचना देनेवाला यह शब्द हुआ 'हाय ! मैं मारा गया ! हे विधे ! मैंने तो किसीका भी कोई अपराध नहीं किया था, फिर किसने मुझे मारा ? ॥ २३ ॥ हाय ! मेरे माता-पिता भी जलकी आकाङ्क्षासे मेरी बाट देख रहे होंगे।' यह मानुष-वचन सुनकर मैं अत्यन्त भयभीत हुआ और धीरेसे उनके पास जाकर बोला—'प्रभो ! मैं दशरथ हूँ, मैंने ही अनजानमें यह बाण छोड़ा है; हे मुने ! आप मेरी रक्षा कीजिये' ॥ २४-२५ ॥

इत्युक्त्वा पादयोस्तस्य पतितो गद्गदाक्षरः।
तदा मामाह स मुनिर्मा भैषीर्नृपसत्तम॥ २६॥

ब्रह्महत्या स्पृशेन्न त्वां वैश्योऽहं तपसि स्थितः।
पितरौ मां प्रतीक्षेते क्षुत्तृड्भ्यां परिपीडितौ॥ २७॥

तयोस्त्वमुदकं देहि शीघ्रमेवाविचारयन्।
न चेत्त्वां भस्मसात्कुर्यात्पिता मे यदि कुप्यति॥ २८॥

जलं दत्त्वा तु तौ नत्वा कृतं सर्वं निवेदय।
शल्यमुद्धर मे देहात्प्राणांस्त्यक्ष्यामि पीडितः॥ २९॥

इत्युक्तो मुनिना शीघ्रं बाणमुत्पाट्य देहतः।
सजलं कलशं धृत्वा गतोऽहं यत्र दम्पती॥ ३०॥

अतिवृद्धावन्धदृशौ क्षुत्पिपासार्दितौ निशि।
नायाति सलिलं गृह्य पुत्रः किं वात्र कारणम्॥ ३१॥

अनन्यगतिकौ वृद्धौ शोच्यौ तृट्परिपीडितौ।
आवामुपेक्षते किं वा भक्तिमानावयोः सुतः॥ ३२॥

इति चिन्ताव्याकुलौ तौ मत्पादन्यासजं ध्वनिम्।
श्रुत्वा प्राह पिता पुत्र किं विलम्बः कृतस्त्वया॥ ३३॥

देह्यावयोः सुपानीयं पिब त्वमपि पुत्रक।
इत्येवं लपतोर्भीत्या सकाशमगमं शनैः॥ ३४॥

पादयोः प्रणिपत्याहमब्रवं विनयान्वितः।
नाहं पुत्रस्त्वयोध्याया राजा दशरथोऽस्म्यहम्॥ ३५॥

पापोऽहं मृगयासक्तो रात्रौ मृगविहिंसकः।
जलावतारादूरेऽहं स्थित्वा जलगतं ध्वनिम्॥ ३६॥

श्रुत्वाहं शब्दवेधित्वादेकं बाणमथात्यजम्।
हतोऽस्मीति ध्वनिं श्रुत्वा भयात्तत्राहमागतः॥ ३७॥

जटा विकीर्य पतितं दृष्ट्वाहं मुनिदारकम्।
भीतो गृहीत्वा तत्पादौ रक्ष रक्षेति चाब्रवम्॥ ३८॥

''ऐसा कहकर मैं गद्गद-कण्ठ हो उनके चरणोंमें गिर पड़ा। तब उन मुनीश्वरने मुझसे कहा—'हे नृपश्रेष्ठ ! डरो मत॥ २६॥ तुम्हें ब्रह्महत्या नहीं लगेगी, क्योंकि मैं तपस्यामें लगा हुआ वैश्य हूँ। मेरे माता-पिता भूख और प्याससे व्याकुल हुए मेरी बाट देखते होंगे॥ २७॥ इसलिये अब बिना कुछ सोच-विचार किये शीघ्र ही तुम उन्हें जल दे आओ, नहीं तो यदि मेरे पिता कुपित हो गये तो तुम्हें भस्म कर डालेंगे॥ २८॥ उन्हें जल देकर और नमस्कार कर अपना सारा कृत्य सुना देना। मुझे अत्यन्त पीड़ा हो रही है, तुम मेरे शरीरमेंसे बाण निकाल दो, अब मैं प्राण छोड़ूँगा॥ २९॥

''मुनिके ऐसा कहनेपर मैंने तुरंत ही उनके शरीरसे बाण निकाल दिया और जलका घड़ा लेकर, जहाँ उनके माता-पिता थे, वहाँ गया॥ ३०॥ उस समय वे इस प्रकार चिन्तामें व्याकुल हो रहे थे—'हम अत्यन्त वृद्ध और आँखोंसे लाचार हैं तथा भूख-प्याससे पीड़ित हो रहे हैं; क्या कारण है कि इस रात्रिके समयमें हमारा पुत्र अभीतक जल लेकर नहीं लौटा, हमारा और कोई सहारा नहीं है, हम वृद्ध, शोचनीय और प्याससे अत्यन्त व्याकुल हैं। क्या कारण है कि ऐसी अवस्थामें हमारा पितृभक्त पुत्र हमारी उपेक्षा कर रहा है ?' इसी समय मेरे पैरोंकी आहट सुनकर पिताने पूछा—'बेटा ! आज तुमने इतनी देरी कैसे की ?॥ ३१—३३॥ लाओ शीघ्र ही हमें पवित्र जल पिलाओ और तुम भी पिओ।' उनके इस प्रकार कहनेपर मैं डरते-डरते धीरेसे उनके पास गया॥ ३४॥ और उनके चरणोंमें प्रणाम करके अति नम्रतापूर्वक कहा—मैं आपका पुत्र नहीं हूँ बल्कि अयोध्याका राजा दशरथ हूँ॥ ३५॥ मैं पापात्मा मृगयाकी आसक्तिके कारण रात्रिके समय पशुओंका वध करता फिरता था। यद्यपि मैं उस समय जलके तीरसे दूर था किन्तु शब्दवेधी होनेके कारण जलमें हुए शब्दको सुनकर वहाँ मृग समझकर उसे मारनेके लिये मैंने एक बाण छोड़ दिया। पर जब मैंने यह शब्द सुना कि 'मैं मारा गया' तो डरता हुआ वहाँ आया॥ ३६-३७॥ वहाँ आनेपर जब मैंने एक मुनिकुमारको जटा फैलाये पड़े देखा तो भयसे उसके चरण पकड़ लिये और 'रक्षा करो, रक्षा करो', ऐसा कहने

मा भैषीरिति मां प्राह ब्रह्महत्याभयं न ते ।
मत्पित्रोः सलिलं दत्त्वा नत्वा प्रार्थय जीवितम् ॥ ३९ ॥

इत्युक्तो मुनिना तेन ह्यागतो मुनिहिंसकः ।
रक्षेतां मां दयायुक्तौ युवां हि शरणागतम् ॥ ४० ॥

इति श्रुत्वा तु दुःखार्तौ विलप्य बहु शोच्य तम् ।
पतितौ नौ सुतो यत्र नय तत्राविलम्बयन् ॥ ४१ ॥

ततो नीतौ सुतो यत्र मया तौ वृद्धदम्पती ।
स्पृष्ट्वा सुतं तौ हस्ताभ्यां बहुशोऽथ विलेपतुः ॥ ४२ ॥

हाहेति क्रन्दमानौ तौ पुत्रपुत्रेत्यवोचताम् ।
जलं देहीति पुत्रेति किमर्थं न ददास्यलम् ॥ ४३ ॥

ततो मामूचतुः शीघ्रं चितिं रचय भूपते ।
मया तदैव रचिता चितिस्तत्र निवेशिताः ।
त्रयस्तत्राग्निरुत्सृष्टो दग्धास्ते त्रिदिवं ययुः ॥ ४४ ॥

तत्र वृद्धः पिता प्राह त्वमप्येवं भविष्यसि ।
पुत्रशोकेन मरणं प्राप्स्यसे वचनान्मम ॥ ४५ ॥

स इदानीं मम प्राप्तः शापकालोऽनिवारितः ।
इत्युक्त्वा विललापाथ राजा शोकसमाकुलः ॥ ४६ ॥

हा राम पुत्र हा सीते हा लक्ष्मण गुणाकर ।
त्वद्वियोगादहं प्राप्तो मृत्युं कैकेयिसम्भवम् ॥ ४७ ॥

वदन्नेवं दशरथः प्राणांस्त्यक्त्वा दिवं गतः ।
कौसल्या च सुमित्रा च तथान्या राजयोषितः ॥ ४८ ॥

चुक्रुशुश्च विलेपुश्च उरस्ताडनपूर्वकम् ।
वसिष्ठः प्रययौ तत्र प्रातर्मन्त्रिभिरावृतः ॥ ४९ ॥

तैलद्रोण्यां दशरथं क्षिप्त्वा दूतानथाब्रवीत् ।
गच्छत त्वरितं साश्वा युधाजिन्नगरं प्रति ॥ ५० ॥

तत्रास्ते भरतः श्रीमाञ्छत्रुघ्नसहितः प्रभुः ।
उच्यतां भरतः शीघ्रमागच्छेति ममाज्ञया ॥ ५१ ॥

लगा ॥ ३८ ॥ तब उन्होंने मुझसे कहा—'डरो मत, तुम्हें ब्रह्महत्याका भय नहीं है। मेरे माता-पिताको जल देकर उन्हें प्रणाम कर जीवनदान माँगो' ॥ ३९ ॥ मुनिकुमारके ऐसा कहनेपर यह मुनिहिंसक आपके पास आया है। आप दोनों बड़े दयाशील हैं, मैं आपकी शरण आया हूँ, आप मेरी रक्षा करें' ॥ ४० ॥

"यह सुनकर वे दुःखार्त होकर उसके लिये अत्यन्त शोक करते और रोते हुए पृथिवीपर गिर पड़े और बोले—'जहाँ हमारा बेटा है, हमें तुरंत ही वहाँ ले चलो' ॥ ४१ ॥ तब जहाँ वह लड़का पड़ा था वहीं उन वृद्ध-दम्पतिको मैं ले गया और वे उसे हाथोंसे स्पर्श कर अत्यन्त विलाप करने लगे ॥ ४२ ॥ वे 'हा पुत्र ! हा पुत्र !' कहकर रोते हुए बोले—'बेटा ! हमें जल दो, हमें जल दो ! आज जल क्यों नहीं देते हो ?' ॥ ४३ ॥ फिर उन्होंने मुझसे कहा—'राजन् ! शीघ्र ही चिता बनाओ !' मैंने तुरंत ही वहाँ चिता बना दी। तब वे तीनों उसपर चढ़ गये और अग्नि लगानेपर उसमें भस्म होकर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ४४ ॥ उस समय वृद्ध पिताने मुझसे कहा—'तुम्हारे लिये भी ऐसा ही होगा, तुम भी मेरे वचनसे पुत्र-शोकसे ही मरोगे' ॥ ४५ ॥

"वही अनिवार्य शापकाल इस समय मेरे लिये उपस्थित हुआ है।" ऐसा कहकर राजा दशरथ अत्यन्त शोकाकुल होकर विलाप करने लगे— ॥ ४६ ॥ "हा पुत्र राम ! हा सीते ! हा गुणाकर लक्ष्मण ! तुम्हारे वियोगसे मैं कैकेयीसे उपस्थित की हुई मृत्युको प्राप्त हो रहा हूँ" ॥ ४७ ॥

इस प्रकार कहते हुए महाराज दशरथ प्राण त्यागकर स्वर्गलोकको चले गये। उस समय कौसल्या, सुमित्रा और अन्यान्य रानियाँ छाती पीट-पीटकर रोने और विलाप करने लगीं। प्रातःकाल होनेपर वहाँ मन्त्रियोंके सहित मुनिवर वसिष्ठजी आये ॥ ४८-४९ ॥ और राजा दशरथके शवको एक तैलपूर्ण नौकामें रखवाकर दूतोंसे बोले—"तुमलोग शीघ्र ही घोड़ोंपर चढ़कर युधाजित्‌की राजधानीको जाओ ॥ ५० ॥ वहाँ शत्रुघ्नके सहित श्रीमान् महाराज भरत विराजमान हैं। उनसे मेरी आज्ञासे जाकर

अयोध्यां प्रति राजानं कैकेयीं चापि पश्यतु ।
इत्युक्तास्त्वरितं दूता गत्वा भरतमातुलम् ॥ ५२ ॥

युधाजितं प्रणम्योचुर्भरतं सानुजं प्रति ।
वसिष्ठस्त्वाब्रवीद्राजन् भरतः सानुजः प्रभुः ॥ ५३ ॥

शीघ्रमागच्छतु पुरीमयोध्यामविचारयन् ।
इत्याज्ञप्तोऽथ भरतस्त्वरितं भयविह्वलः ॥ ५४ ॥

आययौ गुरुणादिष्टः सह दूतैस्तु सानुजः ।
राज्ञो वा राघवस्यापि दुःखं किञ्चिदुपस्थितम् ॥ ५५ ॥

इति चिन्तापरो मार्गे चिन्तयन्नगरं ययौ ।
नगरं भ्रष्टलक्ष्मीकं जनसम्बाधवर्जितम् ॥ ५६ ॥

उत्सवैश्च परित्यक्तं दृष्ट्वा चिन्तापरोऽभवत् ।
प्रविश्य राजभवनं राजलक्ष्मीविवर्जितम् ॥ ५७ ॥

अपश्यत्कैकेयीं तत्र एकामेवासने स्थिताम् ।
ननाम शिरसा पादौ मातुर्भक्तिसमन्वितः ॥ ५८ ॥

आगतं भरतं दृष्ट्वा कैकेयी प्रेमसम्भ्रमात् ।
उत्थायालिङ्ग्य रभसा स्वाङ्कमारोप्य संस्थिता ॥ ५९ ॥

मूर्ध्न्यवघ्राय पप्रच्छ कुशलं स्वकुलस्य सा ।
पिता मे कुशली भ्राता माता च सुभलक्षणा ॥ ६० ॥

दिष्ट्या त्वमद्य कुशली मया दृष्टोऽसि पुत्रक ।
इति पृष्टः स भरतो मात्रा चिन्ताकुलेन्द्रियः ॥ ६१ ॥

दूयमानेन मनसा मातरं समपृच्छत ।
मातः पिता मे कुत्रास्ते एका त्वमिह संस्थिता ॥ ६२ ॥

त्वया विना न मे तातः कदाचिद्रहसि स्थितः ।
इदानीं दृश्यते नैव कुत्र तिष्ठति मे वद ॥ ६३ ॥

अदृष्ट्वा पितरं मेऽद्य भयं दुःखं च जायते ।
अथाह कैकेयी पुत्रं किं दुःखेन तवानघ ॥ ६४ ॥

इस प्रकार कहना कि भरत शीघ्र ही अयोध्यापुरीमें आकर महाराज दशरथ और कैकेयीका दर्शन करें।''

वसिष्ठजीके इस प्रकार कहनेपर दूतोंने तुरंत ही जाकर भरतके मामा युधाजित् और छोटे भाई शत्रुघ्नके सहित भरतको प्रणाम करके कहा—''राजन्! वसिष्ठजीने आपके लिये यह कहा है कि छोटे भाई शत्रुघ्नके सहित महाराज भरत तुरंत ही बिना कुछ आगा-पीछा सोचे अयोध्यापुरीमें चले आवें।'' ऐसी आज्ञा सुनकर श्रीभरतजी भयसे व्याकुल हो तुरंत ही गुरुजीके आदेशसे छोटे भाईके सहित दूतोंके साथ चले और यह सोचकर कि 'अवश्य ही महाराज या श्रीरघुनाथजीपर कोई घोर संकट उपस्थित हुआ है' ॥ ५१—५५ ॥ मार्गमें मन-ही-मन चिन्ता करते नगरमें पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि नगर शोभाहीन, जनसमूहसे रहित तथा उत्सवहीन हो रहा है। यह देखकर वे अत्यन्त चिन्तित हुए। राजभवनमें जाकर देखा तो वह राजलक्ष्मीसे शून्य हो रहा है और वहाँ अकेली कैकेयी एक आसनपर बैठी हुई है। माताको देखकर उन्होंने भक्तिपूर्वक उसके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया ॥ ५६—५८ ॥

भरतजीको आये देख माता कैकेयीने उन्हें प्रेमवश शीघ्रतासे उठाकर हृदय लगाया और अपनी गोदमें बैठा लिया ॥ ५९ ॥ फिर उनका सिर सूँघकर अपने कुलकी कुशल पूछी। वह बोली—''मेरे पिता, भाई और शुभलक्षणा माता कुशलपूर्वक हैं न? ॥ ६० ॥ बेटा! आज बड़े भाग्यसे मैंने तुम्हें सकुशल देख पाया है।''

माताके इस प्रकार पूछनेपर भरतजीने चिन्ताकुल होकर दुःखी चित्तसे मातासे पूछा—''माँ! मेरे पिताजी कहाँ हैं जो तुम यहाँ अकेली बैठी हो? ॥ ६१-६२ ॥ माँ! तुम्हारे बिना तो पिताजी एकान्तमें कभी नहीं रहते थे; किन्तु इस समय वे दिखायी नहीं देते, सो बताओ वे कहाँ हैं? ॥ ६३ ॥ पिताजीको न देखनेसे आज मुझे अत्यन्त भय और दुःख हो रहा है।''

तब कैकेयीने कहा—''हे अनघ! तुम्हारे लिये दुःख-

या गतिर्धर्मशीलानामश्वमेधादियाजिनाम् ।
तां गतिं गतवानद्य पिता ते पितृवत्सल ॥ ६५ ॥

तच्छ्रुत्वा निपपातोर्व्यां भरतः शोकविह्वलः ।
हा तात क्व गतोऽसि त्वं त्यक्त्वा मां वृजिनार्णवे ॥ ६६ ॥

असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः ।
इति विलपितं पुत्रं पतितं मुक्तमूर्धजम् ॥ ६७ ॥

उत्थाप्यामृज्य नयने कैकेयी पुत्रमब्रवीत् ।
समाश्वसिहि भद्रं ते सर्वं सम्पादितं मया ॥ ६८ ॥

तामाह भरतस्तातो म्रियमाणः किमब्रवीत् ।
तमाह कैकेयी देवी भरतं भयवर्जिता ॥ ६९ ॥

हा राम राम सीतेति लक्ष्मणेति पुनः पुनः ।
विलपन्नेव सुचिरं देहं त्यक्त्वा दिवं ययौ ॥ ७० ॥

तामाह भरतो हेऽम्ब रामः सन्निहितो न किम् ।
तदानीं लक्ष्मणो वापि सीता वा कुत्र ते गताः ॥ ७१ ॥

कैकेय्युवाच

रामस्य यौवराज्यार्थं पित्रा ते सम्भ्रमः कृतः ।
तव राज्यप्रदानाय तदाहं विघ्नमाचरम् ॥ ७२ ॥

राज्ञा दत्तं हि मे पूर्वं वरदेन वरद्वयम् ।
याचितं तदिदानीं मे तयोरेकेन तेऽखिलम् ॥ ७३ ॥

राज्यं रामस्य चैकेन वनवासो मुनिव्रतम् ।
ततः सत्यपरो राजा राज्यं दत्त्वा तवैव हि ॥ ७४ ॥

रामं सम्प्रेषयामास वनमेव पिता तव ।
सीताप्यनुगता रामं पातिव्रत्यमुपाश्रिता ॥ ७५ ॥

सौभ्रात्रं दर्शयन्राममनुयातोऽपि लक्ष्मणः ।
वनं गतेषु सर्वेषु राजा तानेव चिन्तयन् ॥ ७६ ॥

प्रलपन् राम रामेति ममार नृपसत्तमः ।
इति मातुर्वचः श्रुत्वा वज्राहत इव द्रुमः ॥ ७७ ॥

की क्या बात है ? ॥ ६४ ॥ हे पितृवत्सल ! अश्वमेधादि यज्ञ करनेवाले धर्मपरायण पुरुषोंकी जो गति होती है उसीको आज तुम्हारे पिता भी प्राप्त हुए हैं'' ॥ ६५ ॥

यह सुनते ही भरत शोकाकुल होकर पृथिवीमें गिर पड़े और बोले—''हा तात ! हा तात ! मुझे दुःख-समुद्रमें छोड़कर आप कहाँ चले गये ? ॥ ६६ ॥ हाय ! महाराज रामको मुझे सौंपे बिना ही आप कहाँ चले गये ?'' इस प्रकार विलाप करते और बिथुरे हुए केशोंसे पृथिवीपर पड़े अपने पुत्रको उठाकर कैकेयीने उसके आँसू पोंछकर कहा—''बेटा ! धीरज रखो; तुम्हारा कल्याण हो। मैंने तुम्हारे लिये सब कुछ ठीक कर लिया है'' ॥ ६७-६८ ॥

तब भरतजीने पूछा—''मरते समय महाराजने क्या कहा था ?'' इसपर कैकेयीदेवीने निर्भय होकर भरतजीसे कहा— ॥ ६९ ॥ ''वे 'हा राम ! हा राम ! हा सीते ! हा लक्ष्मण !' इस प्रकार बहुत समयतक बारम्बार विलाप करते हुए अपना शरीर त्यागकर स्वर्गको गये हैं'' ॥ ७० ॥

तब भरतजीने पूछा—''माता ! तो क्या उस समय राम, सीता और लक्ष्मण भी उनके पास नहीं थे ? वे तीनों उस समय कहाँ गये थे ?'' ॥ ७१ ॥

कैकेयी बोली—''तुम्हारे पिताने रामको युवराज बनानेकी तैयारी की थी। उस समय तुम्हें राज्य दिलानेके लिये मैंने उसमें विघ्न खड़ा कर दिया ॥ ७२ ॥ पूर्वकालमें एक बार प्रसन्न होकर वरदाता राजाने मुझे दो वर देनेको कहा था। इस समय उनमेंसे एकके द्वारा मैंने तुम्हारे लिये सम्पूर्ण राज्य और दूसरेसे रामके लिये मुनिव्रतपूर्वक वनवास माँग लिया। इसलिये तुम्हारे पिता सत्यसन्ध महाराज दशरथने तुम्हें ही राज्य देकर रामको वनमें भेज दिया। पातिव्रत्यका पालन करनेवाली सीता भी रामके साथ ही वनमें चली गयीं ॥ ७३—७५ ॥ तथा लक्ष्मण भी भ्रातृस्नेह प्रकट करते हुए रामके अनुगामी हुए। इस प्रकार इन सबके वनको चले जानेपर उन्हींका स्मरण करते हुए और 'राम ! राम !' करके विलाप करते हुए नृपश्रेष्ठ महाराजने शरीर छोड़ दिया।'' माताके ये वचन सुनकर भरतजी वज्राहत वृक्षके समान अचेत होकर पृथिवीपर गिर पड़े।

पपात भूमौ निःसंज्ञस्तं दृष्ट्वा दुःखिता तदा ।
कैकेयी पुनरप्याह वत्स शोकेन किं तव ॥ ७८ ॥

राज्ये महति सम्प्राप्ते दुःखस्यावसरः कुतः ।
इति ब्रुवन्तीमालोक्य मातरं प्रदहन्निव ॥ ७९ ॥

असम्भाष्यासि पापे मे घोरे त्वं भर्तृघातिनी ।
पापे त्वद्गर्भजातोऽहं पापवानस्मि साम्प्रतम् ।
अहमग्निं प्रवेक्ष्यामि विषं वा भक्षयाम्यहम् ॥ ८० ॥

खड्गेन वाथ चात्मानं हत्वा यामि यमक्षयम् ।
भर्तृघातिनि दुष्टे त्वं कुम्भीपाकं गमिष्यसि ॥ ८१ ॥

इति निर्भर्त्स्य कैकेयीं कौसल्याभवनं ययौ ।
सापि तं भरतं दृष्ट्वा मुक्तकण्ठा रुरोद ह ॥ ८२ ॥

पादयोः पतितस्तस्या भरतोऽपि तदारुदत् ।
आलिङ्ग्य भरतं साध्वी राममाता यशस्विनी ।
कृशातिदीनवदना साश्रुनेत्रेदमब्रवीत् ॥ ८३ ॥

पुत्र त्वयि गते दूरमेवं सर्वमभूदिदम् ।
उक्तं मात्रा श्रुतं सर्वं त्वया ते मातृचेष्टितम् ॥ ८४ ॥

पुत्रः सभार्यो वनमेव यातः
सलक्ष्मणो मे रघुरामचन्द्रः ।
चीराम्बरो बद्धजटाकलापः
सन्त्यज्य मां दुःखसमुद्रमग्नाम् ॥ ८५ ॥

हा राम हा मे रघुवंशनाथ
जातोऽसि मे त्वं परतः परात्मा ।
तथापि दुःखं न जहाति मां वै
विधिर्बलीयानिति मे मनीषा ॥ ८६ ॥

स एवं भरतो वीक्ष्य विलपन्तीं भृशं शुचा ।
पादौ गृहीत्वा प्राहेदं शृणु मातर्वचो मम ॥ ८७ ॥

कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्याभिषेचने ।
अन्यद्वा यदि जानामि सा मया नोदिता यदि ॥ ८८ ॥

पापं मेऽस्तु तदा मातर्ब्रह्महत्याशतोद्भवम् ।
हत्वा वसिष्ठं खड्गेन अरुन्धत्या समन्वितम् ॥ ८९ ॥

उन्हें ऐसी दशामें देख कैकेयीने दुःखित होकर फिर कहा—"बेटा ! तुम शोक क्यों करते हो ? ॥ ७६—७८ ॥ ऐसे महान् राज्यको पानेपर दुःखका कारण ही कहाँ रह जाता है ?" माताको इस प्रकार कहती देख भरतजीने क्रोधसे जलते हुए-से कहा— ॥ ७९ ॥ "अरी पापिनी ! तू बात करनेयोग्य नहीं है ! अरी घोरे ! तू अपने पतिकी हत्या करनेवाली है ! अरी पापे ! तेरे गर्भसे उत्पन्न होनेके कारण अब तो मैं भी प्रत्यक्ष ही महापापी हूँ। मैं या तो अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा या विष खा लूँगा ॥ ८० ॥ अथवा खड्गसे आत्मघात करके यमलोकको चला जाऊँगा। हे भर्तृघातिनि ! हे दुष्टे ! तू भी कुम्भीपाक नरकमें पड़ेगी" ॥ ८१ ॥

कैकेयीको इस प्रकार डाँटकर वे कौसल्याके घर गये। भरतको देखते ही माता कौसल्या मुक्तकण्ठसे रोने लगीं ॥ ८२ ॥ तब भरतजी भी उनके चरणोंमें पड़कर रोने लगे। उन्हें गले लगाकर, (चिन्तासे) महादुर्बल और अति दीनवदना यशस्विनी राममाता कौसल्याने नेत्रोंमें जल भरकर कहा— ॥ ८३ ॥ "बेटा ! तुम्हारे बाहर चले जानेसे जो-जो अनर्थ हुए हैं, अपनी माताकी वे सब करतूतें तुमने उसके मुखसे सुन ही ली होंगी ॥ ८४ ॥ मेरा पुत्र रघुश्रेष्ठ रामचन्द्र अपनी पत्नी सीता और लक्ष्मणके सहित चीर-वस्त्र धारण कर और जटाजूट बाँधकर मुझे दुःख-समुद्रमें डुबोकर वनको चला गया ॥ ८५ ॥ हा राम ! हा मेरे रघुवंशशिरोमणि ! आप साक्षात् परम पुरुष परमात्माने मेरे गर्भसे जन्म लिया, तथापि दुःखने मेरा पल्ला नहीं छोड़ा। इससे मेरा विचार है कि विधाता ही बलवान् है" ॥ ८६ ॥

भरतजीने उन्हें इस प्रकार शोकसे अत्यन्त विलाप करती देख उनके चरण पकड़कर कहा— "माता ! मेरी बात सुनो— ॥ ८७ ॥ कैकेयीने श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकके समय जो कुछ करतूत की है अथवा उसने और भी जो कोई कार्य किया है उसे यदि मैं जानता होऊँ अथवा उसमें मेरी सम्मति हो ॥ ८८ ॥ तो हे मातः ! मुझे सौ ब्रह्महत्याओंका पाप लगे ! अथवा अरुन्धतीके सहित श्रीवसिष्ठजीको खड्गसे मारनेसे जो पाप होता है

भूयात्तत्पापमखिलं मम जानामि यद्यहम् ।
इत्येवं शपथं कृत्वा रुरोद भरतस्तदा ॥ ९० ॥

कौसल्या तमथालिङ्ग्य पुत्र जानामि मा शुचः ।
एतस्मिन्नन्तरे श्रुत्वा भरतस्य समागमम् ॥ ९१ ॥

वसिष्ठो मन्त्रिभिः सार्धं प्रययौ राजमन्दिरम् ।
रुदन्तं भरतं दृष्ट्वा वसिष्ठः प्राह सादरम् ॥ ९२ ॥

वृद्धो राजा दशरथो ज्ञानी सत्यपराक्रमः ।
भुक्त्वा मर्त्यसुखं सर्वमिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ॥ ९३ ॥

अश्वमेधादिभिर्यज्ञैर्लब्ध्वा रामं सुतं हरिम् ।
अन्ते जगाम त्रिदिवं देवेन्द्रार्द्धासनं प्रभुः ॥ ९४ ॥

तं शोचसि वृथैव त्वमशोच्यं मोक्षभाजनम् ।
आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्धो जन्मनाशादिवर्जितः ॥ ९५ ॥

शरीरं जडमत्यर्थमपवित्रं विनश्वरम् ।
विचार्यमाणे शोकस्य नावकाशः कथञ्चन ॥ ९६ ॥

पिता वा तनयो वापि यदि मृत्युवशं गतः ।
मूढास्तमनुशोचन्ति स्वात्मताडनपूर्वकम् ॥ ९७ ॥

निःसारे खलु संसारे वियोगो ज्ञानिनां यदा ।
भवेद्वैराग्यहेतुः स शान्तिसौख्यं तनोति च ॥ ९८ ॥

जन्मवान्यदि लोकेऽस्मिंस्तर्हि तं मृत्युरन्वगात् ।
तस्मादपरिहार्योऽयं मृत्युर्जन्मवतां सदा ॥ ९९ ॥

स्वकर्मवशतः सर्वजन्तूनां प्रभवाप्ययौ ।
विजानन्नप्यविद्वान्यः कथं शोचति बान्धवान् ॥ १०० ॥

ब्रह्माण्डकोटयो नष्टाः सृष्टयो बहुशो गताः ।
शुष्यन्ति सागराः सर्वे कैवास्था क्षणजीविते ॥ १०१ ॥

चलपत्रान्तलग्नाम्बुबिन्दुवत्क्षणभङ्गुरम् ।
आयुस्त्यजत्यवेलायां कस्तत्र प्रत्ययस्तव ॥ १०२ ॥

देही प्राक्तनदेहोत्थकर्मणा देहवान्पुनः ।
तद्देहोत्थेन च पुनरेवं देहः सदात्मनः ॥ १०३ ॥

वही सारा पाप मुझे भी लगे।'' इस प्रकार शपथ करके भरतजी रो उठे ॥ ८९-९० ॥ तब कौसल्याने उन्हें हृदयसे लगाकर कहा—''बेटा! मैं यह सब जानती हूँ, तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो।''

इसी समय भरतजीका आना सुनकर मन्त्रियोंके सहित वसिष्ठजी राजभवनमें आये और भरतको रोते देखकर आदरपूर्वक बोले— ॥ ९१-९२ ॥ ''महाराज दशरथ वृद्ध, ज्ञानी और सत्य-पराक्रमी थे। वे मनुष्यजन्मके समस्त सुख भोगकर, बहुत-सी दक्षिणाके सहित अश्वमेधादि यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन कर और रामचन्द्रके रूपमें साक्षात् विष्णुभगवान्‌को पुत्ररूपसे पाकर अन्तमें स्वर्गलोकमें जाकर देवराज इन्द्रके आधे आसनके अधिकारी हुए हैं ॥ ९३-९४ ॥ वे सर्वथा अशोचनीय और मोक्षके पात्र हैं, उनके लिये तुम वृथा ही शोक करते हो; देखो, आत्मा तो नित्य-अविनाशी, शुद्ध और जन्म-नाशादिसे रहित है ॥ ९५ ॥ और शरीर जड, अत्यन्त अपवित्र और नाशवान् है। इस प्रकार विचार करनेपर शोकके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता ॥ ९६ ॥ यदि कोई पिता या पुत्र मर जाता है तो मूढजन ही उसके लिये छाती पीटकर रोते हैं ॥ ९७ ॥ किन्तु इस असार संसारमें यदि ज्ञानियोंको किसीसे वियोग होता है तो वह उनके लिये वैराग्यका कारण होता है और सुख तथा शान्तिका विस्तार करता है ॥ ९८ ॥ यदि किसीने इस लोकमें जन्म लिया है तो मृत्यु भी अवश्य ही उसके साथ लगी हुई है। अतः जन्म लेनेवालोंके लिये मृत्यु सर्वदा अनिवार्य है ॥ ९९ ॥ 'अपने कर्मानुसार ही सब प्राणियोंके जन्म-मरण होते हैं' यह जानकर भी देखो मूढलोग अपने बन्धु-बान्धवोंके लिये कैसे शोक करते हैं ॥ १०० ॥ करोड़ों ब्रह्माण्ड नष्ट हो गये, अनेकों सृष्टियाँ बीत गयीं, ये सम्पूर्ण समुद्र एक दिन सूख जायँगे, फिर इस क्षणिक जीवनमें भला क्या आस्था की जाय? ॥ १०१ ॥ यह आयु हिलते हुए पत्तेकी नोकपर लटकती हुई जलकी बूँदके समान क्षणभङ्गुर है, असमय ही छोड़कर चली जाती है; उसका तुम क्या विश्वास करते हो? ॥ १०२ ॥ इस जीवात्माने अपने पूर्व-देह-कृत कर्मोंसे यह शरीर धारण किया है और फिर इस देहके कर्मोंसे यह और शरीर धारण करेगा। इसी प्रकार आत्माको सदा पुनः-पुनः देहकी

यथा त्यजति वै जीर्णं वासो गृह्णाति नूतनम्।
तथा जीर्णं परित्यज्य देही देहं पुनर्नवम्॥ १०४॥

भजत्येव सदा तत्र शोकस्यावसरः कुतः।
आत्मा न म्रियते जातु जायते न च वर्धते॥ १०५॥

षड्भावरहितोऽनन्तः सत्यप्रज्ञानविग्रहः।
आनन्दरूपो बुद्ध्यादिसाक्षी लयविवर्जितः॥ १०६॥

एक एव परो ह्यात्मा ह्यद्वितीयः समः स्थितः।
इत्यात्मानं दृढं ज्ञात्वा त्यक्त्वा शोकं कुरु क्रियाम्॥ १०७॥

तैलद्रोण्याः पितुर्देहमुद्धृत्य सचिवैः सह।
कृत्यं कुरु यथान्यायमस्माभिः कुलनन्दन॥ १०८॥

इति सम्बोधितः साक्षाद्गुरुणा भरतस्तदा।
विसृज्याज्ञानजं शोकं चक्रे सविधिवत्क्रियाम्॥ १०९॥

गुरुणोक्तप्रकारेण आहिताग्नेर्यथाविधि।
संस्कृत्य स पितुर्देहं विधिदृष्टेन कर्मणा॥ ११०॥

एकादशेऽहनि प्राप्ते ब्राह्मणान्वेदपारगान्।
भोजयामास विधिवच्छतशोऽथ सहस्रशः॥ १११॥

उद्दिश्य पितरं तत्र ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु।
ददौ गवां सहस्राणि ग्रामान् रत्नाम्बराणि च॥ ११२॥

अवसत्स्वगृहे तत्र राममेवानुचिन्तयन्।
वसिष्ठेन सह भ्रात्रा मन्त्रिभिः परिवारितः॥ ११३॥

रामेऽरण्यं प्रयाते सह जनकसुता-
लक्ष्मणाभ्यां सुघोरं
माता मे राक्षसीव प्रदहति हृदयं
दर्शनादेव सद्यः।
गच्छाम्यारण्यमद्य स्थिरमतिरखिलं
दूरतोऽपास्य राज्यं
रामं सीतासमेतं स्मितरुचिरमुखं
नित्यमेवानुसेवे॥ ११४॥

प्राप्ति होती रहती है॥ १०३॥ मनुष्य जिस प्रकार पुराने वस्त्रोंको उतारकर फिर नये वस्त्र पहन लेता है उसी प्रकार देहधारी जीव पुराने शरीरको छोड़कर नवीन शरीर धारण कर लेता है। अतः इसमें शोकका क्या कारण है ? क्योंकि आत्मा तो न कभी मरता है, न जन्मता है और न बढ़ता ही है॥ १०४-१०५॥ वह षड्-भाव-विकारोंसे रहित, अनन्त, सच्चित्स्वरूप, आनन्दरूप, बुद्धि आदिका साक्षी और अविनाशी है॥ १०६॥ वह परमात्मा एक, अद्वितीय और समभावसे स्थित है। इस प्रकार तुम आत्माका दृढ़ ज्ञान प्राप्त कर शोकरहित हो समस्त कार्य करो॥ १०७॥ हे कुलनन्दन भरत ! अपने पिताका शरीर तैलकी नावमेंसे निकालकर मन्त्रियों और हम सब ऋषियोंके साथ उसका विधिपूर्वक अन्त्येष्टि-संस्कार करो"॥ १०८॥

तब गुरुजीके इस प्रकार समझानेपर भरतजीने अज्ञानजन्य शोकको छोड़कर राजाका विधिवत् अन्त्य कृत्य किया॥ १०९॥ गुरुजीके कथनानुसार जैसे अग्निहोत्रीका अन्तिम संस्कार करना चाहिये उसी प्रकार विधिपूर्वक पिताके देहका शास्त्रानुकूल संस्कार कराकर॥ ११०॥ फिर एकादशाह आनेपर सैकड़ों-हजारों वेदज्ञ ब्राह्मणोंको विधिवत् भोजन कराया॥ १११॥ तथा पिताके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन, हजारों गौएँ, अनेकों गाँव और रत्न तथा वस्त्रादि दिये॥ ११२॥

फिर श्रीरामचन्द्रजीका ही स्मरण करते हुए वे गुरु वसिष्ठजी, भाई शत्रुघ्न और मन्त्रियोंके साथ अपने घरमें रहने लगे॥ ११३॥ घरमें रहते हुए वे मन-ही-मन सोचा करते थे कि 'जनकनन्दिनी महारानी सीता और लक्ष्मणके सहित श्रीरघुनाथजीके भयंकर वनमें चले जानेसे माता कैकेयी अपने दर्शनमात्रसे ही राक्षसीके समान मेरे हृदयमें दाह उत्पन्न करती है। अतः अब मैं निस्सन्देह शीघ्र ही सब राज-पाट छोड़कर वनको जाऊँगा और मधुर मुसकानसे जिनका मुखारविन्द अति शोभित हो रहा है उन राम और सीताकी नित्यप्रति सेवा करूँगा'॥ ११४॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अयोध्याकाण्डे सप्तमः सर्गः॥ ७॥

अष्टम सर्ग

भरतजीका वनको प्रस्थान, मार्गमें गुह और भरद्वाजजीसे भेंट तथा चित्रकूटदर्शन

श्रीमहादेव उवाच

वसिष्ठो मुनिभिः सार्धं मन्त्रिभिः परिवारितः ।
राज्ञः सभां देवसभासन्निभामविशद्विभुः ॥ १ ॥

तत्रासने समासीनश्चतुर्मुख इवापरः ।
आनीय भरतं तत्र उपवेश्य सहानुजम् ॥ २ ॥

अब्रवीद्वचनं देशकालोचितमरिन्दमम् ।
वत्स राज्येऽभिषेक्ष्यामस्त्वामद्य पितृशासनात् ॥ ३ ॥

कैकेय्या याचितं राज्यं त्वदर्थे पुरुषर्षभ ।
सत्यसन्धो दशरथः प्रतिज्ञाय ददौ किल ॥ ४ ॥

अभिषेको भवत्वद्य मुनिभिर्मन्त्रपूर्वकम् ।
तच्छ्रुत्वा भरतोऽप्याह मम राज्येन किं मुने ॥ ५ ॥

रामो राजाधिराजश्च वयं तस्यैव किङ्कराः ।
श्वःप्रभाते गमिष्यामो राममानेतुमञ्जसा ॥ ६ ॥

अहं यूयं मातरश्च कैकेयीं राक्षसीं विना ।
हनिष्याम्यधुनैवाहं कैकेयीं मातृगन्धिनीम् ॥ ७ ॥

किन्तु मां नो रघुश्रेष्ठः स्त्रीहन्तारं सहिष्यते ।
तच्छ्वोभूते गमिष्यामि पादचारेण दण्डकान् ॥ ८ ॥

शत्रुघ्नसहितस्तूर्णं यूयमायात वा न वा ।
रामो यथा वने यातस्तथाहं वल्कलाम्बरः ॥ ९ ॥

फलमूलकृताहारः शत्रुघ्नसहितो मुने ।
भूमिशायी जटाधारी यावद्रामो निवर्तते ॥ १० ॥

इति निश्चित्य भरतस्तूष्णीमेवावतस्थिवान् ।
साधुसाध्विति तं सर्वे प्रशशंसुर्मुदान्विताः ॥ ११ ॥

ततः प्रभाते भरतं गच्छन्तं सर्वसैनिकाः ।
अनुजग्मुः सुमन्त्रेण नोदिताः साश्वकुञ्जराः ॥ १२ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! एक दिन मुनीश्वरोंके सहित मन्त्रियोंसे घिरे हुए भगवान् वसिष्ठजी देवसभाके सदृश राजसभामें आये ॥ १ ॥ वहाँ दूसरे ब्रह्माजीके समान आसनपर विराजमान श्रीवसिष्ठजीने भाई शत्रुघ्नके सहित भरतजीको बुलाकर आसनपर बैठाया ॥ २ ॥ और उन शत्रुदमन भरतजीसे इस प्रकार देशकालोचित वाक्योंमें कहा—"वत्स ! तुम्हारे पिताके कथनानुसार आज हम तुम्हें राजपदपर अभिषिक्त करेंगे ॥ ३ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! कैकेयीने तुम्हारे लिये राजा दशरथसे राज्य माँगा था । राजा सत्यपरायण थे, इसलिये प्रतिज्ञा करनेके कारण उन्होंने उसे दे दिया ॥ ४ ॥ अतः मुनिजनोंद्वारा मन्त्रोच्चारपूर्वक आज तुम्हारा अभिषेक होना चाहिये ।"

यह सुनकर भरतजी बोले—"हे मुनिनाथ ! राज्यसे मेरा क्या प्रयोजन है ? ॥ ५ ॥ महाराज राम ही राजाधिराज हैं, हम तो उन्हींके दास हैं । कल प्रातःकाल रामजीको लानेके लिये हम शीघ्र ही वनको जायँगे ॥ ६ ॥ मैं, आप सब लोग और राक्षसी कैकेयीके सिवा अन्य सब माताएँ—ये सभी वनको चलेंगे । मैं क्या करूँ ? मैं तो इस नाममात्रकी माता कैकेयीको अभी मार डालता, किंतु श्रीरघुनाथजी मुझ स्त्रीहत्यारेको क्षमा न करेंगे । अतः कुछ भी हो, कल प्रातःकाल होते ही, आपलोग चलें या न चलें मैं तो शत्रुघ्नके सहित पैदल ही दण्डकारण्यको जाऊँगा । हे मुने ! जिस प्रकार रामजी गये हैं उसी प्रकार जबतक रामचन्द्रजी न लौटेंगे तबतक मैं भी शत्रुघ्नके सहित वल्कल-वस्त्र और जटाजूट धारणकर कन्द-मूल-फलादिका भोजन करूँगा और पृथिवीपर शयन करूँगा" ॥ ७—१० ॥

ऐसा निश्चय कर भरतजी मौन हो गये । तब सब लोग प्रसन्न होकर 'साधु-साधु' कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ११ ॥

तदनन्तर प्रातःकाल होनेपर भरतजीके कूच करते समय हाथी और घोड़ोंके सहित समस्त सैनिक सुमन्त्र-

कौसल्याद्या राजदारा वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः ।
छादयन्तो भुवं सर्वे पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतः ॥ १३ ॥

शृङ्गवेरपुरं गत्वा गङ्गाकूले समन्ततः ।
उवास महती सेना शत्रुघ्नपरिचोदिता ॥ १४ ॥

आगतं भरतं श्रुत्वा गुहः शङ्कितमानसः ।
महत्या सेनया सार्धमागतो भरतः किल ॥ १५ ॥

पापं कर्तुं न वा याति रामस्याविदितात्मनः ।
गत्वा तद्धृदयं ज्ञेयं यदि शुद्धस्तरिष्यति ॥ १६ ॥

गङ्गा नोचेत्समाकृष्य नावस्तिष्ठन्तु सायुधाः ।
ज्ञातयो मे समायत्ताः पश्यन्तः सर्वतोदिशम् ॥ १७ ॥

इति सर्वान्समादिश्य गुहो भरतमागतः ।
उपायनानि संगृह्य विविधानि बहून्यपि ॥ १८ ॥

प्रययौ ज्ञातिभिः सार्धं बहुभिर्विविधायुधैः ।
निवेद्योपायनान्यग्रे भरतस्य समन्ततः ॥ १९ ॥

दृष्ट्वा भरतमासीनं सानुजं सह मन्त्रिभिः ।
चीराम्बरं घनश्यामं जटामुकुटधारिणम् ॥ २० ॥

राममेवानुशोचन्तं रामरामेति वादिनम् ।
ननाम शिरसा भूमौ गुहोऽहमिति चाब्रवीत् ॥ २१ ॥

शीघ्रमुत्थाप्य भरतो गाढमालिङ्ग्य सादरम् ।
पृष्ट्वानामयमव्यग्रः सखायमिदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

भ्रातस्त्वं राघवेणात्र समेतः समवस्थितः ।
रामेणालिङ्गितः सार्द्रनयनेनामलात्मना ॥ २३ ॥

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि यत्त्वया परिभाषितः ।
रामो राजीवपत्राक्षो लक्ष्मणेन च सीतया ॥ २४ ॥

यत्र रामस्त्वया दृष्टस्तत्र मां नय सुव्रत ।
सीतया सहितो यत्र सुप्तस्तद्दर्शयस्व मे ॥ २५ ॥

त्वं रामस्य प्रियतमो भक्तिमानसि भाग्यवान् ।
इति संस्मृत्य संस्मृत्य रामं साश्रुविलोचनः ॥ २६ ॥

की प्रेरणासे उनके साथ चले ॥ १२ ॥ कौसल्या आदि महारानियाँ तथा वसिष्ठ आदि द्विजगण पृथिवीको आच्छादन कर उनके आगे-पीछे और इधर-उधर यथायोग्य रीतिसे चलने लगे ॥ १३ ॥ इस प्रकार शृङ्गवेरपुर पहुँचनेपर वह महान् सेना शत्रुघ्नकी प्रेरणासे गङ्गातटपर जहाँ-तहाँ ठहर गयी ॥ १४ ॥

भरतका आगमन सुन गुहको यह शंका हुई कि भरत बड़ी सेना लेकर आये हैं, अतः ये रामके अनजानमें उनका कोई अनिष्ट करनेके लिये न जाते हों ? मुझे उनके पास जाकर उनका मर्म जानना चाहिये । यदि उनका भाव ठीक हो तब तो वे भले ही पार चले जायँ ॥ १५-१६ ॥ नहीं तो (इसके विपरीत उपाय करना पड़ेगा अतः) मेरे जातिवाले अस्त्र-शस्त्र लेकर सावधानीसे सब ओर देखते हुए चौकस रहें और सब नावोंको खींचकर गङ्गाके बीचमें खड़ी कर दें ॥ १७ ॥

इस प्रकार सबको आज्ञा दे गुह नाना प्रकारकी बहुत-सी भेंटें लेकर अपने बहुत-से हथियारबंद जाति-भाइयोंके साथ भरतजीके पास आया । वहाँ उनके सामने सब सामग्री रखकर इधर-उधर देखते हुए उसने देखा कि मेघश्याम भरत चीर-वस्त्र और जटाजूट धारण किये छोटे भाई तथा मन्त्रियोंके साथ बैठे हैं ॥ १८—२० ॥ वे रामहीका स्मरण कर रहे हैं और 'राम-नाम' का ही जप कर रहे हैं । यह देखकर उसने पृथिवीपर सिर रखकर भरतजी-को प्रणाम किया और बोला—'मैं गुह हूँ' ॥ २१ ॥

भरतजीने उसे शीघ्र ही उठाकर आदरपूर्वक गाढ़ आलिङ्गन किया और प्रसन्नमुखसे उसकी कुशल पूछकर उससे सखा-भावसे इस प्रकार बोले— ॥ २२ ॥ "भैया ! तुम यहाँ श्रीरामचन्द्रके साथ रहे थे और निर्मलहृदय श्रीरामने नेत्रोंमें जल भरकर तुम्हारा आलिङ्गन किया था ॥ २३ ॥ तुमसे सीता और लक्ष्मणके सहित कमलनयन रामने वार्तालाप किया । अतः तुम धन्य हो, तुम्हारा जीवन सफल है ॥ २४ ॥ हे सुव्रत ! तुमने श्रीरामचन्द्रजीको जहाँ देखा था मुझे वहीं ले चलो, जहाँ वे सीताके सहित सोये थे वह स्थान मुझे दिखाओ ॥ २५ ॥ तुम रामके प्रियतम सखा और भाग्यवान् भक्त हो ।" इस प्रकार पुनः-पुनः रामका स्मरण करनेसे भरतजीके नेत्रोंमें जल भर आया ॥ २६ ॥

गुहेन सहितस्तत्र यत्र रामः स्थितो निशि।
ययौ ददर्श शयनस्थलं कुशसमास्तृतम् ॥ २७ ॥

सीताभरणसंलग्नस्वर्णबिन्दुभिरर्चितम्।
दुःखसन्तप्तहृदयो भरतः पर्यदेवयत् ॥ २८ ॥

अहोऽतिसुकुमारी या सीता जनकनन्दिनी।
प्रासादे रत्नपर्यङ्के कोमलास्तरणे शुभे ॥ २९ ॥

रामेण सहिता शेते सा कथं कुशविष्टरे।
सीता रामेण सहिता दुःखेन मम दोषतः ॥ ३० ॥

धिङ् मां जातोऽस्मि कैकेय्यां पापराशिसमानतः।
मन्निमित्तमिदं क्लेशं रामस्य परमात्मनः ॥ ३१ ॥

अहोऽतिसफलं जन्म लक्ष्मणस्य महात्मनः।
राममेव सदान्वेति वनस्थमपि हृष्टधीः ॥ ३२ ॥

अहं रामस्य दासा ये तेषां दासस्य किङ्करः।
यदि स्यां सफलं जन्म मम भूयान्न संशयः ॥ ३३ ॥

भ्रातर्जानासि यदि तत्कथयस्व ममाखिलम्।
यत्र तिष्ठति तत्राहं गच्छाम्यानेतुमञ्जसा ॥ ३४ ॥

गुहस्तं शुद्धहृदयं ज्ञात्वा सस्नेहमब्रवीत्।
देव त्वमेव धन्योऽसि यस्य ते भक्तिरीदृशी ॥ ३५ ॥

रामे राजीवपत्राक्षे सीतायां लक्ष्मणे तथा।
चित्रकूटाद्रिनिकटे मन्दाकिन्यविदूरतः ॥ ३६ ॥

मुनीनामाश्रमपदे रामस्तिष्ठति सानुजः।
जानक्या सहितो नन्दात्सुखमास्ते किल प्रभुः ॥ ३७ ॥

तत्र गच्छामहे शीघ्रं गङ्गां तर्तुमिहार्हसि।
इत्युक्त्वा त्वरितं गत्वा नावः पञ्चशतानि ह ॥ ३८ ॥

समानयत्ससैन्यस्य तर्तुं गङ्गां महानदीम्।
स्वयमेवानिनायैकां राजनावं गुहस्तदा ॥ ३९ ॥

आरोप्य भरतं तत्र शत्रुघ्नं राममातरम्।
वसिष्ठं च तथान्यत्र कैकेयीं चान्ययोषितः ॥ ४० ॥

इस प्रकार विरहव्याकुल हुए वे गुहके साथ उस स्थानपर पहुँचे जहाँ रात्रिके समय श्रीरामने निवास किया था। वहाँ जाकर उन्होंने उस कुशा बिछे हुए शयन-स्थानको देखा ॥ २७ ॥ वह सीताजीके आभूषणोंसे झड़े हुए सुवर्णकणोंसे सुशोभित था। उसे देखकर भरतजीका हृदय दुःखसे भर आया और वे इस प्रकार विलाप करने लगे— ॥ २८ ॥ "अहो ! जो अति सुकुमारी जनकदुलारी सीता राजमहलमें कोमल बिछौनेसे युक्त अति सुन्दर रत्नपर्यङ्कपर श्रीरघुनाथजीके साथ शयन किया करती थीं, वे ही मेरे दोषसे श्रीरामचन्द्रजीके साथ इस कुशाओंकी साथरीपर किस प्रकार क्लेशपूर्वक सोती होंगी ? ॥ २९-३० ॥ मुझे धिक्कार है ! जो मैं मूर्तिमान् पापपुञ्जके समान कैकेयीके गर्भसे उत्पन्न हुआ हूँ। हाय ! मेरे लिये ही परमात्मा रामको यह क्लेश उठाना पड़ा ॥ ३१ ॥ अहा ! महात्मा लक्ष्मणका जन्म अत्यन्त सफल है, जो भगवान् रामके वनमें रहते समय भी सदा प्रसन्न मनसे उन्हींका अनुसरण करते हैं ॥ ३२ ॥ जो लोग रामके दास हैं उनके दासोंका दास भी यदि मैं हो जाऊँ तो मेरा जन्म सफल हो जाय—इसमें संदेह नहीं ॥ ३३ ॥ भाई ! यदि तुम्हें मालूम हो तो मुझे यह सब बताओ कि राम कहाँ हैं ? वे जहाँ कहीं भी होंगे, मैं उन्हें तुरंत लानेके लिये वहीं जाऊँगा" ॥ ३४ ॥

गुहने उनका चित्त शुद्ध देखकर स्नेहपूर्वक कहा— "स्वामिन् ! आपकी कमलनयन राम, सीता और लक्ष्मणमें ऐसी विशुद्ध भक्ति है, अतः आप ही धन्य हैं। छोटे भाई लक्ष्मणके सहित श्रीरामचन्द्र चित्रकूट-पर्वतके पास मन्दाकिनी नदीके समीप मुनियोंके आश्रममें रहते हैं। वहाँ जानकीके सहित भगवान् राम आनन्द और सुख-पूर्वक विराजमान हैं ॥ ३५—३७ ॥ चलिये, शीघ्र ही हमलोग वहाँ चलें। पहले आपलोग यहाँ गङ्गाजी पार कर लें।" ऐसा कहकर उसने तुरंत ही सेनाके सहित भरतजीको महानदी गङ्गाजीसे पार करनेके लिये पाँच सौ नावें मँगवायीं और स्वयं एक राजनौका ले आया ॥ ३८-३९ ॥ उसमें भरत, शत्रुघ्न, रामकी माता कौसल्या और वसिष्ठजीको चढ़ाया तथा एक दूसरी नावमें कैकेयी आदि अन्य राजमहिलाओंको सवार किया ॥ ४० ॥

तीर्त्वा गङ्गां ययौ शीघ्रं भरद्वाजाश्रमं प्रति ।
दूरे स्थाप्य महासैन्यं भरतः सानुजो ययौ ॥ ४१ ॥

आश्रमे मुनिमासीनं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
दृष्ट्वा ननाम भरतः साष्टाङ्गमतिभक्तितः ॥ ४२ ॥

ज्ञात्वा दाशरथिं प्रीत्या पूजयामास मौनिराट् ।
पप्रच्छ कुशलं दृष्ट्वा जटावल्कलधारिणम् ॥ ४३ ॥

राज्यं प्रशासतस्तेऽद्य किमेतद्वल्कलादिकम् ।
आगतोऽसि किमर्थं त्वं विपिनं मुनिसेवितम् ॥ ४४ ॥

भरद्वाजवचः श्रुत्वा भरतः साश्रुलोचनः ।
सर्वं जानासि भगवन् सर्वभूताशयस्थितः ॥ ४५ ॥

तथापि पृच्छसे किञ्चित्तदनुग्रह एव मे ।
कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्यविघातनम् ॥ ४६ ॥

वनवासादिकं वापि न हि जानामि किञ्चन ।
भवत्पादयुगं मेऽद्य प्रमाणं मुनिसत्तम ॥ ४७ ॥

इत्युक्त्वा पादयुगलं मुनेः स्पृष्ट्वार्त्तमानसः ।
ज्ञातुमर्हसि मां देव शुद्धो वाशुद्ध एव वा ॥ ४८ ॥

मम राज्येन किं स्वामिन् रामे तिष्ठति राजनि ।
किङ्करोऽहं मुनिश्रेष्ठ रामचन्द्रस्य शाश्वतः ॥ ४९ ॥

अतो गत्वा मुनिश्रेष्ठ रामस्य चरणान्तिके ।
पतित्वा राज्यसम्भारान् समर्प्यात्रैव राघवम् ॥ ५० ॥

अभिषेक्ष्ये वसिष्ठाद्यैः पौरजानपदैः सह ।
नेष्येऽयोध्यां रमानाथं दासः सेवेऽतिनीचवत् ॥ ५१ ॥

इत्युदीरितमाकर्ण्य भरतस्य वचो मुनिः ।
आलिङ्ग्य मूर्ध्न्यवघ्राय प्रशशंस सविस्मयः ॥ ५२ ॥

वत्स ज्ञातं पुरैवैतद्भविष्यं ज्ञानचक्षुषा ।
मा शुचस्त्वं परो भक्तः श्रीरामे लक्ष्मणादपि ॥ ५३ ॥

इस प्रकार शीघ्र ही गङ्गाजीको पार कर वे भरद्वाज मुनिके आश्रमकी ओर चले। वहाँ अपनी महान् सेनाको आश्रमसे दूर छोड़कर भाई शत्रुघ्नके सहित भरतजी आश्रमपर गये ॥ ४१ ॥ और प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी मुनिवर भरद्वाजको आश्रममें बैठे देख उन्हें अति भक्तिपूर्वक साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥ ४२ ॥

मुनीश्वरको जब मालूम हुआ कि वे दशरथनन्दन भरत हैं, तब उन्होंने प्रीतिपूर्वक उनकी पूजा की और उन्हें जटा-वल्कलादि धारण किये देख कुशल-प्रश्नके अनन्तर पूछा— ॥ ४३ ॥ "भाई भरत ! राज्य-शासन करते हुए तुमनें आज यह वल्कलादि कैसे धारण कर लिये और इस मुनिजनसेवित तपोवनमें तुम किस लिये आये हो ?" ॥ ४४ ॥

भरद्वाजके ये वचन सुनकर भरतने नेत्रोंमें जल भरकर कहा—"भगवन् ! आप सब जानते हैं, क्योंकि आप सर्वान्तर्यामी हैं ॥ ४५ ॥ फिर भी आप जो पूछ रहे हैं, वह मेरे ऊपर आपकी कुछ कृपा ही है। कैकेयीने श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकमें विघ्न उपस्थित करनेवाला और वनवासादिविषयक जो कुछ कार्य किया है, हे मुनिश्रेष्ठ ! आपके चरणोंका साक्षी करके कहता हूँ, मुझे उसके विषयमें कुछ भी पता नहीं था" ॥ ४६-४७ ॥ ऐसा कह उन्होंने अति आर्त्तचित्त हो मुनिके चरणयुगल पकड़कर कहा—"भगवन् ! आप स्वयं जान सकते हैं कि मैं दोषी हूँ या निर्दोष ॥ ४८ ॥ हे स्वामिन् ! महाराज रामके रहते हुए मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है ? हे मुनिश्रेष्ठ ! मैं तो सदासे ही श्रीरामचन्द्रका दास हूँ ॥ ४९ ॥ अतः हे मुनिनाथ ! मैं श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर उनके चरण-कमलोंमें पड़कर यह सारी राजपाटकी सामग्री उन्हें यहीं सौंप दूँगा ॥ ५० ॥ तथा वसिष्ठ आदि पुरजन और जनपदवासियोंके साथ मिलकर उनका राज्याभिषेक कर अयोध्या ले जाऊँगा और अति तुच्छ दासके समान उन लक्ष्मीपतिकी सेवा करूँगा" ॥ ५१ ॥

मुनीश्वरने भरतके ये उद्गार सुनकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और विस्मयपूर्वक सिर सूँघकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ५२ ॥ वे बोले—"बेटा ! अपने ज्ञानचक्षुओंसे मैंने पहले ही ये होनेवाली बातें जान ली थीं। तुम शोक न करो; तुम तो लक्ष्मणकी अपेक्षा भी रामके परम भक्त

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि ससैन्यस्य तवानघ।
अद्य भुक्त्वा ससैन्यस्त्वं श्वो गन्ता रामसन्निधिम्॥ ५४॥

यथाज्ञापयति भवांस्तथेति भरतोऽब्रवीत्।
भरद्वाजस्त्वपः स्पृष्ट्वा मौने होमगृहे स्थितः॥ ५५॥

दध्यौ कामदुघां कामवर्षिणीं कामदो मुनिः।
असृजत्कामधुक् सर्वं यथाकाममलौकिकम्॥ ५६॥

भरतस्य ससैन्यस्य यथेष्टं च मनोरथम्।
यथा ववर्ष सकलं तृप्तास्ते सर्वसैनिकाः॥ ५७॥

वसिष्ठं पूजयित्वाग्रे शास्त्रदृष्टेन कर्मणा।
पश्चात्ससैन्यं भरतं तर्पयामास योगिराट्॥ ५८॥

उषित्वा दिनमेकं तु आश्रमे स्वर्गसन्निभे।
अभिवाद्य पुनः प्रातर्भरद्वाजं सहानुजः।
भरतस्तु कृतानुज्ञः प्रययौ रामसन्निधिम्॥ ५९॥

चित्रकूटमनुप्राप्य दूरे संस्थाप्य सैनिकान्।
रामसंदर्शनाकाङ्क्षी प्रययौ भरतः स्वयम्॥ ६०॥

शत्रुघ्नेन सुमन्त्रेण गुहेन च परन्तपः।
तपस्विमण्डलं सर्वं विचिन्वानो न्यवर्तत॥ ६१॥

अदृष्ट्वा रामभवनमपृच्छदृषिमण्डलम्।
कुत्रास्ते सीतया सार्धं लक्ष्मणेन रघूत्तमः॥ ६२॥

ऊचुरग्रे गिरेः पश्चाद्गङ्गाया उत्तरे तटे।
विविक्तं रामसदनं रम्यं काननमण्डितम्॥ ६३॥

सफलैराम्रपनसैः कदलीखण्डसंवृतम्।
चम्पकैः कोविदारैश्च पुन्नागैर्विपुलैस्तथा॥ ६४॥

एवं दर्शितमालोक्य मुनिभिर्भरतोऽग्रतः।
हर्षाद्ययौ रघुश्रेष्ठभवनं मन्त्रिणा सह॥ ६५॥

ददर्श दूरादतिभासुरं शुभं
रामस्य गेहं मुनिवृन्दसेवितम्।
वृक्षाग्रसंलग्नसुवल्कलाजिनं
रामाभिरामं भरतः सहानुजः॥ ६६॥

हो॥ ५३॥ हे अनघ! मैं सेनाके सहित तुम्हारा आतिथ्य-सत्कार करना चाहता हूँ। आज सेनासहित तुम यहीं भोजन करो, कल रामके पास जाना'' ॥ ५४॥

भरतजीने कहा—''आपकी जैसी आज्ञा होगी, वही होगा।'' तब मुनिवर भरद्वाज आचमन कर मौन होकर यज्ञशालामें बैठे॥ ५५॥ वहाँ बैठकर उन कामप्रद मुनीश्वरने समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कामधेनुका स्मरण किया। तब उस कामधेनुने इच्छानुसार सम्पूर्ण अलौकिक भोग प्रस्तुत कर दिये॥ ५६॥ उसने सेनाके सहित भरतजीके सम्पूर्ण मनोरथोंको इस प्रकार पूर्ण किया, जिससे वे समस्त सैनिक सन्तुष्ट हो गये॥ ५७॥ फिर उन योगिराजने शास्त्रानुकूल प्रथम वसिष्ठजीकी पूजा की और तदनन्तर सेनाके सहित भरतजीको तृप्त किया॥ ५८॥

इस प्रकार उस स्वर्ग-सदृश आश्रममें एक दिन रहकर प्रातःकाल मुनिवरको प्रणामकर उनकी आज्ञा ले भाईके सहित भरतजी रामचन्द्रजीके पास चले॥ ५९॥ चित्रकूटके निकट पहुँचनेपर उन्होंने सैनिकोंको दूर खड़ा कर दिया और स्वयं राम-दर्शनकी लालसासे आगे बढ़े॥ ६०॥ परन्तप भरतजी शत्रुघ्न, सुमन्त्र और गुहके साथ समस्त तपस्वियोंके आश्रमोंमें खोजते-खोजते फिर आये॥ ६१॥ किन्तु उन्हें श्रीरामचन्द्रजीकी कुटी कहीं न मिली। तब उन्होंने ऋषि-मण्डलीसे पूछा—''सीता और लक्ष्मणके सहित श्रीरघुनाथजी कहाँ रहते हैं?'' ॥ ६२॥ उन्होंने कहा—''सामनेवाले पर्वतके उस ओर श्रीमन्दाकिनीके उत्तरीय तटपर वनावलीसे सुशोभित रामकी परम रमणीक एकान्त कुटी है॥ ६३॥ वह फलयुक्त आम्रवृक्ष, पनस और कदलीखण्ड (केलेकी क्यारियों) से घिरी हुई है। तथा उसके चारों ओर बहुत-से चम्पक, कचनार और नागकेशरके भी वृक्ष सुशोभित हैं'' ॥ ६४॥ मुनियोंके इस प्रकार बतलानेपर भरतजी प्रसन्नतापूर्वक मन्त्रियोंको साथ ले सबसे आगे रघुनाथजीके निवास-स्थानको चले॥ ६५॥ आगे बढ़नेपर भाईके सहित भरतने दूरहीसे रामका मुनिजनसेवित अति सुन्दर और भासमान सुन्दर भवन देखा। जिसमें वृक्षकी शाखापर वल्कलवस्त्र और मृगचर्म टँगे हुए थे और श्रीरामचन्द्रजीके वास करनेके कारण जो परम रमणीक था॥ ६६॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अयोध्याकाण्डेऽष्टमः सर्गः॥ ८॥

नवम सर्ग

भगवान् राम और भरतका मिलन, भरतजीका अयोध्यापुरीको लौटना और श्रीरामचन्द्रजीका अत्रिमुनिके आश्रमपर जाना

श्रीमहादेव उवाच

अथ गत्वाश्रमपदसमीपं भरतो मुदा।
सीतारामपदैर्युक्तं पवित्रमतिशोभनम्॥ १॥

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चित-
ध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गला-
न्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः॥ २॥

अहो सुधन्योऽहममूनि राम-
पादारविन्दाङ्कितभूतलानि।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं
ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम्॥ ३॥

इत्यद्भुतप्रेमरसाप्लुताशयो
विगाढचेता रघुनाथभावने।
आनन्दजाश्रुस्नपितस्तनान्तरः
शनैरवापाश्रमसन्निधिं हरेः॥ ४॥

स तत्र दृष्ट्वा रघुनाथमास्थितं
दूर्वादलश्यामलमायतेक्षणम्।
जटाकिरीटं नववल्कलाम्बरं
प्रसन्नवक्त्रं तरुणारुणद्युतिम्॥ ५॥

विलोकयन्तं जनकात्मजां शुभां
सौमित्रिणा सेवितपादपङ्कजम्।
तदाभिदुद्राव रघूत्तमं शुचा
हर्षाच्च तत्पादयुगं त्वराग्रहीत्॥ ६॥

रामस्तमाकृष्य सुदीर्घबाहु-
र्दोर्भ्यां परिष्वज्य सिषिञ्च नेत्रजैः।
जलैरथाङ्कोपरि संन्यवेशयत्
पुनः पुनः संपरिषस्वजे विभुः॥ ७॥

अथ ता मातरः सर्वाः समाजग्मुस्त्वरान्विताः।
राघवं द्रष्टुकामास्तास्तृषार्ता गौर्यथा जलम्॥ ८॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! तदनन्तर श्रीभरतजी अति मग्न मनसे सीता और रामके चरणचिह्नोंसे सुशोभित आश्रमके समीप अति सुन्दर और पवित्र स्थलमें पहुँचे॥ १॥ वहाँ उन्होंने सब ओर भगवान् रामचन्द्रके वज्र, अङ्कुश, कमल और ध्वजा आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा पृथिवीके लिये अति मङ्गलमय चरण-चिह्न देखे। उन्हें देखकर भाई शत्रुघ्नके सहित वे उस चरणरजमें लोटने लगे॥ २॥ और मन-ही-मन कहने लगे—"अहो! मैं परम धन्य हूँ, जो आज श्रीरामचन्द्रजीके उन चरणारविन्दोंके चिह्नोंसे सुशोभित भूमिको देख रहा हूँ जिनकी चरणरजको ब्रह्मा आदि देवगण और सम्पूर्ण श्रुतियाँ भी सदा खोजती रहती हैं"॥ ३॥

इस प्रकार जिनका हृदय अद्भुत प्रेमरससे भरा हुआ है, मन रघुनाथजीकी भावनामें डूबा हुआ है तथा वक्षःस्थल आनन्दाश्रुओंसे भीगा हुआ है, वे भरतजी धीरे-धीरे श्रीहरिके आश्रमके निकट पहुँचे॥ ४॥ वहाँ उन्होंने दूर्वादलके समान श्याम शरीर और विशाल नयन श्रीरघुनाथजीको बैठे हुए देखा, जो जटाओंका मुकुट और नवीन वल्कल-वस्त्र धारण किये थे तथा प्रसन्नवदन और मध्याह्न सूर्यके समान प्रभायुक्त थे॥ ५॥ एवं जो शुभलक्षणा श्रीजनक-नन्दिनीकी ओर निहार रहे थे तथा श्रीलक्ष्मणजी जिनके चरणकमलोंकी सेवा कर रहे थे। उन्हें देखते ही भरतजीने दौड़कर हर्ष और शोकयुक्त होकर तुरंत उनके चरण-युगल पकड़ लिये॥ ६॥ बड़ी भुजाओंवाले श्रीरामचन्द्रजीने अपनी दोनों बाहुओंसे उन्हें उठाकर आलिङ्गन किया और उन्हें गोदमें बैठाकर अपने आँसुओंसे सींचते हुए बारम्बार हृदयसे लगाया॥ ७॥ फिर प्यासी गौएँ जिस प्रकार जलकी ओर दौड़ती हैं उसी प्रकार कौसल्या आदि समस्त माताएँ रघुनाथजीको देखनेके लिये बड़ी शीघ्रतासे चलीं॥ ८॥

रामः स्वमातरं वीक्ष्य द्रुतमुत्थाय पादयोः ।
ववन्दे साश्रु सा पुत्रमालिङ्ग्याऽतीव दुःखिता ॥ ९ ॥

इतराश्च तथा नत्वा जननी रघुनन्दनः ।
ततः समागतं दृष्ट्वा वसिष्ठं मुनिपुङ्गवम् ॥ १० ॥

साष्टाङ्गं प्रणिपत्याह धन्योऽस्मीति पुनः पुनः ।
यथार्हमुपवेश्याह सर्वानेव रघूद्वहः ॥ ११ ॥

पिता मे कुशली किं वा मां किमाहातिदुःखितः ।
वसिष्ठस्तमुवाचेदं पिता ते रघुनन्दन ॥ १२ ॥

त्वद्वियोगाभितप्तात्मा त्वामेव परिचिन्तयन् ।
राम रामेति सीतेति लक्ष्मणेति ममार ह ॥ १३ ॥

श्रुत्वा तत्कर्णशूलाभं गुरोर्वचनमञ्जसा ।
हा हतोऽस्मीति पतितो रुदन् रामः सलक्ष्मणः ॥ १४ ॥

ततोऽनुरुरुदुः सर्वा मातरश्च तथापरे ।
हा तात मां परित्यज्य क्व गतोऽसि घृणाकर ॥ १५ ॥

अनाथोऽस्मि महाबाहो मां को वा लालयेदितः ।
सीता च लक्ष्मणश्चैव विलेपतुरतो भृशम् ॥ १६ ॥

वसिष्ठः शान्तवचनैः शमयामास तां शुचम् ।
ततो मन्दाकिनीं गत्वा स्नात्वा ते वीतकल्मषाः ॥ १७ ॥

राज्ञे ददुर्जलं तत्र सर्वे ते जलकाङ्क्षिणे ।
पिण्डान्निर्वापयामास रामो लक्ष्मणसंयुतः ॥ १८ ॥

इङ्गुदीफलपिण्याकरचितान्मधुसम्प्लुतान् ।
वयं यदन्नाः पितरस्तदन्नाः स्मृतिनोदिताः ॥ १९ ॥

इति दुःखाश्रुपूर्णाक्षः पुनः स्नात्वा गृहं ययौ ।
सर्वे रुदित्वा सुचिरं स्नात्वा जग्मुस्तदाश्रमम् ॥ २० ॥

तस्मिंस्तु दिवसे सर्वे उपवासं प्रचक्रिरे ।
ततः परेद्युर्विमले स्नात्वा मन्दाकिनीजले ॥ २१ ॥

उपविष्टं समागम्य भरतो राममब्रवीत् ।
राम राम महाभाग स्वात्मानमभिषेचय ॥ २२ ॥

रामजीने अपनी माताको देखते ही शीघ्रतासे उठकर उनका चरण-वन्दन किया और उन्होंने अत्यन्त दुःखसे नेत्रोंमें जल भरकर पुत्रको हृदयसे लगाया ॥ ९ ॥ फिर श्रीरघुनाथजीने उसी प्रकार अन्य माताओंको भी प्रणाम किया। तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीको आते देख, ॥ १० ॥ उन्हें साष्टाङ्ग प्रणामकर बारम्बार कहने लगे 'मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ !'

फिर श्रीरघुनाथजीने सबको यथायोग्य बैठाकर पूछा— ॥ ११ ॥ "कहिये, हमारे पिताजी कुशलसे हैं ? उन्होंने मेरे वियोगसे अत्यन्त दुःखातुर होकर मेरे लिये क्या आज्ञा दी है ?" तब वसिष्ठजीने कहा—"हे रघुनन्दन ! तुम्हारे पिताने तुम्हारे वियोगसे अति सन्तप्त होकर 'हे राम ! हे राम ! हे सीते ! हे लक्ष्मण !' इस प्रकार तुम्हारा ही चिन्तन करते हुए अपने प्राण छोड़ दिये" ॥ १२-१३ ॥

कानोंमें शूलके समान लगनेवाले गुरुके इन वचनोंको सुनकर श्रीराम और लक्ष्मण 'हाय ! हम मारे गये' इस प्रकार रोते हुए सहसा गिर पड़े ॥ १४ ॥ तब समस्त माताएँ और अन्यान्य सभी उपस्थित लोग रोने लगे। श्रीरामचन्द्रजी बारम्बार कहने लगे—"हा तात ! हे दयामय ! आप मुझे छोड़कर कहाँ चले गये ? ॥ १५ ॥ हे महाबाहो ! मैं अनाथ हो गया; अब मुझे कौन लाड़ लड़ावेगा।" फिर इसी प्रकार सीता और लक्ष्मण भी बहुत विलाप करने लगे ॥ १६ ॥

तब वसिष्ठजीने शान्तिमय वाक्योंसे वह शोक शान्त किया और फिर सब लोग मन्दाकिनीपर जाकर स्नान करके पवित्र हुए ॥ १७ ॥ वहाँ सबने जलकाङ्क्षी महाराज दशरथको जलाञ्जलि दी तथा लक्ष्मणजीके सहित श्रीरामचन्द्रजीने पिण्डदान किया ॥ १८ ॥ 'जो हमारा अन्न है वही अन्न हमारे पितरोंको प्रिय होगा, यही स्मृतिकी आज्ञा है' ऐसा कह उन्होंने इङ्गुदीफलके पिण्ड बना उनपर मधु डालकर उन्हें दान किया ॥ १९ ॥ फिर नेत्रोंमें शोकाश्रु भरे हुए वे पुनः स्नानकर आश्रममें आये। इसी प्रकार और सब भी बहुत देरतक रोकर अन्तमें स्नान करके आश्रमको लौटे ॥ २० ॥

उस दिन सबने उपवास किया। दूसरे दिन मन्दाकिनीके निर्मल जलमें स्नान कर भरतजीने आश्रममें बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीके पास आकर कहा—"हे राम ! हे राम !

राज्यं पालय पित्र्यं ते ज्येष्ठस्त्वं मे पिता यथा ।
क्षत्रियेणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम् ॥ २३ ॥

इष्ट्वा यज्ञैर्बहुविधैः पुत्रानुत्पाद्य तन्तवे ।
राज्ये पुत्रं समारोप्य गमिष्यसि ततो वनम् ॥ २४ ॥

इदानीं वनवासस्य कालो नैव प्रसीद मे ।
मातुर्मे दुष्कृतं किञ्चित्स्मर्तुं नार्हसि पाहि नः ॥ २५ ॥

इत्युक्त्वा चरणौ भ्रातुः शिरस्याधाय भक्तितः ।
रामस्य पुरतः साक्षाद्दण्डवत्पतितो भुवि ॥ २६ ॥

उत्थाप्य राघवः शीघ्रमारोप्याङ्केऽतिभक्तितः ।
उवाच भरतं रामः स्नेहार्द्रनयनः शनैः ॥ २७ ॥

शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि त्वयोक्तं यत्तथैव तत् ।
किन्तु मामब्रवीत्तातो नव वर्षाणि पञ्च च ॥ २८ ॥

उषित्वा दण्डकारण्ये पुरं पश्चात्समाविश ।
इदानीं भरतायेदं राज्यं दत्तं मयाखिलम् ॥ २९ ॥

ततः पित्रैव सुव्यक्तं राज्यं दत्तं तवैव हि ।
दण्डकारण्यराज्यं मे दत्तं पित्रा तथैव च ॥ ३० ॥

अतः पितुर्वचः कार्यमावाभ्यामतियत्नतः ।
पितुर्वचनमुल्लङ्घ्य स्वतन्त्रो यस्तु वर्तते ॥ ३१ ॥

स जीवन्नेव मृतको देहान्ते निरयं व्रजेत् ।
तस्माद्राज्यं प्रशाधि त्वं वयं दण्डकपालकाः ॥ ३२ ॥

भरतस्त्वब्रवीद्रामं कामुको मूढधीः पिता ।
स्त्रीजितो भ्रान्तहृदय उन्मत्तो यदि वक्ष्यति ।
तत्सत्यमिति न ग्राह्यं भ्रान्तवाक्यं यथा सुधीः ॥ ३३ ॥

श्रीराम उवाच

न स्त्रीजितः पिता ब्रूयान्न कामी नैव मूढधीः ।
पूर्वं प्रतिश्रुतं तस्य सत्यवादी ददौ भयात् ॥ ३४ ॥

हे महाभाग ! आप अपना अभिषेक कीजिये ॥ २१-२२ ॥ यह पैतृक राज्य आपहीका है, आप इसका पालन करें। आप हमारे बड़े भाई हैं, अतः पितृतुल्य हैं। महाराज ! प्रजाका पालन करना यही क्षत्रियोंका मुख्य धर्म है ॥ २३ ॥ अतः आप नाना प्रकारके यज्ञोंसे यजन करके फिर वंशवृद्धिके लिये पुत्र उत्पन्न कर उसे (बड़े होनेपर) राजसिंहासनपर बैठाकर तब वनको जायें ॥ २४ ॥ हे प्रभो ! अभी वनवासका समय नहीं है, आप मुझपर प्रसन्न होइये। मेरी माताका जो कुछ अपराध है उसे भूल जाइये और हमारी रक्षा कीजिये" ॥ २५ ॥ ऐसा कहकर उन्होंने भाईके चरणोंको भक्तिपूर्वक अपने मस्तकपर रख लिया और श्रीरामचन्द्रजीके सम्मुख दण्डके समान पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २६ ॥

रामजीने भरतको शीघ्रतासे उठाकर अति प्रेमपूर्वक गोदमें बैठा लिया और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भरकर धीरे-धीरे उनसे कहने लगे— ॥ २७ ॥ "भाई ! मैं जो कहता हूँ वह सुनो। तुम जो कुछ कहते हो सो बिलकुल ठीक है। किन्तु पिताजीने मुझे आज्ञा दी थी कि चौदह वर्ष दण्डकारण्यमें रहकर फिर अयोध्यामें आना; इस समय यह सम्पूर्ण राज्य मैं भरतको देता हूँ ॥ २८-२९ ॥ अतः स्पष्ट ही पिताजीने यह राज्य तो तुम्हींको दिया है और वैसे ही मुझे उन्होंने दण्डकारण्यका राज्य दिया है ॥ ३० ॥ इसलिये हम दोनोंको ही प्रयत्नपूर्वक पिताजीके वचनोंको सफल करना चाहिये। जो मनुष्य अपने पिताके वचनोंका उल्लङ्घन कर स्वेच्छापूर्वक बर्तता है वह जीता हुआ भी मृतकके समान है और शरीर छोड़नेपर नरकको जाता है। अतः तुम राज्य-शासन करो, हम दण्डकवनकी रक्षा करेंगे" ॥ ३१-३२ ॥

तब भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—"यदि पिताजीने कामी, मूढ़बुद्धि, स्त्रीके वशीभूत, भ्रान्तचित्त और उन्मत्त होनेके कारण ऐसा कह भी दिया है तो भी उसे सत्य न मानना चाहिये; जिस प्रकार बुद्धिमान् लोग भ्रान्त पुरुषोंके वाक्यका आदर नहीं करते" ॥ ३३ ॥

श्रीरामजी बोले—पिताजीने स्त्रीवश, कामवश अथवा मूढ़बुद्धि होकर ऐसा नहीं कहा। उन सत्यवादीने अपने पूर्व-प्रतिज्ञानुसार ही प्रतिज्ञा-भंगके भयसे ये वर

असत्याद्भीतिरधिका महतां नरकादपि ।
करोमीत्यहमप्येतत्सत्यं तस्यै प्रतिश्रुतम् ॥ ३५ ॥

कथं वाक्यमहं कुर्यामसत्यं राघवो हि सन् ।
इत्युदीरितमाकर्ण्य रामस्य भरतोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

तथैव चीरवसनो वने वत्स्यामि सुव्रत ।
चतुर्दश समास्त्वं तु राज्यं कुरु यथासुखम् ॥ ३७ ॥

श्रीराम उवाच

पित्रा दत्तं तवैवैतद्राज्यं मह्यं वनं ददौ ।
व्यत्ययं यद्यहं कुर्यामसत्यं पूर्ववत् स्थितम् ॥ ३८ ॥

भरत उवाच

अहमप्यागमिष्यामि सेवे त्वां लक्ष्मणो यथा ।
नोचेत्प्रायोपवेशेन त्यजाम्येतत्कलेवरम् ॥ ३९ ॥

इत्येवं निश्चयं कृत्वा दर्भानास्तीर्य चातपे ।
मनसापि विनिश्चित्य प्राङ्मुखोपविवेश सः ॥ ४० ॥

भरतस्यापि निर्बन्धं दृष्ट्वा रामोऽतिविस्मितः ।
नेत्रान्तसंज्ञां गुरवे चकार रघुनन्दनः ॥ ४१ ॥

एकान्ते भरतं प्राह वसिष्ठो ज्ञानिनां वरः ।
वत्स गुह्यं शृणुष्वेदं मम वाक्यात्सुनिश्चितम् ॥ ४२ ॥

रामो नारायणः साक्षाद्ब्रह्मणा याचितः पुरा ।
रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः ॥ ४३ ॥

योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी ।
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा ॥ ४४ ॥

रावणं हन्तुकामास्ते गमिष्यन्ति न संशयः ।
कैकेय्या वरदानादि यद्यन्निष्ठुरभाषणम् ॥ ४५ ॥

सर्वं देवकृतं नोचेदेवं सा भाषयेत्कथम् ।
तस्मात्त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने ॥ ४६ ॥

निवर्तस्व महासैन्यैर्मातृभिः सहितः पुरम् ।
रावणं सकुलं हत्वा शीघ्रमेवागमिष्यति ॥ ४७ ॥

दिये थे ॥ ३४ ॥ महान् पुरुषोंको असत्यसे नरककी अपेक्षा भी अधिक भय हुआ करता है । मैं भी 'ऐसा ही करूँगा' यह कहकर उनसे सत्य-प्रतिज्ञा कर चुका हूँ ॥ ३५ ॥ फिर मैं रघुवंशमें जन्म लेकर अपना वचन कैसे उलट सकता हूँ ?

रामजीका यह कथन सुनकर भरतजी बोले—॥ ३६ ॥ "हे सुव्रत ! पिताजीके कथनानुसार मैं तो आपके समान चौदह वर्षतक वल्कल-वस्त्र धारणकर वनमें रहूँगा और आप सुखपूर्वक राज्य भोगिये" ॥ ३७ ॥

श्रीरामजी बोले—पिताजीने तुमको यह राज्य और मुझे वनवास दिया है । अब यदि मैं इसका उलटा करूँ तो असत्य ज्यों-का-त्यों ही रहता है ॥ ३८ ॥

भरतजी बोले—(अच्छा, यदि आप वनसे नहीं लौटना चाहते तो मुझे आज्ञा दीजिये जिससे) मैं भी वनमें आकर लक्ष्मणके समान ही आपकी सेवा करूँ, नहीं तो मैं अन्न-जल छोड़कर इस शरीरको त्याग दूँगा ॥ ३९ ॥ अपना ऐसा निश्चय प्रकट कर और मनमें भी यही ठानकर वे धूपमें कुशा बिछाकर पूर्वकी ओर मुख करके बैठ गये ॥ ४० ॥ भरतजीका ऐसा हठ देखकर श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त विस्मित हो गुरु वसिष्ठजीको नेत्रोंसे संकेत किया ॥ ४१ ॥

तब ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजीने भरतको एकान्तमें ले जाकर कहा' "वत्स ! मैं जो कहता हूँ यह सुनिश्चित गुह्य रहस्यकी बात सुनो ॥ ४२ ॥ भगवान् राम साक्षात् नारायण हैं । पूर्वकालमें ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर उन्होंने रावणको मारनेके लिये दशरथके यहाँ पुत्ररूपसे जन्म लिया है ॥ ४३ ॥ इसी प्रकार योगमायाने जनकनन्दिनी सीताके रूपसे अवतार लिया है और शेषजी लक्ष्मणके रूपसे उत्पन्न होकर उनका अनुगमन कर रहे हैं ॥ ४४ ॥ वे रावणको मारना चाहते हैं इसलिये निस्सन्देह वनको ही जायँगे । कैकेयीके जो कुछ भी वरदान आदि और निष्ठुर भाषण आदि कार्य हैं वे सब देवताओंकी प्रेरणासे ही हुए हैं, नहीं तो वह ऐसे वचन कैसे बोल सकती थी ? इसलिये हे तात ! तुम रामको लौटानेका आग्रह छोड़ दो ॥ ४५-४६ ॥ और माताओं तथा महती सेनाके सहित अयोध्याको लौट चलो; राम भी कुलसहित रावणका संहार करके वहाँ शीघ्र ही आ जायँगे" ॥ ४७ ॥

इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं भरतो विस्मयान्वितः ।
गत्वा समीपं रामस्य विस्मयोत्फुल्ललोचनः ॥ ४८ ॥

पादुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते ।
तयोः सेवां करोम्येव यावदागमनं तव ॥ ४९ ॥

इत्युक्त्वा पादुके दिव्ये योजयामास पादयोः ।
रामस्य ते ददौ रामो भरतायातिभक्तितः ॥ ५० ॥

गृहीत्वा पादुके दिव्ये भरतो रत्नभूषिते ।
रामं पुनः परिक्रम्य प्रणनाम पुनः पुनः ॥ ५१ ॥

भरतः पुनराहेदं भक्त्या गद्गदया गिरा ।
नवपञ्चसमान्ते तु प्रथमे दिवसे यदि ॥ ५२ ॥

नागमिष्यसि चेद्राम प्रविशामि महानलम् ।
बाढमित्येव तं रामो भरतं संन्यवर्तयत् ॥ ५३ ॥

ससैन्यः सवसिष्ठश्च शत्रुघ्नसहितः सुधीः ।
मातृभिर्मन्त्रिभिः सार्धं गमनायोपचक्रमे ॥ ५४ ॥

कैकेयी राममेकान्ते स्रवन्नेत्रजलाकुला ।
प्राञ्जलिः प्राह हे राम तव राज्यविघातनम् ॥ ५५ ॥

कृतं मया दुष्टधिया मायामोहितचेतसा ।
क्षमस्व मम दौरात्म्यं क्षमासारा हि साधवः ॥ ५६ ॥

त्वं साक्षाद्विष्णुरव्यक्तः परमात्मा सनातनः ।
मायामानुषरूपेण मोहयस्यखिलं जगत् ।
त्वयैव प्रेरितो लोकः कुरुते साध्वसाधु वा ॥ ५७ ॥

त्वदधीनमिदं विश्वमस्वतन्त्रं करोति किम् ।
यथा कृत्रिमनर्तक्यो नृत्यन्ति कुहकेच्छया ॥ ५८ ॥

त्वदधीना तथा माया नर्तकी बहुरूपिणी ।
त्वयैव प्रेरिताहं च देवकार्यं करिष्यता ॥ ५९ ॥

पापिष्ठं पापमनसा कर्माचरमरिन्दम ।
अद्य प्रतीतोऽसि मम देवानामप्यगोचरः ॥ ६० ॥

गुरुजीके ये वचन सुनकर भरतको अति विस्मय हुआ और उन्होंने आश्चर्यचकित होकर श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर कहा— ॥ ४८ ॥ "हे राजेन्द्र ! आप मुझे राज्य-शासनके लिये अपनी जगत्पूज्य चरण-पादुकाएँ दीजिये। जबतक आप लौटेंगे तबतक मैं उन्हींकी सेवा करता रहूँगा" ॥ ४९ ॥

ऐसा कहकर भरतजीने उनके चरणोंमें दो दिव्य पादुकाएँ (खड़ाऊँ) पहना दीं। श्रीरामचन्द्रजीने भरतका भक्ति-भाव देखकर वे खड़ाऊँ उन्हें दे दीं ॥ ५० ॥ भरतजीने वे रत्नजटित दिव्य पादुकाएँ लेकर श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की और उन्हें बारम्बार प्रणाम किया ॥ ५१ ॥

तदनुसार, वे भक्तिवश गद्गद-वाणीसे बोले, "हे राम ! यदि चौदह वर्षके व्यतीत होनेपर आप पहले दिन ही अयोध्या न पहुँचे तो मैं महान् अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।" तब रामचन्द्रजीने 'बहुत अच्छा' कह भरतजीको विदा किया ॥ ५२-५३ ॥ तदुपरान्त बुद्धिमान् भरतजीने सम्पूर्ण सेना, वसिष्ठ, शत्रुघ्न, समस्त माताओं तथा मन्त्रियोंके साथ चलनेकी तैयारी की ॥ ५४ ॥

इसी समय कैकेयीने एकान्त स्थानमें नेत्रोंमें जल भरकर हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—"हे राम ! मायासे मुग्धचित्त हो जानेके कारण मुझ कुबुद्धिने तुम्हारे राज्याभिषेकमें विघ्न डाल दिया सो तुम मेरी इस कुटिलताको क्षमा करना; क्योंकि साधुजन सर्वदा क्षमाशील ही होते हैं ॥ ५५-५६ ॥ आप साक्षात् विष्णु-भगवान्, अव्यक्त परमात्मा और सनातन पुरुष हैं। अपने मायामय मनुष्यरूपसे आप समस्त संसारको मोहित कर रहे हैं। आपकी ही प्रेरणासे लोग शुभ अथवा अशुभ कर्म करते हैं ॥ ५७ ॥ यह सम्पूर्ण विश्व आपहीके अधीन है, अस्वतन्त्र होनेके कारण यह स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता; जिस प्रकार कृत्रिम नर्तकियाँ (कठपुतलियाँ) सूत्रधार (बाजीगर) के इच्छानुसार ही नाचती हैं ॥ ५८ ॥ उसी प्रकार नाना आकार धारण करनेवाली यह मायारूपिणी नटी आपहीके अधीन है। और हे शत्रुदमन ! देवताओंका कार्य सिद्ध करनेकी इच्छावाले आपहीके द्वारा प्रेरित होकर मुझ पापिनीने अपनी दुष्टबुद्धिसे यह पापकर्म किया था। आज मैंने आपको जान लिया, आप देवताओंके भी मन और

पाहि विश्वेश्वरानन्त जगन्नाथ नमोऽस्तु ते ।
छिन्धि स्नेहमयं पाशं पुत्रवित्तादिगोचरम् ॥ ६१ ॥

त्वज्ज्ञानानलखड्गेन त्वामहं शरणं गता ।
कैकेय्या वचनं श्रुत्वा रामः सस्मितमब्रवीत् ॥ ६२ ॥

यदाह मां महाभागे नानृतं सत्यमेव तत् ।
मयैव प्रेरिता वाणी तव वक्त्राद्विनिर्गता ॥ ६३ ॥

देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमत्र दोषः कुतस्तव ।
गच्छ त्वं हृदि मां नित्यं भावयन्ती दिवानिशम् ॥ ६४ ॥

सर्वत्र विगतस्नेहा मद्भक्त्या मोक्ष्यसेऽचिरात् ।
अहं सर्वत्र समदृग् द्वेष्यो वा प्रिय एव वा ॥ ६५ ॥

नास्ति मे कल्पकस्येव भजतोऽनुभजाम्यहम् ।
मन्मायामोहितधियो मामम्ब मनुजाकृतिम् ॥ ६६ ॥

सुखदुःखाद्यनुगतं जानन्ति न तु तत्त्वतः ।
दिष्ट्या मद्गोचरं ज्ञानमुत्पन्नं ते भवापहम् ॥ ६७ ॥

स्मरन्ती तिष्ठ भवने लिप्यसे न च कर्मभिः ।
इत्युक्त्वा सा परिक्रम्य रामं सानन्दविस्मया ॥ ६८ ॥

प्रणम्य शतशो भूमौ ययौ गेहं मुदान्विता ।
भरतस्तु सहामात्यैर्मातृभिर्गुरुणा सह ॥ ६९ ॥

अयोध्यामगमच्छीघ्रं राममेवानुचिन्तयन् ।
पौरजानपदान् सर्वानयोध्यायामुदारधीः ॥ ७० ॥

स्थापयित्वा यथान्यायं नन्दिग्रामं ययौ स्वयम् ।
तत्र सिंहासने नित्यं पादुके स्थाप्य भक्तितः ॥ ७१ ॥

पूजयित्वा यथा रामं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ।
राजोपचारैरखिलैः प्रत्यहं नियतव्रतः ॥ ७२ ॥

फलमूलाशनो दान्तो जटावल्कलधारकः ।
अधःशायी ब्रह्मचारी शत्रुघ्नसहितस्तदा ॥ ७३ ॥

वाणी आदिसे परे हैं ॥ ५९-६० ॥ हे विश्वेश्वर ! हे अनन्त ! आप मेरी रक्षा कीजिये । हे जगन्नाथ ! आपको नमस्कार है । हे प्रभो ! मैं आपकी शरण हूँ । आप अपने ज्ञानाग्निरूप खड्गसे मेरे पुत्र और धन आदिके स्नेह-बन्धनको काट डालिये" !

कैकेयीके ये वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने मुसकराकर कहा— ॥ ६१-६२ ॥ "हे महाभागे ! तुमने जो कुछ कहा है वह ठीक ही है, मिथ्या नहीं । मेरी प्रेरणासे ही देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये तुम्हारे मुखसे वे शब्द निकले थे । इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है । अब तुम जाओ; अहर्निश निरन्तर हृदयमें मेरी ही भावना करनेसे तुम सर्वत्र स्नेहरहित होकर मेरी भक्तिद्वारा शीघ्र ही मुक्त हो जाओगी । मैं सर्वत्र समदर्शी हूँ, मेरा कोई भी प्रिय या अप्रिय नहीं है ॥ ६३—६५ ॥ मायावी पुरुष जिस प्रकार अपनी ही मायासे रचे पदार्थोंमें राग-द्वेष नहीं करता उसी प्रकार मेरा भी किसीमें राग-द्वेष नहीं है । जो पुरुष जिस प्रकार मेरा भजन करता है मैं भी वैसे ही उसका ध्यान रखता हूँ । हे मातः ! मेरी मायासे मोहित होकर लोग मुझे सुख-दुःखके वशीभूत साधारण मनुष्य जानते हैं । वे मेरे वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते । तुम्हारा बड़ा भाग्य है जो तुम्हें संसार-भयको दूर करनेवाला मेरा तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ है ॥ ६६-६७ ॥ तुम मेरा स्मरण करती हुई घरहीमें रहो, इससे तुम कर्म-बन्धनमें नहीं बँधोगी ।"

रामचन्द्रजीके इस प्रकार कहनेपर कैकेयीने आनन्द और विस्मयपूर्वक रामकी परिक्रमा की और पृथ्वीपर सिर रखकर उन्हें सैकड़ों बार प्रणामकर प्रसन्नतापूर्वक अपने घरको चली तथा भरतजी मन्त्रिगण, माताओं और वसिष्ठजीके साथ श्रीरामचन्द्रजीका ही स्मरण करते हुए शीघ्रतासे अयोध्याको चले ।

उदार-बुद्धि भरतजी समस्त पुरवासी और देशवासियोंको यथायोग्य अयोध्यापुरीमें बसाकर स्वयं नन्दिग्रामको चले गये । वहाँ एक सिंहासनपर उन दोनों पादुकाओंको रखकर वे श्रीरामचन्द्रजीके समान ही उनकी नित्यप्रति भक्तिपूर्वक गन्ध, पुष्प और अक्षतादि सम्पूर्ण राजोचित सामग्रीसे पूजा करने लगे । इस प्रकार भरतजी फल-मूल खाते, इन्द्रिय-दमन करते, जटा और वल्कल धारण किये, पृथिवीपर शयन करते और ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए शत्रुघ्नके साथ रहने लगे ॥ ६८—७३ ॥

राजकार्याणि सर्वाणि यावन्ति पृथिवीतले ।
तानि पादुकयोः सम्यङ्निवेदयति राघवः ॥ ७४ ॥

गणयन् दिवसानेव रामागमनकाङ्क्षया ।
स्थितो रामार्पितमनाः साक्षाद्ब्रह्ममुनिर्यथा ॥ ७५ ॥

रामस्तु चित्रकूटाद्रौ वसन्मुनिभिरावृतः ।
सीतया लक्ष्मणेनापि किञ्चित्कालमुपावसत् ॥ ७६ ॥

नागराश्च सदा यान्ति रामदर्शनलालसाः ।
चित्रकूटस्थितं ज्ञात्वा सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ७७ ॥

दृष्ट्वा तज्जनसम्बाधं रामस्तत्याज तं गिरिम् ।
दण्डकारण्यगमने कार्यमप्यनुचिन्तयन् ॥ ७८ ॥

अन्वगात्सीतया भ्रात्रा ह्यत्रेराश्रममुत्तमम् ।
सर्वत्र सुखसंवासं जनसम्बाधवर्जितम् ॥ ७९ ॥

गत्वा मुनिमुपासीनं भासयन्तं तपोवनम् ।
दण्डवत्प्रणिपत्याह रामोऽहमभिवादये ॥ ८० ॥

पितुराज्ञां पुरस्कृत्य दण्डकाननमागतः ।
वनवासमिषेणापि धन्योऽहं दर्शनात्तव ॥ ८१ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं रामं ज्ञात्वा हरिं परम् ।
पूजयामास विधिवद्भक्त्या परमया मुनिः ॥ ८२ ॥

वन्यैः फलैः कृतातिथ्यमुपविष्टं रघूत्तमम् ।
सीतां च लक्ष्मणं चैव संतुष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥ ८३ ॥

भार्या मेऽतीव संवृद्धा ह्यनसूयेति विश्रुता ।
तपश्चरन्ती सुचिरं धर्मज्ञा धर्मवत्सला ॥ ८४ ॥

अन्तस्तिष्ठति तां सीता पश्यत्वरिनिषूदन ।
तथेति जानकीं प्राह रामो राजीवलोचनः ॥ ८५ ॥

गच्छ देवीं नमस्कृत्य शीघ्रमेहि पुनः शुभे ।
तथेति रामवचनं सीता चापि तथाकरोत् ॥ ८६ ॥

पृथिवीके जितने राजकार्य होते उन सबको वे रघुश्रेष्ठ (भरतजी) पादुकाओंके सामने निवेदन कर दिया करते थे ॥ ७४ ॥ इस प्रकार रामचन्द्रजीके आगमनकी प्रतीक्षासे अवधिके दिन गिनते हुए वे राममें ही मन लगाकर साक्षात् ब्रह्मर्षिके समान रहने लगे ॥ ७५ ॥

इधर रामचन्द्रजीने भी मुनियोंसे घिरे रहकर सीता और लक्ष्मणके साथ चित्रकूट-पर्वतपर कुछ दिन बिताये ॥ ७६ ॥ रामचन्द्रजीको सीता और लक्ष्मणके साथ चित्रकूटपर विराजमान सुनकर आसपासके नगरनिवासी उनके दर्शनोंकी इच्छासे सदैव आया करते थे ॥ ७७ ॥ रामचन्द्रजीने उस भीड़-भाड़को देखकर और अपने दण्डकारण्यमें जानेके कार्यको भी विचारकर उस पर्वतको छोड़ दिया ॥ ७८ ॥ वहाँसे चलकर वे सीता तथा लक्ष्मणके सहित अत्रि मुनिके अति उत्तम और जन-समूह-शून्य आश्रममें आये जो सब प्रकार सुखपूर्वक रहनेयोग्य था ॥ ७९ ॥

वहाँ पहुँचनेपर उन्होंने अपने आश्रममें विराजमान और सम्पूर्ण तपोवनको प्रकाशित करते हुए मुनीश्वरके पास जा उन्हें दण्डवत्-प्रणाम करके कहा—"मैं राम आपका अभिवादन करता हूँ ॥ ८० ॥ मैं पिताकी आज्ञासे दण्डकारण्यमें आया हूँ। इस समय वनवासके मिषसे भी आपका दर्शन कर मैं कृतार्थ हो गया" ॥ ८१ ॥

रामचन्द्रजीके ये वचन सुन मुनीश्वरने उन्हें साक्षात् परब्रह्म जान उनकी अत्यन्त भक्तिपूर्वक विधिवत् पूजा की ॥ ८२ ॥ फिर वन्य फलोंसे उनका आतिथ्य-सत्कार कर उन्होंने आसनपर विराजमान रघुनाथजी, महारानी सीता और लक्ष्मणजीसे प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार कहा— ॥ ८३ ॥ "मेरी भार्या 'अनसूया' नामसे विख्यात है, वह अति वृद्धा है, बहुत दिनोंसे तपस्या करती है, धर्मको जाननेवाली है और धर्ममें प्रेम रखनेवाली है ॥ ८४ ॥ इस समय वह कुटीके भीतर है। हे शत्रुदमन राम ! सीता उससे मिल लें।" तब कमललोचन रामचन्द्रजीने 'बहुत अच्छा' कह जानकीजीसे कहा— ॥ ८५ ॥ 'हे शुभे ! जाओ, तुम शीघ्र ही देवी अनसूयाजीको प्रणाम कर आओ।" सीताजीने 'बहुत अच्छा' कह रामचन्द्रजीकी आज्ञाका पालन किया ॥ ८६ ॥

दण्डवत्पतितामग्रे सीतां दृष्ट्वातिहृष्टधीः ।
अनसूया समालिङ्ग्य वत्से सीतेति सादरम् ॥ ८७ ॥

दिव्ये ददौ कुण्डले द्वे निर्मिते विश्वकर्मणा ।
दुकूले द्वे ददौ तस्यै निर्मले भक्तिसंयुता ॥ ८८ ॥

अङ्गरागं च सीतायै ददौ दिव्यं शुभानना ।
न त्यक्ष्यतेऽङ्गरागेण शोभा त्वां कमलानने ॥ ८९ ॥

पातिव्रत्यं पुरस्कृत्य राममन्वेहि जानकि ।
कुशली राघवो यातु त्वया सह पुनर्गृहम् ॥ ९० ॥

भोजयित्वा यथान्यायं रामं सीतासमन्वितम् ।
लक्ष्मणं च तदा रामं पुनः प्राह कृताञ्जलिः ॥ ९१ ॥

राम त्वमेव भुवनानि विधाय तेषां
संरक्षणाय सुरमानुषतिर्यगादीन् ।
देहान्बिभर्षि न च देहगुणैर्विलिप्त-
स्त्वत्तो बिभेत्यखिलमोहकरी च माया ॥ ९२ ॥

अनसूयाजीने अपने सम्मुख सीताजीको दण्डके समान पड़ी देख अति हर्षित हो 'बेटी सीता !' ऐसा कहकर आदरपूर्वक आलिङ्गन किया और भक्तिसहित उन्हें विश्वकर्माके बनाये हुए दो दिव्य कुण्डल और दो स्वच्छ रेशमी साड़ियाँ दीं ॥ ८७-८८ ॥ सुन्दर मुखवाली अनसूयाजीने उन्हें दिव्य अङ्गराग भी दिया और कहा— "हे कमलमुखि ! इस अङ्गरागके लगानेसे तेरे शरीरकी शोभा कभी कम न होगी ॥ ८९ ॥ हे जानकि ! तुम पातिव्रत्यका पालन करती हुई सदा रामकी ही अनुगामिनी रहना। रघुनाथजी तुम्हारे साथ कुशलपूर्वक घर लौटें" ॥ ९० ॥ फिर उन्होंने विधिपूर्वक लक्ष्मण और सीताजीके सहित श्रीरामचन्द्रजीको भोजन कराया। तत्पश्चात् उन्होंने फिर श्रीरामजीसे हाथ जोड़कर कहा— ॥ ९१ ॥ "हे राम ! इन सम्पूर्ण भुवनोंकी रचना करके आप ही इनकी रक्षाके लिये देवता, मनुष्य और तिर्यगादि योनियोंमें शरीर धारण करते हैं, तथापि देहके गुणोंसे आप लिप्त नहीं होते। सम्पूर्ण संसारको मोहित करनेवाली माया भी आपसे सदा डरती रहती है" ॥ ९२ ॥

★

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अयोध्याकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

★

समाप्तमिदमयोध्याकाण्डम् ।

★

ॐ

अध्यात्मरामायण

अरण्यकाण्ड

प्रथम सर्ग

विराध-वध

श्रीमहादेव उवाच

अथ तत्र दिनं स्थित्वा प्रभाते रघुनन्दनः ।
स्नात्वा मुनिं समामन्त्र्य प्रयाणायोपचक्रमे ॥ १ ॥

मुने गच्छामहे सर्वे मुनिमण्डलमण्डितम् ।
विपिनं दण्डकं यत्र त्वमाज्ञातुमिहार्हसि ॥ २ ॥

मार्गप्रदर्शनार्थाय शिष्यानाज्ञप्तुमर्हसि ।
श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रहस्यात्रिर्महायशाः ।
प्राह तत्र रघुश्रेष्ठं राम राम सुराश्रय ॥ ३ ॥

सर्वस्य मार्गद्रष्टा त्वं तव को मार्गदर्शकः ।
तथापि दर्शयिष्यन्ति तव लोकानुसारिणः ॥ ४ ॥

इति शिष्यान्समादिश्य स्वयं किञ्चित्तमन्वगात् ।
रामेण वारितः प्रीत्या अत्रिः स्वभवनं ययौ ॥ ५ ॥

क्रोशमात्रं ततो गत्वा ददर्श महतीं नदीम् ।
अत्रेः शिष्यानुवाचेदं रामो राजीवलोचनः ॥ ६ ॥

नद्याः सन्तरणे कश्चिदुपायो विद्यते न वा ।
ऊचुस्ते विद्यते नौका सुदृढा रघुनन्दन ॥ ७ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! उस दिन अत्रि मुनिके आश्रममें ही रहकर दूसरे दिन प्रातःकाल स्नान करनेके अनन्तर श्रीरघुनाथजीने मुनिवरकी सम्मतिसे चलनेकी तैयारी की ॥ १ ॥ वे बोले—"हे मुने ! हम सब मुनिमण्डलीसे सुशोभित दण्डकारण्यको जाना चाहते हैं, अतः आप हमें आज्ञा प्रदान कीजिये ॥ २ ॥ और हमें मार्ग दिखानेके लिये कुछ शिष्योंको आज्ञा दीजिये ।" रामजीका यह कथन सुनकर महायशस्वी अत्रि मुनि श्रीरघुनाथजीसे हँसकर बोले—"हे राम ! हे देवताओंके आश्रयस्वरूप ! सबके मार्गदर्शक तो आप हैं, फिर आपका मार्गदर्शक कौन बनेगा ? तथापि इस समय आप लोक-व्यवहारका अनुसरण कर रहे हैं। अतः मेरे शिष्यगण आपको मार्ग दिखानेके लिये जायँगे" ॥ ३-४ ॥ तदनन्तर शिष्योंको आज्ञा दे मुनिवर अत्रि स्वयं भी कुछ दूर रामचन्द्रजीके साथ गये और फिर उनके प्रीतिपूर्वक मना करनेपर अपने आश्रमको लौट आये ॥ ५ ॥

एक कोश जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने एक बहुत बड़ी नदी देखी। तब कमलनयन रघुनाथजीने अत्रिके शिष्योंसे इस प्रकार पूछा— ॥ ६ ॥ "हे ब्रह्मचारियो ! नदीको पार करनेका कोई उपाय है या नहीं ?" तब शिष्योंने कहा—"हे रघुनन्दन ! यहाँ एक सुदृढ़ नौका है"॥ ७ ॥

तारयिष्यामहे युष्मान्वयमेव क्षणादिह।
ततो नावि समारोप्य सीतां राघवलक्ष्मणौ॥ ८॥

क्षणात्सन्तारयामासुर्नदीं मुनिकुमारकाः।
रामाभिनन्दिताः सर्वे जग्मुरत्रेरथाश्रमम्॥ ९॥

तावेत्य विपिनं घोरं झिल्लीझङ्कारनादितम्।
नानामृगगणाकीर्णं सिंहव्याघ्रादिभीषणम्॥ १०॥

राक्षसैर्घोररूपैश्च सेवितं रोमहर्षणम्।
प्रविश्य विपिनं घोरं रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ ११॥

इतः परं प्रयत्नेन गन्तव्यं सहितेन मे।
धनुर्गुणेन संयोज्य शरानपि करे दधत्॥ १२॥

अग्रे यास्याम्यहं पश्चात्त्वमन्वेहि धनुर्धरः।
आवयोर्मध्यगा सीता मायेवात्मपरात्मनोः॥ १३॥

चक्षुश्चारय सर्वत्र दृष्टं रक्षोभयं महत्।
विद्यते दण्डकारण्ये श्रुतपूर्वमरिन्दम॥ १४॥

इत्येवं भाषमाणौ तौ जग्मतुः सार्धयोजनम्।
तत्रैका पुष्करिण्यास्ते कह्लारकुमुदोत्पलैः॥ १५॥

अम्बुजैः शीतलोदेन शोभमाना व्यदृश्यत।
तत्समीपमथो गत्वा पीत्वा तत्सलिलं शुभम्॥ १६॥

ऊषुस्ते सलिलाभ्याशे क्षणं छायामुपाश्रिताः।
ततो ददृशुरायान्तं महासत्त्वं भयानकम्॥ १७॥

करालदंष्ट्रवदनं भीषयन्तं स्वगर्जितैः।
वामांसे न्यस्तशूलाग्रग्रथितानेकमानुषम्॥ १८॥

भक्षयन्तं गजव्याघ्रमहिषं वनगोचरम्।
ज्यारोपितं धनुर्धृत्वा रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ १९॥

पश्य भ्रातर्महाकायो राक्षसोऽयमुपागतः।
आयात्यभिमुखं नोऽग्रे भीरूणां भयमावहन्॥ २०॥

हम उसमें चढ़ाकर आपको एक क्षणमें ही नदीके उस पार पहुँचा देंगे।" तब मुनिकुमारोंने सीताके सहित राम और लक्ष्मणको नौकामें चढ़ाकर एक क्षणमात्रमें नदीके उस पार पहुँचा दिया। और फिर रामचन्द्रजीद्वारा प्रशंसित हो अत्रि मुनिके आश्रमको लौट आये॥ ८-९॥

तब वे झिल्लियोंकी झनकारसे गुञ्जायमान, विविध वन्य पशुओंसे पूर्ण और सिंह-व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओंसे भयानक एक घोर वनमें पहुँचे॥ १०॥ भयंकर रूपधारी राक्षसोंसे सेवित उस रोमाञ्चकारी घोर वनमें घुसकर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे कहा—॥ ११॥ "यहाँसे हम दोनोंको बहुत सावधान होकर चलना चाहिये। मैं धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर और हाथमें बाण लेकर आगे-आगे चलता हूँ और तुम धनुष धारणकर पीछे चलो; तथा जीव और परमात्माके बीचमें रहनेवाली मायाके समान सीता हमारे बीचमें चलें॥ १२-१३॥ हे अरिन्दम! सब ओर सावधानीसे निगाह रखो। हमने पहले जैसा सुना था उसीके अनुसार इस दण्डकारण्यमें राक्षसोंका अत्यन्त भय दिखायी देता है"॥ १४॥

इस प्रकार आपसमें बातचीत करते वे डेढ़ योजन (छः कोश) निकल गये। वहाँ कुमुद, कह्लार और कमलादिसे सुशोभित एक पुष्करिणी (तलाई) थी॥ १५॥ वह कमलवन और शीतल जलसे अति सुन्दर दीख पड़ती थी। उन्होंने उसके निकट जाकर उसका शीतल जल पान किया॥ १६॥ और कुछ देरके लिये जलके किनारे वृक्षकी छायामें बैठ गये। उसी समय उन्होंने एक महाबलवान् और भयानक राक्षस आता देखा॥ १७॥ उसका मुख तीक्ष्ण दाढ़ोंसे पूर्ण था, वह अपनी गर्जनासे अत्यन्त भय उत्पन्न करता था और उसके बायें कंधेपर एक त्रिशूल रखा था जिसमें बहुत-से मनुष्य बिंधे हुए थे॥ १८॥ वह बहुत-से जंगली हाथी, सिंह और भैंसोंको खाता हुआ आ रहा था। उसे देखकर श्रीरामचन्द्रजीने प्रत्यञ्चा चढ़ाये हुए अपने धनुषको उठाकर लक्ष्मणजीसे कहा—॥ १९॥ "भाई! देखो, हमारे सामने यह भीरु पुरुषोंको डरानेवाला उग्ररूप महाकाय राक्षस आ रहा है॥ २०॥

सज्जीकृतधनुस्तिष्ठ मा भैर्जनकनन्दिनि ।
इत्युक्त्वा बाणमादाय स्थितो राम इवाचलः ॥ २१ ॥

स तु दृष्ट्वा रमानाथं लक्ष्मणं जानकीं तदा ।
अट्टहासं ततः कृत्वा भीषयन्निदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

कौ युवां बाणतूणीरजटावल्कलधारिणौ ।
मुनिवेषधरौ बालौ स्त्रीसहायौ सुदुर्मदौ ॥ २३ ॥

सुन्दरौ बत मे वक्त्रप्रविष्टकवलोपमौ ।
किमर्थमागतौ घोरं वनं व्यालनिषेवितम् ॥ २४ ॥

श्रुत्वा रक्षोवचो रामः स्मयमान उवाच तम् ।
अहं रामस्त्वयं भ्राता लक्ष्मणो मम सम्मतः ॥ २५ ॥

एषा सीता मम प्राणवल्लभा वयमागताः ।
पितृवाक्यं पुरस्कृत्य शिक्षणार्थं भवादृशाम् ॥ २६ ॥

श्रुत्वा तद्रामवचनमट्टहासमथाकरोत् ।
व्यादाय वक्त्रं बाहुभ्यां शूलमादाय सत्वरः ॥ २७ ॥

मां न जानासि राम त्वं विराधं लोकविश्रुतम् ।
मद्भयान्मुनयः सर्वे त्यक्त्वा वनमितो गताः ॥ २८ ॥

यदि जीवितुमिच्छास्ति त्यक्त्वा सीतां निरायुधौ ।
पलायतं न चेच्छीघ्रं भक्षयामि युवामहम् ॥ २९ ॥

इत्युक्त्वा राक्षसः सीतामादातुमभिदुद्रुवे ।
रामश्चिच्छेद तद्बाहू शरेण प्रहसन्निव ॥ ३० ॥

ततः क्रोधपरीतात्मा व्यादाय विकटं मुखम् ।
राममभ्यद्रवद्रामश्चिच्छेद परिधावतः ॥ ३१ ॥

पदद्वयं विराधस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३२ ॥

ततः सर्प इवास्येन ग्रसितुं राममापतत् ।
ततोऽर्धचन्द्राकारेण बाणेनास्य महच्छिरः ॥ ३३ ॥

चिच्छेद रुधिरौघेण पपात धरणीतले ।
ततः सीता समालिङ्ग्य प्रशशंस रघूत्तमम् ॥ ३४ ॥

तुम धनुषपर बाण चढ़ाकर सावधान हो जाओ; जानकि ! तुम डरना मत।" ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी धनुषपर बाण चढ़ा पर्वतके समान निश्चल होकर खड़े हो गये ॥ २१ ॥

तदनन्तर उस राक्षसने राम, लक्ष्मण और जानकीजी-को देखकर (बड़ा) अट्टहास किया और सबको भयभीत करते हुए इस प्रकार कहा— ॥ २२ ॥ "अरे बालको ! बाण, तूणीर और जटा-वल्कल आदि मुनिवेष धारण किये तुम कौन हो ? तुम्हारे साथमें एक स्त्री है और तुम बड़े मदोन्मत्त दिखायी देते हो ॥ २३ ॥ तुम बड़े सुन्दर हो और मेरे मुखमें जानेवाले ग्रासके समान हो। हाय ! हिंस्र जीवोंसे पूर्ण इस घोर वनमें तुम किसलिये आये हो ?" ॥ २४ ॥

राक्षसके ये वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने उससे मुसकराकर कहा—"मेरा नाम राम है और यह मेरा प्यारा छोटा भाई लक्ष्मण है ॥ २५ ॥ तथा यह रमणी मेरी प्राणप्रिया सीता है। हम पिताकी आज्ञासे तुम-जैसोंको शिक्षा देनेके लिये इस वनमें आये हैं" ॥ २६ ॥

रामचन्द्रजीके ये वचन सुनकर वह ठट्ठा मारकर हँसने लगा और उसने मुँह फैलाकर तुरंत ही अपने हाथोंमें शूल उठा लिया ॥ २७ ॥ और बोला—"राम ! क्या तुम मुझे नहीं जानते ? मैं जगत्प्रसिद्ध विराध नामक (राक्षस) हूँ। मेरे ही भयसे समस्त मुनिजन इस वनको छोड़कर चले गये हैं ॥ २८ ॥ यदि तुम्हें जीनेकी इच्छा है तो सीताको छोड़कर बिना अस्त्र-शस्त्रोंके भाग जाओ, नहीं तो मैं अभी तुम दोनोंको खा जाऊँगा" ॥ २९ ॥

ऐसा कह वह राक्षस सीताजीको पकड़नेके लिये उनकी ओर दौड़ा। तब रामचन्द्रजीने हँसते हुए अपने बाणसे उसकी भुजाएँ काट डालीं ॥ ३० ॥ इसपर वह अत्यन्त क्रोधसे सन्तप्त हो अपना विकराल मुख फाड़कर रामचन्द्रजीकी ओर दौड़ा। तब श्रीरघुनाथजीने अपनी ओर आते हुए विराधके दोनों पैर काट डाले। यह बड़ा ही आश्चर्य-सा हो गया ॥ ३१-३२ ॥ तदनन्तर सर्पके समान अपने मुखसे ही रामजीको निगल जानेके लिये वह उनकी ओर बढ़ा। तब भगवान् रामने एक अर्द्धचन्द्राकार बाणसे उसका महान् सिर काट डाला। तब वह रुधिरसे लथपथ होकर तत्काल पृथिवीपर गिर पड़ा। इस प्रकार उसे मरा देख श्रीसीताजीने रघुश्रेष्ठ भगवान् रामका आलिङ्गन कर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ३३-३४ ॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवगणेरिताः ।
ननृतुश्चाप्सरा हृष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नराः ॥ ३५ ॥

विराधकायादतिसुन्दराकृति-
विंभ्राजमानो विमलाम्बरावृतः ।
प्रतप्तचामीकरचारुभूषणो
व्यदृश्यताग्रे गगने रविर्यथा ॥ ३६ ॥

प्रणम्य रामं प्रणतार्तिहारिणं
भवप्रवाहोपरमं घृणाकरम् ।
प्रणम्य भूयः प्रणनाम दण्डवत्
प्रपन्नसर्वार्तिहरं प्रसन्नधीः ॥ ३७ ॥

विराध उवाच

श्रीराम राजीवदलायताक्ष
विद्याधरोऽहं विमलप्रकाशः ।
दुर्वाससाकारणकोपमूर्तिना
शप्तः पुरा सोऽद्य विमोचितस्त्वया ॥ ३८ ॥

इतः परं त्वच्चरणारविन्दयोः
स्मृतिः सदा मेऽस्तु भवोपशान्तये ।
त्वन्नामसङ्कीर्तनमेव वाणी
करोतु मे कर्णपुटं त्वदीयम् ॥ ३९ ॥

कथामृतं पातु करद्वयं ते
पादारविन्दार्चनमेव कुर्यात् ।
शिरश्च ते पादयुगप्रणामं
करोतु नित्यं भवदीयमेवम् ॥ ४० ॥

नमस्तुभ्यं भगवते विशुद्धज्ञानमूर्तये ।
आत्मारामाय रामाय सीतारामाय वेधसे ॥ ४१ ॥

प्रपन्नं पाहि मां राम यास्यामि त्वदनुज्ञया ।
देवलोकं रघुश्रेष्ठ माया मां मावृणोतु ते ॥ ४२ ॥

इति विज्ञापितस्तेन प्रसन्नो रघुनन्दनः ।
ददौ वरं तदा प्रीतो विराधाय महामतिः ॥ ४३ ॥

गच्छ विद्याधराशेषमायादोषगुणा जिताः ।
त्वया मद्दर्शनात्सद्यो मुक्तो ज्ञानवतां वरः ॥ ४४ ॥

उस समय आकाशमें देवगण दुन्दुभी बजाने लगे, अप्सराएँ प्रसन्नतापूर्वक नाचने लगीं और गन्धर्व तथा किन्नरगण गाने लगे ॥ ३५ ॥

इसी समय विराधके मृत शरीरसे आकाशस्थित सूर्यदेवके समान, सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित और तपाये हुए सुवर्णालङ्कारोंसे सुसज्जित अति सुन्दर एक पुरुष प्रकट हुआ ॥ ३६ ॥ उस समय पुरुषने शरणागत जनोंका दुःख दूर करनेवाले, संसार-सागरसे पार करनेवाले, दयामय श्रीरामचन्द्रजीको प्रसन्नचित्तसे प्रणाम कर उन प्रसन्नचित्त और शरणागतोंके सकल दुःख दूर करनेवाले प्रभुको फिर भी दण्डके समान पृथिवीपर लोटकर बारम्बार प्रणाम किया ॥ ३७ ॥

विराध बोला—हे कमलदललोचन श्रीराम ! मैं विमलतेजोमय विद्याधर हूँ। मुझे पूर्वकालमें बिना कारण ही क्रोध करनेवाले श्रीदुर्वासाजीने शाप दिया था सो आज आपने मुझे शापमुक्त कर दिया ॥ ३८ ॥ अब आप ऐसी कृपा करें जिससे भविष्यमें मुझे संसार-बन्धनको दूर करनेवाली आपके चरणारविन्दोंकी स्मृति सर्वदा बनी रहे, मेरी वाणी सर्वदा आपका नामसङ्कीर्तन करती रहे, कान आपका कथामृत पान करते रहें, हाथ आपके चरण-कमलोंका पूजन करते रहें और इसी प्रकार सिर आपके चरणयुगलोंमें प्रणाम करता रहे ॥ ३९-४० ॥ हे विशुद्ध-ज्ञानस्वरूप भगवन् ! आपको नमस्कार है। आप अपने स्वरूपमें रमण करनेवाले होनेसे राम हैं, (अपनी मायाके सहित विराजमान होनेसे युगलमूर्ति) श्रीसीता-राम हैं और संसारके रचनेवाले हैं, आपको नमस्कार है ॥ ४१ ॥ हे राम ! मैं आपकी शरण हूँ, आप मेरी रक्षा कीजिये। हे रघुश्रेष्ठ ! आपकी आज्ञासे मैं देवलोकको जा रहा हूँ; आप ऐसी कृपा कीजिये जिससे आपकी माया मुझे आच्छादित न करे ॥ ४२ ॥

विराधके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर महामति श्रीरघुनाथजीने उसे प्रसन्न होकर यह वर दिया— ॥ ४३ ॥ "हे विद्याधर ! अब तू जा। तूने मायाके सम्पूर्ण गुण-दोषोंको जीत लिया है। तू ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है और मेरे दर्शनके प्रभावसे तुरंत मुक्त हो गया है ॥ ४४ ॥

मद्भक्तिर्दुर्लभा लोके जाता चेन्मुक्तिदा यतः।
अतस्त्वं भक्तिसम्पन्नः परं याहि ममाज्ञया॥ ४५॥

संसारमें मेरी भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि वह उत्पन्न होती है तो अवश्य मुक्ति देनेवाली होती है। तू मेरी भक्तिसे सम्पन्न है, इसलिये मेरी आज्ञासे तू परमधामको जा''॥ ४५॥

रामेण रक्षोनिधनं सुघोरं
शापाद्विमुक्तिर्वरदानमेवम्।
विद्याधरत्वं पुनरेव लब्धं
रामं गृणन्तेति नरोऽखिलार्थान्॥ ४६॥

(इस प्रकार) श्रीरामचन्द्रजीने भयंकर राक्षसका वध किया, उसको शापसे मुक्त किया, उसको वरदान दिया और पुनः विद्याधरत्व प्राप्त कराया। जो पुरुष इन लीलाओंके कीर्तनद्वारा श्रीरामचन्द्रजीकी स्तुति करता है वह अवश्य सम्पूर्ण अभिलषित पदार्थोंको पाता है॥ ४६॥

★

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अरण्यकाण्डे प्रथमः सर्गः॥ १॥

★

द्वितीय सर्ग

शरभङ्ग तथा सुतीक्ष्ण आदि मुनीश्वरोंसे भेंट

श्रीमहादेव उवाच

विराधे स्वर्गते रामो लक्ष्मणेन च सीतया।
जगाम शरभङ्गस्य वनं सर्वसुखावहम्॥ १॥

शरभङ्गस्ततो दृष्ट्वा रामं सौमित्रिणा सह।
आयान्तं सीतया सार्धं सम्भ्रमादुत्थितः सुधीः॥ २॥

अभिगम्य सुसम्पूज्य विष्टरेषूपवेशयत्।
आतिथ्यमकरोत्तेषां कन्दमूलफलादिभिः॥ ३॥

प्रीत्याह शरभङ्गोऽपि रामं भक्तपरायणम्।
बहुकालमिहैवासं तपसे कृतनिश्चयः॥ ४॥

तव सन्दर्शनाकाङ्क्षी राम त्वं परमेश्वरः।
अद्य मत्तपसा सिद्धं यत्पुण्यं बहु विद्यते।
तत्सर्वं तव दास्यामि ततो मुक्तिं व्रजाम्यहम्॥ ५॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! विराधके स्वर्ग सिधारनेपर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण और सीताजीके साथ शरभङ्ग मुनिके सर्वसुखदायक तपोवनको गये॥ १॥ मतिमान् शरभङ्ग श्रीरामचन्द्रजीको सीता और लक्ष्मणके सहित आते देख सहसा उठ खड़े हुए॥ २॥ और आगे बढ़कर उनकी भली प्रकार पूजा कर उनको आसनपर बैठाया तथा कन्द-मूल-फलादिसे उनका आतिथ्य-सत्कार किया॥ ३॥ तदनन्तर मुनिवर शरभङ्गने भक्तवत्सल भगवान् रामसे प्रीतिपूर्वक कहा—''मैं बहुत कालसे आपके दर्शनोंकी आकाङ्क्षासे तपस्याका निश्चय कर यहीं रहता हूँ। हे राम! आप साक्षात् परमेश्वर हैं। मुझे तपस्याके द्वारा जो बहुत-सा पुण्य प्राप्त हुआ है वह सब आज आपको समर्पितकर मैं मोक्षपद प्राप्त करूँगा''॥ ४-५॥

समर्प्य रामस्य महत्सुपुण्य-
फलं विरक्तः शरभङ्गयोगी।
चितिं समारोहयदप्रमेयं
रामं ससीतं सहसा प्रणम्य॥ ६॥

ऐसा कह महाविरक्त योगिवर शरभङ्ग अपना महान् पुण्य-फल श्रीरामचन्द्रजीको समर्पणकर सीताके सहित अप्रमेय (भगवान्) रामको प्रणामकर सहसा चितापर चढ़ गये॥ ६॥

ध्यायंश्चिरं राममशेषहृत्स्थं
दूर्वादलश्यामलमम्बुजाक्षम् ।
चीराम्बरं स्निग्धजटाकलापं
सीतासहायं सहलक्ष्मणं तम् ॥ ७ ॥

को वा दयालुः स्मृतकामधेनु-
रन्यो जगत्यां रघुनायकादहो ।
स्मृतो मया नित्यमनन्यभाजा
ज्ञात्वा स्मृतिं मे स्वयमेव यातः ॥ ८ ॥

पश्यत्विदानीं देवेशो रामो दाशरथिः प्रभुः ।
दग्ध्वा स्वदेहं गच्छामि ब्रह्मलोकमकल्मषः ॥ ९ ॥

अयोध्याधिपतिर्मेऽस्तु हृदये राघवः सदा ।
यद्वामाङ्के स्थिता सीता मेघस्येव तडिल्लता ॥ १० ॥

इति रामं चिरं ध्यात्वा दृष्ट्वा च पुरतः स्थितम् ।
प्रज्वाल्य सहसा वह्निं दग्ध्वा पञ्चात्मकं वपुः ॥ ११ ॥

दिव्यदेहधरः साक्षाद्ययौ लोकपतेः पदम् ।
ततो मुनिगणाः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः ।
आजग्मू राघवं द्रष्टुं शरभङ्गनिवेशनम् ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा मुनिसमूहं तं जानकीरामलक्ष्मणाः ।
प्रणेमुः सहसा भूमौ मायामानुषरूपिणः ॥ १३ ॥

आशीर्भिरभिनन्द्याथ रामं सर्वहृदि स्थितम् ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे धनुर्बाणधरं हरिम् ॥ १४ ॥

भूमेर्भारावताराय जातोऽसि ब्रह्मणार्थितः ।
जानीमस्त्वां हरिं लक्ष्मीं जानकीं लक्ष्मणं तथा ॥ १५ ॥

शेषांशं शङ्खचक्रे द्वे भरतं सानुजं तथा ।
अतश्चादौ ऋषीणां त्वं दुःखं मोक्तुमिहार्हसि ॥ १६ ॥

आगच्छ यामो मुनिसेवितानि
वनानि सर्वाणि रघूत्तम क्रमात् ।
द्रष्टुं सुमित्रासुतजानकीभ्यां
तदा दयाऽस्मासु दृढा भविष्यति ॥ १७ ॥

उस समय वे (मन-ही-मन) सर्वान्तर्यामी दूर्वादलके समान श्यामवर्ण, कमलनयन, चीराम्बरधारी, स्निग्धजटाजूटधारी श्रीरामचन्द्रजीका सीता और लक्ष्मणके सहित बहुत देरतक ध्यान करते रहे ॥ ७ ॥ (फिर मन-ही-मन कहने लगे—)"अहो! इस संसारमें श्रीरघुनाथजीको छोड़कर स्मरण करनेपर कामनाओंको पूर्ण करनेवाला और कौन दयालु है? मैं अनन्य भावसे उनका नित्य स्मरण करता था, अतः मेरे स्मरणको जानकर वे स्वयं ही चले आये ॥ ८ ॥ देवेश दशरथनन्दन भगवान् राम मेरी ओर देखते रहें, मैं अपना शरीर जलाकर अब निष्पाप होकर ब्रह्मलोकको जा रहा हूँ ॥ ९ ॥ मेरे हृदयमें सर्वदा अयोध्यापति श्रीरामचन्द्रजी विराजमान रहें, जिनके वामाङ्कमें मेघमें बिजलीके समान श्रीसीताजी विराजमान हैं" ॥ १० ॥

इस प्रकार रामचन्द्रजीका बहुत देरतक ध्यान करते हुए तथा अपने सम्मुख विराजमान उनके स्वरूपको देखते हुए मुनिवर शरभङ्गने अग्नि प्रज्वलितकर अपना पाञ्चभौतिक शरीर जला डाला ॥ ११ ॥ तथा दिव्य देह धारणकर साक्षात् ब्रह्मलोकको चले गये ।

तदनन्तर दण्डकारण्यवासी समस्त मुनिगण श्रीरघुनाथजीका दर्शन करनेके लिये शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर आये ॥ १२ ॥ उस मुनि-समाजको देखकर माया-मानव-रूप श्रीराम, सीता और लक्ष्मणने सहसा पृथिवीपर सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया ॥ १३ ॥ उन मुनीश्वरोंने सर्वान्तर्यामी भगवान् रामका आशीर्वादद्वारा अभिनन्दन किया और फिर वे धनुर्बाणधारी श्रीहरिसे हाथ जोड़कर बोले— ॥ १४ ॥ "आपने ब्रह्माकी प्रार्थनासे पृथिवीका भार उतारनेके लिये अवतार लिया है। हम यह जानते हैं कि आप साक्षात् श्रीहरि, जानकीजी लक्ष्मी, लक्ष्मणजी शेषजीका अंश और भरत-शत्रुघ्न भगवान्‌के शङ्ख और चक्र हैं। इसलिये आप यहाँ सबसे पहले ऋषियोंका दुःख दूर करें ॥ १५-१६ ॥ हे रघुश्रेष्ठ! आइये, सीता और लक्ष्मणसहित आप हमारे साथ क्रमशः मुनीश्वरोंके समस्त आश्रमोंको देखनेके लिये चलिये। ऐसा करनेसे आपको हमपर बड़ी दया आयेगी" ॥ १७ ॥

इति विज्ञापितो रामः कृताञ्जलिपुटैर्विभुः ।
जगाम मुनिभिः सार्धं द्रष्टुं मुनिवनानि सः ॥ १८ ॥

ददर्श तत्र पतितान्यनेकानि शिरांसि सः ।
अस्थिभूतानि सर्वत्र रामो वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

अस्थीनि केषामेतानि किमर्थं पतितानि वै ।
तमूचुर्मुनयो राम ऋषीणां मस्तकानि हि ॥ २० ॥

राक्षसैर्भक्षितानीश प्रमत्तानां समाधितः ।
अन्तरायं मुनीनां ते पश्यन्तोऽनुचरन्ति हि ॥ २१ ॥

श्रुत्वा वाक्यं मुनीनां स भयदैन्यसमन्वितम् ।
प्रतिज्ञामकरोद्रामो वधायाशेषरक्षसाम् ॥ २२ ॥

पूज्यमानः सदा तत्र मुनिभिर्वनवासिभिः ।
जानक्या सहितो रामो लक्ष्मणेन समन्वितः ॥ २३ ॥

उवास कतिचित्तत्र वर्षाणि रघुनन्दनः ।
एवं क्रमेण संपश्यन्नृषीणामाश्रमान्विभुः ॥ २४ ॥

सुतीक्ष्णस्याश्रमं प्रागात्प्रख्यातमृषिसङ्कुलम् ।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नं सर्वकालसुखावहम् ॥ २५ ॥

राममागतमाकर्ण्य सुतीक्ष्णः स्वयमागतः ।
अगस्त्यशिष्यो रामस्य मन्त्रोपासनतत्परः ।
विधिवत्पूजयामास भक्त्युत्कण्ठितलोचनः ॥ २६ ॥

सुतीक्ष्ण उवाच

त्वन्मन्त्रजाप्यहमनन्तगुणाप्रमेय
सीतापते शिवविरिञ्चिसमाश्रिताङ्घ्रे ।
संसारसिन्धुतरणामलपोतपाद
रामाभिराम सततं तव दासदासः ॥ २७ ॥

मामद्य सर्वजगतामविगोचरस्त्वं
त्वन्मायया सुतकलत्रगृहान्धकूपे ।
मग्नं निरीक्ष्य मलपुद्गलपिण्डमोह-
पाशानुबद्धहृदयं स्वयमागतोऽसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार हाथ जोड़कर निवेदन किये जानेपर भगवान् राम मुनियोंके साथ उनके तपोवनोंको देखनेके लिये चले ॥ १८ ॥ वहाँ उन्होंने सब ओर बहुत-सी खोपड़ियाँ पड़ी देखीं। उन्हें देखकर श्रीरामचन्द्रजीने मुनियोंसे पूछा— ॥ १९ ॥ "ये हड्डियाँ किनकी हैं और (इस तपोभूमिमें) कैसे पड़ी हैं?" तब मुनीश्वरोंने कहा—"हे राम! ये ऋषियोंके मस्तक हैं ॥ २० ॥ हे समर्थ! इन्हें राक्षसोंने खा लिया है, वे राक्षस समाधिमें मग्न रहनेके कारण भागनेमें असमर्थ मुनीश्वरोंको भक्षण करनेके लिये मौका देखते हुए जहाँ-तहाँ घूमते रहते हैं" ॥ २१ ॥ मुनियोंके ये भय और दीनतापूर्ण वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने समस्त राक्षसोंका वध करनेके लिये प्रतिज्ञा की ॥ २२ ॥ इस प्रकार क्रमशः मुनीश्वरोंके आश्रम देखते हुए प्रभु श्रीरघुनाथजी वनवासी मुनियोंद्वारा नित्य पूजित होते हुए सीता और लक्ष्मणके साथ वहाँ कुछ वर्ष रहे ॥ २३-२४ ॥

तदनन्तर वे सुविख्यात सुतीक्ष्ण मुनिके आश्रममें गये जो ऋषियोंसे भरा हुआ, समस्त ऋतुओंके गुणोंसे युक्त और सब समय सुखदायक था ॥ २५ ॥ रामका आगमन सुन राम-मन्त्रके उपासक और अगस्त्यके शिष्य सुतीक्ष्ण (उन्हें लेनेके लिये) स्वयं आगे आये और उनकी विधिवत् पूजा की। उस समय सुतीक्ष्णके नेत्र भक्तिवश भगवद्दर्शनके लिये अति उतावले हो रहे थे ॥ २६ ॥

सुतीक्ष्ण बोले—हे अनन्त-गुण अप्रमेय सीतापते! मैं आपका ही मन्त्र जपता हूँ। हे अभिराम राम! शिव और ब्रह्मा आपके चरणोंके आश्रित हैं, आपके चरण संसार-सागरसे पार करनेके लिये सुदृढ़ पोत (जहाज) हैं। हे नाथ! मैं सर्वदा आपके दासोंका दास हूँ ॥ २७ ॥ आप समस्त संसारकी इन्द्रियोंके अविषय हैं, तथापि इस मल-मूत्रके पुतले शरीरके मोहपाशमें जिनका हृदय बँधा हुआ है ऐसे मुझ दीनको अपनी ही मायासे मोहित होकर पुत्र-कलत्र और गृह आदिके अन्धकूपमें पड़ा देखकर आप स्वयं ही (मुझे अपना पुण्य-दर्शन देनेके लिये) पधारे हैं! ॥ २८ ॥

त्वं सर्वभूतहृदयेषु कृतालयोऽपि
त्वन्मन्त्रजाप्यविमुखेषु तनोषि मायाम्।
त्वन्मन्त्रसाधनपरेष्वपयाति माया
सेवानुरूपफलदोऽसि यथा महीपः ॥ २९ ॥

विश्वस्य सृष्टिलयसंस्थितिहेतुरेक-
स्त्वं मायया त्रिगुणया विधिरीशविष्णू।
भासीश मोहितधियां विविधाकृतिस्त्वं
यद्वद्रविः सलिलपात्रगतो ह्यनेकः ॥ ३० ॥

प्रत्यक्षतोऽद्य भवतश्चरणारविन्दं
पश्यामि राम तमसः परतः स्थितस्य।
दृग्रूपतस्त्वमसतामविगोचरोऽपि
त्वन्मन्त्रपूतहृदयेषु सदा प्रसन्नः ॥ ३१ ॥

पश्यामि राम तव रूपमरूपिणोऽपि
मायाविडम्बनकृतं सुमनुष्यवेषम्।
कन्दर्पकोटिसुभगं कमनीयचाप-
बाणं दयार्द्रहृदयं स्मितचारुवक्त्रम् ॥ ३२ ॥

सीतासमेतमजिनाम्बरमप्रधृष्यं
सौमित्रिणा नियतसेवितपादपद्मम्।
नीलोत्पलद्युतिमनन्तगुणं प्रशान्तं
मद्भागधेयमनिशं प्रणमामि रामम् ॥ ३३ ॥

जानन्तु राम तव रूपमशेषदेश-
कालाद्युपाधिरहितं घनचित्प्रकाशम्।
प्रत्यक्षतोऽद्य मम गोचरमेतदेव
रूपं विभातु हृदये न परं विकाङ्क्षे ॥ ३४ ॥

इत्येवं स्तुवतस्तस्य रामः सस्मितमब्रवीत्।
मुने जानामि ते चित्तं निर्मलं मदुपासनात् ॥ ३५ ॥

अतोऽहमागतो द्रष्टुं मदृते नान्यसाधनम्।
मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गताः ॥ ३६ ॥

आप समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं, तथापि जो लोग आपके मन्त्रजापसे विमुख हैं उन्हें आप अपनी मायासे मोहित करते हैं और जो उस मन्त्रके जापमें तत्पर हैं उनकी माया दूर हो जाती है। इस प्रकार राजाके समान आप सबको उनकी सेवाके अनुसार फल देनेवाले हैं ॥ २९ ॥ हे ईश! वास्तवमें एकमात्र आप ही इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण होते हुए त्रिगुणमयी मायाके कारण ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके रूपोंमें भासते हैं; आप ही मुग्धचित्त पुरुषोंकी (दृष्टिमें) (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) नाना प्रकारकी आकृतियोंसे प्रतीत हो रहे हैं, जिस प्रकार जलके पात्रोंमें प्रतिबिम्बित होनेसे सूर्य अनेक होकर भासता है ॥ ३० ॥ हे राम! आप अज्ञानसे सर्वथा परे हैं तथापि आपके चरण-कमलोंको आज मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। (इससे विदित होता है कि) सबके साक्षी होनेसे आप असत्पुरुषोंको अगोचर होकर भी जिनका चित्त आपके मन्त्रजापसे शुद्ध हो गया है उनपर सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ ३१ ॥ हे राम! आप रूपरहित हैं, तथापि अपने ही माया-विलाससे धारण किये आपके मनोहर मनुष्यवेषधारी स्वरूपको मैं देख रहा हूँ। आपका यह रूप करोड़ों कामदेवोंके समान कान्तिमान् है और कमनीय धनुर्बाण धारण किये हैं। आपका हृदय दयार्द्र तथा मुख मुसकानसे मनोहर है ॥ ३२ ॥ जो सीताजीसे युक्त हैं, मृगचर्म धारण किये हैं, सर्वथा अजेय हैं, जिनके चरणकमल नित्य श्रीसुमित्रा-नन्दनसे सेवित हैं और जिनकी नीलकमलके समान आभा है उन अनन्तगुणसम्पन्न अत्यन्त शान्त मेरा सौभाग्यस्वरूप श्रीराममूर्तिको मैं अहर्निश प्रणाम करता हूँ ॥ ३३ ॥ हे राम! जो लोग आपके स्वरूपको देश-काल आदि समस्त उपाधियोंसे रहित और चिद्घन प्रकाशस्वरूप जानते हैं, वे भले ही वैसा ही जानें; किन्तु मेरे हृदयमें तो, आज जो प्रत्यक्षरूपसे मुझे दिखायी दे रहा है, यही रूप भासमान होता रहे। इसके अतिरिक्त मुझे और किसी रूपकी इच्छा नहीं है ॥ ३४ ॥

सुतीक्ष्णके इस प्रकार स्तुति करनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उनसे मुसकराकर कहा—"हे मुने! मैं यह जानता हूँ कि तुम्हारा चित्त मेरी उपासनासे निर्मल हो गया है ॥ ३५ ॥ और तुम्हारा मेरे अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है, इसीलिये मैं तुम्हें देखनेके लिये आया हूँ। संसारमें जो

निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम्।
स्तोत्रमेतत्पठेद्यस्तु त्वत्कृतं मत्प्रियं सदा ॥ ३७ ॥

सद्भक्तिर्मे भवेत्तस्य ज्ञानं च विमलं भवेत्।
त्वं ममोपासनादेव विमुक्तोऽसीह सर्वतः ॥ ३८ ॥

देहान्ते मम सायुज्यं लप्स्यसे नात्र संशयः।
गुरुं ते द्रष्टुमिच्छामि ह्यगस्त्यं मुनिनायकम्।
किञ्चित्कालं तत्र वस्तुं मनो मे त्वरयत्यलम् ॥ ३९ ॥

सुतीक्ष्णोऽपि तथेत्याह श्वो गमिष्यसि राघव।
अहमप्यागमिष्यामि चिराद्दृष्टो महामुनिः ॥ ४० ॥

अथ प्रभाते मुनिना समेतो
रामः ससीतः सह लक्ष्मणेन।
अगस्त्यसम्भाषणलोलमानसः
शनैरगस्त्यानुजमन्दिरं ययौ ॥ ४१ ॥

लोग मेरे मन्त्रकी उपासना करते हैं और मेरी ही शरणमें रहते हैं ॥ ३६ ॥ तथा नित्य निरपेक्ष और अनन्यगति रहते हैं, उन्हें मैं नित्यप्रति दर्शन देता हूँ। जो व्यक्ति तुम्हारे किये हुए इस मेरे प्रिय स्तोत्रका पाठ करता है ॥ ३७ ॥ उसे मेरी शुद्ध भक्ति और निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है, तुम केवल मेरी उपासनासे इस जीवितावस्थामें ही सर्वथा मुक्त हो गये हो ॥ ३८ ॥ शरीर छूटनेपर तुम निस्सन्देह मेरा सायुज्यपद प्राप्त करोगे। अब मैं तुम्हारे गुरु मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजीसे मिलना चाहता हूँ; मेरा चित्त उनके पास कुछ दिन रहनेके लिये उतावला हो रहा है'' ॥ ३९ ॥

सुतीक्ष्णने कहा, ''हे राघव! बहुत अच्छा, वहाँ कल चलियेगा। मैंने भी मुनीश्वरको बहुत दिन हुए तब देखा था। अतः मैं भी आपके साथ ही वहाँ चलूँगा'' ॥ ४० ॥ प्रातःकाल होनेपर सीता और लक्ष्मणके सहित श्रीरामचन्द्रजी सुतीक्ष्ण मुनिको लेकर अगस्त्यजीसे वार्तालाप करनेके लिये उत्कण्ठित हो शनैः-शनैः उनके छोटे भाई (अग्निजिह्व मुनि) के आश्रमकी ओर चले ॥ ४१ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अरण्यकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीय सर्ग

मुनिवर अगस्त्यजीसे भेंट

श्रीमहादेव उवाच

अथ रामः सुतीक्ष्णेन जानक्या लक्ष्मणेन च।
अगस्त्यस्यानुजस्थानं मध्याह्ने समपद्यत ॥ १ ॥

तेन सम्पूजितः सम्यग्भुक्त्वा मूलफलादिकम्।
परेद्युः प्रातरुत्थाय जग्मुस्तेऽगस्त्यमण्डलम् ॥ २ ॥

सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं नानामृगगणैर्युतम्।
पक्षिसङ्घैश्च विविधैर्नादितं नन्दनोपमम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मर्षिभिर्देवर्षिभिः सेवितं मुनिमन्दिरैः।
सर्वतोऽलङ्कृतं साक्षाद् ब्रह्मलोकमिवापरम् ॥ ४ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—(हे पार्वति!) (उस दिन) मध्याह्नके समय श्रीरामचन्द्रजी सुतीक्ष्ण, सीता और लक्ष्मणके साथ अगस्त्य मुनिके छोटे भाई (अग्निजिह्व मुनि) के आश्रममें पहुँचे ॥ १ ॥ उन्होंने उनकी भली प्रकार पूजा की (फिर उनके दिये हुए) कन्द-मूल-फल आदि खाकर, दूसरे दिन प्रातःकाल उठते ही अगस्त्य मुनिके आश्रमको चले ॥ २ ॥

वह आश्रम समस्त ऋतुओंके फल और पुष्पोंसे परिपूर्ण, विविध वन्य पशुओंसे सेवित तथा नाना प्रकारके पक्षियोंसे गुञ्जायमान नन्दन वनके समान (सुशोभित) था ॥ ३ ॥ वह ब्रह्मर्षियों और देवर्षियोंसे सेवित था तथा उसके चारों ओर उन ऋषियोंके आश्रम सुशोभित थे। इस

बहिरेवाश्रमस्याथ स्थित्वा रामोऽब्रवीन्मुनिम्।
सुतीक्ष्ण गच्छ त्वं शीघ्रमागतं मां निवेदय ॥ ५ ॥

अगस्त्यमुनिवर्याय सीतया लक्ष्मणेन च।
महाप्रसाद इत्युक्त्वा सुतीक्ष्णः प्रययौ गुरोः ॥ ६ ॥

आश्रमं त्वरया तत्र ऋषिसङ्घसमावृतम्।
उपविष्टं रामभक्तैर्विशेषेण समायुतम् ॥ ७ ॥

व्याख्यातराममन्त्रार्थं शिष्येभ्यश्चातिभक्तितः।
दृष्ट्वागस्त्यं मुनिश्रेष्ठं सुतीक्ष्णः प्रययौ मुनेः ॥ ८ ॥

दण्डवत्प्रणिपत्याह विनयावनतः सुधीः।
रामो दाशरथिर्ब्रह्मन् सीतया लक्ष्मणेन च।
आगतो दर्शनार्थं ते बहिस्तिष्ठति साञ्जलिः ॥ ९ ॥

अगस्त्य उवाच

शीघ्रमानय भद्रं ते रामं मम हृदि स्थितम्।
तमेव ध्यायमानोऽहं काङ्क्षमाणोऽत्र संस्थितः ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा स्वयमुत्थाय मुनिभिः सहितो द्रुतम्।
अभ्यगात्परया भक्त्या गत्वा राममथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

आगच्छ राम भद्रं ते दिष्ट्या तेऽद्य समागमः।
प्रियातिथिर्मम प्राप्तोऽस्यद्य मे सफलं दिनम् ॥ १२ ॥

रामोऽपि मुनिमायान्तं दृष्ट्वा हर्षसमाकुलः।
सीतया लक्ष्मणेनापि दण्डवत्पतितो भुवि ॥ १३ ॥

द्रुतमुत्थाप्य मुनिराड्राममालिङ्ग्य भक्तितः।
तद्गात्रस्पर्शजाह्लादस्त्रवन्नेत्रजलाकुलः ॥ १४ ॥

गृहीत्वा करमेकेन करेण रघुनन्दनम्।
जगाम स्वाश्रमं हृष्टो मनसा मुनिपुङ्गवः ॥ १५ ॥

सुखोपविष्टं सम्पूज्य पूजया बहुविस्तरम्।
भोजयित्वा यथान्यायं भोज्यैर्वन्यैरनेकधा ॥ १६ ॥

प्रकार वह साक्षात् दूसरे ब्रह्मलोकके समान जान पड़ता था ॥ ४ ॥ आश्रमके बाहर रहकर श्रीरामचन्द्रजीने सुतीक्ष्ण मुनिसे कहा—"हे सुतीक्ष्ण! तुम शीघ्र ही मुनिवर अगस्त्यजीके पास जाकर उन्हें सीता और लक्ष्मणके सहित मेरे आनेकी सूचना दो।" तब सुतीक्ष्ण 'बड़ी प्रसन्नताकी बात है' ऐसा कह शीघ्रतासे गुरुजीके आश्रममें गये। वहाँ जाकर सुतीक्ष्णने देखा कि मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य मुनिमण्डलीसे—विशेषतया रामभक्तोंसे घिरे हुए बैठे हैं और अत्यन्त भक्तिपूर्वक अपने शिष्योंको राममन्त्रकी व्याख्या सुना रहे हैं। यह देखकर सुतीक्ष्ण उनके पास गये ॥ ५—८ ॥ उन्हें विनयपूर्वक दण्डवत्-प्रणामकर सुबुद्धि सुतीक्ष्णने कहा—"ब्रह्मन्! दशरथ-कुमार श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ आपके दर्शनोंके लिये आये हैं और अञ्जलि बाँधे आश्रमके बाहर खड़े हैं" ॥ ९ ॥

अगस्त्यजी बोले—वत्स! तुम्हारा कल्याण हो। तुम शीघ्र ही मेरे हृदयस्थित (भगवान्) रामको ले आओ। मैं उनके दर्शनोंकी इच्छासे उन्हींका ध्यान करता हुआ यहाँ रहता हूँ ॥ १० ॥ ऐसा कह वे शीघ्र ही मुनियोंके साथ उठकर स्वयं श्रीरामचन्द्रजीके पास आये और उनसे अत्यन्त भक्तिपूर्वक बोले— ॥ ११ ॥ "हे राम! आइये, आपका कल्याण हो। आज बड़े भाग्यसे आपका समागम हुआ है। आजका दिन सफल है, आज मुझे मेरे प्रिय अतिथि प्राप्त हुए हैं" ॥ १२ ॥

मुनीश्वरको आते देख श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त आनन्दित होकर लक्ष्मण और सीताके सहित पृथिवीपर दण्डके समान लेट गये ॥ १३ ॥ तब मुनिराजने तुरंत ही रामको उठाकर भक्तिपूर्वक हृदयसे लगा लिया और उनके शरीर-स्पर्शसे प्राप्त हुए आनन्दसे उनके नेत्रोंमें जल भर आया ॥ १४ ॥

तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी एक हाथसे श्रीरघुनाथजीका हाथ पकड़कर उन्हें प्रसन्न मनसे अपने आश्रममें ले आये ॥ १५ ॥ और उन्हें सुखपूर्वक आसनपर बैठाकर उनकी विधि-विधानसे बड़ी पूजा की तथा समयानुकूल नाना प्रकारके वन्य फल भोजन कराये ॥ १६ ॥

सुखोपविष्टमेकान्ते रामं शशिनिभाननम्।
कृताञ्जलिरुवाचेदमगस्त्यो भगवानृषिः ॥ १७ ॥

त्वदागमनमेवाहं प्रतीक्षन्समवस्थितः।
यदा क्षीरसमुद्रान्ते ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा ॥ १८ ॥

भूमेर्भारापनुत्यर्थं रावणस्य वधाय च।
तदादि दर्शनाकाङ्क्षी तव राम तपश्चरन्।
वसामि मुनिभिः सार्धं त्वामेव परिचिन्तयन् ॥ १९ ॥

सृष्टेः प्रागेक एवासीर्निर्विकल्पोऽनुपाधिकः।
त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते ॥ २० ॥

त्वामेव निर्गुणं शक्तिरावृणोति यदा तदा।
अव्याकृतमिति प्राहुर्वेदान्तपरिनिष्ठिताः ॥ २१ ॥

मूलप्रकृतिरित्येके प्राहुर्मायेति केचन।
अविद्या संसृतिर्बन्ध इत्यादि बहुधोच्यते ॥ २२ ॥

त्वया संक्षोभ्यमाणा सा महत्तत्त्वं प्रसूयते।
महत्तत्त्वादहङ्कारस्त्वया सञ्चोदितादभूत् ॥ २३ ॥

अहङ्कारो महत्तत्त्वसंवृतस्त्रिविधोऽभवत्।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्चेति भण्यते ॥ २४ ॥

तामसात्सूक्ष्मतन्मात्राण्यासन् भूतान्यतः परम्।
स्थूलानि क्रमशो राम क्रमोत्तरगुणानि ह ॥ २५ ॥

राजसानीन्द्रियाण्येव सात्त्विका देवता मनः।
तेभ्योऽभवत्सूत्ररूपं लिङ्गं सर्वगतं महत् ॥ २६ ॥

ततो विराट् समुत्पन्नः स्थूलाद् भूतकदम्बकात्।
विराजः पुरुषात्सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ २७ ॥

देवतिर्यङ्मनुष्याश्च कालकर्मक्रमेण तु।
त्वं रजोगुणतो ब्रह्मा जगतः सर्वकारणम् ॥ २८ ॥

सत्त्वाद्विष्णुस्त्वमेवास्य पालकः सद्भिरुच्यते।
लये रुद्रस्त्वमेवास्य त्वन्मायागुणभेदतः ॥ २९ ॥

इस प्रकार एकान्तमें सुखपूर्वक बैठे हुए चन्द्रवदन श्रीरामचन्द्रजीसे भगवान् अगस्त्य मुनिने हाथ जोड़कर कहा— ॥ १७ ॥ हे राम! पूर्वकालमें जिस समय क्षीरसमुद्रके समीप ब्रह्माजीने आपसे भूमिका भार उतारनेके लिये रावणका वध करनेकी प्रार्थना की थी, तभीसे आपके दर्शनोंकी इच्छासे मैं तपस्या करता हुआ और आपहीका चिन्तन करता हुआ आपके आनेकी प्रतीक्षामें यहाँ मुनियोंके साथ रहता हूँ ॥ १८-१९ ॥ सृष्टिके आरम्भमें विकल्प और उपाधिसे रहित आप अकेले ही थे (उस समय और कुछ भी नहीं था)। आपहीमें आश्रित तथा आपहीको विषय करनेवाली माया आपकी ही शक्ति कही जाती है ॥ २० ॥ जिस समय यह माया-शक्ति आप निर्गुणको ढँक लेती है उस समय वेदान्तनिष्ठ पुरुष इसे 'अव्याकृत' कहते हैं ॥ २१ ॥ कोई इसे 'मूलप्रकृति' कहते हैं और कोई माया; तथा यही अविद्या, संसृति और बन्धन आदि अनेक नामोंसे पुकारी जाती है ॥ २२ ॥ आपके द्वारा क्षुभित होनेपर इस शक्तिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है और महत्तत्त्वसे आपहीकी प्रेरणासे अहंकार प्रकट हुआ है ॥ २३ ॥ महत्तत्त्वसे ओतप्रोत वह अहंकार तीन प्रकारका हुआ; जो सात्त्विक, राजस और तामस कहलाता है ॥ २४ ॥ हे राम! तामस अहंकारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ हुईं और इन सूक्ष्म तन्मात्राओंसे इनके गुणानुसार क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—ये पाँच स्थूल भूत हुए ॥ २५ ॥ राजस अहंकारसे दस इन्द्रियाँ और सात्त्विक अहंकारसे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता तथा मन उत्पन्न हुए; और इन सबसे मिलकर समष्टि-सूक्ष्म-शरीररूप हिरण्यगर्भ हुआ, जिसका दूसरा नाम सूत्रात्मा भी है ॥ २६ ॥ फिर स्थूल भूतसमूहसे विराट् उत्पन्न हुआ तथा विराट् पुरुषसे यह सम्पूर्ण स्थावर-जंगम संसार प्रकट हुआ ॥ २७ ॥ (हे जगदीश्वर!) काल और कर्मके क्रमसे आप ही देव, तिर्यक् और मनुष्य आदि योनियोंमें प्रकट हुए हैं। अपने मायिक गुणोंके भेदसे आप ही रजोगुणद्वारा जगत्कर्ता ब्रह्माजी, सत्त्वगुणद्वारा जगत्‌की रक्षा करनेवाले विष्णु और तमोगुणसे उसका लय करनेवाले भगवान् रुद्र हुए हैं; ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं ॥ २८-२९ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या वृत्तयो बुद्धिजैर्गुणैः ।
तासां विलक्षणो राम त्वं साक्षी चिन्मयोऽव्ययः ॥ ३० ॥

सृष्टिलीलां यदा कर्तुमीहसे रघुनन्दन ।
अङ्गीकरोषि मायां त्वं तदा वै गुणवानिव ॥ ३१ ॥

राम माया द्विधा भाति विद्याविद्येति ते सदा ।
प्रवृत्तिमार्गनिरता अविद्यावशवर्तिनः ।
निवृत्तिमार्गनिरता वेदान्तार्थविचारकाः ॥ ३२ ॥

त्वद्भक्तिनिरता ये च ते वै विद्यामयाः स्मृताः ।
अविद्यावशगा ये तु नित्यं संसारिणश्च ते ।
विद्याभ्यासरता ये तु नित्यमुक्तास्त एव हि ॥ ३३ ॥

लोके त्वद्भक्तिनिरतास्त्वन्मन्त्रोपासकाश्च ये ।
विद्या प्रादुर्भवेत्तेषां नेतरेषां कदाचन ॥ ३४ ॥

अतस्त्वद्भक्तिसम्पन्ना मुक्ता एव न संशयः ।
त्वद्भक्त्यमृतहीनानां मोक्षः स्वप्नेऽपि नो भवेत् ॥ ३५ ॥

किं राम बहुनोक्तेन सारं किञ्चिद्ब्रवीमि ते ।
साधुसङ्गतिरेवात्र मोक्षहेतुरुदाहृता ॥ ३६ ॥

साधवः समचित्ता ये निःस्पृहा विगतैषणाः ।
दान्ताः प्रशान्तास्त्वद्भक्ता निवृत्ताखिलकामनाः ॥ ३७ ॥

इष्टप्राप्तिविपत्त्योश्च समाः सङ्गविवर्जिताः ।
संन्यस्ताखिलकर्माणः सर्वदा ब्रह्मतत्पराः ॥ ३८ ॥

यमादिगुणसम्पन्नाः सन्तुष्टा येन केनचित् ।
सत्सङ्गमो भवेद्यर्हि त्वत्कथाश्रवणे रतिः ॥ ३९ ॥

समुदेति ततो भक्तिस्त्वयि राम सनातने ।
त्वद्भक्तावुपपन्नायां विज्ञानं विपुलं स्फुटम् ॥ ४० ॥

उदेति मुक्तिमार्गोऽयमाद्यश्चतुरसेवितः ।
तस्माद्राघव सद्भक्तिस्त्वयि मे प्रेमलक्षणा ॥ ४१ ॥

सदा भूयाद्धरे सङ्गस्त्वद्भक्तेषु विशेषतः ।
अद्य मे सफलं जन्म भवत्सन्दर्शनादभूत् ॥ ४२ ॥

हे राम ! बुद्धिके सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे ही प्राणीकी क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं, पर आप इन तीनोंसे सर्वथा पृथक्, इनके साक्षी, चित्स्वरूप और अविकारी हैं ॥ ३० ॥ हे रघुनन्दन ! जिस समय आप सृष्टिरूपी लीलाका विस्तार करना चाहते हैं उस समय मायाको अंगीकार कर गुणवान्-से हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ हे राम ! आपकी यह माया सदा विद्या और अविद्या दो रूपसे भासती है। जो लोग प्रवृत्ति-मार्गमें लगे रहते हैं वे अविद्याके वशीभूत हैं और जो वेदान्तार्थका विचार करनेवाले, निवृत्ति-परायण और आपकी भक्तिमें निरत हैं वे विद्यामय समझे जाते हैं। इनमेंसे जो अविद्याके वशीभूत हैं वे सदा जन्म-मरणरूप संसारमें फँसे रहते हैं और जो विद्याभ्यासी हैं वे ही नित्यमुक्त हैं ॥ ३२-३३ ॥ संसारमें जो लोग आपकी भक्तिमें तत्पर और आपहीके मन्त्रकी उपासना करनेवाले होते हैं उन्हींके (अन्तःकरणमें) विद्याका प्रादुर्भाव होता है और किसीको नहीं ॥ ३४ ॥ अतः जो पुरुष आपकी भक्तिसे सम्पन्न हैं वे निस्सन्देह मुक्त ही हैं, आपकी भक्तिरूप अमृतके बिना स्वप्नमें भी मोक्ष नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥ हे राम ! और अधिक क्या कहूँ ? इस विषयमें जो सार बात है वह तुम्हें बताये देता हूँ—संसारमें साधुसङ्ग ही मोक्षका मुख्य कारण कहा गया है ॥ ३६ ॥ संसारमें जो लोग सम्पद्-विपद्में समानचित्त, स्पृहारहित, पुत्र-वित्तादिकी इच्छाओंसे रहित, इन्द्रियोंका दमन करनेवाले, शान्तचित्त, आपके भक्त, सम्पूर्ण कामनाओंसे शून्य, इष्ट तथा अनिष्टकी प्राप्तिमें समान रहनेवाले, सङ्गहीन, समस्त कर्मोंका त्याग करनेवाले, सर्वदा ब्रह्मपरायण रहनेवाले, यम आदि गुणोंसे सम्पन्न तथा जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहनेवाले होते हैं वे ही साधु हैं। जिस समय ऐसे साधु पुरुषका सङ्ग होता है तो आपके कथा-श्रवणमें प्रेम हो जाता है ॥ ३७—३९ ॥ हे राम ! तदनन्तर आप सनातन पुरुषमें भक्ति हो जाती है, तथा आपकी भक्ति हो जानेपर आपका स्फुट तथा प्रचुर ज्ञान प्राप्त होता है। यही चतुर जनसेवित मुक्तिका आद्य मार्ग है। अतः हे राघव ! आपमें मेरी सर्वदा प्रेमलक्षणा उत्तम भक्ति बनी रहे और हे हरे ! मुझे अधिकतर आपके भक्तोंका सङ्ग प्राप्त हो। हे नाथ ! आज आपके दर्शनोंसे

अद्य मे क्रतवः सर्वे बभूवुः सफलाः प्रभो।
दीर्घकालं मया तप्तमनन्यमतिना तपः।

तस्येह तपसो राम फलं तव यदर्चनम् ॥ ४३ ॥
सदा मे सीतया सार्धं हृदये वस राघव।
गच्छतस्तिष्ठतो वापि स्मृतिः स्यान्मे सदा त्वयि ॥ ४४ ॥

मेरा जन्म सफल हो गया ॥ ४०—४२ ॥ हे प्रभो ! आज मेरे सम्पूर्ण यज्ञ सफल हो गये। मैंने बहुत समयसे अनन्यभावसे तपस्या की है। हे राम ! आज जो मैंने आपकी प्रत्यक्ष पूजा की यह उस तपस्याका ही फल है ॥ ४३ ॥ हे राघव ! सीताके सहित आप सर्वदा मेरे हृदयमें निवास करें; मुझे चलते-फिरते सदा आपका स्मरण बना रहे ॥ ४४ ॥

इति स्तुत्वा रमानाथमगस्त्यो मुनिसत्तमः।
ददौ चापं महेन्द्रेण रामार्थे स्थापितं पुरा ॥ ४५ ॥

अक्षय्यौ बाणतूणीरौ खड्गो रत्नविभूषितः।
जहि राघव भूभारभूतं राक्षसमण्डलम् ॥ ४६ ॥

यदर्थमवतीर्णोऽसि मायया मनुजाकृतिः।
इतो योजनयुग्मे तु पुण्यकाननमण्डितः ॥ ४७ ॥

अस्ति पञ्चवटीनाम्ना आश्रमो गौतमीतटे।
नेतव्यस्तत्र ते कालः शेषो रघुकुलोद्वह ॥ ४८ ॥

तत्रैव बहुकार्याणि देवानां कुरु सत्पते ॥ ४९ ॥

लक्ष्मीपति श्रीरघुनाथजीकी इस प्रकार स्तुति कर मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजीने उन्हें पूर्वकालमें रामहीके लिये इन्द्रका दिया हुआ धनुष, बाणोंसे भरे हुए कभी खाली न होनेवाले दो तरकश तथा एक रत्नजटित खड्ग दिया और कहा—"हे राघव ! पृथिवीके भारस्वरूप राक्षसोंका संहार करो ॥ ४५-४६ ॥ जिसके लिये आपने माया-मानव-रूपसे अवतार लिया है। यहाँसे दो योजनकी दूरीपर गौतमी नदीके किनारे पवित्र वनसे सुशोभित एक पञ्चवटी नामक आश्रम है। हे रघुनाथजी ! आप अपना शेष काल वहीं व्यतीत करें। हे सत्पते ! वहीं रहकर आप देवताओंके बहुत-से कार्य सिद्ध करें" ॥ ४७—४९ ॥

श्रुत्वा तदागस्त्यसुभाषितं वचः
स्तोत्रं च तत्त्वार्थसमन्वितं विभुः।
मुनिं समाभाष्य मुदान्वितो ययौ
प्रदर्शितं मार्गमशेषविद्धरिः ॥ ५० ॥

तदनन्तर सर्वज्ञ भगवान् राम अगस्त्यजीका यह मनोहर भाषण और तत्त्वार्थगर्भित स्तोत्र सुन उनकी अनुमति लेकर प्रसन्नतापूर्वक उनके दिखाये हुए मार्गसे चले ॥ ५० ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अरण्यकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थ सर्ग

पञ्चवटीमें निवास और लक्ष्मणजीको उपदेश

श्रीमहादेव उवाच

मार्गे व्रजन्ददर्शाथ शैलशृङ्गमिव स्थितम्।
वृद्धं जटायुषं रामः किमेतदिति विस्मितः ॥ १ ॥

धनुरानय सौमित्रे राक्षसोऽयं पुरः स्थितः।
इत्याह लक्ष्मणं रामो हनिष्याम्यृषिभक्षकम् ॥ २ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—(हे पार्वति !) मार्गमें जाते हुए श्रीरामचन्द्रजीने पर्वत-शिखरके समान बैठे हुए वृद्ध जटायुको देखा। उसे देखकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि 'यह क्या है ?' ॥ १ ॥ तब वे लक्ष्मणजीसे बोले—"सौमित्रे ! मेरा धनुष लाओ। देखो, सामने यह राक्षस बैठा है; मैं ऋषियोंको भक्षण करनेवाले इस दुष्टको अभी मार डालता हूँ" ॥ २ ॥

तच्छ्रुत्वा रामवचनं गृध्रराड् भयपीडितः ।
वधार्होऽहं न ते राम पितुस्तेऽहं प्रियः सखा ॥ ३ ॥

जटायुर्नाम भद्रं ते गृध्रोऽहं प्रियकृत्तव ॥ ४ ॥

पञ्चवट्यामहं वत्स्ये तवैव प्रियकाम्यया ।
मृगयायां कदाचित्तु प्रयाते लक्ष्मणेऽपि च ॥ ५ ॥

सीता जनककन्या मे रक्षितव्या प्रयत्नतः ।
श्रुत्वा तद्गृध्रवचनं रामः सस्नेहमब्रवीत् ॥ ६ ॥

साधु गृध्र महाराज तथैव कुरु मे प्रियम् ।
अत्रैव मे समीपस्थो नातिदूरे वने वसन् ॥ ७ ॥

इत्यामन्त्रितमालिङ्ग्य ययौ पञ्चवटीं प्रभुः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया रघुनन्दनः ॥ ८ ॥

गत्वा ते गौतमीतीरं पञ्चवट्यां सुविस्तरम् ।
मन्दिरं कारयामास लक्ष्मणेन सुबुद्धिना ॥ ९ ॥

तत्र ते न्यवसन्सर्वे गङ्गाया उत्तरे तटे ।
कदम्बपनसाम्रादिफलवृक्षसमाकुले ॥ १० ॥

विविक्ते जनसम्बाधवर्जिते नीरुजस्थले ।
विनोदयन् जनकजां लक्ष्मणेन विपश्चिता ॥ ११ ॥

अध्युवास सुखं रामो देवलोक इवापरः ।
कन्दमूलफलादीनि लक्ष्मणोऽनुदिनं तयोः ॥ १२ ॥

आनीय प्रददौ रामसेवातत्परमानसः ।
धनुर्बाणधरो नित्यं रात्रौ जागर्ति सर्वतः ॥ १३ ॥

स्नानं कुर्वन्त्यनुदिनं त्रयस्ते गौतमीजले ।
उभयोर्मध्यगा सीता कुरुते च गमागमौ ॥ १४ ॥

आनीय सलिलं नित्यं लक्ष्मणः प्रीतमानसः ।
सेवतेऽहरहः प्रीत्या एवमासन् सुखं त्रयः ॥ १५ ॥

एकदा लक्ष्मणो राममेकान्ते समुपस्थितम् ।
विनयावनतो भूत्वा पप्रच्छ परमेश्वरम् ॥ १६ ॥

भगवन् श्रोतुमिच्छामि मोक्षस्यैकान्तिकीं गतिम् ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष सङ्क्षेपाद्वक्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

रामका यह वचन सुन गृध्रराजने भयसे व्यथित होकर कहा—"राम ! मैं तुम्हारे द्वारा मारे जाने योग्य नहीं हूँ। मैं तुम्हारे पिताका प्रिय सखा जटायु नामक गृध्र हूँ। तुम्हारा कल्याण हो, मैं तो तुम्हारा हितकारी हूँ ॥ ३-४ ॥ तुम्हारी ही हित-कामनासे मैं पञ्चवटीमें रहूँगा। किसी समय जब लक्ष्मणजी भी मृगयाके लिये वनमें चले जायँगे तो मैं जनकनन्दिनी सीताजीकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करूँगा।" गृध्रराजके ये वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने स्नेहपूर्वक कहा— ॥ ५-६ ॥ "हे गृध्रमहाराज ! ठीक है, इस पासके वनमें ही रहते हुए आप समीपवर्ती होकर अवश्य हमारा प्रियसाधन करें" ॥ ७ ॥

इस प्रकार अपनी सम्मति दे भगवान् राम जटायुको आलिङ्गन कर भाई लक्ष्मण और सीताजीके सहित पञ्चवटीको गये ॥ ८ ॥ गौतमीके तटपर पहुँचकर उन्होंने बुद्धिमान् लक्ष्मणजीसे पञ्चवटीमें एक विशाल कुटी बनवायी ॥ ९ ॥ वहाँ वे सब गौतमी गङ्गाके उत्तर तटपर कदम्ब, पनस और आम्र आदि फलवाले वृक्षोंसे युक्त एक रोग-रहित जन-शून्य एकान्त स्थानमें बस गये। श्रीरामचन्द्रजी बुद्धिमान् लक्ष्मणके सहित जनकात्मजा सीताका मनोरञ्जन करते हुए उस देवलोकके समान सुरम्य स्थानमें दूसरे इन्द्रके समान सुखपूर्वक रहने लगे। राम-सेवामें जिनका चित्त लगा हुआ है वे लक्ष्मणजी नित्यप्रति उन्हें कन्द-मूल-फल लाकर देते और रात्रिके समय धनुष-बाण लेकर चारों ओर (घूमकर रक्षा करते हुए) जागा करते ॥ १०—१३ ॥ वे तीनों ही नित्यप्रति गौतमीमें स्नान किया करते थे। उस समय सीताजी उन दोनोंके बीचमें रहकर आया-जाया करती थीं ॥ १४ ॥ लक्ष्मणजी प्रसन्नचित्तसे नित्यप्रति जल लाकर भक्तिपूर्वक उनकी सेवा किया करते थे। इस प्रकार वे तीनों वहाँ, सुखपूर्वक रहने लगे ॥ १५ ॥

एक दिन लक्ष्मणजीने एकान्तमें बैठे हुए परमात्मा श्रीरामके पास जाकर नम्रतापूर्वक पूछा— ॥ १६ ॥ "भगवन् ! मैं आपके मुखारविन्दसे मोक्षका अव्यभिचारी निश्चित साधन सुनना चाहता हूँ; अतः हे कमलनयन ! आप उसका संक्षेपसे वर्णन कीजिये ॥ १७ ॥

ज्ञानं विज्ञानसहितं भक्तिवैराग्यबृंहितम्।
आचक्ष्व मे रघुश्रेष्ठ वक्ता नान्योऽस्ति भूतले ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच

शृणु वक्ष्यामि ते वत्स गुह्याद्गुह्यतरं परम्।
यद्विज्ञाय नरो जह्यात्सद्यो वैकल्पिकं भ्रमम् ॥ १९ ॥

आदौ मायास्वरूपं ते वक्ष्यामि तदनन्तरम्।
ज्ञानस्य साधनं पश्चाज्ज्ञानं विज्ञानसंयुतम् ॥ २० ॥

ज्ञेयं च परमात्मानं यज्ज्ञात्वा मुच्यते भयात्।
अनात्मनि शरीरादावात्मबुद्धिस्तु या भवेत् ॥ २१ ॥

सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्प्यते।
रूपे द्वे निश्चिते पूर्वं मायायाः कुलनन्दन ॥ २२ ॥

विक्षेपावरणे तत्र प्रथमं कल्पयेज्जगत्।
लिङ्गाद्यब्रह्मपर्यन्तं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः ॥ २३ ॥

अपरं त्वखिलं ज्ञानरूपमावृत्य तिष्ठति।
मायया कल्पितं विश्वं परमात्मनि केवले ॥ २४ ॥

रज्जौ भुजङ्गवद् भ्रान्त्या विचारे नास्ति किञ्चन।
श्रूयते दृश्यते यद्यत्स्मर्यते वा नरैः सदा ॥ २५ ॥

असदेव हि तत्सर्वं यथा स्वप्नमनोरथौ।
देह एव हि संसारवृक्षमूलं दृढं स्मृतम् ॥ २६ ॥

तन्मूलः पुत्रदारादिबन्धः किं तेऽन्यथात्मनः ॥ २७ ॥

देहस्तु स्थूलभूतानां पञ्च तन्मात्रपञ्चकम्।
अहंकारश्च बुद्धिश्च इन्द्रियाणि तथा दश ॥ २८ ॥

चिदाभासो मनश्चैव मूलप्रकृतिरेव च।
एतत्क्षेत्रमिति ज्ञेयं देह इत्यभिधीयते ॥ २९ ॥

एतैर्विलक्षणो जीवः परमात्मा निरामयः।
तस्य जीवस्य विज्ञाने साधनान्यपि मे शृणु ॥ ३० ॥

जीवश्च परमात्मा च पर्यायो नात्र भेदधीः।
मानाभावस्तथा दम्भहिंसादिपरिवर्जनम् ॥ ३१ ॥

हे रघुश्रेष्ठ! आप मुझे भक्ति और वैराग्यसे सना हुआ विज्ञानयुक्त ज्ञान सुनाइये; संसारमें आपके अतिरिक्त इस विषयका उपदेश करनेवाला और कोई नहीं है" ॥ १८ ॥

श्रीरामजी बोले—वत्स! सुन, मैं तुझे गुह्यसे भी गुह्य परम रहस्य सुनाता हूँ जिसके जान लेनेपर मनुष्य तुरंत ही विकल्पजनित (संसाररूप) भ्रमसे मुक्त हो जाता है ॥ १९ ॥ प्रथम मैं तुमसे मायाका स्वरूप कहूँगा, तत्पश्चात् ज्ञानका साधन बताऊँगा और फिर विज्ञानके सहित ज्ञानका वर्णन करूँगा ॥ २० ॥ इनके अतिरिक्त ज्ञेय परमात्माका भी स्वरूप बतलाऊँगा जिसके जान लेनेपर मनुष्य संसार-भयसे मुक्त हो जाता है। शरीरादि अनात्मपदार्थोंमें जो आत्मबुद्धि होती है उसीको माया कहते हैं। उसीके द्वारा इस संसारकी कल्पना हुई है। हे कुलनन्दन! मायाके पहले-पहल दो रूप माने गये हैं ॥ २१-२२ ॥ एक विक्षेप, दूसरा आवरण। इनमेंसे पहली विक्षेप-शक्ति ही महत्तत्त्वसे लेकर ब्रह्मातक समस्त संसारकी स्थूल और सूक्ष्म भेदसे कल्पना करती है ॥ २३ ॥ और दूसरी आवरण-शक्ति सम्पूर्ण ज्ञानको आवरण करके स्थित रहती है। यह सम्पूर्ण विश्व रज्जुमें सर्प-भ्रमके समान शुद्ध परमात्मामें मायासे कल्पित है; विचार करनेपर यह कुछ भी नहीं ठहरता। मनुष्य जो कुछ सर्वदा सुनते, देखते और स्मरण करते हैं; वह सब स्वप्न और मनोरथोंके समान असत्य हैं। शरीर ही इस संसाररूप वृक्षकी दृढ़ मूल है ॥ २४—२६ ॥ उसीके कारण पुत्र-कलत्रादिका बन्धन है, नहीं तो आत्माका इनसे क्या सम्बन्ध है? ॥ २७ ॥ पाँच स्थूल भूत, पञ्च तन्मात्राएँ, अहंकार, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ, चिदाभास, मन और मूलप्रकृति इन सबके समूहको क्षेत्र समझना चाहिये; इसीको शरीर भी कहते हैं ॥ २८-२९ ॥ निर्दोष परमात्मरूप जीव इन सबसे पृथक् है। अब मैं उस जीवको जाननेके कुछ साधन भी बताता हूँ (सावधान होकर) सुनो ॥ ३० ॥

जीव और परमात्मा यह पर्याय शब्द हैं—दोनोंका अभिप्राय एक ही है; अतः इसमें भेद-बुद्धि नहीं (करनी चाहिये)। अभिमानसे दूर रहना, दम्भ और हिंसा आदिका

परक्षेपादिसहनं सर्वत्रावक्रता तथा ।
मनोवाक्कायसद्भक्त्या सद्गुरोः परिसेवनम् ॥ ३२ ॥

बाह्याभ्यन्तरसंशुद्धिः स्थिरता सत्क्रियादिषु ।
मनोवाक्कायदण्डश्च विषयेषु निरीहता ॥ ३३ ॥

निरहङ्कारता जन्मजराद्यालोचनं तथा ।
असक्तिः स्नेहशून्यत्वं पुत्रदारधनादिषु ॥ ३४ ॥

इष्टानिष्टागमे नित्यं चित्तस्य समता तथा ।
मयि सर्वात्मके रामे ह्यनन्यविषया मतिः ॥ ३५ ॥

जनसम्बाधरहितशुद्धदेशनिषेवणम् ।
प्राकृतैर्जनसङ्घैश्च ह्यरतिः सर्वदा भवेत् ॥ ३६ ॥

आत्मज्ञाने सदोद्योगो वेदान्तार्थावलोकनम् ।
उक्तैरेतैर्भवेज्ज्ञानं विपरीतैर्विपर्ययः ॥ ३७ ॥

बुद्धिप्राणमनोदेहाहङ्कृतिभ्यो विलक्षणः ।
चिदात्माहं नित्यशुद्धो बुद्ध एवेति निश्चयम् ॥ ३८ ॥

येन ज्ञानेन संवित्ते तज्ज्ञानं निश्चितं च मे ।
विज्ञानं च तदैवैतत्साक्षादनुभवेद्यदा ॥ ३९ ॥

आत्मा सर्वत्र पूर्णः स्याच्चिदानन्दात्मकोऽव्ययः ।
बुद्ध्याद्युपाधिरहितः परिणामादिवर्जितः ॥ ४० ॥

स्वप्रकाशेन देहादीन् भासयन्ननपावृतः ।
एक एवाद्वितीयश्च सत्यज्ञानादिलक्षणः ॥ ४१ ॥

असङ्गः स्वप्रभो द्रष्टा विज्ञानेनावगम्यते ।
आचार्यशास्त्रोपदेशादैक्यज्ञानं यदा भवेत् ॥ ४२ ॥

आत्मनोर्जीवपरयोर्मूलाविद्या तदैव हि ।
लीयते कार्यकरणैः सहैव परमात्मनि ॥ ४३ ॥

सावस्था मुक्तिरित्युक्ता ह्युपचारोऽयमात्मनि ।
इदं मोक्षस्वरूपं ते कथितं रघुनन्दन ॥ ४४ ॥

ज्ञानविज्ञानवैराग्यसहितं मे परात्मनः ।
किन्त्वेतदुर्लभं मन्ये मद्भक्तिविमुखात्मनाम् ॥ ४५ ॥

त्याग करना ॥ ३१ ॥ दूसरोंके किये हुए आक्षेपादिको सहन करना, सर्वत्र सरल भाव रखना, मन, वचन और शरीरके द्वारा सच्ची भक्तिसे सद्गुरुकी सेवा करना ॥ ३२ ॥ बाह्य और आन्तरिक शुद्धि रखना, सत्कर्मोंमें तत्पर रहना, मन, वाणी और शरीरका संयम करना, विषयोंमें प्रवृत्त न होना ॥ ३३ ॥ अहंकारशून्य रहना, जन्म, मृत्यु, रोग और बुढ़ापे आदिके कष्टोंका विचार करना, पुत्र, स्त्री और धन आदिमें आसक्ति तथा स्नेह न करना ॥ ३४ ॥ इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें चित्तको सदा समान रखना. मुझ सर्वात्मा राममें अनन्य बुद्धि रखना ॥ ३५ ॥ जनसमूहसे शून्य पवित्र देशमें रहना, संसारी लोगोंसे सर्वदा उदासीन रहना ॥ ३६ ॥ आत्मज्ञानका सदा उद्योग करना तथा वेदान्तके अर्थका विचार करना—इन उक्त साधनोंसे तो ज्ञान प्राप्त होता है और इनके विपरीत आचरण करनेसे विपरीत फल (अज्ञान) मिलता है ॥ ३७ ॥

जिससे ऐसा बोध होता है कि मैं बुद्धि, प्राण, मन, देह और अहङ्कार आदिसे विलक्षण नित्य शुद्ध बुद्ध चेतन आत्मा हूँ वही ज्ञान है यह मेरा निश्चय है। जिस समय इसका साक्षात् अनुभव होता है उस समय इसीको विज्ञान कहते हैं ॥ ३८-३९ ॥ आत्मा सर्वत्र पूर्ण, चिदानन्दस्वरूप, अविनाशी, बुद्धि आदि उपाधियोंसे शून्य तथा परिणामादिसे रहित है ॥ ४० ॥ यह अपने प्रकाशसे देह आदिको प्रकाशित करता हुआ भी स्वयं आवरणशून्य, एक अद्वितीय और सत्य ज्ञान आदि स्वरूप तथा संगरहित, स्वप्रकाश और सबका साक्षी है—ऐसा विज्ञानसे जाना जाता है। जिस समय आचार्य और शास्त्रके उपदेशसे जीवात्मा और परमात्माकी एकताका ज्ञान होता है उसी समय मूला अविद्या अपने कार्य (शरीरादि) तथा इन्द्रियोंके सहित (अर्थात् अपने स्थूल और सूक्ष्म कार्यके सहित) परमात्मामें लीन हो जाती है ॥ ४१—४३ ॥ अविद्याकी इस लयावस्थाको ही मोक्ष कहते हैं, आत्मामें यह (मोक्ष) केवल उपचारमात्र है (वास्तवमें आत्माकी मुक्तावस्था आगन्तुक नहीं है वह तो सदा ही मुक्त है) हे रघुनन्दन लक्ष्मण ! तुम्हें मैंने यह ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यके सहित परमात्मरूप अपना मोक्षस्वरूप सुनाया। किन्तु जो लोग मेरी भक्तिसे विमुख हैं उनके लिये मैं इसे अत्यन्त दुर्लभ मानता हूँ ॥ ४४-४५ ॥

चक्षुष्मतामपि यथा रात्रौ सम्यङ् न दृश्यते ।
पदं दीपसमेतानां दृश्यते सम्यगेव हि ॥ ४६ ॥

एवं मद्भक्तियुक्तानामात्मा सम्यक् प्रकाशते ।
मद्भक्तेः कारणं किञ्चिद्वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः ॥ ४७ ॥

मद्भक्तसङ्गो मत्सेवा मद्भक्तानां निरन्तरम् ।
एकादश्युपवासादि मम पर्वानुमोदनम् ॥ ४८ ॥

मत्कथाश्रवणे पाठे व्याख्याने सर्वदा रतिः ।
मत्पूजापरिनिष्ठा च मम नामानुकीर्तनम् ॥ ४९ ॥

एवं सततयुक्तानां भक्तिरव्यभिचारिणी ।
मयि सञ्जायते नित्यं ततः किमवशिष्यते ॥ ५० ॥

अतो मद्भक्तियुक्तस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च ।
वैराग्यं च भवेच्छीघ्रं ततो मुक्तिमवाप्नुयात् ॥ ५१ ॥

कथितं सर्वमेतत्ते तव प्रश्नानुसारतः ।
अस्मिन्मनः समाधाय यस्तिष्ठेत्स तु मुक्तिभाक् ॥ ५२ ॥

न वक्तव्यमिदं यत्नान्मद्भक्तिविमुखाय हि ।
मद्भक्ताय प्रदातव्यमाहूयापि प्रयत्नतः ॥ ५३ ॥

य इदं तु पठेन्नित्यं श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
अज्ञानपटलध्वान्तं विधूय परिमुच्यते ॥ ५४ ॥

भक्तानां मम योगिनां सुविमल-
स्वान्तातिशान्तात्मनां
मत्सेवाभिरतात्मनां च विमल-
ज्ञानात्मनां सर्वदा ।
सङ्गं यः कुरुते सदोद्यतमति-
स्तत्सेवनानन्यधी-
र्मोक्षस्तस्य करे स्थितोऽहमनिशं
दृश्यो भवे नान्यथा ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार नेत्र होते हुए भी लोग रात्रिके समय (अन्धकारमें) चौर आदिका चिह्न (निशान) भली प्रकार नहीं देखते, दीपक होनेपर ही उस समय वह दिखायी देता है, उसी प्रकार मेरी भक्तिसे युक्त पुरुषोंको ही आत्माका सम्यक् साक्षात्कार होता है। अब मैं अपनी भक्तिके कुछ वास्तविक उपाय बताता हूँ, (सावधान होकर) सुनो ॥ ४६-४७ ॥

"मेरे भक्तका सङ्ग करना, निरन्तर मेरी और मेरे भक्तोंकी सेवा करना, एकादशी आदिका व्रत करना, मेरे पर्वदिनोंको मानना, ॥ ४८ ॥ मेरी कथाके सुनने, पढ़ने और उसकी व्याख्या करनेमें सदा प्रेम करना, मेरी पूजामें तत्पर रहना, मेरा नाम-कीर्तन करना" ॥ ४९ ॥ इस प्रकार जो निरन्तर मुझमें लगे रहते हैं उनकी मुझमें अविचल भक्ति अवश्य हो जाती है। फिर बाकी ही क्या रहता है? ॥ ५० ॥ अतः (यह निश्चित बात है कि) मेरी भक्तिसे युक्त पुरुषको ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य आदिकी शीघ्र प्राप्ति होती है और फिर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ५१ ॥

इस प्रकार मैंने तुम्हारे प्रश्नानुसार यह सम्पूर्ण (रहस्य) तुम्हें सुना दिया। जो व्यक्ति अपने चित्तको इसमें समाहित करके रहता है वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ५२ ॥ हे लक्ष्मण ! मेरी भक्तिसे विमुख पुरुषोंसे इसे सावधानता-पूर्वक न कहना चाहिये और मेरे भक्तोंको प्रयत्नपूर्वक बुलाकर भी यह रहस्य सुनाना चाहिये। ॥ ५३ ॥ जो पुरुष इसे श्रद्धा और भक्तिपूर्वक सदैव पढ़ेगा वह अज्ञानसमूहसे बने हुए अन्धकारको हटाकर मुक्त हो जायगा ॥ ५४ ॥ जो पुरुष मेरी सेवामें अनुरक्त-चित्त, निर्मल-हृदय, शान्तात्मा, विमलज्ञानसम्पन्न और मेरे परम भक्त योगिजनोंका संग, अनन्य बुद्धिसे सर्वदा उनकी सेवामें तत्पर रहकर करता है; मुक्ति उसके करतलगत रहती है और मैं सर्वदा उसकी दृष्टिके सम्मुख विराजमान रहता हूँ। इसके अतिरिक्त और किसी उपायसे मेरा दर्शन नहीं हो सकता ॥ ५५ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अरण्यकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चम सर्ग

शूर्पणखाको दण्ड, खर आदि राक्षसोंका वध और शूर्पणखाका रावणके पास जाना

श्रीमहादेव उवाच

तस्मिन् काले महारण्ये राक्षसी कामरूपिणी ।
विचचार महासत्त्वा जनस्थाननिवासिनी ॥ १ ॥

एकदा गौतमीतीरे पञ्चवट्याः समीपतः ।
पद्मवज्राङ्कुशाङ्कानि पदानि जगतीपतेः ॥ २ ॥

दृष्ट्वा कामपरीतात्मा पादसौन्दर्यमोहिता ।
पश्यन्ती सा शनैरायाद्राघवस्य निवेशनम् ॥ ३ ॥

तत्र सा तं रमानाथं सीतया सह संस्थितम् ।
कन्दर्पसदृशं रामं दृष्ट्वा कामविमोहिता ॥ ४ ॥

राक्षसी राघवं प्राह कस्य त्वं कः किमाश्रमे ।
युक्तो जटावल्कलाद्यैः साध्यं किं तेऽत्र मे वद ॥ ५ ॥

अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी ।
भगिनी राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

खरेण सहिता भ्रात्रा वसाम्यत्रैव कानने ।
राज्ञा दत्तं च मे सर्वं मुनिभक्षा वसाम्यहम् ॥ ७ ॥

त्वां तु वेदितुमिच्छामि वद मे वदतां वर ।
तामाह रामनामाहमयोध्याधिपतेः सुतः ॥ ८ ॥

एषा मे सुन्दरी भार्या सीता जनकनन्दिनी ।
स तु भ्राता कनीयान्मे लक्ष्मणोऽतीव सुन्दरः ॥ ९ ॥

किं कृत्यं ते मया ब्रूहि कार्यं भुवनसुन्दरि ।
इति रामवचः श्रुत्वा कामार्ता साब्रवीदिदम् ॥ १० ॥

एहि राम मया सार्धं रमस्व गिरिकानने ।
कामार्ताहं न शक्नोमि त्यक्तुं त्वां कमलेक्षणम् ॥ ११ ॥

रामः सीतां कटाक्षेण पश्यन् सस्मितमब्रवीत् ।
भार्या ममैषा कल्याणी विद्यते ह्यनपायिनी ॥ १२ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—(हे पार्वति !) उस समय उस घोर वनमें जनस्थानकी रहनेवाली एक महाबलवती इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी घूमा करती थी ॥ १ ॥ एक दिन पञ्चवटीके पास गौतमी नदीके तीरपर जगत्पति श्रीरामचन्द्रजीके पद्म, वज्र और अंकुशकी रेखाओंसे युक्त चरण-चिह्नोंको देखकर वह उनके सौन्दर्यसे मोहित होकर कामासक्त हुई उन्हें देखती-देखती धीरे-धीरे रघुनाथजीके आश्रममें चली आयी ॥ २-३ ॥ वहाँ आकर कामदेवके समान अति सुन्दर लक्ष्मीपति श्रीरामचन्द्रजीको सीताजीके साथ बैठे देखकर वह कामातुरा राक्षसी रघुनाथजीसे बोली—"तुम किसके (पुत्र) हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? इस आश्रममें जटा-वल्कलादि धारण कर क्यों रहते हो ? यहाँ रहकर तुम क्या प्राप्त करना चाहते हो ? सो मुझे बताओ ॥ ४-५ ॥ मैं राक्षसराज महात्मा रावणकी बहिन कामरूपिणी राक्षसी शूर्पणखा हूँ ॥ ६ ॥ मैं अपने भाई खरके साथ इसी वनमें रहती हूँ। राजाने मुझे इस सम्पूर्ण वनका अधिकार सौंप दिया है, (अतः) मैं मुनियोंको खाती हुई यहाँ रहती हूँ ॥ ७ ॥ हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! मैं तुम्हारे विषयमें जानना चाहती हूँ अतः तुम मुझे (अपना नाम-धाम आदि) बताओ। तब भगवान्‌ने उससे कहा—"मैं अयोध्याधिपति राजा दशरथका राम नामक पुत्र हूँ ॥ ८ ॥ यह सुन्दरी मेरी भार्या जनकनन्दिनी सीता है तथा वह अति सुन्दर कुमार मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है ॥ ९ ॥ हे त्रिभुवनसुन्दरि ! बताओ मैं तुम्हारा क्या कार्य करूँ ?" रामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर कामातुरा शूर्पणखा बोली— ॥ १० ॥ "राम ! चलो (किसी) गिरि-गुहामें चलकर मेरे साथ आनन्द करो। इस समय मैं कामातुरा हूँ, अतः आप कमलनयनको छोड़ नहीं सकती" ॥ ११ ॥

तब रामचन्द्रजीने नेत्रोंसे सीताजीकी ओर संकेत करके मुसकराकर कहा—"हे सुन्दरि ! मेरी तो यह भार्या मौजूद है, जिसको त्यागना असम्भव है ॥ १२ ॥ (इसके

त्वं तु सापत्न्यदुःखेन कथं स्थास्यसि सुन्दरि ।
बहिरास्ते मम भ्राता लक्ष्मणोऽतीव सुन्दरः ॥ १३ ॥

तवानुरूपो भविता पतिस्तेनैव सञ्चर ।
इत्युक्ता लक्ष्मणं प्राह पतिर्मे भव सुन्दर ॥ १४ ॥

भ्रातुराज्ञां पुरस्कृत्य सङ्गच्छावोऽद्य माचिरम् ।
इत्याह राक्षसी घोरा लक्ष्मणं काममोहिता ॥ १५ ॥

तामाह लक्ष्मणः साध्वि दासोऽहं तस्य धीमतः ।
दासी भविष्यसि त्वं तु ततो दुःखतरं नु किम् ॥ १६ ॥

तमेव गच्छ भद्रं ते स तु राजाखिलेश्वरः ।
तच्छ्रुत्वा पुनरप्यागाद्राघवं दुष्टमानसा ॥ १७ ॥

क्रोधाद्राम किमर्थं मां भ्रामयस्यनवस्थितः ।
इदानीमेव तां सीतां भक्षयामि तवाग्रतः ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा विकटाकारा जानकीमनुधावति ।
ततो रामाज्ञया खड्गमादाय परिगृह्य ताम् ॥ १९ ॥

चिच्छेद नासां कर्णौ च लक्ष्मणो लघुविक्रमः ।
ततो घोरध्वनिं कृत्वा रुधिराक्तवपुर्द्रुतम् ॥ २० ॥

क्रन्दमाना पपाताग्रे खरस्य परुषाक्षरा ।
किमेतदिति तामाह खरः खरतराक्षरः ॥ २१ ॥

केनैवं कारितासि त्वं मृत्योर्वक्त्रानुवर्तिना ।
वद मे तं वधिष्यामि कालकल्पमपि क्षणात् ॥ २२ ॥

तमाह राक्षसी रामः सीतालक्ष्मणसंयुतः ।
दण्डकं निर्भयं कुर्वन्नास्ते गोदावरीतटे ॥ २३ ॥

मामेवं कृतवांस्तस्य भ्राता तेनैव चोदितः ।
यदि त्वं कुलजातोऽसि वीरोऽसि जहि तौ रिपू ॥ २४ ॥

तयोस्तु रुधिरं पास्ये भक्षयैतौ सुदुर्मदौ ।
नो चेत्प्राणान्परित्यज्य यास्यामि यमसादनम् ॥ २५ ॥

रहते हुए) तुम जन्मभर सौतकी डाहसे जलती हुई किस प्रकार रह सकोगी ? बाहर मेरा अत्यन्त सुन्दर छोटा भाई लक्ष्मण विराजमान है ॥ १३ ॥ वह तुम्हारा योग्य पति होगा, तुम उसीके साथ (वन-पर्वतादिमें) विहार करो।'' रामचन्द्रजीके इस प्रकार कहनेपर कामसे मोहिता भयङ्करी शूर्पणखाने लक्ष्मणजीसे (जाकर) कहा—''हे सुन्दर ! अपने भाईकी आज्ञा मानकर तुम मेरे पति हो जाओ। आज हम और तुम परस्पर संगमन करें, देरी न करो'' ॥ १४-१५ ॥

(उस राक्षसीने जब लक्ष्मणजीसे इस प्रकार कहा तो) वे उससे बोले, ''साध्वि ! मैं तो उन बुद्धिमान् (भगवान्) रामका दास हूँ। मुझे अपना पति बनानेसे तुम्हें भी उनकी दासी बनना पड़ेगा। तुम्हारे लिये इससे अधिक दुःखकी और क्या बात होगी ? ॥ १६ ॥ तुम्हारा कल्याण हो, तुम उन्हींके पास जाओ, वे महाराज सबके स्वामी हैं।'' यह सुनकर वह दुष्टचित्ता राक्षसी फिर रघुनाथजीके पास आयी ॥ १७ ॥ और क्रोधपूर्वक बोली—''हे राम ! तुम बड़े चञ्चलचित्त हो, मुझे क्यों इधर-उधर घुमा रहे हो ? मैं अभी तुम्हारे सामने ही इस सीताको खाये जाती हूँ।'' ॥ १८ ॥

ऐसा कह वह विकट रूप धारण कर जानकीजीकी ओर दौड़ी। तब लक्ष्मणजीने रामचन्द्रजीकी आज्ञासे उसे पकड़कर बड़ी फुर्तीसे खड्ग लेकर उसके नाक-कान काट डाले। तदनन्तर वह घोर शब्द करती हुई रुधिरमें लथपथ हो बड़ी शीघ्रतासे जाकर रोती और कठोर शब्द करती खरके सामने गिर पड़ी। उसे देखकर तीक्ष्ण ध्वनिवाले खरने कहा—''यह क्या बात है ॥ १९—२१ ॥ अरी ! मृत्युके मुखमें जानेवाले किस दुष्टने तेरी यह दशा की है ? तू बतला तो सही, वह कालके समान भी बली क्यों न हो, मैं उसे क्षणभरमें ही मार डालूँगा'' ॥ २२ ॥

तब राक्षसी शूर्पणखाने उससे कहा—''यहाँ सीता और लक्ष्मणके सहित राम दण्डकारण्यको निर्भय करता हुआ गोदावरीके तटपर रहता है ॥ २३ ॥ उसीकी प्रेरणासे उसके भाई लक्ष्मणने मेरी यह गति की है। यदि तुम बड़े कुलीन और वीर हो तो उन दोनों शत्रुओंको मार डालो ॥ २४ ॥ तुम उन दोनों मदोन्मत्तोंको खा जाओ और मैं उन दोनोंका रुधिर पीऊँगी। नहीं तो अपने प्राणोंको छोड़कर यमलोकको चली जाऊँगी'' ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा त्वरितं प्रागात्खरः क्रोधेन मूर्च्छितः ।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ २६ ॥

चोदयामास रामस्य समीपं वधकाङ्क्षया ।
खरश्च त्रिशिराश्चैव दूषणश्चैव राक्षसः ॥ २७ ॥

सर्वे रामं ययुः शीघ्रं नानाप्रहरणोद्यताः ।
श्रुत्वा कोलाहलं तेषां रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ २८ ॥

श्रूयते विपुलः शब्दो नूनमायान्ति राक्षसाः ।
भविष्यति महद्युद्धं नूनमद्य मया सह ॥ २९ ॥

सीतां नीत्वा गुहां गत्वा तत्र तिष्ठ महाबल ।
हन्तुमिच्छाम्यहं सर्वान् राक्षसान् घोररूपिणः ॥ ३० ॥

अत्र किञ्चिन्न वक्तव्यं शापितोऽसि ममोपरि ।
तथेति सीतामादाय लक्ष्मणो गह्वरं ययौ ॥ ३१ ॥

रामः परिकरं बद्ध्वा धनुरादाय निष्ठुरम् ।
तूणीरावक्षयशरौ बद्ध्वायत्तोऽभवत्प्रभुः ॥ ३२ ॥

तत आगत्य रक्षांसि रामस्योपरि चिक्षिपुः ।
आयुधानि विचित्राणि पाषाणान्पादपानपि ॥ ३३ ॥

तानि चिच्छेद रामोऽपि लीलया तिलशः क्षणात् ।
ततो बाणसहस्रेण हत्वा तान् सर्वरक्षसान् ॥ ३४ ॥

खरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम् ।
जघान प्रहरार्धेन सर्वानेव रघूत्तमः ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणोऽपि गुहामध्यात्सीतामादाय राघवे ।
समर्प्य राक्षसान्दृष्ट्वा हतान्विस्मयमाययौ ॥ ३६ ॥

सीता रामं समालिङ्ग्य प्रसन्नमुखपङ्कजा ।
शस्त्रव्रणानि चाङ्गेषु ममार्ज जनकात्मजा ॥ ३७ ॥

सापि दुद्राव दृष्ट्वा तान्हतान् राक्षसपुङ्गवान् ।
लङ्कां गत्वा सभामध्ये क्रोशन्ती पादसन्निधौ ॥ ३८ ॥

रावणस्य पपातोर्व्यां भगिनी तस्य रक्षसः ।
दृष्ट्वा तां रावणः प्राह भगिनीं भयविह्वलाम् ॥ ३९ ॥

शूर्पणखाका यह कथन सुनकर खर क्रोधसे परिपूर्ण हो तुरंत (युद्धके लिये) चला और रामको मारनेके लिये उसने बड़े पराक्रमी चौदह सहस्र राक्षस उनके पास भेजे। खर, दूषण और त्रिशिरा—ये सभी नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर रामके पास आये। उनका कोलाहल सुन श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे कहा— ॥ २६—२८ ॥ (''लक्ष्मण ! देखो) बड़ा कोलाहल सुनायी पड़ रहा है, मालूम होता है निश्चय ही राक्षसगण आ रहे हैं; अवश्य ही आज मेरे साथ उनका घोर युद्ध होगा ॥ २९ ॥ अतः हे महाबल ! तुम सीताको लेकर किसी पर्वतकी कन्दरामें चले जाओ। आज मैं इन समस्त घोररूप राक्षसोंका वध करना चाहता हूँ ॥ ३० ॥ तुम्हें मेरी सौगन्द है, इस विषयमें तुम और कुछ न कहना।'' तब लक्ष्मणजी 'जो आज्ञा' कह सीताजीको लेकर एक गिरिगुहामें चले गये ॥ ३१ ॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने अपनी कमर कसी और कठोर धनुष तथा दो अक्षयबाणवाले तरकस बाँधकर युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ ३२ ॥ तदनन्तर राक्षसगण वहाँ आकर रामके ऊपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र, पत्थर और वृक्षादिकी वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥ श्रीरामचन्द्रजीने एक क्षणमात्रमें लीलासे ही उन अस्त्र-शस्त्रादिको तिल-तिल करके काट डाला। फिर सहस्रों बाणोंसे उन सम्पूर्ण राक्षसोंको मारकर खर, दूषण और त्रिशिराको भी मार डाला। इस प्रकार रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने आधे पहरमें ही उन समस्त राक्षसोंका संहार कर दिया ॥ ३४-३५ ॥

तब लक्ष्मणजीने गुहामेंसे सीताजीको लाकर श्रीरघुनाथजीको सौंप दिया। उस समय सम्पूर्ण राक्षसोंको मरे हुए देख वे बड़े विस्मित हुए ॥ ३६ ॥ जनकनन्दिनी श्रीसीताजीने प्रसन्नमुखसे श्रीरामचन्द्रजीका आलिङ्गन किया और उनके शरीरमें हुए शस्त्रके घावोंपर हाथ फेरने लगीं ॥ ३७ ॥

उन सम्पूर्ण श्रेष्ठ राक्षसोंको मरे देख राक्षसराज रावणकी बहिन शूर्पणखा दौड़ती हुई लंकामें पहुँची और राजसभामें पहुँचकर रोती हुई रावणके पैरोंके समीप पृथ्वीपर गिर पड़ी। अपनी बहिनको इस प्रकार भयभीत देखकर रावण बोला— ॥ ३८-३९ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वत्से त्वं विरूपकरणं तव।
कृतं शक्रेण वा भद्रे यमेन वरुणेन वा ॥ ४० ॥

कुबेरेणाथवा ब्रूहि भस्मीकुर्यां क्षणेन तम्।
राक्षसी तमुवाचेदं त्वं प्रमत्तो विमूढधीः ॥ ४१ ॥

पानासक्तः स्त्रीविजितः षण्ढः सर्वत्र लक्ष्यसे।
चारचक्षुर्विहीनस्त्वं कथं राजा भविष्यसि ॥ ४२ ॥

खरश्च निहतः सङ्ख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा।
चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां महात्मनाम् ॥ ४३ ॥

निहतानि क्षणेनैव रामेणासुरशत्रुणा।
जनस्थानमशेषेण मुनीनां निर्भयं कृतम्।
न जानासि विमूढस्त्वमत एव मयोच्यते ॥ ४४ ॥

रावण उवाच

को वा रामः किमर्थं वा कथं तेनासुरा हताः।
सम्यक्कथय मे तेषां मूलघातं करोम्यहम् ॥ ४५ ॥

शूर्पणखोवाच

जनस्थानादहं याता कदाचिद्गौतमीतटे।
तत्र पञ्चवटी नाम पुरा मुनिजनाश्रया ॥ ४६ ॥

तत्राश्रमे मया दृष्टो रामो राजीवलोचनः।
धनुर्बाणधरः श्रीमान् जटावल्कलमण्डितः ॥ ४७ ॥

कनीयाननुजस्तस्य लक्ष्मणोऽपि तथाविधः।
तस्य भार्या विशालाक्षी रूपिणी श्रीरिवापरा ॥ ४८ ॥

देवगन्धर्वनागानां मनुष्याणां तथाविधा।
न दृष्टा न श्रुता राजन्द्योतयन्ती वनं शुभा ॥ ४९ ॥

आनेतुमहमुद्युक्ता तां भार्यार्थं तवानघ।
लक्ष्मणो नाम तद्भ्राता चिच्छेद मम नासिकाम् ॥ ५० ॥

कर्णौ च नोदितस्तेन रामेण स महाबलः।
ततोऽहमतिदुःखेन रुदती खरमन्वगाम् ॥ ५१ ॥

"अरी वत्से! उठ, खड़ी हो। बता तो सही तुझे किसने विरूपा किया है? हे भद्रे! यह इन्द्रका काम है, अथवा यम, वरुण और कुबेरमेंसे किसीने किया है? बता, एक क्षणमें ही मैं उसे भस्म कर डालूँगा।"

तब राक्षसी शूर्पणखाने उससे कहा—"तुम बड़े ही प्रमादी और मूढ़बुद्धि हो ॥ ४०-४१ ॥ तुम मद्यपानमें आसक्त, स्त्रीके वशीभूत और सब विषयोंमें नपुंसक-जैसे दिखायी पड़ते हो। तुम्हारे चार (खुफिया पुलिस) रूप नेत्र नहीं है; फिर तुम राजा कैसे रह सकोगे? ॥ ४२ ॥ युद्धमें खर मारा गया तथा दूषण और त्रिशिरा आदि चौदह सहस्र मुख्य-मुख्य राक्षसोंको राक्षसशत्रु रामने एक क्षणमें ही मार डाला और सारे जनस्थानको मुनीश्वरोंके लिये सर्वथा निर्भय कर दिया। इतना उत्पात हो जानेपर भी तुम्हें अभीतक कुछ पता ही नहीं है इसीलिये मैं कहती हूँ कि तुम मूढ़ हो" ॥ ४३-४४ ॥

रावण बोला—अरी! तू बता तो, वह राम कौन है? उसने किसलिये और किस प्रकार इन राक्षसोंको मारा? तू सब बात विस्तारपूर्वक कह, मैं उसका मूलोच्छेद कर डालूँगा ॥ ४५ ॥

शूर्पणखा बोली—एक दिन जनस्थानसे मैं गौतमीके किनारे जा रही थी, वहाँ पूर्वकालमें मुनिजनोंसे सेवित एक पञ्चवटी नामक आश्रम है ॥ ४६ ॥ उस आश्रममें मैंने जटा-वल्कलादिसे सुशोभित धनुर्बाणधारी कमलनयन शोभाधाम रामको देखा ॥ ४७ ॥ उसका छोटा भाई लक्ष्मण भी उसीके समान रूपवान् है तथा उसकी विशाललोचना भार्या भी रूपमें साक्षात् दूसरी लक्ष्मी-जैसी ही है ॥ ४८ ॥ हे राजन्! देव, गन्धर्व, नाग और मनुष्य आदिमेंसे किसीकी भी स्त्री ऐसी रूपवती न देखी है और न सुनी है। वह शुभलक्षणा अपनी कान्तिसे सम्पूर्ण वनको प्रकाशित कर रही थी ॥ ४९ ॥ हे अनघ! उसे तुम्हारी पत्नी बनानेके लिये मैंने लानेका प्रयत्न किया था, इसीसे रामके भाई लक्ष्मणने मेरी नाक काट डाली ॥ ५० ॥ फिर रामकी प्रेरणासे महाबली लक्ष्मणने मेरे कान भी काट लिये। तब मैं अत्यन्त दुःखसे रोती हुई खरके पास गयी ॥ ५१ ॥

सोऽपि रामं समासाद्य युद्धं राक्षसयूथपैः ।
ततः क्षणेन रामेण तेनैव बलशालिना ॥ ५२ ॥

सर्वे तेन विनष्टा वै राक्षसा भीमविक्रमाः ।
यदि रामो मनः कुर्यात्त्रैलोक्यं निमिषार्धतः ॥ ५३ ॥

भस्मीकुर्यान्न सन्देह इति भाति मम प्रभो ।
यदि सा तव भार्या स्यात्सफलं तव जीवितम् ॥ ५४ ॥

अतो यतस्व राजेन्द्र यथा ते वल्लभा भवेत् ।
सीता राजीवपत्राक्षी सर्वलोकैकसुन्दरी ॥ ५५ ॥

साक्षाद्रामस्य पुरतः स्थातुं त्वं न क्षमः प्रभो ।
मायया मोहयित्वा तु प्राप्स्यसे तां रघूत्तमम् ॥ ५६ ॥

श्रुत्वा तत्सूक्तवाक्यैश्च दानमानादिभिस्तथा ।
आश्वास्य भगिनीं राजा प्रविवेश स्वकं गृहम् ।
तत्र चिन्तापरो भूत्वा निद्रां रात्रौ न लब्धवान् ॥ ५७ ॥

एकेन रामेण कथं मनुष्य-
मात्रेण नष्टः सबलः खरो मे ।
भ्राता कथं मे बलवीर्यदर्प-
युतो विनष्टो बत राघवेण ॥ ५८ ॥

यद्वा न रामो मनुजः परेशो
मां हन्तुकामः सबलं बलौघैः ।
सम्प्रार्थितोऽयं द्रुहिणेन पूर्वं
मनुष्यरूपोऽद्य रघोः कुलेऽभूत् ॥ ५९ ॥

वध्यो यदि स्यां परमात्मनाहं
वैकुण्ठराज्यं परिपालयेऽहम् ।
नो चेदिदं राक्षसराज्यमेव
भोक्ष्ये चिरं राममतो व्रजामि ॥ ६० ॥

इत्थं विचिन्त्याखिलराक्षसेन्द्रो
रामं विदित्वा परमेश्वरं हरिम् ।
विरोधबुद्ध्यैव हरिं प्रयामि
द्रुतं न भक्त्या भगवान्प्रसीदेत् ॥ ६१ ॥

उसने भी अपने राक्षस-सेनापतियोंके साथ तुरंत जाकर रामसे युद्ध ठाना; किन्तु उस बलशाली रामने एक क्षणमें ही वे समस्त भीमविक्रम राक्षस नष्ट कर दिये। हे प्रभो ! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यदि रामके मनमें आ जाय तो वह निस्सन्देह आधे निमेषमें ही सम्पूर्ण त्रिलोकीको भस्म कर सकता है। किन्तु यदि उसकी स्त्री सीता तुम्हारी भार्या हो जाय तो तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा ॥ ५२—५४ ॥ अतः हे राजेन्द्र ! तुम ऐसा प्रयत्न करो जिससे सम्पूर्ण लोकोंमें एकमात्र सुन्दरी कमलनयनी सीता तुम्हारी प्राणप्रिया हो जाय ॥ ५५ ॥ हे प्रभो ! तुम रामके सामने साक्षात् न ठहर सकोगे, इसलिये उन रघुश्रेष्ठको किसी प्रकार मायाजालसे मोहित कर तुम उसे प्राप्त कर सकते हो ॥ ५६ ॥

यह सुनकर राक्षसराज रावणने सुन्दर वाक्यों और दान-मानादिसे बहिन शूर्पणखाको धैर्य बँधाकर अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया, किन्तु वहाँ चिन्ताके कारण उसे रात्रिको नींद नहीं आयी ॥ ५७ ॥ (वह सोचने लगा—) ('बड़े आश्चर्यकी बात है,) अकेले मनुष्यमात्र रघुवंशी रामने बल-वीर्य और साहससम्पन्न मेरे भाई खरको सेनाके सहित कैसे मार डाला ? ॥ ५८ ॥ अथवा यह राम मनुष्य नहीं है, साक्षात् परमात्माने ही पूर्वकालमें की हुई ब्रह्माकी प्रार्थनासे मेरी सेनाके सहित मुझे वानरसेनाओंसे मारनेके लिये इस समय रघुवंशमें मनुष्यरूपसे अवतार लिया है ॥ ५९ ॥ यदि परमात्माद्वारा मैं मारा गया तब तो मैं वैकुण्ठका राज्य भोगूँगा, नहीं तो चिरकालपर्यन्त राक्षसोंका राज्य तो भोगूँगा ही।' इसलिये मैं (अवश्य) रामके पास चलूँगा ॥ ६० ॥

सम्पूर्ण राक्षसोंके स्वामी रावणने इस प्रकार विचारकर भगवान् रामको साक्षात् परमात्मा हरि जानकर (यह निश्चय किया कि) मैं विरोध-बुद्धिसे ही भगवान्के पास जाऊँगा (क्योंकि) भक्तिके द्वारा भगवान् शीघ्र प्रसन्न नहीं हो सकते ॥ ६१ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अरण्यकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठ सर्ग

रावणका मारीचके पास जाना

श्रीमहादेव उवाच

विचिन्त्यैवं निशायां स प्रभाते रथमास्थितः।
रावणो मनसा कार्यमेकं निश्चित्य बुद्धिमान्॥ १॥

ययौ मारीचसदनं परं पारमुदन्वतः।
मारीचस्तत्र मुनिवज्जटावल्कलधारकः॥ २॥

ध्यायन् हृदि परात्मानं निर्गुणं गुणभासकम्।
समाधिविरमेऽपश्यद्रावणं गृहमागतम्॥ ३॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! रात्रिके समय इस प्रकार विचारकर प्रातःकाल होनेपर बुद्धिमान् रावण रथमें सवार हुआ और अपने मन-ही-मन एक कार्य निश्चय कर वह समुद्रके दूसरे तटपर मारीचके घर गया। वहाँ मारीच मुनियोंके समान जटा-वल्कलादि धारणकर प्राकृत गुणोंके प्रकाशक निर्गुण भगवान्‌का ध्यान कर रहा था। समाधि भंग होनेपर उसने रावणको अपने घर आया देखा॥ १—३॥

द्रुतमुत्थाय चालिङ्ग्य पूजयित्वा यथाविधि।
कृतातिथ्यं सुखासीनं मारीचो वाक्यमब्रवीत्॥ ४॥

समागमनमेतत्ते रथेनैकेन रावण।
चिन्तापर इवाभासि हृदि कार्यं विचिन्तयन्॥ ५॥

ब्रूहि मे न हि गोप्यं चेत्करवाणि तव प्रियम्।
न्याय्यं चेद् ब्रूहि राजेन्द्र वृजिनं मां स्पृशेन्न हि॥ ६॥

रावणको देखते ही वह शीघ्रतासे उठ खड़ा हुआ और उससे गले मिलकर उसकी विधिपूर्वक पूजा की तथा आतिथ्य-सत्कारके अनन्तर जब रावण स्वस्थ होकर बैठा तो मारीच उससे बोला—॥ ४॥ "हे रावण! इस समय तुम एक ही रथके साथ आये हो और तुम्हारा चित्त किसी कार्यके विचारमें चिन्ताग्रस्त-सा प्रतीत होता है॥ ५॥ यदि गोपनीय न हो तो मुझे वह कार्य बताओ। हे राजेन्द्र! यदि उसके करनेमें मुझे पाप न लगे और वह न्यायानुकूल हो तो कहो, मैं तुम्हारा वह प्रिय कार्य अवश्य करूँगा"॥ ६॥

रावण उवाच

अस्ति राजा दशरथः साकेताधिपतिः किल।
रामनामा सुतस्तस्य ज्येष्ठः सत्यपराक्रमः॥ ७॥

विवासयामास सुतं वनं वनजनप्रियम्।
भार्यया सहितं भ्रात्रा लक्ष्मणेन समन्वितम्॥ ८॥

स आस्ते विपिने घोरे पञ्चवट्याश्रमे शुभे।
तस्य भार्या विशालाक्षी सीता लोकविमोहिनी॥ ९॥

रामो निरपराधान्मे राक्षसान् भीमविक्रमान्।
खरं च हत्वा विपिने सुखमास्तेऽतिनिर्भयः॥ १०॥

भगिन्याः शूर्पणखाया निर्दोषायाश्च नासिकाम्।
कर्णौ चिच्छेद दुष्टात्मा वने तिष्ठति निर्भयः॥ ११॥

अतस्त्वया सहायेन गत्वा तत्प्राणवल्लभाम्।
आनयिष्यामि विपिने रहिते राघवेण ताम्॥ १२॥

रावण बोला—कहते हैं—राजा दशरथ अयोध्यापुरीका अधिपति है, उसका ज्येष्ठ पुत्र सत्यपराक्रमी राम है॥ ७॥ उस अपने मुनिजनप्रिय पुत्रको दशरथने स्त्री और छोटे भाई लक्ष्मणके सहित वनमें भेज दिया है॥ ८॥ इस समय वह घोर दण्डकारण्यके पञ्चवटी नामक शुभ आश्रममें रहता है। (सुना है,) उसकी भार्या विशालनयना सीता त्रिलोकीको मोहित करनेवाली है॥ ९॥ वह राम, मेरे बड़े पराक्रमी निरपराध राक्षसोंको भाई खरके सहित मारकर उस तपोवनमें निर्भयतापूर्वक बड़े आनन्दसे रहता है॥ १०॥ मेरी बहिन शूर्पणखाने उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ा था; किन्तु उस दुष्टने उसके नाक-कान काट डाले और अब निर्भयतापूर्वक उस वनमें रहता है॥ ११॥ इसलिये अब तुम्हारी सहायतासे मैं रामके तपोवनमें न रहनेपर उसकी प्राणप्रिया सीताको ले

त्वं तु मायामृगो भूत्वा ह्याश्रमादपनेष्यसि ।
रामं च लक्ष्मणं चैव तदा सीतां हराम्यहम् ॥ १३ ॥

त्वं तु तावत्सहायं मे कृत्वा स्थास्यसि पूर्ववत् ।
इत्येवं भाषमाणं तं रावणं वीक्ष्य विस्मितः ॥ १४ ॥

केनेदमुपदिष्टं ते मूलघातकरं वचः ।
स एव शत्रुर्वध्यश्च यस्त्वन्नाशं प्रतीक्षते ॥ १५ ॥

रामस्य पौरुषं स्मृत्वा चित्तमद्यापि रावण ।
बालोऽपि मां कौशिकस्य यज्ञसंरक्षणाय सः ॥ १६ ॥

आगतस्त्विषुणैकेन पातयामास सागरे ।
योजनानां शतं रामस्तदादि भयविह्वलः ॥ १७ ॥

स्मृत्वा स्मृत्वा तदेवाहं रामं पश्यामि सर्वतः ॥ १८ ॥

दण्डकेऽपि पुनरप्यहं वने
पूर्ववैरमनुचिन्तयन् हृदि ।
तीक्ष्णशृङ्गमृगरूपमेकदा
मादृशैर्बहुभिरावृतोऽभ्ययाम् ॥ १९ ॥

राघवं जनकजासमन्वितं
लक्ष्मणेन सहितं त्वरान्वितः ।
आगतोऽहमथ हन्तुमुद्यतो
मां विलोक्य शरमेकमक्षिपत् ॥ २० ॥

तेन विद्धहृदयोऽहमुद्भ्रमन्
राक्षसेन्द्र पतितोऽस्मि सागरे ।
तत्रभृत्यहमिदं समाश्रितः
स्थानमूर्जितमिदं भयार्दितः ॥ २१ ॥

राममेव सततं विभावये
भीतभीत इव भोगराशितः ।
राजरत्नरमणीरथादिकं
श्रोत्रयोर्यदि गतं भयं भवेत् ॥ २२ ॥

राम आगत इहेति शङ्कया
बाह्यकार्यमपि सर्वमत्यजम् ।
निद्रया परिवृतो यदा स्वपे
राममेव मनसानुचिन्तयन् ॥ २३ ॥

आना चाहता हूँ ॥ १२ ॥ तुम मायासे मृगरूप होकर राम और लक्ष्मणको आश्रमसे दूर ले जाना। उसी समय मैं सीताको हर लाऊँगा ॥ १३ ॥ इस प्रकार मेरी सहायता करके तुम फिर पूर्ववत् अपने आश्रममें आ रहना।

रावणको इस प्रकार कहते देख मारीचने विस्मित होकर कहा— ॥ १४ ॥ "रावण! ये सर्वनाश करनेवाली बातें तुम्हें किसने बतायी हैं? इस प्रकार जो कोई तुम्हारा नाश करना चाहता है, निश्चय ही वह तुम्हारा शत्रु है और वध करने योग्य है ॥ १५ ॥ हे रावण! उनके बाल्यकालके पौरुषको याद करके, जब वे विश्वामित्रजीकी यज्ञ-रक्षाके लिये आये थे और उन्होंने एक बाणसे ही मुझे सौ योजन दूर समुद्रके तटपर फेंक दिया था, तबसे मैं भयसे व्याकुल हो जाता हूँ। बारम्बार उसी बातका स्मरण हो आनेसे मुझे सब ओर राम-ही-राम दिखलायी देने लगते हैं ॥ १६—१८ ॥ एक दिन अपने पूर्व-वैरका स्मरण कर मैं दण्डकारण्यमें भी अपने-जैसे बहुत-से मृगोंके साथ मिलकर एक तीखे सींगोंवाले मृगका रूप बनाकर गया था ॥ १९ ॥ जब मैं बड़ी फुर्तीसे सीता और लक्ष्मणके सहित श्रीरघुनाथजीको मारनेकी इच्छासे आगे बढ़ा तो मुझे देखकर उन्होंने केवल एक बाण छोड़ दिया ॥ २० ॥ हे राक्षसेन्द्र! उसीसे हृदय बिंध जानेके कारण मैं आकाशमें चक्कर काटता हुआ समुद्रमें आकर गिरा। तबसे मैं भयभीत होकर इस निर्भय स्थानमें रहता हूँ ॥ २१ ॥ राज, रत्न, रमणी और रथ आदि (भोग-सामग्रियोंके प्रथम अक्षर 'र') के कानोंमें पड़ते ही मुझे (रामकी याद आ जानेसे) भय उत्पन्न हो जाता हैं, इसलिये मैं भोग-समुदायसे भयभीत होकर निरन्तर 'राम' का ही ध्यान करता रहता हूँ ॥ २२ ॥ 'यहाँ राम न आ गये हों' इस आशंकासे मैंने समस्त बाह्य कार्य छोड़ दिये हैं। जिस समय मैं निद्राके वशीभूत होकर सोता हूँ उस समय मन-ही-मन रामका ही स्मरण करता रहता हूँ ॥ २३ ॥

स्वप्नदृष्टिगतराघवं तदा
बोधितो विगतनिद्र आस्थितः ।
तद्भवानपि विमुच्य चाग्रहं
राघवं प्रति गृहं प्रयाहि भोः ॥ २४ ॥
रक्ष राक्षसकुलं चिरागतं
तत्स्मृतौ सकलमेव नश्यति ।
तव हितं वदतो मम भाषितं
परिगृहाण परात्मनि राघवे ॥ २५ ॥
त्यज विरोधमतिं भज भक्तितः
परमकारुणिको रघुनन्दनः ।
अहमशेषमिदं मुनिवाक्यतोऽ-
श्रृणवमादियुगे परमेश्वरः ॥ २६ ॥
ब्रह्मणार्थित उवाच तं हरिः
किं तवेप्सितमहं करवाणि तत् ।
ब्रह्मणोक्तमरविन्दलोचन
त्वं प्रयाहि भुवि मानुषं वपुः ।
दशरथात्मजभावमञ्जसा
जहि रिपुं दशकन्धरं हरे ॥ २७ ॥
अतो न मानुषो रामः साक्षान्नारायणोऽव्ययः ।
मायामानुषवेषेण वनं यातोऽतिनिर्भयः ॥ २८ ॥
भूभारहरणार्थाय गच्छ तात गृहं सुखम् ।
श्रुत्वा मारीचवचनं रावणः प्रत्यभाषत ॥ २९ ॥
परमात्मा यदा रामः प्रार्थितो ब्रह्मणा किल ।
मां हन्तुं मानुषो भूत्वा यत्नादिह समागतः ॥ ३० ॥
करिष्यत्यचिरादेव सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।
अतोऽहं यत्नतः सीतामानेष्याम्येव राघवात् ॥ ३१ ॥
वधे प्राप्ते रणे वीर प्राप्स्यामि परमं पदम् ।
यद्वा रामं रणे हत्वा सीतां प्राप्स्यामि निर्भयः ॥ ३२ ॥
तदुत्तिष्ठ महाभाग विचित्रमृगरूपधृक् ।
रामं सलक्ष्मणं शीघ्रमाश्रमादतिदूरतः ॥ ३३ ॥
आक्रम्य गच्छ त्वं शीघ्रं सुखं तिष्ठ यथा पुरा ।
अतः परं चेद्यत्किञ्चिद्भाषसे मद्विभीषणम् ॥ ३४ ॥
हनिष्याम्यसिनानेन त्वामत्रैव न संशयः ।

इस प्रकार स्वप्नमें देखे हुए श्रीरघुनाथजीको जब निद्रा टूटनेपर जागता हूँ तब भी नहीं भूलता । अतः हे रावण ! तुम भी श्रीराघवसे हठ छोड़कर अपने घर चले जाओ ॥ २४ ॥ और चिरकालसे चले हुए अपने राक्षस-वंशकी रक्षा करो । (श्रीरामचन्द्रजीसे वैर न करो,) उनका तो (वैरभावसे) स्मरण करनेसे भी सर्वस्व नष्ट हो जाता है । मैं तुम्हारे हितके लिये जो कुछ कहता हूँ वह मानो । तुम परमात्मा श्रीरघुनाथजीसे विरोध-बुद्धि छोड़ दो और भक्तिभावसे उनका भजन करो, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी बड़े दयालु हैं । मैंने मुनीश्वरोंके मुखसे ये सभी बातें सुनी हैं कि सत्ययुगमें ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर परमात्मा श्रीहरिने कहा था कि तुम अपना मनोरथ बताओ, मैं उसे पूर्ण करूँगा । तब ब्रह्माजीने भगवान्‌से कहा—'हे कमललोचन हरे ! आप मनुष्यरूपसे पृथिवीमें अवतार लीजिये और शीघ्र ही दशरथनन्दन श्रीराम होकर देवद्रोही दशाननका वध कीजिये' ॥ २५—२७ ॥ अतः तुम निश्चय मानो, राम मनुष्य नहीं हैं; वे साक्षात् अव्ययपुरुष श्रीनारायण हैं, मायासे मनुष्यरूप होकर वे निर्भयतापूर्वक पृथिवीका भार उतारनेके लिये वनमें आये हैं । अतः हे तात ! तुम सुखपूर्वक घर लौट जाओ ।''

मारीचके ये वचन सुनकर रावण बोला—॥ २८-२९ ॥ ''यदि ब्रह्माकी प्रार्थनासे परमात्मा ही राम होकर मनुष्यरूपसे मुझे मारनेके लिये प्रयत्नपूर्वक यहाँ आये हैं, तो वे शीघ्र ही अवश्य वैसा ही करेंगे, क्योंकि ईश्वर सत्य-संकल्प हैं । इसलिये मैं अवश्य यत्नपूर्वक रघुनाथजीके पाससे सीताको ले आऊँगा ॥ ३०-३१ ॥ हे वीर ! यदि मैं युद्धमें उनके हाथसे मारा गया तो परमपद प्राप्त करूँगा और यदि मैंने ही रामको रणक्षेत्रमें मार डाला तो निर्भयतापूर्वक सीताको पाऊँगा ॥ ३२ ॥ अतः हे महाभाग ! उठो और शीघ्र ही विचित्र मृगरूप धारण कर राम और लक्ष्मणको आश्रमसे अति दूर ले जाओ, फिर पूर्ववत् अपने आश्रममें आकर सुखपूर्वक रहो । यदि मुझे भयभीत करनेके लिये अब और कुछ कहोगे तो निश्चय मानो, मैं अभी इसी खड्गसे तुम्हें यहीं मार डालूँगा ।''

मारीचस्तद्वचः श्रुत्वा स्वात्मन्येवान्वचिन्तयत् ॥ ३५ ॥

उसका यह कथन सुनकर मारीचने मन-ही-मन सोचा— ॥ ३३—३५ ॥

यदि मां राघवो हन्यात्तदा मुक्तो भवार्णवात् ।
मां हन्याद्यदि चेद्दुष्टस्तदा मे निरयो ध्रुवम् ॥ ३६ ॥

'यदि श्रीरघुनाथजीने मुझे मारा तो मैं संसार-सागरसे पार हो जाऊँगा और जो कहीं इस दुष्टने मुझे मार डाला तो निश्चय ही मुझे नरकमें पड़ना होगा' ॥ ३६ ॥

इति निश्चित्य मरणं रामादुत्थाय वेगतः ।
अब्रवीद्रावणं राजन्करोम्याज्ञां तव प्रभो ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीरामके हाथसे ही अपना मरना निश्चय कर वह शीघ्रतासे उठा और रावणसे बोला—"हे राजन् ! हे प्रभो ! मैं आपकी आज्ञा पालन करूँगा" ॥ ३७ ॥

इत्युक्त्वा रथमास्थाय गतो रामाश्रमं प्रति ।
शुद्धजाम्बूनदप्रख्यो मृगोऽभूद्रौप्यबिन्दुकः ॥ ३८ ॥

ऐसा कह वह (रावणके) रथपर चढ़कर श्रीरामचन्द्रके आश्रममें आया और चाँदीकी बूँदोंके सहित शुद्धसुवर्ण-वर्ण विचित्र मृग-रूप धारण किया ॥ ३८ ॥

रत्नशृङ्गो मणिखुरो नीलरत्नविलोचनः ।
विद्युत्प्रभो विमुग्धास्यो विचचार वनान्तरे ॥ ३९ ॥

रामाश्रमपदस्यान्ते सीतादृष्टिपथे चरन् ॥ ४० ॥

उसके सींग रत्नमय, खुर मणिमय और नेत्र नीलरत्नमय थे। इस प्रकार बिजलीकी-सी छटा और मनोहर मुखवाला वह मृग रामचन्द्रजीके आश्रमके पास सीताजीके सामने वनमें विचरने लगा ॥ ३९-४० ॥

क्षणं च धावत्यवतिष्ठते क्षणं
समीपमागत्य पुनर्भयावृतः ।
एवं स मायामृगवेषरूपधृक्
चचार सीतां परिमोहयन्खलः ॥ ४१ ॥

किसी क्षण तो वह चौकड़ी मारने लगता और कभी पास आकर ठिठक जाता, फिर भयसे (भागने लगता) । इस प्रकार वह वञ्चक मायामृग-रूप धारणकर सीताजीको मोहित करता हुआ विचरने लगा ॥ ४१ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अरण्यकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तम सर्ग

मारीचवध और सीताहरण

श्रीमहादेव उवाच

अथ रामोऽपि तत्सर्वं ज्ञात्वा रावणचेष्टितम् ।
उवाच सीतामेकान्ते शृणु जानकि मे वचः ॥ १ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—(हे पार्वति !) इधर श्रीरामचन्द्रजीने भी रावणका सारा षड्यन्त्र जानकर एकान्तमें श्रीजानकीजीसे कहा—"हे सीते ! मैं जो कुछ कहता हूँ वह सुनो ॥ १ ॥

रावणो भिक्षुरूपेण आगमिष्यति तेऽन्तिकम् ।
त्वं तु छायां त्वदाकारां स्थापयित्वोटजे विश ॥ २ ॥

अग्नावदृश्यरूपेण वर्षं तिष्ठ ममाज्ञया ।
रावणस्य वधान्ते मां पूर्ववत्प्राप्स्यसे शुभे ॥ ३ ॥

हे शुभे ! रावण तुम्हारे पास भिक्षुका रूप धारण कर आयेगा, अतः तुम अपने ही समान आकृतिवाली अपनी छायाको कुटीमें छोड़कर अग्निमें प्रवेश कर जाओ और मेरी आज्ञासे वहाँ अदृश्यरूपसे एक वर्ष रहो । तदनन्तर, रावणके मारे जानेपर तुम मुझे पूर्ववत् पा लोगी" ॥ २-३ ॥

श्रुत्वा रामोदितं वाक्यं सापि तत्र तथाकरोत् ।
मायासीतां बहिः स्थाप्य स्वयमन्तर्दधेऽनले ॥ ४ ॥

रामचन्द्रजीके वचन सुनकर सीताजीने भी वैसा ही किया । वे मायामयी सीताको बाहर कुटीमें छोड़कर स्वयं अग्निमें अन्तर्धान हो गयीं ॥ ४ ॥

मायासीता तदापश्यन्मृगं मायाविनिर्मितम्।
हसन्ती राममभ्येत्य प्रोवाच विनयान्विता॥ ५॥

पश्य राम मृगं चित्रं कानकं रत्नभूषितम्।
विचित्रविन्दुभिर्युक्तं चरन्तमकुतोभयम्।
बद्ध्वा देहि मम क्रीडामृगो भवतु सुन्दरः॥ ६॥

तथेति धनुरादाय गच्छन् लक्ष्मणमब्रवीत्।
रक्ष त्वमतियत्नेन सीतां मत्प्राणवल्लभाम्॥ ७॥

मायिनः सन्ति विपिने राक्षसा घोरदर्शनाः।
अतोऽत्रावहितः साध्वीं रक्ष सीतामनिन्दिताम्॥ ८॥

लक्ष्मणो राममाहेदं देवायं मृगरूपधृक्।
मारीचोऽत्र न सन्देह एवंभूतो मृगः कुतः॥ ९॥

श्रीराम उवाच

यदि मारीच एवायं तदा हन्मि न संशयः।
मृगश्चेदानयिष्यामि सीताविश्रमहेतवे॥ १०॥

गमिष्यामि मृगं बद्ध्वा ह्यानयिष्यामि सत्वरः।
त्वं प्रयत्नेन सन्तिष्ठ सीतासंरक्षणोद्यतः॥ ११॥

इत्युक्त्वा प्रययौ रामो मायामृगमनुद्रुतः।
माया यदाश्रया लोकमोहिनी जगदाकृतिः॥ १२॥

निर्विकारश्चिदात्मापि पूर्णोऽपि मृगमन्वगात्।
भक्तानुकम्पी भगवानिति सत्यं वचो हरिः॥ १३॥

कर्तुं सीताप्रियार्थाय जानन्नपि मृगं ययौ।
अन्यथा पूर्णकामस्य रामस्य विदितात्मनः॥ १४॥

मृगेण वा स्त्रिया वापि किं कार्यं परमात्मनः।
कदाचिद्दृश्यतेऽभ्याशे क्षणं धावति लीयते॥ १५॥

दृश्यते च ततो दूरादेवं राममपाहरत्।
ततो रामोऽपि विज्ञाय राक्षसोऽयमिति स्फुटम्॥ १६॥

तब उस मायासीताने मायामय मृगको देखकर श्रीरामचन्द्रजीके पास आकर हँसते हुए बड़ी नम्रतासे कहा— ॥ ५॥ "हे राम! यह रत्न-विभूषित विचित्र सुवर्ण-मृग देखिये। (अहो!) इसके शरीरमें कैसे अद्भुत बिन्दु हैं और यह कैसी निर्भयतासे विचर रहा है? हे प्रभो! आप इसे बाँधकर मुझे ला दीजिये; यह सुन्दर हरिण मेरा क्रीड़ामृग हो" ॥ ६॥

तब रामचन्द्रजीने 'बहुत अच्छा' कह अपना धनुष उठा लिया और जाते समय लक्ष्मणजीसे कहा— "लक्ष्मण! तुम प्राण-प्रिया सीताकी यत्नपूर्वक रक्षा करना ॥ ७॥ वनमें बड़े मायावी भयंकर राक्षस विचर रहे हैं। अतः तुम अनिन्दिता साध्वी सीताकी बहुत सावधान रहकर रक्षा करना" ॥ ८॥

तब लक्ष्मणजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—"देव! यह मृगरूपधारी मारीच है, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि भला मृग ऐसा कहाँ हो सकता है?" ॥ ९॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले—यदि यह मारीच है तो, इसमें सन्देह नहीं, मैं इसे अवश्य मार डालूँगा। और यदि मृग ही है तो सीताका मन रखनेके लिये ले आऊँगा॥ १०॥ मैं अभी जाकर बहुत शीघ्र ही इस मृगको बाँधकर लिये आता हूँ, तबतक तुम सीताकी रखवाली करते हुए बहुत सावधान रहना॥ ११॥

यह विश्वप्रपञ्चरूपिणी जगन्मोहिनी माया जिनके आश्रित है वे रामचन्द्रजी ऐसा कह उस मायामृगके पीछे दौड़ते चले गये॥ १२॥ वे निर्विकार चिदात्मा और सर्वव्यापक होकर भी उस मृगके पीछे दौड़े, इससे यह वाक्य सर्वथा सत्य ही है कि 'भगवान् हरि बड़े भक्त-वत्सल हैं' ॥ १३॥ भगवान् सब कुछ जानते थे, तथापि सीताजीको प्रसन्न करनेके लिये वे मृगके पीछे गये। नहीं तो पूर्णकाम आत्मज्ञ भगवान् रामको मृग अथवा स्त्रीसे क्या काम था; वह मृग कभी तो पास ही दिखलायी देने लगता, कभी एक क्षणमें ही दूर भागकर छिप जाता॥ १४-१५॥ और फिर बहुत दूरीपर दिखलायी देता। इस प्रकार वह रामचन्द्रजीको बहुत दूर ले गया।

विव्याध शरमादाय राक्षसं मृगरूपिणम् ।
पपात रुधिराक्तास्यो मारीचः पूर्वरूपधृक् ॥ १७ ॥

हा हतोऽस्मि महाबाहो त्राहि लक्ष्मण मां द्रुतम् ।
इत्युक्त्वा रामवद्वाचा पपात रुधिराशनः ॥ १८ ॥

यन्नामाज्ञोऽपि मरणे स्मृत्वा तत्साम्यमाप्नुयात् ।
किमुताग्रे हरिं पश्यंस्तेनैव निहतोऽसुरः ॥ १९ ॥

तद्देहादुत्थितं तेजः सर्वलोकस्य पश्यतः ।
राममेवाविशद्देवा विस्मयं परमं ययुः ॥ २० ॥

किं कर्म कृत्वा किं प्राप्तः पातकी मुनिहिंसकः ।
अथवा राघवस्यायं महिमा नात्र संशयः ॥ २१ ॥

रामबाणेन संविद्धः पूर्वं राममनुस्मरन् ।
भयात्सर्वं परित्यज्य गृहवित्तादिकं च यत् ॥ २२ ॥

हृदि रामं सदा ध्यात्वा निर्धूताशेषकल्मषः ।
अन्ते रामेण निहतः पश्यन् राममवाप सः ॥ २३ ॥

द्विजो वा राक्षसो वापि पापी वा धार्मिकोऽपि वा ।
त्यजन्कलेवरं रामं स्मृत्वा याति परं पदम् ॥ २४ ॥

इति तेऽन्योन्यमाभाष्य ततो देवा दिवं ययुः ।
रामस्तच्चिन्तयामास म्रियमाणोऽसुराधमः ॥ २५ ॥

हा लक्ष्मणेति मद्वाक्यमनुकुर्वन्ममार किम् ।
श्रुत्वा मद्वाक्यसदृशं वाक्यं सीतापि किं भवेत् ॥ २६ ॥

इति चिन्तापरीतात्मा रामो दूरान्न्यवर्तत ।
सीता तद्भाषितं श्रुत्वा मारीचस्य दुरात्मनः ॥ २७ ॥

भीतातिदुःखसंविग्ना लक्ष्मणं त्विदमब्रवीत् ।
गच्छ लक्ष्मण वेगेन भ्राता तेऽसुरपीडितः ॥ २८ ॥

हा लक्ष्मणेति वचनं भ्रातुस्ते न शृणोषि किम् ।
तामाह लक्ष्मणो देवि रामवाक्यं न तद्भवेत् ॥ २९ ॥

तब रामचन्द्रजीने यह निश्चयपूर्वक जानकर कि यह राक्षस ही है, उस मृगरूप राक्षसको एक बाण छोड़कर बींध डाला। बाणके लगते ही मारीच अपना पूर्वरूप धारणकर लोहूभरे मुखसे पृथिवीपर गिर पड़ा ॥ १६-१७ ॥ वह रक्तपायी (राक्षस) रामकी-सी बोलीमें यह कहता हुआ कि 'हे महाबाहो लक्ष्मण ! मैं मारा गया; मेरी शीघ्र ही रक्षा करो'—पृथिवीपर गिरा ॥ १८ ॥

मरण-समयमें जिनके नामका स्मरण करनेसे अज्ञजन भी जिनमें लीन हो जाते हैं उन्हीं हरिको देखते-देखते उन्हींके हाथसे मरे हुए उस राक्षसके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥ १९ ॥ उसके शरीरसे निकला हुआ तेज सबके देखते-देखते श्रीराममें ही समा गया। यह देखकर देवताओंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २० ॥ वे कहने लगे— ("अहो !) इस मुनिजनहिंसक पापी निशाचरने कैसे-कैसे कुकर्म किये और फिर कैसी शुभ गति प्राप्त की। निस्सन्देह यह श्रीरघुनाथजीकी ही महिमा है ॥ २१ ॥ रामके बाणसे बींधे जानेपर यह पहलेसे ही भयसे अपना सब गृह और धन आदि छोड़ रामचन्द्रजीके स्मरणमें लगा हुआ था ॥ २२ ॥ निरन्तर रामका ध्यान करनेसे इसके सारे पाप नष्ट हो गये थे तथा अन्तमें यह रामको देखते-देखते उन्हींके हाथसे मारा भी गया; इसलिये इसने रामहीको प्राप्त कर लिया ॥ २३ ॥ जो श्रीरामका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ते हैं, वे ब्राह्मण हों या राक्षस, पापी हों या धार्मिक—परम पदको ही प्राप्त होते हैं" ॥ २४ ॥ परस्पर इस प्रकार कहते हुए फिर देवगण स्वर्गको चले गये।

तब रामचन्द्रजी सोचने लगे कि 'इस अधम राक्षसने मरते समय मेरी-सी बोलीमें 'हा लक्ष्मण !' कहकर प्राण क्यों छोड़े ? इन मेरे-से वाक्योंको सुनकर सीताकी क्या दशा होगी ? ॥ २५-२६ ॥ इस प्रकार चिन्ता करते हुए राम बड़ी दूरसे लौटे।

इधर सीताने दुरात्मा मारीचका वह शब्द सुनकर अत्यन्त भय और दुःखसे व्याकुल हो लक्ष्मणसे यों कहा—"लक्ष्मण ! तुम बहुत शीघ्र जाओ, तुम्हारे भाई राक्षसोंसे कष्ट पा रहे हैं ॥ २७-२८ ॥ क्या तुम अपने भाईका 'हा लक्ष्मण' यह वाक्य नहीं सुनते ?"

यः कश्चिद्राक्षसो देवि म्रियमाणोऽब्रवीद्वचः ।
रामस्त्रैलोक्यमपि यः क्रुद्धो नाशयति क्षणात् ॥ ३० ॥

स कथं दीनवचनं भाषतेऽमरपूजितः ।
क्रुद्धा लक्ष्मणमालोक्य सीता बाष्पविलोचना ॥ ३१ ॥

प्राह लक्ष्मण दुर्बुद्धे भ्रातुर्व्यसनमिच्छसि ।
प्रेषितो भरतेनैव रामनाशाभिकाङ्क्षिणा ॥ ३२ ॥

मां नेतुमागतोऽसि त्वं रामनाश उपस्थिते ।
न प्राप्स्यसे त्वं मामद्य पश्य प्राणांस्त्यजाम्यहम् ॥ ३३ ॥

न जानातीदृशं रामस्त्वां भार्याहरणोद्यतम् ।
रामादन्यं न स्पृशामि त्वां वा भरतमेव वा ॥ ३४ ॥

इत्युक्त्वा वध्यमाना सा स्वबाहुभ्यां रुरोद ह ।
तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणः कर्णौ पिधायातीव दुःखितः ॥ ३५ ॥

मामेवं भाषसे चण्डि धिक् त्वां नाशमुपैष्यसि ।
इत्युक्त्वा वनदेवीभ्यः समर्प्य जनकात्मजाम् ॥ ३६ ॥

ययौ दुःखातिसंविग्नो राममेव शनैः शनैः ।
ततोऽन्तरं समालोक्य रावणो भिक्षुवेषधृक् ॥ ३७ ॥

सीतासमीपमगमत्स्फुरद्दण्डकमण्डलुः ।
सीता तमवलोक्याशु नत्वा सम्पूज्य भक्तितः ॥ ३८ ॥

कन्दमूलफलादीनि दत्त्वा स्वागतमब्रवीत् ।
मुने भुङ्क्ष्व फलादीनि विश्रमस्व यथासुखम् ॥ ३९ ॥

इदानीमेव भर्ता मे ह्यागमिष्यति ते प्रियम् ।
करिष्यति विशेषेण तिष्ठ त्वं यदि रोचते ॥ ४० ॥

भिक्षुरुवाच

का त्वं कमलपत्राक्षि को वा भर्ता तवानघे ।
किमर्थमत्र ते वासो वने राक्षससेविते ।
ब्रूहि भद्रे ततः सर्वं स्ववृत्तान्तं निवेदये ॥ ४१ ॥

लक्ष्मणजीने कहा—"देवि ! यह वाक्य श्रीरामचन्द्रजीका नहीं है ॥ २९ ॥ किसी राक्षसने मरते-मरते ये वचन कहे हैं। जो रामजी क्रोधित होनेपर एक क्षणमें सम्पूर्ण त्रिलोकीको भी नष्ट कर सकते हैं ॥ ३० ॥ वे देववन्दित प्रभु भला ऐसा दीन वचन कैसे बोल सकते हैं ?"

तब सीताजीने नेत्रोंमें जल भरकर क्रोधपूर्वक लक्ष्मणजीकी ओर देखते हुए कहा—"रे लक्ष्मण ! क्या तू अपने भाईको विपत्तिमें पड़े देखना चाहता है ? अरे दुर्बुद्धे ! मालूम होता है, तुझे रामका नाश चाहनेवाले भरतने ही भेजा है ॥ ३१-३२ ॥ क्या तू रामके नष्ट हो जानेपर मुझे ले जानेके लिये ही आया है, किन्तु तू मुझे नहीं पावेगा। देख मैं अभी प्राण त्याग किये देती हूँ ॥ ३३ ॥ राम तुझे इस प्रकार पत्नीहरणके लिये उद्यत नहीं जानते हैं। रामके अतिरिक्त मैं भरत या तुझे किसीको भी नहीं छू सकती" ॥ ३४ ॥

ऐसा कहकर वे अपनी भुजाओंसे छाती पीटती हुई रोने लगीं। उनके ऐसे कठोर शब्द सुन लक्ष्मणजीने अति दुःखित हो अपने दोनों कान मूँद लिये और कहा—"हे चण्डि ! तुम्हें धिक्कार है, तुम मुझे ऐसी बातें कह रही हो ! इससे तुम नष्ट हो जाओगी।" ऐसा कह लक्ष्मणजी सीताको वनदेवियोंको सौंपकर दुःखसे अत्यन्त खिन्न हो धीरे-धीरे रामके पास चले।

इसी समय मौका समझकर रावण भिक्षुका वेष बना दण्ड-कमण्डलुके सहित सीताके पास आया। सीताने उसे देखकर तुरंत ही प्रणाम किया और भक्तिपूर्वक उसका पूजन कर कन्द-मूल-फल आदि देकर स्वागत करते हुए कहा—"हे मुने ! ये फल आदि खाकर सुखपूर्वक विश्राम कीजिये। अभी थोड़ी देरमें ही मेरे पतिदेव आते होंगे। यदि आपकी इच्छा हो तो कुछ देर ठहरिये। वे आपका कुछ विशेष सत्कार कर सकेंगे" ॥ ३५—४० ॥

भिक्षु बोला—हे कमललोचने ! तुम कौन हो ? तुम्हारे पति कौन हैं; हे अनघे ! इस राक्षससेवित वनमें तुम क्यों रहती हो; हे कल्याणि ! ये सब बातें बताओ, तब मैं भी तुम्हें अपना सारा वृत्तान्त सुनाऊँगा ॥ ४१ ॥

सीतोवाच

अयोध्याधिपतिः श्रीमान् राजा दशरथो महान्।
तस्य ज्येष्ठः सुतो रामः सर्वलक्षणलक्षितः ॥ ४२ ॥

तस्याहं धर्मतः पत्नी सीता जनकनन्दिनी।
तस्य भ्राता कनीयांश्च लक्ष्मणो भ्रातृवत्सलः ॥ ४३ ॥

पितुराज्ञां पुरस्कृत्य दण्डके वस्तुमागतः।
चतुर्दश समास्त्वां तु ज्ञातुमिच्छामि मे वद ॥ ४४ ॥

भिक्षुरुवाच

पौलस्त्यतनयोऽहं तु रावणो राक्षसाधिपः।
त्वत्कामपरितप्तोऽहं त्वां नेतुं पुरमागतः ॥ ४५ ॥

मुनिवेषेण रामेण किं करिष्यसि मां भज।
भुङ्क्ष्व भोगान्मया सार्धं त्यज दुःखं वनोद्भवम् ॥ ४६ ॥

श्रुत्वा तद्वचनं सीता भीता किञ्चिदुवाच तम्।
यद्येवं भाषसे मां त्वं नाशमेष्यसि राघवात् ॥ ४७ ॥

आगमिष्यति रामोऽपि क्षणं तिष्ठ सहानुजः।
मां को धर्षयितुं शक्तो हरेर्भार्यां शशो यथा ॥ ४८ ॥

रामबाणैर्विभिन्नस्त्वं पतिष्यसि महीतले।
इति सीतावचः श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४९ ॥

स्वरूपं दर्शयामास महापर्वतसन्निभम्।
दशास्यं विंशतिभुजं कालमेघसमद्युतिम् ॥ ५० ॥

तद्दृष्ट्वा वनदेव्यश्च भूतानि च वितत्रसुः।
ततो विदार्य धरणीं नखैरुद्धृत्य बाहुभिः ॥ ५१ ॥

तोलयित्वा रथे क्षिप्त्वा ययौ क्षिप्रं विहायसा।
हा राम हा लक्ष्मणेति रुदती जनकात्मजा ॥ ५२ ॥

सीताजी बोलीं—(हे भिक्षो !) श्रीमान् महाराज दशरथ अयोध्याके राजा थे, उनके ज्येष्ठ पुत्र सर्वसुलक्षणसम्पन्न राम हैं ॥ ४२ ॥ मैं जनकनन्दिनी सीता उन्हींकी धर्मपत्नी हूँ। उनका छोटा भाई लक्ष्मण है। वह अपने भाईका अत्यन्त स्नेही है ॥ ४३ ॥ (हम दोनोंके साथ) श्रीरामचन्द्रजी पिताकी आज्ञासे चौदह वर्ष दण्डकारण्यमें रहनेके लिये आये हैं। अब मैं आपके विषयमें जानना चाहती हूँ, आप भी मुझे अपना परिचय दें ॥ ४४ ॥

भिक्षु बोला—मैं पुलस्त्यनन्दन विश्रवाका पुत्र राक्षसराज रावण हूँ। मैं तुम्हें पानेकी इच्छासे सन्तप्त हूँ; अतः इस समय तुम्हें अपनी राजधानीमें ले जानेके लिये यहाँ आया हूँ ॥ ४५ ॥ उस मुनिवेषधारी रामसे तुम्हें क्या मिलेगा। तुम मुझसे प्रेम करो और इन वनवासके दुःखोंसे छूटकर मेरे साथ नाना प्रकारके भोग भोगो ॥ ४६ ॥

उसके ये वचन सुनकर सीताजीने कुछ डरते हुए उससे कहा—''यदि तू मुझसे ऐसी बात कहेगा तो रामचन्द्रजी तुझे नष्ट कर देंगे ॥ ४७ ॥ जरा ठहर तो, भाईके सहित श्रीरामचन्द्रजी अभी आते होंगे ! मेरे साथ कौन बलका प्रयोग कर सकता है; क्या सिंह-पत्नीके साथ खरहा भी बलप्रयोग कर सकता है; ॥ ४८ ॥ रामजीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर तू अभी पृथिवीतलपर सोवेगा।' सीताजीके ऐसे वचन सुनकर रावणने क्रोधाकुल हो अपना महापर्वताकार रूप दिखलाया, जिसके दस मुख और बीस भुजाएँ थीं तथा जिसकी काले मेघके समान आभा थी ॥ ४९-५० ॥ उस भयंकर रूपको देखकर वनदेवियाँ और वन्य जीव भयभीत हो गये। तब रावणने (सीताजीके पैरोंके नीचेकी) पृथिवीको नखोंसे खोदकर* उन्हें अपने हाथोंसे उठा लिया और रथमें डालकर तुरंत आकाशमार्गसे चल दिया।

---

* वाल्मीकिरामायण युद्धकाण्ड सर्ग १३ में रावण कहता है कि एक बार मैंने पुञ्जिकस्थला नामकी अप्सराको आकाशमार्गसे ब्रह्माजीके पास जाते देखा। तब मैंने उसे बलात् वस्त्रहीन कर उसके साथ सम्भोग किया। यह बात ब्रह्माजीको ज्ञात होनेसे उन्होंने मुझे शाप दिया कि 'यदि तू आजसे किसी स्त्रीसे बलात्कार करेगा तो तेरे मस्तकके सौ टुकड़े हो जायँगे।' उस शापके भयसे ही रावणने सीताजीको स्पर्श नहीं किया। रावणको इस प्रकारका शाप रम्भाको बलात्कार करनेके कारण कुबेरपुत्र नलकूबरने भी दिया था [वा० रा० उ० का० २६ सर्ग] परन्तु वह शाप पहला था और अपने तपोबलके कारण रावण उससे डरता नहीं था। इसलिये पीछे वह पुञ्जिकस्थलापर बलात्कार करनेका साहस किया (रामाभिरामी वा० रा० यु० का० १३। १४)।

भयोद्विग्नमना दीना पश्यन्ती भुवमेव सा।
श्रुत्वा तत्क्रन्दितं दीनं सीतायाः पक्षिसत्तमः ॥ ५३ ॥

जटायुरुत्थितः शीघ्रं नगाग्रात्तीक्ष्णतुण्डकः।
तिष्ठ तिष्ठेति तं प्राह को गच्छति ममाग्रतः ॥ ५४ ॥

मुषित्वा लोकनाथस्य भार्यां शून्याद्वनालयात्।
शुनको मन्त्रपूतं त्वं पुरोडाशमिवाध्वरे ॥ ५५ ॥

इत्युक्त्वा तीक्ष्णतुण्डेन चूर्णयामास तद्रथम्।
वाहान्बिभेद पादाभ्यां चूर्णयामास तद्धनुः ॥ ५६ ॥

ततः सीतां परित्यज्य रावणः खड्गमाददे।
चिच्छेद पक्षौ सामर्षः पक्षिराजस्य धीमतः ॥ ५७ ॥

पपात किञ्चिच्छेषेण प्राणेन भुवि पक्षिराट्।
पुनरन्यरथेनाशु सीतामादाय रावणः ॥ ५८ ॥

क्रोशन्ती राम रामेति त्रातारं नाधिगच्छति।
हा राम हा जगन्नाथ मां न पश्यसि दुःखिताम् ॥ ५९ ॥

रक्षसा नीयमानां स्वां भार्यां मोचय राघव।
हा लक्ष्मण महाभाग त्राहि मामपराधिनीम् ॥ ६० ॥

वाक्शरेण हतस्त्वं मे क्षन्तुमर्हसि देवर।
इत्येवं क्रोशमानां तां रामागमनशङ्कया ॥ ६१ ॥

जगाम वायुवेगेन सीतामादाय सत्वरः।
विहायसा नीयमाना सीतापश्यदधोमुखी ॥ ६२ ॥

पर्वताग्रे स्थितान्पञ्च वानरान्वारिजानना।
उत्तरीयार्धखण्डेन विमुच्याभरणादिकम् ॥ ६३ ॥

बद्ध्वा चिक्षेप रामाय कथयन्त्विति पर्वते।
ततः समुद्रमुल्लङ्घ्य लङ्कां गत्वा स रावणः ॥ ६४ ॥

स्वान्तःपुरे रहस्येतामशोकविपिनेऽक्षिपत्।
राक्षसीभिः परिवृतां मातृबुद्ध्यान्वपालयत् ॥ ६५ ॥

उस समय सीताजी अति भयभीतचित्त होकर दीन दृष्टिसे पृथिवीकी ओर देखती हुई 'हा राम ! हा लक्ष्मण !' ऐसा कहकर रोने लगीं। सीताजीका वह आर्तक्रन्दन सुनकर तुरंत ही तीखी चोंचवाला पक्षिश्रेष्ठ जटायु पहाड़की चोटीपरसे उठा। और बोला—"अरे ! ठहर, ठहर, यज्ञके मन्त्रपूत पुरोडाशको ले जानेवाले कुत्तेके समान मेरे सामने ही जगन्नाथ श्रीरघुनाथजीकी भार्याको सूने तपोवनसे तू कौन लिये जाता है ?" ॥ ५१—५५ ॥ जटायुने ऐसा कहकर अपनी तीक्ष्ण चोंचसे रावणके रथको चूर-चूर कर डाला और अपने पञ्जोंसे घोड़ोंको मारकर उसके धनुषके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ५६ ॥

तब रावणने सीताजीको छोड़कर अपना खड्ग निकाला और झुँझलाकर मतिमान् जटायुके पंख काट डाले ॥ ५७ ॥ पंख कट जानेसे पक्षिराज जटायु अधमरे होकर पृथिवीपर गिर पड़े। फिर तुरंत ही रावण सीताजीको दूसरे रथपर चढ़ाकर चलता बना ॥ ५८ ॥

उस समय वह सीता किसी रक्षकको न देखकर बारम्बार रामको पुकारती हुई रो-रोकर कह रही थी—"हा राम ! हा जगन्नाथ ! क्या आप मुझ दुःखिनीको नहीं देखते ॥ ५९ ॥ हे राघव ! आपकी भार्याको राक्षस लिये जाता है, आप छुड़ाइये। हा महाभाग लक्ष्मण ! मुझ अपराधिनीकी रक्षा करो ॥ ६० ॥ हे देवर ! मैंने तुम्हें वाग्बाण मारे थे, तुम मुझे क्षमा करना।" सीताजीके इस प्रकार रुदन करनेसे रामके आनेकी आशङ्का करता हुआ रावण उन्हें लेकर वायुके समान अति तीव्र वेगसे चलने लगा।

इस प्रकार आकाशमार्गसे जाते हुए नीचेकी ओर देखती हुई कमलानना सीताजीने एक पर्वत-शिखरपर पाँच वानरोंको बैठे देखा। यह देखकर उन्होंने अपने आभूषणादि उतारकर अपने दुपट्टेके टुकड़ेमें बाँधे और 'ये रामको मेरा समाचार सुनावें' इस अभिप्रायसे पर्वतपर फेंक दिये।

तदनन्तर रावणने समुद्र पारकर लङ्कामें पहुँचकर उन्हें अपने अन्तःपुरके एकान्त देश अशोकवनमें रखा और राक्षसियोंसे घेरे रखकर मातृबुद्धिसे उनकी रक्षा करने

कृशातिदीना परिकर्मवर्जिता
दुःखेन शुष्यद्वदनातिविह्वला ।
हा राम रामेति विलप्यमाना
सीता स्थिता राक्षसवृन्दमध्ये ॥ ६६ ॥

लगा ॥ ६१—६५ ॥ उस स्थानमें अति कृश और दीनवदना सीताजी सब प्रकारका शृंगार छोड़कर दुःखके कारण शुष्कवदन और अत्यन्त विह्वल होकर 'हा राम ! हा राम !' ऐसे विलाप करती हुई राक्षसोंके बीचमें रहने लगीं ॥ ६६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अरण्यकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टम सर्ग

सीताजीके वियोगमें भगवान् रामका विलाप और जटायुसे भेंट

श्रीमहादेव उवाच

रामो मायाविनं हत्वा राक्षसं कामरूपिणम् ।
प्रतस्थे स्वाश्रमं गन्तुं ततो दूराद्ददर्श तम् ॥ १ ॥

आयान्तं लक्ष्मणं दीनं मुखेन परिशुष्यता ।
राघवश्चिन्तयामास स्वात्मन्येव महामतिः ॥ २ ॥

लक्ष्मणस्तन्न जानाति मायासीतां मया कृताम् ।
ज्ञात्वाप्येनं वञ्चयित्वा शोचामि प्राकृतो यथा ॥ ३ ॥

यद्यहं विरतो भूत्वा तूष्णीं स्थास्यामि मन्दिरे ।
तदा राक्षसकोटीनां वधोपायः कथं भवेत् ॥ ४ ॥

यदि शोचामि तां दुःखसन्तप्तः कामुको यथा ।
तदा क्रमेणानुचिन्वन्सीतां यास्येऽसुरालयम् ।
रावणं सकुलं हत्वा सीतामग्नौ स्थितां पुनः ॥ ५ ॥

मयैव स्थापितां नीत्वा यातायोध्यामतन्द्रितः ।
अहं मनुष्यभावेन जातोऽस्मि ब्रह्मणार्थितः ॥ ६ ॥

मनुष्यभावमापन्नः किञ्चित्कालं वसामि कौ ।
ततो मायामनुष्यस्य चरितं मेऽनुशृण्वताम् ॥ ७ ॥

मुक्तिः स्यादप्रयासेन भक्तिमार्गानुवर्तिनाम् ।
निश्चित्यैवं तदा दृष्ट्वा लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ८ ॥

किमर्थमागतोऽसि त्वं सीतां त्यक्त्वा मम प्रियाम् ।
नीता वा भक्षिता वापि राक्षसैर्जनकात्मजा ॥ ९ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—(हे पार्वति !) इधर रामचन्द्रजी जब कामरूपधारी मायावी राक्षसको मारकर अपने आश्रमपर चलनेके लिये प्रस्थान किये तो उन्होंने दूरसे ही दीन और उदास मुखसे लक्ष्मणको आते देखा। तब महामति रघुनाथजी मन-ही-मन सोचने लगे ॥ १-२ ॥ 'लक्ष्मणको यह पता नहीं है कि मैंने मायामयी सीता बना दी है। मैं यह जानता हूँ तथापि लक्ष्मणसे यह बात छिपाकर मैं साधारण मनुष्यके समान शोक करूँगा ॥ ३ ॥ यदि मैं उपराम होकर चुपचाप अपनी कुटीमें बैठ गया तो इन करोड़ों राक्षसोंके नाशका उपाय कैसे होगा ? ॥ ४ ॥ यदि मैं उसके लिये दुःखातुर होकर कामी पुरुषके समान शोक करूँगा तो क्रमशः सीताकी खोज करता हुआ राक्षसराज रावणके यहाँ पहुँच जाऊँगा और उसे कुलसहित मारकर अपने-आप ही अग्निमें स्थापित की हुई सीताको उसमेंसे निकालकर फिर तुरंत अयोध्या चला जाऊँगा। ब्रह्माकी प्रार्थनासे मैंने मनुष्यावतार लिया है, अतः मैं कुछ समय पृथ्वीपर मनुष्यभावसे ही रहूँगा। इससे मुझ माया-मानवके चरित्रोंको सुननेवाले भक्ति-परायण पुरुषोंकी अनायास ही मुक्ति हो जायगी।'

श्रीरामचन्द्रजीने इस प्रकार निश्चयकर लक्ष्मणजीकी ओर देखकर कहा— ॥ ५—८ ॥ "लक्ष्मण ! तुम मेरी प्रिया सीताको छोड़कर कैसे चले आये ? अब राक्षसगण जनकनन्दिनी सीताको हर ले गये होंगे अथवा उन्हें खा गये होंगे" ॥ ९ ॥

लक्ष्मणः प्राञ्जलिः प्राह सीताया दुर्वचो रुदन्।
हा लक्ष्मणेति वचनं राक्षसोक्तं श्रुतं तया ॥ १० ॥

त्वद्वाक्यसदृशं श्रुत्वा मां गच्छेति त्वराब्रवीत्।
रुदन्ती सा मया प्रोक्ता देवि राक्षसभाषितम्।
नेदं रामस्य वचनं स्वस्था भव शुचिस्मिते ॥ ११ ॥

इत्येवं सान्त्विता साध्वी मया प्रोवाच मां पुनः।
यदुक्तं दुर्वचो राम न वाच्यं पुरतस्तव ॥ १२ ॥

कर्णौ पिधाय निर्गत्य यातोऽहं त्वां समीक्षितुम्।
रामस्तु लक्ष्मणं प्राह तथाप्यनुचितं कृतम् ॥ १३ ॥

त्वया स्त्रीभाषितं सत्यं कृत्वा त्यक्ता शुभानना।
नीता वा भक्षिता वापि राक्षसैर्नात्र संशयः ॥ १४ ॥

इति चिन्तापरो रामः स्वाश्रमं त्वरितो ययौ।
तत्रादृष्ट्वा जनकजां विललापातिदुःखितः ॥ १५ ॥

हा प्रिये क्व गतासि त्वं नासि पूर्ववदाश्रमे।
अथवा मद्विमोहार्थं लीलया क्व विलीयसे ॥ १६ ॥

इत्याचिन्वन्वनं सर्वं नापश्यज्जानकीं तदा।
वनदेव्यः कुतः सीतां ब्रुवन्तु मम वल्लभाम् ॥ १७ ॥

मृगाश्च पक्षिणो वृक्षा दर्शयन्तु मम प्रियाम्।
इत्येवं विलपन्नेव रामः सीतां न कुत्रचित् ॥ १८ ॥

सर्वज्ञः सर्वथा क्वापि नापश्यद्रघुनन्दनः।
आनन्दोऽप्यन्वशोचत्तामचलोऽप्यनुधावति ॥ १९ ॥

निर्ममो निरहङ्कारोऽप्यखण्डानन्दरूपवान्।
मम जायेति सीतेति विललापातिदुःखितः ॥ २० ॥

एवं मायामनुचरन्नसक्तोऽपि रघूत्तमः।
आसक्त इव मूढानां भाति तत्त्वविदां न हि ॥ २१ ॥

तब लक्ष्मणजीने हाथ जोड़कर रोते हुए सीताजीके दुर्वाक्य कह सुनाये। (वे बोले)—"आपके वाक्यके समान राक्षसके कहे हुए 'हा लक्ष्मण!' इस शब्दको सुनकर सीताजीने शीघ्रतासे मुझसे कहा 'फौरन जाओ'। तब मैंने रोती हुई उन्हें समझाया कि देवि! यह रघुनाथजीका वाक्य नहीं है, राक्षसका शब्द है, हे शुचिस्मिते! तुम निश्चिन्त रहो ॥ १०-११ ॥ मेरे इस प्रकार ढाढस बँधानेपर भी साध्वी सीताजीने मुझसे जैसे दुर्वचन कहे हैं, हे रघुनाथजी! वे आपके सामने कहने योग्य नहीं हैं ॥ १२ ॥ अतः मैं कान मूँदकर वहाँसे आपको देखनेके लिये चला आया।"

इसपर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—"लक्ष्मण! ठीक है, तथापि तुमने उचित नहीं किया ॥ १३ ॥ जो स्त्रीकी बातको सत्य मानकर शुभानना सीताको छोड़ दिया। इसमें सन्देह नहीं अब राक्षसलोग या तो उन्हें हर ले गये होंगे या खा गये होंगे" ॥ १४ ॥

इस प्रकार चिन्ता करते हुए श्रीरामचन्द्रजी बड़ी शीघ्रतासे अपने आश्रममें आये और वहाँ जानकीजीको न देखकर अति दुःखित होकर विलाप करने लगे— ॥ १५ ॥ 'हा प्रिये! आज तुम पूर्ववत् आश्रममें दिखायी नहीं देती हो, सो कहाँ चली गयी हो? अथवा मुझे मोहित करनेके लिये विनोदसे ही कहीं छिप रही हो? ॥ १६ ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए उन्होंने सारा वन छान डाला किन्तु कहीं भी जानकीजीको नहीं देखा। तब (वे कहने लगे—) "अयि वनदेवियो! बताओ, मेरी वल्लभा सीता कहाँ है? अरे मृग, पक्षी और वृक्षो! तुम्हीं मेरी प्रियाको दिखाओ" ॥ १७ ॥ इस प्रकार विलाप करते हुए सर्वज्ञ श्रीरघुनाथजीने सीताजीको कहीं भी नहीं देखा ॥ १८ ॥ (अहो!) भगवान् रामने आनन्दस्वरूप होकर भी सीताजीके लिये शोक किया, निश्चल होनेपर भी उनकी खोजमें इधर-उधर दौड़ते फिरे तथा ममता और अहंकारसे शून्य अखण्डानन्दस्वरूप होकर भी अत्यन्त दुःखित हो 'मेरी जाया' तथा 'सीता!' ऐसा कहकर विलाप किया ॥ १९-२० ॥ इस प्रकार मायाका अनुसरण करते हुए श्रीरघुनाथजी अनासक्त होते हुए भी मूढ़ पुरुषोंको आसक्त-से प्रतीत होते हैं किन्तु तत्त्वज्ञानियोंको ऐसा भ्रम नहीं होता ॥ २१ ॥

एवं विचिन्वन्सकलं वनं रामः सलक्ष्मणः ।
भग्नं रथं छत्रचापं कूबरं पतितं भुवि ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा लक्ष्मणमाहेदं पश्य लक्ष्मण केनचित् ।
नीयमानां जनकजां तं जित्वान्यो जहार ताम् ॥ २३ ॥

ततः कञ्चिद्भुवो भागं गत्वा पर्वतसन्निभम् ।
रुधिराक्तवपुर्दृष्ट्वा रामो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ २४ ॥

एष वै भक्षयित्वा तां जानकीं शुभदर्शनाम् ।
शेते विविक्तेऽतितृप्तः पश्य हन्मि निशाचरम् ॥ २५ ॥

चापमानय शीघ्रं मे बाणं च रघुनन्दन ।
तच्छ्रुत्वा रामवचनं जटायुः प्राह भीतवत् ॥ २६ ॥

मां न मारय भद्रं ते म्रियमाणं स्वकर्मणा ।
अहं जटायुस्ते भार्याहारिणं समनुद्रुतः ॥ २७ ॥

रावणं तत्र युद्धं मे बभूवारिविमर्दन ।
तस्य वाहान् रथं चापं छित्त्वाहं तेन घातितः ॥ २८ ॥

पतितोऽस्मि जगन्नाथ प्राणांस्त्यक्ष्यामि पश्य माम् ॥ २९ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवो दीनं कण्ठप्राणं ददर्श ह ।
हस्ताभ्यां संस्पृशन् रामो दुःखाश्रुवृतलोचनः ॥ ३० ॥

जटायो ब्रूहि मे भार्या केन नीता शुभानना ।
मत्कार्यार्थं हतोऽसि त्वमतो मे प्रियबान्धवः ॥ ३१ ॥

जटायुः सन्नया वाचा वक्त्राद्रक्तं समुद्वमन् ।
उवाच रावणो रामं राक्षसो भीमविक्रमः ॥ ३२ ॥

आदाय मैथिलीं सीतां दक्षिणाभिमुखो ययौ ।
इतो वक्तुं न मे शक्तिः प्राणांस्त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः ॥ ३३ ॥

दिष्ट्या दृष्टोऽसि राम त्वं म्रियमाणेन मेऽनघ ।
परमात्मासि विष्णुस्त्वं मायामनुजरूपधृक् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार लक्ष्मणके सहित श्रीरामचन्द्रजीने सम्पूर्ण वनमें सीताजीको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पृथिवीपर टूटे रथ-छत्र, धनुष और कूबर (रथकी एक लकड़ी) पड़े देखे। उन्हें देखकर भगवान् रामने लक्ष्मणजीसे कहा—"लक्ष्मण ! देखो यहाँ सीताजीको ले जाते हुए किसी पुरुषको कोई अन्य व्यक्ति (युद्धमें) जीतकर उन्हें हर ले गया है" ॥ २२-२३ ॥

फिर कुछ दूर जानेपर एक पर्वत-सदृश शरीरको रुधिरसे लथपथ देखकर रामने कहा— ॥ २४ ॥ "देखो, निस्सन्देह यही उस शुभदर्शना सीताको खाकर अत्यन्त तृप्त हो यहाँ एकान्तमें सो रहा है। मैं इस निशाचरको अभी मार डालता हूँ ॥ २५ ॥ हे रघुनन्दन लक्ष्मण ! शीघ्र ही मेरा धनुष-बाण लाओ।"

रामका यह कथन सुन जटायुने भयभीत होकर कहा— ॥ २६ ॥ "मैं अपने ही कर्मसे मर रहा हूँ; आपका कल्याण हो, आप मुझे न मारें। मैं जटायु हूँ, मैंने आपकी भार्याको ले जानेवाले रावणका पीछा किया था। हे शत्रुदमन ! मेरा उससे युद्ध हुआ और मैंने उसके रथ, घोड़े और धनुष भी काट डाले, किन्तु अब मैं उसका घायल किया हुआ पड़ा हूँ। हे जगन्नाथ ! आप मेरी ओर देखिये, मैं अब प्राण छोड़ना ही चाहता हूँ" ॥ २७—२९ ॥

यह सुनकर श्रीरघुनाथजीने (जटायुके पास जाकर) उसे कण्ठगतप्राण और अति दीन अवस्थामें देखा। तब वे आँखोंमें आँसू भरकर उसपर हाथ फेरते हुए (बोले—) ॥ ३० ॥ "हे जटायो ! कहो। मेरी सुमुखी भार्या सीताजीको कौन ले गया है ? (अहो !) तुम मेरे कार्यके लिये मारे गये। अतः अवश्य ही तुम मेरे प्रिय बन्धु हो" ॥ ३१ ॥

जटायुने रक्त वमन करते हुए लड़खड़ाती बोलीमें कहा—"हे राम ! महापराक्रमी राक्षसराज रावण मिथिलेशनन्दिनी सीताको दक्षिणकी ओर ले गया है और अधिक कहनेकी मुझमें शक्ति नहीं है। मैं अभी आपके सामने ही प्राण छोड़ना चाहता हूँ ॥ ३२-३३ ॥ हे राम ! आज बड़े भाग्यसे मैंने मरते समय आपको देख पाया है। हे अनघ ! आप मायामानवरूप साक्षात् परमात्मा विष्णु ही हैं ॥ ३४ ॥

अन्तकालेऽपि दृष्ट्वा त्वां मुक्तोऽहं रघुसत्तम।
हस्ताभ्यां स्पृश मां राम पुनर्यास्यामि ते पदम्॥ ३५॥

तथेति रामः पस्पर्श तदङ्गं पाणिना स्मयन्।
ततः प्राणान्परित्यज्य जटायुः पतितो भुवि॥ ३६॥

रामस्तमनुशोचित्वा बन्धुवत्साश्रुलोचनः।
लक्ष्मणेन समानाय्य काष्ठानि प्रददाह तम्॥ ३७॥

स्नात्वा दुःखेन रामोऽपि लक्ष्मणेन समन्वितः।
हत्वा वने मृगं तत्र मांसखण्डान्समन्ततः॥ ३८॥

शाद्वले प्राक्षिपद्रामः पृथक् पृथगनेकधा।
भक्षन्तु पक्षिणः सर्वे तृप्तो भवतु पक्षिराट्॥ ३९* ॥

इत्युक्त्वा राघवः प्राह जटायो गच्छ मत्पदम्।
मत्सारूप्यं भजस्वाद्य सर्वलोकस्य पश्यतः॥ ४०॥

ततोऽनन्तरमेवासौ दिव्यरूपधरः शुभः।
विमानवरमारुह्य भास्वरं भानुसन्निभम्॥ ४१॥

शङ्खचक्रगदापद्मकिरीटवरभूषणैः।
द्योतयन्स्वप्रकाशेन पीताम्बरधरोऽमलः॥ ४२॥

चतुर्भिः पार्षदैर्विष्णोस्तादृशैरभिपूजितः।
स्तूयमानो योगिगणै राममाभाष्य सत्वरः।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा तुष्टाव रघुनन्दनम्॥ ४३॥

जटायुरुवाच

अगणितगुणमप्रमेयमाद्यं
सकलजगत्स्थितिसंयमादिहेतुम्।
उपरमपरमं परात्मभूतं
सततमहं प्रणतोऽस्मि रामचन्द्रम्॥ ४४॥

निरवधिसुखमिन्दिराकटाक्ष-
क्षपितसुरेन्द्रचतुर्मुखादिदुःखम्।
नरवरमनिशं नतोऽस्मि रामं
वरदमहं वरचापबाणहस्तम्॥ ४५॥

हे रघुश्रेष्ठ! वैसे तो अन्त समय आपका दर्शन करनेसे ही मैं मुक्त हो गया, तथापि आप मुझे अपने कर (कमलों) से स्पर्श कीजिये। फिर मैं आपके परमपदको जाऊँगा'' ॥ ३५॥

तब रामचन्द्रजीने मुसकराते हुए 'बहुत अच्छा' कह उसका शरीर अपने करकमलोंसे छुआ। तदनन्तर जटायु प्राण छोड़कर पृथिवीपर गिर पड़ा॥ ३६॥ रामचन्द्रजीने नेत्रोंमें जल भरकर उसके लिये अपने स्वजनके समान शोक करते हुए लक्ष्मणसे लकड़ियाँ मँगवा उसका दाह-कर्म किया॥ ३७॥

श्रीरघुनाथजी बोले—''जटायो! तुम मेरे परमपदको जाओ और आज सबके देखते-देखते मेरा सारूप्य प्राप्त करो'' ॥ ४०॥ तदनन्तर वह तुरंत ही सुन्दर दिव्य रूप धारण कर एक सूर्य-सदृश प्रकाशमान विमानपर आरूढ़ हुआ॥ ४१॥

उस समय वह सुन्दर पीताम्बर धारण किये शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट आदि श्रेष्ठ आभूषणोंके सहित अपने प्रकाशसे (सम्पूर्ण दिशाओंको) प्रकाशित कर रहा था॥ ४२॥ वैसे ही वेष-भूषावाले चार विष्णुपार्षद उसकी पूजा कर रहे थे तथा योगिगण उसकी स्तुति कर रहे थे। तदनन्तर वह त्वराके साथ हाथ जोड़कर श्रीरघुनाथजीको सम्बोधन कर उनकी स्तुति करने लगा॥ ४३॥

जटायु बोला—'जो अगणित गुणशाली हैं, अप्रमेय हैं, जगत्के आदिकारण हैं तथा उसकी स्थिति और लय आदिके हेतु हैं, उन परम शान्त-स्वरूप परमात्मा श्रीरामचन्द्रजीको मैं निरन्तर प्रणाम करता हूँ॥ ४४॥ जो असीम आनन्दमय और श्रीकमलादेवीके कटाक्षके आश्रय हैं तथा जो ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवगणोंका दुःख दूर करनेवाले हैं, उन धनुष-बाणधारी वरदायक नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीके प्रति मैं अहर्निश प्रणत हूँ॥ ४५॥ जो

* ३८ और ३९—इन दो श्लोकोंके अर्थका रहस्य हमारी समझमें नहीं आया, अतः इनका अर्थ नहीं दिया गया।

त्रिभुवनकमनीयरूपमीड्यं
रविशतभासुरमीहितप्रदानम् ।
शरणदमनिशं सुरागमूले
कृतनिलयं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥ ४६ ॥

भवविपिनदवाग्निनामधेयं
भवमुखदैवतदैवतं दयालुम् ।
दनुजपतिसहस्रकोटिनाशं
रवितनयासदृशं हरिं प्रपद्ये ॥ ४७ ॥

अविरतभवभावनातिदूरं
भवविमुखैर्मुनिभिः सदैव दृश्यम् ।
भवजलधिसुतारणाङ्घ्रिपोतं
शरणमहं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥ ४८ ॥

गिरिशगिरिसुतामनोनिवासं
गिरिवरधारिणमीहिताभिरामम् ।
सुरवरदनुजेन्द्रसेविताङ्घ्रिं
सुरवरदं रघुनायकं प्रपद्ये ॥ ४९ ॥

परधनपरदारवर्जितानां
परगुणभूतिषु तुष्टमानसानाम् ।
परहितनिरतात्मनां सुसेव्यं
रघुवरमम्बुजलोचनं प्रपद्ये ॥ ५० ॥

स्मितरुचिरविकासिताननाब्ज-
मतिसुलभं सुरराजनीलनीलम् ।
सितजलरुहचारुनेत्रशोभं
रघुपतिमीशगुरोर्गुरुं प्रपद्ये ॥ ५१ ॥

हरिकमलजशम्भुरूपभेदा-
त्त्वमिह विभासि गुणत्रयानुवृत्तः ।
रविरिव जलपूरितोदपात्रे-
ष्वमरपतिस्तुतिपात्रमीशमीडे ॥ ५२ ॥

रतिपतिशतकोटिसुन्दराङ्गं
शतपथगोचरभावनाविदूरम् * ।

त्रिलोकीमें सबसे अधिक रूपवान् हैं, (सबके) स्तुत्य हैं, सैकड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी हैं तथा वाञ्छित फल देनेवाले हैं उन शरणप्रद और प्रेमी हृदयमें रहनेवाले श्रीरघुनाथजीकी मैं अहर्निश शरण लेता हूँ ॥ ४६ ॥ जिनका नाम संसाररूप वनके लिये दावानलके समान है, जो महादेव आदि देवताओंके भी (पूज्य) देव हैं तथा जो करोड़ों दानवेन्द्रोंका दलन करनेवाले और श्रीयमुनाजीके समान श्यामवर्ण हैं, उन दयामय श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ४७ ॥ जो संसारमें निरन्तर वासना रखनेवालोंसे अत्यन्त दूर हैं और संसारसे उपराम मुनिजनोंके सदैव दृष्टिगोचर रहते हैं तथा जिनके चरणरूप पोत (जहाज) संसार-सागरसे पार करनेवाले हैं, उन रघुनाथजीकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ४८ ॥ जो श्रीमहादेव और पार्वतीजीके मन-(मन्दिर-) में निवास करते हैं, जिनका चरित्र अति मनोहर है तथा देव और असुरपतिगण जिनके चरण-कमलोंकी सेवा करते हैं, उन गिरिवरधारी देवताओंके वरदायक रघुनायककी मैं शरण लेता हूँ ॥ ४९ ॥ जो परधन और परस्त्रीसे सदा दूर रहते हैं तथा पराये गुण और परायी विभूतिको देखकर प्रसन्न होते हैं, उन निरन्तर परोपकार-परायण महात्माओंसे सुसेवित कमलनयन श्रीरघुनाथजीकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ५० ॥ जिनका मुखकमल मनोहर मुसकानसे सुशोभित हो रहा है, जो (भक्तोंके लिये) अति सुलभ हैं, जिनके शरीरकी कान्ति इन्द्रनीलमणिके समान सुन्दर नीलवर्ण है तथा जिनके मनोहर नेत्र श्वेत कमलकी-सी शोभावाले हैं, उन महादेवजीके परम गुरु श्रीरघुनाथजीकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ५१ ॥ (हे प्रभो !) जलसे भरे हुए पात्रोंमें जैसे एक ही सूर्य प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके साथ सम्बन्ध-युक्त होकर आप ही विष्णु, ब्रह्मा और महादेवरूपसे भासित होते हैं। देवराज इन्द्रकी भी स्तुतिके पात्र परमेश्वरस्वरूप आपकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ ५२ ॥ आपका दिव्य शरीर करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर है, सैकड़ों मार्गोंमें फँसे हुए लोगोंसे आप अत्यन्त दूर हैं और यतिश्रेष्ठोंके हृदयमें आप सदा ही

* टीकाके अनुसार यहाँ अकार लुप्त है—"शतपथगोचरभावनाविदूरम्" इस प्रकार पाठ है और उसका भावार्थ यह है—'शतपथब्राह्मणके अन्तर्गत 'बृहदारण्यक' में जिस ब्रह्म-भावनाका उपदेश किया है, उस भावनासे जो प्राप्य हैं।'

यतिपतिहृदये सदा विभातं
रघुपतिमार्तिहरं प्रभुं प्रपद्ये ॥ ५३ ॥

इत्येवं स्तुवतस्तस्य प्रसन्नोऽभूद्रघूत्तमः ।
उवाच गच्छ भद्रं ते मम विष्णोः परं पदम् ॥ ५४ ॥

शृणोति य इदं स्तोत्रं लिखेद्वा नियतः पठेत् ।
स याति मम सारूप्यं मरणे मत्स्मृतिं लभेत् ॥ ५५ ॥

इति राघवभाषितं तदा
श्रुतवान् हर्षसमाकुलो द्विजः ।
रघुनन्दनसाम्यमास्थितः
प्रययौ ब्रह्मसुपूजितं पदम् ॥ ५६ ॥

भासमान हैं। ऐसे आप आर्तिहर प्रभु रघुपतिकी मैं शरण लेता हूँ" ॥ ५३ ॥

जटायुके इस प्रकार स्तुति करनेपर श्रीरघुनाथजी उसपर प्रसन्न होकर बोले, "जटायो ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम मेरे परमधाम विष्णुलोकको जाओ ॥ ५४ ॥ जो पुरुष मेरे इस स्तोत्रको एकाग्रचित्तसे सुनता, लिखता अथवा पढ़ता है वह मेरा सारूप्यपद प्राप्त करता है और मरते समय उसे मेरा स्मरण होता है" ॥ ५५ ॥ पक्षिराज जटायुने रघुनाथजीका यह कथन बड़े हर्षसे सुना और उन्हींके समान रूप धारण कर ब्रह्मासे अत्यन्त पूजित परमधामको चला गया ॥ ५६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अरण्यकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवम सर्ग

कबन्धोद्धार

श्रीमहादेव उवाच

ततो रामो लक्ष्मणेन जगाम विपिनान्तरम् ।
पुनर्दुःखं समाश्रित्य सीतान्वेषणतत्परः ॥ १ ॥

तत्राद्भुतसमाकारो राक्षसः प्रत्यदृश्यत ।
वक्षस्येव महावक्त्रश्चक्षुरादिविवर्जितः ॥ २ ॥

बाहू योजनमात्रेण व्यापृतौ तस्य रक्षसः ।
कबन्धो नाम दैत्येन्द्रः सर्वसत्त्वविहिंसकः ॥ ३ ॥

तद्बाह्वोर्मध्यदेशे तौ चरन्तौ रामलक्ष्मणौ ।
ददर्शतुर्महासत्त्वं तद्बाहुपरिवेष्टितौ ॥ ४ ॥

रामः प्रोवाच विहसन्पश्य लक्ष्मण राक्षसम् ।
शिरः पादविहीनोऽयं यस्य वक्षसि चाननम् ॥ ५ ॥

बाहुभ्यां लभ्यते यद्यत्तत्तद्भक्षन् स्थितो ध्रुवम् ।
आवामप्येतयोर्बाह्वोर्मध्ये सङ्कलितौ ध्रुवम् ॥ ६ ॥

गन्तुमन्यत्र मार्गो न दृश्यते रघुनन्दन ।
किं कर्तव्यमितोऽस्माभिरिदानीं भक्षयेत्स नौ ॥ ७ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—(हे पार्वति !) तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी दुःखी होकर फिर सीताजीको खोजते हुए लक्ष्मणजीके साथ दूसरे वनको गये ॥ १ ॥ वहाँ उन्होंने एक बड़े ही विचित्र आकारका राक्षस देखा, जिसके वक्षःस्थलमें ही एक बड़ा भारी मुख था, जो नेत्र तथा कर्ण आदिसे रहित था ॥ २ ॥ इस राक्षसकी भुजाएँ एक-एक योजनतक फैली हुई थीं। यह सम्पूर्ण प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला 'कबन्ध' नामक दैत्यराज था ॥ ३ ॥ उसकी भुजाओंके बीचमें चलते हुए उनसे घिरे हुए राम और लक्ष्मणने उस महाबलवान् राक्षसको देखा ॥ ४ ॥

तब रामचन्द्रजीने हँसते हुए कहा—"लक्ष्मण ! इस राक्षसको देखो; यह सिर-पैरसे रहित है और इसकी छातीमें ही मुँह है ॥ ५ ॥ अपनी भुजाओंसे ही इसे जो कुछ मिल जाता है उसीको खाकर यह जीवित रहता है। हम भी निश्चय ही इसकी भुजाओंके बीचमें फँस गये हैं ॥ ६ ॥ हे रघुनन्दन ! इसके चंगुलमेंसे निकलनेका हमें कोई मार्ग दिखायी नहीं देता; अब हमें क्या करना चाहिये ? (जल्दी विचार करो नहीं तो) यह हमें अभी खा जायगा" ॥ ७ ॥

लक्ष्मणस्तमुवाचेदं किं विचारेण राघव।
आवामेकैकमव्यग्रौ छिन्द्यावास्य भुजौ ध्रुवम्॥ ८ ॥

तथेति रामः खड्गेन भुजं दक्षिणमच्छिनत्।
तथैव लक्ष्मणो वामं चिच्छेद भुजमञ्जसा॥ ९ ॥

ततोऽतिविस्मितो दैत्यः कौ युवां सुरपुङ्गवौ।
मद्बाहुच्छेदकौ लोके दिवि देवेषु वा कुतः॥ १० ॥

ततोऽब्रवीद्धसन्नेव रामो राजीवलोचनः।
अयोध्याधिपतिः श्रीमान् राजा दशरथो महान्॥ ११ ॥

रामोऽहं तस्य पुत्रोऽसौ भ्राता मे लक्ष्मणः सुधीः।
मम भार्या जनकजा सीता त्रैलोक्यसुन्दरी॥ १२ ॥

आवां मृगयया यातौ तदा केनापि रक्षसा।
नीतां सीतां विचिन्वन्तौ चागतौ घोरकानने॥ १३ ॥

बाहुभ्यां वेष्टितावत्र तव प्राणरिरक्षया।
छिन्नौ तव भुजौ त्वं च को वा विकटरूपधृक्॥ १४ ॥

कबन्ध उवाच

धन्योऽहं यदि रामस्त्वमागतोऽसि ममान्तिकम्।
पुरा गन्धर्वराजोऽहं रूपयौवनदर्पितः॥ १५ ॥

विचरँल्लोकमखिलं वरनारीमनोहरः।
तपसा ब्रह्मणो लब्धमवध्यत्वं रघूत्तम॥ १६ ॥

अष्टावक्रं मुनिं दृष्ट्वा कदाचिदहसं पुरा।
क्रुद्धोऽसावाह दुष्ट त्वं राक्षसो भव दुर्मते॥ १७ ॥

अष्टावक्रः पुनः प्राह वन्दितो मे दयापरः।
शापस्यान्तं च मे प्राह तपसा द्योतितप्रभः॥ १८ ॥

त्रेतायुगे दाशरथिर्भूत्वा नारायणः स्वयम्।
आगमिष्यति ते बाहू छिद्येते योजनायतौ॥ १९ ॥

तेन शापाद्विनिर्मुक्तो भविष्यसि यथा पुरा।
इति शप्तोऽहमद्राक्षं राक्षसीं तनुमात्मनः॥ २० ॥

लक्ष्मणजीने कहा—"हे राघव! इसमें अधिक विचारनेकी क्या बात है? हम दोनों सावधान होकर अभी इसकी एक-एक भुजा काट डालें"॥ ८॥ रामचन्द्रजीने कहा, 'बहुत ठीक', और खड्गसे उसकी दायीं भुजा काट डाली। वैसे ही लक्ष्मणजीने भी तुरंत ही उसकी बायीं भुजा उड़ा दी॥ ९॥

तब उस दैत्यने अति विस्मयपूर्वक (कहा—) "मेरी भुजाओंको काटनेवाले तुम कौन देवश्रेष्ठ हो? इस लोकमें अथवा स्वर्गवासी देवताओंमें भी कोई ऐसा (समर्थ) होना सम्भव नहीं"॥ १०॥

इसपर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजीने हँसते हुए कहा—"श्रीमान् महाराज दशरथ अयोध्याके स्वामी थे॥ ११॥ मैं उन्हींका पुत्र 'राम' हूँ और यह बुद्धिमान् मेरा छोटा भाई 'लक्ष्मण' है तथा त्रैलोक्यसुन्दरी जनकनन्दिनी सीता मेरी भार्या है॥ १२॥ हम मृगया (शिकार) के लिये बाहर गये हुए थे कि किसी राक्षसने सीताको चुरा लिया, उसीको ढूँढ़ते हुए हम यहाँ इस घोर वनमें आ गये। इतनेहीमें तुमने हमें अपनी भुजाओंसे घेर लिया। तब हमने अपने प्राण बचानेके लिये तुम्हारी भुजाएँ काट डालीं। अब यह बताओ—ऐसे विकट रूपवाले तुम कौन हो?"॥ १३-१४॥

कबन्धने कहा—"यदि आप राम हैं और स्वयं मेरे पास आये हैं तो मैं धन्य हूँ। पूर्वकालमें मैं रूप और यौवनके मदसे उन्मत्त एक गन्धर्वराज था॥ १५॥ हे रघुश्रेष्ठ! मैंने तपस्याद्वारा ब्रह्माजीसे अवध्यता (किसीसे भी न मारे जा सकनेकी योग्यता) प्राप्त कर ली थी और मैं अपनी रूपकान्तिसे सुन्दर स्त्रियोंके चित्तोंको चुराता हुआ सम्पूर्ण लोकोंमें घूमा करता था॥ १६॥ एक बार अष्टावक्र मुनिको देखकर मैं हँस पड़ा; अतः उन्होंने क्रोधित होकर कहा—"अरे दुष्ट दुर्बुद्धे! तू राक्षस हो जा"॥ १७॥ (उनके शापसे भयभीत होकर जब) मैंने उनकी स्तुति की तो तपके कारण परम तेजस्वी उन दयालु मुनिश्वरने मेरे शापका अन्त इस प्रकार बताया॥ १८॥ (वे बोले—) "त्रेतायुगमें स्वयं नारायण दशरथके यहाँ अवतार लेकर तेरे पास आयेंगे और वे तेरी एक-एक योजन लंबी भुजाओंको काट डालेंगे॥ १९॥ तब तू शापसे छूटकर अपना पूर्वरूप धारण करेगा।" उनके इस

कदाचिद्देवराजानमभ्याद्रवमहं रुषा।
सोऽपि वज्रेण मां राम शिरोदेशेऽभ्यताडयत्॥ २१॥

तदा शिरो गतं कुक्षिं पादौ च रघुनन्दन।
ब्रह्मदत्तवरान्मृत्युर्नाभून्मे वज्रताडनात्॥ २२॥

मुखाभावे कथं जीवेदयमित्यमराधिपम्।
ऊचुः सर्वे दयाविष्टा मां विलोक्यास्यवर्जितम्॥ २३॥

ततो मां प्राह मघवा जठरे ते मुखं भवेत्।
बाहू ते योजनायामौ भविष्यत इतो व्रज॥ २४॥

इत्युक्तोऽत्र वसन्नित्यं बाहुभ्यां वनगोचरान्।
भक्षयाम्यधुना बाहू खण्डितौ मे त्वयानघ॥ २५॥

इतः परं मां श्वभ्रास्ये निक्षिपाग्नीन्धनावृते।
अग्निना दह्यमानोऽहं त्वया रघुकुलोत्तम॥ २६॥

पूर्वरूपमनुप्राप्य भार्यामार्गं वदामि ते।
इत्युक्ते लक्ष्मणेनाशु श्वभ्रं निर्माय तत्र तम्॥ २७॥

निक्षिप्य प्रादहत्काष्ठैस्ततो देहात्समुत्थितः।
कन्दर्पसदृशाकारः सर्वाभरणभूषितः॥ २८॥

रामं प्रदक्षिणं कृत्वा साष्टाङ्गं प्रणिपत्य च।
कृताञ्जलिरुवाचेदं भक्तिगद्गदया गिरा॥ २९॥

गन्धर्व उवाच

स्तोतुमुत्सहते मेऽद्य मनो रामातिसम्भ्रमात्।
त्वामनन्तमनाद्यन्तं मनोवाचामगोचरम्॥ ३०॥

सूक्ष्मं ते रूपमव्यक्तं देहद्वयविलक्षणम्।
दृग्रूपमितरत्सर्वं दृश्यं जडमनात्मकम्।
तत्कथं त्वां विजानीयाद्व्यतिरिक्तं मनः प्रभो॥ ३१॥

बुद्ध्यात्माभासयोरैक्यं जीव इत्यभिधीयते।
बुद्ध्यादिसाक्षी ब्रह्मैव तस्मिन्निर्विषयेऽखिलम्॥ ३२॥

आरोप्यतेऽज्ञानवशान्निर्विकारेऽखिलात्मनि।
हिरण्यगर्भस्ते सूक्ष्मं देहं स्थूलं विराट् स्मृतम्॥ ३३॥

प्रकार शाप देनेसे मैंने अपनेको राक्षसरूपमें देखा॥ २०॥

हे राम! एक बार मैं रोषपूर्वक देवराज इन्द्रके पीछे दौड़ा। तब उसने क्रोधित होकर मेरे सिरपर अपना वज्र मारा॥ २१॥ हे रघुनन्दन! उस वज्रके आघातसे मेरे सिर और पैर पेटमें घुस गये। किन्तु ब्रह्माजीके वरके प्रभावसे मैं मरा नहीं॥ २२॥ मुझे मुखहीन देखकर समस्त (देवताओं) ने दयावश हो देवराजसे कहा—"यह बिना मुखके कैसे जीवित रह सकेगा?"॥ २३॥ तब इन्द्रने मुझसे कहा—"तेरे पेटमें ही मुख होगा और तेरी भुजाएँ एक-एक योजन लंबी हो जायँगी, अब तू यहाँसे चला जा"॥ २४॥ इन्द्रके ऐसा कहनेपर मैं यहीं रहकर नित्यप्रति अपनी भुजाओंसे वनके जीवोंको खींचकर खाता रहा हूँ। हे अनघ! अब उन भुजाओंको आपने काट डाला॥ २५॥ हे रघुकुलश्रेष्ठ! अब आप मुझे एक अग्नि और ईंधनसे युक्त गड्ढेमें डाल दीजिये। आपके द्वारा अग्निसे दग्ध होनेपर अपना पूर्वरूप धारण कर मैं आपकी भार्याका पता बताऊँगा।"

उसके इस प्रकार कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे तुरंत ही एक बड़ा गड्ढा तैयार कराया और उसे उसमें डालकर लकड़ियोंसे जला दिया। तब उसके शरीरसे एक सर्वालंकारविभूषित कामदेवके समान अति सुन्दर पुरुष प्रकट हुआ॥ २६—२८॥ उसने रामचन्द्रजीकी परिक्रमा कर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भक्तिसे गद्गद-कण्ठ हो हाथ जोड़कर कहने लगा॥ २९॥

गन्धर्व बोला—हे राम! आप अनन्त, आदि-अन्तसे रहित और मन-वाणीके अविषय हैं; (तथापि) आज मेरा मन आपकी स्तुति करनेको बड़े वेगसे उत्सुक हो रहा है॥ ३०॥ हे प्रभो! आपके स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर (विराट् और हिरण्यगर्भ) से आपका वास्तविक ज्ञानमय स्वरूप सूक्ष्म अर्थात् योगियोंसे भी सर्वथा दुर्ज्ञेय है। उससे अतिरिक्त जो कुछ है वह जड दृश्य और अनात्मा है। अतः आपसे भिन्न यह जड मन आपको कैसे जान सकता है? बुद्धि और चिदाभासका अन्योन्या-

भावनाविषयो राम सूक्ष्मं ते ध्यातृमङ्गलम्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च यत्रेदं दृश्यते जगत्॥ ३४॥

स्थूलेऽण्डकोशे देहे ते महदादिभिरावृते।
सप्तभिरुत्तरगुणैर्वैराजो धारणाश्रयः॥ ३५॥

त्वमेव सर्वकैवल्यं लोकास्तेऽवयवाः स्मृताः।
पातालं ते पादमूलं पार्ष्णिस्तव महातलम्॥ ३६॥

रसातलं ते गुल्फौ तु तलातलमितीर्यते।
जानुनी सुतलं राम ऊरू ते वितलं तथा॥ ३७॥

अतलं च मही राम जघनं नाभिगं नभः।
उरःस्थलं ते ज्योतींषि ग्रीवा ते मह उच्यते॥ ३८॥

वदनं जनलोकस्ते तपस्ते शङ्खदेशगम्।
सत्यलोको रघुश्रेष्ठ शीर्षण्यास्ते सदा प्रभो॥ ३९॥

इन्द्रादयो लोकपाला बाहवस्ते दिशः श्रुती।
अश्विनौ नासिके राम वक्त्रं तेऽग्निरुदाहृतः॥ ४०॥

चक्षुस्ते सविता राम मनश्चन्द्र उदाहृतः।
भ्रूभङ्ग एव कालस्ते बुद्धिस्ते वाक्पतिर्भवेत्॥ ४१॥

रुद्रोऽहङ्काररूपस्ते वाचश्छन्दांसि तेऽव्यय।
यमस्ते दंष्ट्रदेशस्थो नक्षत्राणि द्विजालयः॥ ४२॥

ध्यासरूप ऐक्य ही जीव कहलाता है। इन बुद्धि आदि सबका साक्षी ब्रह्म ही है; वह मन-वाणी आदि किसीका भी विषय नहीं है, उसी निर्विकार सर्वात्मामें अज्ञानवश इस सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को आरोपित किया जाता है। हे राम! आपका सूक्ष्म देह हिरण्यगर्भ और स्थूल देह विराट् कहलाता है। आपका भावनामय (हृदयकमलमें ध्यान करने योग्य) सूक्ष्म रूप जिसमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान यह सम्पूर्ण जगत् दीख पड़ता है, अपने ध्यान करनेवालोंका मंगल करनेवाला है॥ ३१—३४॥ अपने-अपने उत्तरवर्ती तत्त्वोंसे प्रत्येक दसगुना अधिक महत्तत्त्वादि सात आवरणोंसे* घिरे हुए आपके स्थूल ब्रह्माण्डशरीरमें ही धारणाका आश्रयरूप विराट् शरीर स्थित है॥ ३५॥ आप ही एकमात्र सर्व मोक्षस्वरूप हैं। सम्पूर्ण लोक आपहीके अवयव हैं। पाताल आपका चरणतल (तलुआ) है, महातल एँड़ी है॥ ३६॥ हे राम! रसातल गुल्फ (टखने) हैं, तलातल जानु हैं तथा सुतल आपकी जंघाएँ और वितल आपके दो ऊरु हैं॥ ३७॥ अतल और पृथिवी आपकी जघन भाग (कटिदेश) हैं, भूर्लोक नाभि है, स्वर्लोक वक्षःस्थल है तथा महर्लोक आपकी ग्रीवा है॥ ३८॥ हे रघुश्रेष्ठ! जनलोक आपका मुख है, तपःलोक ललाट है तथा हे प्रभो! सत्यलोक आपका मस्तक है॥ ३९॥ हे राम! इन्द्रादि लोकपालगण आपकी भुजाएँ हैं, दिशाएँ कर्ण हैं, अश्विनीकुमार नासिका हैं और अग्नि आपका मुख बताया गया है॥ ४०॥ हे राम! सूर्य आपके नेत्र हैं, चन्द्रमा मन है, काल भ्रूभंगी है और बृहस्पतिजी आपकी बुद्धि हैं॥ ४१॥ हे निर्विकार! रुद्र आपका अंहकार है, वेद आपकी वाणी है, यम आपकी दाढ़ें हैं और नक्षत्रगण

* यहाँ सांख्य तथा पुराणसम्मत इस प्रकारकी प्रक्रिया टीकामें लिखी है—स्वयम्भू (ब्रह्मा) के सङ्कल्पसे उत्पन्न चतुर्दश भुवन (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्) है, जो स्वयम्भूका स्थूल शरीर है। उसके बाहर चारों ओर पृथिवी तेजसे उत्पन्न अण्ड है जो चतुर्दश भुवनसे दसगुना है। उस अण्डका आवरण पृथिवी है जो अण्डसे दसगुना है। इस पृथिवीका आवरण जल है—यह पृथिवीसे दसगुना अधिक है, जलका आवरण तेज, तेजका आवरण वायु, वायुका आवरण आकाश, आकाशका आवरण अहङ्कार, अहङ्कारका आवरण महत्तत्त्व है; इनमें प्रत्येक आवरण अपने आवरणीय पृथिवी आदिसे दसगुना बड़ा है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये सब आवरण यहाँ सूक्ष्म पृथिवी आदि हैं, स्थूल नहीं हैं।

यहाँ विराट्‌रूपको धारणाका आश्रय (विषय) कहा है। योगदर्शनमें धारणा इस प्रकार कही है—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (३।१)। विषयान्तरको त्यागकर किसी वस्तुमें वृत्तिद्वारा चित्तके स्थिरीकरणका नाम धारणा है।

हासो मोहकरी माया सृष्टिस्तेऽपाङ्गमोक्षणम्।
धर्मः पुरस्तेऽधर्मश्च पृष्ठभाग उदीरितः ॥ ४३ ॥

निमिषोन्मेषणे रात्रिर्दिवा चैव रघूत्तम।
समुद्राः सप्त ते कुक्षिर्नाड्यो नद्यस्तव प्रभो ॥ ४४ ॥

रोमाणि वृक्षौषधयो रेतो वृष्टिस्तव प्रभो।
महिमा ज्ञानशक्तिस्ते एवं स्थूलं वपुस्तव ॥ ४५ ॥

यदस्मिन् स्थूलरूपे ते मनः सन्धार्यते नरैः।
अनायासेन मुक्तिः स्यादतोऽन्यन्नहि किञ्चन ॥ ४६ ॥

अतोऽहं राम रूपं ते स्थूलमेवानुभावये।
यस्मिन्ध्याते प्रेमरसः सरोमपुलको भवेत् ॥ ४७ ॥

तदैव मुक्तिः स्याद्राम यदा ते स्थूलभावकः।
तदप्यास्तां तवैवाहमेतद्रूपं विचिन्तये ॥ ४८ ॥

धनुर्बाणधरं श्यामं जटावल्कलभूषितम्।
अपीच्यवयसं सीतां विचिन्वन्तं सलक्ष्मणम् ॥ ४९ ॥

इदमेव सदा मे स्यान्मानसे रघुनन्दन।
सर्वज्ञः शङ्करः साक्षात्पार्वत्या सहितः सदा ॥ ५० ॥

त्वद्रूपमेवं सततं ध्यायन्नास्ते रघूत्तम।
मुमूर्षूणां तदा काश्यां तारकं ब्रह्मवाचकम् ॥ ५१ ॥

रामरामेत्युपदिशन्सदा सन्तुष्टमानसः।
अतस्त्वं जानकीनाथ परमात्मा सुनिश्चितः ॥ ५२ ॥

सर्वे ते मायया मूढास्त्वां न जानन्ति तत्त्वतः।
नमस्ते रामभद्राय वेधसे परमात्मने ॥ ५३ ॥

अयोध्याधिपते तुभ्यं नमः सौमित्रिसेवित।
त्राहि त्राहि जगन्नाथ मां माया नावृणोतु ते ॥ ५४ ॥

श्रीराम उवाच

तुष्टोऽहं देवगन्धर्व भक्त्या स्तुत्या च तेऽनघ।
याहि मे परमं स्थानं योगिगम्यं सनातनम् ॥ ५५ ॥

आपकी दन्तावलि है ॥ ४२ ॥ सबको मोहित करनेवाली माया आपका हास्य है, सृष्टि आपका कटाक्ष है, धर्म आपका आगेका भाग है और अधर्म पीछेका भाग है ॥ ४३ ॥ हे रघूत्तम ! रात और दिन आपके निमेषोन्मेष हैं। हे प्रभो ! सातों समुद्र आपकी कुक्षि और नदियाँ नाड़ियाँ हैं ॥ ४४ ॥ हे प्रभो ! वृक्ष और ओषधियाँ आपके रोम, वृष्टि आपका वीर्य और ज्ञानशक्ति आपकी महिमा है। यही आपका स्थूल शरीर है ॥ ४५ ॥ यदि पुरुष आपके इस स्थूल शरीरमें मन स्थिर करे (धारणा करे) तो वह अनायास ही मुक्त हो जाता है। हे राम ! आपके इस स्थूल रूपसे पृथक् और कोई पदार्थ नहीं है ॥ ४६ ॥ अतः हे राम ! मैं आपके उस स्थूल रूपका ही सदा चिन्तन करता हूँ, जिसके ध्यानमात्रसे ही शरीरमें रोमाञ्चके सहित (हृदयमें) प्रेम-रसका सञ्चार हो जाता है ॥ ४७ ॥ हे राम ! जब यह जीव आपके विराट् रूपका चिन्तन करता है तो तत्काल ही उसकी मुक्ति हो जाती है तो भी मुझे उसकी आवश्यकता नहीं। मैं तो आपके इस (रामरूप) का ही चिन्तन करूँगा ॥ ४८ ॥ हे रघुनन्दन ! (मेरी यही प्रार्थना है कि) लक्ष्मणजीके सहित सीताको खोजता हुआ आपका यह जटा-वल्कल-विभूषित धनुष-बाणधारी तरुणवयस्क श्यामरूप सदा मेरे मनमें विराजमान रहे। हे रघुश्रेष्ठ ! आपके इस दिव्य रूपका पार्वतीजीके सहित सर्वज्ञ श्रीशङ्करभगवान् सर्वदा चिन्तन किया करते हैं और काशीमें मरनेवालोंको ब्रह्मवाचक 'राम-राम' इस तारक-मन्त्रका उपदेश करते हुए सदा अति आनन्दमें मग्नचित्त रहते हैं। अतः हे जानकीनाथ ! आप निश्चय ही परमात्मा हैं ॥ ४९—५२ ॥ आपकी मायासे मोहित होनेके कारण सब लोग आपका वास्तविक स्वरूप नहीं जानते। हे संसारकी रचना करनेवाले परमात्मा राम ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ५३ ॥ हे सौमित्रिसेवित अयोध्यानाथ ! आपको नमस्कार है। हे जगन्नाथ ! आप मेरी रक्षा कीजिये, आपकी माया मुझे मोहित न करे ॥ ५४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले—हे देवगन्धर्व ! मैं तुम्हारी भक्ति और स्तुतिसे अति सन्तुष्ट हूँ। हे अनघ ! तुम योगियोंके प्राप्त करनेयोग्य मेरे सनातन परमधामको जाओ ॥ ५५ ॥

जपन्ति ये नित्यमनन्यबुद्ध्या
भक्त्या त्वदुक्तं स्तवमागमोक्तम्।
तेऽज्ञानसंभूतभवं विहाय
मां यान्ति नित्यानुभवानुमेयम्॥ ५६॥

जो लोग तुम्हारे इस आगमोक्त स्तोत्रका अनन्य बुद्धिसे नित्य भक्तिपूर्वक जप करेंगे, वे अन्तमें अज्ञानजन्य संसारसे मुक्त होकर जगत्‌रूप कार्यके द्वारा अनुमान करनेयोग्य ज्ञानस्वरूप नित्य मुझ परमात्माको प्राप्त करेंगे॥ ५६॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अरण्यकाण्डे नवमः सर्गः॥ ९॥

दशम सर्ग

शबरीसे भेंट

श्रीमहादेव उवाच

लब्ध्वा वरं स गन्धर्वः प्रयास्यन् राममब्रवीत्।
शबर्यास्ते पुरोभागे आश्रमे रघुनन्दन॥ १॥

भक्त्या त्वत्पादकमले भक्तिमार्गविशारदा।
तां प्रयाहि महाभाग सर्वं ते कथयिष्यति॥ २॥

इत्युक्त्वा प्रययौ सोऽपि विमानेनार्कवर्चसा।
विष्णोः पदं रामनामस्मरणे फलमीदृशम्॥ ३॥

श्रीमहादेवजी बोले—(हे पार्वति!) (भगवान् रामसे) वर पाकर (उनके परमधामको) जाते हुए उस गन्धर्वने कहा—"हे रघुनन्दन! सामनेवाले आश्रममें शबरी रहती है। वह आपके चरण-कमलोंमें अति अनुराग रखनेके कारण भक्ति-मार्गमें कुशल है। हे महाभाग! आप वहाँ पधारिये। वह आपको (सीताजीके सम्बन्धमें) सब बातें बता देगी"॥ १-२॥ ऐसा कहकर वह एक सूर्यके समान तेजस्वी विमानपर चढ़कर विष्णुलोकको चला गया। (सच है) रामनाम-स्मरणका फल ऐसा ही है॥ ३॥

त्यक्त्वा तद्विपिनं घोरं सिंहव्याघ्रादिदूषितम्।
शनैरथाश्रमपदं शबर्या रघुनन्दनः॥ ४॥

शबरी राममालोक्य लक्ष्मणेन समन्वितम्।
आयान्तमाराद्धर्षेण प्रत्युत्थायाचिरेण सा॥ ५॥

पतित्वा पादयोरग्रे हर्षपूर्णाश्रुलोचना।
स्वागतेनाभिनन्द्याथ स्वासने संन्यवेशयत्॥ ६॥

रामलक्ष्मणयोः सम्यक्पादौ प्रक्षाल्य भक्तितः।
तज्जलेनाभिषिच्याङ्गमथार्घ्यादिभिरादृता॥ ७॥

सम्पूज्य विधिवद्रामं ससौमित्रिं सपर्यया।
सङ्गृहीतानि दिव्यानि रामार्थं शबरी मुदा॥ ८॥

फलान्यमृतकल्पानि ददौ रामाय भक्तितः।
पादौ सम्पूज्य कुसुमैः सुगन्धैः सानुलेपनैः॥ ९॥

तदनन्तर सिंह, व्याघ्रादिसे दूषित उस घोर वनको छोड़कर श्रीरघुनाथजी धीरे-धीरे शबरीके आश्रमपर पहुँचे॥ ४॥ लक्ष्मणके सहित श्रीरामचन्द्रजीको समीप ही आते देख शबरी अत्यन्त हर्षसे तुरंत उठ खड़ी हुई॥ ५॥ उसके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भर आये और वह भगवान् रामके चरणोंमें गिर पड़ी तथा उनका स्वागत कर कुशल-प्रश्नादिके अनन्तर उन्हें सुन्दर आसनपर बैठाया॥ ६॥ तदनन्तर भक्तिसे श्रीराम और लक्ष्मणके चरण अच्छी प्रकार धोये और उस चरणोदकको अपने अङ्गोंपर छिड़ककर श्रद्धायुक्त होकर अर्घ्यादि विविध सामग्रियोंसे राम और लक्ष्मणका विधिवत् पूजन कर, जो अमृतके समान दिव्य फल उसने श्रीरामचन्द्रजीके लिये इकट्ठे कर रखे थे, वे हर्षसे लाकर भक्तिपूर्वक उन्हें दिये और उनके चरण-कमलोंका चन्दनयुक्त सुगन्धित पुष्पोंसे पूजन किया॥ ७—९॥

कृतातिथ्यं रघुश्रेष्ठमुपविष्टं सहानुजम्।
शबरी भक्तिसम्पन्ना प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥ १०॥

अत्राश्रमे रघुश्रेष्ठ गुरवो मे महर्षयः।
स्थिताः शुश्रूषणं तेषां कुर्वती समुपस्थिता॥ ११॥

बहुवर्षसहस्राणि गतास्ते ब्रह्मणः पदम्।
गमिष्यन्तोऽब्रुवन्मां त्वं वसात्रैव समाहिता॥ १२॥

रामो दाशरथिर्जातः परमात्मा सनातनः।
राक्षसानां वधार्थाय ऋषीणां रक्षणाय च॥ १३॥

आगमिष्यति सैकाग्रध्याननिष्ठा स्थिरा भव।
इदानीं चित्रकूटाद्रावाश्रमे वसति प्रभुः॥ १४॥

यावदागमनं तस्य तावद्रक्ष कलेवरम्।
दृष्ट्वैव राघवं दग्ध्वा देहं यास्यसि तत्पदम्॥ १५॥

तथैवाकरवं राम त्वद्ध्यानैकपरायणा।
प्रतीक्ष्यागमनं तेऽद्य सफलं गुरुभाषितम्॥ १६॥

तव सन्दर्शनं राम गुरूणामपि मे न हि।
योषिन्मूढाप्रमेयात्मन् हीनजातिसमुद्भवा॥ १७॥

तव दासस्य दासानां शतसङ्ख्योत्तरस्य वा।
दासीत्वे नाधिकारोऽस्ति कुतः साक्षात्तवैव हि॥ १८॥

कथं रामाद्य मे दृष्टस्त्वं मनोवागगोचरः।
स्तोतुं न जाने देवेश किं करोमि प्रसीद मे॥ १९॥

श्रीराम उवाच

पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम्॥ २०॥

यज्ञदानतपोभिर्वा वेदाध्ययनकर्मभिः।
नैव द्रष्टुमहं शक्यो मद्भक्तिविमुखैः सदा॥ २१॥

तस्माद्भामिनि सङ्क्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम्।
सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्॥ २२॥

(इस प्रकार) आतिथ्य-सत्कार हो चुकनेपर जब श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजीके सहित आसनपर विराजमान थे, शबरीने भक्तिपूर्वक हाथ जोड़कर कहा— ॥ १०॥ "हे रघुश्रेष्ठ! इस आश्रममें पहले मेरे गुरु महर्षि (मतंग) रहा करते थे; मैं उनकी सेवा-शुश्रूषा करती हुई यहाँ हजारों वर्षोंसे रहती हूँ। अब वे महर्षिश्रेष्ठ ब्रह्मलोकको चले गये हैं। जाते समय उन्होंने मुझसे कहा था कि तू एकाग्रचित्त होकर यहीं रह॥ ११-१२॥ सनातन परमात्माने राक्षसोंको मारने और ऋषियोंकी रक्षा करनेके लिये राजा दशरथके पुत्र रामरूपसे अवतार लिया है॥ १३॥ वे (शीघ्र ही) यहाँ आयेंगे। तू एकाग्रचित्तसे उनका ध्यान करती हुई यहाँ रह। आजकल भगवान् रामजी चित्रकूट पर्वतके आश्रममें विराजमान हैं॥ १४॥ जबतक वे आवें तबतक तू अपने शरीरका पालन कर। रघुनाथजीके आनेपर उनका दर्शन करते हुए इस शरीरको जलाकर तू उनके परमधामको चली जायगी॥ १५॥ हे राम! गुरुजीके कथनानुसार मैं तभीसे केवल आपका ध्यान करती हुई आपके आनेकी बाट देख रही थी। आज गुरुजीका वह वाक्य सफल हो गया॥ १६॥ हे राम! आपका दर्शन तो मेरे गुरुदेवको भी नहीं हुआ। फिर हे अप्रमेयात्मन्! मैं तो नीच-जातिमें उत्पन्न हुई एक गँवारी नारी ही हूँ! (मेरी तो बात ही क्या है?) ॥ १७॥ जो आपके दासोंके दास हैं उनके भी जो उत्तरोत्तर सैकड़ों दासानुदास हैं मैं तो उनकी दासी होनेकी भी अधिकारिणी नहीं हूँ; फिर साक्षात् आपकी दासी कहलानेका तो मेरा मुँह ही कहाँ है॥ १८॥ हे राम! आप तो मन या वाणीके विषय नहीं हैं (फिर न जाने) आज मुझे आपका दर्शन कैसे हो गया। हे देवेश्वर! मैं आपकी स्तुति करना नहीं जानती। अब मैं क्या करूँ? प्रभो! आप स्वयं ही (अपनी दयालुतासे) मुझपर प्रसन्न होइये" ॥ १९॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले—पुरुषत्व-स्त्रीत्वका भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम—ये कोई भी मेरे भजनके कारण नहीं हैं। उसका कारण तो एकमात्र मेरी भक्ति ही है॥ २०॥ जो मेरी भक्तिसे विमुख हैं, वे यज्ञ, दान, तप अथवा वेदाध्ययन आदि किसी भी कर्मसे मुझे कभी नहीं देख सकते॥ २१॥ अतः हे भामिनि! मैं संक्षेपसे अपनी भक्तिके साधनोंका वर्णन करता हूँ। उनमें

द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्॥ २३॥

आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्यामायया सदा।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च॥ २४॥

निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम्।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते॥ २५॥

मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा॥ २६॥

अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा॥ २७॥

स्त्रियो वा पुरुषस्यापि तिर्यग्योनिगतस्य वा।
भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे॥ २८॥

भक्तौ सञ्जातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि॥ २९॥

स्यात्तस्मात्कारणं भक्तिर्मोक्षस्येति सुनिश्चितम्।
प्रथमं साधनं यस्य भवेत्तस्य क्रमेण तु॥ ३०॥

भवेत्सर्वं ततो भक्तिर्मुक्तिरेव सुनिश्चितम्।
यस्मान्मद्भक्तियुक्ता त्वं ततोऽहं त्वामुपस्थितः॥ ३१॥

इतो मद्दर्शनान्मुक्तिस्तव नास्त्यत्र संशयः।
यदि जानासि मे ब्रूहि सीता कमललोचना॥ ३२॥

कुत्रास्ते केन वा नीता प्रिया मे प्रियदर्शना॥ ३३॥

पहला साधन तो सत्सङ्ग ही है॥ २२॥ मेरे जन्म-कर्मोंकी कथाका कीर्तन करना दूसरा साधन है, मेरे गुणोंकी चर्चा करना—यह तीसरा उपाय है और (गीता-उपनिषदादि) मेरे वाक्योंकी व्याख्या करना उसका चौथा साधन है॥ २३॥ हे भद्रे! अपने गुरुदेवकी निष्कपट होकर भगवद्बुद्धिसे सेवा करना पाँचवाँ, पवित्र स्वभाव, यम-नियमादिका पालन और मेरी पूजामें सदा प्रेम होना छठा तथा मेरे मन्त्रकी साङ्गोपाङ्ग उपासना करना सातवाँ साधन कहा जाता है॥ २४-२५॥ मेरे भक्तोंकी मुझसे भी अधिक पूजा करना, समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना करना, बाह्य पदार्थोंमें वैराग्य करना और शम-दमादि-सम्पन्न होना—यह मेरी भक्तिका आठवाँ साधन है तथा तत्त्वविचार करना नवाँ है। हे भामिनि! इस प्रकार यह नौ प्रकारकी भक्ति है। हे शुभलक्षणे! जिस किसीमें ये साधन होते हैं वह स्त्री, पुरुष अथवा पशु-पक्षी आदि कोई भी क्यों न हो उसमें प्रेम-लक्षणा-भक्तिका आविर्भाव हो ही जाता है॥ २६—२८॥ भक्तिके उत्पन्न होनेमात्रसे ही मेरे स्वरूपका अनुभव हो जाता है और जिसे मेरा अनुभव हो जाता है उसकी उसी जन्ममें निस्सन्देह मुक्ति हो जाती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि मोक्षका कारण भक्ति ही है। (भक्तिके उपर्युक्त नौ साधनोंमेंसे) जिसमें पहला साधन होता है उसमें क्रमशः ये सभी आ जाते हैं। तब फिर उसे भक्ति तथा मुक्तिका प्राप्त होना निश्चित ही है। तू मेरी भक्तिसे युक्त है इसीलिये मैं तेरे पास आया हूँ॥ २९—३१॥ (अब) मेरा यह दर्शन होनेसे तेरी मुक्ति हो ही जायगी—इसमें सन्देह नहीं। यदि तुझे पता हो तो बता इस समय कमललोचना सीता कहाँ है। मेरी प्रियदर्शना प्रियाको कौन ले गया है?॥ ३२-३३॥

शबर्युवाच

देव जानासि सर्वज्ञ सर्वं त्वं विश्वभावन।
तथापि पृच्छसे यन्मां लोकाननुसृतः प्रभो॥ ३४॥

ततोऽहमभिधास्यामि सीता यत्राधुना स्थिता।
रावणेन हृता सीता लङ्कायां वर्ततेऽधुना॥ ३५॥

शबरी बोली—हे देव! हे सर्वज्ञ! हे विश्वभावन! आप सभी कुछ जानते हैं। तथापि हे प्रभो! लोकाचारका अनुसरण करते हुए यदि आप मुझसे पूछते हैं तो इस समय सीताजी जहाँ हैं वह मैं आपको बतलाती हूँ। सीताजीको रावण हर ले गया है और इस समय वे लङ्कामें

इतः समीपे रामास्ते पम्पानाम सरोवरम्।
ऋष्यमूकगिरिर्नाम तत्समीपे महानगः ॥ ३६ ॥

चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्धं सुग्रीवो वानराधिपः।
भीतभीतः सदा यत्र तिष्ठत्यतुलविक्रमः ॥ ३७ ॥

वालिनश्च भयाद् भ्रातुस्तदगम्यमृषेर्भयात्।
वालिनस्तत्र गच्छ त्वं तेन सख्यं कुरु प्रभो ॥ ३८ ॥

सुग्रीवेण स सर्वं ते कार्यं सम्पादयिष्यति।
अहमग्निं प्रवेक्ष्यामि तवाग्रे रघुनन्दन ॥ ३९ ॥

मुहूर्तं तिष्ठ राजेन्द्र यावद्दग्ध्वा कलेवरम्।
यास्यामि भगवन् राम तव विष्णोः परं पदम् ॥ ४० ॥

इति रामं समामन्त्र्य प्रविवेश हुताशनम्।
क्षणान्निर्धूय सकलमविद्याकृतबन्धनम्।
रामप्रसादाच्छबरी मोक्षं प्रापातिदुर्लभम् ॥ ४१ ॥

किं दुर्लभं जगन्नाथे श्रीरामे भक्तवत्सले।
प्रसन्नेऽधमजन्मापि शबरी मुक्तिमाप सा ॥ ४२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणा मुख्याः पुण्याः श्रीरामचिन्तकाः।
मुक्तिं यान्तीति तद्भक्तिर्मुक्तिरेव न संशयः ॥ ४३ ॥

भक्तिर्मुक्तिविधायिनी भगवतः
श्रीरामचन्द्रस्य हे
लोकाः कामदुघाङ्घ्रिपद्मयुगलं
सेवध्वमत्युत्सुकाः।

नानाज्ञानविशेषमन्त्रविततिं
त्यक्त्वा सुदूरे भृशं
रामं श्यामतनुं स्मरारिहृदये
भान्तं भजध्वं बुधाः ॥ ४४ ॥

हैं ॥ ३४-३५ ॥ हे राम ! यहाँसे पास ही पम्पा नामका एक सरोवर है। उसके समीप ऋष्यमूक नामका एक बहुत बड़ा पर्वत है ॥ ३६ ॥ वहाँ अतुलित पराक्रमी वानरराज सुग्रीव अपने भाई वालीके भयसे सदा अत्यन्त डरता हुआ अपने चार मन्त्रियोंके साथ रहता है। ऋषि-शापके भयसे वह स्थान वालीके लिये सर्वथा अगम्य है। हे प्रभो ! आप वहाँ जाइये और उस सुग्रीवसे मित्रता कीजिये। वह आपका सब कार्य सिद्ध करेगा। हे रघुनन्दन ! अब मैं आपके सामने ही अग्निमें प्रवेश करूँगी ॥ ३७—३९ ॥ हे राजेश्वर ! हे भगवन् ! हे राम ! जबतक मैं अपने शरीरको जलाकर आप विष्णुभगवान्के परमधामको जाऊँ, तबतक आप एक मुहूर्त यहाँ और ठहरिये ॥ ४० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके साथ इस प्रकार सम्भाषण करनेके अनन्तर शबरीने अग्निमें प्रवेश किया और एक क्षणमें ही समस्त अविद्याजन्य बन्धनोंको नष्टकर भगवान् रामकी कृपासे अति दुर्लभ मोक्ष-पद प्राप्त किया ॥ ४१ ॥ भक्तवत्सल जगन्नाथ श्रीरामके प्रसन्न होनेपर क्या दुर्लभ है। (देखो, उनकी कृपासे) नीच जातिमें उत्पन्न हुई शबरीने भी मोक्षपद प्राप्त कर लिया ॥ ४२ ॥ फिर श्रीरामका ध्यान करनेवाले पुण्यजन्मा ब्राह्मणादि यदि मुक्त हो जायँ तो इसमें क्या आश्चर्य है ? निस्सन्देह, भगवान् रामकी भक्ति ही मुक्ति है ॥ ४३ ॥ अरे लोगो ! भगवान् श्रीरामचन्द्रकी भक्ति ही मोक्ष देनेवाली है। अतः कामधेनुरूप उनके चरण-युगलोंकी अति उत्सुकतासे सेवा करो। हे बुद्धिमान् लोगो ! इन विविध विज्ञान-वार्ताओं और मन्त्र-विस्तारको अत्यन्त दूर—अलग रखकर तुरंत ही श्रीशंकरके हृदयधाममें शोभा पानेवाले श्यामशरीर भगवान् रामका अत्यन्त भजन करो ॥ ४४ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे अरण्यकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

समाप्तमिदमरण्यकाण्डम्।

ॐ

अध्यात्मरामायण

किष्किन्धाकाण्ड

प्रथम सर्ग

सुग्रीवसे भेंट

श्रीमहादेव उवाच

ततः सलक्ष्मणो रामः शनैः पम्पापरस्तटम्।
आगत्य सरसां श्रेष्ठं दृष्ट्वा विस्मयमाययौ ॥ १ ॥

क्रोशमात्रं सुविस्तीर्णमगाधामलशम्बरम्।
उत्फुल्लाम्बुजकह्लारकुमुदोत्पलमण्डितम् ॥ २ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णं चक्रवाकादिशोभितम्।
जलकुक्कुटकोयष्टिक्रौञ्चनादोपनादितम् ॥ ३ ॥

नानापुष्पलताकीर्णं नानाफलसमावृतम्।
सतां मनःस्वच्छजलं पद्मकिञ्जल्कवासितम् ॥ ४ ॥

तत्रोपस्पृश्य सलिलं पीत्वा श्रमहरं विभुः।
सानुजः सरसस्तीरे शीतलेन पथा ययौ ॥ ५ ॥

ऋष्यमूकगिरेः पार्श्वे गच्छन्तौ रामलक्ष्मणौ।
धनुर्बाणकरौ दान्तौ जटावल्कलमण्डितौ।
पश्यन्तौ विविधान्वृक्षान् गिरेः शोभां सुविक्रमौ ॥ ६ ॥

सुग्रीवस्तु गिरेर्मूर्ध्नि चतुर्भिः सह वानरैः।
स्थित्वा ददर्श तौ यान्तावारुरोह गिरेः शिरः ॥ ७ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके सहित धीरे-धीरे पम्पासरके तटपर आये। उस सुन्दर सरोवरको देखकर उन्हें बड़ा विस्मय हुआ ॥ १ ॥ उसका विस्तार एक कोसका था और उसमें अति निर्मल अगाध जल भरा हुआ था तथा सब ओर खिले हुए कमल, कह्लार, कुमुद और उत्पल आदि सुशोभित हो रहे थे ॥ २ ॥ उस सरोवरमें जहाँ-तहाँ हंस और कारण्डव आदि पक्षी विहार कर रहे थे, चक्रवाकादि उसकी शोभा बढ़ा रहे थे और जलकुक्कुट, कोयष्टि तथा क्रौंच आदि पक्षियोंके कलरवसे वह शब्दायमान हो रहा था ॥ ३ ॥ वह चित्र-विचित्र पुष्प-लताओंसे परिपूर्ण और नाना प्रकारके फलवाले वृक्षोंसे घिरा हुआ था तथा उसका कमलकेशरसे सुवासित जल सज्जनोंके चित्तके समान स्वच्छ था ॥ ४ ॥

वहाँ पहुँचनेपर छोटे भाई लक्ष्मणके सहित प्रभु रामने आचमनकर उस सरोवरका श्रमहारी शीतल जल पीया और फिर उसके किनारे-किनारे शीतल छायायुक्त मार्गसे चलने लगे ॥ ५ ॥ इस प्रकार जटावल्कलविभूषित जितेन्द्रिय परम पराक्रमी राम और लक्ष्मण, जब हाथमें धनुष-बाण लिये विविध वृक्षों और पर्वतकी शोभाको निहारते हुए ऋष्यमूक पर्वतकी बगलमें चल रहे थे ॥ ६ ॥ उस समय अपने चार मन्त्रियोंके सहित गिरि-शिखरपर बैठे हुए सुग्रीवने उन्हें उधर जाते देखा और वह सबसे ऊँचे शिखरपर चढ़ गया ॥ ७ ॥

भयादाह हनूमन्तं कौ तौ वीरवरौ सखे।
गच्छ जानीहि भद्रं ते वटुर्भूत्वा द्विजाकृतिः ॥ ८ ॥

वालिना प्रेषितौ किंवा मां हन्तुं समुपागतौ।
ताभ्यां सम्भाषणं कृत्वा जानीहि हृदयं तयोः ॥ ९ ॥

यदि तौ दुष्टहृदयौ संज्ञां कुरु कराग्रतः।
विनयावनतो भूत्वा एवं जानीहि निश्चयम् ॥ १० ॥

तथेति वटुरूपेण हनुमान् समुपागतः।
विनयावनतो भूत्वा रामं नत्वेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

कौ युवां पुरुषव्याघ्रौ युवानौ वीरसम्मतौ।
द्योतयन्तौ दिशः सर्वाः प्रभया भास्कराविव ॥ १२ ॥

युवां त्रैलोक्यकर्ताराविति भाति मनो मम।
युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ ॥ १३ ॥

मायया मानुषाकारौ चरन्ताविव लीलया।
भूभारहरणार्थाय भक्तानां पालनाय च ॥ १४ ॥

अवतीर्णाविह परौ चरन्तौ क्षत्रियाकृती।
जगत्स्थितिलयौ सर्गं लीलया कर्तुमुद्यतौ ॥ १५ ॥

स्वतन्त्रौ प्रेरकौ सर्वहृदयस्थाविहेश्वरौ।
नरनारायणौ लोके चरन्ताविति मे मतिः ॥ १६ ॥

श्रीरामो लक्ष्मणं प्राह पश्यैनं वटुरूपिणम्।
शब्दशास्त्रमशेषेण श्रुतं नूनमनेकधा ॥ १७ ॥

अनेन भाषितं कृत्स्नं न किञ्चिदपशब्दितम्।
ततः प्राह हनूमन्तं राघवो ज्ञानविग्रहः ॥ १८ ॥

अहं दाशरथी रामस्त्वयं मे लक्ष्मणोऽनुजः।
सीतया भार्यया सार्धं पितुर्वचनगौरवात् ॥ १९ ॥

आगतस्तत्र विपिने स्थितोऽहं दण्डके द्विज।
तत्र भार्या हता सीता रक्षसा केनचिन्मम।
तामन्वेष्टुमिहायातौ त्वं को वा कस्य वा वद ॥ २० ॥

फिर भयभीत होकर हनुमान्‌जीसे बोला—"मित्र ! देखो, ये दो वीरवर कौन हैं। तुम्हारा कल्याण हो, तुम ब्राह्मण ब्रह्मचारीके वेषमें उनके पास जाकर यह मालूम तो करो ॥ ८ ॥ तुम उनसे बातचीत करके उनके यहाँ आनेका अभिप्राय मालूम करना। ऐसा न हो, वे वालीके भेजनेसे मुझे मारनेके लिये आ रहे हों ॥ ९ ॥ यदि तुम्हें उनका हृदय दूषित मालूम हो तो अपनी अँगुलीसे मुझे संकेत कर देना। देखो, बड़े विनीत होकर यह सब भेद मालूम कर लेना" ॥ १० ॥

तब हनुमान्‌जी सुग्रीवसे 'जो आज्ञा' कह ब्रह्मचारीका वेष बनाकर रघुनाथजीके पास आये और बड़ी नम्रतासे उन्हें नमस्कार कर बोले— ॥ ११ ॥ "हे पुरुषव्याघ्र ! आप दोनों कौन हैं ? आपकी युवावस्था है और आप बड़े वीर मालूम होते हैं। अहो ! अपने शरीरकी कान्तिसे आपने समस्त दिशाओंको सूर्यके समान प्रकाशमान कर रखा है ॥ १२ ॥ मेरा मन तो यह कहता है कि आप दोनों त्रिलोकीके रचनेवाले संसारके कारणभूत जगन्मय प्रधान और पुरुष ही हैं ॥ १३ ॥ आप मानो पृथिवीका भार उतारने और भक्तजनोंकी रक्षा करनेके लिये ही लीलावश अपनी मायासे मनुष्यरूप धारण कर विचर रहे हैं ॥ १४ ॥ आप साक्षात् परमात्मा ही क्षत्रियकुमारके रूपमें अवतीर्ण होकर पृथिवीपर घूम रहे हैं। आप लीलाहीसे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और (दुष्टोंका) नाश करनेमें तत्पर हैं ॥ १५ ॥ मेरी बुद्धिमें तो यही आता है कि आप सबके हृदयमें विराजमान, सबके प्रेरक, परम स्वतन्त्र भगवान् नर-नारायण ही इस लोकमें विचर रहे हैं" ॥ १६ ॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे कहा—"लक्ष्मण ! इस ब्रह्मचारीको देखो। अवश्य ही इसने सम्पूर्ण शब्दशास्त्र (व्याकरण) कई बार भली प्रकार पढ़ा है ॥ १७ ॥ देखो, इसने इतनी बातें कहीं किन्तु इसके बोलनेमें कहीं कोई एक भी अशुद्धि नहीं हुई।" तदनन्तर विज्ञानघन श्रीरघुनाथजीने हनुमान्‌जीसे कहा— ॥ १८ ॥ "हे द्विज ! मैं दशरथका पुत्र राम हूँ और यह मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है। मैं पिताकी आज्ञा मानकर अपनी स्त्री सीताके सहित वनमें आया था और यहाँ दण्डकारण्यमें रहता था। वहाँ किसी राक्षसने मेरी भार्या सीताको हर लिया। उसे ढूँढ़नेके लिये हम यहाँ आये हैं। कहिये, आप कौन हैं और किसके पुत्र हैं !" ॥ १९-२० ॥

वटुरुवाच

सुग्रीवो नाम राजा यो वानराणां महामतिः ।
चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्धं गिरिमूर्धनि तिष्ठति ॥ २१ ॥

भ्राता कनीयान्सुग्रीवो वालिनः पापचेतसः ।
तेन निष्कासितो भार्या हृता तस्येह वालिना ॥ २२ ॥

तद्भयादृष्यमूकाख्यं गिरिमाश्रित्य संस्थितः ।
अहं सुग्रीवसचिवो वायुपुत्रो महामते ॥ २३ ॥

हनूमान्नाम विख्यातो ह्यञ्जनीगर्भसम्भवः ।
तेन सख्यं त्वया युक्तं सुग्रीवेण रघूत्तम ॥ २४ ॥

भार्यापहारिणं हन्तुं सहायस्ते भविष्यति ।
इदानीमेव गच्छाम आगच्छ यदि रोचते ॥ २५ ॥

श्रीराम उवाच

अहमप्यागतस्तेन सख्यं कर्तुं कपीश्वर ।
सख्युस्तस्यापि यत्कार्यं तत्करिष्याम्यसंशयम् ॥ २६ ॥

हनूमान् स्वस्वरूपेण स्थितो राममथाब्रवीत् ।
आरोहतां मम स्कन्धौ गच्छामः पर्वतोपरि ॥ २७ ॥

यत्र तिष्ठति सुग्रीवो मन्त्रिभिर्वालिनो भयात् ।
तथेति तस्यारुरोह स्कन्धं रामोऽथ लक्ष्मणः ॥ २८ ॥

उत्पपात गिरेर्मूर्ध्नि क्षणादेव महाकपिः ।
वृक्षच्छायां समाश्रित्य स्थितौ तौ रामलक्ष्मणौ ॥ २९ ॥

हनूमानपि सुग्रीवमुपगम्य कृताञ्जलिः ।
व्येतु ते भयमायातौ राजन् श्रीरामलक्ष्मणौ ॥ ३० ॥

शीघ्रमुत्तिष्ठ रामेण सख्यं ते योजितं मया ।
अग्निं साक्षिणमारोप्य तेन सख्यं द्रुतं कुरु ॥ ३१ ॥

ततोऽतिहर्षात्सुग्रीवः समागम्य रघूत्तमम् ।
वृक्षशाखां स्वयं छित्त्वा विष्टराय ददौ मुदा ॥ ३२ ॥

ब्रह्मचारी बोले—महामति सुग्रीव वानरोंके राजा हैं। वे अपने चार मन्त्रियोंके साथ इस पर्वतके शिखरपर रहते हैं ॥ २१ ॥ वे दुष्टचित्त वालीके छोटे भाई हैं। उस वालीने उनकी स्त्री छीनकर उन्हें घरसे निकाल दिया है ॥ २२ ॥ अतः उसके भयसे वे इस ऋष्यमूक पर्वतपर ही रहते हैं। हे महामते ! मैं उन्हीं सुग्रीवका मन्त्री और वायुका पुत्र हूँ ॥ २३ ॥ मेरा जन्म माता अञ्जनीके गर्भसे हुआ है और मैं 'हनूमान्' नामसे विख्यात हूँ। हे रघुश्रेष्ठ ! आपको महाराज सुग्रीवसे मित्रता करनी चाहिये ॥ २४ ॥ वे आपकी भार्याको चुरानेवालेका वध करनेमें आपके सहायक होंगे। आइये, यदि आपकी इच्छा हो तो अभी उनके पास चलें ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले—हे कपीश्वर ! मैं भी उनसे मित्रता करनेके लिये आया हूँ। उन मित्रवरका भी जो कुछ कार्य होगा, वह मैं निस्सन्देह पूर्ण कर दूँगा ॥ २६ ॥

यह सुनकर हनूमान्‌जीने अपना रूप धारण कर रामसे कहा, ''आइये, आप दोनों मेरे कंधोंपर चढ़ जाइये। अब हम पर्वतके ऊपर चलते हैं, जहाँ अपने मन्त्रियोंके सहित सुग्रीव वालीके भयसे (छिपकर) रहते हैं।'' तब राम और लक्ष्मण 'बहुत अच्छा' कह उनके कंधोंपर चढ़ गये ॥ २७-२८ ॥ वानरराज हनूमान् एक क्षणमें ही पर्वतके शिखरपर कूदकर पहुँच गये। वहाँ राम और लक्ष्मण एक वृक्षकी छायामें खड़े हो गये ॥ २९ ॥

इधर हनूमान्‌जीने सुग्रीवके पास जा उनसे हाथ जोड़कर कहा—''राजन् ! अब अपनी शंका दूर कीजिये, क्योंकि आपके यहाँ श्रीराम और लक्ष्मण पधारे हैं ॥ ३० ॥ शीघ्र उठिये, मैंने रामके साथ आपकी मित्रता होनेका योग लगा दिया है। शीघ्र ही अग्निको साक्षी करके उनसे मित्रता कीजिये'' ॥ ३१ ॥

तब सुग्रीव अति प्रसन्न होकर रघुनाथजीके पास आये और प्रसन्नमनसे अपने हाथसे एक वृक्षकी शाखा

हनूमाँल्लक्ष्मणायादात्सुग्रीवाय च लक्ष्मणः ।
हर्षेण महताविष्टाः सर्व एवावतस्थिरे ॥ ३३ ॥

लक्ष्मणस्त्वब्रवीत्सर्वं रामवृत्तान्तमादितः ।
वनवासाभिगमनं सीताहरणमेव च ॥ ३४ ॥

लक्ष्मणोक्तं वचः श्रुत्वा सुग्रीवो राममब्रवीत् ।
अहं करिष्ये राजेन्द्र सीतायाः परिमार्गणम् ॥ ३५ ॥

साहाय्यमपि ते राम करिष्ये शत्रुघातिनः ।
शृणु राम मया दृष्टं किञ्चित्ते कथयाम्यहम् ॥ ३६ ॥

एकदा मन्त्रिभिः सार्धं स्थितोऽहं गिरिमूर्धनि ।
विहायसा नीयमानां केनचित्प्रमदोत्तमाम् ॥ ३७ ॥

क्रोशन्तीं रामरामेति दृष्ट्वास्मान्पर्वतोपरि ।
आमुच्याभरणान्याशु स्वोत्तरीयेण भामिनी ॥ ३८ ॥

निरीक्ष्याधः परित्यज्य क्रोशन्ती तेन रक्षसा ।
नीताहं भूषणान्याशु गुहायामक्षिपं प्रभो ॥ ३९ ॥

इदानीमपि पश्य त्वं जानीहि तव वा न वा ।
इत्युक्त्वानीय रामाय दर्शयामास वानरः ॥ ४० ॥

विमुच्य रामस्तद्दृष्ट्वा हा सीतेति मुहुर्मुहुः ।
हृदि निक्षिप्य तत्सर्वं रुरोद प्राकृतो यथा ॥ ४१ ॥

आश्वास्य राघवं भ्राता लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
अचिरेणैव ते राम प्राप्यते जानकी शुभा ।
वानरेन्द्रसहायेन हत्वा रावणमाहवे ॥ ४२ ॥

सुग्रीवोऽप्याह हे राम प्रतिज्ञां करवाणि ते ।
समरे रावणं हत्वा तव दास्यामि जानकीम् ॥ ४३ ॥

ततो हनूमान्प्रज्वाल्य तयोरग्निं समीपतः ।
तावुभौ रामसुग्रीवावग्नौ साक्षिणि तिष्ठति ॥ ४४ ॥

तोड़कर उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया ॥ ३२ ॥ इसी प्रकार हनुमान्‌जीने लक्ष्मणजीको तथा लक्ष्मणजीने सुग्रीवको आसन दिया और सब लोग अति आनन्दपूर्वक अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये ॥ ३३ ॥ तदनन्तर लक्ष्मणजीने आरम्भसे लेकर वनमें आने और सीताजीके हरे जानेतकका रामचन्द्रजीका सारा वृत्तान्त सुनाया ॥ ३४ ॥

लक्ष्मणजीके वचन सुनकर सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—"हे राजराजेश्वर ! मैं सीताजीकी खोज करूँगा ॥ ३५ ॥ और शत्रुका वध करते समय भी मैं आपकी सहायता करूँगा। हे राम ! इस सम्बन्धमें मैंने जो कुछ देखा है वह आपको सुनाता हूँ, सुनिये ॥ ३६ ॥

"एक दिन अपने मन्त्रियोंके साथ मैं पर्वतके शिखरपर बैठा था। उस समय हमने देखा कि कोई राक्षस किसी उत्तम कामिनीको आकाशमार्गसे लिये जाता है ॥ ३७ ॥ वह 'राम ! राम !' कहकर विलाप कर रही थी। हमें पर्वतपर बैठे देखकर उसने तुरंत ही अपने आभूषण उतारकर एक वस्त्रमें बाँधे और हमारी ओर देखते हुए नीचे गिरा दिये। हे प्रभो ! इसी प्रकार निरन्तर विलाप करती हुई उस अबलाको वह राक्षस ले गया। प्रभो ! मैंने तुरंत ही उन आभूषणोंको उठाकर गुफामें रख दिया ॥ ३८-३९ ॥ आप उन्हें अभी देखिये और पहचानिये कि वे आपहीके हैं या नहीं।" ऐसा कह कपिराज सुग्रीवने वे आभूषण लाकर रामको दिखाये ॥ ४० ॥ रामचन्द्रजीने उन्हें खोलकर देखा तो (उन्हें पहचानकर) छातीसे लगा लिया और साधारण पुरुषोंके समान बारम्बार 'हा सीते ! हा सीते !' कहकर रोने लगे ॥ ४१ ॥

तब भाई लक्ष्मणने उन्हें ढाँढस बँधाकर कहा—"हे राम ! वानरराज सुग्रीवकी सहायतासे युद्धमें रावणको मारकर आप शीघ्र ही शुभलक्षणा जनकनन्दिनीको प्राप्त करेंगे" ॥ ४२ ॥ सुग्रीवने भी कहा—"हे राम ! मैं आपसे प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि रावणको युद्धमें मारकर आपको सीता दिला दूँगा" ॥ ४३ ॥

तदनन्तर हनुमान्‌जीने उन दोनोंके पास अग्नि प्रज्वलित की। तब निष्पाप राम और सुग्रीव दोनों ही

बाहू प्रसार्य चालिङ्ग्य परस्परमकल्मषौ ।
समीपे रघुनाथस्य सुग्रीवः समुपाविशत् ॥ ४५ ॥

स्वोदन्तं कथयामास प्रणयाद्रघुनायके ।
सखे शृणु ममोदन्तं वालिना यत्कृतं पुरा ॥ ४६ ॥

मयपुत्रोऽथ मायावी नाम्ना परमदुर्मदः ।
किष्किन्धां समुपागत्य वालिनं समुपाह्वयत् ॥ ४७ ॥

सिंहनादेन महता वाली तु तदमर्षणः ।
निर्ययौ क्रोधताम्राक्षो जघान दृढमुष्टिना ॥ ४८ ॥

दुद्राव तेन संविग्नो जगाम स्वगुहां प्रति ।
अनुदुद्राव तं वाली मायाविनमहं तथा ॥ ४९ ॥

ततः प्रविष्टमालोक्य गुहां मायाविनं रुषा ।
वाली मामाह तिष्ठ त्वं बहिर्गच्छाम्यहं गुहाम् ।
इत्युक्त्वाविश्य स गुहां मासमेकं न निर्ययौ ॥ ५० ॥

मासादूर्ध्वं गुहाद्वारान्निर्गतं रुधिरं बहु ।
तद्दृष्ट्वा परितप्ताङ्गो मृतो वालीति दुःखितः ॥ ५१ ॥

गुहाद्वारि शिलामेकां निधाय गृहमागतः ।
ततोऽब्रवं मृतो वाली गुहायां रक्षसा हतः ॥ ५२ ॥

तच्छ्रुत्वा दुःखिताः सर्वे मामनिच्छन्तमप्युत ।
राज्येऽभिषेचनं चक्रुः सर्वे वानरमन्त्रिणः ॥ ५३ ॥

शिष्टं तदा मया राज्यं किञ्चित्कालमरिन्दम ।
ततः समागतो वाली मामाह परुषं रुषा ॥ ५४ ॥

बहुधा भर्त्सयित्वा मां निजघान च मुष्टिभिः ।
ततो निर्गत्य नगरादधावं परया भिया ॥ ५५ ॥

लोकान् सर्वान्परिक्रम्य ऋष्यमूकं समाश्रितः ।
ऋषेः शापभयात्सोऽपि नायातीमं गिरिं प्रभो ॥ ५६ ॥

तदादि मम भार्यां स स्वयं भुङ्क्ते विमूढधीः ।
अतो दुःखेन सन्तप्तो हतदारो हताश्रयः ॥ ५७ ॥

अग्निको साक्षी कर परस्पर एक-दूसरेसे भुजा फैलाकर मिले। तत्पश्चात् सुग्रीव रामचन्द्रजीके पास बैठ गये ॥ ४४-४५ ॥ और अति प्रेमपूर्वक उन्हें अपना वृत्तान्त सुनाने लगे। वे बोले—"मित्र ! अब हमारी कहानी सुनो; वालीने पूर्वकालमें मेरे साथ जो कुछ किया है वह सुनाता हूँ ॥ ४६ ॥ एक बार अति मदोन्मत्त मय दानवके पुत्र मायावीने किष्किन्धापुरीमें आकर वालीको युद्धके लिये ललकारा ॥ ४७ ॥ वह दैत्य बड़ा भारी सिंहनाद करने लगा। वाली उसका यह दर्प न देख सका, उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और उसने बाहर आ उसके बड़े जोरसे एक घूँसा मारा ॥ ४८ ॥ उसके आघातसे व्याकुल होकर मायावी अपनी गुफाकी ओर दौड़ा। तब वाली और मैं दोनोंहीने उसका पीछा किया ॥ ४९ ॥ मायावीको गुफामें गया देखकर वालीको बड़ा रोष हुआ। उसने मुझसे कहा—'तुम यहीं रहो, मैं गुफामें जाता हूँ।' ऐसा कहकर वह गुफामें घुस गया और एक मासतक उससे न निकला ॥ ५० ॥ एक महीना बीत जानेपर उस गुफाके द्वारसे बहुत-सा रक्त निकला। उसे देखकर यह समझकर कि वाली मारा गया, मुझे बड़ा दुःख और सन्ताप हुआ ॥ ५१ ॥ तब (इस भयसे कि कहीं वालीको मारनेवाला दैत्य बाहर आकर मुझे भी न मार डाले) उस गुफाके द्वारपर एक शिला रखकर मैं घर लौट आया और सबसे यह कह दिया कि वाली गुफामें राक्षसके हाथसे मारा गया ॥ ५२ ॥ यह सुनकर सबको बड़ा दुःख हुआ और मेरी इच्छा न होनेपर भी समस्त वानर-मन्त्रिमण्डलने मुझे राजपदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ५३ ॥ हे शत्रुदमन ! मैंने कुछ ही दिन राज्यशासन किया होगा कि वाली आ गया और क्रोधपूर्वक मुझसे बड़ी कड़वी-कड़वी बातें कहने लगा ॥ ५४ ॥ इस प्रकार मुझे बहुत कुछ भला-बुरा कहकर वह मुझे घूँसोंसे मारने लगा। तब मैं अत्यन्त भयभीत होकर नगर छोड़कर भाग गया ॥ ५५ ॥ हे प्रभो ! मैंने सम्पूर्ण लोकोंमें घूमकर अन्तमें इस ऋष्यमूक-पर्वतकी शरण ली है, क्योंकि ऋषिशापके भयसे वह इस पर्वतपर नहीं आता ॥ ५६ ॥ तबसे मेरी भार्याको वह दुर्मति स्वयं भोगता है और मैं स्त्री तथा घरके छिन जानेसे मन-ही-मन कुढ़ता हुआ यहाँ रहता हूँ। आज आपके चरणकमलोंका स्पर्श करनेसे मुझे

वसाम्यद्य भवत्पादसंस्पर्शात्सुखितोऽस्म्यहम् ।
मित्रदुःखेन सन्तप्तो रामो राजीवलोचनः ॥ ५८ ॥

हनिष्यामि तव द्वेष्यं शीघ्रं भार्यापहारिणम् ।
इति प्रतिज्ञामकरोत्सुग्रीवस्य पुरस्तदा ॥ ५९ ॥

सुग्रीवोऽप्याह राजेन्द्र वाली बलवतां बली ।
कथं हनिष्यति भवान्देवैरपि दुरासदम् ॥ ६० ॥

शृणु ते कथयिष्यामि तद्बलं बलिनां वर ।
कदाचिद्दुन्दुभिर्नाम महाकायो महाबलः ॥ ६१ ॥

किष्किन्धामगमद्राम महामहिषरूपधृक् ।
युद्धाय वालिनं रात्रौ समाह्वयत भीषणः ॥ ६२ ॥

तच्छ्रुत्वासहमानोऽसौ वाली परमकोपनः ।
महिषं शृङ्गयोर्धृत्वा पातयामास भूतले ॥ ६३ ॥

पादेनैकेन तत्कायमाक्रम्यास्य शिरो महत् ।
हस्ताभ्यां भ्रामयंश्छित्त्वा तोलयित्वाक्षिपद्भुवि ॥ ६४ ॥

पपात तच्छिरो राम मातङ्गाश्रमसन्निधौ ।
योजनात्पतितं तस्मान्मुनेराश्रममण्डले ॥ ६५ ॥

रक्तवृष्टिः पपातोच्चैर्दृष्ट्वा तां क्रोधमूर्च्छितः ।
मातङ्गो वालिनं प्राह यद्यागन्तासि मे गिरिम् ॥ ६६ ॥

इतः परं भग्नशिरा मरिष्यसि न संशयः ।
एवं शप्तस्तदारभ्य ऋष्यमूकं न यात्यसौ ॥ ६७ ॥

एतज्ज्ञात्वाहमप्यत्र वसामि भयवर्जितः ।
राम पश्य शिरस्तस्य दुन्दुभेः पर्वतोपमम् ॥ ६८ ॥

तत्क्षेपणे यदा शक्तः शक्तस्त्वं वालिनो वधे ।
इत्युक्त्वा दर्शयामास शिरस्तद्गिरिसन्निभम् ॥ ६९ ॥

दृष्ट्वा रामः स्मितं कृत्वा पादाङ्गुष्ठेन चाक्षिपत् ।
दशयोजनपर्यन्तं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ७० ॥

कुछ चैन मिला है।" तब कमलनयन श्रीरामचन्द्रजीने सखा सुग्रीवके दुःखसे आतुर होकर उसके सामने प्रतिज्ञा की कि "मैं बहुत ही शीघ्र तुम्हारी पत्नीको छीननेवाले तुम्हारे शत्रुका नाश कर डालूँगा" ॥ ५७—५९ ॥

सुग्रीवने कहा—"हे राजेन्द्र! वाली सम्पूर्ण योद्धाओंमें अग्रणी है (वह कोई साधारण बलवाला नहीं है)। उसको पराजित करना देवताओंके लिये भी अति कठिन है। फिर आप उसे कैसे मार सकेंगे ? ॥ ६० ॥ हे वीरश्रेष्ठ! सुनिये, मैं आपको उसके बलका वृत्तान्त सुनाता हूँ। एक बार दुन्दुभि नामका एक बड़ा बलवान् और स्थूलकाय दैत्य किष्किन्धापुरीमें भैंसेका रूप बनाकर आया और उस महाभयानक असुरने रात्रिके समय वालीको युद्धके लिये ललकारा ॥ ६१-६२ ॥ उसकी गर्जना वालीको सहन न हुई और उसने अति क्रोधपूर्वक उस भैंसेके सींग पकड़कर उसे पृथिवीपर पटक दिया ॥ ६३ ॥ तथा अपने एक पैरसे उसके शरीरको दबाकर उसके महान् मस्तकको अपने हाथोंसे मरोड़कर तोड़ डाला और उसे उछालकर पृथिवीपर दूर फेंक दिया ॥ ६४ ॥ हे राम! वह फिर वहाँसे एक योजन दूर मुनियोंके आश्रममण्डलमें महर्षि मतंगके आश्रमके पास जाकर गिरा ॥ ६५ ॥ उससे जहाँ-तहाँ बहुत-सा रक्त बरसा। उसे देखकर मुनिवर मतंगको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने क्रोधमें भरकर वालीसे कहा—'यदि आजसे तुम कभी मेरे इस पर्वतपर आओगे तो निस्सन्देह तुम्हारा सिर फट जायगा और तुम मर जाओगे।' हे रामजी! मुनिके इस प्रकार शाप देनेसे ही वह तबसे ऋष्यमूक-पर्वतपर नहीं आता ॥ ६६-६७ ॥ ऐसा जानकर ही मैं यहाँ निर्भय होकर रहता हूँ। हे राम! (जिसे वालीने मारा था) आप जरा उस दुन्दुभि दैत्यके पर्वताकार सिरको तो देखिये (इसीसे आपको उसके बलका कुछ अनुमान हो जायगा) ॥ ६८ ॥ यदि आप उस मस्तकको फेंक सकेंगे तो अवश्य वालीका वध भी कर सकेंगे।"

ऐसा कहकर सुग्रीवने वह पर्वत-सदृश सिर दिखलाया ॥ ६९ ॥ उसे देखकर श्रीरामचन्द्रजीने मुसकराते हुए अपने पैरके अँगूठेसे उसे दस योजन दूर फेंक दिया। यह बड़े आश्चर्यकी बात हुई ॥ ७० ॥

साधु साध्विति सम्प्राह सुग्रीवो मन्त्रिभिः सह ।
पुनरप्याह सुग्रीवो रामं भक्तपरायणम् ॥ ७१ ॥

एते ताला महासाराः सप्त पश्य रघूत्तम ।
एकैकं चालयित्वासौ निष्पत्रान्कुरुतेऽञ्जसा ॥ ७२ ॥

यदि त्वमेकबाणेन विद्ध्वा छिद्रं करोषि चेत् ।
हतस्त्वया तदा वाली विश्वासो मे प्रजायते ।
तथेति धनुरादाय सायकं तत्र सन्दधे ॥ ७३ ॥

बिभेद च तदा रामः सप्त तालान्महाबलः ।
तालान्सप्त विनिर्भिद्य गिरिं भूमिं च सायकः ॥ ७४ ॥

पुनरागत्य रामस्य तूणीरे पूर्ववत्स्थितः ।
ततोऽतिहर्षात्सुग्रीवो राममाहातिविस्मितः ॥ ७५ ॥

देव त्वं जगतां नाथः परमात्मा न संशयः ।
मत्पूर्वकृतपुण्यौघैः सङ्गतोऽद्य मया सह ॥ ७६ ॥

त्वां भजन्ति महात्मानः संसारविनिवृत्तये ।
त्वां प्राप्य मोक्षसचिवं प्रार्थयेऽहं कथं भवम् ॥ ७७ ॥

दाराः पुत्रा धनं राज्यं सर्वं त्वन्मायया कृतम् ।
अतोऽहं देवदेवेश नाकाङ्क्षेऽन्यत्प्रसीद मे ॥ ७८ ॥

आनन्दानुभवं त्वाद्य प्राप्तोऽहं भाग्यगौरवात् ।
मृदर्थं यतमानेन निधानमिव सत्पते ॥ ७९ ॥

अनाद्यविद्यासंसिद्धं बन्धनं छिन्नमद्य नः ।
यज्ञदानतपःकर्मपूर्तेष्टादिभिरप्यसौ ॥ ८० ॥

न जीर्यते पुनर्दार्ढ्यं भजते संसृतिः प्रभो ।
त्वत्पाददर्शनात्सद्यो नाशमेति न संशयः ॥ ८१ ॥

क्षणार्धमपि यच्चित्तं त्वयि तिष्ठत्यचञ्चलम् ।
तस्याज्ञानमनर्थानां मूलं नश्यति तत्क्षणात् ॥ ८२ ॥

तत्तिष्ठतु मनो राम त्वयि नान्यत्र मे सदा ॥ ८३ ॥

अपने मन्त्रियोंके सहित सुग्रीव भी 'वाह ! वाह !' करने लगे और फिर वह भक्तोंके एकमात्र आश्रय भगवान् रामसे बोले— ॥ ७१ ॥ "हे रघुश्रेष्ठ ! देखिये, तालके ये सात वृक्ष कैसे सुदृढ़ हैं, किन्तु वाली इनमेंसे प्रत्येकको हिलाकर अनायास ही पत्रहीन (बेपत्तेके) कर दिया करता है ॥ ७२ ॥ यदि आप एक बाणसे ही इन सबको बेधकर इनमें छिद्र कर देंगे तो मुझे यह विश्वास हो जायगा कि आप अवश्य ही वालीको मार डालेंगे।"

तब महाबली रघुनाथजीने 'बहुत अच्छा' कह अपना धनुष लेकर उसपर बाण चढ़ाया और उन सातों ताल-वृक्षोंको बेध दिया। तत्पश्चात् वह बाण सातों ताल, पर्वत और पृथ्वीको बेधकर पहलेके समान फिर आकर रामचन्द्रजीके तरकशमें स्थित हो गया।

तब सुग्रीवने आश्चर्यचकित होकर श्रीरामचन्द्रजीसे अत्यन्त हर्षके साथ कहा— ॥ ७३—७५ ॥ "हे देव ! आप सम्पूर्ण जगत्के स्वामी साक्षात् परमात्मा हैं—इसमें सन्देह नहीं। मेरे पूर्वकृत पुण्य-पुञ्जके परिपाकसे ही आज आपसे मेरा संयोग हुआ है ॥ ७६ ॥ महात्मा लोग संसार-बन्धनकी निवृत्तिके लिये आपका भजन करते हैं, फिर आप मोक्षदायक प्रभुको पाकर मैं सांसारिक पदार्थोंकी कामना कैसे करूँ ? ॥ ७७ ॥ हे देवदेवेश्वर ! ये स्त्री, पुत्र, धन, राज्य आदि सभी आपकी मायाके कार्य हैं। अतः अब आपके अतिरिक्त और किसी पदार्थकी मुझे इच्छा नहीं है, आप मुझपर कृपा कीजिये ॥ ७८ ॥ हे सत्पते ! आप आनन्दस्वरूप हैं। मिट्टी खोदते हुए जैसे किसीको खजाना हाथ लग जाय उसी प्रकार आज बड़े भाग्यसे मुझे आपके दर्शन हुए हैं ॥ ७९ ॥ आज हमारा अनादि अविद्याजन्य बन्धन कट गया। हे प्रभो ! यह संसार-बन्धन यज्ञ, दान, तप तथा इष्टापूर्त आदि कर्मोंसे भी नहीं टूटता बल्कि और दृढ़ हो जाता है। किन्तु आपके चरणकमलोंका दर्शन करते ही यह तुरंत नष्ट हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं ॥ ८०-८१ ॥ जिसका चित्त आपके स्वरूपमें आधे क्षणके लिये भी निश्चल होकर संलग्न हो जाता है, उसका सम्पूर्ण अनर्थोंका मूलकारण अज्ञान तत्काल नष्ट हो जाता है। अतः हे राम ! मेरा मन सदा आपहीमें लगा रहे, वह आपको छोड़कर और कहीं

रामरामेति यद्वाणी मधुरं गायति क्षणम्।
स ब्रह्महा सुरापो वा मुच्यते सर्वपातकैः॥ ८४॥

न काङ्क्षे विजयं राम न च दारसुखादिकम्।
भक्तिमेव सदाकाङ्क्षे त्वयि बन्धविमोचनीम्॥ ८५॥

त्वन्मायाकृतसंसारस्त्वदंशोऽहं रघूत्तम।
स्वपादभक्तिमादिश्य त्राहि मां भवसङ्कटात्॥ ८६॥

पूर्वं मित्रार्युदासीनास्त्वन्मायावृतचेतसः।
आसन्मेऽद्य भवत्पाददर्शनादेव राघव॥ ८७॥

सर्वं ब्रह्मैव मे भाति क्व मित्रं क्व च मे रिपुः।
यावत्त्वन्मायया बद्धस्तावद्गुणविशेषता॥ ८८॥

सा यावदस्ति नानात्वं तावद्भवति नान्यथा।
यावन्नानात्वमज्ञानात्तावत्कालकृतं भयम्॥ ८९॥

अतोऽविद्यामुपास्ते यः सोऽन्धे तमसि मज्जति।
मायामूलमिदं सर्वं पुत्रदारादिबन्धनम्।

तदुत्सारय मायां त्वं दासीं तव रघूत्तम॥ ९०॥
त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्ति-
स्त्वन्नामसङ्गीतकथासु वाणी।
त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे
त्वदङ्गसङ्गं लभतां मदङ्गम्॥ ९१॥
त्वन्मूर्तिभक्तान् स्वगुरुं च चक्षुः
पश्यत्वजस्रं स शृणोति कर्णः।
त्वज्जन्मकर्माणि च पादयुग्मं
व्रजत्वजस्रं तव मन्दिराणि॥ ९२॥
अङ्गानि ते पादरजोविमिश्र-
तीर्थानि बिभ्रत्वहिशत्रुकेतो।
शिरस्त्वदीयं भवपद्मजाद्यै-
र्जुष्टं पदं राम नमत्वजस्रम्॥ ९३॥

भी न जाय॥ ८२-८३॥ जिसकी वाणी एक क्षण भी 'राम-राम' ऐसा सुमधुर गान करती है, वह ब्रह्मघाती अथवा मद्यपी भी क्यों न हो, समस्त पापोंसे छूट जाता है॥ ८४॥ हे राम! अब मुझे वालीको जीतने अथवा स्त्री आदिका सुख प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं है। मैं तो संसार-बन्धनको काटनेवाली आपकी भक्ति ही चाहता हूँ॥ ८५॥ हे रघुश्रेष्ठ! यह संसार आपकी मायाका विलास है और मैं भी आपहीका अंश हूँ। अतः अपने चरणकमलोंकी भक्ति देकर मुझे इस संसार-संकटसे बचाइये॥ ८६॥ पहले, जब मेरा चित्त आपकी मायासे ढँका हुआ था, मुझे अपने शत्रु-मित्र और उदासीन दिखायी देते थे। किन्तु हे रघुनाथजी! अब आपके चरणकमलोंका दर्शन पाते ही मुझे सब कुछ ब्रह्मरूप ही भासता है। प्रभो! संसारमें मेरा कौन मित्र है और कौन शत्रु? जबतक जीव आपकी मायासे बँधा रहता है तभीतक उसपर सत्त्वादि गुणोंका प्रभाव पड़ता रहता है॥ ८७-८८॥ जबतक मायाका प्रभाव रहता है तभीतक शत्रु-मित्रादि भेद-भाव रहता है। उसके दूर होते ही समस्त भेद-भाव दूर हो जाता है। और जबतक यह अज्ञानजन्य भेद-भाव रहता है तभीतक मृत्युका भय है॥ ८९॥ इसलिये जो पुरुष अविद्याकी उपासना करता है (अर्थात् अविद्याजन्य पदार्थोंकी कामना करता है) वह घोर अन्धकारमें पड़ता है। ये पुत्र-स्त्री आदि सम्पूर्ण बन्धन मायामय ही हैं। अतः हे रघुश्रेष्ठ! अपनी दासीरूप इस मायाको हमसे दूर कीजिये॥ ९०॥ प्रभो! मेरी चित्तवृत्ति सदा आपके चरणकमलोंमें लगी रहे, वाणी आपके नाम-संकीर्तन और कथा-वार्तामें लगी रहे, हाथ आपके भक्तोंकी सेवामें लगे रहें और मेरा शरीर (आपके पादस्पर्श आदिके मिससे) सदा आपका अङ्ग-सङ्ग करता रहे॥ ९१॥ मेरे नेत्र सर्वदा आपकी मूर्ति, आपके भक्त और अपने गुरुका दर्शन करते रहें, कान निरन्तर आपके अवतारोंकी लीलाओंका श्रवण करें और मेरे पैर सदा आपके मन्दिरोंकी यात्रा करते रहें॥ ९२॥ हे गरुडध्वज! मेरा शरीर आपकी चरणरजसे युक्त तीर्थोदकको धारण करे और मेरा सिर निरन्तर आपके उन चरणोंमें प्रणाम किया करे जिनकी शिव और ब्रह्मा आदि देवगण भी सदैव सेवा करते हैं"॥ ९३॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे प्रथमः सर्गः॥ १॥

द्वितीय सर्ग

वालीका वध और भगवान्‌के साथ उसका सम्भाषण

श्रीमहादेव उवाच

इत्थं स्वात्मपरिष्वङ्गनिर्धूताशेषकल्मषम्।
रामः सुग्रीवमालोक्य सस्मितं वाक्यमब्रवीत्॥ १ ॥

मायां मोहकरीं तस्मिन्वितन्वन् कार्यसिद्धये।
सखे त्वदुक्तं यत्तन्मां सत्यमेव न संशयः॥ २ ॥

किन्तु लोका वदिष्यन्ति मामेवं रघुनन्दनः।
कृतवान्किं कपीन्द्राय सख्यं कृत्वाग्निसाक्षिकम्॥ ३ ॥

इति लोकापवादो मे भविष्यति न संशयः।
तस्मादाह्वय भद्रं ते गत्वा युद्धाय वालिनम्॥ ४ ॥

बाणेनैकेन तं हत्वा राज्ये त्वामभिषेचये।
तथेति गत्वा सुग्रीवः किष्किन्धोपवनं द्रुतम्॥ ५ ॥

कृत्वा शब्दं महानादं तमाह्वयत वालिनम्।
तच्छ्रुत्वा भ्रातृनिनदं रोषताम्रविलोचनः॥ ६ ॥

निर्जगाम गृहाच्छीघ्रं सुग्रीवो यत्र वानरः।
तमापतन्तं सुग्रीवः शीघ्रं वक्षस्यताडयत्॥ ७ ॥

सुग्रीवमपि मुष्टिभ्यां जघान क्रोधमूर्च्छितः।
वाली तमपि सुग्रीव एवं क्रुद्धौ परस्परम्॥ ८ ॥

अयुद्ध्येतामेकरूपौ दृष्ट्वा रामोऽतिविस्मितः।
न मुमोच तदा बाणं सुग्रीववधशङ्कया॥ ९ ॥

ततो दुद्राव सुग्रीवो वमन् रक्तं भयाकुलः।
वाली स्वभवनं यातः सुग्रीवो राममब्रवीत्॥ १० ॥

किं मां घातयसे राम शत्रुणा भ्रातृरूपिणा।
यदि मद्धनने वाञ्छा त्वमेव जहि मां विभो॥ ११ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—'हे पार्वति! इस प्रकार अपने संसर्गसे जिसके सब पाप दूर हो गये हैं उस सुग्रीवकी ओर देखते हुए श्रीरघुनाथजी कार्य सिद्ध करनेके लिये उसपर अपनी मोह उत्पन्न करनेवाली मायाका विस्तार करते हुए मुसकराकर बोले—"मित्र! तुमने मुझसे जो कुछ कहा है वह निस्सन्देह सब ठीक है॥ १-२॥ तथापि (यदि तुम राज्यादिसे उपराम हो जाओगे तो) लोग मेरे लिये कहेंगे कि रघुनाथजीने वानरराज सुग्रीवसे अग्निको साक्षी बनाकर मित्रता की; किन्तु उन्होंने उसका कौन-सा काम सिद्ध किया?॥ ३॥ इस प्रकार लोगोंमें मेरी निन्दा होगी इसमें सन्देह नहीं। अतः तुम्हारा कल्याण हो, तुम अभी जाकर वालीको युद्धके लिये ललकारो॥ ४॥ मैं उसे एक ही बाणसे मारकर तुम्हें राजपदपर अभिषिक्त कर दूँगा।" तब सुग्रीव 'बहुत अच्छा' कह तुरंत ही किष्किन्धापुरीके उपवनमें गया और अति घोर शब्दसे गरजकर वालीको युद्धके लिये पुकारा।

भाईका सिंहनाद सुनते ही वालीके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वह तत्काल अपने घरसे निकलकर वानरराज सुग्रीवके पास आया। उसके आते ही सुग्रीवने तुरंत उसके वक्षःस्थलमें प्रहार किया॥ ५—७॥ इसपर वालीने भी क्रोधातुर होकर सुग्रीवपर अपने दोनों घूँसोंसे प्रहार किया और सुग्रीवने वालीपर आक्रमण किया। इस प्रकार वे दोनों ही अति क्रोधपूर्वक एक-दूसरेसे लड़ने लगे। उन दोनोंका रूप ऐसा समान था कि श्रीरामचन्द्रजी उन्हें देखकर आश्चर्य-चकित हो गये (और उनमेंसे कौन वाली है तथा कौन सुग्रीव? यह न पहचान सके)। अतः इस आशंकासे कि कहीं सुग्रीव न मारा जाय, बाण नहीं छोड़ा॥ ८-९॥

अन्तमें सुग्रीव भयातुर होकर रक्त वमन करता हुआ भागा और वाली अपने घर चला गया। तब सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—॥ १०॥ "हे राम! क्या आप इस भ्रातारूपी शत्रुसे मुझे मरवाना चाहते हैं? हे प्रभो! यदि आपकी इच्छा मुझे मरवानेकी ही है तो आप स्वयं ही

एवं मे प्रत्ययं कृत्वा सत्यवादिन् रघूत्तम।
उपेक्षसे किमर्थं मां शरणागतवत्सल ॥ १२ ॥

श्रुत्वा सुग्रीववचनं रामः साश्रुविलोचनः।
आलिङ्ग्य मा स्म भैषीस्त्वं दृष्ट्वा वामेकरूपिणौ ॥ १३ ॥

मित्रघातित्वमाशङ्क्य मुक्तवान्सायकं न हि।
इदानीमेव ते चिह्नं करिष्ये भ्रमशान्तये ॥ १४ ॥

गत्वाह्वय पुनः शत्रुं हतं द्रक्ष्यसि वालिनम्।
रामोऽहं त्वां शपे भ्रातर्हनिष्यामि रिपुं क्षणात् ॥ १५ ॥

इत्याश्वास्य स सुग्रीवं रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
सुग्रीवस्य गले पुष्पमालामामुच्य पुष्पिताम् ॥ १६ ॥

प्रेषयस्व महाभाग सुग्रीवं वालिनं प्रति।
लक्ष्मणस्तु तदा बद्ध्वा गच्छ गच्छेति सादरम् ॥ १७ ॥

प्रेषयामास सुग्रीवं सोऽपि गत्वा तथाकरोत्।
पुनरप्यद्भुतं शब्दं कृत्वा वालिनमाह्वयत् ॥ १८ ॥

तच्छ्रुत्वा विस्मितो वाली क्रोधेन महतावृतः।
बद्ध्वा परिकरं सम्यग्गमनायोपचक्रमे ॥ १९ ॥

गच्छन्तं वालिनं तारा गृहीत्वा निषिषेध तम्।
न गन्तव्यं त्वयेदानीं शङ्का मेऽतीव जायते ॥ २० ॥

इदानीमेव ते भग्नः पुनरायाति सत्वरः।
सहायो बलवांस्तस्य कश्चिन्नूनं समागतः ॥ २१ ॥

वाली तामाह हे सुभ्रु शङ्का ते व्येतु तद्गता।
प्रिये करं परित्यज्य गच्छ गच्छामि तं रिपुम् ॥ २२ ॥

हत्वा शीघ्रं समायास्ये सहायस्तस्य को भवेत्।
सहायो यदि सुग्रीवस्ततो हत्वोभयं क्षणात् ॥ २३ ॥

मार डालिये ॥ ११ ॥ हे सत्यवादी शरणागतवत्सल रघुनाथजी! मुझे इस प्रकार विश्वास दिलाकर अब आप मेरी उपेक्षा क्यों करते हैं?" ॥ १२ ॥

सुग्रीवके ये वचन सुनकर रामचन्द्रजीने उसे हृदयसे लगा लिया और नेत्रोंमें जल भरकर कहा—"भैया! डरो मत, तुम दोनोंको एक रूप देखकर मैंने इस भयसे कि कहीं मित्रका वध न हो जाय, बाण नहीं छोड़ा। अब इस भ्रमको दूर करनेके लिये मैं तुम्हारे शरीरमें कोई चिह्न कर दूँगा ॥ १३-१४ ॥ एक बार तुम फिर जाकर अपने शत्रुको पुकारो। अबकी बार तुम वालीको अवश्य मरा हुआ देखोगे। भैया! मैं राम तुम्हारी शपथ करके कहता हूँ कि इस बार मैं अवश्य एक क्षणमें ही तुम्हारे शत्रुको मार डालूँगा" ॥ १५ ॥

सुग्रीवको इस प्रकार ढाँढस बँधाकर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे कहा—"लक्ष्मण! सुग्रीवके गलेमें एक फूले हुए पुष्पोंकी माला डाल दो ॥ १६ ॥ और हे महाभाग! इसे वालीसे लड़नेके लिये भेज दो।" तब लक्ष्मणजीने सुग्रीवके गलेमें पुष्पमाला बाँधकर उससे आदरपूर्वक 'भाई! जाओ, जाओ' ऐसा कहकर भेज दिया। सुग्रीवने भी वहाँ पहुँचकर पहलेकी भाँति ही फिर बड़ा विचित्र शब्द करते हुए वालीको पुकारा ॥ १७-१८ ॥

सुग्रीवका शब्द सुनकर वालीको बड़ा विस्मय और साथ ही अत्यन्त क्रोध हुआ और वह अपनी कमर कसकर चलनेके लिये तैयार हो गया ॥ १९ ॥ जाते समय उसकी स्त्री ताराने उसका हाथ पकड़कर रोका और कहा—"देव! इस समय आप न जाइये, मेरे हृदयमें बड़ी शङ्का हो रही है ॥ २० ॥ यह अभी-अभी आपसे मार खाकर भागा था, तो भी तुरंत ही लौट आया। इससे मालूम होता है कि अवश्य ही इसे कोई बलवान् सहायक मिल गया है" ॥ २१ ॥

वालीने कहा—"हे सुन्दर भृकुटिवाली! तुम इस विषयमें कोई शङ्का न करो। हे प्रिये! मेरा हाथ छोड़कर तुम घर लौट जाओ, मैं भी अभी जाकर उस शत्रुको मारकर लौट आता हूँ। उस (अभागे) को भला कौन सहायक मिलेगा? और यदि कोई होगा भी, तो मैं एक क्षणमें ही दोनोंको मारकर आ जाऊँगा। हे सुन्दरि! तुम

आयास्ये मा शुचः शूरः कथं तिष्ठेद् गृहे रिपुम् ।
ज्ञात्वाप्याह्वयमानं हि हत्वायास्यामि सुन्दरि ॥ २४ ॥

तारोवाच

मत्तोऽन्यच्छृणु राजेन्द्र श्रुत्वा कुरु यथोचितम् ।
आह मामङ्गदः पुत्रो मृगयायां श्रुतं वचः ॥ २५ ॥

अयोध्याधिपतिः श्रीमान् रामो दाशरथिः किल ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया भार्यया सह ॥ २६ ॥

आगतो दण्डकारण्यं तत्र सीता हृता किल ।
रावणेन सह भ्रात्रा मार्गमाणोऽथ जानकीम् ॥ २७ ॥

आगतो ऋष्यमूकाद्रिं सुग्रीवेण समागतः ।
चकार तेन सुग्रीवः सख्यं चानलसाक्षिकम् ॥ २८ ॥

प्रतिज्ञां कृतवान् रामः सुग्रीवाय सलक्ष्मणः ।
वालिनं समरे हत्वा राजानं त्वां करोम्यहम् ॥ २९ ॥

इति निश्चित्य तौ यातौ निश्चितं शृणु मद्वचः ।
इदानीमेव ते भग्नः कथं पुनरुपागतः ॥ ३० ॥

अतस्त्वं सर्वथा वैरं त्यक्त्वा सुग्रीवमानय ।
यौवराज्येऽभिषिञ्चाशु रामं त्वं शरणं व्रज ॥ ३१ ॥

पाहि मामङ्गदं राज्यं कुलं च हरिपुङ्गव ।
इत्युक्त्वाश्रुमुखी तारा पादयोः प्रणिपत्य तम् ॥ ३२ ॥

हस्ताभ्यां चरणौ धृत्वा रुरोद भयविह्वला ।
तामालिङ्ग्य तदा वाली सस्नेहमिदमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

स्त्रीस्वभावाद्बिभेषि त्वं प्रिये नास्ति भयं मम ।
रामो यदि समायातो लक्ष्मणेन समं प्रभुः ॥ ३४ ॥

तदा रामेण मे स्नेहो भविष्यति न संशयः ।
रामो नारायणः साक्षादवतीर्णोऽखिलप्रभुः ॥ ३५ ॥

भूभारहरणार्थाय श्रुतं पूर्वं मयानघे ।
स्वपक्षः परपक्षो वा नास्ति तस्य परात्मनः ॥ ३६ ॥

किसी प्रकारकी चिन्ता न करो । (मैं इस समय रुक नहीं सकता) शत्रुको बाहरसे युद्धके लिये ललकारता हुआ जानकर कोई शूरवीर अपने घरमें कैसे ठहर सकता है ? अतः अब मैं उसे मारकर ही लौटूँगा'' ॥ २२—२४ ॥

तारा बोली—हे राजेन्द्र ! आप मुझसे कुछ और भी वृत्तान्त सुन लीजिये । उसे सुनकर जो उचित समझें, करें। मुझसे आपके पुत्र अङ्गदने मृगयाके समय (वनमें) सुनी हुई यह बात कही थी ॥ २५ ॥ कि अयोध्याधिपति दशरथनन्दन भगवान् रामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मण और भार्या सीताके सहित दण्डकारण्यमें आये थे । वहाँ उनकी प्रिया सीताको रावण हर ले गया । अब वे अपने भाईके सहित जानकीजीको ढूँढ़ते हुए ऋष्यमूक-पर्वतपर आकर सुग्रीवसे मिले हैं। वहाँ सुग्रीवने उनसे अग्निको साक्षी कर मित्रता जोड़ी है ॥ २६—२८ ॥ श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीके सहित सुग्रीवसे यह प्रतिज्ञा की है कि मैं युद्धमें वालीको मारकर तुम्हें राजा बना दूँगा ॥ २९ ॥ इसी निश्चयको लेकर वे दोनों भी (उसके साथ) आये हैं; मेरी यह बात सच मानिये, नहीं तो अभी-अभी आपसे मार खाकर भागा हुआ वह कैसे लौट आता ? ॥ ३० ॥ इसलिये अब आप सर्वथा सुग्रीवसे वैरभाव छोड़कर उसे ले आइये और उसे तुरंत युवराजपदपर अभिषिक्त कर श्रीरामकी शरणमें जाइये ॥ ३१ ॥ और हे कपिश्रेष्ठ ! मेरी अङ्गदकी तथा इस राज्य और कुलकी रक्षा कीजिये । ऐसा कहकर तारा वालीके चरणोंमें गिर पड़ी । उस समय उसके मुखपर आँसुओंकी धाराएँ बह रही थीं । ॥ ३२ ॥ वह भयसे अधीर होकर अपने हाथोंसे उसके दोनों चरण पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगी ।

तब वालीने उसका प्रेमपूर्वक आलिङ्गन कर इस प्रकार कहा ॥ ३३ ॥ ''प्रिये ! तुम अपने स्त्री-स्वभावसे व्यर्थ डरती हो, मुझे तो भयका कोई भी कारण दिखलायी नहीं देता । यदि लक्ष्मणके सहित प्रभु राम यहाँ आये हैं तो इसमें कोई सन्देह नहीं, कि उनसे मेरा प्रेम हो जायगा । हे अनघे ! राम तो साक्षात् सर्वेश्वर श्रीनारायण हैं, उन्होंने पृथिवीका भार उतारनेके लिये ही अवतार लिया है—यह बात मैंने पहलेसे ही सुन रखी है । वे तो प्रकृति आदिसे परे सबके आत्मारूप हैं, उनका कोई अपना या पराया पक्ष

आनेष्यामि गृहं साध्वि नत्वा तच्चरणाम्बुजम्।
भजतोऽनुभजत्येष भक्तिगम्यः सुरेश्वरः॥ ३७॥

यदि स्वयं समायाति सुग्रीवो हन्मि तं क्षणात्।
यदुक्तं यौवराज्याय सुग्रीवस्याभिषेचनम्॥ ३८॥

कथमाहूयमानोऽहं युद्धाय रिपुणा प्रिये।
शूरोऽहं सर्वलोकानां सम्मतः शुभलक्षणे॥ ३९॥

भीतभीतमिदं वाक्यं कथं वाली वदेत्प्रिये।
तस्माच्छोकं परित्यज्य तिष्ठ सुन्दरि वेश्मनि॥ ४०॥

एवमाश्वास्य तारां तां शोचन्तीमश्रुलोचनाम्।
गतो वाली समुद्युक्तः सुग्रीवस्य वधाय सः॥ ४१॥

दृष्ट्वा वालिनमायान्तं सुग्रीवो भीमविक्रमः।
उत्पपात गले बद्धपुष्पमालो मतङ्गवत्॥ ४२॥

मुष्टिभ्यां ताडयामास वालिनं सोऽपि तं तथा।
अहन्वाली च सुग्रीवं सुग्रीवो वालिनं तथा॥ ४३॥

रामं विलोकयन्नेव सुग्रीवो युयुधे युधि।
इत्येवं युद्ध्यमानौ तौ दृष्ट्वा रामः प्रतापवान्॥ ४४॥

बाणमादाय तूणीरादैन्द्रे धनुषि सन्दधे।
आकृष्य कर्णपर्यन्तमदृश्यो वृक्षखण्डगः॥ ४५॥

निरीक्ष्य वालिनं सम्यग्लक्ष्यं तद्धृदयं हरिः।
उत्ससर्जाशनिसमं महावेगं महाबलः॥ ४६॥

बिभेद स शरो वक्षो वालिनः कम्पयन्महीम्।
उत्पपात महाशब्दं मुञ्चन्स निपपात ह॥ ४७॥

तदा मुहूर्तं निःसंज्ञो भूत्वा चेतनमाप सः।
ततो वाली ददर्शाग्रे रामं राजीवलोचनम्।
धनुरालम्ब्य वामेन हस्तेनान्येन सायकम्॥ ४८॥

बिभ्राणं चीरवसनं जटामुकुटधारिणम्।
विशालवक्षसं भ्राजद्वनमालाविभूषितम्॥ ४९॥

पीनचार्वायतभुजं नवदूर्वादलच्छविम्।
सुग्रीवलक्ष्मणाभ्यां च पार्श्वयोः परिसेवितम्॥ ५०॥

नहीं है॥ ३४—३६॥ हे साध्वी! मैं उनके चरण-कमलोंमें प्रणाम कर उन्हें घर ले आऊँगा। वे देवदेवेश्वर भक्तिसे प्राप्त होते हैं और जो कोई उनका भजन करता है उसीके अनुकूल हो जाते हैं॥ ३७॥ और यदि अकेला सुग्रीव ही आया है तो उसे मैं एक क्षणमें मार डालूँगा। इसके सिवा, तुमने जो उसे युवराजपदपर अभिषिक्त करनेकी बात कही, सो हे शुभलक्षणे प्रिये! मैं सम्पूर्ण लोकोंमें माननीय शूरवीर हूँ। भला, शत्रुद्वारा युद्धके लिये पुकारे जानेपर वाली उससे ऐसा अत्यन्त भयपूर्ण वाक्य कैसे कह सकता है? अतः हे सुन्दरि! तुम निश्चिन्त होकर घर बैठो"॥ ३८—४०॥

इस प्रकार शोकसे आँसू बहाती हुई ताराको धीरज बँधा, वाली सुग्रीवको मारनेपर उतारू होकर चला॥ ४१॥ वालीको आता देख प्रचण्ड पराक्रमी सुग्रीव गलेमें पुष्पमाला पहने हुए मत्त गजराजके समान उछलने लगा॥ ४२॥ फिर सुग्रीवने अपने घूँसोंसे वालीपर और वालीने सुग्रीवपर प्रहार किया। इसी प्रकार परस्पर बारम्बार वाली सुग्रीवपर और सुग्रीव वालीपर मुष्टिकाघात करने लगे॥ ४३॥ युद्ध करते समय सुग्रीवकी दृष्टि रामकी ओर ही लगी हुई थी।

परमप्रतापी श्रीरघुनाथजीने उन दोनोंको इस प्रकार लड़ते देख अपने तरकशसे एक बाण निकालकर अपने ऐन्द्र धनुषपर चढ़ाया और एक वृक्षकी आड़में छिपे-छिपे धनुषको कर्णपर्यन्त तानकर महाबलवान् श्रीहरिने वालीको देख उसके हृदयको ठीक लक्ष्य करके वह वज्रके समान कठोर और महावेगशाली बाण छोड़ दिया॥ ४४—४६॥ उस बाणने वालीके वक्षःस्थलको बेध डाला। बाणके लगते ही वाली बड़ा घोर शब्द करता हुआ उछलकर पृथिवीपर गिर पड़ा। उसके गिरते समय पृथिवी डगमगा उठी॥ ४७॥ उस समय एक मुहूर्तके लिये वह संज्ञाशून्य हो गया; पीछे जब उसे चेत हुआ, तब उसने अपने सामने कमलनयन श्रीरघुनाथजीको खड़े देखा। वे बायें हाथसे धनुषका सहारा लेकर दाहिनेमें बाण लिये हुए थे तथा शरीरमें चीरवस्त्र और सिरपर जटाओंका मुकुट धारण किये थे। उनका विशाल वक्षःस्थल मनोहर वनमालासे विभूषित था॥ ४८-४९॥ भुजाएँ स्थूल, सुन्दर और लम्बी-लम्बी थीं, शरीरकी कान्ति नवीन दूर्वादलके समान श्यामवर्ण थी तथा उनके दोनों ओर सुग्रीव और लक्ष्मण उनकी सेवामें खड़े थे॥ ५०॥

विलोक्य शनकैः प्राह वाली रामं विगर्हयन्।
किं मयापकृतं राम तव येन हतोऽस्म्यहम्॥ ५१॥

राजधर्ममविज्ञाय गर्हितं कर्म ते कृतम्।
वृक्षखण्डे तिरोभूत्वा त्यजता मयि सायकम्॥ ५२॥

यशः किं लप्स्यसे राम चोरवत्कृतसङ्गरः।
यदि क्षत्रियदायादो मनोर्वंशसमुद्भवः॥ ५३॥

युद्धं कृत्वा समक्षं मे प्राप्स्यसे तत्फलं तदा।
सुग्रीवेण कृतं किं ते मया वा न कृतं किमु॥ ५४॥

रावणेन हृता भार्या तव राम महावने।
सुग्रीवं शरणं यातस्तदर्थमिति शुश्रुम॥ ५५॥

बत राम न जानीषे मद्बलं लोकविश्रुतम्।
रावणं सकुलं बद्ध्वा ससीतं लङ्कया सह॥ ५६॥

आनयामि मुहूर्त्तार्द्धाद्यदि चेच्छामि राघव।
धर्मिष्ठ इति लोकेऽस्मिन् कथ्यसे रघुनन्दन॥ ५७॥

वानरं व्याधवद्धत्वा धर्मं कं लप्स्यसे वद।
अभक्ष्यं वानरं मांसं हत्वा मां किं करिष्यसि॥ ५८॥

इत्येवं बहु भाषन्तं वालिनं राघवोऽब्रवीत्।
धर्मस्य गोप्ता लोकेऽस्मिंश्चरामि सशरासनः॥ ५९॥

अधर्मकारिणं हत्वा सद्धर्मं पालयाम्यहम्।
दुहिता भगिनी भ्रातुर्भार्या चैव तथा स्नुषा॥ ६०॥

समा यो रमते तासामेकामपि विमूढधीः।
पातकी स तु विज्ञेयः स वध्यो राजभिः सदा॥ ६१॥

त्वं तु भ्रातुः कनिष्ठस्य भार्यायां रमसे बलात्।
अतो मया धर्मविदा हतोऽसि वनगोचर॥ ६२॥

त्वं कपित्वान्न जानीषे महान्तो विचरन्ति यत्।
लोकं पुनानाः सञ्चारैरतस्तान्नातिभाषयेत्॥ ६३॥

तच्छ्रुत्वा भयसन्त्रस्तो ज्ञात्वा रामं रमापतिम्।
वाली प्रणम्य रभसाद्रामं वचनमब्रवीत्॥ ६४॥

रामचन्द्रजीको देखकर वालीने कुछ तिरस्कार करते हुए मन्दस्वरमें कहा—"हे राम! मैंने आपका क्या बिगाड़ा था जो आपने मुझे मारा॥ ५१॥ राजनीतिको न जाननेके कारण ही आपने ऐसा निन्दनीय कार्य किया है। इस प्रकार वृक्षकी आड़में छिपकर मुझपर बाण छोड़ते हुए चोरके समान युद्ध करनेसे आपको क्या यश मिलेगा? यदि आप क्षत्रियकुमार हैं और आपका जन्म मनुजीके पवित्र वंशमें हुआ है तो मेरे सामने आकर युद्ध किया होता तब आपको उसका (यश अथवा स्वर्गरूप) कोई फल भी मिलता। हे राम! सुग्रीवने आपके साथ ऐसा कौन-सा उपकार किया था और मैंने क्या नहीं किया? ॥ ५२—५४॥ मैंने तो यही सुना है कि दण्डकारण्यमें रावण आपकी भार्याको हर ले गया था, उसे पानेके लिये ही आपने सुग्रीवकी शरण ली है॥ ५५॥ किन्तु खेद है कि आपने मेरा विश्व-विख्यात बल नहीं सुना। हे राघव! मैं यदि चाहूँ तो आधे मुहूर्त्तमें ही रावणको कुलसहित बाँधकर सीताजी और लङ्काके सहित ले आऊँ। और हे रघुनन्दन! आप तो संसारमें बड़े धर्मात्मा कहे जाते हैं॥ ५६-५७॥ बताइये, एक वानरको व्याधके समान मारकर आपको क्या पुण्य मिलेगा; वानरका मांस तो अभक्ष्य है, फिर मुझे मारकर आप क्या करेंगे"॥ ५८॥

वालीके इस प्रकार बहुत कुछ कहनेपर रघुनाथजीने कहा—"मैं धर्मकी रक्षा करनेके लिये ही लोकमें धनुष धारण कर विचरता हूँ॥ ५९॥ और अधर्म करनेवालोंको मारकर सद्धर्मका पालन करता हूँ। पुत्री, बहिन, (छोटे) भाईकी स्त्री और पुत्रवधू—ये चारों समान हैं। जो मूढ़ इनमेंसे किसी एकके साथ भी रमण करता है उसे महापापी जानना चाहिये; राजाको उचित है कि उसे अवश्य मार डाले॥ ६०-६१॥ अरे वनचर! तू बलात् अपने छोटे भाईकी स्त्रीके साथ रमण करता था इसीलिये मुझ धर्मज्ञने तुझे मारा है॥ ६२॥ तू वानर ही तो है; तुझे इस बातका पता नहीं है कि महापुरुष सदैव अपने आचरणोंसे लोकोंको पवित्र करते हुए विचरा करते हैं इसलिये उनसे इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें न करनी चाहिये"॥ ६३॥

भगवान्‌के ये वचन सुनकर वाली उन्हें साक्षात् लक्ष्मीपति श्रीनारायण जानकर भयभीत हो गया और उन्हें शीघ्रतासे

राम राम महाभाग जाने त्वां परमेश्वरम्।
अजानता मया किञ्चिदुक्तं तत्क्षन्तुमर्हसि ॥ ६५ ॥

साक्षात्त्वच्छरघातेन विशेषेण तवाग्रतः।
त्यजाम्यसून्महायोगिदुर्लभं तव दर्शनम् ॥ ६६ ॥

यन्नाम विवशो गृह्णन् म्रियमाणः परं पदम्।
याति साक्षात्स एवाद्य मुमूर्षोर्मे पुरः स्थितः ॥ ६७ ॥

देव जानामि पुरुषं त्वां श्रियं जानकीं शुभाम्।
रावणस्य वधार्थाय जातं त्वां ब्रह्मणार्थितम् ॥ ६८ ॥

अनुजानीहि मां राम यान्तं तत्पदमुत्तमम्।
मम तुल्यबले बाले अङ्गदे त्वं दयां कुरु ॥ ६९ ॥

विशल्यं कुरु मे राम हृदयं पाणिना स्पृशन्।
तथेति बाणमुद्धृत्य रामः पस्पर्श पाणिना।
त्यक्त्वा तद्वानरं देहममरेन्द्रोऽभवत्क्षणात् ॥ ७० ॥

वाली रघूत्तमशराभिहतो विमृष्टो
रामेण शीतलकरेण सुखाकरेण।
सद्यो विमुच्य कपिदेहमनन्यलभ्यं
प्राप्तं पदं परमहंसगणैर्दुरापम् ॥ ७१ ॥

प्रणाम करके बोला— ॥ ६४ ॥ "हे राम! हे राम! हे महाभाग! मैं जान गया, आप साक्षात् परमेश्वर हैं। अज्ञानवश मैं जो कुछ कह गया हूँ उसे आप क्षमा करें ॥ ६५ ॥ हे प्रभो! आपका दर्शन तो बड़े-बड़े योगियोंको भी अत्यन्त दुर्लभ है; बड़े भाग्यकी बात है कि मैं आपहीके बाणसे विद्ध होकर फिर आपहीके सामने प्राण छोड़ रहा हूँ ॥ ६६ ॥ मरते समय विवश होकर भी जिनका नाम लेनेसे पुरुष परमपद प्राप्त कर लेता है, वही आप आज इस अन्तिम घड़ीपर साक्षात् मेरे सामने विराजमान हैं ॥ ६७ ॥ हे देव! मैं यह जानता हूँ कि आप साक्षात् परमपुरुष नारायण हैं और जानकीजी लक्ष्मी हैं। ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे रावणका वध करनेके लिये ही आपने अवतार लिया है ॥ ६८ ॥ हे राम! अब मैं आपके सर्वश्रेष्ठ परमधामको जा रहा हूँ, आप मुझे आज्ञा दीजिये। मेरा बालक अङ्गद मेरे ही समान बलशाली है, उसपर आप दयादृष्टि रखें ॥ ६९ ॥ हे राम! मेरे हृदयको अपने करकमलोंसे स्पर्श कर इस बाणको निकाल दीजिये।" तब रामचन्द्रजीने 'अच्छा' कह उसे स्पर्श करते हुए वह बाण निकाल दिया। उसके निकलते ही वाली वानर-शरीर छोड़कर इन्द्ररूप हो गया ॥ ७० ॥ हे पार्वति! वाली रघुनाथजीके बाणसे मारा गया था और फिर उसे उनके सुखमय कर-कमलका शीतल स्पर्श भी मिला। अतः वह शीघ्र ही अपना वानर-देह छोड़कर उस परम श्रेष्ठ पदको प्राप्त हुआ जो और किसीके लिये बहुत ही दुर्लभ है। और तो क्या, महान् परमहंसोंको भी उसका मिलना अत्यन्त कठिन है ॥ ७१ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीय सर्ग

ताराका विलाप, श्रीरामचन्द्रजीका उसे समझाना तथा सुग्रीवका राजपद प्राप्त करना

श्रीमहादेव उवाच

निहते वालिनि रणे रामेण परमात्मना।
दुद्रुवुर्वानराः सर्वे किष्किन्धां भयविह्वलाः ॥ १ ॥
तारामूचुर्महाभागे हतो वाली रणाजिरे।
अङ्गदं परिरक्षाद्य मन्त्रिणः परिनोदय ॥ २ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! परमात्मा रामके द्वारा युद्धमें वालीके मारे जानेपर समस्त वानरगण भयसे व्याकुल होकर किष्किन्धापुरीमें दौड़े गये ॥ १ ॥ और तारासे बोले—"हे महाभागे! वानरराज वाली युद्धक्षेत्रमें मारे गये। अब आप राजकुमार अङ्गदकी रक्षा

चतुर्द्वारकपाटादीन् बद्ध्वा रक्षामहे पुरीम्।
वानराणां तु राजानमङ्गदं कुरु भामिनि॥ ३॥

निहतं वालिनं श्रुत्वा तारा शोकविमूर्च्छिता।
अताडयत्स्वपाणिभ्यां शिरो वक्षश्च भूरिशः॥ ४॥

किमङ्गदेन राज्येन नगरेण धनेन वा।
इदानीमेव निधनं यास्यामि पतिना सह॥ ५॥

इत्युक्त्वा त्वरिता तत्र रुदती मुक्तमूर्धजा।
ययौ तारातिशोकार्ता यत्र भर्तृकलेवरम्॥ ६॥

पतितं वालिनं दृष्ट्वा रक्तैः पांसुभिरावृतम्।
रुदती नाथनाथेति पतिता तस्य पादयोः॥ ७॥

करुणं विलपन्ती सा ददर्श रघुनन्दनम्।
राम मां जहि बाणेन येन वाली हतस्त्वया॥ ८॥

गच्छामि पतिसालोक्यं पतिर्मामभिकाङ्क्षते।
स्वर्गेऽपि न सुखं तस्य मां विना रघुनन्दन॥ ९॥

पत्नीवियोगजं दुःखमनुभूतं त्वयानघ।
वालिने मां प्रयच्छाशु पत्नीदानफलं भवेत्॥ १०॥

सुग्रीव त्वं सुखं राज्यं दापितं वालिघातिना।
रामेण रुमया सार्धं भुङ्क्ष्व सापत्नवर्जितम्॥ ११॥

इत्येवं विलपन्तीं तां तारां रामो महामनाः।
सान्त्वयामास दयया तत्त्वज्ञानोपदेशतः॥ १२॥

किं भीरु शोचसि व्यर्थं शोकस्याविषयं पतिम्।
पतिस्तवायं देहो वा जीवो वा वद तत्त्वतः॥ १३॥

पञ्चात्मको जडो देहस्त्वङ्मांसरुधिरास्थिमान्।
कालकर्मगुणोत्पन्नः सोऽप्यास्तेऽद्यापि ते पुरः॥ १४॥

कीजिये और मन्त्रियोंको सावधान कर दीजिये॥ २॥ हे भामिनि! हमलोग चारों द्वारोंके किवाड़ आदि लगाकर नगरकी रक्षा करते हैं, आप अङ्गदको वानरोंका राजा बनाइये॥ ३॥

वालीको मरा हुआ सुनकर तारा शोकसे मूर्च्छित हो गयी और अपने सिर तथा छातीको बारम्बार हाथोंसे पीटने लगी॥ ४॥ और बोली, "मुझे अङ्गद, राज्य, नगर और धन आदिसे क्या काम है, मैं तो अभी अपने पतिदेवके साथ ही प्राण त्याग करूँगी"॥ ५॥ ऐसा कह वह रोती हुई तुरंत ही वहाँ गयी जहाँ उसके पतिका देह पड़ा हुआ था, उस समय वह अत्यन्त शोकाकुल थी और उसके बाल बिखरे हुए थे॥ ६॥ वहाँ वालीको रक्त और धूलिसे लथपथ पड़ा देख वह 'हा नाथ! हा नाथ!' कहकर रोती हुई उसके पैरोंपर गिर पड़ी॥ ७॥

इस प्रकार करुणक्रन्दन करते हुए उसकी दृष्टि श्रीरघुनाथजीपर पड़ी। (उन्हें देखकर वह बोली—) "राम! आपने जिस बाणसे वालीको मारा है उसीसे मुझे भी मार डालिये॥ ८॥ जिससे मैं तुरंत ही पतिलोकको चली जाऊँ; वे मेरी बाट देख रहे होंगे क्योंकि हे रघुनन्दन! मेरे बिना उन्हें स्वर्गमें भी चैन नहीं होगा॥ ९॥ हे अनघ! पत्नीके वियोगका दुःख आपने अनुभव किया ही है (अतः आपको उसकी तीव्रताका अनुमान हो ही सकता है।) इसलिये अब आप मुझे वालीके पास पहुँचा दीजिये। इससे आपको स्त्री-दानका फल मिलेगा॥ १०॥ सुग्रीव! तुम्हें वालीको मारनेवाले रामने राज्य दिला ही दिया है। अब उस निष्कण्टक राज्यको तुम रुमाके साथ सुखपूर्वक भोगो"॥ ११॥

इस प्रकार विलाप करती हुई उस ताराको महामना रामने दयापूर्वक तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर शान्त किया॥ १२॥ वे बोले—"अयि भीरु! तेरा पति शोक करनेयोग्य नहीं है, तू उसके लिये व्यर्थ क्यों शोक करती है? तू विचारकर ठीक-ठीक बता वास्तवमें तेरा पति यह देह है या इसमें रहनेवाला जीव? (यदि यह देह ही तेरा पति है तो) यह तो जड़ पञ्चभूतमय एवं त्वचा, मांस, रुधिर और अस्थियोंसे बना हुआ है तथा काल, कर्म और गुणोंसे उत्पन्न हुआ है; और वह तो अब भी तेरे सामने पड़ा है। (फिर उसके लिये शोक क्यों करती

मन्यसे जीवमात्मानं जीवस्तर्हि निरामयः।
न जायते न म्रियते न तिष्ठति न गच्छति ॥ १५ ॥

न स्त्री पुमान्वा षण्ढो वा जीवः सर्वगतोऽव्ययः।
एक एवाद्वितीयोऽयमाकाशवदलेपकः।
नित्यो ज्ञानमयः शुद्धः स कथं शोकमर्हति ॥ १६ ॥

तारोवाच

देहोऽचित्काष्ठवद्राम जीवो नित्यश्चिदात्मकः।
सुखदुःखादिसम्बन्धः कस्य स्याद्राम मे वद ॥ १७ ॥

श्रीराम उवाच

अहङ्कारादिसम्बन्धो यावद्देहेन्द्रियैः सह।
संसारस्तावदेव स्यादात्मनस्त्वविवेकिनः ॥ १८ ॥

मिथ्यारोपितसंसारो न स्वयं विनिवर्तते।
विषयान्ध्यायमानस्य स्वप्ने मिथ्यागमो यथा ॥ १९ ॥

अनाद्यविद्यासम्बन्धात्तत्कार्याहङ्कृतेस्तथा।
संसारोऽपार्थकोऽपि स्याद्रागद्वेषादिसङ्कुलः ॥ २० ॥

मन एव हि संसारो बन्धश्चैव मनः शुभे।
आत्मा मनः समानत्वमेत्य तद्गतबन्धभाक् ॥ २१ ॥

यथा विशुद्धः स्फटिकोऽलक्तकादिसमीपगः।
तत्तद्वर्णयुगाभाति वस्तुतो नास्ति रञ्जनम् ॥ २२ ॥

बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनः संसृतिर्बलात्।
आत्मा स्वलिङ्गं तु मनः परिगृह्य तदुद्भवान् ॥ २३ ॥

कामान् जुषन् गुणैर्बद्धः संसारे वर्ततेऽवशः।
आदौ मनोगुणान् सृष्ट्वा ततः कर्माण्यनेकधा ॥ २४ ॥

है ?) ॥ १३-१४ ॥ और यदि तू जीवको अपना पति मानती है तो भी तुझे शोक न करना चाहिये, क्योंकि वह निर्विकार है। वह न उत्पन्न होता है, न मरता है, न स्थिर रहता है और न आता-जाता है ॥ १५ ॥ जीव सर्वव्यापी और अव्यय है, वह स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक कुछ भी नहीं है बल्कि एक अद्वितीय, आकाशके समान निर्लेप, नित्य, ज्ञानमय और शुद्ध है; फिर वह शोचनीय कैसे हो सकता है ?'' ॥ १६ ॥

तारा बोली—हे राम ! देह तो काष्ठके समान जड है और जीव नित्य तथा चैतन्यस्वरूप है, (उसका नाश हो नहीं सकता) फिर सुख-दुःखादिका सम्बन्ध किससे होता है, यह मुझे बतलाइये ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले—जबतक देह और इन्द्रियोंके साथ 'मैं'-'मेरापन' आदिका सम्बन्ध रहता है, तबतक आत्मा और अनात्माके विवेकसे रहित जीवका सुख-दुःखादिके भोगरूप संसारसे सम्बन्ध रहता है ॥ १८ ॥ यह संसार आत्मामें मिथ्या ही आरोपित हुआ है तथापि ज्ञानोदयके बिना यह अपने-आप निवृत्त नहीं होता ? जिस प्रकार विषयोंका निरन्तर ध्यान करनेवाले पुरुषको स्वप्नमें अनेक पदार्थ दीखते हैं, परन्तु वे होते मिथ्या ही हैं ॥ १९ ॥ अनादि अविद्या और उसके कार्य अहंकारके सम्बन्धसे स्थित हुआ यह संसार निरर्थक (अत्यन्त मिथ्या) होते हुए भी राग-द्वेष आदिसे पूर्ण है ॥ २० ॥ हे शुभे ! मन ही संसार है और मन ही बन्धन है। उस अनात्म वस्तु मनके साथ (अन्योन्याध्याससे) एक हो जानेसे ही यह आत्मा तद्गत सुख-दुःखादिके बन्धनमें पड़ता है ॥ २१ ॥ जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे शुक्लवर्ण होनेपर भी लाख आदिके समीप होनेपर उसीके रंगकी मालूम होने लगती है, परन्तु वास्तवमें उसमें वह रंग नहीं होता ॥ २२ ॥ वैसे ही बुद्धि और इन्द्रिय आदिकी सन्निधिसे आत्माको बलात् संसारकी प्रतीति होती है। आत्मा, अपने लिङ्ग (पहचाननेके साधन) मनको स्वीकार कर उससे प्राप्त होनेवाले विषयोंका सेवन करता हुआ उसके राग-द्वेषादि गुणोंमें बँधकर विवश हो संसार-चक्रमें फँसा रहता है। पहले वह राग-द्वेषादि मनके गुणोंकी रचना करता है और फिर (उनके योगसे) नाना प्रकारके कर्म

शुक्ललोहितकृष्णानि गतयस्तत्समानतः ।
एवं कर्मवशाज्जीवो भ्रमत्याभूतसम्प्लवम् ॥ २५ ॥

सर्वोपसंहतौ जीवो वासनाभिः स्वकर्मभिः ।
अनाद्यविद्यावशगस्तिष्ठत्यभिनिवेशतः ॥ २६ ॥

सृष्टिकाले पुनः पूर्ववासनामानसैः सह ।
जायते पुनरप्येवं घटीयन्त्रमिवावशः ॥ २७ ॥

यदा पुण्यविशेषेण लभते सङ्गतिं सताम् ।
मद्भक्तानां सुशान्तानां तदा मद्विषया मतिः ॥ २८ ॥

मत्कथाश्रवणे श्रद्धा दुर्लभा जायते ततः ।
ततः स्वरूपविज्ञानमनायासेन जायते ॥ २९ ॥

तदाचार्यप्रसादेन वाक्यार्थज्ञानतः क्षणात् ।
देहेन्द्रियमनःप्राणाहङ्कृतिभ्यः पृथक्स्थितम् ॥ ३० ॥

स्वात्मानुभवतः सत्यमानन्दात्मानमद्वयम् ।
ज्ञात्वा सद्यो भवेन्मुक्तः सत्यमेव मयोदितम् ॥ ३१ ॥

एवं मयोदितं सम्यगालोचयति योऽनिशम् ।
तस्य संसारदुःखानि न स्पृशन्ति कदाचन ॥ ३२ ॥

त्वमप्येतन्मया प्रोक्तमालोचय विशुद्धधीः ।
न स्पृश्यसे दुःखजालैः कर्मबन्धाद्विमोक्ष्यसे ॥ ३३ ॥

पूर्वजन्मनि ते सुभ्रु कृता मद्भक्तिरुत्तमा ।
अतस्तव विमोक्षाय रूपं मे दर्शितं शुभे ॥ ३४ ॥

ध्यात्वा मद्रूपमनिशमालोचय मयोदितम् ।
प्रवाहपतितं कार्यं कुर्वत्यपि न लिप्यसे ॥ ३५ ॥

श्रीरामेणोदितं सर्वं श्रुत्वा तारातिविस्मिता ।
देहाभिमानजं शोकं त्यक्त्वा नत्वा रघूत्तमम् ॥ ३६ ॥

आत्मानुभवसन्तुष्टा जीवन्मुक्ता बभूव ह ।
क्षणसङ्गममात्रेण रामेण परमात्मना ॥ ३७ ॥

करता है। वे कर्म शुक्ल (जप, ध्यानादि), लोहित (हिंसामय यज्ञ-यागादि) और कृष्ण (मद्यपानादि पापकर्म) तीन प्रकारके होते हैं। उन कर्मोंके अनुसार ही उसकी गतियाँ होती हैं। इस प्रकार यह जीव कर्मोंके वशीभूत होकर प्रलयपर्यन्त आवागमनके चक्रमें पड़ा रहता है ॥ २३—२५ ॥ प्रलयकालमें सब भूतोंका लय हो जानेपर भी अपने कर्ता-भोक्तापनके अभिनिवेशसे यह अपनी वासनाओं और कर्मोंके साथ अनादि अविद्यासे आच्छादित हुआ रहता है ॥ २६ ॥ जब नवीन सृष्टि आरम्भ होती है, तब यह विवश होकर अपनी पूर्व वासनाओंसे युक्त मनके सहित घटीयन्त्रके समान फिर उत्पन्न हो जाता है ॥ २७ ॥ जिस समय किसी विशेष पुण्यपरिपाकसे इसे मेरे भक्त और शान्तचित्त महात्माओंकी सङ्गति मिलती है उस समय इसका चित्त मेरी ओर लगता है ॥ २८ ॥ उससे मेरी कथा सुननेमें इसकी श्रद्धा होती है, जो बहुत ही दुर्लभ है। मेरी कथा सुननेसे इसको अनायास ही मेरे स्वरूपका ज्ञान हो जाता है ॥ २९ ॥ उस समय गुरु-कृपाद्वारा तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके अर्थ-ज्ञानसे तथा स्वयं अपने अनुभवसे भी यह अपने सच्चिदानन्द-स्वरूप अद्वितीय आत्माको देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और अहंकारादिसे पृथक् जानकर एक क्षणमें ही तुरंत मुक्त हो जाता है। हे तारे ! मैंने यह वास्तविक सत्य तुझसे कह दिया ॥ ३०-३१ ॥ मेरे कहे हुए इस परमार्थ ज्ञानका जो अहर्निश मनन करता है, उसे सांसारिक दुःख कभी स्पर्श नहीं करते ॥ ३२ ॥ तू भी शुद्धचित्त होकर मेरे इस उपदेशका मनन कर। ऐसा करनेसे क्लेश-कलाप तुझे छू भी न सकेंगे और तू कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जायगी ॥ ३३ ॥ हे सुभ्रु ! अपने पूर्वजन्ममें तूने मेरी उत्कृष्ट भक्ति की थी, इसीलिये हे सुन्दरि ! तुझे मुक्त करनेके लिये मैंने अपना दर्शन दिया है ॥ ३४ ॥ तू रात-दिन मेरे रूपका ध्यान करती हुई मेरे उपदेशका मनन कर। ऐसा करनेसे प्रारब्ध-क्रमसे प्राप्त हुए कर्मोंको करती हुई भी तू उनसे लिप्त न होगी ॥ ३५ ॥

भगवान् रामका यह अद्भुत उपदेश सुनकर ताराको बड़ा ही विस्मय हुआ और उसने देहाभिमानजनित शोक छोड़कर श्रीरघुनाथजीको प्रणाम किया तथा आत्मानुभवसे सन्तुष्ट होकर वह तत्काल जीवन्मुक्त हो गयी। परमात्मा

अनादिबन्धं निर्धूय मुक्ता सापि विकल्मषा ।
सुग्रीवोऽपि च तच्छ्रुत्वा रामवक्त्रात्समीरितम् ॥ ३८ ॥

जहावज्ञानमखिलं स्वस्थचित्तोऽभवत्तदा ।
ततः सुग्रीवमाहेदं रामो वानरपुङ्गवम् ॥ ३९ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य पुत्रेण यद्युक्तं साम्परायिकम् ।
कुरु सर्वं यथान्यायं संस्कारादि ममाज्ञया ॥ ४० ॥

तथेति बलिभिर्मुख्यैर्वानरैः परिणीय तम् ।
वालिनं पुष्पके क्षिप्त्वा सर्वराजोपचारकैः ॥ ४१ ॥

भेरीदुन्दुभिनिर्घोषैर्ब्राह्मणैर्मन्त्रिभिः सह ।
यूथपैर्वानरैः पौरैस्तारया चाङ्गदेन च ॥ ४२ ॥

गत्वा चकार तत्सर्वं यथाशास्त्रं प्रयत्नतः ।
स्नात्वा जगाम रामस्य समीपं मन्त्रिभिः सह ॥ ४३ ॥

नत्वा रामस्य चरणौ सुग्रीवः प्राह हृष्टधीः ।
राज्यं प्रशाधि राजेन्द्र वानराणां समृद्धिमत् ॥ ४४ ॥

दासोऽहं ते पादपद्मं सेवे लक्ष्मणवच्चिरम् ।
इत्युक्तो राघवः प्राह सुग्रीवं सस्मितं वचः ॥ ४५ ॥

त्वमेवाहं न सन्देहः शीघ्रं गच्छ ममाज्ञया ।
पुरराज्याधिपत्ये त्वं स्वात्मानमभिषेचय ॥ ४६ ॥

नगरं न प्रवेक्ष्यामि चतुर्दश समाः सखे ।
आगमिष्यति मे भ्राता लक्ष्मणः पत्तनं तव ॥ ४७ ॥

अङ्गदं यौवराज्ये त्वमभिषेचय सादरम् ।
अहं समीपे शिखरे पर्वतस्य सहानुजः ॥ ४८ ॥

वत्स्यामि वर्षदिवसांस्ततस्त्वं यत्नवान् भव ।
किञ्चित्कालं पुरे स्थित्वा सीतायाः परिमार्गणे ॥ ४९ ॥

साष्टाङ्गं प्रणिपत्याह सुग्रीवो रामपादयोः ।
यदाज्ञापयसे देव तत्तथैव करोम्यहम् ॥ ५० ॥

अनुज्ञातश्च रामेण सुग्रीवस्तु सलक्ष्मणः ।
गत्वा पुरं तथा चक्रे यथा रामेण चोदितः ॥ ५१ ॥

रामके क्षणमात्रके सत्संगसे वह अनादि अविद्याके बन्धनको काटकर निष्पाप और मुक्त हो गयी। भगवान्‌के श्रीमुखका वक्तव्य सुनकर सुग्रीवका भी समस्त अज्ञान जाता रहा और वह शान्तचित्त हो गया। तदनन्तर भगवान्‌ने वानरश्रेष्ठ सुग्रीवसे कहा— ॥ ३६—३९ ॥ "हे सुग्रीव ! तुम मेरी आज्ञासे बेटा अङ्गदके द्वारा अपने बड़े भाईका जो कुछ शास्त्रोक्त और्ध्वदैहिक कर्म हो वह सब विधिपूर्वक करो" ॥ ४० ॥ तब 'जो आज्ञा' कह मुख्य-मुख्य बलवान् वानरोंके साथ वालीके शवको फूलोंके विमानपर रखकर समस्त राजोचित उपचारोंके सहित भेरी और दुन्दुभि आदिका घोष करते हुए ब्राह्मण, मन्त्रिवर्ग, यूथपति वानरगण, पुरवासी, तारा और अङ्गदके साथ उसे ले जाकर सुग्रीवने बड़े प्रयत्नसे शास्त्रानुकूल सब संस्कार किये और फिर स्नानादि करके मन्त्रियोंके साथ रामके पास लौट आया ॥ ४१—४३ ॥

वहाँ आकर सुग्रीवने प्रसन्नचित्तसे श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—"हे राजराजेश्वर ! वानरोंके इस समृद्धिसम्पन्न राज्यका शासन कीजिये ॥ ४४ ॥ मैं तो आपका दास हूँ; लक्ष्मणके समान मैं भी सदा आपके चरणकमलोंकी सेवा करता रहूँगा।"

यह सुनकर श्रीरघुनाथजीने सुग्रीवसे मुसकराते हुए कहा— ॥ ४५ ॥ "सुग्रीव ! मैं और तू एक ही हैं—इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं। मेरी आज्ञासे तुम तुरंत ही जाकर किष्किन्धाके राजपदपर अपना अभिषेक कराओ ॥ ४६ ॥ हे सखे ! मैं चौदह वर्षतक किसी भी नगरमें प्रवेश नहीं कर सकता; इसलिये तुम्हारे राज्याभिषेकके समय भाई लक्ष्मण तुम्हारे नगरमें आयेगा ॥ ४७ ॥ अङ्गदको तुम आदरपूर्वक यौवराज्यपदपर अभिषिक्त करना। अब मैं वर्षाके दिनोंमें भाई लक्ष्मणके साथ यहाँ पास ही पर्वत-शिखरपर रहूँगा, सो तुम कुछ दिन नगरमें रहकर फिर सीताजीकी खोज करानेका प्रयत्न करना ॥ ४८-४९ ॥

तब सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् करके कहा—"भगवन् ! आपकी जैसी आज्ञा होगी मैं वही करूँगा" ॥ ५० ॥ फिर भगवान् रामकी आज्ञा पा सुग्रीव लक्ष्मणजीको साथ लेकर किष्किन्धापुरीमें गये और जैसे-जैसे श्रीरामचन्द्रजीने करनेको कहा था सब

सुग्रीवेण यथान्यायं पूजितो लक्ष्मणस्तदा।
आगत्य राघवं शीघ्रं प्रणिपत्योपतस्थिवान्॥ ५२॥

ततो रामो जगामाशु लक्ष्मणेन समन्वितः।
प्रवर्षणगिरेरूर्ध्वं शिखरं भूरिविस्तरम्॥ ५३॥

तत्रैकं गह्वरं दृष्ट्वा स्फाटिकं दीप्तिमच्छुभम्।
वर्षवातातपसहं फलमूलसमीपगम्।
वासाय रोचयामास तत्र रामः सलक्ष्मणः॥ ५४॥

दिव्यमूलफलपुष्पसंयुते
मौक्तिकोपमजलौघपल्वले।
चित्रवर्णमृगपक्षिशोभिते
पर्वते रघुकुलोत्तमोऽवसत्॥ ५५॥

कार्य वैसे ही किया॥ ५१॥ तदनन्तर सुग्रीवसे यथोचित आदर पा लक्ष्मणजी श्रीरघुनाथजीके पास चले आये और उनके चरणोंमें प्रणाम कर उनकी सेवामें उपस्थित हो गये॥ ५२॥

तब श्रीरामचन्द्रजी तत्काल ही लक्ष्मणके साथ प्रवर्षण पर्वतके ऊपर अति विस्तीर्ण शिखरपर गये॥ ५३॥ वहाँ उन्होंने स्फटिकमणिकी एक स्वच्छ और प्रकाशमान गुफा देखी। उसमें वर्षा, वायु और धूपसे बचनेका सुभीता था तथा पास ही कन्द, मूल और फल भी लगे हुए थे। उसे देखकर श्रीराम और लक्ष्मणने वहीं रहना पसंद किया॥ ५४॥ तब रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्रजी दिव्य मूल, फल और फूलोंसे सम्पन्न, मोतीके समान स्वच्छ जलवाले सरोवरोंसे युक्त और चित्र-विचित्र मृग तथा पक्षियोंसे सुशोभित उस प्रवर्षण पर्वतपर रहने लगे॥ ५५॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे तृतीयः सर्गः॥ ३॥

चतुर्थ सर्ग

भगवान् रामका लक्ष्मणजीसे क्रियायोगका वर्णन करना

श्रीमहादेव उवाच

तत्र वार्षिकदिनानि राघवो
लीलया मणिगुहासु सञ्चरन्।
पक्वमूलफलभोगतोषितो
लक्ष्मणेन सहितोऽवसत्सुखम्॥ १॥

वातनुन्नजलपूरितमेघा-
नन्तरस्तनितवैद्युतगर्भान्।
वीक्ष्य विस्मयमगाद्गजयूथा-
न्यद्वदाहितसुकाञ्चनकक्षान्॥ २॥

नवघासं समास्वाद्य हृष्टपुष्टमृगद्विजाः।
धावन्तः परितो रामं वीक्ष्य विस्फारितेक्षणाः॥ ३॥

न चलन्ति सदाध्याननिष्ठा इव मुनीश्वराः।
रामं मानुषरूपेण गिरिकाननभूमिषु॥ ४॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! वहाँ श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजीके साथ लीलासे ही मणिमय गुफाओंमें विचरते और पके हुए फल-मूल खाकर निर्वाह करते हुए वर्षाके दिनोंमें आनन्दपूर्वक रहे॥ १॥ वायुसे प्रेरित सजल मेघोंको देखकर, जो अपने भीतर कौंधती हुई बिजलीके कारण सुनहरी झूलोंसे युक्त हाथियोंके झुंडके समान प्रतीत होते थे, उन्हें बड़ा ही विस्मय हुआ करता था॥ २॥ नवीन घासके खानेसे हृष्ट-पुष्ट हुए मृग और पक्षिगण जब कभी इधर-उधर दौड़ते हुए श्रीरामचन्द्रजीको देख लेते तो उनकी ओर टकटकी लगाये रह जाते॥ ३॥ और ध्याननिष्ठ मुनीश्वरोंके समान इधर-उधर जाना भूलकर जहाँ-के-तहाँ खड़े रह जाते। इस समय परमात्मा रामको मनुष्यरूपसे पर्वत और वनोंमें विचरते जानकर

चरन्तं परमात्मानं ज्ञात्वा सिद्धगणा भुवि।
मृगपक्षिगणा भूत्वा राममेवानुसेविरे॥ ५॥

सौमित्रिरेकदा राममेकान्ते ध्यानतत्परम्।
समाधिविरमे भक्त्या प्रणयाद्विनयान्वितः॥ ६॥

अब्रवीद्देव ते वाक्यात्पूर्वोक्ताद्विगतो मम।
अनाद्यविद्यासम्भूतः संशयो हृदि संस्थितः॥ ७॥

इदानीं श्रोतुमिच्छामि क्रियामार्गेण राघव।
भवदाराधनं लोके यथा कुर्वन्ति योगिनः॥ ८॥

इदमेव सदा प्राहुर्योगिनो मुक्तिसाधनम्।
नारदोऽपि तथा व्यासो ब्रह्मा कमलसम्भवः॥ ९॥

ब्रह्मक्षत्रादिवर्णानामाश्रमाणां च मोक्षदम्।
स्त्रीशूद्राणां च राजेन्द्र सुलभं मुक्तिसाधनम्।
तव भक्ताय मे भ्रात्रे ब्रूहि लोकोपकारकम्॥ १०॥

श्रीराम उवाच

मम पूजाविधानस्य नान्तोऽस्ति रघुनन्दन।
तथापि वक्ष्ये सङ्क्षेपाद्यथावदनुपूर्वशः॥ ११॥

स्वगृह्योक्तप्रकारेण द्विजत्वं प्राप्य मानवः।
सकाशात्सद्गुरोर्मन्त्रं लब्ध्वा मद्भक्तिसंयुतः॥ १२॥

तेन सन्दर्शितविधिर्मामेवाराधयेत्सुधीः।
हृदये वानले वार्चेत्प्रतिमादौ विभावसौ॥ १३॥

शालग्रामशिलायां वा पूजयेन्मामतन्द्रितः।
प्रातःस्नानं प्रकुर्वीत प्रथमं देहशुद्धये॥ १४॥

वेदतन्त्रोदितैर्मन्त्रैर्मृल्लेपनविधानतः।
सन्ध्यादि कर्म यन्नित्यं तत्कुर्याद्विधिना बुधः॥ १५॥

सङ्कल्पमादौ कुर्वीत सिद्ध्यर्थं कर्मणां सुधीः।
स्वगुरुं पूजयेद्भक्त्या मद्बुद्ध्या पूजको मम॥ १६॥

बहुत-से सिद्धगण पृथ्वीपर मृग और पक्षियोंके रूपसे सदा उन्हींकी सेवामें रहने लगे॥ ४-५॥

एक दिन एकान्तमें ध्यान करते हुए भगवान् रामसे उनकी समाधि खुलनेपर सुमित्रानन्दन श्रीलक्ष्मणजीने अति प्रेम और भक्तिसे नम्रतापूर्वक कहा—"भगवन्! आपने मुझे जो उपदेश पहले दिया था उसे मेरे हृदयका अनादि अविद्याजन्य सन्देह तो दूर हो गया है॥ ६-७॥ किन्तु हे राघव! योगिजन क्रियामार्ग (पूजा-पद्धति) से जिस प्रकार संसारमें आपकी आराधना किया करते हैं, इस समय मैं उसे सुनना चाहता हूँ॥ ८॥ समस्त योगिजन एवं देवर्षि नारद, महर्षि व्यास और कमलयोनि श्रीब्रह्माजी भी इसीको मुक्तिका साधन बतलाते हैं॥ ९॥ हे राजराजेश्वर! ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि आश्रमोंको मोक्ष देनेवाला यही साधन है और स्त्री तथा शूद्रोंकी भी इसी साधनसे सुगमतासे मुक्ति हो सकती है। हे प्रभो! मैं आपका भक्त और भाई हूँ; अतः आप मुझसे इस लोकोपकारी साधनका वर्णन कीजिये"॥ १०॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले—हे रघुकुलनन्दन लक्ष्मण! मेरी पूजा-विधिका कोई अन्त नहीं है तथापि मैं क्रमशः उसका संक्षेपमें यथावत् वर्णन करता हूँ॥ ११॥ मेरी भक्तिसे सम्पन्न मनुष्य अपनी शाखाके गृह्यसूत्रद्वारा बतलाये गये प्रकारसे (उपनयन-संस्कारके अनन्तर) द्विजत्व प्राप्त कर भक्तिपूर्वक सद्गुरुके पास जाय और उनसे मन्त्र ग्रहण करे॥ १२॥ फिर बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि उन गुरुदेवकी बतायी हुई विधिसे अपने हृदयमें, अग्निमें, प्रतिमा आदिमें अथवा सूर्यमें केवल मेरी ही सेवा-पूजा करे॥ १३॥ अथवा सावधान होकर शालग्राम-शिलामें ही मेरी उपासना करे। बुद्धिमान् उपासकको चाहिये कि सबसे पहले देह-शुद्धिके लिये, प्रातःकाल ही वैदिक तथा तान्त्रिक मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए शरीरमें विधिवत् मृत्तिका आदि लगाकर स्नान करे और फिर नियमानुसार सन्ध्या आदि नित्यकर्म करे॥ १४-१५॥ मेरी पूजा करनेवाला मतिमान् पुरुष कर्मोंकी सिद्धिके लिये पहले संकल्प करे और फिर अपने गुरुदेवमें मेरी ही भावना रखकर उनकी

शिलायां स्नपनं कुर्यात्प्रतिमासु प्रमार्जनम्।
प्रसिद्धैर्गन्धपुष्पाद्यैर्मत्पूजा सिद्धिदायिका ॥ १७ ॥

अमायिकोऽनुवृत्त्या मां पूजयेन्नियतव्रतः।
प्रतिमादिष्वलङ्कारः प्रियो मे कुलनन्दन ॥ १८ ॥

अग्नौ यजेत हविषा भास्करे स्थण्डिले यजेत्।
भक्तेनोपहृतं प्रीत्यै श्रद्धया मम वार्यपि ॥ १९ ॥

किं पुनर्भक्ष्यभोज्यादि गन्धपुष्पाक्षतादिकम्।
पूजाद्रव्याणि सर्वाणि सम्पाद्यैवं समारभेत् ॥ २० ॥

चैलाजिनकुशैः सम्यगासनं परिकल्पयेत्।
तत्रोपविश्य देवस्य सम्मुखे शुद्धमानसः ॥ २१ ॥

ततो न्यासं प्रकुर्वीत मातृकाबहिरान्तरम्।
केशवादि ततः कुर्यात्तत्त्वन्यासं ततः परम् ॥ २२ ॥

मन्मूर्तिपञ्जरन्यासं मन्त्रन्यासं ततो न्यसेत्।
प्रतिमादावपि तथा कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ॥ २३ ॥

कलशं स्वपुरो वामे क्षिपेत्पुष्पादि दक्षिणे।
अर्घ्यपाद्यप्रदानार्थं मधुपर्कार्थमेव च ॥ २४ ॥

तथैवाचमनार्थं तु न्यसेत्पात्रचतुष्टयम्।
हृत्पद्मे भानुविमले मत्कलां जीवसंज्ञिताम् ॥ २५ ॥

ध्यायेत्स्वदेहमखिलं तया व्याप्तमरिन्दम।
तामेवावाहयेन्नित्यं प्रतिमादिषु मत्कलाम् ॥ २६ ॥

पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवस्त्रविभूषणैः।
यावच्छक्योपचारैर्वा त्वर्चयेन्मामामायया ॥ २७ ॥

विभवे सति कर्पूरकुङ्कुमागरुचन्दनैः।
अर्चयेन्मन्त्रवन्नित्यं सुगन्धकुसुमैः शुभैः ॥ २८ ॥

पूजा करे ॥ १६ ॥ मेरी मूर्ति यदि शिलारूप हो तो स्नान करावे और यदि प्रतिमाकार हो तो केवल मार्जन ही करे। फिर प्रसिद्ध-प्रसिद्ध गन्ध और पुष्प आदिसे पूजा करे। इस प्रकार की हुई मेरी पूजा शीघ्र ही फल देनेवाली होती है ॥ १७ ॥ मनुष्यको सब प्रकारके छल-छिद्र छोड़कर गुरुकी बतायी विधिसे नियमबद्ध होकर मेरी पूजा करनी चाहिये। हे कुलनन्दन ! प्रतिमा आदिका शृंगार करना मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ १८ ॥ यदि अग्निमें पूजा करनी हो तो आहुतिद्वारा करे और यदि सूर्यमें करनी हो तो वेदीमें सूर्यका आकार बनाकर करे। भक्तके द्वारा श्रद्धापूर्वक निवेदन किया हुआ जल भी मेरी प्रसन्नताका कारण होता है ॥ १९ ॥ फिर भक्ष्य, भोज्य आदि पदार्थ और गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि पूजा-सामग्रीकी तो बात ही क्या है ? अतः पहले पूजाकी सब सामग्री इकट्ठी कर फिर मेरी पूजा आरम्भ करे ॥ २० ॥

(अब जिस प्रकार पूजा करनी चाहिये वह बतलाता हूँ—) पहले क्रमशः कुशा, मृगचर्म और वस्त्र बिछाकर आसन बनावे तथा उसपर शुद्धचित्तसे इष्टदेवके सम्मुख बैठे ॥ २१ ॥ तदनन्तर बहिर्मातृका और अन्तर्मातृका न्यास करे तथा केशव, नारायण आदि चौबीस नामोंका न्यास करके तत्त्वन्यास करे। उसके पश्चात् [विष्णुपञ्जरोक्त विधिसे] मेरी मूर्तिमें पञ्जरन्यास तथा मन्त्रन्यास करे। मेरी प्रतिमा आदिमें भी निरालस्य-भावसे उसी प्रकार न्यास करना चाहिये ॥ २२-२३ ॥ तथा अपने सामने बायीं ओर कलश और दायीं ओर पुष्प आदि सामग्री रखे, उसी तरह अर्घ्य, पाद्य, मधुपर्क और आचमनके लिये चार पात्र रखे। तत्पश्चात् अपने सूर्यके समान तेजस्वी हृदय-कमलमें जीवनाम्नी मेरी कलाका ध्यान करे और हे शत्रुदमन ! अपने सम्पूर्ण शरीरको उससे व्याप्त देखे तथा प्रतिमा आदिका पूजन करते समय भी उन [प्रतिमा आदि] में उस जीवकलाका ही आवाहन करे ॥ २४—२६ ॥ पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, आभूषण आदिसे अथवा जो कुछ सामग्री मिल सके उसीसे, निष्कपट होकर मेरी पूजा करे ॥ २७ ॥ यदि धनवान् हो तो नित्यप्रति कर्पूर, कुंकुम, अगरु, चन्दन और अत्युत्तम सुगन्धित पुष्पोंसे मन्त्रोच्चारण करता हुआ मेरी

दशावरणपूजां वै ह्यागमोक्तां प्रकारयेत्।
नीराजनैर्धूपदीपैर्नैवेद्यैर्बहुविस्तरैः ॥ २९ ॥

श्रद्धयोपहरेन्नित्यं श्रद्धाभुगहमीश्वरः।
होमं कुर्यात्प्रयत्नेन विधिना मन्त्रकोविदः ॥ ३० ॥

अगस्त्येनोक्तमार्गेण कुण्डेनागमवित्तमः।
जुहुयान्मूलमन्त्रेण पुंसूक्तेनाथवा बुधः ॥ ३१ ॥

अथवौपासनाग्नौ वा चरुणा हविषा तथा।
तप्तजाम्बूनदप्रख्यं दिव्याभरणभूषितम् ॥ ३२ ॥

ध्यायेदनलमध्यस्थं होमकाले सदा बुधः।
पार्षदेभ्यो बलिं दत्त्वा होमशेषं समापयेत् ॥ ३३ ॥

ततो जपं प्रकुर्वीत ध्यायेन्मां यतवाक् स्मरन्।
मुखवासं च ताम्बूलं दत्त्वा प्रीतिसमन्वितः ॥ ३४ ॥

मदर्थे नृत्यगीतादि स्तुतिपाठादि कारयेत्।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ हृदये मां निधाय च ॥ ३५ ॥

शिरस्याधाय मद्दत्तं प्रसादं भावनामयम्।
पाणिभ्यां मत्पदे मूर्ध्नि गृहीत्वा भक्तिसंयुतः ॥ ३६ ॥

रक्ष मां घोरसंसारादित्युक्त्वा प्रणमेत्सुधीः।
उद्वासयेद्यथापूर्वं प्रत्यग्ज्योतिषि संस्मरन् ॥ ३७ ॥

एवमुक्तप्रकारेण पूजयेद्विधिवद्यदि।
इहामुत्र च संसिद्धिं प्राप्नोति मदनुग्रहात् ॥ ३८ ॥

मद्भक्तो यदि मामेवं पूजां चैव दिने दिने।
करोति मम सारूप्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ ३९ ॥

इदं रहस्यं परमं च पावनं
मयैव साक्षात्कथितं सनातनम्।
पठत्यजस्रं यदि वा शृणोति यः
स सर्वपूजाफलभाङ् न संशयः ॥ ४० ॥

पूजा करे ॥ २८ ॥ तथा नीराजन (पाँच बत्तियोंकी आरती), धूप, दीप और नाना प्रकारके नैवेद्योंद्वारा वेदोक्त दशावरण-पूजा-विधिसे मेरा अर्चन करे ॥ २९ ॥

नित्यप्रति अति श्रद्धाके साथ सब पदार्थ निवेदन करे; क्योंकि मैं परमात्मा श्रद्धाका ही भूखा हूँ। मन्त्रविधिको जाननेवाला उपासक पूजाके अनन्तर विधिपूर्वक हवन करे ॥ ३० ॥ शास्त्रविधिके जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि अगस्त्य मुनिकी बतायी हुई विधिसे कुण्ड बनाकर उसमें गुरुके दिये हुए मूलमन्त्रसे अथवा पुरुषसूक्तके मन्त्रोंसे आहुति छोड़े ॥ ३१ ॥ अथवा अग्निहोत्रकी अग्निमें ही चरु तथा हविसे हवन करे। हवन करते समय बुद्धिमान् याजक होमाग्निमें 'तपाये हुए सुवर्णकी-सी कान्तिवाले सर्वालंकारविभूषित भगवान् यज्ञ-पुरुषके रूपमें' परमात्माका सदा ध्यान करे। और फिर मेरे पार्षदोंके लिये बलि देकर होम समाप्त कर दे ॥ ३२-३३ ॥

तदनन्तर मौन होकर मेरा ध्यान और स्मरण करता हुआ जप करे। फिर प्रीतिपूर्वक ताम्बूल और मुखवास देकर मेरे लिये नृत्य, गान और स्तुति-पाठ आदि करावे और हृदयमें मेरी मनोहर मूर्तिको धारण कर पृथिवीपर लोटकर साष्टाङ्ग दण्डवत् करे ॥ ३४-३५ ॥ मेरे दिये हुए भावनामय प्रसादको 'यह भगवत्प्रसाद है' ऐसी भावनासे सिरपर रखे और भक्तिभावसे विभोर हो मेरे चरणोंको अपने मस्तकपर रखकर और 'हे प्रभो! इस भयंकर संसारसे मुझे बचाओ' ऐसा कहकर मुझे प्रणाम करे, उसके बाद बुद्धिमान् उपासकको चाहिये कि प्रतिमामें आवाहन की हुई जीवकलाको 'वह मुझहीमें प्रवेश कर गयी है' ऐसी भावना करते हुए विसर्जन करे ॥ ३६-३७ ॥

जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे मेरी विधिपूर्वक पूजा करता है, वह मेरी कृपासे इहलोक और परलोक दोनों जगह सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥ यदि मेरा भक्त इस प्रकार नित्यप्रति पूजा करे तो यह मेरा सारूप्य प्राप्त कर लेता है इसमें संदेह नहीं ॥ ३९ ॥ यह अति गोपनीय पूजाविधि परम पवित्र और सनातन है। इसे साक्षात् मैंने ही अपने मुखसे कहा है। जो पुरुष इसे निरन्तर पढ़ता या सुनता है उसे निस्सन्देह सम्पूर्ण पूजाका फल मिलता है ॥ ४० ॥

एवं परात्मा श्रीरामः क्रियायोगमनुत्तमम्।
पृष्टः प्राह स्वभक्ताय शेषांशाय महात्मने ॥ ४१ ॥

पुनः प्राकृतवद्रामो मायामालम्ब्य दुःखितः।
हा सीतेति वदन्नैव निद्रां लेभे कथञ्चन ॥ ४२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तत्र किष्किन्धायां सुबुद्धिमान्।
हनूमान्प्राह सुग्रीवमेकान्ते कपिनायकम् ॥ ४३ ॥

शृणु राजन्प्रवक्ष्यामि तवैव हितमुत्तमम्।
रामेण ते कृतः पूर्वमुपकारो ह्यनुत्तमः ॥ ४४ ॥

कृतघ्नवत्त्वया नूनं विस्मृतः प्रतिभाति मे।
त्वत्कृते निहतो वाली वीरस्त्रैलोक्यसम्मतः ॥ ४५ ॥

राज्ये प्रतिष्ठितोऽसि त्वं तारां प्राप्तोऽसि दुर्लभाम्।
स रामः पर्वतस्याग्रे भ्रात्रा सह वसन्सुधीः ॥ ४६ ॥

त्वदागमनमेकाग्रमीक्षते कार्यगौरवात्।
त्वं तु वानरभावेन स्त्रीसक्तो नावबुद्ध्यसे ॥ ४७ ॥

करोमीति प्रतिज्ञाय सीतायाः परिमार्गणम्।
न करोषि कृतघ्नस्त्वं हन्यसे वालिवद्द्रुतम् ॥ ४८ ॥

हनूमद्वचनं श्रुत्वा सुग्रीवो भयविह्वलः।
प्रत्युवाच हनूमन्तं सत्यमेव त्वयोदितम् ॥ ४९ ॥

शीघ्रं कुरु ममाज्ञां त्वं वानराणां तरस्विनाम्।
सहस्राणि दशेदानीं प्रेषयाशु दिशो दश ॥ ५० ॥

सप्तद्वीपगतान्सर्वान्वानरानानयन्तु ते।
पक्षमध्ये समायान्तु सर्वे वानरपुङ्गवाः ॥ ५१ ॥

ये पक्षमतिवर्तन्ते ते वध्या मे न संशयः।
इत्याज्ञाप्य हनूमन्तं सुग्रीवो गृहमाविशत् ॥ ५२ ॥

सुग्रीवाज्ञां पुरस्कृत्य हनूमान्मन्त्रिसत्तमः।
तत्क्षणे प्रेषयामास हरीन्दश दिशः सुधीः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार अपने अनन्य भक्त शेषावतार महात्मा लक्ष्मणजीके पूछनेपर परमात्मा श्रीरामचन्द्रजीने इस अत्युत्तम क्रियायोगका उन्हें उपदेश किया ॥ ४१ ॥ फिर श्रीरामचन्द्रजी अपनी मायाका अवलम्बन कर साधारण पुरुषोंके समान दुःखित-से दिखायी देने लगे। वे 'हा सीते ! हा सीते !' कहते हुए सारी रात यों ही बिता देते, उन्हें किसी प्रकार नींद न आती ॥ ४२ ॥

इसी समय किष्किन्धापुरीमें परम बुद्धिमान् हनूमान्जीने वानरराज सुग्रीवसे एकान्तमें कहा— ॥ ४३ ॥ 'हे राजन् ! सुनिये, मैं आपके बड़े हितकी बात कहता हूँ। देखिये, श्रीरामचन्द्रजीने पहले आपका कितना बड़ा उपकार किया है ॥ ४४ ॥ किन्तु मुझे मालूम होता है आप कृतघ्नके समान उसे भूल गये हैं। अहो ! आपहीके लिये जिन्होंने त्रिलोकमान्य वीरवर वालीको मारा और आपको राज्यपदपर बैठाया तथा (जिनकी कृपासे) आपको परम दुर्लभ तारा मिली वे ही बुद्धिमान् भगवान् राम अपने भाईके साथ पर्वत-शिखरपर रहते हुए अपने भारी कार्यके लिये एकाग्रचित्तसे आपके आनेकी बाट देख रहे हैं। किन्तु आप वानर-स्वभावके अनुसार स्त्री-लम्पट होकर सब कुछ भूल गये ॥ ४५—४७ ॥ आपने सीताजीकी खोजके विषयमें 'मैं अवश्य करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके भी अभीतक कुछ नहीं किया। आप बड़े ही कृतघ्न हैं। मालूम होता है वालीके समान आप भी शीघ्र ही कालके गालमें जायँगे' ॥ ४८ ॥

हनूमान्जीके वचन सुनकर सुग्रीव भयसे विह्वल हो गये और बोले—"हनूमान् ! तुम ठीक ही कहते हो ॥ ४९ ॥ अब तुम मेरी आज्ञासे शीघ्र ही दसों दिशाओंमें बड़े शीघ्रगामी दस सहस्र वानर भेजो ॥ ५० ॥ वे सातों द्वीपोंमें रहनेवाले सम्पूर्ण वानरोंको यहाँ ले आवें और जितने मुख्य-मुख्य वानर हैं वे सब यहाँ एक पक्षके भीतर आ जायँ ॥ ५१ ॥ जो कोई एक पक्षतक यहाँ न आयेगा वह निस्सन्देह मेरे हाथों मारा जायगा।" हनूमान्जीको इस प्रकार आज्ञा देकर सुग्रीव (फिर) अपने घरमें चले गये ॥ ५२ ॥

सुग्रीवकी आज्ञा पा परम बुद्धिमान् मन्त्रिप्रवर श्रीहनूमान्जीने तत्काल ही बहुत-से वानर दसों दिशाओंमें

अगणितगुणसत्त्वान्वायुवेगप्रचारान्
वनचरगणमुख्यान् पर्वताकाररूपान्।
पवनहितकुमारः प्रेषयामास दूता-
नतिरभसतरात्मा दानमानादितृप्तान्॥ ५४॥

भेज दिये॥ ५३॥ जो अगणित गुण और पराक्रमशाली थे तथा वायुके समान वेगवान् और पर्वतके समान स्थूलकाय थे, उन मुख्य-मुख्य वानर दूतोंको राम-कार्यके लिये अति उतावले पवननन्दन श्रीहनूमान्‌जीने दान-मानसे सन्तुष्ट कर सब ओर भेज दिया॥ ५४॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे चतुर्थः सर्गः॥ ४॥

पञ्चम सर्ग

भगवान् रामका शोक और लक्ष्मणजीका किष्किन्धापुरीमें जाना

श्रीमहादेव उवाच

रामस्तु पर्वतस्याग्रे मणिसानौ निशामुखे।
सीताविरहजं शोकमसहन्निदमब्रवीत्॥ १॥

पश्य लक्ष्मण मे सीता राक्षसेन हृता बलात्।
मृतामृता वा निश्चेतुं न जानेऽद्यापि भामिनीम्॥ २॥

जीवतीति मम ब्रूयात्कश्चिद्वा प्रियकृत्स मे।
यदि जानामि तां साध्वीं जीवन्तीं यत्र कुत्र वा॥ ३॥

हठादेवाहरिष्यामि सुधामिव पयोनिधेः।
प्रतिज्ञां शृणु मे भ्रातर्येन मे जनकात्मजा॥ ४॥

नीता तं भस्मसात्कुर्यां सपुत्रबलवाहनम्।
हे सीते चन्द्रवदने वसन्ती राक्षसालये॥ ५॥

दुःखार्त्ता मामपश्यन्ती कथं प्राणान् धरिष्यसि।
चन्द्रोऽपि भानुवद्भाति मम चन्द्राननां विना॥ ६॥

चन्द्र त्वं जानकीं स्पृष्ट्वा करैर्मां स्पृश शीतलैः।
सुग्रीवोऽपि दयाहीनो दुःखितं मां न पश्यति॥ ७॥

राज्यं निष्कण्टकं प्राप्य स्त्रीभिः परिवृतो रहः।
कृतघ्नो दृश्यते व्यक्तं पानासक्तोऽतिकामुकः॥ ८॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! एक दिन प्रदोषकाल (रात्रिके प्रथम भाग) में प्रवर्षण पर्वतके मणिमय शिखरपर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी सीताजीके विरहजनित सन्तापको सहन न कर सकनेके कारण इस प्रकार बोले—॥ १॥ "लक्ष्मण! देखो, हमारी सीताको राक्षस बलात् हर ले गया; वह सुन्दरी जीवित है या मर गयी—इसका निश्चय करनेके लिये हमें अभीतक कुछ भी पता नहीं लगा॥ २॥ यदि कोई मुझे यह समाचार सुनावे कि 'वह जीवित है' तो वह मेरा बड़ा ही उपकार करेगा। यदि मुझे उस साध्वीके जीवित रहनेका पता लग जाय तो फिर वह कहीं भी क्यों न हो, समुद्रमेंसे अमृतके समान मैं जैसे होगा वैसे उसे अवश्य ही तुरंत ले आऊँगा। भाई! मेरी प्रतिज्ञा सुनो—'जो दुष्ट मेरी जानकीको ले गया है उसे पुत्र, सेना और वाहनोंके सहित मैं भस्म कर डालूँगा।' हे चन्द्रवदने सीते! मुझे न देखनेसे अत्यन्त दुःखातुर होकर राक्षसके घरमें रहती हुई तुम किस प्रकार प्राण धारण करोगी? हा! चन्द्रमुखी सीताके बिना तो मुझे चन्द्रमा भी सूर्यके समान (तापप्रद) जान पड़ता है॥ ३—६॥ हे चन्द्र! तुम अपनी किरणोंसे पहले जानकीको स्पर्श करो, (उनका स्पर्श करनेसे वे शीतल हो जायँगी) फिर उन शीतल किरणोंसे मुझे स्पर्श करना। हाय! सुग्रीव भी कैसा निर्दयी हो गया है जो मुझ दुःखियाकी ओर नहीं झाँकता॥ ७॥ अहो! निष्कण्टक राज्य पाकर मद्यपानमें आसक्त हुआ वह कामकिंकर स्त्रियोंसे घिरा एकान्तमें पड़ा रहता है। इससे वह स्पष्ट ही बड़ा कृतघ्न दीख पड़ता

नायाति शरदं पश्यन्नपि मार्गयितुं प्रियाम्।
पूर्वोपकारिणं दुष्टः कृतघ्नो विस्मृतो हि माम्॥ ९ ॥

हन्मि सुग्रीवमप्येवं सपुरं सहबान्धवम्।
वाली यथा हतो मेऽद्य सुग्रीवोऽपि तथा भवेत्॥ १० ॥

इति रुष्टं समालोक्य राघवं लक्ष्मणोऽब्रवीत्।
इदानीमेव गत्वाहं सुग्रीवं दुष्टमानसम्॥ ११ ॥

मामाज्ञापय हत्वा तमायास्ये राम तेऽन्तिकम्।
इत्युक्त्वा धनुरादाय स्वयं तूणीरमेव च॥ १२ ॥

गन्तुमभ्युद्यतं वीक्ष्य रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
न हन्तव्यस्त्वया वत्स सुग्रीवो मे प्रियः सखा॥ १३ ॥

किन्तु भीषय सुग्रीवं वालिवत्त्वं हनिष्यसे।
इत्युक्त्वा शीघ्रमादाय सुग्रीवप्रतिभाषितम्॥ १४ ॥

आगत्य पश्चाद्यत्कार्यं तत्करिष्याम्यसंशयम्।
तथेति लक्ष्मणोऽगच्छत्त्वरितो भीमविक्रमः॥ १५ ॥

किष्किन्धां प्रति कोपेन निर्दहन्निव वानरान्।
सर्वज्ञो नित्यलक्ष्मीको विज्ञानात्मापि राघवः॥ १६ ॥

सीतामनुशुशोचार्त्तः प्राकृतः प्राकृतामिव।
बुद्ध्यादिसाक्षिणस्तस्य मायाकार्यातिवर्तिनः॥ १७ ॥

रागादिरहितस्यास्य तत्कार्यं कथमुद्भवेत्।
ब्रह्मणोक्तमृतं कर्तुं राज्ञो दशरथस्य हि॥ १८ ॥

तपसः फलदानाय जातो मानुषवेषधृक्।
मायया मोहिताः सर्वे जना अज्ञानसंयुताः॥ १९ ॥

कथमेषां भवेन्मोक्ष इति विष्णुर्विचिन्तयन्।
कथां प्रथयितुं लोके सर्वलोकमलापहाम्॥ २० ॥

रामायणाभिधां रामो भूत्वा मानुषचेष्टकः।
क्रोधं मोहं च कामं च व्यवहारार्थसिद्धये॥ २१ ॥

है॥ ८॥ शरदृतुका आगमन देखकर भी वह प्राणप्रिया सीताकी खोज करानेके लिये नहीं आया। मैंने उसका पहले उपकार किया है तथापि वह दुष्ट कृतघ्न होकर मुझे भूल गया॥ ९॥ (जिस प्रकार मुझे सीताको हर ले जानेवालेका नाश करना है) उसी प्रकार मैं सुग्रीवको भी उसके नगर और बन्धु-बान्धवोंके सहित मार डालूँगा। जैसे वाली मेरे हाथसे मारा गया वैसे ही आज सुग्रीव भी मारा जायगा''॥ १०॥

इस प्रकार रघुनाथजीको क्रुद्ध देखकर लक्ष्मणजी बोले—''हे राम! आप मुझे आज्ञा दीजिये, मैं अभी जाकर दुष्टचित्त सुग्रीवको मारकर आपके पास लौट आता हूँ।'' ऐसा कह हाथमें धनुष और तरकश लेकर लक्ष्मणजीको अपने-आप ही जानेके लिये उद्यत देख श्रीरामचन्द्रजी बोले—''वत्स! सुग्रीव मेरा प्यारा मित्र है, तुम उसे मारना मत॥ ११—१३॥ केवल यह कहकर कि 'तू वालीके समान मारा जायगा' उसे डराना और फिर शीघ्र ही उसका उत्तर लेकर आ जाना। उस समय जो कुछ करना होगा मैं अवश्य वही करूँगा।''

तब महापराक्रमी लक्ष्मणजी 'बहुत अच्छा' कह तुरंत ही किष्किन्धापुरीमें आये। उस समय उन्होंने क्रोधसे ऐसा उग्र रूप धारण किया था कि मानो सम्पूर्ण वानरोंको भस्म कर डालेंगे।

श्रीरघुनाथजी सर्वज्ञ और ज्ञानस्वरूप हैं। श्रीलक्ष्मीजी सर्वदा उनकी सेवामें रहती हैं; तथापि साधारण स्त्रीके वियोगसे शोक करते हुए प्राकृत पुरुषके समान वे सीताजीके शोकसे विह्वल हो रहे हैं। वे प्रभु बुद्धि आदिके साक्षी, मायाके कार्योंसे परे और राग-द्वेष आदि विकारोंसे रहित हैं फिर इन विकारोंका कार्यरूप शोक उन्हें कैसे हो सकता है? उन्होंने तो ब्रह्माजीकी वाणी सत्य करने और महाराज दशरथको उनकी तपस्याका फल देनेके लिये ही मनुष्यरूपसे अवतार लिया है। 'सब लोग मायासे मोहित होकर अज्ञानके वशीभूत हो गये हैं, उससे इनका किस प्रकार छुटकारा हो' यह सोचकर भगवान् विष्णु अपनी सकल-लोक-मलापहारिणी रामायण नामकी कथाका लोकमें विस्तार करनेके लिये रामरूप होकर मनुष्यके समान अनेकों लीलाएँ करते हुए व्यवहारकी सिद्धिके लिये समयानुकूल क्रोध, मोह और काम आदि विकारोंको

तत्तत्कालोचितं गृह्णन् मोहयत्यवशाः प्रजाः ।
अनुरक्त इवाशेषगुणेषु गुणवर्जितः ॥ २२ ॥

विज्ञानमूर्तिर्विज्ञानशक्तिः साक्ष्यगुणान्वितः ।
अतः कामादिभिर्नित्यमविलिप्तो यथा नभः ॥ २३ ॥

विन्दन्ति मुनयः केचिज्जानन्ति जनकादयः ।
तद्भक्ता निर्मलात्मानः सम्यग् जानन्ति नित्यदा ।
भक्तचित्तानुसारेण जायते भगवानजः ॥ २४ ॥

लक्ष्मणोऽपि तदा गत्वा किष्किन्धानगरान्तिकम् ।
ज्याघोषमकरोत्तीव्रं भीषयन् सर्ववानरान् ॥ २५ ॥

तं दृष्ट्वा प्राकृतास्तत्र वानरा वप्रमूर्धनि ।
चक्रुः किलकिलाशब्दं धृतपाषाणपादपाः ॥ २६ ॥

तान्दृष्ट्वा क्रोधताम्राक्षो वानरान् लक्ष्मणस्तदा ।
निर्मूलान्कर्तुमुद्युक्तो धनुरानम्य वीर्यवान् ॥ २७ ॥

ततः शीघ्रं समाप्लुत्य ज्ञात्वा लक्ष्मणमागतम् ॥ २८ ॥

निवार्य वानरान् सर्वानङ्गदो मन्त्रिसत्तमः ।
गत्वा लक्ष्मणसामीप्यं प्रणनाम स दण्डवत् ॥ २९ ॥

ततोऽङ्गदं परिष्वज्य लक्ष्मणः प्रियवर्धनः ।
उवाच वत्स गच्छ त्वं पितृव्याय निवेदय ॥ ३० ॥

मामागतं राघवेण चोदितं रौद्रमूर्तिना ।
तथेति त्वरितं गत्वा सुग्रीवाय न्यवेदयत् ॥ ३१ ॥

लक्ष्मणः क्रोधताम्राक्षः पुरद्वारि बहिः स्थितः ।
तच्छ्रुत्वातीव सन्त्रस्तः सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥ ३२ ॥

आहूय मन्त्रिणां श्रेष्ठं हनूमन्तमथाब्रवीत् ।
गच्छ त्वमङ्गदेनाशु लक्ष्मणं विनयान्वितः ॥ ३३ ॥

सान्त्वयन्कोपितं वीरं शनैरानय सादरम् ।
प्रेषयित्वा हनूमन्तं तारामाह कपीश्वरः ॥ ३४ ॥

स्वीकार करके विकारोंके वशीभूत हुई प्रजाको अपनी लीलासे मोहित कर रहे हैं। किन्तु सम्पूर्ण गुणोंमें अनुरक्त-से दिखलायी देते हुए भी वे वास्तवमें उन सबसे रहित हैं॥ १४—२२ ॥ वे विज्ञानस्वरूप हैं, विज्ञान ही उनकी शक्ति है तथा एकमात्र साक्षी और गुणातीत हैं। इसलिये वे आकाशके समान काम आदि (मनोविकारों) से सर्वदा अलिप्त हैं॥ २३ ॥ उनके वास्तविक स्वरूपको कोई-कोई मुनिजन, जनकादि राजर्षिगण तथा उनके विशुद्धचित्त भक्तजन ही सदा ठीक-ठीक जान पाते हैं, वे अजन्मा भगवान् भक्तकी भावनाके अनुसार अवतार लेते हैं॥ २४ ॥

इधर, लक्ष्मणजीने किष्किन्धापुरीके पास पहुँचकर सम्पूर्ण वानरोंको भयभीत करते हुए अपने धनुषकी प्रत्यञ्चाका बड़ा भयंकर टंकार किया॥ २५ ॥ उस समय नगरके परकोटेपर चढ़े हुए कुछ साधारण वानर लक्ष्मणजीको देखकर अपने हाथोंमें पत्थर और वृक्षादि लेकर किलकारी मारने लगे। उन वानरोंको देखकर वीरवर लक्ष्मणजीके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वे धनुष चढ़ाकर उनका मूलोच्छेद करनेके लिये तत्पर हुए॥ २६-२७ ॥

तब लक्ष्मणजीको आये जान वहाँ मन्त्रिवर अङ्गदजी तुरंत ही उछलकर आये और उन्होंने सब वानरोंको रोककर उनके पास जाकर दण्डवत्-प्रणाम किया॥ २८-२९ ॥ तदनन्तर, प्रियवर्द्धन श्रीलक्ष्मणजीने अङ्गदको हृदयसे लगाकर कहा—"वत्स ! तुम अभी जाकर अपने काका सुग्रीवको सूचना दो कि श्रीरघुनाथजी तुमसे अत्यन्त क्रुद्ध हैं और उनकी प्रेरणासे मैं यहाँ आया हूँ।" यह सुनकर अङ्गदने 'बहुत अच्छा' कह तुरंत ही सारा समाचार सुग्रीवको जा सुनाया॥ ३०-३१ ॥ और बोला कि 'लक्ष्मणजी क्रोधसे नेत्र लाल किये बाहर नगरके द्वारपर खड़े हैं।'

यह सुनकर वानरराज सुग्रीवको बड़ा ही भय हुआ॥ ३२ ॥ उन्होंने मन्त्रिप्रवर हनुमान्‌जीको बुलाकर कहा—"तुम अङ्गदके साथ तुरंत ही लक्ष्मणजीके पास जाओ और उन क्रोधित हुए वीरवरको धीरे-धीरे अति विनयपूर्वक शान्त कर आदरपूर्वक अपने साथ यहाँ ले आओ।" इस प्रकार हनुमान्‌जीको भेजकर कपिराज

त्वं गच्छ सान्त्वयन्ती तं लक्ष्मणं मृदुभाषितैः ।
शान्तमन्तःपुरं नीत्वा पश्चाद्दर्शय मेऽनघे ॥ ३५ ॥

भवत्विति ततस्तारा मध्यकक्षं समाविशत् ।
हनूमानङ्गदेनैव सहितो लक्ष्मणान्तिकम् ॥ ३६ ॥

गत्वा ननाम शिरसा भक्त्या स्वागतमब्रवीत् ।
एहि वीर महाभाग भवद्गृहमशङ्कितम् ॥ ३७ ॥

प्रविश्य राजदारादीन् दृष्ट्वा सुग्रीवमेव च ।
यदाज्ञापयसे पश्चात्तत्सर्वं करवाणि भोः ॥ ३८ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं भक्त्या करे गृह्य स मारुतिः ।
आनयामास नगरमध्याद्राजगृहं प्रति ॥ ३९ ॥

पश्यंस्तत्र महासौधान् यूथपानां समन्ततः ।
जगाम भवनं राज्ञः सुरेन्द्रभवनोपमम् ॥ ४० ॥

मध्यकक्षे गता तत्र तारा ताराधिपानना ।
सर्वाभरणसम्पन्ना मदरक्तान्तलोचना ॥ ४१ ॥

उवाच लक्ष्मणं नत्वा स्मितपूर्वाभिभाषिणी ।
एहि देवर भद्रं ते साधुस्त्वं भक्तवत्सलः ॥ ४२ ॥

किमर्थं कोपमाकार्षीर्भक्ते भृत्ये कपीश्वरे ।
बहुकालमनाश्वासं दुःखमेवानुभूतवान् ॥ ४३ ॥

इदानीं बहुदुःखौघाद्भवद्भिरभिरक्षितः ।
भवत्प्रसादात्सुग्रीवः प्राप्तसौख्यो महामतिः ॥ ४४ ॥

कामासक्तो रघुपतेः सेवार्थं नागतो हरिः ।
आगमिष्यन्ति हरयो नानादेशगताः प्रभो ॥ ४५ ॥

प्रेषितो दशसाहस्रा हरयो रघुसत्तम ।
आनेतुं वानरान् दिग्भ्यो महापर्वतसन्निभान् ॥ ४६ ॥

सुग्रीवः स्वयमागत्य सर्ववानरयूथपैः ।
वधयिष्यति दैत्यौघान् रावणं च हनिष्यति ॥ ४७ ॥

सुग्रीवने तारासे कहा— ॥ ३३-३४ ॥ "हे अनघे ! तुम आगे जाकर अपनी मधुर वाणीसे वीरवर लक्ष्मणको शान्त करो और जब वे शान्त हो जायँ तब उन्हें अन्तःपुरमें लाकर मुझसे मिलाओ" ॥ ३५ ॥

यह सुनकर तारा 'बहुत अच्छा' कह बीचकी ड्योढ़ीमें आ गयी। इधर अङ्गदके सहित हनूमान्जी लक्ष्मणजीके पास आये और उन्हें सिर नवाकर भक्तिपूर्वक स्वागत करते हुए बोले—"हे महाभाग वीरवर ! निःशंक होकर आइये, यह घर आपहीका है ॥ ३६-३७ ॥ इसमें पधारकर राजमहिषियोंसे और महाराज सुग्रीवसे मिलिये। फिर आपकी जो आज्ञा होगी हम वही करेंगे" ॥ ३८ ॥

ऐसा कह पवननन्दन हनूमान्जी भक्तिपूर्वक लक्ष्मणजीका हाथ पकड़कर उन्हें नगरके बीचसे होकर राजमन्दिरको ले चले ॥ ३९ ॥ तब, लक्ष्मणजी मार्गमें जहाँ-तहाँ यूथपति वानरोंके महल देखते हुए इन्द्रभवनके समान अति शोभायमान राजभवनमें पहुँचे ॥ ४० ॥ वहाँ बीचकी ड्योढ़ीमें चन्द्रवदना तारा बैठी थी; वह सम्पूर्ण आभूषणोंसे विभूषिता थी तथा उसके नेत्र मदसे कुछ अरुणवर्ण हो रहे थे ॥ ४१ ॥

वह मधुरभाषिणी तारा लक्ष्मणजीको प्रणाम कर मुसकराती हुई बोली—"आइये देवर ! आपका शुभ हो ! आप बड़े ही साधुस्वभाव और भक्तवत्सल हैं ॥ ४२ ॥ आपने अपने भक्त और अनुगत वानरराज सुग्रीवपर किस कारण इतना कोप किया ? उसने तो बहुत दिनोंसे बिना किसी प्रकारका सहारा मिले दुःख-ही-दुःख भोगा है ॥ ४३ ॥ अब आपलोगोंने ही उसे बड़े दुःख-समूहसे निकाला है। आपहीकी कृपासे महामति सुग्रीवको यह सुख देखनेमें आया है ॥ ४४ ॥ वह जातिका वानर है, इसलिये कामासक्त होकर श्रीरघुनाथजीकी सेवामें उपस्थित नहीं हुआ। हे प्रभो ! अब शीघ्र ही विविध देशोंसे बहुत-से वानर आनेवाले हैं ॥ ४५ ॥ हे रघुश्रेष्ठ ! अब दिशा-विदिशाओंसे महापर्वतके समान बड़े-बड़े डीलवाले असंख्य वानरोंको लानेके लिये दस सहस्र बंदर भेजे गये हैं ॥ ४६ ॥ सुग्रीव स्वयं जाकर उन सब वानर-यूथपतियोंके द्वारा दैत्यदलका संहार करावेगा और

त्वयैव सहितोऽद्यैव गन्ता वानरपुङ्गवः।
पश्यान्तर्भवनं तत्र पुत्रदारसुहृद्वृतम् ॥ ४८ ॥

दृष्ट्वा सुग्रीवमभयं दत्त्वा नय सहैव ते।
ताराया वचनं श्रुत्वा कृशक्रोधोऽथ लक्ष्मणः ॥ ४९ ॥

जगामान्तःपुरं यत्र सुग्रीवो वानरेश्वरः।
रुमामालिङ्ग्य सुग्रीवः पर्यङ्के पर्यवस्थितः ॥ ५० ॥

दृष्ट्वा लक्ष्मणमत्यर्थमुत्पपातातिभीतवत्।
तं दृष्ट्वा लक्ष्मणः क्रुद्धो मदविह्वलितेक्षणम् ॥ ५१ ॥

सुग्रीवं प्राह दुर्वृत्त विस्मृतोऽसि रघूत्तमम्।
वाली येन हतो वीरः स बाणोऽद्य प्रतीक्षते ॥ ५२ ॥

त्वमेव वालिनो मार्गं गमिष्यसि मया हतः।
एवमत्यन्तपरुषं वदन्तं लक्ष्मणं तदा ॥ ५३ ॥

उवाच हनुमान् वीरः कथमेवं प्रभाषसे।
त्वत्तोऽधिकतरो रामे भक्तोऽयं वानराधिपः ॥ ५४ ॥

रामकार्यार्थमनिशं जागर्ति न तु विस्मृतः।
आगताः परितः पश्य वानराः कोटिशः प्रभो ॥ ५५ ॥

गमिष्यन्त्यचिरेणैव सीतायाः परिमार्गणम्।
साधयिष्यति सुग्रीवो रामकार्यमशेषतः ॥ ५६ ॥

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं सौमित्रिर्लज्जितोऽभवत्।
सुग्रीवोऽप्यर्घ्यपाद्याद्यैर्लक्ष्मणं समपूजयत् ॥ ५७ ॥

आलिङ्ग्य प्राह रामस्य दासोऽहं तेन रक्षितः।
रामः स्वतेजसा लोकान् क्षणार्द्धेनैव जेष्यति ॥ ५८ ॥

सहायमात्रमेवाहं वानरैः सहितः प्रभो।
सौमित्रिरपि सुग्रीवं प्राह किञ्चिन्मयोदितम् ॥ ५९ ॥

तत्क्षमस्व महाभाग प्रणयाद्भाषितं मया।
गच्छामोऽद्यैव सुग्रीव रामस्तिष्ठति कानने ॥ ६० ॥

स्वयं रावणका वध करेगा ॥ ४७ ॥ वह कपिश्रेष्ठ आज ही आपके साथ श्रीरघुनाथजीकी सेवामें उपस्थित होगा। चलिये, अन्तःपुरमें पधारिये। वहाँ सुग्रीव अपने पुत्र, स्त्री और सुहृद्गणसे घिरा हुआ बैठा है। उससे मिलकर उसे अभयदान दीजिये और अपने साथ ही श्रीरामचन्द्रजीके पास ले जाइये।''

ताराका कथन सुनकर लक्ष्मणजीका क्रोध ठंडा पड़ गया और वे अन्तःपुरमें जहाँ वानरराज सुग्रीव थे, गये। सुग्रीव अपनी भार्या रुमाको गले लगाये पलंगपर पड़े थे ॥ ४८—५० ॥ लक्ष्मणजीको देखते ही वे अत्यन्त भयभीतके समान उछलकर खड़े हो गये। उनके नेत्र मदसे विह्वल हो रहे थे। उन्हें ऐसी दशामें देखकर श्रीलक्ष्मणजीने अति क्रोधित होकर कहा—''अरे दुःशील! तू रघुनाथजीको भूल गया? (तू नहीं जानता—) जिस बाणके द्वारा वीरवर वाली मारा गया था वही आज तेरी प्रतीक्षा कर रहा है ॥ ५१-५२ ॥ मालूम होता है, मेरे हाथसे मारा जाकर तू भी वालीके मार्गसे ही जाना चाहता है।''

लक्ष्मणजीको इस प्रकार अति कठोर भाषण करते देख वीरवर हनुमान्जी बोले—''महाराज! ऐसी बातें क्यों कहते हैं? ये वानरराज श्रीरामचन्द्रजीके आपसे भी अधिक भक्त हैं ॥ ५३-५४ ॥ भगवान् रामके कार्यके लिये ये रात-दिन जागते रहते हैं। ये उसे भूल नहीं गये हैं। प्रभो! देखिये, ये करोड़ों वानर इसीलिये सब ओरसे आ रहे हैं ॥ ५५ ॥ ये सब शीघ्र ही सीताजीकी खोजके लिये जायँगे और महाराज सुग्रीव रामचन्द्रजीका सब कार्य भली प्रकार सिद्ध करेंगे'' ॥ ५६ ॥

हनुमान्जीके ये वचन सुनकर लक्ष्मणजी लज्जित हो गये। तदनन्तर सुग्रीवने अर्घ्य और पाद्य आदिसे लक्ष्मणजीकी भली प्रकार पूजा की ॥ ५७ ॥ तथा उनसे गले मिलकर कहा, ''श्रीमन्! मैं तो रामका दास हूँ, उन्हींने मेरी रक्षा की है; वे अपने तेजसे आधे क्षणमें ही सम्पूर्ण लोकोंको जीत सकते हैं ॥ ५८ ॥ हे प्रभो! मैं तो अपनी वानर-सेनाके साथ केवल उनका सहायकमात्र हूँगा। (मुझसे भला उनका क्या कार्य सिद्ध होगा, वे तो स्वयं ही सर्वसमर्थ हैं)।'' तब लक्ष्मणजीने भी सुग्रीवसे कहा—''हे महाभाग! मैंने भी प्रणय-कोपवश आपसे जो कुछ अनुचित कहा है वह क्षमा करें। भगवान् राम वनमें

एक एवातिदुःखार्त्तो जानकीविरहात्प्रभुः ।
तथेति रथमारुह्य लक्ष्मणेन समन्वितः ॥ ६१ ॥

वानरैः सहितो राजा राममेवान्वपद्यत ॥ ६२ ॥

भेरीमृदङ्गैर्बहुऋक्षवानरैः
श्वेतातपत्रैर्व्यजनैश्च शोभितः ।
नीलाङ्गदाद्यैर्हनुमत्प्रधानैः
समावृतो राघवमभ्यगाद्धरिः ॥ ६३ ॥

अकेले ही हैं और वे श्रीजानकीजीके विरहसे अति व्याकुल हैं, अतः हम आज ही वहाँ चलेंगे।''

तब वानरराज सुग्रीव 'हाँ ठीक है' ऐसा कहकर लक्ष्मणजीके सहित रथमें चढ़े और वानरोंके साथ श्रीरामचन्द्रजीके पास चले॥ ५९—६२ ॥ उस समय (उनकी सवारीकी अपूर्व शोभा थी—) भेरी और मृदंग आदि नाना प्रकारके बाजे बज रहे थे तथा बहुत-से रीछ, वानर श्वेत छत्र और चँवर लिये उन्हें अत्यन्त सुशोभित कर रहे थे। इस प्रकार वानरराज सुग्रीव बड़े ठाट-बाटसे नील, अङ्गद और हनूमान् आदि मुख्य-मुख्य वानरोंके साथ श्रीरघुनाथजीके पास चले॥ ६३ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठ सर्ग

सीताजीकी खोज, वानरोंका गुहाप्रवेश और स्वयम्प्रभाचरित्र

श्रीमहादेव उवाच

दृष्ट्वा रामं समासीनं गुहाद्वारि शिलातले ।
चैलाजिनधरं श्यामं जटामौलिविराजितम् ॥ १ ॥

विशालनयनं शान्तं स्मितचारुमुखाम्बुजम् ।
सीताविरहसन्तप्तं पश्यन्तं मृगपक्षिणः ॥ २ ॥

रथाद्दूरात्समुत्पत्य वेगात्सुग्रीवलक्ष्मणौ ।
रामस्य पादयोरग्रे पेततुर्भक्तिसंयुतौ ॥ ३ ॥

रामः सुग्रीवमालिङ्ग्य पृष्ट्वानामयमन्तिके ।
स्थापयित्वा यथान्यायं पूजयामास धर्मवित् ॥ ४ ॥

ततोऽब्रवीद्रघुश्रेष्ठं सुग्रीवो भक्तिनम्रधीः ।
देव पश्य समायान्तीं वानराणां महाचमूम् ॥ ५ ॥

कुलाचलाद्रिसम्भूता मेरुमन्दरसन्निभाः ।
नानाद्वीपसरिच्छैलवासिनः पर्वतोपमाः ॥ ६ ॥

असङ्ख्याताः समायान्ति हरयः कामरूपिणः ।
सर्वे देवांशसम्भूताः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ७ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! मृगचर्म और जटा-मुकुटसे सुशोभित, विशाल-नयन, सस्मित मनोहर मुखारविन्द, शान्तमूर्ति, श्यामशरीर भगवान् रामको सीताजीकी विरह-व्यथासे सन्तप्त होकर मृग और पक्षियोंकी ओर निहारते हुए गुफाके द्वारपर एक शिलाखण्डपर बैठे देख सुग्रीव और लक्ष्मण दूरसे ही तुरंत रथसे उतर पड़े और अत्यन्त भक्ति-भावसे श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें जा गिरे॥ १—३ ॥ धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवको गले लगाकर उनकी कुशल पूछी तथा अपने पास बिठाकर उनका यथोचित सत्कार किया॥ ४ ॥

तब सुग्रीवने भक्तिवश अति विनीत होकर श्रीरघुनाथजीसे कहा—''भगवन् ! देखिये, वानरोंकी यह महान् सेना आ रही है॥ ५ ॥ प्रभो ! हिमालय आदि कुलपर्वतोंपर उत्पन्न हुए, सुमेरु और मन्दराचलके समान डील-डौलवाले, भिन्न-भिन्न द्वीप, नदीतट और पर्वतोंके ऊपर रहनेवाले तथा पर्वतके समान अगणित विशालकाय वानर आ रहे हैं। ये सभी देवताओंके अंशसे उत्पन्न हुए हैं। ये इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं और युद्ध करनेमें भी अति कुशल हैं॥ ६-७ ॥

अत्र केचिद्गजबलाः केचिद्दशगजोपमाः।
गजायुतबलाः केचिदन्येऽमितबलाः प्रभो ॥ ८ ॥

केचिदञ्जनकूटाभाः केचित्कनकसन्निभाः।
केचिद्रक्तान्तवदना दीर्घवालास्तथापरे ॥ ९ ॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशाः केचिद्राक्षससन्निभाः।
गर्जन्तः परितो यान्ति वानरा युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १० ॥

त्वदाज्ञाकारिणः सर्वे फलमूलाशनाः प्रभो।
ऋक्षाणामधिपो वीरो जाम्बवान्नाम बुद्धिमान् ॥ ११ ॥

एष मे मन्त्रिणां श्रेष्ठः कोटिभल्लूकवृन्दपः।
हनूमानेष विख्यातो महासत्त्वपराक्रमः ॥ १२ ॥

वायुपुत्रोऽतितेजस्वी मन्त्री बुद्धिमतां वरः।
नलो नीलश्च गवयो गवाक्षो गन्धमादनः ॥ १३ ॥

शरभो मैन्दवश्चैव गजः पनस एव च।
वलीमुखो दधिमुखः सुषेणस्तार एव च ॥ १४ ॥

केसरी च महासत्त्वः पिता हनुमतो बली।
एते ते यूथपा राम प्राधान्येन मयोदिताः ॥ १५ ॥

महात्मानो महावीर्याः शक्रतुल्यपराक्रमाः।
एते प्रत्येकतः कोटिकोटिवानरयूथपाः ॥ १६ ॥

तवाज्ञाकारिणः सर्वे सर्वे देवांशसम्भवाः।
एष वालिसुतः श्रीमानङ्गदो नाम विश्रुतः ॥ १७ ॥

वालितुल्यबलो वीरो राक्षसानां बलान्तकः।
एते चान्ये च बहवस्त्वदर्थे त्यक्तजीविताः ॥ १८ ॥

योद्धारः पर्वताग्रैश्च निपुणाः शत्रुघातने।
आज्ञापय रघुश्रेष्ठ सर्वे ते वशवर्तिनः ॥ १९ ॥

रामः सुग्रीवमालिङ्ग्य हर्षपूर्णाश्रुलोचनः।
प्राह सुग्रीव जानासि सर्वं त्वं कार्यगौरवम् ॥ २० ॥

मार्गणार्थं हि जानक्या नियुङ्क्ष्व यदि रोचते।
श्रुत्वा रामस्य वचनं सुग्रीवः प्रीतमानसः ॥ २१ ॥

हे प्रभो! इनमेंसे किन्हींमें एक, किन्हींमें दस और किन्हींमें दस हजार हाथियोंका बल है तथा किन्हींके बलका तो कोई परिमाण ही नहीं है ॥ ८ ॥ देखिये, कोई कज्जलगिरिके समान काले हैं, कोई सुवर्णके समान सुनहरे हैं, किन्हींका मुख रक्तवर्ण है और किन्हींके शरीरपर बड़े-बड़े बाल हैं ॥ ९ ॥ कोई शुद्ध स्फटिकमणिके समान दिखायी देते हैं और कोई राक्षस-जैसे मालूम पड़ते हैं। ये सभी वानर युद्धके लिये अति उतावले हैं, इसीलिये गर्जते हुए इधर-उधर दौड़ रहे हैं ॥ १० ॥ हे प्रभो! ये सब आपकी आज्ञाका पालन करनेवाले और फल-मूल आदि ही खानेवाले हैं। (इनके निर्वाहके लिये आपको कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी।) ये रीछोंके अधिपति जाम्बवान् बड़े ही वीर और बुद्धिमान् हैं। ये एक करोड़ भालुओंके यूथपति हैं और मेरे मन्त्रियोंमें अग्रगण्य हैं। अपने महान् बल और पराक्रमके लिये सर्वत्र विख्यात ये परम तेजस्वी पवन-पुत्र हनुमान्‌जी हैं। ये बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ और मेरे (प्रमुख) मन्त्री हैं। इनके अतिरिक्त हे रामजी! नल, नील, गवय, गवाक्ष, गन्धमादन, शरभ, मैन्दव, गज, पनस, वलीमुख, दधिमुख, सुषेण, तार तथा हनुमान्‌के पिता महाबली और परम धीर केसरी—ये मेरे प्रधान-प्रधान यूथपति हैं, सो मैंने आपको बता दिये ॥ ११—१५ ॥ ये सब बड़े महात्मा, वीर और इन्द्रके समान पराक्रमी हैं; तथा इनमेंसे प्रत्येक करोड़ों वानरोंके यूथका अधिपति है ॥ १६ ॥ ये सभी आपके आज्ञाकारी और देवताओंके अंशसे उत्पन्न हुए हैं। ये वालीके पुत्र परम विख्यात श्रीमान् अङ्गदजी हैं ॥ १७ ॥ ये भी वालीके समान ही बलवान् और राक्षसदलका दलन करनेवाले हैं। इस प्रकार ये सब तथा और भी बहुत-से वानर-वीर आपके लिये प्राण निछावर करनेको उद्यत हैं ॥ १८ ॥ ये पर्वत-शिखर लेकर लड़ा करते हैं और शत्रुका नाश करनेमें बड़े कुशल हैं। हे रघुश्रेष्ठ! ये सब आपके अधीन हैं, आप इन्हें इच्छानुसार आज्ञा दीजिये" ॥ १९ ॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भरकर सुग्रीवको हृदयसे लगा लिया और कहा—"सुग्रीव! तुम मेरे कार्यकी कठिनताके विषयमें जानते ही हो ॥ २० ॥ यदि तुम ठीक समझो तो इन्हें यथायोग्य जानकीजीकी खोजके लिये नियुक्त कर दो।" रामका यह वचन सुनकर

प्रेषयामास बलिनो वानरान् वानरर्षभः ।
दिक्षु सर्वासु विविधान्वानरान् प्रेष्य सत्वरम् ॥ २२ ॥

दक्षिणां दिशमत्यर्थं प्रयत्नेन महाबलान् ।
युवराजं जाम्बवन्तं हनूमन्तं महाबलम् ॥ २३ ॥

नलं सुषेणं शरभं मैन्दं द्विविदमेव च ।
प्रेषयामास सुग्रीवो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

विचिन्वन्तु प्रयत्नेन भवन्तो जानकीं शुभाम् ।
मासादर्वाङ्निवर्तध्वं मच्छासनपुरःसराः ॥ २५ ॥

सीतामदृष्ट्वा यदि वो मासादूर्ध्वं दिनं भवेत् ।
तदा प्राणान्तिकं दण्डं मत्तः प्राप्स्यथ वानराः ॥ २६ ॥

इति प्रस्थाप्य सुग्रीवो वानरान् भीमविक्रमान् ।
रामस्य पार्श्वे श्रीरामं नत्वा चोपविवेश सः ॥ २७ ॥

गच्छन्तं मारुतिं दृष्ट्वा रामो वचनमब्रवीत् ।
अभिज्ञानार्थमेतन्मे ह्यङ्गुलीयकमुत्तमम् ॥ २८ ॥

मन्नामाक्षरसंयुक्तं सीतायै दीयतां रहः ।
अस्मिन् कार्ये प्रमाणं हि त्वमेव कपिसत्तम ।
जानामि सत्त्वं ते सर्वं गच्छ पन्थाः शुभस्तव ॥ २९ ॥

एवं कपीनां राज्ञा ते विसृष्टाः परिमार्गणे ।
सीताया अङ्गदमुखा बभ्रमुस्तत्र तत्र ह ॥ ३० ॥

भ्रमन्तो विन्ध्यगहने ददृशुः पर्वतोपमम् ।
राक्षसं भीषणाकारं भक्षयन्तं मृगान् गजान् ॥ ३१ ॥

रावणोऽयमिति ज्ञात्वा केचिद्वानरपुङ्गवाः ।
जघ्नुः किलकिलाशब्दं मुञ्चन्तो मुष्टिभिः क्षणात् ॥ ३२ ॥

नायं रावण इत्युक्त्वा ययुरन्यन्महद्वनम् ।
तृषार्ताः सलिलं तत्र नाविन्दन् हरिपुङ्गवाः ॥ ३३ ॥

विभ्रमन्तो महारण्ये शुष्ककण्ठोष्ठतालुकाः ।
ददृशुर्गह्वरं तत्र तृणगुल्मावृतं महत् ॥ ३४ ॥

वानरश्रेष्ठ सुग्रीवने प्रसन्न होकर बहुत-से बलवान् वानरोंको सीताकी खोजके लिये भेजा। इस प्रकार तुरंत ही समस्त दिशाओंमें अनेकों वानरोंको भेजकर दक्षिण-दिशामें अधिक प्रयत्नके साथ महाबली युवराज अङ्गद, जाम्बवान्, हनुमान्, नल, सुषेण, शरभ, मैन्द और द्विविद आदिको भेजा तथा उनसे इस प्रकार कहा— ॥ २१—२४ ॥ "मेरी आज्ञासे तुम सब लोग बड़े प्रयत्नसे शुभलक्षणा जानकीजीकी खोज करो और एक मासके भीतर ही लौट आओ ॥ २५ ॥ यदि सीताको बिना देखे तुम्हें एक माससे एक दिन भी अधिक हो जायगा तो हे वानरो ! याद रखो, तुम्हें मेरे हाथसे प्राणान्त-दण्ड भोगना पड़ेगा" ॥ २६ ॥

उन महापराक्रमी वानरोंको इस प्रकार भेजकर सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीको प्रणामकर उनके पास जा बैठे ॥ २७ ॥ उस समय पवननन्दन हनुमान्‌को जाते देख श्रीरघुनाथजीने कहा—"[हे कपिश्रेष्ठ !] तुम मेरी यह अँगूठी ले जाओ, इसपर मेरे नामाक्षर गुदे हुए हैं। इसे अपने परिचयके लिये तुम एकान्तमें सीताजीको देना। हे कपिश्रेष्ठ ! इस कार्यमें तुम्हीं समर्थ हो। मैं तुम्हारा बुद्धिबल अच्छी तरह जानता हूँ। अच्छा, जाओ। तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो" ॥ २८-२९ ॥

इस प्रकार वानरराज सुग्रीवके भेजे हुए वे अङ्गदादि वानरगण सीताजीकी खोज करते हुए पृथिवीपर जहाँ-तहाँ विचरने लगे ॥ ३० ॥ घूमते-घूमते उन्होंने विन्ध्याचलके गहन वनमें एक पर्वताकार भयंकर राक्षस देखा, जो जंगलके मृग और हाथियोंको पकड़-पकड़कर खा रहा था ॥ ३१ ॥ कुछ वानरोंने यह समझकर कि 'यही रावण है' बड़ा किलकिला शब्द करते हुए उसे एक क्षणमें ही घूँसोंसे मार डाला ॥ ३२ ॥ फिर (उसे इतनी सुगमतासे मरा हुआ देखकर) 'यह रावण नहीं है' ऐसा कहते हुए वे एक-दूसरे घोर वनमें गये। वहाँ उन्हें बड़ी प्यास लगी किन्तु जल कहीं भी दिखायी न देता था ॥ ३३ ॥

उस भयंकर वनमें घूमते-घूमते उनके कण्ठ, ओठ और तालु सूख गये; तब उन्होंने वहाँ तृण, गुल्म और लता आदिसे ढँकी हुई एक विशाल गुहा देखी ॥ ३४ ॥ उसमेंसे

आर्द्रपक्षान् क्रौञ्चहंसान्निःसृतान्ददृशुस्ततः ।
अत्रास्ते सलिलं नूनं प्रविशामो महागुहाम् ॥ ३५ ॥

इत्युक्त्वा हनुमानग्रे प्रविवेश तमन्वयुः ।
सर्वे परस्परं धृत्वा बाहून्बाहुभिरुत्सुकाः ॥ ३६ ॥

अन्धकारे महद्दूरं गत्वापश्यन् कपीश्वराः ।
जलाशयान्मणिनिभतोयान् कल्पद्रुमोपमान् ॥ ३७ ॥

वृक्षान्पक्वफलैर्नम्रान्मधुद्रोणसमन्वितान् ।
गृहान् सर्वगुणोपेतान् मणिवस्त्रादिपूरितान् ॥ ३८ ॥

दिव्यभक्ष्यान्नसहितान्मानुषैः परिवर्जितान् ।
विस्मितास्तत्र भवने दिव्ये कनकविष्टरे ॥ ३९ ॥

प्रभया दीप्यमानां तु ददृशुः स्त्रियमेककाम् ।
ध्यायन्तीं चीरवसनां योगिनीं योगमास्थिताम् ॥ ४० ॥

प्रणेमुस्तां महाभागां भक्त्या भीत्या च वानराः ।
दृष्ट्वा तान्वानरान्देवी प्राह यूयं किमागताः ॥ ४१ ॥

कुतो वा कस्य दूता वा मत्स्थानं किं प्रधर्षथ ।
तच्छ्रुत्वा हनुमानाह शृणु वक्ष्यामि देवि ते ॥ ४२ ॥

अयोध्याधिपतिः श्रीमान् राजा दशरथः प्रभुः ।
तस्य पुत्रो महाभागो ज्येष्ठो राम इति श्रुतः ॥ ४३ ॥

पितुराज्ञां पुरस्कृत्य सभार्यः सानुजो वनम् ।
गतस्तत्र हृता भार्या तस्य साध्वी दुरात्मना ॥ ४४ ॥

रावणेन ततो रामः सुग्रीवं सानुजो ययौ ।
सुग्रीवो मित्रभावेन रामस्य प्रियवल्लभाम् ॥ ४५ ॥

मृगयध्वमिति प्राह ततो वयमुपागताः ।
ततो वनं विचिन्वन्तो जानकीं जलकाङ्क्षिणः ॥ ४६ ॥

प्रविष्टा गह्वरं घोरं दैवादत्र समागताः ।
त्वं वा किमर्थमत्रासि का वा त्वं वद नः शुभे ॥ ४७ ॥

उन्होंने भींगे हुए पंखोंवाले क्रौञ्च और हंसोंको निकलते देखा। तब यह कहकर कि 'चलो इस गुहामें चलें, इसमें अवश्य जल होगा' सबसे आगे हनुमान्‌जीने उसमें प्रवेश किया, उनके ही पीछे अन्य सब वानर भी एक-दूसरेकी बाँह-में-बाँह डालकर उत्सुकतापूर्वक उसमें घुस गये ॥ ३५-३६ ॥

बहुत दूरतक अन्धकारहीमें जानेके अनन्तर उन वानरोंने देखा कि वहाँ (स्फटिक) मणिके समान स्वच्छ जलसे पूर्ण कई सरोवर हैं; उनके पास ही पके फलोंके भारसे झुके हुए कल्पतरुके समान सुन्दर वृक्ष हैं जिनमें शहदके छत्ते लगे हुए हैं। पास ही, मणिमय वस्त्रालंकारोंसे युक्त और दिव्य भक्ष्य-भोज्य आदि सामग्रियोंसे पूर्ण सर्वगुणसम्पन्न निर्जन भवन हैं। उनमेंसे एक दिव्य भवनमें उन्होंने अति आश्चर्यचकित हो एक रमणीको अकेली सुवर्णसिंहासनपर विराजमान देखा। वह सुन्दरी योगाभ्यासमें तत्पर एक योगिनी थी, अपने तेजसे वह उस स्थानको प्रकाशित कर रही थी तथा शरीरपर चीर-वस्त्र धारण किये उस समय ध्यान कर रही थी ॥ ३७—४० ॥

उस महाभागा युवतीको देखकर वानरोंने भय और प्रीतिसे उसे प्रणाम किया। तब उस देवीने उनकी ओर देखकर कहा—"तुमलोग क्यों और कहाँसे आये हो ? तुम किसके दूत हो ? तथा मेरे स्थानको क्यों भ्रष्ट कर रहे हो ?" यह सुनकर हनुमान्‌जीने कहा—"देवि ! मैं आपसे सब वृत्तान्त निवेदन करता हूँ, सुनिये— ॥ ४१-४२ ॥ परम ऐश्वर्यसम्पन्न महाराज दशरथ अयोध्याके अधिपति थे। उनके महाभाग्यशाली ज्येष्ठ पुत्र राम-नामसे विख्यात हैं ॥ ४३ ॥ वे अपने पिताकी आज्ञा मानकर अपनी भार्या और छोटे भाईके सहित वनमें आये थे, यहाँ उनकी परम साध्वी पत्नीको दुरात्मा रावण हर ले गया। तब वे अपने अनुजके सहित वानरराज सुग्रीवके पास आये। सुग्रीवने उनसे मित्र-भाव हो जानेके कारण हमें यह आज्ञा दी है कि तुमलोग रामकी प्राणप्रियाकी खोज करो। अतः हम वहींसे आये हैं। यहाँ वनमें जानकीको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हमें जलकी आवश्यकता हुई। इससे हम इस भयंकर कन्दरामें घुसे और दैवयोगसे यहाँ आ गये। हे शुभे ! आप यहाँ किसलिये रहती हैं और कौन हैं ? यह हमें बताइये" ॥ ४४—४७ ॥

योगिनी च तथा दृष्ट्वा वानरान् प्राह हृष्टधीः ।
यथेष्टं फलमूलानि जग्ध्वा पीत्वामृतं पयः ॥ ४८ ॥

आगच्छत ततो वक्ष्ये मम वृत्तान्तमादितः ।
तथेति भुक्त्वा पीत्वा च हृष्टास्ते सर्ववानराः ॥ ४९ ॥

देव्याः समीपं गत्वा ते बद्धाञ्जलिपुटाः स्थिताः ।
ततः प्राह हनूमन्तं योगिनी दिव्यदर्शना ॥ ५० ॥

हेमा नाम पुरा दिव्यरूपिणी विश्वकर्मणः ।
पुत्री महेशं नृत्येन तोषयामास भामिनी ॥ ५१ ॥

तुष्टो महेशः प्रददाविदं दिव्यपुरं महत् ।
अत्र स्थिता सा सुदती वर्षाणामयुतायुतम् ॥ ५२ ॥

तस्या अहं सखी विष्णुतत्परा मोक्षकाङ्क्षिणी ।
नाम्ना स्वयम्प्रभा दिव्यगन्धर्वतनया पुरा ॥ ५३ ॥

गच्छन्ती ब्रह्मलोकं सा मामाहेदं तपश्चर ।
अत्रैव निवसन्ती त्वं सर्वप्राणिविवर्जिते ॥ ५४ ॥

त्रेता युगे दाशरथिर्भूत्वा नारायणोऽव्ययः ।
भूभारहरणार्थाय विचरिष्यति कानने ॥ ५५ ॥

मार्गन्तो वानरास्तस्य भार्यामायान्ति ते गुहाम् ।
पूजयित्वाथ तान् नत्वा रामं स्तुत्वा प्रयत्नतः ॥ ५६ ॥

यातासि भवनं विष्णोर्योगिगम्यं सनातनम् ।
इतोऽहं गन्तुमिच्छामि रामं द्रष्टुं त्वरान्विता ॥ ५७ ॥

यूयं पिदध्वमक्षीणि गमिष्यथ बहिर्गुहाम् ।
तथैव चक्रुस्ते वेगाद्गताः पूर्वस्थितं वनम् ॥ ५८ ॥

सापि त्यक्त्वा गुहां शीघ्रं ययौ राघवसन्निधिम् ।
तत्र रामं ससुग्रीवं लक्ष्मणं च ददर्श ह ॥ ५९ ॥

कृत्वा प्रदक्षिणं रामं प्रणम्य बहुशः सुधीः ।
आह गद्गदया वाचा रोमाञ्चिततनूरुहा ॥ ६० ॥

यह सब देखकर उस योगिनीको बड़ा हर्ष हुआ और वह वानरोंसे बोली—"पहले तुम इच्छानुसार फल-मूलादि खाकर अमृतमय जल पान करो। फिर मेरे पास आना, तब मैं आरम्भसे तुम्हें अपना सब वृत्तान्त सुनाऊँगी।" तब उन वानरोंने 'बहुत अच्छा' कह यथेष्ट फल-मूलादि खाकर जल पीया और फिर प्रसन्नचित्तसे उस देवीके पास आकर हाथ जोड़कर खड़े हो गये।

तदनन्तर वह दिव्यदर्शना योगिनी हनूमान्‌जीसे इस प्रकार कहने लगी— ॥ ४८—५० ॥ "पूर्वकालमें विश्वकर्माकी हेमा नामवाली एक दिव्यरूपिणी पुत्री थी। उस सुन्दरीने अपने नृत्यसे श्रीमहादेवजीको प्रसन्न किया ॥ ५१ ॥ प्रसन्न होनेपर श्रीशङ्करने उसे यह विशाल और दिव्य नगर (रहनेके लिये) दिया। यहाँ वह सुन्दर दाँतोंवाली हजारों वर्ष रही ॥ ५२ ॥ मैं उसकी सखी दिव्य नामक गन्धर्वकी पुत्री हूँ। मेरा नाम स्वयम्प्रभा है। मुझे मोक्षकी इच्छा है। अतः मैं सर्वदा विष्णुभगवान्‌की उपासनामें तत्पर रहती हूँ। पूर्वकालमें जब वह ब्रह्मलोकको जाने लगी, तब उसने मुझसे कहा कि 'तू सब प्रकारके प्राणियोंसे रहित इस स्थानमें ही रहकर तपस्या कर ॥ ५३-५४ ॥ त्रेतायुगमें साक्षात् अव्यय नारायण राजा दशरथके यहाँ जन्म लेकर पृथ्वीका भार उतारनेके लिये वनमें विचरेंगे ॥ ५५ ॥ उनकी भार्याको ढूँढ़ते हुए कुछ वानर तेरी गुहामें आयेंगे। उनका भली प्रकार सत्कार कर तू रामचन्द्रजीकी (उनके पास जाकर) प्रयत्नपूर्वक वन्दना और स्तुति करके भगवान् विष्णुके नित्यधामको चली जायगी, जो योगियोंको ही प्राप्त होनेयोग्य है।' अतः अब मैं तुरंत ही भगवान् रामका दर्शन करनेके लिये जाना चाहती हूँ ॥ ५६-५७ ॥ तुमलोग अपनी-अपनी आँखें मूँद लो, अभी गुहाके बाहर पहुँच जाओगे।"

उन्होंने ऐसा ही किया और तुरंत ही पहले वनमें पहुँच गये ॥ ५८ ॥ इधर वह योगिनी भी उस गुहाको छोड़कर तत्काल श्रीरघुनाथजीके पास आयी और वहाँ सुग्रीव तथा लक्ष्मणजीके सहित उनका दर्शन किया ॥ ५९ ॥

उस बुद्धिमतीने श्रीरामचन्द्रजीकी प्रदक्षिणा कर उन्हें बारम्बार प्रणाम किया और फिर पुलकित-तनु होकर गद्गदवाणीसे इस प्रकार कहने लगी— ॥ ६० ॥

दासी तवाहं राजेन्द्र दर्शनार्थमिहागता।
बहुवर्षसहस्राणि तप्तं मे दुश्चरं तपः ॥ ६१ ॥

गुहायां दर्शनार्थं ते फलितं मेऽद्य तत्तपः।
अद्य हि त्वां नमस्यामि मायायाः परतः स्थितम् ॥ ६२ ॥

सर्वभूतेषु चालक्ष्यं बहिरन्तरवस्थितम्।
योगमायाजवनिकाच्छन्नो मानुषविग्रहः ॥ ६३ ॥

न लक्ष्यसेऽज्ञानदृशां शैलूष इव रूपधृक्।
महाभागवतानां त्वं भक्तियोगविधित्सया ॥ ६४ ॥

अवतीर्णोऽसि भगवन् कथं जानामि तामसी।
लोके जानातु यः कश्चित्तव तत्त्वं रघूत्तम ॥ ६५ ॥

ममैतदेव रूपं ते सदा भातु हृदालये।
राम ते पादयुगलं दर्शितं मोक्षदर्शनम् ॥ ६६ ॥

अदर्शनं भवार्णानां सन्मार्गपरिदर्शनम्।
धनपुत्रकलत्रादिविभूतिपरिदर्पितः ।
अकिञ्चनधनं त्वाद्य नाभिधातुं जनोऽर्हति ॥ ६७ ॥

निवृत्तगुणमार्गाय निष्किञ्चनधनाय ते ॥ ६८ ॥

नमः स्वात्माभिरामाय निर्गुणाय गुणात्मने।
कालरूपिणमीशानमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥ ६९ ॥

समं चरन्तं सर्वत्र मन्ये त्वां पुरुषं परम्।
देव ते चेष्टितं कश्चिन्न वेद नृविडम्बनम् ॥ ७० ॥

न तेऽस्ति कश्चिद्दयितो द्वेष्यो वापर एव च।
त्वन्मायापिहितात्मानस्त्वां पश्यन्ति तथाविधम् ॥ ७१ ॥

अजस्याकर्तुरीशस्य देवतिर्यङ्नरादिषु।
जन्मकर्मादिकं यद्यत्तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ७२ ॥

हे राजाधिराज ! मैं आपकी दासी आपके दर्शनोंके लिये यहाँ आयी हूँ; मैंने आपका दर्शन पानेके लिये ही गुहामें रहकर सहस्रों वर्षोंसे बड़ी कठोर तपस्या की है। आज मेरा वह तप सफल हो गया। अहो ! आज (यह कैसा शुभ दिन है कि) मैं साक्षात् मायातीत तथा समस्त भूतोंमें अलक्षितभावसे बाहर-भीतर विराजमान आप परमेश्वरको प्रणाम कर रही हूँ। आप अपने शुद्धस्वरूपको योगमायासे आवृत कर मनुष्य-शरीरमें प्रकट हुए हैं। अतः जिस प्रकार मायिकरूप धारण करनेवाले मायावीको साधारण पुरुष नहीं देख सकते उसी प्रकार आपके शुद्धस्वरूपको अज्ञानी लोग नहीं देख सकते। हे भगवन् ! आपने महान् भगवद्भक्तोंके भक्तियोगका विधान करनेके लिये ही अवतार लिया है। मैं तमोगुणी बुद्धिवाली आपको कैसे जान सकती हूँ ? हे रघुश्रेष्ठ ! संसारमें जो कोई आपका परमतत्त्व जानते हों वे उसे भले ही जाना करें, मेरे हृदयभवनमें तो सदा आपका यही रूप विराजमान रहे। हे राम ! आज मुझे आपके उन मोक्षदायक चरणकमलोंका दर्शन हुआ है, जो संसाररूपी सरितासे पार करनेवाले और सन्मार्गका ज्ञान करानेवाले हैं।

"हे आदिपुरुष ! जो मनुष्य धन, पुत्र, कलत्र और विभूति आदिके मदसे उन्मत्त हो रहा है, वह आपकी स्तुति नहीं कर सकता; क्योंकि आप तो अकिञ्चनोंके ही सर्वस्व हैं ॥ ६१—६७ ॥ जो गुणोंकी पहुँचसे बाहर, निष्किञ्चनोंके धन, अपने आत्मस्वरूपमें ही रमण करनेवाले और (स्वरूपसे) निर्गुण तथा (आरोपसे) सगुण हैं, उन आपको मैं बारम्बार प्रणाम करती हूँ। मैं आपको कालरूपसे सबका नियन्ता, आदि, मध्य और अन्तसे रहित, सर्वत्र समानभावसे व्याप्त तथा परात्पर पुरुष मानती हूँ। हे देव ! मानव-चरित्रोंका अनुकरण करते हुए आप जो-जो लीलाएँ करते हैं, उनका मर्म कोई भी नहीं जान सकता ॥ ६८—७० ॥ प्रभो ! आपका न कोई प्रिय है, न अप्रिय है और न उदासीन है। आपकी मायासे जिनके अन्तःकरण आवृत हैं, वे ही लोग (अपनी-अपनी भावनाके अनुसार) आपको वैसा देखते हैं ॥ ७१ ॥ आप अजन्मा, अकर्ता और ईश्वर हैं। आपके जो देव, तिर्यक् और मनुष्य आदि योनियोंमें जन्म और कर्म होते हैं वह आपकी महान् लीला ही है ॥ ७२ ॥

त्वामाहुरक्षरं जातं कथाश्रवणसिद्धये ।
केचित्कोसलराजस्य तपसः फलसिद्धये ॥ ७३ ॥

कौसल्यया प्रार्थ्यमानं जातमाहुः परे जनाः ।
दुष्टराक्षसभूभारहरणायार्थितो विभुः ॥ ७४ ॥

ब्रह्मणा नररूपेण जातोऽयमिति केचन ।
शृण्वन्ति गायन्ति च ये कथास्ते रघुनन्दन ॥ ७५ ॥

पश्यन्ति तव पादाब्जं भवार्णवसुतारणम् ।
त्वन्मायागुणबद्धाहं व्यतिरिक्तं गुणाश्रयम् ॥ ७६ ॥

कथं त्वां देव जानीयां स्तोतुं वाविषयं विभुम् ।
नमस्यामि रघुश्रेष्ठं बाणासनशरान्वितम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सुग्रीवादिभिरन्वितम् ॥ ७७ ॥

एवं स्तुतो रघुश्रेष्ठः प्रसन्नः प्रणताघहृत् ।
उवाच योगिनीं भक्तां किं ते मनसि काङ्क्षितम् ॥ ७८ ॥

सा प्राह राघवं भक्त्या भक्तिं ते भक्तवत्सल ।
यत्र कुत्रापि जाताया निश्चलां देहि मे प्रभो ॥ ७९ ॥

त्वद्भक्तेषु सदा सङ्गो भूयान्मे प्राकृतेषु न ।
जिह्वा मे रामरामेति भक्त्या वदतु सर्वदा ॥ ८० ॥

मानसं श्यामलं रूपं सीतालक्ष्मणसंयुतम् ।
धनुर्बाणधरं पीतवाससं मुकुटोज्ज्वलम् ॥ ८१ ॥

अङ्गदैर्नूपुरैर्मुक्ताहारैः कौस्तुभकुण्डलैः ।
भान्तं स्मरतु मे राम वरं नान्यं वृणे प्रभो ॥ ८२ ॥

श्रीराम उवाच

भवत्वेवं महाभागे गच्छ त्वं बदरीवनम् ।
तत्रैव मां स्मरन्ती त्वं त्यक्त्वेदं भूतपञ्चकम् ।
मामेव परमात्मानमचिरात्प्रतिपद्यसे ॥ ८३ ॥

"कहते हैं, आप अविनाशी ईश्वरने (अपनी कीर्ति फैलाकर) कथा-श्रवणकी सिद्धिके लिये ही अवतार लिया। कोई यह भी कहते हैं कि कोसलाधिपति महाराज दशरथको उनकी तपस्याका फल देनेके लिये आपने जन्म लिया है॥ ७३॥ किन्हीं लोगोंका कहना है कि आप कौसल्याजीकी प्रार्थनासे प्रकट हुए हैं; तथा किन्हीं-किन्हींका मत ऐसा भी है कि ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर भूमिके भारभूत राक्षसोंका नाश करनेके लिये ही आप सर्वव्यापक होते हुए भी मनुष्यरूपसे अवतीर्ण हुए हैं। हे रघुनन्दन! जो लोग आपकी कथाओंको सुनेंगे या कहेंगे वे अवश्य ही संसार-सागरको पार करनेके लिये नौकारूप आपके चरण-कमलोंका दर्शन करेंगे। हे देव! मैं आपकी मायाके गुणोंके वशीभूत हूँ, फिर उन गुणोंसे अत्यन्त पृथक् और उनके आश्रयरूप आपको मैं कैसे जान सकती हूँ? ऐसे ही वाणीके विषय न होनेके कारण मैं आप विभुकी स्तुति भी कैसे कर सकती हूँ? अतः भाई लक्ष्मण और सुग्रीवादि (पार्षदों) के सहित आप धनुर्बाणधारी रघुश्रेष्ठको मैं केवल प्रणाम करती हूँ?" ॥ ७४—७७॥

उसके इस प्रकार स्तुति करनेसे प्रणतपापापहारी श्रीरघुनाथजी अति प्रसन्न हुए और उस अनन्यभक्ता योगिनीसे बोले—"तेरी हार्दिक इच्छा क्या है?" ॥ ७८॥

उसने अति भक्तिपूर्वक श्रीरघुनाथजीसे कहा—"हे भक्तवत्सल प्रभो! मैं जहाँ कहीं भी जन्म लूँ आप मुझे अपनी अविचल भक्ति दीजिये॥ ७९॥ प्रत्येक जन्ममें मेरा संग आपके भक्तोंसे ही हो, संसारी लोगोंसे न हो और मेरी जिह्वा सदा भक्तिपूर्वक 'राम-राम' ऐसा रटा करे॥ ८०॥ और हे राम! मेरा मन आपकी उस शोभायमान श्यामल मूर्तिका श्रीसीताजी और लक्ष्मणके सहित सर्वदा चिन्तन करता रहे, जो धनुष-बाण धारण किये हुए है तथा जो पीताम्बरधारी, मुकुट-विभूषित एवं भुजबंद, नूपुर, मोतियोंकी माला, कौस्तुभमणि और कुण्डलोंसे सुशोभित है। हे प्रभो! इसके सिवा मैं और कोई वर नहीं माँगती" ॥ ८१-८२॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले—हे महाभागे! ऐसा ही होगा। अब तू बद्रिकाश्रमको जा, वहाँ मेरा स्मरण करती हुई तू शीघ्र ही इस पाञ्चभौतिक शरीरको छोड़कर मुझ परमात्माको ही प्राप्त हो जायगी॥ ८३॥

श्रुत्वा रघूत्तमवचोऽमृतसारकल्पं
गत्वा तदैव बदरीतरुखण्डजुष्टम्।
तीर्थं तदा रघुपतिं मनसा स्मरन्ती
त्यक्त्वा कलेवरमवाप परं पदं सा ॥ ८४ ॥

रघुनाथजीके ये अमृतके समान मधुर वचन सुनकर स्वयंप्रभा उसी समय पुण्यक्षेत्र बद्रिकाश्रमको चली गयी जहाँ बहुत-से बेरोंके वृक्ष लगे हुए हैं। वहाँ अपने अन्तःकरणमें श्रीरघुनाथजीका स्मरण करती हुई वह अन्तमें शरीर-पात होनेपर परमपदको प्राप्त हुई ॥ ८४ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तम सर्ग

वानरोंका प्रायोपवेशन और सम्पातिसे भेंट

श्रीमहादेव उवाच

अथ तत्र समासीना वृक्षखण्डेषु वानराः।
चिन्तयन्तो विमुह्यन्तः सीतामार्गणकर्शिताः ॥ १ ॥

तत्रोवाचाङ्गदः कांश्चिद्वानरान् वानरर्षभः।
भ्रमतां गह्वरेऽस्माकं मासो नूनं गतोऽभवत् ॥ २ ॥

सीता नाधिगतास्माभिर्न कृतं राजशासनम्।
यदि गच्छाम किष्किन्धां सुग्रीवोऽस्मान् हनिष्यति ॥ ३ ॥

विशेषतः शत्रुसुतं मां मिषान्निहनिष्यति।
मयि तस्य कुतः प्रीतिरहं रामेण रक्षितः ॥ ४ ॥

इदानीं रामकार्यं मे न कृतं तन्मिषं भवेत्।
तस्य मद्धनने नूनं सुग्रीवस्य दुरात्मनः ॥ ५ ॥

मातृकल्पां भ्रातृभार्यां पापात्मानुभवत्यसौ।
न गच्छेयमतः पार्श्वं तस्य वानरपुङ्गवाः ॥ ६ ॥

त्यक्ष्यामि जीवितं चात्र येन केनापि मृत्युना।
इत्यश्रुनयनं केचिद्दृष्ट्वा वानरपुङ्गवाः ॥ ७ ॥

व्यथिताः साश्रुनयना युवराजमथाब्रुवन् ॥ ८ ॥

किमर्थं तव शोकोऽत्र वयं ते प्राणरक्षकाः।
भवामो निवसामोऽत्र गुहायां भयवर्जिताः ॥ ९ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! इधर, सीताजीकी खोजसे थके हुए वानरगण उस गुहाके समीप सघन वृक्षोंवाले स्थानपर बैठकर (सीताको न पानेके कारण) मोहित होकर आपसमें सोचने लगे ॥ १ ॥ उस समय वानरश्रेष्ठ अङ्गदजीने कुछ वानरोंसे कहा—"मालूम होता है इस कन्दरामें घूमते-घूमते हमारा एक मास अवश्य पूरा हो गया ॥ २ ॥ परन्तु अभीतक हमें सीताजी नहीं मिलीं। हम वानरराज सुग्रीवकी आज्ञाका पालन नहीं कर सके। अब यदि हम किष्किन्धापुरीको लौट चलें तो वह हमें अवश्य मार डालेगा ॥ ३ ॥ विशेषतः अपने शत्रुके पुत्र मुझे तो वह इस मिषसे अवश्य ही मार डालेगा। मुझमें उसका प्रेम कहाँ हो सकता है? मेरी रक्षा तो श्रीरामचन्द्रजीने ही की है ॥ ४ ॥ अब मुझसे श्रीरघुनाथजीका कार्य नहीं सधा, अतः मेरा वध करनेके लिये उस दुरात्मा सुग्रीवको निश्चय ही यह अच्छा बहाना मिल जायगा ॥ ५ ॥ वह पापात्मा अपने बड़े भाईकी पत्नीको, जो उसकी माताके समान है, भोगता है; अतः हे वानरश्रेष्ठो ! मैं अब उसके पास तो जाऊँगा नहीं ॥ ६ ॥ किसी-न-किसी उपायसे यहीं अपने जीवनका अन्त कर दूँगा।"

इस प्रकार उन्हें नेत्रोंमें जल भरे देखकर कितने ही प्रमुख वानरोंको बड़ा खेद हुआ और उन्होंने आँखोंमें आँसू भरकर युवराजसे कहा— ॥ ७-८ ॥ "आप इतना शोक क्यों करते हैं, हम सब आपके प्राणोंकी रक्षा करेंगे और निर्भय होकर इस गुहामें ही रहेंगे ॥ ९ ॥

सर्वसौभाग्यसहितं पुरं देवपुरोपमम्।
शनैः परस्परं वाक्यं वदतां मारुतात्मजः ॥ १० ॥

श्रुत्वाङ्गदं समालिङ्ग्य प्रोवाच नयकोविदः।
विचार्यते किमर्थं ते दुर्विचारो न युज्यते ॥ ११ ॥

राज्ञोऽत्यन्तप्रियस्त्वं हि तारापुत्रोऽतिवल्लभः।
रामस्य लक्ष्मणात्प्रीतिस्त्वयि नित्यं प्रवर्धते ॥ १२ ॥

अतो न राघवाद्भीतिस्तव राज्ञो विशेषतः।
अहं तव हिते सक्तो वत्स नान्यं विचारय ॥ १३ ॥

गुहावासश्च निर्भेद्य इत्युक्तं वानरैस्तु यत्।
तदेतद्रामबाणानामभेद्यं किं जगत्त्रये ॥ १४ ॥

ये त्वां दुर्बोधयन्त्येते वानरा वानरर्षभ।
पुत्रदारादिकं त्यक्त्वा कथं स्थास्यन्ति ते त्वया ॥ १५ ॥

अन्यद्गुह्यतमं वक्ष्ये रहस्यं शृणु मे सुत।
रामो न मानुषो देवः साक्षान्नारायणोऽव्ययः ॥ १६ ॥

सीता भगवती माया जनसम्मोहकारिणी।
लक्ष्मणो भुवनाधारः साक्षाच्छेषः फणीश्वरः ॥ १७ ॥

ब्रह्मणा प्रार्थिताः सर्वे रक्षोगणविनाशने।
मायामानुषभावेन जाता लोकैकरक्षकाः ॥ १८ ॥

वयं च पार्षदाः सर्वे विष्णोर्वैकुण्ठवासिनः।
मनुष्यभावमापन्ने स्वेच्छया परमात्मनि ॥ १९ ॥

वयं वानररूपेण जातास्तस्यैव मायया।
वयं तु तपसा पूर्वमाराध्य जगतां पतिम् ॥ २० ॥

तेनैवानुगृहीताः स्मः पार्षदत्वमुपागताः।
इदानीमपि तस्यैव सेवां कृत्वैव मायया ॥ २१ ॥

पुनर्वैकुण्ठमासाद्य सुखं स्थास्यामहे वयम्।
इत्यङ्गदमथाश्वास्य गता विन्ध्यं महाचलम् ॥ २२ ॥

विचिन्वन्तोऽथ शनकैर्जानकीं दक्षिणाम्बुधेः।
तीरे महेन्द्राख्यगिरेः पवित्रं पादमाययुः ॥ २३ ॥

इसमें जो नगर है वह अमरावतीपुरीके समान समस्त सुख-सामग्रियोंसे सम्पन्न है।'' इस प्रकार उनके आपसमें धीरे-धीरे कहे हुए ये शब्द नीतिनिपुण श्रीहनूमान्‌जीके कानोंमें पड़े तो उन्होंने अङ्गदजीको हृदयसे लगाकर कहा—''अङ्गद ! तुम ऐसी चिन्ता क्यों करते हो, तुम्हें किसी प्रकारकी दुर्भावना न करनी चाहिये। तुम ताराके अत्यन्त लाडिले लाल हो, अतः महाराज सुग्रीवको भी तुम बहुत प्रिय हो। और श्रीरामचन्द्रजीकी तो तुममें नित्यप्रति लक्ष्मणजीसे भी अधिक प्रीति बढ़ती जाती है ॥ १०—१२ ॥ इसलिये तुम्हें श्रीरघुनाथजी या राजा सुग्रीवसे किसी प्रकारका खटका न होना चाहिये और फिर मैं भी सब प्रकार तुम्हारा हित करनेमें तत्पर हूँ। अतः हे वत्स ! तुम किसी ऐसी-वैसी बातकी चिन्ता मत करो ॥ १३ ॥ और इन वानरोंने जो कहा कि 'गुहामें किसी प्रकारका खटका न होगा' सो त्रिलोकीमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जो भगवान् रामके बाणोंके लिये अभेद्य हो ? ॥ १४ ॥ हे कपिश्रेष्ठ ! जो वानरगण तुम्हें यह बुरी सलाह दे रहे हैं, वे भी अपनी स्त्री और बालकोंको छोड़कर तुम्हारे साथ कैसे रह सकेंगे ? ॥ १५ ॥

इसके सिवा, बेटा ! एक अत्यन्त गुप्त रहस्य और बताता हूँ, सावधान होकर सुनो—भगवान् राम कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं। वे साक्षात् निर्विकार नारायणदेव हैं ॥ १६ ॥ भगवती सीताजी जगन्मोहिनी माया हैं और लक्ष्मणजी त्रिभुवनाधार साक्षात् नागनाथ शेषजी हैं ॥ १७ ॥ ये सब ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे राक्षसोंका नाश करनेके लिये माया-मानवरूपसे उत्पन्न हुए हैं। इनमेंसे प्रत्येक त्रिलोकीकी रक्षा करनेमें समर्थ है ॥ १८ ॥ हम सब भी वैकुण्ठलोकमें रहनेवाले भगवान् विष्णुके पार्षद हैं। जब परमात्माने अपनी इच्छासे मनुष्यरूप धारण किया तो हम भी उन्हींकी मायाशक्तिसे वानररूपसे उत्पन्न हो गये। पूर्वकालमें हमने तपस्याद्वारा श्रीजगदीश्वरकी आराधना की थी; तब उन्हींकी कृपासे हम उनके पार्षद हुए थे। अब भी हम मायाकी प्रेरणासे उन्हींकी सेवा करते हुए अन्तमें फिर बैकुण्ठमें जाकर आनन्दपूर्वक (उन्हींके साथ) रहेंगे।''

इस प्रकार अङ्गदजीको ढाँढस बँधाकर वे सब विन्ध्याचल पर्वतपर गये ॥ १९—२२ ॥ फिर धीरे-धीरे श्रीजानकीजीको खोजते हुए दक्षिण-समुद्रके तटपर महेन्द्रपर्वतकी पवित्र तराईमें पहुँचे ॥ २३ ॥

दृष्ट्वा समुद्रं दुष्पारमगाधं भयवर्धनम्।
वानरा भयसन्त्रस्ताः किं कुर्म इति वादिनः ॥ २४ ॥

निषेदुरुदधेस्तीरे सर्वे चिन्तासमन्विताः।
मन्त्रयामासुरन्योन्यमङ्गदाद्या महाबलाः ॥ २५ ॥

भ्रमतो मे वने मासो गतोऽत्रैव गुहान्तरे।
न दृष्टो रावणो वाद्य सीता वा जनकात्मजा ॥ २६ ॥

सुग्रीवस्तीक्ष्णदण्डोऽस्मान्निहन्त्येव न संशयः।
सुग्रीववधतोऽस्माकं श्रेयः प्रायोपवेशनम् ॥ २७ ॥

इति निश्चित्य तत्रैव दर्भानास्तीर्य सर्वतः।
उपाविविशुस्ते सर्वे मरणे कृतनिश्चयाः ॥ २८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तत्र महेन्द्रादिगुहान्तरात्।
निर्गत्य शनकैरागाद्गृध्रः पर्वतसन्निभः ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा प्रायोपवेशेन स्थितान्वानरपुङ्गवान्।
उवाच शनकैर्गृध्रः प्राप्तो भक्ष्योऽद्य मे बहुः ॥ ३० ॥

एकैकशः क्रमात्सर्वान् भक्षयामि दिने दिने।
श्रुत्वा तद्गृध्रवचनं वानरा भीतमानसाः ॥ ३१ ॥

भक्षयिष्यति नः सर्वानसौ गृध्रो न संशयः।
रामकार्यं च नास्माभिः कृतं किञ्चिद्धरीश्वराः ॥ ३२ ॥

सुग्रीवस्यापि च हितं न कृतं स्वात्मनामपि।
वृथानेन वधं प्राप्ता गच्छामो यमसादनम् ॥ ३३ ॥

अहो जटायुर्धर्मात्मा रामस्यार्थे मृतः सुधीः।
मोक्षं प्राप दुरावापं योगिनामप्यरिन्दमः ॥ ३४ ॥

सम्पातिस्तु तदा वाक्यं श्रुत्वा वानरभाषितम्।
के वा यूयं मम भ्रातुः कर्णपीयूषसन्निभम् ॥ ३५ ॥

जटायुरिति नामाद्य व्याहरन्तः परस्परम्।
उच्यतां वो भयं मा भून्मत्तः प्लवगसत्तमाः ॥ ३६ ॥

तमुवाचाङ्गदः श्रीमानुत्थितो गृध्रसन्निधौ।
रामो दाशरथिः श्रीमान् लक्ष्मणेन समन्वितः ॥ ३७ ॥

वहाँ पहुँचनेपर वे अपार, अगाध और भयको बढ़ानेवाले समुद्रको देखकर भयभीत हो गये और एक-दूसरेसे कहने लगे कि अब क्या करना चाहिये ? ॥ २४ ॥ अङ्गद आदि समस्त महापराक्रमी वानर अति चिन्ताग्रस्त होकर समुद्रतटपर बैठ गये और आपसमें सलाह करने लगे— ॥ २५ ॥ 'अहो ! वनमें घूमते-घूमते हमें एक मास तो उस गुहामें ही बीत गया। परन्तु रावण अथवा जनकनन्दिनी सीताजीको हम अभीतक नहीं देख सके ॥ २६ ॥ राजा सुग्रीव बड़ा दुर्दण्ड है, वह हमें निस्सन्देह मार डालेगा। सुग्रीवके हाथसे मरनेकी अपेक्षा तो प्रायोपवेशन-(अन्न-जल छोड़कर मर जाने-) हीमें हमारा अधिक कल्याण है' ॥ २७ ॥ ऐसा निर्णय करके वे सब जहाँ-तहाँ कुशा बिछाकर मरनेका निश्चय कर वहीं बैठ गये ॥ २८ ॥

इसी समय महेन्द्रपर्वतकी कन्दरासे निकलकर वहाँ एक पर्वताकार गृध्र धीरे-धीरे चलकर आया ॥ २९ ॥ उन बड़े-बड़े वानरोंको प्रायोपवेशनके लिये बैठे देख वह मन्द स्वरमें कहने लगा—"आज मुझे (एक साथ ही) बहुत-सा भक्ष्य प्राप्त हो गया ॥ ३० ॥ अब मैं इन सबको नित्यप्रति क्रमशः एक-एक करके खाऊँगा।"

गृध्रके ये वचन सुनकर वे समस्त वानर भयभीत होकर कहने लगे— ॥ ३१ ॥ "अहो ! निस्सन्देह अब यह गृध्र हम सबको खा जायगा। हे वानरेश्वरगण ! हमसे न तो भगवान् रामका ही कुछ काम सधा और न राजा सुग्रीवका या अपना ही कुछ हित हुआ; अब हम व्यर्थ इसके हाथसे मरकर यमलोकको जायेंगे ॥ ३२-३३ ॥ अहो ! धर्मात्मा जटायु धन्य है, जिस बुद्धिमान्ने श्रीरामके कार्यमें अपने प्राण दे दिये। देखो, उस शत्रुदमनने वह मोक्षपद प्राप्त कर लिया जो योगियोंको भी दुर्लभ है" ॥ ३४ ॥

वानरोंके कहे हुए इस वाक्यको सुनकर सम्पाति बोला—"हे कपिश्रेष्ठगण ! आपलोग कौन हैं, जो आपसमें मेरे कानोंको अमृतके समान प्रिय लगनेवाला मेरे भाईका 'जटायु' नाम ले रहे हैं। आप मुझसे किसी प्रकारका भय न करके अपना वृत्तान्त कहिये" ॥ ३५-३६ ॥

तब श्रीमान् अङ्गदजी उठकर उस गृध्रके पास गये और बोले—"दशरथकुमार श्रीरामचन्द्रजी भाई लक्ष्मण

सीतया भार्यया सार्धं विचचार महावने।
तस्य सीता हृता साध्वी रावणेन दुरात्मना॥ ३८॥

मृगयां निर्गते रामे लक्ष्मणे च हृता बलात्।
रामरामेति क्रोशन्ती श्रुत्वा गृध्रः प्रतापवान्॥ ३९॥

जटायुर्नाम पक्षीन्द्रो युद्धं कृत्वा सुदारुणम्।
रावणेन हतो वीरो राघवार्थं महाबलः॥ ४०॥

रामेण दग्धो रामस्य सायुज्यमगमत्क्षणात्।
रामः सुग्रीवमासाद्य सख्यं कृत्वाग्निसाक्षिकम्॥ ४१॥

सुग्रीववचोदितो हत्वा वालिनं सुदुरासदम्।
राज्यं ददौ वानराणां सुग्रीवाय महाबलः॥ ४२॥

सुग्रीवः प्रेषयामास सीतायाः परिमार्गणे।
अस्मान्वानरवृन्दान्वै महासत्त्वान्महाबलः॥ ४३॥

मासादर्वाङ्निवर्तध्वं नोचेत्प्राणान्हरामि वः।
इत्याज्ञया भ्रमन्तोऽस्मिन्वने गह्वरमध्यगाः॥ ४४॥

गतो मासो न जानीमः सीतां वा रावणं च वा।
मर्तुं प्रायोपविष्टाः स्मस्तीरे लवणवारिधेः॥ ४५॥

यदि जानासि हे पक्षिन्सीतां कथय नः शुभाम्।
अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा सम्पातिर्हृष्टमानसः॥ ४६॥

उवाच मत्प्रियो भ्राता जटायुः प्लवगेश्वराः।
बहुवर्षसहस्रान्ते भ्रातृवार्ता श्रुता मया॥ ४७॥

वाक्साहाय्यं करिष्येऽहं भवतां प्लवगेश्वराः।
भ्रातुः सलिलदानाय नयध्वं मां जलान्तिकम्॥ ४८॥

पश्चात्सर्वं शुभं वक्ष्ये भवतां कार्यसिद्धये।
तथेति न्युस्ते तीरं समुद्रस्य विहङ्गमम्॥ ४९॥

सोऽपि तत्सलिले स्नात्वा भ्रातुर्दत्त्वा जलाञ्जलिम्।
पुनः स्वस्थानमासाद्य स्थितो नीतो हरीश्वरैः।
सम्पातिः कथयामास वानरान्परिहर्षयन्॥ ५०॥

और प्राणप्रिया सीताके सहित घोर दण्डकारण्यमें विचर रहे थे। वहाँ उनकी साध्वी भार्या सीताको दुरात्मा रावण हर ले गया॥ ३७-३८॥ जिस समय राम और लक्ष्मण मृगयाके लिये गये हुए थे उसी समय वह बलात् उन्हें ले चला। उस समय वे 'हा राम! हा राम!' कहकर रोने लगीं। उनका शब्द सुनकर महाप्रतापी पक्षिराज गृध्रवर जटायुने रघुनाथजीके लिये रावणसे घोर युद्ध किया, किन्तु अन्तमें वे महाबलवान् वीरवर रावणके हाथसे मारे गये॥ ३९-४०॥ फिर स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने उनका दाह-संस्कार किया और उन्होंने तत्काल भगवान् राममें (लीन होकर) सायुज्य मोक्ष प्राप्त किया। तदनन्तर श्रीरघुनाथजी सुग्रीवके पास आये और अग्निको साक्षी बनाकर उनसे मित्रता की॥ ४१॥ फिर सुग्रीवके कहनेसे महाबली रामजीने अति दुर्जय वालीको मारा और वानरोंका राज्य सुग्रीवको दिया॥ ४२॥ महाबली सुग्रीवने हमारे-जैसे अनेकों महापराक्रमी वानरोंको सीताकी खोजके लिये भेजा है॥ ४३॥ और यह कह दिया है कि 'सब लोग एक मासके भीतर ही लौट आना नहीं तो मैं तुम्हारे प्राण हर लूँगा।' उनकी आज्ञासे इस वनमें घूमते हुए हम एक गुहामें चले गये॥ ४४॥ वहाँ हमारा मास समाप्त हो गया किन्तु अभीतक हमें न तो सीताका पता चला है और न रावणका। अतः अब हम प्रायोपवेशन करके मरनेके लिये इस क्षार (खारी) समुद्रके तटपर बैठे हैं॥ ४५॥ हे पक्षिन्! यदि तुम्हें शुभलक्षणा सीताका कुछ पता हो तो बतलाओ।"

अङ्गदके ये वचन सुनकर सम्पाति चित्तमें प्रसन्न होकर बोला—"हे कपीश्वरो! जटायु मेरा परम प्रिय भाई था। आज कई सहस्र वर्षोंके अनन्तर मैंने भाईका समाचार सुना है॥ ४६-४७॥ हे वानरो! मैं बातोंसे अवश्य आपलोगोंकी कुछ सहायता करूँगा। पहले भाईको जलाञ्जलि देनेके लिये मुझे जलके पास ले चलो॥ ४८॥ फिर आपलोगोंकी कार्य-सिद्धिके लिये जो ठीक होगा वह सब बतलाऊँगा।"

तब 'बहुत अच्छा' कहकर वे सम्पातिको समुद्र-तटपर ले गये॥ ४९॥ वहाँ पहुँचकर उसने जलमें स्नानकर भाईको जलाञ्जलि दी। तदनन्तर वानरगण उसे उसके स्थानपर ले गये। वहाँ बैठकर सम्पाति (अपने

लङ्का नाम नगर्यास्ते त्रिकूटगिरिमूर्धनि।
तत्राशोकवने सीता राक्षसीभिः सुरक्षिता ॥ ५१ ॥

समुद्रमध्ये सा लङ्का शतयोजनदूरतः।
दृश्यते मे न सन्देहः सीता च परिदृश्यते ॥ ५२ ॥

गृध्रत्वाद्दूरदृष्टिर्मे नात्र संशयितुं क्षमम्।
शतयोजनविस्तीर्णं समुद्रं यस्तु लङ्घयेत् ॥ ५३ ॥

स एव जानकीं दृष्ट्वा पुनरायास्यति ध्रुवम्।
अहमेव दुरात्मानं रावणं हन्तुमुत्सहे।
भ्रातुर्हन्तारमेकाकी किन्तु पक्षविवर्जितः ॥ ५४ ॥

यतध्वमतियत्नेन लङ्घितुं सरितां पतिम्।
ततो हन्ता रघुश्रेष्ठो रावणं राक्षसाधिपम् ॥ ५५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धुं शतयोजनायतं
लङ्कां प्रविश्याथ विदेहकन्यकाम्।
दृष्ट्वा समाभाष्य च वारिधिं पुन-
स्तर्तुं समर्थः कतमो विचार्यताम् ॥ ५६ ॥

वचनसे) वानरोंको आनन्दित करता हुआ बोला— ॥ ५० ॥ "त्रिकूट-पर्वतपर लङ्का नामकी एक नगरी है। वहाँ श्रीसीताजी अशोकवनमें राक्षसियोंकी देख-रेखमें रहती हैं ॥ ५१ ॥ वह लङ्कापुरी यहाँसे सौ योजनकी दूरीपर समुद्रके बीचमें है। इसमें सन्देह नहीं, मुझे तो वह और सीताजी यहींसे दीख रही हैं ॥ ५२ ॥ आपलोग इसमें सन्देह न करें। गृध्र होनेके कारण मेरी दृष्टि बहुत दूरतक जाती है। आपमेंसे जो कोई सौ योजन समुद्रको लाँघ सकता हो वही निश्चय जानकीजीको देखकर आ सकता है। मेरे भाईको मारनेवाले इस दुरात्मा रावणको मारनेमें तो मैं अकेला ही समर्थ हूँ; परन्तु (करूँ क्या?) मेरे पंख नहीं रहे ॥ ५३-५४ ॥ आपलोग किसी-न-किसी तरह समुद्र लाँघनेका प्रयत्न कीजिये; फिर राक्षसराज रावणको तो श्रीरघुनाथजी स्वयं मार डालेंगे ॥ ५५ ॥ आपलोग अब यह विचार करें कि आपमेंसे ऐसा शक्तिशाली कौन है जो सौ योजन विस्तारवाले समुद्रको लाँघकर लङ्कामें जाय और श्रीजानकीजीसे मिलकर तथा उनके साथ सम्भाषण कर फिर समुद्र पार करके लौट आवे" ॥ ५६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टम सर्ग

सम्पातिकी आत्मकथा

श्रीमहादेव उवाच

अथ ते कौतुकाविष्टाः सम्पातिं सर्ववानराः।
पप्रच्छुर्भगवन् ब्रूहि स्वमुदन्तं त्वमादितः ॥ १ ॥

सम्पातिः कथयामास स्ववृत्तान्तं पुरा कृतम्।
अहं पुरा जटायुश्च भ्रातरौ रूढयौवनौ ॥ २ ॥

बलेन दर्पितावावां बलजिज्ञासया खगौ।
सूर्यमण्डलपर्यन्तं गन्तुमुत्पतितौ मदात् ॥ ३ ॥

बहुयोजनसाहस्रं गतौ तत्र प्रतापितः।
जटायुस्तं परित्रातुं पक्षैराच्छाद्य मोहतः ॥ ४ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! यह सुनकर उन सब वानरोंने बड़े कुतूहलमें भरकर सम्पातिसे पूछा—"भगवन्! आप आरम्भसे ही अपना वृत्तान्त सुनाइये" ॥ १ ॥ तब सम्पातिने पहले जैसा-जैसा किया था, वह सब वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—पूर्वकालमें मैं और भाई जटायु जिस समय पूर्ण युवा थे, बलके गर्वसे उन्मत्त होकर यह जाननेके लिये कि हममें कितना बल है, बड़े घमण्डसे आकाशमें सूर्यमण्डलपर्यन्त जानेको उड़े ॥ २-३ ॥ जब हम कई सहस्र योजन ऊँचे चले गये तो जटायु (सूर्यके तेजसे) जलने लगा। मैं उसकी रक्षाके लिये मोहवश उसे अपने पंखोंसे ढककर चलने लगा और

स्थितोऽहं रश्मिभिर्दग्धपक्षोऽस्मिन्विन्ध्यमूर्धनि ।
पतितो दूरपतनान्मूर्च्छितोऽहं कपीश्वराः ॥ ५ ॥

दिनत्रयात्पुनः प्राणसहितो दग्धपक्षकः ।
देशं वा गिरिकूटान्वा न जाने भ्रान्तमानसः ॥ ६ ॥

शनैरुन्मील्य नयने दृष्ट्वा तत्राश्रमं शुभम् ।
शनैः शनैराश्रमस्य समीपं गतवानहम् ॥ ७ ॥

चन्द्रमा नाम मुनिराड्दृष्ट्वा मां विस्मितोऽवदत् ।
सम्पाते किमिदं तेऽद्य विरूपं केन वा कृतम् ॥ ८ ॥

जानामि त्वामहं पूर्वमत्यन्तं बलवानसि ।
दग्धौ किमर्थं ते पक्षौ कथ्यतां यदि मन्यसे ॥ ९ ॥

ततः स्वचेष्टितं सर्वं कथयित्वातिदुःखितः ।
अब्रवं मुनिशार्दूलं दह्येऽहं दाववह्निना ॥ १० ॥

कथं धारयितुं शक्तो विपक्षो जीवितं प्रभो ।
इत्युक्तोऽथ मुनिर्वीक्ष्य मां दयार्द्रविलोचनः ॥ ११ ॥

शृणु वत्स वचो मेऽद्य श्रुत्वा कुरु यथेप्सितम् ।
देहमूलमिदं दुःखं देहः कर्मसमुद्भवः ॥ १२ ॥

कर्म प्रवर्तते देहेऽहंबुद्ध्या पुरुषस्य हि ।
अहङ्कारस्त्वनादिः स्यादविद्यासम्भवो जडः ॥ १३ ॥

चिच्छायया सदा युक्तस्तप्तायःपिण्डवत्सदा ।
तेन देहस्य तादात्म्याद्देहश्चेतनवान्भवेत् ॥ १४ ॥

देहोऽहमिति बुद्धिः स्यादात्मनोऽहङ्कृतेर्बलात् ।
तन्मूल एष संसारः सुखदुःखादिसाधकः ॥ १५ ॥

आत्मनो निर्विकारस्य मिथ्या तादात्म्यतः सदा ।
देहोऽहं कर्मकर्ताहमिति सङ्कल्प्य सर्वदा ॥ १६ ॥

जीवः करोति कर्माणि तत्फलैर्बद्ध्यतेऽवशः ।
ऊर्ध्वाधो भ्रमते नित्यं पापपुण्यात्मकः स्वयम् ॥ १७ ॥

अन्तमें सूर्यकी किरणोंसे पंख जल जानेके कारण यहाँ विन्ध्याचलके शिखरपर गिर पड़ा और हे कपीश्वरो ! बहुत ऊँचेसे गिरनेके कारण मूर्च्छित हो गया ॥ ४-५ ॥ जब तीन दिन पश्चात् मुझे चेत हुआ तो पंख जल जानेसे मेरा चित्त भ्रममें पड़ गया और मैं यह कुछ भी न जान सका कि यह कौन-सा देश अथवा गिरिशिखर है ॥ ६ ॥

फिर धीरे-धीरे नेत्र खोलनेपर मुझे वहाँ एक सुन्दर आश्रम दिखायी दिया। तब मैं शनैः-शनैः उस आश्रमके पास गया ॥ ७ ॥ वहाँ चन्द्रमा नामक मुनीश्वर रहते थे। उन्होंने मुझे देखकर विस्मयपूर्वक कहा—"सम्पाते ! यह क्या, तुम्हें आज इस प्रकार विरूप किसने कर दिया ? ॥ ८ ॥ मैं तुम्हें पहलेसे ही जानता हूँ; तुम तो बड़े बलवान् हो, फिर तुम्हारे पंख कैसे जल गये ? यदि तुम ठीक समझो तो अपना सब वृत्तान्त कहो" ॥ ९ ॥

तब मैंने उन मुनिश्रेष्ठको अपनी सब करतूत सुनायी और फिर अति दुःखित होकर उनसे कहा—"अब मैं दावाग्निमें जल मरूँगा ॥ १० ॥ क्योंकि हे प्रभो ! बिना पंखोंके मैं किस प्रकार जीवन धारण कर सकता हूँ ?"

मेरे इस प्रकार कहनेपर मुनिवर दयावश नेत्रोंमें जल भरकर मेरी ओर देखते हुए बोले— ॥ ११ ॥ "बच्चा ! अब तुम मेरी बात सुनो। उसे सुनकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो वही करना। इस दुःखका आश्रय देह ही है और देह कर्मजन्य है ॥ १२ ॥ पुरुष जब देहमें अहं-बुद्धि करता है तभी कर्मकी प्रवृत्ति होती है; और यह अविद्या-जनित जड अहंकार अनादि है ॥ १३ ॥ (अग्निसे) तप्त लोहपिण्डके समान यह अहंकार सर्वदा चिदाभाससे व्याप्त है। उस चिदाभासविशिष्ट अहंकारका देहसे तादात्म्य (ऐक्य) होनेके कारण देह चेतनायुक्त होता है ॥ १४ ॥ अहंकारके कारण ही आत्माको 'मैं देह हूँ' यह बुद्धि होती है और उसीके कारण यह सुख-दुःखादिका देनेवाला जन्म-मरणरूप संसार प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ निर्विकार आत्माके साथ देहके इस मिथ्या तादात्म्यसे ही जीव सर्वदा यह संकल्प करके कि 'मैं देह हूँ और कर्मोंका करनेवाला हूँ' नाना प्रकारके कर्म करता है तथा विवश होकर उनके फलोंसे बँधता है। और इस प्रकार पाप-पुण्यके वशीभूत होकर सदा ऊँची-नीची योनियोंमें भ्रमता रहता

कृतं मयाधिकं पुण्यं यज्ञदानादि निश्चितम्।
स्वर्गं गत्वा सुखं भोक्ष्य इति सङ्कल्पवान्भवेत्॥ १८॥

तथैवाध्यासतस्तत्र चिरं भुक्त्वा सुखं महत्।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन्कर्मचोदितः॥ १९॥

पतित्वा मण्डले चेन्दोस्ततो नीहारसंयुतः।
भूमौ पतित्वा व्रीह्यादौ तत्र स्थित्वा चिरं पुनः॥ २०॥

भूत्वा चतुर्विधं भोज्यं पुरुषैर्भुज्यते ततः।
रेतो भूत्वा पुनस्तेन ऋतौ स्त्रीयोनिसिञ्चितः॥ २१॥

योनिरक्तेन संयुक्तं जरायुपरिवेष्टितम्।
दिनेनैकेन कललं भूत्वा रूढत्वमाप्नुयात्॥ २२॥

तत्पुनः पञ्चरात्रेण बुद्बुदाकारतामियात्।
सप्तरात्रेण तदपि मांसपेशित्वमाप्नुयात्॥ २३॥

पक्षमात्रेण सा पेशी रुधिरेण परिप्लुता।
तस्या एवाङ्कुरोत्पत्तिः पञ्चविंशतिरात्रिषु॥ २४॥

ग्रीवा शिरश्च स्कन्धश्च पृष्ठवंशस्तथोदरम्।
पञ्चधाङ्गानि चैकैकं जायन्ते मासतः क्रमात्॥ २५॥

पाणिपादौ तथा पार्श्वः कटिर्जानु तथैव च।
मासद्वयात्प्रजायन्ते क्रमेणैव न चान्यथा॥ २६॥

त्रिभिर्मासैः प्रजायन्ते अङ्गानां सन्धयः क्रमात्।
सर्वाङ्गुल्यः प्रजायन्ते क्रमान्मासचतुष्टये॥ २७॥

नासा कर्णौ च नेत्रे च जायन्ते पञ्चमासतः।
दन्तपङ्क्तिर्नखा गुह्यं पञ्चमे जायते तथा॥ २८॥

अर्वाक्षण्मासतश्छिद्रं कर्णयोर्भवति स्फुटम्।
पायुर्मेढ्रमुपस्थं च नाभिश्चापि भवेन्नृणाम्॥ २९॥

सप्तमे मासि रोमाणि शिरः केशास्तथैव च।
विभक्तावयवत्वं च सर्वं सम्पद्यतेऽष्टमे॥ ३०॥

जठरे वर्धते गर्भः स्त्रिया एवं विहङ्गम।
पञ्चमे मासि चैतन्यं जीवः प्राप्नोति सर्वशः॥ ३१॥

है॥ १६-१७॥ वह ऐसे संकल्प करने लगता है कि मैंने यज्ञ, दान आदि बहुत-से पुण्यकर्म किये हैं। अतः मैं निश्चय ही स्वर्गमें जाकर सुख भोगूँगा॥ १८॥ ऐसे अध्याससे वह वहाँ (जाकर) चिरकालतक महान् सुख भोगता है और अन्तमें पुण्यक्षय हो जानेपर प्रारब्धकी प्रेरणासे, इच्छा न रहते हुए भी, नीचे गिरता है॥ १९॥

"पहले वह चन्द्रमण्डलपर गिरता है। वहाँसे (चन्द्ररश्मियोंके द्वारा) कुहिरेके साथ पृथ्वीपर आकर बहुत दिनोंतक व्रीहि आदि धान्योंमें रहता है॥ २०॥ फिर वह (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य) चार प्रकारके अन्नरूपसे पुरुषोंद्वारा खाया जाता है और वीर्यरूपमें परिणत हो जाता है। तदनन्तर वह उसके द्वारा ऋतुकालमें स्त्रीकी योनिमें डाला जाता है॥ २१॥ योनिमें स्थित रजसे मिलकर वह एक दिनमें ही झिल्लीसे लिपटे हुए कललके रूपमें परिणत होकर कुछ कठिन-सा हो जाता है॥ २२॥ फिर पाँच रात्रिमें वह बुद्बुदाकार हो जाता है और सात रात्रि बीतनेपर मांसपेशीके समान (अण्डाकार) हो जाता है॥ २३॥ पंद्रह दिनके भीतर उस पेशीमें रुधिर भर जाता है और पचीस रात्रिके पश्चात् उसमें अंकुर उत्पन्न होने लगते हैं॥ २४॥ एक मास हो जानेपर उसमें एक-एक करके क्रमशः ग्रीवा, सिर, कन्धे, रीढ़की हड्डी और पेट—ये पाँच अङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं॥ २५॥ फिर दो महीनेमें क्रमशः हाथ, पाँव, पसलियाँ, कमर और घुटने बन जाते हैं। इस क्रममें कभी भेद नहीं पड़ता॥ २६॥ इसी क्रमसे तीन महीनेमें उसमें अङ्गोंकी सन्धियाँ तथा चार महीनेमें समस्त अङ्गुलियाँ उत्पन्न हो जाती हैं॥ २७॥ पाँच मास होनेपर नाक, कान और नेत्र बनते हैं तथा पाँचवें मासमें ही दन्तावली, नख और गुह्य स्थान भी उत्पन्न होते हैं॥ २८॥ छठे मासके आरम्भमें ही कानोंके छिद्र स्पष्ट हो जाते हैं तथा इसी समय गुदा, स्त्री-पुरुषके भेदसे योनि अथवा लिंग तथा नाभि उत्पन्न होते हैं॥ २९॥ सातवें महीनेमें रोम और सिरके केश प्रकट होते है तथा आठवें महीनेमें सब अङ्गोंपाङ्ग अलग-अलग स्पष्ट हो जाते हैं॥ ३०॥

"हे पक्षिन्! इस प्रकार स्त्रीके गर्भाशयमें गर्भ बढ़ता है। जिस समय पाँचवाँ महीना होता है उसी समय जीवको

नाभिसूत्राल्परन्ध्रेण मातृभुक्तान्नसारतः ।
वर्धते गर्भगः पिण्डो न म्रियेत स्वकर्मतः ॥ ३२ ॥

स्मृत्वा सर्वाणि जन्मानि पूर्वकर्माणि सर्वशः ।
जठरानलतप्तोऽयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

नानायोनिसहस्रेषु जायमानोऽनुभूतवान् ।
पुत्रदारादिसम्बन्धं कोटिशः पशुबान्धवान् ॥ ३४ ॥

कुटुम्बभरणासक्त्या न्यायान्यायैर्धनार्जनम् ।
कृतं नाकरवं विष्णुचिन्तां स्वप्नेऽपि दुर्भगः ॥ ३५ ॥

इदानीं तत्फलं भुञ्जे गर्भदुःखं महत्तरम् ।
अशाश्वते शाश्वतवद्देहे तृष्णासमन्वितः ॥ ३६ ॥

अकार्याण्येव कृतवान्न कृतं हितमात्मनः ।
इत्येवं बहुधा दुःखमनुभूय स्वकर्मतः ॥ ३७ ॥

कदा निष्क्रमणं मे स्याद्गर्भान्निरयसन्निभात् ।
इत ऊर्ध्वं नित्यमहं विष्णुमेवानुपूजये ॥ ३८ ॥

इत्यादि चिन्तयञ्जीवो योनियन्त्रप्रपीडितः ।
जायमानोऽतिदुःखेन नरकात्पातकी यथा ॥ ३९ ॥

पूतिव्रणान्निपतितः कृमिरेष इवापरः ।
ततो बाल्यादिदुःखानि सर्व एवं विभुञ्जते ॥ ४० ॥

त्वया चैवानुभूतानि सर्वत्र विदितानि च ।
न वर्णितानि मे गृध्र यौवनादिषु सर्वतः ॥ ४१ ॥

एवं देहोऽहमित्यस्मादभ्यासान्निरयादिकम् ।
गर्भवासादिदुःखानि भवन्त्यभिनिवेशतः ॥ ४२ ॥

तस्माद्देहद्वयादन्यमात्मानं प्रकृतेः परम् ।
ज्ञात्वा देहादिममतां त्यक्त्वात्मज्ञानवान् भवेत् ॥ ४३ ॥

जाग्रदादिविनिर्मुक्तं सत्यज्ञानादिलक्षणम् ।
शुद्धं बुद्धं सदा शान्तमात्मानमवधारयेत् ॥ ४४ ॥

चिदात्मनि परिज्ञाते नष्टे मोहेऽज्ञसम्भवे ।
देहः पततु वारब्धकर्मवेगेन तिष्ठतु ॥ ४५ ॥

चेतना-शक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ३१ ॥ गर्भस्थित पिण्ड अपनी नाभिमें लगे हुए नालके सूक्ष्म छिद्रसे प्राप्त माताके खाये हुए अन्नके रससे बढ़ता है और अपने कर्म-वश मरता नहीं है ॥ ३२ ॥ उस समय अपने सम्पूर्ण पूर्व-जन्मोंका और कर्मोंका स्मरण करके जठरानलसे सन्तप्त हुआ यह जीव इस प्रकार कहता है— ॥ ३३ ॥ "पहले कई सहस्र योनियोंमें उत्पन्न होकर मैंने करोड़ों बन्धु-बान्धव, पशुवर्ग और स्त्री-पुत्रादिके सम्बन्धका अनुभव किया है ॥ ३४ ॥ मुझ अभागेने उस समय स्वप्नमें भी भगवान् विष्णुका स्मरण नहीं किया; बस, अपने कुटुम्बके भरण-पोषणमें आसक्त होकर न्याय अथवा अन्यायसे धन कमानेमें ही लगा रहा ॥ ३५ ॥ अब उसका फलस्वरूप यह अति महान् गर्भ-दुःख भोग रहा हूँ और इस नश्वर देहको नित्य-सा समझकर इसकी तृष्णामें फँसा हुआ हूँ ॥ ३६ ॥ मैं सदा अकार्य कर्म ही करता रहा, कभी अपना हित-साधन नहीं किया । अतः अपने कर्मानुसार मैं इसी प्रकार बहुत-से दुःख भोगता रहा ॥ ३७ ॥ अब न जाने इस नरकतुल्य गर्भसे मैं कब निकलूँगा । फिर तो मैं सर्वदा श्रीविष्णुभगवान्‌की ही उपासना करूँगा" ॥ ३८ ॥ ऐसी ही चिन्ता करते-करते वह जीव योनियन्त्रसे पीड़ित होता हुआ अति कष्टसे जन्म लेता है, जैसे कोई पापी जीव नरकसे निकलता हो ॥ ३९ ॥ उस समय यह दुर्गन्धित व्रण (घाव) से गिरे हुए एक कीड़ेके समान होता है । फिर इसे बाल्यादि अवस्थाओंके क्लेश भोगने पड़ते हैं । इस प्रकार सभी देहधारियोंको ये कष्ट उठाने पड़ते हैं ॥ ४० ॥

"हे गृध्र ! इसके पीछे होनेवाले युवावस्था आदिके सब दुःख तूने भी स्वयं देखे ही हैं और भी सब इन्हें जानते ही हैं, इसलिये मैंने इनका वर्णन नहीं किया ॥ ४१ ॥ इस प्रकार 'मैं देह हूँ' इस अभ्याससे उत्पन्न हुए देहाभिमानके कारण जीवको नरक और गर्भवास आदि अनेक दुःख उठाने पड़ते हैं ॥ ४२ ॥ अतः मनुष्यको चाहिये कि अपने आत्माको प्रकृतिसे अतीत तथा स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकारके शरीरोंसे पृथक् जानकर देहादिकी ममता छोड़कर आत्मज्ञानसम्पन्न हो ॥ ४३ ॥ आत्माको सर्वदा जाग्रत् आदि अवस्थाओंसे रहित, सत्-चित्स्वरूप तथा शुद्ध, बुद्ध और शान्तरूप जाने ॥ ४४ ॥ चेतनस्वरूप आत्माका ज्ञान हो जानेपर जब अज्ञानजनित मोह नष्ट हो जाता है तो फिर यह देह प्रारब्ध-कर्मके वेगसे रहे अथवा जाय योगीको किसी

योगिनो न हि दुःखं वा सुखं वाज्ञानसम्भवम् ।
तस्माद्देहेन सहितो यावत्प्रारब्धसङ्क्षयः ॥ ४६ ॥

तावत्तिष्ठ सुखेन त्वं धृतकञ्चुकसर्पवत् ।
अन्यद्वक्ष्यामि ते पक्षिन् शृणु मे परमं हितम् ॥ ४७ ॥

त्रेतायुगे दाशरथिर्भूत्वा नारायणोऽव्ययः ।
रावणस्य वधार्थाय दण्डकानागमिष्यति ॥ ४८ ॥

सीतया भार्यया सार्धं लक्ष्मणेन समन्वितः ।
तत्राश्रमे जनकजां भ्रातृभ्यां रहिते वने ॥ ४९ ॥

रावणश्चोरवन्नीत्वा लङ्कायां स्थापयिष्यति ।
तस्याः सुग्रीवनिर्देशाद्वानराः परिमार्गणे ॥ ५० ॥

आगमिष्यन्ति जलधेस्तीरं तत्र समागमः ।
त्वया तैः कारणवशाद्भविष्यति न संशयः ॥ ५१ ॥

तदा सीतास्थितिं तेभ्यः कथयस्व यथार्थतः ।
तदैव तव पक्षौ द्वावुत्पत्स्येते पुनर्नवौ ॥ ५२ ॥

सम्पातिरुवाच

बोधयामास मां चन्द्रनामा मुनिकुलेश्वरः ।
पश्यन्तु पक्षौ मे जातौ नूतनावतिकोमलौ ॥ ५३ ॥

स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि सीतां द्रक्ष्यथ निश्चयम् ।
यत्नं कुरुध्वं दुर्लङ्घ्यसमुद्रस्य विलङ्घने ॥ ५४ ॥

यन्नामसंस्मृतिमात्रतोऽपरिमितं
संसारवारांनिधिं
तीर्त्वा गच्छति दुर्जनोऽपि परमं
विष्णोः पदं शाश्वतम् ।
तस्यैव स्थितिकारिणस्त्रिजगतां
रामस्य भक्ताः प्रिया
यूयं किं न समुद्रमात्रतरणे
शक्ताः कथं वानराः ॥ ५५ ॥

प्रकारका अज्ञानजन्य सुख-दुःख नहीं होता।

"अतः जबतक तेरा प्रारब्ध क्षय न हो तबतक काँचुलीसहित सर्पके समान आनन्दपूर्वक देह धारण करके रह। इसके अतिरिक्त हे पक्षिन्! तेरे परम हितकी एक बात और बतलाता हूँ, सुन ॥ ४५—४७ ॥ त्रेता-युगमें अविनाशी नारायणदेव महाराज दशरथके यहाँ अवतार लेकर रावणका वध करनेके लिये अपनी भार्या सीता और भाई लक्ष्मणके सहित दण्डकारण्यमें आयेंगे ॥ ४८ ॥ वहाँ दोनों भाइयोंके तपोवनसे चले जानेपर रावण श्रीजानकीजीको सूने आश्रमसे चोरके समान ले जाकर लंकामें रखेगा। तदनन्तर वानरराज सुग्रीवकी आज्ञासे उन्हें खोजते हुए कुछ वानरगण समुद्रतटपर आयेंगे, वहाँ किसी कारण-विशेषसे तेरे साथ उनका समागम होगा—इसमें सन्देह नहीं ॥ ४९—५१ ॥ तब तू उन्हें सीताजीका ठीक-ठीक पता बतला देना। बस, उसी समय तेरे फिर नये पंख उत्पन्न हो जायँगे" ॥ ५२ ॥

सम्पाति बोला—(हे वानरेश्वरगण!) इस प्रकार मुझे चन्द्र नामक मुनीश्वरने समझाया। (इससे मैं शान्त होकर इस समयकी प्रतीक्षामें रहने लगा।) देखिये अब मेरे यह अति कोमल नवीन पंख निकल आये हैं ॥ ५३ ॥ आपलोगोंका कल्याण हो, अब मैं जाना चाहता हूँ। इसमें सन्देह नहीं, आपलोग सीताजीको अवश्य देखेंगे। केवल इस दुर्लङ्घ्य समुद्रके लाँघनेका प्रयत्न कीजिये ॥ ५४ ॥ हे वानरगण! जिनके नामके स्मरणमात्रसे बड़े दुष्टजन भी इस अपार संसार-सागरको पार करके भगवान् विष्णुके सनातन परमपदको प्राप्त कर लेते हैं, आपलोग तो, त्रिलोकीकी स्थिति करनेवाले उन्हीं भगवान् रामके प्रिय भक्तगण हैं। फिर इस क्षुद्र समुद्रमात्रको पार करनेमें आप क्यों समर्थ न होंगे? ॥ ५५ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवम सर्ग

समुद्रोल्लङ्घनकी मन्त्रणा

श्रीमहादेव उवाच

गते विहायसा गृध्रराजे वानरपुङ्गवाः ।
हर्षेण महताविष्टाः सीतादर्शनलालसाः ॥ १ ॥

ऊचुः समुद्रं पश्यन्तो नक्रचक्रभयङ्करम् ।
तरङ्गादिभिरुन्नद्धमाकाशमिव दुर्ग्रहम् ॥ २ ॥

परस्परमवोचन्वै कथमेनं तरामहे ।
उवाच चाङ्गदस्तत्र शृणुध्वं वानरोत्तमाः ॥ ३ ॥

भवन्तोऽत्यन्तबलिनः शूराश्च कृतविक्रमाः ।
को वात्र वारिधिं तीर्त्वा राजकार्यं करिष्यति ॥ ४ ॥

एतेषां वानराणां स प्राणदाता न संशयः ।
तदुत्तिष्ठतु मे शीघ्रं पुरतो यो महाबलः ॥ ५ ॥

वानराणां च सर्वेषां रामसुग्रीवयोरपि ।
स एव पालको भूयान्नात्र कार्या विचारणा ॥ ६ ॥

इत्युक्ते युवराजेन तूष्णीं वानरसैनिकाः ।
आसन्नोचुः किञ्चिदपि परस्परविलोकिनः ॥ ७ ॥

अङ्गद उवाच

उच्यतां वै बलं सर्वैः प्रत्येकं कार्यसिद्धये ।
केन वा साध्यते कार्यं जानीमस्तदनन्तरम् ॥ ८ ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा प्रोचुर्वीरा बलं पृथक् ।
योजनानां दशारभ्य दशोत्तरगुणं जगुः ॥ ९ ॥

शतादर्वाग्जाम्बवांस्तु प्राह मध्ये वनौकसाम् ।
पुरा त्रिविक्रमे देवे पादं भूमानलक्षणम् ॥ १० ॥

त्रिःसप्तकृत्वोऽहमगां प्रदक्षिणविधानतः ।
इदानीं वार्धकग्रस्तो न शक्नोमि विलङ्घितुम् ॥ ११ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! गृध्रराज सम्पातिके आकाश-मार्गसे चले जानेपर सीताजीके दर्शनोंके लिये अति उत्कण्ठित वानरगण (उनका पता लग जानेके कारण) अत्यन्त हर्षित हुए ॥ १ ॥ किन्तु जब उन्होंने नाकों और भँवर आदिके कारण अत्यन्त भयङ्कर उत्ताल तरंगोंसे उछलते हुए तथा आकाशके समान दुर्लङ्घ्य समुद्रकी ओर देखा तो वे आपसमें कहने लगे कि हम इसे किस प्रकार पार कर सकेंगे। तब अङ्गदजीने कहा—"हे वानरश्रेष्ठगण ! सुनिये— ॥ २-३ ॥ आपलोग सभी अत्यन्त बलवान्, शूरवीर और पराक्रमी हैं। अतः आपमेंसे ऐसा कौन है जो समुद्र लाँघकर राजकार्य सम्पन्न करे ॥ ४ ॥ वह निःसन्देह इन समस्त वानरोंको प्राण-दान करनेवाला होगा। अतः जो महाबलवान् वीर ऐसा हो वह शीघ्र ही मेरे सामने आवे ॥ ५ ॥ इसमें कोई सन्देह नहीं, वही सम्पूर्ण वानरोंकी, सुग्रीवकी और स्वयं भगवान् रामकी भी रक्षा करनेवाला होगा" ॥ ६ ॥

युवराज अङ्गदके इस प्रकार कहनेपर समस्त वानर-सेनापति चुपचाप बैठे रहे, किसीके मुखसे एक शब्द भी न निकला, परस्पर एक-दूसरेका मुख ताकते रह गये ॥ ७ ॥

अङ्गद बोले—अच्छा, इस कार्यको करनेके लिये सब लोग अपनी शक्तिका वर्णन करो। तब इस बातका पता चल जायगा कि इसे कौन साध सकेगा ॥ ८ ॥

अङ्गदजीकी यह बात सुनकर सब वानर-वीर पृथक्-पृथक् अपना बल बतलाने लगे। उनमेंसे एक-एकने दस योजनसे लेकर क्रमशः दस-दस योजन अधिक जानेतककी अपनी सामर्थ्य बतायी ॥ ९ ॥ अन्तमें, उन सब वनचरोंमेंसे जाम्बवान्ने अपनी शक्ति सौ योजनके भीतरतक जानेकी बतायी। वे बोले—"पूर्वकालमें जब भगवान्ने त्रिविक्रम अवतार लिया था तो मैं उनके पृथ्वीके बराबर परिमाणवाले चरणके चारों ओर परिक्रमा करनेके लिये इक्कीस बार फिरा था। किन्तु अब मुझे वृद्धावस्थाने दबा लिया है इसलिये मैं समुद्रको नहीं लाँघ सकता" ॥ १०-११ ॥

अङ्गदोऽप्याह मे गन्तुं शक्यं पारं महोदधेः ।
पुनर्लङ्घनसामर्थ्यं न जानाम्यस्ति वा न वा ॥ १२ ॥

तमाह जाम्बवान्वीरस्त्वं राजा नो नियामकः ।
न युक्तं त्वां नियोक्तुं मे त्वं समर्थोऽसि यद्यपि ॥ १३ ॥

अङ्गद उवाच

एवं चेत्पूर्ववत्सर्वे स्वप्स्यामो दर्भविष्टरे ।
केनापि न कृतं कार्यं जीवितुं च न शक्यते ॥ १४ ॥

तमाह जाम्बवान्वीरो दर्शयिष्यामि ते सुत ।
येनास्माकं कार्यसिद्धिर्भविष्यत्यचिरेण च ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा जाम्बवान्प्राह हनूमन्तमवस्थितम् ।
हनूमन्किं रहस्तूष्णीं स्थीयते कार्यगौरवे ॥ १६ ॥

प्राप्तेऽज्ञेनेव सामर्थ्यं दर्शयाद्य महाबल ।
त्वं साक्षाद्वायुतनयो वायुतुल्यपराक्रमः ॥ १७ ॥

रामकार्यार्थमेव त्वं जनितोऽसि महात्मना ।
जातमात्रेण ते पूर्वं दृष्ट्वोद्यन्तं विभावसुम् ॥ १८ ॥

पक्वं फलं जिघृक्षामीत्युत्प्लुतं बालचेष्टया ।
योजनानां पञ्चशतं पतितोऽसि ततो भुवि ॥ १९ ॥

अतस्त्वद्बलमाहात्म्यं को वा शक्नोति वर्णितुम् ।
उत्तिष्ठ कुरु रामस्य कार्यं नः पाहि सुव्रत ॥ २० ॥

श्रुत्वा जाम्बवतो वाक्यं हनूमानतिहर्षितः ।
चकार नादं सिंहस्य ब्रह्माण्डं स्फोटयन्निव ॥ २१ ॥

बभूव पर्वताकारस्त्रिविक्रम इवापरः ।
लङ्घयित्वा जलनिधिं कृत्वा लङ्कां च भस्मसात् ॥ २२ ॥

रावणं सकुलं हत्वानेष्ये जनकनन्दिनीम् ।
यद्वा बद्ध्वा गले रज्ज्वा रावणं वामपाणिना ॥ २३ ॥

लङ्कां सपर्वतां धृत्वा रामस्याग्रे क्षिपाम्यहम् ।
यद्वा दृष्ट्वैव यास्यामि जानकीं शुभलक्षणाम् ॥ २४ ॥

अङ्गदजीने भी कहा—"मैं इस महासागरके पार तो जा सकता हूँ, किन्तु फिर लौटनेकी सामर्थ्य है या नहीं यह नहीं जानता" ॥ १२ ॥ तब वीरवर जाम्बवान्‌ने उनसे कहा—"अङ्गदजी ! इस कार्यके करनेमें यद्यपि आप सर्वथा समर्थ हैं तथापि आपको इस कार्यमें नियुक्त करना हमें ठीक नहीं जँचता, क्योंकि आप हमारे नायक और नियामक हैं" ॥ १३ ॥

अङ्गद बोले—"यदि ऐसी बात है, तो हम सबको (प्रायोपवेशनका संकल्प करके) फिर पूर्ववत् कुशासनों-पर ही पड़ रहना चाहिये; क्योंकि यह काम तो किसीसे हुआ नहीं, फिर जीवन भी कैसे रह सकता है" ॥ १४ ॥

तब वीरवर जाम्बवान्‌ने कहा—'बेटा ! जिसके हाथसे हमारा यह कार्य बहुत शीघ्र ही सिद्ध होगा, उस वीरको मैं तुझे दिखलाता हूँ" ॥ १५ ॥

यों कहकर जाम्बवान्‌ने वहाँ बैठे हुए हनुमान्‌जीसे कहा—"हे हनूमन् ! इस महान् कार्यके उपस्थित होनेपर आप इस प्रकार अनजानके समान चुपचाप एकान्तमें क्यों बैठे हैं ? हे महावीर ! आप साक्षात् पवनदेवके पुत्र हैं और उन्हींके समान पराक्रमी हैं, अतः आज अपनी सामर्थ्य दिखलाइये ॥ १६-१७ ॥ महात्मा वायुने राम-कार्यके लिये ही आपको उत्पन्न किया है। जिस समय आपका जन्म हुआ था उसी समय आप सूर्यको उदय हुआ देखकर 'इस पके फलको लेना चाहिये' इस इच्छासे बाललीलासे ही पाँच सौ योजन ऊँचे उछलकर पृथ्वीपर गिरे थे ॥ १८-१९ ॥ अतः ऐसा कौन है जो आपके बलका माहात्म्य वर्णन कर सके। हे सुव्रत ! आप खड़े हो जाइये और यह रामकार्य करके हम सबकी रक्षा कीजिये" ॥ २० ॥

जाम्बवान्‌के ये वचन सुनकर हनूमान्‌जी अति प्रसन्न हुए और उन्होंने समस्त ब्रह्माण्डको मानो कम्पायमान करते हुए घोर सिंहनाद किया ॥ २१ ॥ दूसरे त्रिविक्रम भगवान्‌के समान वे पर्वताकार हो गये, (और कहने लगे—) "हे वानरो ! मैं समुद्रको लाँघकर लंकाको भस्म कर डालूँगा और रावणको उसके कुलसहित मारकर श्रीजानकीजीको ले आऊँगा; अथवा कहो तो, रावणके गलेमें रस्सी डालकर और लंकाको त्रिकूट पर्वतसहित बायें हाथपर उठाकर भगवान् रामके आगे ले जाकर डाल

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं जाम्बवानिदमब्रवीत्।
दृष्ट्वैवागच्छ भद्रं ते जीवन्तीं जानकीं शुभाम् ॥ २५ ॥

पश्चाद्रामेण सहितो दर्शयिष्यसि पौरुषम्।
कल्याणं भवताद्भद्र गच्छतस्ते विहायसा ॥ २६ ॥

गच्छन्तं रामकार्यार्थं वायुस्त्वामनुगच्छतु।
इत्याशीर्भिः समामन्त्र्य विसृष्टः प्लवगाधिपैः ॥ २७ ॥

महेन्द्राद्रिशिरो गत्वा बभूवाद्भुतदर्शनः ॥ २८ ॥

महानगेन्द्रप्रतिमो महात्मा
सुवर्णवर्णोऽरुणचारुवक्त्रः।
महाफणीन्द्राभसुदीर्घबाहु-
र्वातात्मजोऽदृश्यत सर्वभूतैः ॥ २९ ॥

दूँ, या केवल शुभलक्षणा जानकीजीको देखकर ही चला आऊँ'' ॥ २२—२४ ॥

हनुमान्‌जीके ये वचन सुनकर जाम्बवान्‌ने कहा— ''हे वीर! तुम्हारा शुभ हो, तुम केवल शुभलक्षणा जानकीजीको जीती-जागती देखकर ही चले आओ ॥ २५ ॥ फिर रामचन्द्रजीके साथ जाकर अपना पुरुषार्थ दिखलाना। हे भद्र! आकाशमार्गसे जाते हुए तुम्हारा कल्याण हो ॥ २६ ॥ रामकार्यके लिये जाते समय वायु तुम्हारा अनुगमन करें।''

इस प्रकार आशीर्वादोंसे अभिनन्दन करते हुए वानर-यूथपोंके विदा करनेपर हनुमान्‌जी महेन्द्रपर्वतके शिखरपर चढ़ गये। वहाँ उन्होंने अद्भुत रूप धारण किया ॥ २७-२८ ॥ उस समय समस्त प्राणियोंको वायुपुत्र महात्मा हनुमान्‌जी महान् पर्वतराजके समान विशालकाय, सुवर्णवर्ण अरुण (बालसूर्य) के समान मनोहर मुखवाले और महान् सर्पराजके समान दीर्घ भुजाओंवाले दिखलायी देने लगे ॥ २९ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

समाप्तमिदं किष्किन्धाकाण्डम्

ॐ

अध्यात्मरामायण

सुन्दरकाण्ड

प्रथम सर्ग

हनुमान्‌जीका समुद्रोल्लङ्घन और लंका-प्रवेश

श्रीमहादेव उवाच

शतयोजनविस्तीर्णं समुद्रं मकरालयम्।
लिलङ्घयिषुरानन्दसन्दोहो मारुतात्मजः॥ १॥

ध्यात्वा रामं परात्मानमिदं वचनमब्रवीत्।
पश्यन्तु वानराः सर्वे गच्छन्तं मां विहायसा॥ २॥

अमोघं रामनिर्मुक्तं महाबाणमिवाखिलाः।
पश्याम्यद्यैव रामस्य पत्नीं जनकनन्दिनीम्॥ ३॥

कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं पुनः पश्यामि राघवम्।
प्राणप्रयाणसमये यस्य नाम सकृत्स्मरन्॥ ४॥

नरस्तीर्त्वा भवाम्भोधिमपारं याति तत्पदम्।
किं पुनस्तस्य दूतोऽहं तदङ्गाङ्गुलिमुद्रिकः॥ ५॥

तमेव हृदये ध्यात्वा लङ्घयाम्यल्पवारिधिम्।
इत्युक्त्वा हनुमान्बाहू प्रसार्यायतवालधिः॥ ६॥

ऋजुग्रीवोर्ध्वदृष्टिः सन्नाकुञ्चितपदद्वयः।
दक्षिणाभिमुखस्तूर्णं पुप्लुवेऽनिलविक्रमः॥ ७॥

आकाशात्त्वरितं देवैर्वीक्ष्यमाणो जगाम सः।
दृष्ट्वानिलसुतं देवा गच्छन्तं वायुवेगतः॥ ८॥

परीक्षणार्थं सत्त्वस्य वानरस्येदमब्रुवन्।
गच्छत्येष महासत्त्वो वानरो वायुविक्रमः॥ ९॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! आनन्दघन श्रीहनुमान्‌जी सौ योजनतक फैले हुए और मकरादि दुष्ट जल-जन्तुंओंसे पूर्ण समुद्रको लाँघनेके लिये उद्यत हो परमात्मा रामका स्मरण कर इस प्रकार बोले—"हे वानरगण! तुम सब इस ओर देखो। मैं भगवान् रामके छोड़े हुए अमोघ बाणके समान आकाश-मार्गसे जाता हूँ। मैं आज ही रामप्रिया जनकनन्दिनी श्रीसीताजीको देखूँगा॥ १—३॥ निश्चय ही, अब मैं कृतकार्य होकर ही पुनः श्रीरघुनाथजीका दर्शन करूँगा। प्राण-प्रयाणके समय जिनके नामका एक बार स्मरण करनेसे ही मनुष्य अपार संसार-सागरको पार कर उनके परमधामको चला जाता है, फिर मैं उन्हींका दूत उनके अवयवरूप अँगुलीकी अँगूठी लिये हुए अपने हृदयमें उन्हींका ध्यान करता हुआ इस तुच्छ समुद्रको लाँघ जाऊँ तो इसमें कौन-सी बड़ी बात है?" ऐसा कह श्रीहनुमान्‌जीने अपनी बाँहें फैलायीं और पूँछको सीधा किया तथा तुरंत ही गरदनको सीधा एवं दृष्टिको ऊपरकी ओर कर पाँव सिकोड़ लिये और दक्षिणकी ओर मुख करके वायु-वेगसे उड़ान लगायी॥ ४—७॥

उस समय वे देवताओंके देखते-देखते आकाश-मार्गसे बड़े तीव्र वेगसे जा रहे थे। पवनपुत्र हनुमान्‌जीको इस प्रकार वायु-वेगसे जाते देख देवताओंने उनकी सामर्थ्यकी परीक्षाके लिये आपसमें इस प्रकार कहा—'यह महाशक्तिशाली वानर वायुके समान तीव्र वेगसे जा

लङ्कां प्रवेष्टुं शक्तो वा न वा जानीमहे बलम्।
एवं विचार्य नागानां मातरं सुरसाभिधाम्॥ १० ॥

अब्रवीद्देवतावृन्दः कौतूहलसमन्वितः।
गच्छ त्वं वानरेन्द्रस्य किञ्चिद्विघ्नं समाचर॥ ११ ॥

ज्ञात्वा तस्य बलं बुद्धिं पुनरेहि त्वरान्विता।
इत्युक्ता सा ययौ शीघ्रं हनुमद्विघ्नकारणात्॥ १२ ॥

आवृत्य मार्गं पुरतः स्थित्वा वानरमब्रवीत्।
एहि मे वदनं शीघ्रं प्रविशस्व महामते॥ १३ ॥

देवैस्त्वं कल्पितो भक्ष्यः क्षुधासम्पीडितात्मनः।
तामाह हनुमान्मातरहं रामस्य शासनात्॥ १४ ॥

गच्छामि जानकीं द्रष्टुं पुनरागम्य सत्वरः।
रामाय कुशलं तस्याः कथयित्वा त्वदाननम्॥ १५ ॥

निवेक्ष्ये देहि मे मार्गं सुरसायै नमोऽस्तु ते।
इत्युक्त्वा पुनरेवाह सुरसा क्षुधितास्म्यहम्॥ १६ ॥

प्रविश्य गच्छ मे वक्त्रं नो चेत्त्वां भक्षयाम्यहम्।
इत्युक्तो हनुमानाह मुखं शीघ्रं विदारय॥ १७ ॥

प्रविश्य वदनं तेऽद्य गच्छामि त्वरयान्वितः।
इत्युक्त्वा योजनायामदेहो भूत्वा पुरः स्थितः॥ १८ ॥

दृष्ट्वा हनूमतो रूपं सुरसा पञ्चयोजनम्।
मुखं चकार हनुमान् द्विगुणं रूपमादधत्॥ १९ ॥

ततश्चकार सुरसा योजनानां च विंशतिम्।
वक्त्रं चकार हनुमांस्त्रिंशद्योजनसम्मितम्॥ २० ॥

ततश्चकार सुरसा पञ्चाशद्योजनायतम्।
वक्त्रं तदा हनूमांस्तु बभूवाङ्गुष्ठसन्निभः॥ २१ ॥

प्रविश्य वदनं तस्याः पुनरेत्य पुरः स्थितः।
प्रविष्टो निर्गतोऽहं ते वदनं देवि ते नमः॥ २२ ॥

एवं वदन्तं दृष्ट्वा सा हनूमन्तमथाब्रवीत्।
गच्छ साधय रामस्य कार्यं बुद्धिमतां वर॥ २३ ॥

रहा है॥ ८—९॥ किन्तु पता नहीं यह लङ्कामें घुस सकेगा या नहीं। अतः इसके बलका पता लगाना चाहिये।' परस्पर ऐसा विचारकर उन्होंने कुतूहलवश नागमाता सुरसासे कहा—"सुरसे! तुम अभी जाकर इस वानरश्रेष्ठके मार्गमें कुछ विघ्न खड़ा करो और इसकी बल-बुद्धिका पता लगाकर तुरंत लौट आओ।" देवताओंके इस प्रकार कहनेपर वह तुरंत ही हनुमान्‌जीको विघ्न उपस्थित करनेके लिये गयी॥ १०—१२॥ वह उनके मार्गको सामनेसे रोककर खड़ी हो गयी और बोली—"हे महामते! आओ, शीघ्र ही मेरे मुखमें प्रवेश करो, मैं भूखसे अत्यन्त व्याकुल थी, अतः देवताओंने तुम्हें मेरा भक्ष्य बनाया है।" तब हनुमान्‌जीने उससे कहा—"हे मातः! मैं श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे जानकीजीको देखनेके लिये जा रहा हूँ। वहाँसे शीघ्र ही लौटकर श्रीरघुनाथजीको उनका कुशल-समाचार सुनाकर फिर मैं तेरे मुखमें प्रवेश करूँगा। हे सुरसे! मैं तुझे प्रणाम करता हूँ, तू मेरा मार्ग छोड़ दे।" इसपर सुरसाने फिर कहा—"मुझे बड़ी भूख लगी है। अतः एक बार मेरे मुखमें प्रवेश करके फिर चले जाना, नहीं तो मैं तुम्हें खा जाऊँगी।" तब हनुमान्‌जीने कहा—'अच्छा तो शीघ्र ही अपना मुख खोल। मैं अभी तेरे मुखमें घुसकर तुरंत ही लंकाको चला जाऊँगा।" ऐसा कह हनुमान्‌जी अपना शरीर एक योजन लम्बा-चौड़ा बनाकर सामने खड़े हो गये॥ १३—१८॥

हनुमान्‌जीका वह रूप देखकर सुरसाने अपना मुख पाँच योजन फैलाया, तब हनुमान्‌जीने अपना शरीर उससे दूना कर लिया॥ १९॥ फिर सुरसाने अपना मुख बीस योजनका किया तो हनुमान्‌जीने अपना देह तीस योजन कर लिया॥ २०॥ इसपर जब सुरसाने अपना मुख पचास योजन फैलाया तो हनुमान्‌जी अँगूठेके समान छोटे-से आकारके हो गये और चट उसके मुखमें जाकर बाहर निकल आये तथा उसके सामने खड़े होकर बोले—"हे देवि! मैं तुम्हारे मुखमें जाकर फिर निकल आया हूँ, अब तुम्हें नमस्कार है"॥ २१-२२॥ हनुमान्‌जीको इस प्रकार कहते देख सुरसा बोली—"हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ! जाओ, श्रीरामचन्द्रजीका कार्य सिद्ध करो।

देवैः सम्प्रेषिताहं ते बलं जिज्ञासुभिः कपे।
दृष्ट्वा सीतां पुनर्गत्वा रामं द्रक्ष्यसि गच्छ भोः ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा सा ययौ देवलोकं वायुसुतः पुनः।
जगाम वायुमार्गेण गरुत्मानिव पक्षिराट् ॥ २५ ॥

समुद्रोऽप्याह मैनाकं मणिकाञ्चनपर्वतम्।
गच्छत्येष महासत्त्वो हनूमान्मारुतात्मजः ॥ २६ ॥

रामस्य कार्यसिद्ध्यर्थं तस्य त्वं सचिवो भव।
सगरैर्वर्द्धितो यस्मात्पुराहं सागरोऽभवम् ॥ २७ ॥

तस्यान्वये बभूवासौ रामो दाशरथिः प्रभुः।
तस्य कार्यार्थसिद्ध्यर्थं गच्छत्येष महाकपिः ॥ २८ ॥

त्वमुत्तिष्ठ जलात्तूर्णं त्वयि विश्रम्य गच्छतु।
स तथेति प्रादुरभूज्जलमध्यान्महोन्नतः ॥ २९ ॥

नानामणिमयैः शृङ्गैस्तस्योपरि नराकृतिः।
प्राह यान्तं हनूमन्तं मैनाकोऽहं महाकपे ॥ ३० ॥

समुद्रेण समादिष्टस्त्वद्विश्रामाय मारुते।
आगच्छामृतकल्पानि जग्ध्वा पक्वफलानि मे ॥ ३१ ॥

विश्रम्यात्र क्षणं पश्चाद्गमिष्यसि यथासुखम्।
एवमुक्तोऽथ तं प्राह हनूमान्मारुतात्मजः ॥ ३२ ॥

गच्छतो रामकार्यार्थं भक्षणं मे कथं भवेत्।
विश्रामो वा कथं मे स्याद्गन्तव्यं त्वरितं मया ॥ ३३ ॥

इत्युक्त्वा स्पृष्टशिखरः कराग्रेण ययौ कपिः।
किञ्चिद्दूरं गतस्यास्य छायां छायाग्रहोऽग्रहीत् ॥ ३४ ॥

सिंहिका नाम सा घोरा जलमध्ये स्थिता सदा।
आकाशगामिनां छायामाक्रम्याकृष्य भक्षयेत् ॥ ३५ ॥

तया गृहीतो हनुमांश्चिन्तयामास वीर्यवान्।
केनेदं मे कृतं वेगरोधनं विघ्नकारिणा ॥ ३६ ॥

हे वानर! देवतालोग तुम्हारा बल जानना चाहते थे। अतः उन्होंने मुझे तुम्हारे पास भेजा था। मुझे निश्चय है कि तुम सीताजीको देखकर फिर शीघ्र ही रघुनाथजीसे मिलोगे। अब तुम जाओ' ॥ २३-२४ ॥

ऐसा कहकर सुरसा देवलोकको चली गयी और श्रीहनुमान्‌जी फिर आकाश-मार्गसे पक्षिराज गरुड़के समान चलने लगे ॥ २५ ॥ इसी समय समुद्रने भी सुवर्ण और मणियोंसे युक्त मैनाक पर्वतसे कहा—"देखो, ये महाशक्तिशाली पवनपुत्र हनुमान्‌जी रामकार्यके लिये जा रहे हैं; तुम उनकी सहायता करो। पूर्वकालमें मुझे सगरपुत्रोंने बढ़ाया था इसीसे मैं सागर कहलाता हूँ ॥ २६-२७ ॥ ये दशरथनन्दन भगवान् राम उन्हींके वंशमें प्रकट हुए हैं और ये कपिराज उन्हींका कार्य सिद्ध करनेके लिये जा रहे हैं ॥ २८ ॥ तुम तुरंत ही जलसे ऊपर उठ जाओ, जिससे ये तुम्हारे ऊपर कुछ देर विश्राम लेकर आगे जायँ।" तब मैनाक पर्वत 'बहुत अच्छा' कह तुरंत अपने अनेक मणिमय शिखरोंसे पानीसे ऊपर बहुत ऊँचा निकल आया। और उन शृंगोंके ऊपर मनुष्याकारसे स्थित होकर उसने जाते हुए हनुमान्‌जीसे कहा—"हे महाकपे! मैं मैनाक हूँ! हे मारुते! समुद्रने मुझे तुम्हें विश्राम देनेके लिये आज्ञा दी है। आओ, मेरे ये अमृत-तुल्य पके फलोंको खाकर ॥ २९—३१ ॥ कुछ देर यहाँ विश्राम करके फिर आनन्दपूर्वक चले जाना।" मैनाकके इस प्रकार कहनेपर पवनपुत्र हनुमान्‌जी बोले— ॥ ३२ ॥ "रामकार्यके लिये जाते हुए मैं भोजनादि कैसे कर सकता हूँ? और मुझे जल्दी ही जाना है, अतः विश्रामका अवकाश भी कहाँ है? ॥ ३३ ॥

ऐसा कह कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जी (मैनाकका मान रखनेके लिये) उसके शिखरको केवल अँगुलीसे छूकर आगे चल दिये। वे कुछ ही आगे बढ़े थे कि उनकी छायाको एक छायाग्रहने पकड़ लिया ॥ ३४ ॥ वह सिंहिका नामकी एक घोर राक्षसी थी जो सदा जलमें रहकर आकाशमें जाते हुए जीवोंकी छाया पकड़कर उन्हें खींच लेती थी और खा जाया करती थी ॥ ३५ ॥ उससे पकड़े जानेपर महापराक्रमी श्रीहनुमान्‌जी सोचने लगे— 'यह ऐसा कौन विघ्नकारक है जिसने मेरा वेग रोक

दृश्यते नैव कोऽप्यत्र विस्मयो मे प्रजायते ।
एवं विचिन्त्य हनूमानधो दृष्टिं प्रसारयत् ॥ ३७ ॥

तत्र दृष्ट्वा महाकायां सिंहिकां घोररूपिणीम् ।
पपात सलिले तूर्णं पद्भ्यामेवाहनद्रुषा ॥ ३८ ॥

पुनरुत्प्लुत्य हनुमान्दक्षिणाभिमुखो ययौ ।
ततो दक्षिणमासाद्य कूलं नानाफलद्रुमम् ॥ ३९ ॥

नानापक्षिमृगाकीर्णं नानापुष्पलतावृतम् ।
ततो ददर्श नगरं त्रिकूटाचलमूर्धनि ॥ ४० ॥

प्राकारैर्बहुभिर्युक्तं परिखाभिश्च सर्वतः ।
प्रवेक्ष्यामि कथं लङ्कामिति चिन्तापरोऽभवत् ॥ ४१ ॥

रात्रौ वेक्ष्यामि सूक्ष्मोऽहं लङ्कां रावणपालिताम् ।
एवं विचिन्त्य तत्रैव स्थित्वा लङ्कां जगाम सः ॥ ४२ ॥

धृत्वा सूक्ष्मं वपुर्द्वारं प्रविवेश प्रतापवान् ।
तत्र लङ्कापुरी साक्षाद्राक्षसीवेषधारिणी ॥ ४३ ॥

प्रविशन्तं हनूमन्तं दृष्ट्वा लङ्का व्यतर्जयत् ।
कस्त्वं वानररूपेण मामनादृत्य लङ्किनीम् ॥ ४४ ॥

प्रविश्य चोरवद्रात्रौ किं भवान्कर्तुमिच्छति ।
इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षी पादेनाभिजघान तम् ॥ ४५ ॥

हनुमानपि तां वाममुष्टिनावज्ञयाहनत् ।
तदैव पतिता भूमौ रक्तमुद्वमती भृशम् ॥ ४६ ॥

उत्थाय प्राह सा लङ्का हनूमन्तं महाबलम् ।
हनूमन् गच्छ भद्रं ते जिता लङ्का त्वयानघ ॥ ४७ ॥

पुराहं ब्रह्मणा प्रोक्ता ह्यष्टाविंशतिपर्यये ।
त्रेतायुगे दाशरथी रामो नारायणोऽव्ययः ॥ ४८ ॥

जनिष्यते योगमाया सीता जनकवेश्मनि ।
भूभारहरणार्थाय प्रार्थितोऽयं मया क्वचित् ॥ ४९ ॥

लिया ? दिखायी तो यहाँ कोई देता नहीं, इससे मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। ऐसे सोचते-सोचते उन्होंने अपनी दृष्टि नीचेकी ओर की तो उन्हें वहाँ बड़ा विकराल रूप और स्थूल शरीरवाली सिंहिका राक्षसी दिखलायी दी। उसे देखते ही वे तुरंत जलमें कूद पड़े और बड़े क्रोधसे उसे लातोंसे ही मार डाला ॥ ३६—३८ ॥ इसके पश्चात् हनुमान्‌जी फिर उछलकर दक्षिणकी ओर चलने लगे और समुद्रके दक्षिणतटपर पहुँच गये, जहाँ नाना प्रकारके फलवाले वृक्ष लगे हुए थे ॥ ३९ ॥ और जो तरह-तरहके पक्षियों और मृगोंसे पूर्ण तथा विविध भाँतिकी पुष्पलताओंसे आवृत था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने त्रिकूट पर्वतके शिखरपर बसी हुई लंकापुरी देखी जो सब ओरसे अनेकों परकोटों और खाइयोंसे घिरी हुई थी। उसे देखकर वे सोचने लगे कि मुझे किस प्रकार इस नगरमें जाना चाहिये ॥ ४०-४१ ॥ फिर निश्चय किया कि मैं रात्रिके समय सूक्ष्म शरीर धारण कर इस रावणप्रतिपालित लंकापुरीमें प्रवेश करूँगा। यह विचारकर वे वहीं ठहर गये और फिर (रात्रि होनेपर) लंकाकी ओर चले ॥ ४२ ॥

जिस समय महाप्रतापी श्रीहनुमान्‌जीने सूक्ष्म शरीर धारणकर नगरके द्वारमें प्रवेश किया उस समय वहाँ साक्षात् लंकापुरी राक्षसीका रूप धारण किये खड़ी थी ॥ ४३ ॥ उसने हनुमान्‌जीको नगरमें जाते देख डाँटा और पूछा—"तू कौन है जो इस रात्रिके समय मुझ लंकिनीका अनादर कर चोरके समान वानररूपसे नगरमें जा रहा है ? और (यहाँ) तू क्या करना चाहता है ?" ऐसा कह उसने क्रोधसे आँखें लाल कर उनके लात मारी ॥ ४४-४५ ॥ तब हनुमान्‌जीने उसकी अवज्ञा करते हुए उसे बायें हाथका घूँसा मारा, जिससे वह बहुत-सा रुधिर वमन करती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ४६ ॥ फिर कुछ देर पीछे लंकिनीने उठकर महाबली हनुमान्‌जीसे कहा—"हे हनुमन् ! जाओ, तुम्हारा कल्याण हो; हे अनघ ! तुम लंकापुरीको जीत चुके ॥ ४७ ॥ पूर्वकालमें मुझसे श्रीब्रह्माजीने कहा था कि 'अट्ठाईसवें चतुर्युगके त्रेतायुगमें अविनाशी नारायणदेव दशरथकुमार रामरूपसे अवतीर्ण होंगे और उनकी योगमाया महाराज जनकके घरमें सीताजी होकर प्रकट होंगी, क्योंकि मैंने पहले कभी उनसे पृथ्वीका भार उतारनेके लिये प्रार्थना की

सभार्यो राघवो भ्रात्रा गमिष्यति महावनम्।
तत्र सीतां महामायां रावणोऽपहरिष्यति ॥ ५० ॥

पश्चाद्रामेण साचिव्यं सुग्रीवस्य भविष्यति।
सुग्रीवो जानकीं द्रष्टुं वानरान्प्रेषयिष्यति ॥ ५१ ॥

तत्रैको वानरो रात्रावागमिष्यति तेऽन्तिकम्।
त्वया च भर्त्सितः सोऽपि त्वां हनिष्यति मुष्टिना ॥ ५२ ॥

तेनाहता त्वं व्यथिता भविष्यसि यदानघे।
तदैव रावणस्यान्तो भविष्यति न संशयः ॥ ५३ ॥

तस्मात्त्वया जिता लङ्का जितं सर्वं त्वयानघ।
रावणान्तःपुरवरे क्रीडाकाननमुत्तमम् ॥ ५४ ॥

तन्मध्येऽशोकवनिका दिव्यपादपसङ्कुला।
अस्ति तस्यां महावृक्षः शिंशपा नाम मध्यगः ॥ ५५ ॥

तत्रास्ते जानकी घोरराक्षसीभिः सुरक्षिता।
दृष्ट्वैव गच्छ त्वरितं राघवाय निवेदय ॥ ५६ ॥

धन्याहमप्यद्य चिराय राघव-
स्मृतिर्ममासीद्भवपाशमोचिनी ।
तद्भक्तसङ्गोऽप्यतिदुर्लभो मम
प्रसीदतां दाशरथिः सदा हृदि ॥ ५७ ॥

उल्लङ्घितेऽब्धौ पवनात्मजेन
धरासुतायाश्च दशाननस्य।
पुस्फोर वामाक्षि भुजश्च तीव्रं
रामस्य दक्षाङ्गमतीन्द्रियस्य ॥ ५८ ॥

थी ॥ ४८-४९ ॥ वे श्रीरामचन्द्रजी भाई लक्ष्मण और भार्या सीताके सहित महावन (दण्डकारण्य) में जायँगे। वहाँ महामायारूपिणी श्रीसीताजीको रावण हर ले जायगा ॥ ५० ॥ तदनन्तर रामके साथ सुग्रीवकी मित्रता होगी और सुग्रीव जानकीजीकी खोजके लिये वानरोंको भेजेगा ॥ ५१ ॥ उनमेंसे एक वानर रात्रिके समय तेरे पास आयेगा। वह तुझसे तिरस्कृत होनेपर तेरे मुक्का मारेगा ॥ ५२ ॥ हे अनघे ! जिस समय तू उसके प्रहारसे व्याकुल हो जायगी उसी समय रावणका अन्त होगा—इसमें सन्देह नहीं ॥ ५३ ॥अतः हे निष्पाप हनुमन् ! तुमने (मुझ) लंकाको जीत लिया तो सभीको जीत लिया। रावणके अन्तःपुरमें एक अत्युत्तम क्रीडावन है ॥ ५४ ॥ उसमें दिव्य वृक्षोंसे सम्पन्न एक अशोकवाटिका है। उसके बीचों-बीचमें एक अति विशाल शिंशपा (सीसमका) वृक्ष है ॥ ५५ ॥ श्रीजानकीजी वहींपर भयंकर राक्षसियोंके पहरेमें रहती हैं। तुम उनका दर्शन कर शीघ्र ही श्रीरघुनाथजीको उनका समाचार सुनाओ ॥ ५६ ॥ आज बहुत दिनोंमें मुझे श्रीरामचन्द्रजीकी संसार-बन्धनको नष्ट करनेवाली स्मृति हुई है और उनके भक्तका अति दुर्लभ सङ्ग प्राप्त हुआ है। अतः आज मैं धन्य हूँ। मेरे हृदयमें विराजमान वे दशरथनन्दन राम मुझपर सदा प्रसन्न रहें'' ॥ ५७ ॥

पवननन्दन हनुमान्‌जीके समुद्र लाँघते ही पृथ्वीपुत्री श्रीसीताजी और रावणकी बायीं भुजा और बायें नेत्र तथा इन्द्रियातीत श्रीरामचन्द्रजीके दायें अङ्ग बड़े जोरसे फड़कने लगे ॥ ५८ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे सुन्दरकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीय सर्ग

हनुमान्‌जीका वाटिकामें जाना तथा रावणका सीताजीको भय दिखलाना

श्रीमहादेव उवाच

ततो जगाम हनुमान् लङ्कां परमशोभनाम्।
रात्रौ सूक्ष्मतनुर्भूत्वा बभ्राम परितः पुरीम्॥ १॥

सीतान्वेषणकार्यार्थी प्रविवेश नृपालयम्।
तत्र सर्वप्रदेशेषु विविच्य हनुमान्कपिः॥ २॥

नापश्यज्जानकीं स्मृत्वा ततो लङ्काभिभाषितम्।
जगाम हनुमान् शीघ्रमशोकवनिकां शुभाम्॥ ३॥

सुरपादपसम्बाधां रत्नसोपानवापिकाम्।
नानापक्षिमृगाकीर्णां स्वर्णप्रासादशोभिताम्॥ ४॥

फलैरानम्रशाखाग्रपादपैः परिवारिताम्।
विचिन्वन् जानकीं तत्र प्रतिवृक्षं मरुत्सुतः॥ ५॥

ददर्शाभ्रंलिहं तत्र चैत्यप्रासादमुत्तमम्।
दृष्ट्वा विस्मयमापन्नो मणिस्तम्भशतान्वितम्॥ ६॥

समतीत्य पुनर्गत्वा किञ्चिद्दूरं स मारुतिः।
ददर्श शिंशपावृक्षमत्यन्तनिविडच्छदम्॥ ७॥

अदृष्टातपमाकीर्णं स्वर्णवर्णविहङ्गमम्।
तन्मूले राक्षसीमध्ये स्थितां जनकनन्दिनीम्॥ ८॥

ददर्श हनुमान् वीरो देवतामिव भूतले।
एकवेणीं कृशां दीनां मलिनाम्बरधारिणीम्॥ ९॥

भूमौ शयानां शोचन्तीं रामरामेति भाषिणीम्।
त्रातारं नाधिगच्छन्तीमुपवासकृशां शुभाम्॥ १०॥

शाखान्तच्छदमध्यस्थो ददर्श कपिकुञ्जरः।
कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं दृष्ट्वा जनकनन्दिनीम्॥ ११॥

मयैव साधितं कार्यं रामस्य परमात्मनः।
ततः किलकिलाशब्दो बभूवान्तःपुराद्बहिः॥ १२॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! तदनन्तर श्रीहनुमान्‌जी अति सुशोभिता लंकापुरीमें गये और सूक्ष्म शरीर धारण कर रात्रिमें नगरमें सब ओर घूमते रहे॥ १॥ सीताजीका पता लगानेके लिये वे राजमन्दिरमें घुस गये, वहाँ सब ओर ढूँढ़नेपर भी जब उन्हें जानकीजी न मिलीं तो उन्हें लंकिनीका कथन याद आया और वे तुरंत ही अति मनोज्ञ अशोकवाटिकामें पहुँचे॥ २-३॥ वह वाटिका कल्पवृक्षोंसे पूर्ण थी, उसकी बावड़ियोंकी सीढ़ियाँ रत्नजटित थीं, उसमें नाना प्रकारके पक्षी और मृगगण विचर रहे थे तथा सुवर्णनिर्मित महलोंकी अपूर्व शोभा थी॥ ४॥ वह वाटिका फलोंके भारसे झुकी हुई शाखाओंवाले वृक्षोंसे घिरी हुई थी। वहाँ प्रत्येक वृक्षके नीचे जानकीजीको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पवननन्दन हनुमान्‌जीने एक अति सुन्दर देवालय देखा। वह इतना ऊँचा था कि उसके शिखर बादलोंसे टकराते थे। सैकड़ों मणिमय-स्तम्भोंसे युक्त उस देवालयको देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ॥ ५-६॥ उससे कुछ और आगे बढ़े तो उन्होंने एक अत्यन्त घने पत्तोंवाला शिंशपा (सीसमका) वृक्ष देखा॥ ७॥ उसके नीचे धूप कभी नहीं जाती थी और वह सुनहरी पक्षियोंसे आकीर्ण था। वीरवर हनुमान्‌जीने देखा कि उस वृक्षके नीचे श्रीजानकीजी पृथ्वीपर स्थित देवताके समान राक्षसियोंसे घिरी हुई बैठी हैं। उनके बालोंकी जुड़कर एक वेणी हो गयी है, वे अत्यन्त दुर्बल और दीन-अवस्थामें हैं तथा मैले-कुचैले वस्त्र धारण किये हुए हैं॥ ८-९॥ ऐसी अवस्थामें पृथ्वीपर पड़ी हुई वे अतिशोकपूर्वक 'राम-राम' कह रही हैं। उन्हें अपना कोई रक्षक भी दिखायी नहीं देता और वे उपवास करनेसे अति दुर्बल हो गयी हैं॥ १०॥

कपिश्रेष्ठ श्रीहनुमान्‌जी शाखाओंके पत्तोंमें छिपकर उन्हें देखने लगे और मन-ही-मन कहने लगे कि 'आज जानकीजीको देखकर मैं कृतार्थ हो गया, कृतार्थ हो गया! अहा! परमात्मा रामका कार्य मेरे ही द्वारा सिद्ध हुआ।' इसी समय अन्तःपुरमेंसे बड़े किलकिला शब्दकी आवाज

किमेतदिति सँल्लीनो वृक्षपत्रेषु मारुतिः।
आयान्तं रावणं तत्र स्त्रीजनैः परिवारितम्॥ १३॥

दशास्यं विंशतिभुजं नीलाञ्जनचयोपमम्।
दृष्ट्वा विस्मयमापन्नः पत्रखण्डेष्वलीयत॥ १४॥

रावणो राघवेणाशु मरणं मे कथं भवेत्।
सीतार्थमपि नायाति रामः किं कारणं भवेत्॥ १५॥

इत्येवं चिन्तयन्नित्यं राममेव सदा हृदि।
तस्मिन्दिनेऽपररात्रौ रावणो राक्षसाधिपः॥ १६॥

स्वप्ने रामेण सन्दिष्टः कश्चिदागत्य वानरः।
कामरूपधरः सूक्ष्मो वृक्षाग्रस्थोऽनुपश्यति॥ १७॥

इति दृष्ट्वाद्भुतं स्वप्नं स्वात्मन्येवानुचिन्त्य सः।
स्वप्नः कदाचित्सत्यः स्यादेवं तत्र करोम्यहम्॥ १८॥

जानकीं वाक्शरैर्विद्ध्वा दुःखितां नितरामहम्।
करोमि दृष्ट्वा रामाय निवेदयतु वानरः॥ १९॥

इत्येवं चिन्तयन्सीतासमीपमगमद्द्रुतम्।
नूपुराणां किङ्किणीनां श्रुत्वा शिञ्जितमङ्गना॥ २०॥

सीता भीता लीयमाना स्वात्मन्येव सुमध्यमा।
अधोमुख्यश्रुनयना स्थिता रामार्पितान्तरा॥ २१॥

रावणोऽपि तदा सीतामालोक्याह सुमध्यमे।
मां दृष्ट्वा किं वृथा सुभ्रु स्वात्मन्येव विलीयसे॥ २२॥

रामो वनचराणां हि मध्ये तिष्ठति सानुजः।
कदाचिद्दृश्यते कैश्चित्कदाचिन्नैव दृश्यते॥ २३॥

मया तु बहुधा लोकाः प्रेषितास्तस्य दर्शने।
न पश्यन्ति प्रयत्नेन वीक्षमाणाः समन्ततः॥ २४॥

किं करिष्यसि रामेण निःस्पृहेण सदा त्वयि।
त्वया सदालिङ्गितोऽपि समीपस्थोऽपि सर्वदा॥ २५॥

आयी॥ ११-१२॥ तब हनुमान्‌जीने यह सोचकर कि 'यह क्या गड़बड़ है' वृक्षके पत्तोंमें छिपे-छिपे देखा कि स्त्रियोंसे घिरा हुआ रावण उसी ओर आ रहा है॥ १३॥ उसके दस मुख, बीस भुजा और कज्जल-समूहके समान काले शरीरको देखकर हनुमान्‌जीको बड़ा विस्मय हुआ और वे पत्तोंमें छिप गये॥ १४॥

रावणको सदा यही चिन्ता रहती थी कि 'किस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे जल्दी-से-जल्दी मेरा मरण हो, न जाने क्या कारण है कि वे अभीतक सीताके लिये भी नहीं आये?' इस प्रकार निरन्तर भगवान् रामका ही हृदयमें स्मरण रहनेसे राक्षसराज रावणने उसी दिन शेषरात्रिमें स्वप्नमें देखा कि रामका सन्देश लेकर आया हुआ कोई स्वेच्छारूपधारी वानर सूक्ष्म शरीरसे वृक्षकी शाखापर बैठा हुआ देख रहा है॥ १५—१७॥ इस अद्भुत स्वप्नको देखकर उसने अपने मनमें सोचा—'कदाचित् यह स्वप्न ठीक ही हो; अतः अब अशोकवनमें चलकर मुझे एक काम करना चाहिये—मैं जानकीजीको अपने वाग्बाणोंसे बेधकर अत्यन्त दुःखी करूँ, जिससे वह वानर यह सब देखकर रामचन्द्रजीको सुनावे'॥ १८-१९॥

यह सोचकर वह तुरंत सीताजीके पास चला। (उसके साथकी स्त्रियोंके) नूपुर (पायजेब) और किंकिणी (करधनी) आदिकी झनकार सुनकर सुन्दर कटिवाली कल्याणी सीताजी घबड़ाकर अपने शरीरको सिकोड़ नीचेको मुख करके बैठ गयीं। उस समय उनके नेत्रोंमें जल भर आया और हृदय भगवान् राममें लग गया॥ २०-२१॥ सीताजीको देखकर रावण बोला—"हे कमनीय कटि और सुन्दर भृकुटिवाली! तू मुझे देखकर वृथा क्यों इतनी सिकुड़ती है?॥ २२॥ अब, राम तो अपने भाईके साथ वनचरोंमें रहता है, वह कभी तो किसीको दिखायी देता है और कभी दिखायी भी नहीं देता॥ २३॥ मैंने तो उसे देखनेके लिये कितने ही लोग भेजे, किन्तु बहुत प्रयत्नपूर्वक सब ओर देखनेपर भी वह उनको कहीं दिखायी नहीं दिया॥ २४॥ अब रामसे तुझे क्या काम है? वह तो तुझसे सदा उदासीन रहता है। सदा तेरे पास रहते हुए और सदा तुझसे आलिंगित होते हुए भी

हृदयेऽस्य न च स्नेहस्त्वयि रामस्य जायते ।
त्वत्कृतान्सर्वभोगांश्च त्वद्गुणानपि राघवः ॥ २६ ॥

भुञ्जानोऽपि न जानाति कृतघ्नो निर्गुणोऽधमः ।
त्वमानीता मया साध्वी दुःखशोकसमाकुला ॥ २७ ॥

इदानीमपि नायाति भक्तिहीनः कथं व्रजेत् ।
निःसत्त्वो निर्ममो मानी मूढः पण्डितमानवान् ॥ २८ ॥

नराधमं त्वद्विमुखं किं करिष्यसि भामिनि ।
त्वय्यतीव समासक्तं मां भजस्वासुरोत्तमम् ॥ २९ ॥

देवगन्धर्वनागानां यक्षकिन्नरयोषिताम् ।
भविष्यसि नियोक्त्री त्वं यदि मां प्रतिपद्यसे ॥ ३० ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा सीतामर्षसमन्विता ।
उवाचाधोमुखी भूत्वा निधाय तृणमन्तरे ॥ ३१ ॥

राघवाद्बिभ्यता नूनं भिक्षुरूपं त्वया धृतम् ।
रहिते राघवाभ्यां त्वं शुनीव हविरध्वरे ॥ ३२ ॥

हृतवानसि मां नीच तत्फलं प्राप्स्यसेऽचिरात् ।
यदा रामशराघातविदारितवपुर्भवान् ॥ ३३ ॥

उसके हृदयमें अभीतक तेरे प्रति स्नेह नहीं हुआ । रामको तुझसे जितने भोग प्राप्त हुए हैं और तुझमें जितने गुण हैं उन सबको भोगकर भी वह कृतघ्न, गुणहीन और अधम कभी उनकी याद भी नहीं करता । देखो, मैं तुम्हें हर ले आया, तुम उसकी सुशीला पत्नी हो और इस समय दुःख-शोकसे व्याकुल हो रही हो तो भी वह अभीतक नहीं आया; जब उसे तुझमें प्रेम ही नहीं है तो आता कैसे ? वह सर्वथा असमर्थ, ममताशून्य, अभिमानी, मूर्ख और अपनेको बड़ा बुद्धिमान् माननेवाला है ॥ २५-२८ ॥ हे भामिनि ! अपनेसे उदासीन उस नराधमसे तुझे क्या लेना है ?* देख, मैं राक्षसश्रेष्ठ तुझसे अत्यन्त प्रेम करता हूँ, अतः तू मुझे ही अंगीकार कर ॥ २९ ॥ यदि तू मेरे अधीन रहेगी तो देव, गन्धर्व, नाग, यक्ष और किन्नर आदिकी स्त्रियोंका शासन करेगी" ॥ ३० ॥

रावणके ये वचन सुनकर सीताजीको बड़ा क्रोध हुआ । उन्होंने सिर नीचा कर लिया और बीचमें तृण रखकर † कहा ॥ ३१ ॥ "अरे नीच ! इसमें सन्देह नहीं, श्रीरघुनाथजीसे डरकर ही तूने भिक्षुका रूप धारण किया था और उन दोनों रघुश्रेष्ठोंकी अनुपस्थितिमें ही, कुत्ता जिस प्रकार सूनी यज्ञशालासे हवि ले जाता है उसी प्रकार तू मुझे हर लाया है; सो बहुत शीघ्र ही उसका फल पायेगा । जिस समय भगवान् रामकी बाणवर्षासे विदीर्ण

* यहाँ २३ से २८ श्लोकतक रावणने गूढ़भावसे निन्दाके मिषसे भगवान् रामकी स्तुति की है । इनका तात्पर्य इस प्रकार है— राम अपने भाईके सहित वनवासी तपस्वियोंमें रहते हैं । उनमेंसे वे (ध्यान-धारणादिद्वारा) कभी किसीको दिखायी देते हैं और कभी (ध्यान-धारणासे भी) दिखायी नहीं देते ॥ २३ ॥ मैंने तो उनका साक्षात्कार करनेके लिये कई बार अपनी इन्द्रियोंको उधर लगाया है, किन्तु बहुत कुछ प्रयत्न करनेपर भी मुझे उनका साक्षात्कार नहीं हुआ ॥ २४ ॥ (तुम साक्षात् योगमाया हो, परब्रह्मरूप रामके साथ तुम्हारा सदा सहवास है और उसके साथ तादात्म्य भी है किन्तु) फिर भी वह सर्वदा निःस्पृह और असंग है । उसे तुम्हारी परवा नहीं है ॥ २५ ॥ निःस्पृह और असंग होनेसे परब्रह्मरूप रामको तुम मायारूपिणीसे बन्धन भी नहीं होता और न वह तुम्हारे (मायाके) गुण या भोगोंमें ही फँसता है ॥ २६ ॥ सांख्यवादीगण (उपचारसे) उसे भोक्ता भी कहते हैं तथापि उन्हींके मतानुसार 'जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इस श्रुतिके अनुसार वह 'मैं भोक्ता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं करता । इसी प्रकार वह कृतघ्न (किये हुए कर्मोंका नाश करनेवाला), निर्गुण (सत्त्व, रज, तमसे रहित) और अधम (न धमति शब्दविषयो भवति—जो शब्दका विषय न हो अर्थात् अशब्द) भी है ॥ २७ ॥ उसकी मायापर प्रीति नहीं है इसलिये वह अभीतक नहीं आया । इससे रावण अपनेको लक्ष्य करके कहता है कि वह अब भी मेरे हृदयमें नहीं आता, क्योंकि भक्तिहीन होनेसे मेरा हृदय उसतक कैसे पहुँच सकता है ? वह निर्गुण, ममतारहित, अमानी, मूढ़ (म्=शिवः+उः=ब्रह्मा ताभ्याम् ऊढः—ध्यानविषयत्रीतः अर्थात् शिव और ब्रह्माके ध्येय) और विद्वानोंमें सम्मानित है ॥ २८ ॥ नराधम (नराः अधमाः यस्मात् स नराधमः मनुष्य जिससे अधम हैं अर्थात् पुरुषोत्तम), विमुख (माया-पराङ्मुख) ।

† पतिव्रता स्त्रीको पर-पुरुषसे प्रत्यक्ष वार्तालाप नहीं करना चाहिये । यदि कोई अनिवार्य प्रसंग आ पड़े तो भी कोई जड वस्तु ही बीचमें रख लेनी चाहिये । इस नियमके अनुसार ही सीताजीने बीचमें तृण रखा था ।

ज्ञास्यसेऽमानुषं रामं गमिष्यसि यमान्तिकम्।
समुद्रं शोषयित्वा वा शरैर्बद्ध्वाथ वारिधिम्॥ ३४॥

हन्तुं त्वां समरे रामो लक्ष्मणेन समन्वितः।
आगमिष्यत्यसन्देहो द्रक्ष्यसे राक्षसाधम॥ ३५॥

त्वां सपुत्रं सहबलं हत्वा नेष्यति मां पुरम्।
श्रुत्वा रक्षःपतिः क्रुद्धो जानक्याः परुषाक्षरम्॥ ३६॥

वाक्यं क्रोधसमाविष्टः खड्गमुद्यम्य सत्वरः।
हन्तुं जनकराजस्य तनयां ताम्रलोचनः॥ ३७॥

मन्दोदरी निवार्याह पतिं पतिहिते रता।
त्यजैनां मानुषीं दीनां दुःखितां कृपणां कृशाम्॥ ३८॥

देवगन्धर्वनागानां बह्व्यः सन्ति वराङ्गनाः।
त्वामेव वरयन्त्युच्चैर्मदमत्तविलोचनाः॥ ३९॥

ततोऽब्रवीद्दशग्रीवो राक्षसीर्विकृताननाः।
यथा मे वशगा सीता भविष्यति सकामना।
तथा यतध्वं त्वरितं तर्जनादरणादिभिः॥ ४०॥

द्विमासाभ्यन्तरे सीता यदि मे वशगा भवेत्।
तदा सर्वसुखोपेता राज्यं भोक्ष्यति सा मया॥ ४१॥

यदि मासद्वयादूर्ध्वं मच्छय्यां नाभिनन्दति।
तदा मे प्रातराशाय हत्वा कुरुत मानुषीम्॥ ४२॥

इत्युक्त्वा प्रययौ स्त्रीभी रावणोऽन्तःपुरालयम्।
राक्षस्यो जानकीमेत्य भीषयन्त्यः स्वतर्जनैः॥ ४३॥

तत्रैका जानकीमाह यौवनं ते वृथा गतम्।
रावणेन समासाद्य सफलं तु भविष्यति॥ ४४॥

अपरा चाह कोपेन किं विलम्बेन जानकि।
इदानीं छेद्यतामङ्गं विभज्य च पृथक् पृथक्॥ ४५॥

अन्या तु खड्गमुद्यम्य जानकीं हन्तुमुद्यता।
अन्या करालवदना विदार्यास्यमभीषयत्॥ ४६॥

होकर तू यमलोकको जायगा, उस समय ही तू अमानव रामको जानेगा। अरे राक्षसाधम! इसमें सन्देह नहीं; तू शीघ्र ही देखेगा कि तुझे युद्धमें मारनेके लिये भाई लक्ष्मणसहित भगवान् राम समुद्रको सुखाकर अथवा उसपर बाणोंका पुल बनाकर यहाँ आयेंगे॥ ३२—३५॥ और तुझे पुत्र और सेनाके सहित मारकर मुझे अयोध्यापुरी ले जायेंगे।''

जानकीजीके ये कठोर वचन सुनकर राक्षसराज रावणको अत्यन्त क्रोध हुआ और वह क्रोधसे नेत्र लाल कर तुरंत ही खड्ग खींचकर जनकनन्दिनी सीताजीको मारनेपर उतारू हो गया॥ ३६-३७॥ तब, पतिके हितमें तत्पर रहनेवाली महारानी मन्दोदरीने अपने पतिको रोकते हुए कहा—''पतिदेव! इस दीना, क्षीणा, दुःखिया एवं कातर मानवीको छोड़ दीजिये॥ ३८॥ आपके लिये तो देवता, गन्धर्व और नागादिकोंकी ऐसी अनेकों मदमत्तनयना मनोहारिणी महिलाएँ हैं, जो बड़े चावसे आपहीको वरण करना चाहती हैं''॥ ३९॥

तब रावणने बहुत-सी विकराल वदनवाली राक्षसियोंसे कहा—''हे निशाचरियो! भय अथवा आदर जिस उपायसे भी सीता कामनायुक्त होकर शीघ्र ही मेरे अधीन हो जाय, तुम सब लोग वही करो॥ ४०॥ यदि दो महीनेके भीतर वह मेरे वशीभूत हो जायगी तो सर्व-सुख-सम्पन्न होकर वह मेरे साथ राज्य भोगेगी॥ ४१॥ और यदि दो महीनेतक भी यह मेरी शय्यापर आना स्वीकार न करे तो इस मानवीको मारकर मेरा प्रातःकालका कलेवा बना देना''॥ ४२॥

ऐसा कह रावण अपनी स्त्रियोंके साथ अन्तःपुरको चला गया और राक्षसियाँ सीताजीके पास आकर उन्हें अपने-अपने उपायोंसे भयभीत करने लगीं॥ ४३॥ उनमेंसे एक बोली—''जानकि! तेरा यौवन वृथा ही गया, यदि तू रावणका सहवास करे तो यह सफल हो जाय''॥ ४४॥ दूसरीने क्रोध दिखाते हुए कहा—''जानकि! अब (हमारी बात माननेमें) देर क्यों करती है?' इसी प्रकार कोई खड्ग निकालकर जानकीजीको मारनेके लिये तैयार होकर बोली कि ''इसके अंगोंको काटकर अभी अलग-अलग कर डालो।'' तथा कोई भयंकर मुखवाली राक्षसी अपना मुख फाड़कर डराने

एवं तां भीषयन्तीस्ता राक्षसीर्विकृताननाः ।
निवार्य त्रिजटा वृद्धा राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

शृणुध्वं दुष्टराक्षस्यो मद्वाक्यं वो हितं भवेत् ॥ ४८ ॥

न भीषयध्वं रुदतीं नमस्कुरुत जानकीम् ।
इदानीमेव मे स्वप्ने रामः कमललोचनः ॥ ४९ ॥

आरुह्यैरावतं शुभ्रं लक्ष्मणेन समागतः ।
दग्ध्वा लङ्कापुरीं सर्वां हत्वा रावणमाहवे ॥ ५० ॥

आरोप्य जानकीं स्वाङ्के स्थितो दृष्टोऽगमूर्धनि ।
रावणो गोमयह्रदे तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः ॥ ५१ ॥

अगाहत्पुत्रपौत्रैश्च कृत्वा वदनमालिकाम् ।
विभीषणस्तु रामस्य सन्निधौ हृष्टमानसः ॥ ५२ ॥

सेवां करोति रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुतः ।
सर्वथा रावणं रामो हत्वा सकुलमञ्जसा ॥ ५३ ॥

विभीषणायाधिपत्यं दत्त्वा सीतां शुभाननाम् ।
अङ्के निधाय स्वपुरीं गमिष्यति न संशयः ॥ ५४ ॥

त्रिजटाया वचः श्रुत्वा भीतास्ता राक्षसस्त्रियः ।
तूष्णीमासंस्तत्र तत्र निद्रावशमुपागताः ॥ ५५ ॥

तर्जिता राक्षसीभिः सा सीता भीतातिविह्वला ।
त्रातारं नाधिगच्छन्ती दुःखेन परिमूर्च्छिता ॥ ५६ ॥

अश्रुभिः पूर्णनयना चिन्तयन्तीदमब्रवीत् ।
प्रभाते भक्षयिष्यन्ति राक्षस्यो मां न संशयः ।
इदानीमेव मरणं केनोपायेन मे भवेत् ॥ ५७ ॥

एवं सुदुःखेन परिप्लुता सा
विमुक्तकण्ठं रुदती चिराय ।
आलम्ब्य शाखां कृतनिश्चया मृतौ
न जानती कञ्चिदुपायमङ्गना ॥ ५८ ॥

लगी ॥ ४५-४६ ॥ तब सीताजीको इस प्रकार डराती हुई उन विकृतवदना राक्षसियोंको रोककर त्रिजटा नामकी एक वृद्धा राक्षसी बोली— ॥ ४७ ॥ "अरी दुष्टा राक्षसियो ! मेरी बात सुनो, इसीसे तुम्हारा हित होगा ॥ ४८ ॥ तुम इन रोती-बिलखती जानकीजीको मत डराओ, बल्कि इन्हें नमस्कार करो। मैंने अभी-अभी स्वप्नमें देखा है कि कमललोचन भगवान् राम लक्ष्मणके साथ श्वेत ऐरावत हाथीपर चढ़कर आये हैं और मैंने उन्हें सम्पूर्ण लंकापुरीको जलाकर तथा रावणको युद्धमें मारकर सीताजीको अपनी गोदमें लिये पर्वत-शिखरपर बैठे हुए देखा है। रावण गलेमें मुण्डमाला पहने, शरीरमें तैल लगाये, नंगा होकर अपने पुत्र-पौत्रोंके साथ गोबरके कुण्डमें डुबकी लगा रहा है और विभीषण प्रसन्नचित्तसे रघुनाथजीके पास बैठा हुआ अति भक्तिपूर्वक उनकी चरण-सेवा कर रहा है। इससे निश्चय होता है कि रामचन्द्रजी अनायास ही रावणका कुलसहित नाश कर विभीषणको लंकाका राज्य देंगे और सुमुखी सीताको गोदमें बिठाकर निस्सन्देह अपने नगरको चले जायेंगे' ॥ ४९—५४ ॥

त्रिजटाके ये वचन सुनकर राक्षसियाँ डर गयीं। वे चुपचाप जहाँ-तहाँ बैठ गयीं और कुछ देर पीछे उन्हें नींद आ गयी ॥ ५५ ॥ राक्षसियोंके डरानेसे सीताजी अत्यन्त भयभीत और विह्वल हो गयीं और अपना कोई सहायक न देखकर वे दुःखसे मूर्च्छित हो गयीं ॥ ५६ ॥ फिर आँखोंमें आँसू भरकर अति चिन्ताकुल होकर इस प्रकार कहने लगीं—"इसमें सन्देह नहीं, प्रातःकाल होते ही राक्षसियाँ मुझे खा जायँगी। ऐसा कौन उपाय है जिससे मुझे अभी मौत आ जाय" ॥ ५७ ॥ इस प्रकार मौतका निश्चय करके भी उसका कोई साधन न देखकर कल्याणी सीता वृक्षकी शाखा पकड़े हुए अत्यन्त दुःखसे भरकर बहुत देरतक फूट-फूटकर रोती रहीं ॥ ५८ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे सुन्दरकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीय सर्ग

जानकीजीसे भेंट, वाटिका-विध्वंस और ब्रह्मपाश-बन्धन

श्रीमहादेव उवाच

उद्बन्धनेन वा मोक्ष्ये शरीरं राघवं विना।
जीवितेन फलं किं स्यान्मम रक्षोऽधिमध्यतः॥ १॥
दीर्घा वेणी ममात्यर्थमुद्बन्धाय भविष्यति।
एवं निश्चितबुद्धिं तां मरणायाथ जानकीम्॥ २॥
विलोक्य हनुमान्किञ्चिद्विचार्यैतदभाषत।
शनैः शनैः सूक्ष्मरूपो जानक्याः श्रोत्रगं वचः॥ ३॥
इक्ष्वाकुवंशसम्भूतो राजा दशरथो महान्।
अयोध्याधिपतिस्तस्य चत्वारो लोकविश्रुताः॥ ४॥
पुत्रा देवसमाः सर्वे लक्षणैरुपलक्षिताः।
रामश्च लक्ष्मणश्चैव भरतश्चैव शत्रुहा॥ ५॥
ज्येष्ठो रामः पितुर्वाक्याद्दण्डकारण्यमागतः।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया भार्यया सह॥ ६॥
उवास गौतमीतीरे पञ्चवट्यां महामनाः।
तत्र नीता महाभागा सीता जनकनन्दिनी॥ ७॥
रहिते रामचन्द्रेण रावणेन दुरात्मना।
ततो रामोऽतिदुःखार्तो मार्गमाणोऽथ जानकीम्॥ ८॥
जटायुषं पक्षिराजमपश्यत्पतितं भुवि।
तस्मै दत्त्वा दिवं शीघ्रमृष्यमूकमुपागमत्॥ ९॥
सुग्रीवेण कृता मैत्री रामस्य विदितात्मनः।
तद्भार्याहारिणं हत्वा वालिनं रघुनन्दनः॥ १०॥
राज्येऽभिषिच्य सुग्रीवं मित्रकार्यं चकार सः।
सुग्रीवस्तु समानाप्य वानरान्वानरप्रभुः॥ ११॥
प्रेषयामास परितो वानरान्परिमार्गणे।
सीतायास्तत्र चैकोऽहं सुग्रीवसचिवो हरिः॥ १२॥
सम्पातिवचनाच्छीघ्रमुल्लङ्घ्य शतयोजनम्।
समुद्रं नगरीं लङ्कां विचिन्वञ्जानकीं शुभाम्॥ १३॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! इस प्रकार रोते-रोते सीताजीने सोचा—"अच्छा तो, मैं फाँसी लगाकर ही अपना शरीर क्यों न छोड़ दूँ? इन राक्षसियोंके बीचमें रहकर रघुनाथजीके बिना जीनेसे लाभ ही क्या है?॥ १॥ फाँसी लगानेके लिये मेरी लंबी बेणी पर्याप्त होगी।" जानकीजीको इस प्रकार मरनेका निश्चय करती देख सूक्ष्मरूपधारी श्रीहनुमान्‌जी हृदयमें कुछ विचारकर उनके कानोंमें पड़नेयोग्य धीमी वाणीसे शनैः-शनैः इस प्रकार कहने लगे॥ २-३॥ "इक्ष्वाकु-वंशमें उत्पन्न हुए अयोध्याधिपति महाराज दशरथ बड़े प्रतापी थे। उनके त्रिलोकीमें विख्यात चार पुत्र हुए। वे राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न चारों ही देवताओंके समान शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न हैं॥ ४-५॥ उनमेंसे बड़े भाई राम भ्राता लक्ष्मण और भार्या सीताके सहित अपने पिताकी आज्ञासे दण्डकारण्यमें आये थे। वे महामना वहाँ गौतमी नदीके तीरपर पञ्चवटी-आश्रममें रहते थे। उस आश्रमसे श्रीरामचन्द्रजीकी अनुपस्थितिमें दुरात्मा रावण महाभागा जनकनन्दिनी सीताजीको ले गया। तब अति शोकाकुल भगवान् रामने जानकीजीको इधर-उधर ढूँढ़ते हुए पृथ्वीपर पड़े पक्षिराज जटायुको देखा। उसे तुरंत ही दिव्यधाम पहुँचाकर वे ऋष्यमूक-पर्वतपर आये॥ ६—९॥ वहाँ आकर आत्मदर्शी भगवान् रामने सुग्रीवसे मित्रता की और उसकी स्त्रीका हरण करनेवाले दुष्ट वालीको मारकर उसे राज्यपदपर अभिषिक्त किया। इस प्रकार श्रीरघुनन्दनने मित्रका कार्य सिद्ध किया। वानरराज सुग्रीवने भी समस्त वानरोंको बुलाकर सब ओर सीताजीकी खोज करनेके लिये भेजा। उन्हींमेंसे एक मैं भी सुग्रीवका मन्त्री वानर हूँ। मैं सम्पातिके कथनानुसार सौ योजन समुद्र लाँघकर तुरंत लङ्कापुरीमें आया और यहाँ सर्वत्र शुभलक्षणा सीताजीको

शनैरशोकवनिकां विचिन्वञ् शिंशपातरुम्।
अद्राक्षं जानकीमत्र शोचन्तीं दुःखसम्प्लुताम्॥ १४॥

रामस्य महिषीं देवीं कृतकृत्योऽहमागतः।
इत्युक्त्वोपरराम‍ाथ मारुतिर्बुद्धिमत्तरः॥ १५॥

सीता क्रमेण तत्सर्वं श्रुत्वा विस्मयमाययौ।
किमिदं मे श्रुतं व्योम्नि वायुना समुदीरितम्॥ १६॥

स्वप्नो वा मे मनोभ्रान्तिर्यदि वा सत्यमेव तत्।
निद्रा मे नास्ति दुःखेन जानाम्येतत्कुतो भ्रमः॥ १७॥

येन मे कर्णपीयूषं वचनं समुदीरितम्।
स दृश्यतां महाभागः प्रियवादी ममाग्रतः॥ १८॥

श्रुत्वा तज्जानकीवाक्यं हनुमान्पत्रखण्डतः।
अवतीर्य शनैः सीतापुरतः समवस्थितः॥ १९॥

कलविङ्कप्रमाणाङ्गो रक्तास्यः पीतवानरः।
ननाम शनकैः सीतां प्राञ्जलिः पुरतः स्थितः॥ २०॥

दृष्ट्वा तं जानकी भीता रावणोऽयमुपागतः।
मां मोहयितुमायातो मायया वानराकृतिः॥ २१॥

इत्येवं चिन्तयित्वा सा तूष्णीमासीदधोमुखी।
पुनरप्याह तां सीतां देवि यत्त्वं विशङ्कसे॥ २२॥

नाहं तथाविधो मातस्त्यज शङ्कां मयि स्थिताम्।
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्य परमात्मनः॥ २३॥

सचिवोऽहं हरीन्द्रस्य सुग्रीवस्य शुभप्रदे।
वायोः पुत्रोऽहमखिलप्राणभूतस्य शोभने॥ २४॥

तच्छ्रुत्वा जानकी प्राह हनूमन्तं कृताञ्जलिम्।
वानराणां मनुष्याणां सङ्गतिर्घटते कथम्॥ २५॥

यथा त्वं रामचन्द्रस्य दासोऽहमिति भाषसे।
तामाह मारुतिः प्रीतो जानकीं पुरतः स्थितः॥ २६॥

ऋष्यमूकमगाद्रामः शबर्या नोदितः सुधीः।
सुग्रीवो ऋष्यमूकस्थो दृष्टवान् रामलक्ष्मणौ॥ २७॥

ढूँढ़ा। शनैः-शनैः अशोकवाटिकामें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मैंने यह शिंशपा वृक्ष देखा और यहाँ रामचन्द्रजीकी महारानी देवी जानकीजीको अतिक्लेशसे शोक करते पाया। इनके दर्शनसे मेरा यहाँ आना सफल हो गया।'' ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् श्रीहनुमान्‌जी मौन हो गये॥ १०—१५॥

क्रमशः ये सब बातें सुनकर सीताजीको बड़ा विस्मय हुआ और वे कहने लगीं, 'मैंने जो आकाशमें शब्द सुना है वह क्या वायुका उच्चारण किया हुआ है?॥ १६॥ अथवा स्वप्न या मेरे मनकी भ्रान्ति है? अथवा यह सब सत्य ही तो नहीं है, क्योंकि दुःखके कारण नींद तो मुझे आती नहीं, (फिर स्वप्न कैसे हो सकता है?) और मैं प्रत्यक्ष सुन रही हूँ इसलिये यह भ्रम भी कैसे हो सकता है? (अतः निश्चय ही यह सब यथार्थ है)॥ १७॥ सुतरां, जिसने मेरे कानोंको अमृतके समान प्रिय लगनेवाले ये वचन कहे हैं वह प्रियभाषी महाभाग मेरे सामने प्रकट हों'॥ १८॥

जानकीजीके ये वचन सुनकर हनुमान्‌जी शनैः-शनैः उस वृक्षके पत्र-भागसे उतरकर सीताजीके सामने खड़े हो गये॥ १९॥ उस समय उन्होंने अरुण वदन, पीतवर्ण और कलविंक (चटक) पक्षीके बराबर आकारवाले वानरके रूपसे धीरेसे सामने आकर सीताजीको हाथ जोड़कर प्रणाम किया॥ २०॥ उसे देखकर जानकीजीको यह भय हुआ कि मुझे फँसानेके लिये मायासे वानररूप धारणकर यह रावण ही आया है॥ २१॥ यह सोचकर वे चुपचाप नीचेको मुख किये बैठी रहीं। तब हनुमान्‌जीने सीताजीसे फिर कहा—''देवि! आप जैसी आशंका कर रही हैं मैं वह नहीं हूँ। हे मातः! मेरे विषयमें आपको जो शङ्का हो रही है उसे दूर करें। हे शुभप्रदे! मैं तो कोसलाधिपति परमात्मा रामका दास और वानरराज सुग्रीवका मन्त्री हूँ तथा हे शोभने! सम्पूर्ण जगत्‌के प्राणस्वरूप पवनदेवका मैं पुत्र हूँ''॥ २२—२४॥

यह सुनकर श्रीजानकीजीने हाथ बाँधे खड़े हुए हनुमान्‌जीसे कहा—''तुम जो कहते हो कि मैं श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ, सो भला वानर और मनुष्योंकी मित्रता कैसे हो सकती है?'' तब सामने खड़े हुए हनुमान्‌जीने प्रसन्न होकर जानकीजीसे कहा॥ २५-२६॥ शबरीकी प्रेरणासे परम बुद्धिमान् भगवान् राम ऋष्यमूक पर्वतपर आये। उस पर्वतपर बैठे हुए सुग्रीवने जब

भीतो मां प्रेषयामास ज्ञातुं रामस्य हृद्गतम्।
ब्रह्मचारिवपुर्धृत्वा गतोऽहं रामसन्निधिम्॥ २८॥

ज्ञात्वा रामस्य सद्भावं स्कन्धोपरि निधाय तौ।
नीत्वा सुग्रीवसामीप्यं सख्यं चाकरवं तयोः॥ २९॥

सुग्रीवस्य हृता भार्या वालिना तं रघूत्तमः।
जघानैकेन बाणेन ततो राज्येऽभ्यषेचयत्॥ ३०॥

सुग्रीवं वानराणां स प्रेषयामास वानरान्।
दिग्भ्यो महाबलान्वीरान्भवत्याः परिमार्गणे॥ ३१॥

गच्छन्तं राघवो दृष्ट्वा मामभाषत सादरम्॥ ३२॥

त्वयि कार्यमशेषं मे स्थितं मारुतनन्दन।
ब्रूहि मे कुशलं सर्वं सीतायै लक्ष्मणस्य च॥ ३३॥

अङ्गुलीयकमेतन्मे परिज्ञानार्थमुत्तमम्।
सीतायै दीयतां साधु मन्नामाक्षरमुद्रितम्॥ ३४॥

इत्युक्त्वा प्रददौ मह्यं कराग्रादङ्गुलीयकम्।
प्रयत्नेन मयानीतं देवि पश्याङ्गुलीयकम्॥ ३५॥

इत्युक्त्वा प्रददौ देव्यै मुद्रिकां मारुतात्मजः।
नमस्कृत्य स्थितो दूराद्बद्धाञ्जलिपुटो हरिः॥ ३६॥

दृष्ट्वा सीता प्रमुदिता रामनामाङ्कितां तदा।
मुद्रिकां शिरसा धृत्वा स्रवदानन्दनेत्रजा॥ ३७॥

कपे मे प्राणदाता त्वं बुद्धिमानसि राघवे।
भक्तोऽसि प्रियकारी त्वं विश्वासोऽस्ति तवैव हि॥ ३८॥

नो चेन्मत्सन्निधिं चान्यं पुरुषं प्रेषयेत्कथम्।
हनूमन्दृष्टमखिलं मम दुःखादिकं त्वया॥ ३९॥

सर्वं कथय रामाय यथा मे जायते दया।
मासद्वयावधि प्राणाः स्थास्यन्ति मम सत्तम॥ ४०॥

नागमिष्यति चेद्रामो भक्षयिष्यति मां खलः।
अतः शीघ्रं कपीन्द्रेण सुग्रीवेण समन्वितः॥ ४१॥

वानरानीकपैः सार्धं हत्वा रावणमाहवे।
सपुत्रं सबलं रामो यदि मां मोचयेत्प्रभुः॥ ४२॥

(दूरहीसे) राम और लक्ष्मणको आते देखा तो मनमें भय मानकर मुझे उनका आशय जाननेके लिये भेजा। तब मैं ब्रह्मचारीका वेष बनाकर रामजीके पास आया॥ २७-२८॥ और उनका शुद्ध भाव जानकर उन्हें कन्धेपर चढ़ा सुग्रीवके पास ले गया तथा (राम और सुग्रीव) दोनोंकी मित्रता करा दी॥ २९॥ सुग्रीवकी पत्नीको वालीने छीन लिया था। रघुनाथजीने उसे एक ही बाणसे मारकर सुग्रीवको वानरोंके राज्यपदपर अभिषिक्त कर दिया। तब सुग्रीवने आपकी खोजके लिये बड़े-बड़े वीर और पराक्रमी वानरोंको दिशा-विदिशाओंमें भेजा॥ ३०-३१॥ उस समय मुझे चलता देख श्रीरघुनाथजीने मुझसे आदरपूर्वक कहा॥ ३२॥ 'हे पवननन्दन! मेरा सब काम तुम्हारे ऊपर निर्भर है। तुम सीताजीसे मेरी और लक्ष्मणकी सब कुशल कहना॥ ३३॥ तथा अपनी पहचानके लिये मेरी यह उत्तम अँगूठी जिसपर मेरे नामके अक्षर खुदे हुए हैं, सीताजीको अति सावधानीसे दे देना'॥ ३४॥ ऐसा कहकर उन्होंने अपनी अँगुलीसे उतारकर वह अँगूठी मुझे दी। मैं उसे बड़ी सावधानीसे लाया हूँ। देवि! आप यह अँगूठी देखिये"॥ ३५॥ ऐसा कह हनुमान्‌जीने वह अँगूठी देवी जानकीजीको दे दी और नमस्कार कर हाथ जोड़े हुए दूर खड़े हो गये॥ ३६॥ उस रामनामाङ्किता मुद्रिकाको देखकर सीताजी अति आनन्दित हुईं और उसे सिरसे लगाकर नेत्रोंसे आनन्दाश्रु बहाने लगीं॥ ३७॥

तदनन्तर वे कहने लगीं—"कपिवर! तुम मेरे प्राणदाता हो। तुम बड़े ही बुद्धिमान् और रघुनाथजीके भक्त तथा प्रियकारी हो। मुझे निश्चय है, उनको भी तुम्हारा ही पूर्ण विश्वास है॥ ३८॥ यदि ऐसा न होता तो तुम पर-पुरुषको वे मेरे पास क्यों भेजते? हनुमन्! मेरी सारी आपदाएँ तुमने देख ही ली हैं॥ ३९॥ रामको ये सब बातें सुना देना जिससे उन्हें मुझपर दया उत्पन्न हो। हे साधुश्रेष्ठ! अब मेरे प्राण दो ही मास और रहेंगे॥ ४०॥ यदि इस बीचमें रघुनाथजी न आये तो यह दुष्ट मुझे खा जायगा। अतः यदि भगवान् राम वानरराज सुग्रीवके सहित अन्य वानरयूथपोंको लेकर तुरंत ही रावणको पुत्र और सेनाके सहित संग्राममें मारकर मुझे छुड़ायेंगे तो ही

तत्तस्य सदृशं वीर्यं वीर वर्णय वर्णितम् ।
यथा मां तारयेद्रामो हत्वा शीघ्रं दशाननम् ॥ ४३ ॥

तथा यतस्व हनुमन्वाचा धर्ममवाप्नुहि ।
हनूमानपि तामाह देवि दृष्टो यथा मया ॥ ४४ ॥

रामः सलक्ष्मणः शीघ्रमागमिष्यति सायुधः ।
सुग्रीवेण ससैन्येन हत्वा दशमुखं बलात् ॥ ४५ ॥

समानेष्यति देवि त्वामयोध्यां नात्र संशयः ।
तमाह जानकी रामः कथं वारिधिमाततम् ॥ ४६ ॥

तीर्त्वायास्यत्यमेयात्मा वानरानीकपैः सह ।
हनूमानाह मे स्कन्धावारुह्य पुरुषर्षभौ ॥ ४७ ॥

आयास्यतः ससैन्यश्च सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
विहायसा क्षणेनैव तीर्त्वा वारिधिमाततम् ॥ ४८ ॥

निर्दहिष्यति रक्षौघांस्त्वत्कृते नात्र संशयः ।
अनुज्ञां देहि मे देवि गच्छामि त्वरयान्वितः ॥ ४९ ॥

द्रष्टुं रामं सह भ्रात्रा त्वरयामि तवान्तिकम् ।
देवि किञ्चिदभिज्ञानं देहि मे येन राघवः ॥ ५० ॥

विश्वसेन्मां प्रयत्नेन ततो गन्ता समुत्सुकः ।
ततः किञ्चिद्विचार्याथ सीता कमललोचना ॥ ५१ ॥

विमुच्य केशपाशान्ते स्थितं चूडामणिं ददौ ।
अनेन विश्वसेद्रामस्त्वां कपीन्द्र सलक्ष्मणः ॥ ५२ ॥

अभिज्ञानार्थमन्यच्च वदामि तव सुव्रत ।
चित्रकूटगिरौ पूर्वमेकदा रहसि स्थितः ।
मदङ्के शिर आधाय निद्राति रघुनन्दनः ॥ ५३ ॥

ऐन्द्रः काकस्तदागत्य नखैस्तुण्डेन चासकृत् ।
मत्पादाङ्गुष्ठमारक्तं विददारामिषाशया ॥ ५४ ॥

ततो रामः प्रबुद्ध्याथ दृष्ट्वा पादं कृतव्रणम् ।
केन भद्रे कृतं चैतद्विप्रियं मे दुरात्मना ॥ ५५ ॥

उनका यह पुरुषार्थ ठीक होगा। और तभी तुम इस वर्णन किये पुरुषार्थका वर्णन करना। हे हनुमन्! तुम भी ऐसी युक्तिसे उनसे सब बातें कहना जिससे वे शीघ्र ही रावणको मारकर मेरा उद्धार करें। ऐसा करके तुम भी वाचिक पुण्य प्राप्त करो।''

तब हनुमान्‌जीने उनसे कहा—''देवि! मैंने जैसा कुछ देखा है उससे तो यही प्रतीत होता है कि लक्ष्मणके सहित श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र ही अस्त्र-शस्त्र लेकर सेनायुक्त सुग्रीवके सहित आयेंगे और रावणको बलपूर्वक मारकर तुम्हें अयोध्या ले जायेंगे। देवि! इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।''

इसपर जानकीजी कहने लगीं, ''भगवान् राम अमेयात्मा हैं, (उनके शरीरका कोई माप नहीं है, वे सर्वव्यापक हैं) किन्तु वानर-यूथपोंके साथ वे किस प्रकार समुद्रको पार करके यहाँ आयेंगे?'' हनुमान्‌जी बोले—''वे दोनों नरश्रेष्ठ मेरे कन्धोंपर चढ़कर आयेंगे और वानरराज सुग्रीव सेनासहित इस विस्तीर्ण समुद्रको आकाश-मार्गसे एक क्षणमें पारकर तुम्हें प्राप्त करनेके लिये सम्पूर्ण राक्षस-समूहको भस्म कर डालेंगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। हे देवि! अब मुझे आज्ञा दो; मैं अभी-अभी अनुजसहित भगवान् रामका दर्शन करनेके लिये जाता हूँ और उन्हें तुरंत तुम्हारे पास लानेका प्रयत्न करता हूँ! देवि! मुझे कोई ऐसा चिह्न दो जिससे श्रीरघुनाथजी मेरा विश्वास करें। उसे लेकर मैं बड़ी सावधानीसे उत्सुकतापूर्वक उनके पास जाऊँगा।''

तब कमललोचना सीताजीने कुछ सोच-विचारकर अपने केशपाशमें स्थित चूडामणिको निकाला और उसे हनुमान्‌जीको देकर कहा—'हे कपिवर! इससे भगवान् राम और लक्ष्मण तुम्हारा विश्वास करेंगे॥ ४१—५२॥ हे सुव्रत! उनको विश्वास दिलानेके लिये एक बात और बतलाती हूँ—एक दिन चित्रकूट पर्वतपर श्रीरघुनाथजी एकान्तमें मेरी गोदमें सिर रखे सो रहे थे॥ ५३॥ इसी समय इन्द्रका पुत्र (जयन्त) काक-वेषमें वहाँ आया और मांसके लोभसे मेरे पैरके लाल-लाल अँगूठेको अपनी चोंच तथा पंजोंसे फाड़ डाला॥ ५४॥ तदनन्तर जब श्रीरामचन्द्रजी जागे तो मेरे पैरमें घाव हुआ देखकर बोले—''प्रिये! किस दुरात्माने मेरा यह अप्रिय किया

इत्युक्त्वा पुरतोऽपश्यद्वायसं मां पुनः पुनः।
अभिद्रवन्तं रक्ताक्तनखतुण्डं चुकोप ह ॥ ५६ ॥

तृणमेकमुपादाय दिव्यास्त्रेणाभियोज्य तत्।
चिक्षेप लीलया रामो वायसोपरि तज्ज्वलत् ॥ ५७ ॥

अभ्यद्रवद्वायसश्च भीतो लोकान् भ्रमन्पुनः।
इन्द्रब्रह्मादिभिश्चापि न शक्यो रक्षितुं तदा ॥ ५८ ॥

रामस्य पादयोरग्रेऽपतद्भीत्या दयानिधेः।
शरणागतमालोक्य रामस्तमिदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

अमोघमेतदस्त्रं मे दत्त्वैकाक्षमितो व्रज।
सव्यं दत्त्वा गतः काक एवं पौरुषवानपि ॥ ६० ॥

उपेक्षते किमर्थं मामिदानीं सोऽपि राघवः।
हनूमानपि तामाह श्रुत्वा सीतानुभाषितम् ॥ ६१ ॥

देवि त्वां यदि जानाति स्थितामत्र रघूत्तमः।
करिष्यति क्षणाद्भस्म लङ्कां राक्षसमण्डिताम् ॥ ६२ ॥

जानकी प्राह तं वत्स कथं त्वं योत्स्यसेऽसुरैः।
अतिसूक्ष्मवपुः सर्वे वानराश्च भवादृशाः ॥ ६३ ॥

श्रुत्वा तद्वचनं देव्यै पूर्वरूपमदर्शयत्।
मेरुमन्दरसङ्काशं रक्षोगणविभीषणम् ॥ ६४ ॥

दृष्ट्वा सीता हनूमन्तं महापर्वतसन्निभम्।
हर्षेण महताविष्टा प्राह तं कपिकुञ्जरम् ॥ ६५ ॥

समर्थोऽसि महासत्त्व द्रक्ष्यन्ति त्वां महाबलम्।
राक्षस्यस्ते शुभः पन्था गच्छ रामान्तिकं द्रुतम् ॥ ६६ ॥

बुभुक्षितः कपिः प्राह दर्शनात्पारणं मम।
भविष्यति फलैः सर्वैस्तव दृष्टौ स्थितैर्हि मे ॥ ६७ ॥

है? ॥ ५५ ॥ वे यह कह ही रहे थे कि उन्होंने अपने सामने उस कौएको बारम्बार मेरी ओर आते देखा। उसकी चोंच और पंजे रुधिरसे सने हुए थे। उसे देखकर उन्हें बड़ा क्रोध हुआ ॥ ५६ ॥ उन्होंने तुरंत ही एक तृण उठाया और उसपर दिव्यास्त्रका प्रयोग करके उस प्रज्वलित अस्त्रको लीलासे ही उस कौएकी ओर फेंक दिया। तब वह काक भी भयभीत होकर भागा और त्रिलोकीमें भटकता फिरा; किन्तु जब इन्द्र, ब्रह्मा आदिसे भी उसकी रक्षा न हो सकी तो बहुत ही डरता-डरता दयानिधान भगवान् रामके चरणोंमें गिरा। उसे शरणागत देख श्रीरामचन्द्रजीने उससे कहा— ॥ ५७—५९ ॥ 'मेरा यह अस्त्र अमोघ है (यह कभी व्यर्थ नहीं जा सकता)। अतः तू केवल अपनी एक आँख देकर यहाँसे चला जा।' तब वह काक अपनी बायीं आँख देकर चला गया। जो ऐसे पुरुषार्थी हैं वे ही श्रीरघुनाथजी न जाने इस समय क्यों मेरी उपेक्षा कर रहे हैं?'

सीताजीका यह कथन सुनकर हनुमान्‌जीने कहा— "देवि! जिस समय श्रीरघुनाथजीको तुम्हारे यहाँ होनेका पता चलेगा उस समय इस राक्षस-मण्डल-मण्डिता लंकाको वे एक क्षणमें ही भस्म कर डालेंगे" ॥ ६०—६२ ॥

जानकीजीने कहा—"वत्स! तुम अत्यन्त सूक्ष्म शरीरवाले हो, अतः राक्षसोंसे कैसे लड़ सकोगे? और सब वानर भी तो तुम्हारे ही समान होंगे?" ॥ ६३ ॥

देवी जानकीजीके ये वचन सुनकर हनुमान्‌जीने उन्हें अपना पूर्वरूप दिखलाया जो मेरु और मन्दर पर्वतके समान अति विशाल और राक्षसोंको भय उत्पन्न करनेवाला था ॥ ६४ ॥ हनुमान्‌जीको महापर्वतके समान विशालकाय देखकर सीताजीको अपार आनन्द हुआ और वे उन कपिश्रेष्ठसे कहने लगीं— ॥ ६५ ॥ "हे महासत्त्व! तुम बड़े ही सामर्थ्यवान् हो; अच्छा, अब तुम शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीके पास जाओ; अन्यथा तुझ महाबली वीरको राक्षसियाँ देख लेंगी, तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो" ॥ ६६ ॥ हनुमान्‌जीको भूख लगी हुई थी। वे बोले—"देवि! आपका दर्शन कर चुका, अब मुझे

तथेत्युक्तः स जानक्या भक्षयित्वा फलं कपिः ।
ततः प्रस्थापितोऽगच्छज्जानकीं प्रणिपत्य सः ।
किञ्चिद्दूरमथो गत्वा स्वात्मन्येवान्वचिन्तयत् ॥ ६८ ॥

कार्यार्थमागतो दूतः स्वामिकार्याविरोधतः ।
अन्यत्किञ्चिदसम्पाद्य गच्छत्यधम एव सः ॥ ६९ ॥

अतोऽहं किञ्चिदन्यच्च कृत्वा दृष्ट्वाथ रावणम् ।
सम्भाष्य च ततो रामदर्शनार्थं व्रजाम्यहम् ॥ ७० ॥

इति निश्चित्य मनसा वृक्षखण्डान्महाबलः ।
उत्पाट्याशोकवनिकां निर्वृक्षामकरोत्क्षणात् ॥ ७१ ॥

सीताश्रयनगं त्यक्त्वा वनं शून्यं चकार सः ।
उत्पाटयन्तं विपिनं दृष्ट्वा राक्षसयोषितः ॥ ७२ ॥

अपृच्छञ् जानकीं कोऽसौ वानराकृतिरुद्भटः ॥ ७३ ॥

जानक्युवाच

भवत्य एव जानन्ति मायां राक्षसनिर्मिताम् ।
नाहमेनं विजानामि दुःखशोकसमाकुला ॥ ७४ ॥

इत्युक्तास्त्वरितं गत्वा राक्षस्यो भयपीडिताः ।
हनूमता कृतं सर्वं रावणाय न्यवेदयन् ॥ ७५ ॥

देव कश्चिन्महासत्त्वो वानराकृतिदेहभृत् ।
सीतया सह सम्भाष्य ह्यशोकवनिकां क्षणात् ।
उत्पाट्य चैत्यप्रासादं बभञ्जामितविक्रमः ॥ ७६ ॥

प्रासादरक्षिणः सर्वान्हत्वा तत्रैव तस्थिवान् ।
तच्छ्रुत्वा तूर्णमुत्थाय वनभङ्गं महाप्रियम् ॥ ७७ ॥

किङ्करान्प्रेषयामास नियुतं राक्षसाधिपः ।
निभग्नचैत्यप्रासादप्रथमान्तरसंस्थितः ॥ ७८ ॥

हनुमान्पर्वताकारो लोहस्तम्भकृतायुधः ।
किञ्चिल्लाङ्गूलचलनो रक्तास्यो भीषणाकृतिः ॥ ७९ ॥

आपतन्तं महासङ्घं राक्षसानां ददर्श सः ।
चकार सिंहनादं च श्रुत्वा ते मुमुहुर्भृशम् ॥ ८० ॥

आपके सामने लगे हुए फलोंसे पारण करना है'' ॥ ६७ ॥ तब जानकीजीके 'बहुत अच्छा' कहनेपर कपिवरने वे फल खाये और उनके विदा करनेपर उन्हें प्रणाम करके चल दिये। फिर कुछ दूर चलनेपर उन्होंने अपने मनमें सोचा ॥ ६८ ॥ ''जो दूत अपने स्वामीके कार्यके लिये आकर उसमें किसी प्रकारका विघ्न न करनेवाला कोई और कार्य न करके यों ही चला जाता है वह अधम ही है ॥ ६९ ॥ अतः मैं कुछ और भी करूँगा और रावणसे मिलकर तथा बातचीत कर फिर श्रीरघुनाथजीके दर्शनार्थ जाऊँगा'' ॥ ७० ॥

मनमें ऐसा निश्चय कर महाबली हनुमान्‌जीने वृक्षोंको उखाड़कर अशोकवाटिकाको एक क्षणमें ही वृक्षहीन कर दिया ॥ ७१ ॥ जिसके नीचे श्रीसीताजी बैठी थीं उस वृक्षको छोड़कर शेष समस्त वाटिकाको उन्होंने उजाड़ डाला। उन्हें वन उजाड़ते देख राक्षसियोंने जानकीजीसे पूछा, ''यह वानराकार विकट वीर कौन है ?'' ॥ ७२-७३ ॥

जानकीजी बोलीं—इस राक्षसी मायाको आप ही लोग जानें। दुःख और शोकसे आतुर मैं क्या जानूँ ? ॥ ७४ ॥ जानकीजीके इस प्रकार कहनेपर भयपीडिता राक्षसियोंने रावणके पास जा उसे हनुमान्‌जीकी सारी करतूत कह सुनायी ॥ ७५ ॥ वे कहने लगीं—''देव ! एक बड़े पराक्रमी वानराकार प्राणीने सीताजीसे सम्भाषण कर एक क्षणमें ही सारी अशोकवाटिका उजाड़ दी है। उस महापराक्रमीने मन्दिरके प्रासादको भी तोड़ डाला और उसके सब रक्षकोंको मारकर इस समय भी वह वहीं बैठा हुआ है।'' वनविध्वंसका यह महान् अप्रिय समाचार सुनकर राक्षसराज रावण तुरंत उठा और उसने दस लाख सेवकोंको भेजा। इधर, पर्वताकार हनुमान्‌जी लोहेके खम्भको शस्त्ररूपसे लिये हुए उस टूटे-फूटे मन्दिरके प्रथम भागमें बैठे थे। उनकी पूँछ कुछ-कुछ हिल रही थी, तथा मुख अरुणवर्ण और आकृति भयानक थी ॥ ७६—७९ ॥ राक्षसोंके समूहको आया देख उन्होंने घोर सिंहनाद किया,

हनूमन्तमथो दृष्ट्वा राक्षसा भीषणाकृतिम् ।
निर्जघ्नुर्विविधास्त्रौघैः सर्वराक्षसघातिनम् ॥ ८१ ॥

तत उत्थाय हनुमान्मुद्गरेण समन्ततः ।
निष्पिपेष क्षणादेव मशकानिव यूथपः ॥ ८२ ॥

निहतान्किङ्कराञ्श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
पञ्च सेनापतींस्तत्र प्रेषयामास दुर्मदान् ॥ ८३ ॥

हनूमानपि तान्सर्वांल्लोहस्तम्भेन चाहनत् ।
ततः क्रुद्धो मन्त्रिसुतान्प्रेषयामास सप्त सः ॥ ८४ ॥

आगतानपि तान्सर्वान्पूर्ववद्वानरेश्वरः ।
क्षणान्निःशेषतो हत्वा लोहस्तम्भेन मारुतिः ॥ ८५ ॥

पूर्वस्थानमुपाश्रित्य प्रतीक्षन् राक्षसान् स्थितः ।
ततो जगाम बलवान्कुमारोऽक्षः प्रतापवान् ॥ ८६ ॥

तमुत्पपात हनुमान् दृष्ट्वाकाशे समुद्गरः ।
गगनात्त्वरितो मूर्ध्नि मुद्गरेण व्यताडयत् ॥ ८७ ॥

हत्वा तमक्षं निःशेषं बलं सर्वं चकार सः ॥ ८८ ॥

ततः श्रुत्वा कुमारस्य वधं राक्षसपुङ्गवः ।
क्रोधेन महताविष्ट इन्द्रजेतारमब्रवीत् ॥ ८९ ॥

पुत्र गच्छाम्यहं तत्र यत्रास्ते पुत्रहा रिपुः ।
हत्वा तमथवा बद्ध्वा आनयिष्यामि तेऽन्तिकम् ॥ ९० ॥

इन्द्रजित्पितरं प्राह त्यज शोकं महामते ।
मयि स्थिते किमर्थं त्वं भाषसे दुःखितं वचः ॥ ९१ ॥

बद्ध्वानेष्ये द्रुतं तात वानरं ब्रह्मपाशतः ।
इत्युक्त्वा रथमारुह्य राक्षसैर्बहुभिर्वृतः ॥ ९२ ॥

जगाम वायुपुत्रस्य समीपं वीरविक्रमः ।
ततोऽतिगर्जितं श्रुत्वा स्तम्भमुद्यम्य वीर्यवान् ॥ ९३ ॥

उत्पपात नभोदेशं गरुत्मानिव मारुतिः ।
ततो भ्रमन्तं नभसि हनूमन्तं शिलीमुखैः ॥ ९४ ॥

जिसे सुनकर वे सब अत्यन्त स्तब्ध हो गये ॥ ८० ॥ फिर सम्पूर्ण राक्षसोंको मारनेवाले भीषणाकार हनुमान्‌जीको देखकर राक्षसोंने उनपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र छोड़े ॥ ८१ ॥ तदनन्तर, यूथपति गजराज जैसे मच्छरोंको मसल डालता है वैसे ही हनुमान्‌जीने उठकर अपने मुद्गरसे एक क्षणमें ही सबको चारों ओरसे पीस डाला ॥ ८२ ॥

अपने किङ्करोंका मरण सुनकर रावण क्रोधसे पागल हो गया और उसने वहाँ पाँच बड़े बाँके सेनापतियोंको (अपनी सेनाके साथ) भेजा ॥ ८३ ॥ हनुमान्‌जीने अपने लोह-स्तम्भसे तुरंत ही उन सबको मार डाला। तब उसने अति क्रोधित होकर सात मन्त्रिपुत्रोंको भेजा ॥ ८४ ॥ वानराधीश पवननन्दनने वहाँ आनेपर उन सबको भी पहलेकी भाँति एक क्षणमें ही उस लोहस्तम्भसे मार डाला ॥ ८५ ॥ और अपने पूर्वस्थानमें ही बैठकर अन्य राक्षसोंके आनेकी बाट देखने लगे। तब अति बलवान् और प्रतापशाली राजकुमार अक्ष आया ॥ ८६ ॥ उसे देखकर हनुमान्‌जी अपना मुद्गर लेकर आकाशमें उड़ गये और बड़े वेगसे ऊपरसे ही उसके मस्तकपर मुद्गरका प्रहार किया। इस प्रकार अक्षको मारकर उसकी सेनाका भी नामो-निशान मिटा दिया ॥ ८७-८८ ॥

राजकुमार अक्षके वधका वृत्तान्त पाकर राक्षसराज रावण अत्यन्त क्रोधमें भरकर इन्द्रजित्‌से बोला— "बेटा ! जहाँ मेरे पुत्रको मारनेवाला मेरा शत्रु है मैं वहाँ जाता हूँ और उसे मारकर या बाँधकर तेरे पास लाता हूँ" ॥ ८९-९० ॥ इन्द्रजित्‌ने पितासे कहा—"हे महामते ! शोक न कीजिये; मेरे रहते हुए आप ऐसे दुःखमय वचन क्यों बोलते हैं ? ॥ ९१ ॥ मैं उस वानरको शीघ्र ही ब्रह्मपाशमें बाँधकर लिये आता हूँ।" ऐसा कह वह महापराक्रमी वीर रथपर चढ़ा और बहुत-से राक्षसोंके साथ पवनपुत्र हनुमान्‌के पास पहुँचा। तब, वीर्यवान् हनुमान्‌जी भयङ्कर सिंहनाद सुन हाथमें स्तम्भ लिये गरुड़के समान आकाशमें उड़ गये। उन्हें आकाशमें उड़ते

विद्ध्वा तस्य शिरोभागमिषुभिश्चाष्टभिः पुनः ।
हृदयं पादयुगलं षड्भिरेकेन वालधिम् ॥ ९५ ॥
भेदयित्वा ततो घोरं सिंहनादमथाकरोत् ।
ततोऽतिहर्षाद्धनुमान् स्तम्भमुद्यम्य वीर्यवान् ॥ ९६ ॥
जघान सारथिं साश्वं रथं चाचूर्णयत्क्षणात् ।
ततोऽन्यं रथमादाय मेघनादो महाबलः ॥ ९७ ॥
शीघ्रं ब्रह्मास्त्रमादाय बद्ध्वा वानरपुङ्गवम् ।
निनाय निकटं राज्ञो रावणस्य महाबलः ॥ ९८ ॥

देख इन्द्रजित्‌ने आठ बाणोंसे उनके सिरको बींधा, फिर छः बाणोंसे उनके हृदय और दोनों चरणोंको तथा एकसे उनकी पूँछको बींधकर वह घोर सिंहनाद करने लगा। तब महाबलवान् हनुमान्‌जीने भी अति प्रसन्नतासे स्तम्भ उठाकर एक क्षणमें ही उसके सारथीको मार डाला और घोड़ोंके सहित उसके रथको चूर्ण कर दिया। तब महाबली मेघनाद (इन्द्रजित्) ने दूसरे रथपर चढ़कर तुरंत ही वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जीको ब्रह्मपाशसे बाँध लिया और उन्हें राक्षसराज रावणके पास ले गया॥ ९२—९८ ॥

यस्य नाम सततं जपन्ति ये-
ऽज्ञानकर्मकृतबन्धनं क्षणात् ।
सद्य एव परिमुच्य तत्पदं
यान्ति कोटिरविभासुरं शिवम् ॥ ९९ ॥
तस्यैव रामस्य पदाम्बुजं सदा
हृत्पद्ममध्ये सुनिधाय मारुतिः ।
सदैव निर्मुक्तसमस्तबन्धनः
किं तस्य पाशैरितैश्च बन्धनैः ॥ १०० ॥

जिनके नामका निरन्तर जप करनेवाले भक्तजन एक क्षणमें ही अज्ञानकृत बन्धनको काटकर करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान उनके परम कल्याणमय पदको तत्काल प्राप्त कर लेते हैं, उन्हीं भगवान् रामके चरणकमलोंको सदा अपने हृदयकमलमें धारण करनेसे हनुमान्‌जी सदा ही समस्त बन्धनोंसे छूटे हुए हैं। उनका ब्रह्मपाश अथवा और किसी बन्धनसे क्या हो सकता है ? ॥ ९९-१०० ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे सुन्दरकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थ सर्ग

हनुमान् और रावणका संवाद तथा लङ्कादहन

श्रीमहादेव उवाच

यान्तं कपीन्द्रं धृतपाशबन्धनं
विलोकयन्तं नगरं विभीतवत् ।
अताडयन्मुष्टितलैः सुकोपनाः
पौराः समन्तादनुयान्त ईक्षितुम् ॥ १ ॥
ब्रह्मास्त्रमेनं क्षणमात्रसङ्गमं
कृत्वा गतं ब्रह्मवरेण सत्वरम् ।
ज्ञात्वा हनूमानपि फल्गुरज्जुभि-
र्धृतो ययौ कार्यविशेषगौरवात् ॥ २ ॥
सभान्तरस्थस्य च रावणस्य तं
पुरो निधायाह बलारिजित्तदा ।
बद्धो मया ब्रह्मवरेण वानरः
समागतोऽनेन हता महासुराः ॥ ३ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! ब्रह्मपाशसे बँधे हुए श्रीहनुमान्‌जी जब डरे हुएके समान नगर देखते जा रहे थे, उस समय उन्हें देखनेके लिये इधर-उधरसे इकट्ठे हुए पुरवासी उनके पीछे-पीछे चलते हुए उन्हें क्रोधपूर्वक घूँसोंसे मारने लगे॥ १ ॥ ब्रह्माजीके वरके प्रभावसे ब्रह्मास्त्र हनुमान्‌जीके शरीरका क्षणभरके लिये स्पर्श कर तुरंत चला गया। यह बात जानकर भी श्रीहनुमान्‌जी विशेष कार्य सम्पादन करनेके लिये तुच्छ रस्सियोंसे ही बँधे हुए रावणके पास चले गये॥ २ ॥ तब इन्द्रजित् उन्हें सभामें स्थित रावणके सामने ले गया और बोला—"मैं इस वानरको ब्रह्माके वरके प्रभावसे बाँध लाया हूँ; इसीने हमारे बड़े-बड़े वीर राक्षस मारे हैं॥ ३ ॥ महाराज !

यद्युक्तमत्रार्य विचार्य मन्त्रिभि-
विंधीयतामेष न लौकिको हरिः ।
ततो विलोक्याह स राक्षसेश्वरः
प्रहस्तमग्रे स्थितमञ्जनाद्रिभम् ॥ ४ ॥

मन्त्रियोंके साथ विचारकर इसके लिये जैसा उचित समझें वैसा विधान करें। यह कोई साधारण वानर नहीं है।" तब राक्षसराज रावणने सामने बैठे हुए कज्जलगिरिके समान कृष्णवर्ण प्रहस्तसे कहा— ॥ ४ ॥

प्रहस्त पृच्छैनमसौ किमागतः
किमत्र कार्यं कुत एव वानरः ।
वनं किमर्थं सकलं विनाशितं
हताः किमर्थं मम राक्षसा बलात् ॥ ५ ॥

"प्रहस्त ! इस बंदरसे पूछो तो सही, यह यहाँ क्यों आया है ? इसका क्या कार्य है ? यह कहाँसे आया है ? इसने मेरा सारा वन क्यों उजाड़ डाला ? और मेरे राक्षस वीरोंको बलात् क्यों मारा ?" ॥ ५ ॥

ततः प्रहस्तो हनुमन्तमादरात्
पप्रच्छ केन प्रहितोऽसि वानर ।
भयं च ते मास्तु विमोक्ष्यसे मया
सत्यं वदस्वाखिलराजसन्निधौ ॥ ६ ॥

तब प्रहस्तने हनुमान्‌जीसे आदरपूर्वक पूछा—"वानर ! तुम्हें किसने भेजा है ? तुम डरो मत; राजराजेश्वरके सामने सब बात सच-सच बतला दो; फिर मैं तुम्हें छुड़ा दूँगा" ॥ ६ ॥

ततोऽतिहर्षात्पवनात्मजो रिपुं
निरीक्ष्य लोकत्रयकण्टकासुरम् ।
वक्तुं प्रचक्रे रघुनाथसत्कथां
क्रमेण रामं मनसा स्मरन्मुहुः ॥ ७ ॥

तब अपने शत्रु त्रिलोकीके कण्टकरूप राक्षसराज रावणको देखकर पवननन्दन हनुमान्‌जीने हृदयमें बारम्बार श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण कर अति हर्षित हो क्रमसे रघुनाथजीकी सुन्दर कथा कहनी आरम्भ की ॥ ७ ॥

शृणु स्फुटं देवगणाद्यमित्र हे
रामस्य दूतोऽहमशेषहृत्स्थितेः ।
यस्याखिलेशस्य हृताधुना त्वया
भार्या स्वनाशाय शुनेव सद्धविः ॥ ८ ॥

वे कहने लगे—"हे देवादिके शत्रु रावण ! तुम साफ-साफ सुनो; कुत्ता जिस प्रकार हविको चुरा ले जाता है उसी प्रकार तुमने अपना नाश करानेके लिये जिन अखिलेश्वरकी साध्वी भार्याको हर लिया है, मैं उन्हीं सर्वान्तर्यामी भगवान् रामका दूत हूँ ॥ ८ ॥

स राघवोऽभ्येत्य मतङ्गपर्वतं
सुग्रीवमैत्रीमनलस्य सन्निधौ ।
कृत्वैकबाणेन निहत्य वालिनं
सुग्रीवमेवाधिपतिं चकार तम् ॥ ९ ॥

उन श्रीरघुनाथजीने मतङ्गपर्वतपर आकर अग्निके साक्ष्यमें सुग्रीवसे मित्रता की और एक ही बाणसे वालीको मारकर सुग्रीवको वानरोंका राजा बना दिया ॥ ९ ॥

स वानराणामधिपो महाबली
महाबलैर्वानरयूथकोटिभिः ।
रामेण सार्धं सह लक्ष्मणेन भोः
प्रवर्षणेऽमर्षयुतोऽवतिष्ठते ॥ १० ॥

हे रावण ! इस समय वे महाबली वानरराज और भी करोड़ों महाशूरवीर वानर-यूथोंके साथ राम और लक्ष्मणके सहित अति क्रोधयुक्त हो प्रवर्षण पर्वतपर विराजमान हैं ॥ १० ॥

सञ्चोदितास्तेन महाहरीश्वरा
धरासुतां मार्गयितुं दिशो दश ।
तत्राहमेकः पवनात्मजः कपिः
सीतां विचिन्वञ्छनकैः समागतः ॥ ११ ॥

उन्होंने श्रीजानकीजीको ढूँढ़नेके लिये दसों दिशाओंमें बड़े-बड़े वानरेश्वर भेजे हैं। उन्हींमेंसे एक वानर मैं वायुका पुत्र हूँ, मैं सीताजीको धीरे-धीरे ढूँढ़ता हुआ यहाँ आया हूँ ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा मया पद्मपलाशलोचना
सीता कपित्वाद्विपिनं विनाशितम्।
दृष्ट्वा ततोऽहं रभसा समागता-
न्मां हन्तुकामान् धृतचापसायकान्॥ १२॥
मया हतास्ते परिरक्षितं वपुः
प्रियो हि देहोऽखिलदेहिनां प्रभो।
ब्रह्मास्त्रपाशेन निबध्य मां ततः
समागमन्मेघनिनादनामकः ॥ १३॥
स्पृष्ट्वैव मां ब्रह्मवरप्रभावत-
स्त्यक्त्वा गतं सर्वमवैमि रावण।
तथाप्यहं बद्ध इवागतो हितं
प्रवक्तुकामः करुणारसार्द्रधीः॥ १४॥
विचार्य लोकस्य विवेकतो गतिं
न राक्षसीं बुद्धिमुपैहि रावण।
दैवीं गतिं संसृतिमोक्षहैतुकीं
समाश्रयात्यन्तहिताय देहिनः॥ १५॥
त्वं ब्रह्मणो ह्युत्तमवंशसम्भवः
पौलस्त्यपुत्रोऽसि कुबेरबान्धवः।
देहात्मबुद्ध्यापि च पश्य राक्षसो
नास्यात्मबुद्ध्या किमु राक्षसो नहि॥ १६॥
शरीरबुद्धीन्द्रियदुःखसन्तति-
र्न ते न च त्वं तव निर्विकारतः।
अज्ञानहेतोश्च तथैव सन्तते-
रसत्त्वमस्याः स्वपतो हि दृश्यवत्॥ १७॥
इदं तु सत्यं तव नास्ति विक्रिया
विकारहेतुर्न च तेऽद्वयत्वतः।
यथा नभः सर्वगतं न लिप्यते
तथा भवान्देहगतोऽपि सूक्ष्मकः।
देहेन्द्रियप्राणशरीरसङ्गत-
स्त्वात्मेति बुद्ध्वाखिलबन्धभाग्भवेत्॥ १८॥
चिन्मात्रमेवाहमजोऽहमक्षरो
ह्यानन्दभावोऽहमिति प्रमुच्यते।
देहोऽप्यनात्मा पृथिवीविकारजो
न प्राण आत्मानिल एष एव सः॥ १९॥

मैं कमलदललोचना जानकीजीका दर्शन कर चुका हूँ, फिर अपने वानर-स्वभावसे मैंने वन उजाड़ दिया और जब मैंने राक्षसोंको बड़े वेगसे धनुष-बाण आदि लेकर अपनेको मारनेके लिये आते देखा, तो उन्हें मारकर अपनी शरीर-रक्षा की, क्योंकि हे राजन्! अपना शरीर तो सभी देहधारियोंको प्यारा होता है। फिर यह मेघनाद नामक राक्षस मुझे ब्रह्मपाशमें बाँधकर यहाँ ले आया ॥ १२-१३॥ हे रावण! मैं यद्यपि यह जानता था कि ब्रह्माजीके वरके प्रभावसे वह ब्रह्मपाश मुझे छूते ही चला गया, तथापि करुणावश तुम्हारे हितकी बात बतानेके लिये मैं बँधे हुएके समान यहाँ चला आया॥ १४॥ हे रावण! तुम विवेकपूर्वक संसारकी गतिका विचार करो; राक्षसी बुद्धिको अङ्गीकार मत करो और संसार-बन्धनसे छुटानेवाली प्राणियोंकी अत्यन्त हितकारिणी दैवी गतिका आश्रय लो॥ १५॥ तुम ब्रह्माजीके अति उत्तम वंशमें उत्पन्न हुए हो तथा पुलस्त्यनन्दन विश्रवाके पुत्र और कुबेरके भाई हो; अतः देखो, तुम तो देहात्मबुद्धिसे भी राक्षस नहीं हो; फिर आत्मबुद्धिसे राक्षस नहीं हो—इसमें तो कहना ही क्या है?॥ १६॥ (तुम वास्तवमें कौन हो सो मैं बतलाता हूँ—) तुम सर्वथा निर्विकार हो; इसलिये शरीर, बुद्धि, इन्द्रियाँ और दुःखादि—ये न तुम्हारे (गुण) हैं और न तुम स्वयं हो। इन सबका कारण अज्ञान है और स्वप्नदृश्यके समान ये सब असत् हैं॥ १७॥ यह बिलकुल सत्य है कि तुम्हारे आत्मस्वरूपमें कोई विकार नहीं है। क्योंकि अद्वितीय होनेसे उसमें कोई विकारका कारण ही नहीं है। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र होनेसे भी (किसी पदार्थके गुण-दोषसे) लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार तुम देहमें रहते हुए भी सूक्ष्मरूप होनेसे उसके सुख-दुःखादि विकारोंसे लिप्त नहीं होते। 'आत्मा देह, इन्द्रिय, प्राण और शरीरसे मिला हुआ है' ऐसी बुद्धि ही सारे बन्धनोंका कारण होती है॥ १८॥ और 'मैं चिन्मात्र अजन्मा अविनाशी तथा आनन्दस्वरूप ही हूँ' इस बुद्धिसे जीव मुक्त हो जाता है। पृथ्वीका विकार होनेसे देह भी अनात्मा है और प्राण वायुरूप ही है, अतः यह भी आत्मा नहीं है॥ १९॥

मनोऽप्यहङ्कारविकार एव नो
न चापि बुद्धिः प्रकृतेर्विकारजा।
आत्मा चिदानन्दमयोऽविकारवा-
न्देहादिसङ्घाद्व्यतिरिक्त ईश्वरः॥ २०॥
निरञ्जनो मुक्त उपाधितः सदा
ज्ञात्वैवमात्मानमितो विमुच्यते।
अतोऽहमात्यन्तिकमोक्षसाधनं
वक्ष्ये शृणुष्वावहितो महामते॥ २१॥
विष्णोर्हि भक्तिः सुविशोधनं धिय-
स्ततो भवेज्ज्ञानमतीव निर्मलम्।
विशुद्धतत्त्वानुभवो भवेत्ततः
सम्यग्विदित्वा परमं पदं व्रजेत्॥ २२॥
अतो भजस्वाद्य हरिं रमापतिं
रामं पुराणं प्रकृतेः परं विभुम्।
विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां
भजस्व रामं शरणागतप्रियम्।
सीतां पुरस्कृत्य सपुत्रबान्धवो
रामं नमस्कृत्य विमुच्यसे भयात्॥ २३॥
रामं परात्मानमभावयञ्जनो
भक्त्या हृदिस्थं सुखरूपमद्वयम्।
कथं परं तीरमवाप्नुयाज्जनो
भवाम्बुधेर्दुःखतरङ्गमालिनः॥ २४॥
नो चेत्त्वमज्ञानमयेन वह्निना
ज्वलन्तमात्मानमरक्षितारिवत्।
नयस्यधोऽधः स्वकृतैश्च पातकै-
र्विमोक्षशङ्का न च ते भविष्यति॥ २५॥
श्रुत्वामृतास्वादसमानभाषितं
तद्वायुसूनोर्दशकन्धरोऽसुरः।
अमृष्यमाणोऽतिरुषा कपीश्वरं
जगाद रक्तान्तविलोचनो ज्वलन्॥ २६॥
कथं ममाग्रे विलपस्यभीतवत्
प्लवङ्गमानामधमोऽसि दुष्टधीः।
क एष रामः कतमो वनेचरो
निहन्मि सुग्रीवयुतं नराधमम्॥ २७॥

अहंकारका कार्य मन अथवा प्रकृतिके विकारसे उत्पन्न हुई बुद्धि भी आत्मा नहीं है। आत्मा तो चिदानन्दस्वरूप, अविकारी तथा देहादि सङ्घातसे पृथक् और उसका स्वामी है॥ २०॥ वह निर्मल और सर्वदा उपाधिरहित है; उसका इस प्रकार ज्ञान होते ही मनुष्य संसारसे मुक्त हो जाता है। अतः हे महामते! मैं तुम्हें आत्यन्तिक मोक्षका साधन बतलाता हूँ, सावधान होकर सुनो॥ २१॥ भगवान् विष्णुकी भक्ति बुद्धिको अत्यन्त शुद्ध करनेवाली है, उसीसे अत्यन्त निर्मल आत्मज्ञान होता है। आत्मज्ञानसे शुद्ध आत्मतत्त्वका अनुभव होता है और उससे दृढ़ बोध हो जानेसे मनुष्य परमपद प्राप्त करता है॥ २२॥ इसलिये तुम प्रकृतिसे परे, पुराणपुरुष, सर्वव्यापक आदिनारायण, लक्ष्मीपति, हरि, भगवान् रामका भजन करो। अपने हृदयमें स्थित शत्रुभावरूप मूर्खताको छोड़ दो और शरणागतवत्सल रामका भजन करो। सीताजीको आगे कर अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके सहित भगवान् रामकी शरण जाकर उन्हें नमस्कार करो। इससे तुम भयसे छूट जाओगे॥ २३॥ जो पुरुष अपने हृदयमें स्थित अद्वितीय सुखस्वरूप परमात्मा रामका भक्तिपूर्वक ध्यान नहीं करता वह दुःख-तरङ्गावलिसे पूर्ण इस संसार-समुद्रका पार कैसे पा सकता है?॥ २४॥ यदि तुम भगवान् रामका भजन न करोगे तो अज्ञानरूपी अग्निसे जलते हुए अपने-आपको शत्रुके समान सुरक्षित नहीं रख सकोगे और उसे अपने किये हुए पापोंसे उत्तरोत्तर नीचेकी ओर ही ले जाओगे; फिर तुम्हारे मोक्षकी कोई सम्भावना न रहेगी''॥ २५॥

पवनसुतके इस अमृतसदृश मधुर भाषणको सुनकर राक्षसराज रावण उसे सहन न कर सका और अत्यन्त क्रोधसे नेत्र लालकर मन-ही-मन जलता हुआ हनुमान्जीसे बोला—॥ २६॥ ''अरे दुष्टबुद्धे! तू वानरोंमें अधम है। मेरे सामने इस प्रकार निर्भयके समान कैसे प्रलाप कर रहा है? यह राम और वनचर सुग्रीव हैं क्या चीज? उस नराधमको तो सुग्रीवके सहित मैं ही मार डालूँगा॥ २७॥

त्वां चाद्य हत्वा जनकात्मजां ततो
निहन्मि रामं सहलक्ष्मणं ततः।
सुग्रीवमग्रे बलिनं कपीश्वरं
सवानरं हन्म्यचिरेण वानर।
श्रुत्वा दशग्रीववचः स मारुति-
र्विवृद्धकोपेन दहन्निवासुरम्॥ २८॥

न मे समा रावणकोटयोऽधम
रामस्य दासोऽहमपारविक्रमः।
श्रुत्वातिकोपेन हनूमतो वचो
दशाननो राक्षसमेवमब्रवीत्॥ २९॥

पार्श्वे स्थितं मारय खण्डशः कपिं
पश्यन्तु सर्वेऽसुरमित्रबान्धवाः।
निवारयामास ततो विभीषणो
महासुरं सायुधमुद्यतं वधे।
राजन्वधार्हो न भवेत्कथञ्चन
प्रतापयुक्तैः परराजवानरः॥ ३०॥

हतेऽस्मिन्वानरे दूते वार्तां को वा निवेदयेत्।
रामाय त्वं यमुद्दिश्य वधाय समुपस्थितः॥ ३१॥

अतो वधसमं किञ्चिदन्यच्चिन्तय वानरे।
सचिह्नो गच्छतु हरिर्यं दृष्ट्वायास्यति द्रुतम्॥ ३२॥

रामः सुग्रीवसहितस्ततो युद्धं भवेत्तव।
विभीषणवचः श्रुत्वा रावणोऽप्येतदब्रवीत्॥ ३३॥

वानराणां हि लाङ्गूले महामानो भवेत्किल।
अतो वस्त्रादिभिः पुच्छं वेष्टयित्वा प्रयत्नतः॥ ३४॥

वह्निना योजयित्वैनं भ्रामयित्वा पुरेऽभितः।
विसर्जयत पश्यन्तु सर्वे वानरयूथपाः॥ ३५॥

तथेति शणपट्टैश्च वस्त्रैरन्यैरनेकशः।
तैलाक्तैर्वेष्टयामासुर्लाङ्गूलं मारुतेर्दृढम्॥ ३६॥

पुच्छाग्रे किञ्चिदनलं दीपयित्वाथ राक्षसाः।
रज्जुभिः सुदृढं बद्ध्वा धृत्वा तं बलिनोऽसुराः॥ ३७॥

समन्ताद्भ्रामयामासुश्चोरोऽयमिति वादिनः।
तूर्यघोषैर्घोषयन्तस्ताडयन्तो मुहुर्मुहुः॥ ३८॥

ऐ वानर! पहले तो आज तुझे ही मारूँगा, फिर जानकीका वध करूँगा, तदनन्तर लक्ष्मणके सहित रामको मारूँगा और उनसे पहले उस बड़े बली वानरराज सुग्रीवको उसकी वानरसेनाके सहित कुछ ही देरमें मार डालूँगा।" रावणके ये वचन सुनकर हनुमान्‌जी अपने बढ़े हुए क्रोधसे उसे जलाते हुए-से बोले— ॥ २८॥ "अरे अधम! मेरी समानता तो करोड़ रावण भी नहीं कर सकते; जानता नहीं, मैं भगवान् रामका दास हूँ, मेरे पराक्रमका कोई ठिकाना नहीं है।" हनुमान्‌जीके ये वचन सुनकर रावणने अत्यन्त क्रोधपूर्वक अपनी बगलमें खड़े हुए एक राक्षससे कहा—'अरे! इस वानरके टुकड़े-टुकड़े करके मार डाल, जिससे सब राक्षस, मित्र तथा बन्धुगण इस कौतुकको देखें।' तब विभीषणने, हथियार लेकर मारनेके लिये तैयार हुए उस प्रचण्ड राक्षसको रोककर कहा—"राजन्! प्रतापी पुरुषोंको अन्य राज्यके वानर-दूतको किसी प्रकार भी न मारना चाहिये ॥ २९-३०॥ यदि यह वानर-दूत मारा गया तो जिनका वध करनेके लिये आप उद्यत हुए हैं उन रामको यह समाचार कौन सुनावेगा? ॥ ३१॥ अतः इस वानरके लिये, वधके समान ही कोई और दण्ड निश्चय कीजिये, जिसका चिह्न लेकर यह वानर जाय और उसे देखकर सुग्रीवके सहित राम तुरंत ही आयें और फिर उनसे आपका युद्ध हो।" विभीषणका कथन सुनकर रावण भी यों बोला ॥ ३२-३३॥ "वानरोंको पूँछपर बड़ी ममता होती है। अतः इसकी पूँछको वस्त्रादिसे खूब लपेट दो और फिर उसमें आग लगाकर इसे नगरमें चारों ओर घुमाकर छोड़ दो, जिससे समस्त वानरयूथपति इसकी वह दुर्दशा देखें ॥ ३४-३५॥

तब राक्षसोंने 'बहुत अच्छा' कह हनुमान्‌जीकी पूँछ सनके पट्टोंसे और तेलमें भीगे हुए नाना प्रकारके चिथड़ोंसे बड़ी दृढ़तासे लपेटी; और पूँछके सिरेपर थोड़ी-सी आग लगाकर उन्हें दृढ़तापूर्वक रस्सीसे बाँधकर कुछ बलवान् राक्षस उन्हें मारते और बारम्बार तुरही बजाकर यह कहते हुए कि 'यह चोर है' नगरमें सब ओर घुमाने

हनूमतापि तत्सर्वं सोढं किञ्चिच्चिकीर्षुणा।
गत्वा तु पश्चिमद्वारसमीपं तत्र मारुतिः ॥ ३९ ॥

सूक्ष्मो बभूव बन्धेभ्यो निःसृतः पुनरप्यसौ।
बभूव पर्वताकारस्तत उत्प्लुत्य गोपुरम् ॥ ४० ॥

तत्रैकं स्तम्भमादाय हत्वा तान् रक्षिणः क्षणात्।
विचार्य कार्यशेषं स प्रासादाग्राद् गृहाद् गृहम् ॥ ४१ ॥

उत्प्लुत्योत्प्लुत्य सन्दीप्तपुच्छेन महता कपिः।
ददाह लङ्कामखिलां साट्टप्रासादतोरणाम् ॥ ४२ ॥

हा तात पुत्र नाथेति क्रन्दमानाः समन्ततः।
व्याप्ताः प्रासादशिखरेऽप्यारूढा दैत्ययोषितः ॥ ४३ ॥

देवता इव दृश्यन्ते पतन्त्यः पावकेऽखिलाः।
विभीषणगृहं त्यक्त्वा सर्वं भस्मीकृतं पुरम् ॥ ४४ ॥

ततं उत्प्लुत्य जलधौ हनूमान्मारुतात्मजः।
लाङ्गूलं मज्जयित्वान्तः स्वस्थचित्तो बभूव सः ॥ ४५ ॥

वायोः प्रियसखित्वाच्च सीतया प्रार्थितोऽनलः।
न ददाह हरेः पुच्छं बभूवात्यन्तशीतलः ॥ ४६ ॥

यन्नामसंस्मरणधूतसमस्तपापा-
स्तापत्रयानलमपीह तरन्ति सद्यः।
तस्यैव किं रघुवरस्य विशिष्टदूतः
सन्तप्यते कथमसौ प्रकृतानलेन ॥ ४७ ॥

लगे ॥ ३६—३८ ॥ हनुमान्‌जीने भी कुछ कौतुक करनेकी इच्छासे यह सब सहन कर लिया। जिस समय वे पश्चिमद्वारपर पहुँचे उस समय तुरंत ही सूक्ष्मरूप होकर उन बन्धनोंमेंसे निकल गये और फिर पर्वताकार हो उछलकर द्वारके कँगूरेपर चढ़ गये ॥ ३९-४० ॥ वहाँसे उन्होंने एक स्तम्भ उखाड़कर एक क्षणमें ही उन समस्त रक्षकोंको मार डाला और फिर अपना शेष कार्य निश्चय कर उस प्रासादके अग्रभागसे एक घरसे दूसरे घरपर छलाँग मारते हुए अपनी जलती हुई लंबी पूँछसे महल, अटारी और बन्दनवारादिसे युक्त समस्त लंकापुरीमें आग लगा दी ॥ ४१-४२ ॥ उस समय 'हा तात! हा पुत्र! हा नाथ!' कहकर सब ओर फैली हुई, महलोंके ऊपर भी चढ़ी हुई तथा अग्निमें गिरती हुई समस्त दैत्यस्त्रियाँ देवताओंके समान मालूम होती थीं। इस प्रकार हनुमान्‌जीने विभीषणके घरको छोड़कर और सारा नगर भस्म कर डाला ॥ ४३-४४ ॥ तदनन्तर पवनात्मज हनुमान्‌जी उछलकर समुद्रमें कूद पड़े और अपनी पूँछ बुझाकर स्वस्थचित्त हो गये ॥ ४५ ॥ सीताजीकी प्रार्थनासे तथा वायुका प्रिय मित्र होनेके कारण अग्निने हनुमान्‌जीकी पूँछ नहीं जलायी। उनके लिये वह अत्यन्त शीतल हो गया ॥ ४६ ॥

जिनके नाम-स्मरणसे मनुष्य समस्त पापोंसे छूटकर तुरंत ही तापत्रयरूप अग्निको पार कर जाते हैं उन्हीं श्रीरघुनाथजीके विशिष्ट दूतको यह प्राकृत अग्नि भला किस प्रकार ताप पहुँचा सकता था? ॥ ४७ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे सुन्दरकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चम सर्ग

हनुमान्‌जीका सीताजीसे विदा होना और श्रीरामचन्द्रजीको उनका सन्देश सुनाना

श्रीमहादेव उवाच

ततः सीतां नमस्कृत्य हनूमानब्रवीद्वचः।
आज्ञापयतु मां देवि भवती रामसन्निधिम् ॥ १ ॥

गच्छामि रामस्त्वां द्रष्टुमागमिष्यति सानुजः।
इत्युक्त्वा त्रिःपरिक्रम्य जानकीं मारुतात्मजः ॥ २ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! तदनन्तर श्रीहनुमान्‌जीने सीताजीके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके कहा—'देवि! आप मुझे आज्ञा दीजिये; अब मैं श्रीरघुनाथजीके पास जाता हूँ, वे शीघ्र ही भाई लक्ष्मणसहित आपसे मिलनेके लिये यहाँ आयेंगे।' ऐसा कह पवननन्दन हनुमान्‌जीने जानकीजीकी तीन परिक्रमाएँ

प्रणम्य प्रस्थितो गन्तुमिदं वचनमब्रवीत्।
देवि गच्छामि भद्रं ते तूर्णं द्रक्ष्यसि राघवम्॥ ३ ॥

लक्ष्मणं च ससुग्रीवं वानरायुतकोटिभिः।
ततः प्राह हनूमन्तं जानकी दुःखकर्शिता॥ ४ ॥

त्वां दृष्ट्वा विस्मृतं दुःखमिदानीं त्वं गमिष्यसि।
इतः परं कथं वर्ते रामवार्ताश्रुतिं विना॥ ५ ॥

कर उन्हें प्रणाम किया और जानेके लिये कुछ दूर चलकर बोले—"देवि ! मैं जाता हूँ, आपका शुभ हो, आप शीघ्र ही सुग्रीव और करोड़ों अन्य वानरोंके सहित भगवान् राम और लक्ष्मणको देखेंगी।" तब दुःखसे दुर्बल हुई जानकीने हनुमान्जीसे कहा—"तुम्हें देखकर मैं अपना दुःख भूल गयी थी। अब तुम जा रहे हो; अब श्रीरामचन्द्रजीका समाचार सुने बिना मैं कैसे रहूँगी ?" ॥ १—५ ॥

मारुतिरुवाच

यद्येवं देवि मे स्कन्धमारोह क्षणमात्रतः।
रामेण योजयिष्यामि मन्यसे यदि जानकि॥ ६ ॥

हनुमान्जी बोले—हे देवि ! यदि ऐसी बात है और आप स्वीकार करें तो हे जनकनन्दिनी ! आप मेरे कन्धेपर चढ़ लीजिये, मैं एक क्षणमें ही श्रीरामचन्द्रजीसे आपको मिला दूँगा ॥ ६ ॥

सीतोवाच

रामः सागरमाशोष्य बद्ध्वा वा शरपञ्जरैः।
आगत्य वानरैः सार्धं हत्वा रावणमाहवे॥ ७ ॥

मां नयेद्यदि रामस्य कीर्तिर्भवति शाश्वती।
अतो गच्छ कथं चापि प्राणान्सन्धारयाम्यहम्॥ ८ ॥

सीताजीने कहा—यदि श्रीरामचन्द्रजी समुद्रको सुखाकर या उसे बाणोंसे बाँधकर यहाँ वानरोंके साथ आयें और रावणको युद्धमें मारकर मुझे ले जायँ तो इससे उन्हें अमर कीर्ति प्राप्त होगी। इसलिये तुम जाओ, मैं जैसे-तैसे प्राण धारण करूँगी ॥ ७-८ ॥

इति प्रस्थापितो वीरः सीतया प्रणिपत्य ताम्।
जगाम पर्वतस्याग्रे गन्तुं पारं महोदधेः॥ ९ ॥

तत्र गत्वा महासत्त्वः पादाभ्यां पीडयन् गिरिम्।
जगाम वायुवेगेन पर्वतश्च महीतलम्॥ १० ॥

गतो महीसमानत्वं त्रिंशद्योजनमुच्छ्रितः।
मारुतिर्गगनान्तःस्थो महाशब्दं चकार सः॥ ११ ॥

तं श्रुत्वा वानराः सर्वे ज्ञात्वा मारुतिमागतम्।
हर्षेण महताविष्टाः शब्दं चक्रुर्महास्वनम्॥ १२ ॥

शब्देनैव विजानीमः कृतकार्यः समागतः।
हनूमानेव पश्यध्वं वानरा वानरर्षभम्॥ १३ ॥

एवं ब्रुवत्सु वीरेषु वानरेषु स मारुतिः।
अवतीर्य गिरेर्मूर्ध्नि वानरानिदमब्रवीत्॥ १४ ॥

दृष्टा सीता मया लङ्का धर्षिता च सकानना।
सम्भाषितो दशग्रीवस्ततोऽहं पुनरागतः॥ १५ ॥

सीताजीसे इस प्रकार विदा हो वीरवर हनुमान् उन्हें प्रणामकर महासागरके पार जानेके लिये पर्वत-शिखरपर चढ़ गये ॥ ९ ॥ वहाँ पहुँचकर महावीर हनुमान्जी पर्वतको अपने पैरोंसे दबाकर वायुवेगसे चले और (उनके दबानेसे) वह तीस योजन ऊँचा पर्वत पृथ्वीमें घुसकर समतल हो गया। हनुमान्जीने आकाशमें जाते समय बड़ा घोर शब्द किया ॥ १०-११ ॥ उसे सुनकर सब वानरगण यह जानकर कि हनुमान्जी लौट रहे हैं, बड़े आनन्दमें भरकर घोर शब्द करने लगे ॥ १२ ॥ (वे आपसमें कहने लगे—) "इस सिंहनादसे ही मालूम होता है कि हनुमान्जी कार्य सिद्ध करके लौटे हैं। हे वानरगण ! देखो, देखो, ये कपिश्रेष्ठ हनुमान्जी ही तो हैं" ॥ १३ ॥ वानरवीरोंके इस प्रकार कहते-कहते हनुमान्जी उस गिरिशिखरपर उतर आये और उनसे यों कहने लगे ॥ १४ ॥ "मैंने सीताजीको देखा, अशोकवनसहित लंकाका विध्वंस किया और रावणसे भी बातचीत की। उसके पश्चात् मैं यहाँ आया हूँ ॥ १५ ॥

इदानीमेव गच्छामो रामसुग्रीवसन्निधिम्।
इत्युक्ता वानराः सर्वे हर्षेणालिङ्ग्य मारुतिम्॥ १६॥

केचिच्चुचुम्बुर्लाङ्गूलं ननृतुः केचिदुत्सुकाः।
हनूमता समेतास्ते जग्मुः प्रस्रवणं गिरिम्॥ १७॥

अब हम इसी समय राम और सुग्रीवके पास चलेंगे।" हनुमान्‌जीके इस प्रकार कहनेपर सब वानरोंने अत्यन्त हर्षसे उन्हें गले लगाया, किन्हींने उनकी पूँछ चूमी और कोई अति उत्साहसे नाचने लगे। तदनन्तर हनुमान्‌जीके साथ वे सब प्रस्रवण पर्वतपर गये॥ १६-१७॥

गच्छन्तो ददृशुर्वीरा वनं सुग्रीवरक्षितम्।
मधुसंज्ञं तदा प्राहुरङ्गदं वानरर्षभाः॥ १८॥

क्षुधिताः स्मो वयं वीर देह्यनुज्ञां महामते।
भक्षयामः फलान्यद्य पिबामोऽमृतवन्मधु॥ १९॥

सन्तुष्टा राघवं द्रष्टुं गच्छामोऽद्यैव सानुजम्॥ २०॥

जिस समय वे वीर वानरगण जा रहे थे उनकी दृष्टि सुग्रीवद्वारा सुरक्षित मधुवनपर पड़ी। उसे देखकर वे अङ्गदजीसे बोले॥ १८॥ "हे वीर! हमें बड़ी भूख लगी है। अतः हे महामते! हमें आज्ञा दीजिये जिससे आज हम इस वनके फल खाकर अमृततुल्य मधु पियें॥ १९॥ उसके पश्चात् हम तृप्त होकर भाई लक्ष्मणसहित रघुनाथजीके दर्शन करनेके लिये चलेंगे॥ २०॥

अङ्गद उवाच

हनूमान्कृतकार्योऽयं पिबतैतत्प्रसादतः।
जक्षध्वं फलमूलानि त्वरितं हरिसत्तमाः॥ २१॥

अङ्गदजी बोले—हनुमान्‌जीने कार्य सिद्ध किया है, अतः हे वानरश्रेष्ठगण! इनकी कृपासे तुम शीघ्र ही फल-मूल खाओ और मधु-पान करो॥ २१॥

ततः प्रविश्य हरयः पातुमारेभिरे मधु।
रक्षिणस्ताननादृत्य दधिवक्त्रेण नोदितान्॥ २२॥

पिबतस्ताडयामासुर्वानरान्वानरर्षभाः।
ततस्तान्मुष्टिभिः पादैश्चूर्णयित्वा पपुर्मधु॥ २३॥

ततो दधिमुखः क्रुद्धः सुग्रीवस्य स मातुलः।
जगाम रक्षिभिः सार्धं यत्र राजा कपीश्वरः॥ २४॥

गत्वा तमब्रवीद्देव चिरकालाभिरक्षितम्।
नष्टं मधुवनं तेऽद्य कुमारेण हनूमता॥ २५॥

अङ्गदजीकी आज्ञा पा वानरगण उस वनमें घुसकर दधिमुखके भेजे हुए वनरक्षकोंकी उपेक्षा कर मधु पीने लगे॥ २२॥ जब उन वानरोंने उन्हें मधुपान करते देखकर मारा तो वे उन्हें लात और घूँसोंसे कुचलकर मधु पीते रहे॥ २३॥ तब सुग्रीवका मामा दधिमुख अन्य वनरक्षकोंके साथ अति क्रुद्ध हो जहाँ वानरराज सुग्रीव थे वहाँ गया॥ २४॥ वहाँ पहुँचकर वह बोला—"राजन्! तुमने चिरकालसे जिस मधुवनकी रक्षा की थी उसे आज युवराज अङ्गद और हनुमान्‌ने उजाड़ डाला"॥ २५॥

श्रुत्वा दधिमुखेनोक्तं सुग्रीवो हृष्टमानसः।
दृष्ट्वागतो न सन्देहः सीतां पवननन्दनः॥ २६॥

नो चेन्मधुवनं द्रष्टुं समर्थः को भवेन्मम।
तत्रापि वायुपुत्रेण कृतं कार्यं न संशयः॥ २७॥

दधिमुखकी बात सुनकर सुग्रीव प्रसन्न होकर कहने लगे—"इसमें सन्देह नहीं पवनकुमार सीताजीको देख आये हैं; नहीं तो, मेरे मधुवनकी ओर देखनेकी भला किसे सामर्थ्य थी? और उनमें भी निस्सन्देह यह कार्य किया हनुमान्‌जीने ही है॥ २६-२७॥

श्रुत्वा सुग्रीववचनं हृष्टो रामस्तमब्रवीत्।
किमुच्यते त्वया राजन्वचः सीताकथान्वितम्॥ २८॥

सुग्रीवस्त्वब्रवीद्वाक्यं देव दृष्टावनीसुता।
हनूमत्प्रमुखाः सर्वे प्रविष्टा मधुकाननम्॥ २९॥

सुग्रीवके वचन सुनकर भगवान् रामने प्रसन्न हो उनसे पूछा—"राजन्! यह सीता-सम्बन्धी तुम क्या बात कह रहे हो?"॥ २८॥ सुग्रीवने कहा—"भगवन्! मालूम होता है भूमिसुता जानकीजीका पता लग गया है, क्योंकि हनुमान् आदि समस्त वानरगण मधुवनमें घुसकर

भक्षयन्ति स्म सकलं ताडयन्ति स्म रक्षिणः ।
अकृत्वा देवकार्यं ते द्रष्टुं मधुवनं मम ॥ ३० ॥

न समर्थास्ततो देवी दृष्टा सीतेति निश्चितम् ।
रक्षिणो वो भयं मास्तु गत्वा ब्रूत ममाज्ञया ॥ ३१ ॥

वानरानङ्गदमुखानानयध्वं ममान्तिकम् ।
श्रुत्वा सुग्रीववचनं गत्वा ते वायुवेगतः ॥ ३२ ॥

हनूमत्प्रमुखानूचुर्गच्छतेश्वरशासनात् ।
द्रष्टुमिच्छति सुग्रीवः सरामो लक्ष्मणान्वितः ॥ ३३ ॥

युष्मानतीव हृष्टास्ते त्वरयन्ति महाबलाः ।
तथेत्यम्बरमासाद्य ययुस्ते वानरोत्तमाः ॥ ३४ ॥

हनूमन्तं पुरस्कृत्य युवराजं तथाङ्गदम् ।
रामसुग्रीवयोरग्रे निपेतुर्भुवि सत्वरम् ॥ ३५ ॥

हनूमान् राघवं प्राह दृष्टा सीता निरामया ।
साष्टाङ्गं प्रणिपत्याग्रे रामं पश्चाद्धरीश्वरम् ॥ ३६ ॥

कुशलं प्राह राजेन्द्र जानकी त्वां शुचान्विता ।
अशोकवनिकामध्ये शिंशपामूलमाश्रिता ॥ ३७ ॥

राक्षसीभिः परिवृता निराहारा कृशा प्रभो ।
हा राम राम रामेति शोचन्ती मलिनाम्बरा ॥ ३८ ॥

एकवेणी मया दृष्टा शनैराश्वासिता शुभा ।
वृक्षशाखान्तरे स्थित्वा सूक्ष्मरूपेण ते कथाम् ॥ ३९ ॥

जन्मारभ्य तवात्यर्थं दण्डकागमनं तथा ।
दशाननेन हरणं जानक्या रहिते त्वयि ॥ ४० ॥

सुग्रीवेण यथा मैत्री कृत्वा वालिनिबर्हणम् ।
मार्गणार्थं च वैदेह्याः सुग्रीवेण विसर्जिताः ॥ ४१ ॥

महाबला महासत्त्वा हरयो जितकाशिनः ।
गताः सर्वत्र सर्वे वै तत्रैकोऽहमिहागतः ॥ ४२ ॥

अहं सुग्रीवसचिवो दासोऽहं राघवस्य हि ।
दृष्टा यज्जानकी भाग्यात्प्रयासः फलितोऽद्य मे ॥ ४३ ॥

उसके फल खा रहे हैं और उसके रक्षकोंको मारते हैं। बिना आपका कार्य किये तो वे मेरे मधुवनकी ओर देख भी नहीं सकते थे। अतः यह निश्चय होता है कि वे देवी जानकीजीसे मिल आये हैं। रक्षको ! तुम डरो मत, उन्हें जाकर मेरी आज्ञा सुनाओ और उन अङ्गदादि वानरोंको मेरे पास ले आओ।'' सुग्रीवकी आज्ञा सुनकर वे वायुवेगसे चले और हनुमान् आदिसे कहा—''महाराजकी आज्ञा है, आपलोग तुरंत वहाँ जाइये; क्योंकि राम और लक्ष्मणके सहित महाराज सुग्रीव आपलोगोंसे मिलना चाहते हैं। हे महावीरगण ! आपलोगोंसे प्रसन्न होकर वे आपको बहुत शीघ्र बुला रहे हैं।'' तब वे वानरश्रेष्ठ 'बहुत अच्छा' कह आकाशमें चढ़कर चलने लगे। वे सब वानरगण हनुमान् और युवराज अङ्गदको आगे कर चले और तुरंत ही राम और सुग्रीवके सामने पृथ्वीपर उतर आये ॥ २९—३५ ॥

हनुमान्जीने पहले श्रीरघुनाथजीको और फिर वानरराज सुग्रीवको साष्टाङ्ग प्रणाम कर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—''मैं सीताजीको सकुशल देख आया हूँ ॥ ३६ ॥ हे राजेन्द्र ! शोकमग्ना जानकीजीने आपको अपना कुशल समाचार सुनानेके लिये कहा है। वे अशोकवाटिकाके बीचमें शिंशपा वृक्षके तले बैठी हैं, और हे प्रभो ! सदा राक्षसियोंसे घिरी रहती हैं, अन्न-जल छोड़ देनेके कारण वे अत्यन्त दुर्बल हो गयी हैं और निरन्तर 'हा राम ! हा राम !' हा राम ! कहकर शोक करती रहती हैं, उनके वस्त्र मलिन हो गये हैं तथा बालोंकी मिलकर एक वेणी हो गयी है—ऐसी अवस्थामें मैंने सीताजीको देखा और धीरे-धीरे उन्हें ढाँढ़स बँधाया। वहाँ जाकर पहले मैंने सूक्ष्मरूपसे वृक्षके पत्तोंमें छिपे-छिपे संक्षेपमें आपकी सब कथा सुनायी, जिस प्रकार जन्मसे लेकर आपका दण्डकारण्यमें आना हुआ, आपकी अनुपस्थितिमें रावणने सीताजीको हरा तथा जिस प्रकार सुग्रीवसे मित्रता कर आपने वालीको मारा—(वह सब सुनाकर फिर मैंने कहा कि) सुग्रीवद्वारा सीताजीकी खोजके लिये भेजे हुए बड़े बलवान्, पराक्रमी और विजयशाली वानरगण सब दिशाओंमें गये हैं और उनमेंसे एक मैं सुग्रीवका मन्त्री और रघुनाथजीका दास यहाँ आया हूँ। आज भाग्यवश मैंने जानकीजीको देख लिया। अतः मेरा प्रयास सफल हो गया ॥ ३७—४३ ॥

इत्युदीरितमाकर्ण्य सीता विस्फारितेक्षणा ।
केन वा कर्णपीयूषं श्रावितं मे शुभाक्षरम् ॥ ४४ ॥

यदि सत्यं तदायातु मद्दर्शनपथं तु सः ।
ततोऽहं वानराकारः सूक्ष्मरूपेण जानकीम् ॥ ४५ ॥

प्रणम्य प्राञ्जलिर्भूत्वा दूरादेव स्थितः प्रभो ।
पृष्टोऽहं सीतया कस्त्वमित्यादि बहुविस्तरम् ॥ ४६ ॥

मया सर्वं क्रमेणैव विज्ञापितमरिन्दम ।
पश्चान्मयार्पितं देव्यै भवद्दत्ताङ्गुलीयकम् ॥ ४७ ॥

तेन माममतिविश्वस्ता वचनं चेदमब्रवीत् ।
यथा दृष्टास्मि हनुमन्पीड्यमाना दिवानिशम् ॥ ४८ ॥

राक्षसीनां तर्जनैस्तत्सर्वं कथय राघवे ।
मयोक्तं देवि रामोऽपि त्वच्चिन्तापरिनिष्ठितः ॥ ४९ ॥

परिशोचत्यहोरात्रं त्वद्वार्तां नाधिगम्य सः ।
इदानीमेव गत्वाहं स्थितिं रामाय ते ब्रुवे ॥ ५० ॥

रामः श्रवणमात्रेण सुग्रीवेण सलक्ष्मणः ।
वानरानीकपैः सार्धमागमिष्यति तेऽन्तिकम् ॥ ५१ ॥

रावणं सकुलं हत्वा नेष्यति त्वां स्वकं पुरम् ।
अभिज्ञां देहि मे देवि यथा मां विश्वसेद्विभुः ॥ ५२ ॥

इत्युक्ता सा शिरोरत्नं चूडापाशे स्थितं प्रियम् ।
दत्त्वा काकेन यद्वृत्तं चित्रकूटगिरौ पुरा ॥ ५३ ॥

तदप्याहाश्रुपूर्णाक्षी कुशलं ब्रूहि राघवम् ।
लक्ष्मणं ब्रूहि मे किञ्चिद्दुरुक्तं भाषितं पुरा ॥ ५४ ॥

तत्क्षमस्वाज्ञभावेन भाषितं कुलनन्दन ।
तारयेन्मां यथा रामस्तथा कुरु कृपान्वितः ॥ ५५ ॥

इत्युक्त्वा रुदती सीता दुःखेन महतावृता ।
मयाप्याश्वासिता राम वदता सर्वमेव ते ॥ ५६ ॥

ततः प्रस्थापितो राम त्वत्समीपमिहागतः ।
तदागमनवेलायामशोकवनिकां प्रियाम् ॥ ५७ ॥

"मेरा यह कथन सुनकर सीताजीके नेत्र खिल गये और वे कहने लगीं—"मुझे ये कर्णामृतरूप शुभ संवाद किसने सुनाया है ? यदि यह सब सत्य है— (मुझे भ्रम नहीं हुआ है) तो इस संवादको सुनानेवाला मेरे सामने आवे।" हे प्रभो ! तब मैं सूक्ष्मरूपसे बंदरके आकारमें उनके सामने उपस्थित हुआ और दूरहीसे प्रणाम कर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। तब जानकीजीने मुझसे 'तुम कौन हो ?' इत्यादि बहुत-सी बातें पूछीं ॥ ४४—४६ ॥ और हे शत्रुदमन ! मैंने उन्हें क्रमशः सब बातें बतला दीं। इसके पश्चात् मैंने उन्हें आपकी दी हुई अँगूठी निवेदन की ॥ ४७ ॥ इससे उन्हें मुझपर पूर्ण विश्वास हो गया और वे मुझसे इस प्रकार कहने लगीं—"हनुमन् ! जिस प्रकार इन राक्षसियोंके त्राससे तुमने मुझे अहर्निश दुःख उठाते देखा है वह सब ज्यों-का-त्यों रघुनाथजीको सुना देना।" मैंने कहा—"देवि ! रघुनाथजी भी तुम्हारी ही चिन्तासे ग्रस्त रहते हैं और तुम्हारा समाचार न मिलनेसे रात-दिन तुम्हारी ही चिन्ता करते रहते हैं। मैं अभी जाकर उन्हें तुम्हारी स्थिति सुनाऊँगा ॥ ४८—५० ॥ और रघुनाथजी उसे सुनते ही सुग्रीव, लक्ष्मण और अन्यान्य वानर सेनापतियोंके साथ तुम्हारे पास आयेंगे ॥ ५१ ॥ तथा रावणको कुटुम्बसहित मारकर तुम्हें अपनी राजधानी अयोध्याको ले जायँगे। हे देवि ! तुम मुझे कोई ऐसा चिह्न दो जिससे भगवान् मेरा विश्वास करें" ॥ ५२ ॥ मेरे इस प्रकार कहनेपर उन्होंने अपने केशपाशमें स्थित अपनी प्रिया चूडामणि दीं और पहले चित्रकूट पर्वतपर काकके साथ जो कुछ हुआ था वह सब भी सुनाया तथा नेत्रोंमें जल भरकर कहा—"रघुनाथजीसे मेरी कुशल कहना और लक्ष्मणजीसे कहना कि हे कुलनन्दन ! मैंने पहले तुमसे जो कुछ कठोर वचन कहे थे उन अज्ञानवश कहे हुए वाक्योंके लिये मुझे क्षमा करें। इसके सिवा जिस प्रकार रघुनाथजी कृपा करके मेरा उद्धार करें वही चेष्टा करना" ॥ ५३—५५ ॥

"ऐसा कहकर सीताजी महान् दुःखमें भरकर रोने लगीं; मैंने भी उन्हें आपका सब वृत्तान्त सुनाकर ढाँढस बँधाया और फिर उनसे विदा होकर आपके पास चला आया। आती बार मैंने रावणकी प्रिय अशोकवाटिका

उत्पाट्य राक्षसांस्तत्र बहून्हत्वा क्षणादहम्।
रावणस्य सुतं हत्वा रावणेनाभिभाष्य च ॥ ५८ ॥

लङ्कामशेषतो दग्ध्वा पुनरप्यागमं क्षणात्।
श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं रामोऽत्यन्तप्रहृष्टधीः ॥ ५९ ॥

हनूमंस्ते कृतं कार्यं देवैरपि सुदुष्करम्।
उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः ॥ ६० ॥

इदानीं ते प्रयच्छामि सर्वस्वं मम मारुते।
इत्यालिङ्ग्य समाकृष्य गाढं वानरपुङ्गवम् ॥ ६१ ॥

सार्द्रनेत्रो रघुश्रेष्ठः परां प्रीतिमवाप सः।
हनूमन्तमुवाचेदं राघवो भक्तवत्सलः ॥ ६२ ॥

परिरम्भो हि मे लोके दुर्लभः परमात्मनः।
अतस्त्वं मम भक्तोऽसि प्रियोऽसि हरिपुङ्गव ॥ ६३ ॥

यत्पादपद्मयुगलं तुलसीदलाद्यैः
सम्पूज्य विष्णुपदवीमतुलां प्रयान्ति।
तेनैव किं पुनरसौ परिरब्धमूर्ती
रामेण वायुतनयः कृतपुण्यपुञ्जः ॥ ६४ ॥

उजाड़ दी और एक क्षणमें ही बहुत-से राक्षस मार डाले। रावणके पुत्रको भी मारा और रावणसे वार्तालाप कर लंकाको सब ओरसे जलाकर फिर क्षणभरमें ही यहाँ चला आया।''

हनुमान्‌जीके ये वचन सुन श्रीरामचन्द्रजी अति प्रसन्न होकर कहने लगे ॥ ५६—५९ ॥ ''हनुमन्! तुमने जो कार्य किया है वह देवताओंसे भी होना कठिन है, मैं इसके बदलेमें तुम्हारा क्या उपकार करूँ—सो नहीं जानता ॥ ६० ॥ लो, मैं अभी तुम्हें अपना सर्वस्व सौंपता हूँ।'' ऐसा कह उन्होंने वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जीको खींचकर गाढ़ आलिङ्गन किया ॥ ६१ ॥ उनके नेत्रोंमें जल भर आया और हृदयमें परम प्रेम उमड़ने लगा। तब भक्तवत्सल रघुनाथजीने हनुमान्‌जीसे कहा— ॥ ६२ ॥ ''संसारमें मुझ परमात्माका आलिङ्गन मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, वानरश्रेष्ठ! (तुम्हें यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है) अतः तुम मेरे परम भक्त और प्रिय हो'' ॥ ६३ ॥

हे पार्वति! जिनके चरणारविन्दयुगलका तुलसीदल आदिसे पूजन कर भक्तजन अतुलनीय विष्णुपद प्राप्त करते हैं, उन्हीं रामने जिनके शरीरका आलिङ्गन किया उन पवित्र कर्म करनेवाले पवनपुत्रके विषयमें क्या कहा जाय? ॥ ६४ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे सुन्दरकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

समाप्तमिदं सुन्दरकाण्डम्।

ॐ

अध्यात्मरामायण

युद्धकाण्ड

प्रथम सर्ग

वानर-सेनाका प्रस्थान

श्रीमहादेव उवाच

यथावद्भाषितं वाक्यं श्रुत्वा रामो हनूमतः।
उवाचानन्तरं वाक्यं हर्षेण महतावृतः॥ १॥

कार्यं कृतं हनुमता देवैरपि सुदुष्करम्।
मनसापि यदन्येन स्मर्तुं शक्यं न भूतले॥ २॥

शतयोजनविस्तीर्णं लङ्घयेत्कः पयोनिधिम्।
लङ्कां च राक्षसैर्गुप्तां को वा धर्षयितुं क्षमः॥ ३॥

भृत्यकार्यं हनुमता कृतं सर्वमशेषतः।
सुग्रीवस्येदृशो लोके न भूतो न भविष्यति॥ ४॥

अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च कपीश्वरः।
जानक्या दर्शनेनाद्य रक्षिताः स्मो हनूमता॥ ५॥

सर्वथा सुकृतं कार्यं जानक्याः परिमार्गणम्।
समुद्रं मनसा स्मृत्वा सीदतीव मनो मम॥ ६॥

कथं नक्रझषाकीर्णं समुद्रं शतयोजनम्।
लङ्घयित्वा रिपुं हन्यां कथं द्रक्ष्यामि जानकीम्॥ ७॥

श्रुत्वा तु रामवचनं सुग्रीवः प्राह राघवम्।
समुद्रं लङ्घयिष्यामो महानक्रझषाकुलम्॥ ८॥

लङ्कां च विधमिष्यामो हनिष्यामोऽद्य रावणम्।
चिन्तां त्यज रघुश्रेष्ठ चिन्ता कार्यविनाशिनी॥ ९॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! हनुमान्‌जीके ज्यों-के-त्यों कहे हुए वाक्योंको सुननेके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने अति हर्षसे भरकर ये वचन कहे—॥ १॥ "हनुमान्‌जीने जो कार्य किया है उसका करना देवताओंको भी अति कठिन है, पृथ्वीतलपर और कोई तो उसका मनसे भी स्मरण नहीं कर सकता॥ २॥ भला, ऐसा कौन है जो सौ योजन विस्तारवाले समुद्रको लाँघने और राक्षसोंसे सुरक्षिता लङ्कापुरीका ध्वंस करनेमें समर्थ हो?॥ ३॥ हनुमान्‌ने सुग्रीवके समग्र सेवक-धर्मको खूब निभाया। संसारमें ऐसा न कोई हुआ और न आगे होगा ही॥ ४॥ हनूमान्‌ने जानकीजीको देखकर आज मुझको तथा रघुवंश, लक्ष्मण और सुग्रीव आदि सभीको बचा लिया है॥ ५॥ जानकीजीकी खोजका कार्य तो बिलकुल ठीक हो गया, किन्तु समुद्रकी याद आनेसे मेरा मन व्यथित-सा होने लगता है॥ ६॥ नाके और मकरोंसे भरे हुए सौ योजन विस्तारवाले समुद्रको लाँघकर मैं शत्रुको कैसे मारूँगा? और जानकीजीको कैसे देख सकूँगा?"॥ ७॥

श्रीरघुनाथजीके ये वचन सुनकर सुग्रीव उनसे बोला—"हम बड़े-बड़े नाके और मछलियोंसे पूर्ण समुद्रको लाँघ जायँगे और शीघ्र ही लङ्काको विध्वंसकर रावणका भी नाश करेंगे। रघुनाथजी! आप चिन्ता छोड़िये, चिन्ता तो कार्य बिगाड़नेवाली होती है॥ ८-९॥

एतान्पश्य महासत्त्वान् शूरान्वानरपुङ्गवान्।
त्वत्प्रियार्थं समुद्युक्तान्प्रवेष्टुमपि पावकम्॥ १०॥

समुद्रतरणे बुद्धिं कुरुष्व प्रथमं ततः।
दृष्ट्वा लङ्कां दशग्रीवो हत इत्येव मन्महे॥ ११॥

नहि पश्याम्यहं कञ्चित्त्रिषु लोकेषु राघव।
गृहीतधनुषो यस्ते तिष्ठेदभिमुखो रणे॥ १२॥

सर्वथा नो जयो राम भविष्यति न संशयः।
निमित्तानि च पश्यामि तथा भूतानि सर्वशः॥ १३॥

सुग्रीववचनं श्रुत्वा भक्तिवीर्यसमन्वितम्।
अङ्गीकृत्याब्रवीद्रामो हनूमन्तं पुरःस्थितम्॥ १४॥

येन केन प्रकारेण लङ्घयामो महार्णवम्।
लङ्कास्वरूपं मे ब्रूहि दुःसाध्यं देवदानवैः॥ १५॥

ज्ञात्वा तस्य प्रतीकारं करिष्यामि कपीश्वर।
श्रुत्वा रामस्य वचनं हनूमान्विनयान्वितः॥ १६॥

उवाच प्राञ्जलिर्देव यथा दृष्टं ब्रवीमि ते।
लङ्का दिव्या पुरी देव त्रिकूटशिखरे स्थिता॥ १७॥

स्वर्णप्राकारसहिता स्वर्णाट्टालकसंयुता।
परिखाभिः परिवृता पूर्णाभिर्निर्मलोदकैः॥ १८॥

नानोपवनशोभाढ्या दिव्यवापीभिरावृता।
गृहैर्विचित्रशोभाढ्यैर्मणिस्तम्भमयैः शुभैः॥ १९॥

पश्चिमद्वारमासाद्य गजवाहाः सहस्रशः।
उत्तरे द्वारि तिष्ठन्ति साश्ववाहाः सपत्तयः॥ २०॥

तिष्ठन्त्यर्बुदसङ्ख्याकाः प्राच्यामपि तथैव च।
रक्षिणो राक्षसा वीरा द्वारं दक्षिणमाश्रिताः॥ २१॥

मध्यकक्षेऽप्यसङ्ख्याता गजाश्वरथपत्तयः।
रक्षयन्ति सदा लङ्कां नानास्त्रकुशलाः प्रभो॥ २२॥

सङ्क्रमैर्विविधैर्लङ्का शतघ्नीभिश्च संयुता।
एवं स्थितेऽपि देवेश शृणु मे तत्र चेष्टितम्॥ २३॥

आप इन महापराक्रमी और शूरवीर वानरवीरोंको देखिये। ये आपका प्रिय करनेके लिये अग्निमें प्रवेश करनेको भी तैयार हैं॥ १०॥ पहले समुद्रपार करनेका विचार कीजिये, फिर लङ्काके तो दर्शन होते ही हम रावणको मरा हुआ ही समझते हैं॥ ११॥ हे राघव! त्रिलोकीमें मुझे ऐसा कोई वीर दिखायी नहीं देता जो आपके धनुष ग्रहण करनेपर युद्धमें सामने डटा रहे॥ १२॥ हे राम! इसमें तनिक भी सन्देह नहीं सब प्रकारसे जीत हमारी ही होगी, क्योंकि मुझे सब ओर ऐसे ही कारण (शकुन) दिखायी दे रहे हैं''॥ १३॥

सुग्रीवके ये भक्ति और पुरुषार्थसे भरे वचन सुनकर भगवान् रामने उन्हें सादर स्वीकार किया और फिर सामने खड़े हुए हनुमान्‌जीसे कहा—॥ १४॥ 'हम जैसे-तैसे समुद्र तो पार करेंगे ही, किन्तु तुम लङ्काका रूप तो बताओ। सुना है, उसे जीतना तो देवता और दानवोंको भी अत्यन्त कठिन है॥ १५॥ हे कपीश्वर! उसका स्वरूप विदित होनेपर मैं उसका कोई प्रतीकार सोचूँगा।'

रामचन्द्रजीके ये वचन सुनकर हनुमान्‌जीने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कहा—"देव! मैंने जैसा कुछ देखा है वह आपसे निवेदन करता हूँ। दिव्यपुरी लङ्का त्रिकूटपर्वतके शिखरपर बसी हुई है॥ १६-१७॥ उसका सोनेका परकोटा है और उसमें सोनेकी ही अट्टालिकाएँ हैं तथा वह निर्मल जलसे भरी खाइयोंसे घिरी हुई है॥ १८॥ अनेकों उपवनोंके कारण उसकी अत्यन्त शोभा हो रही है और उसमें जहाँ-तहाँ बहुत-सी बावड़ियाँ तथा विचित्र शोभासम्पन्न मणिस्तम्भयुक्त भवन शोभायमान हैं॥ १९॥ उसके पश्चिमद्वारपर हजारों गजारोही, उत्तरद्वारपर पैदल सेनाके सहित बहुत-से घुड़सवार, पूर्वद्वारपर एक अरब राक्षस वीर और दक्षिणद्वारपर भी इतने ही रक्षक रहते हैं॥ २०-२१॥ हे प्रभो! उसके मध्यभागमें भी हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंकी असंख्य सेना रहकर नगरकी रक्षा करती है। वे सब नाना प्रकारके शस्त्र चलानेमें अत्यन्त कुशल हैं॥ २२॥ इस प्रकार लङ्कामें जानेका मार्ग नाना प्रकारके संक्रम (सुरंग) और शतघ्नियों (तोपों) से सुरक्षित है; किन्तु हे देवेश्वर! यह सब कुछ होते हुए भी मैंने जो कुछ किया है वह सुनिये॥ २३॥

दशाननबलौघस्य चतुर्थांशो मया हतः ।
दग्ध्वा लङ्कां पुरीं स्वर्णप्रासादो धर्षितो मया ॥ २४ ॥

शतघ्न्यः सङ्क्रमाश्चैव नाशिता मे रघूत्तम ।
देव त्वद्दर्शनादेव लङ्का भस्मीकृता भवेत् ॥ २५ ॥

प्रस्थानं कुरु देवेश गच्छामो लवणाम्बुधेः ।
तीरं सह महावीरैर्वानरौघैः समन्ततः ॥ २६ ॥

मैंने रावणकी चौथाई सेना मार डाली और लङ्कापुरीको जलाकर उसका सोनेका महल नष्ट कर दिया ॥ २४ ॥ हे रघुश्रेष्ठ ! संक्रमों और तोपोंको मैंने तोड़ डाला । हे देव ! (मुझे तो विश्वास है) आपकी दृष्टि पड़ते ही लङ्का भस्मीभूत हो जायगी ॥ २५ ॥ हे देवेश्वर ! अब चलनेकी तैयारी कीजिये । हम सब ओरसे महाबलवान् वानर-वीरोंकी सेना लेकर क्षार (खारे पानीके) समुद्रके तटपर चलें' ॥ २६ ॥

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यमुवाच रघुनन्दनः ।
सुग्रीव सैनिकान्सर्वान्प्रस्थानायाभिनोदय ॥ २७ ॥

इदानीमेव विजयो मुहूर्तः परिवर्तते ।
अस्मिन्मुहूर्ते गत्वाहं लङ्कां राक्षससङ्कुलाम् ॥ २८ ॥

सप्राकारां सुदुर्धर्षां नाशयामि सरावणाम् ।
आनेष्यामि च सीतां मे दक्षिणाक्षि स्फुरत्यधः ॥ २९ ॥

प्रयातु वाहिनी सर्वा वानराणां तरस्विनाम् ।
रक्षन्तु यूथपाः सेनामग्रे पृष्ठे च पार्श्वयोः ॥ ३० ॥

हनूमन्तमथारुह्य गच्छाम्यग्रेऽङ्गदं ततः ।
आरुह्य लक्ष्मणो यातु सुग्रीव त्वं मया सह ॥ ३१ ॥

गजो गवाक्षो गवयो मैन्दो द्विविद एव च ।
नलो नीलः सुषेणश्च जाम्बवांश्च तथापरे ॥ ३२ ॥

सर्वे गच्छन्तु सर्वत्र सेनायाः शत्रुघातिनः ।
इत्याज्ञाप्य हरीन् रामः प्रतस्थे सहलक्ष्मणः ॥ ३३ ॥

हनुमान्जीका कथन सुनकर श्रीरघुनाथजीने कहा—"सुग्रीव ! सब सैनिकोंको इसी समय कूच करनेकी आज्ञा दो, क्योंकि इस समय विजयनामक मुहूर्त्त बीत रहा है । इस मुहूर्त्तमें जाकर मैं राक्षससंकुलित लङ्काको, जो परकोटे आदिके कारण अति दुर्जय है; रावणके सहित नष्ट कर दूँगा और सीताजीको ले आऊँगा । इस समय मेरी दायीं आँखका नीचेका भाग फड़क रहा है ॥ २७—२९ ॥ इसी समय बलवान् वानरोंकी सम्पूर्ण सेना चले; जो यूथपति हों वे अपने-अपने यूथकी आगे-पीछे और इधर-उधरसे रक्षा करें ॥ ३० ॥ मैं हनुमान्के कन्धेपर चढ़कर सबसे आगे चलता हूँ, उसके पीछे लक्ष्मण अंगदके ऊपर चढ़कर चलें और हे सुग्रीव ! तुम मेरे साथ चलो ॥ ३१ ॥ गज, गवाक्ष, गवय, मैन्द, द्विविद, नल, नील, सुषेण और जाम्बवान् तथा शत्रुओंका नाश करनेवाले और भी समस्त सेनापतिगण सेनाके चारों ओर चलें ।" वानरोंको इस प्रकार आज्ञा दे श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीके सहित कूच किया ॥ ३२-३३ ॥

सुग्रीवसहितो हर्षात्सेनामध्यगतो विभुः ।
वारणेन्द्रनिभाः सर्वे वानराः कामरूपिणः ॥ ३४ ॥

क्ष्वेलन्तः परिगर्जन्तो जग्मुस्ते दक्षिणां दिशम् ।
भक्षयन्तो ययुः सर्वे फलानि च मधूनि च ॥ ३५ ॥

ब्रुवन्तो राघवस्याग्रे हनिष्यामोऽद्य रावणम् ।
एवं ते वानरश्रेष्ठा गच्छन्त्यतुलविक्रमाः ॥ ३६ ॥

हरिभ्यामुह्यमानौ तौ शुशुभाते रघूत्तमौ ।
नक्षत्रैः सेवितौ यद्वच्चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥ ३७ ॥

भगवान् राम अति हर्षसे सुग्रीवके साथ सेनाके बीचमें जा रहे थे । समस्त वानरगण गजराजके समान बड़े डीलवाले और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे ॥ ३४ ॥ वे सब बड़े वेगसे उछलते-कूदते, गरजते और फल तथा मधु खाते दक्षिण दिशाको चले ॥ ३५ ॥ इस प्रकार वे अतुल पराक्रमी वानरश्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीके सामने 'हम आज ही रावणको मार डालेंगे' ऐसा कहते हुए जा रहे थे ॥ ३६ ॥ हनुमान् और अंगदके कन्धोंपर जाते हुए वे दोनों रघुश्रेष्ठ ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो

आवृत्य पृथिवीं कृत्स्नां जगाम महती चमूः।
प्रस्फोटयन्तः पुच्छाग्रानुद्वहन्तश्च पादपान्॥ ३८॥

शैलानारोहयन्तश्च जग्मुर्मारुतवेगतः।
असङ्ख्याताश्च सर्वत्र वानराः परिपूरिताः॥ ३९॥

हृष्टास्ते जग्मुरत्यर्थं रामेण परिपालिताः।
गता चमूर्दिवारात्रं क्वचिन्नासज्जत क्षणम्॥ ४०॥

काननानि विचित्राणि पश्यन्मलयसह्ययोः।
ते सह्यं समतिक्रम्य मलयं च तथा गिरिम्॥ ४१॥

आययुश्चानुपूर्व्येण समुद्रं भीमनिःस्वनम्।
अवतीर्य हनूमन्तं रामः सुग्रीवसंयुतः॥ ४२॥

सलिलाभ्याशमासाद्य रामो वचनमब्रवीत्।
आगताः स्मो वयं सर्वे समुद्रं मकरालयम्॥ ४३॥

इतो गन्तुमशक्यं नो निरुपायेन वानराः।
अत्र सेनानिवेशोऽस्तु मन्त्रयामोऽस्य तारणे॥ ४४॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं सुग्रीवः सागरान्तिके।
सेनां न्यवेशयत्क्षिप्रं रक्षितां कपिकुञ्जरैः॥ ४५॥

ते पश्यन्तो विषेदुस्तं सागरं भीमदर्शनम्।
महोन्नततरङ्गाढ्यं भीमनक्रभयङ्करम्॥ ४६॥

अगाधं गगनाकारं सागरं वीक्ष्य दुःखिताः।
तरिष्यामः कथं घोरं सागरं वरुणालयम्॥ ४७॥

हन्तव्योऽस्माभिरद्यैव रावणो राक्षसाधमः।
इति चिन्ताकुलाः सर्वे रामपार्श्वे व्यवस्थिताः॥ ४८॥

रामः सीतामनुस्मृत्य दुःखेन महतावृतः।
विलप्य जानकीं सीतां बहुधा कार्यमानुषः॥ ४९॥

अद्वितीयश्चिदात्मैकः परमात्मा सनातनः।
यस्तु जानाति रामस्य स्वरूपं तत्त्वतो जनः॥ ५०॥

तं न स्पृशति दुःखादि किमुतानन्दमव्ययम्।
दुःखहर्षभयक्रोधलोभमोहमदादयः॥ ५१॥

आकाश-मण्डलमें नक्षत्रोंसे सुसेवित सूर्य और चन्द्रमा हों॥ ३७॥ वह महान् सेना सम्पूर्ण पृथिवीको घेरकर चल रही थी। वानरगण अपनी पूँछ फटकारते और पेड़ोंको उखाड़ते हुए पर्वतोंपर उछलते-कूदते वायुवेगसे जा रहे थे। उस समय सब ओर असंख्य वानर भरे हुए दीख पड़ते थे॥ ३८-३९॥ भगवान् रामसे सुरक्षित होकर वे प्रसन्नतापूर्वक बड़ी तेजीसे जा रहे थे। वह वानर-सेना रात-दिन चलती थी, कहीं एक क्षणको भी न रुकती थी॥ ४०॥ अन्तमें वे सब लोग मलयाचल और सह्याद्रिके विचित्र वनोंको देखते हुए उन दोनों पर्वतोंको पार कर क्रमशः भयङ्कर गर्जना करनेवाले समुद्रके तटपर पहुँच गये। तब श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्‌जीके कन्धेसे उतरकर सुग्रीवके साथ जलके निकट आये और बोले—"हे वानरगण! हमलोग मकरादिसे पूर्ण समुद्रके तटपर तो आ गये, किन्तु अब आगे बिना कोई विशेष उपाय किये हम नहीं जा सकते। अतः अब यहीं सेनाकी छावनी डाली जाय। हमलोग समुद्र पार करनेके विषयमें परस्पर परामर्श करेंगे"॥ ४१—४४॥

रामके वचन सुनकर सुग्रीवने तुरंत ही समुद्रके निकट सेनाका पड़ाव डाला और बहुत-से प्रधान-प्रधान वानर-वीर उनकी रक्षा करने लगे॥ ४५॥ वे लोग उत्ताल तरङ्गोंसे पूर्ण तथा दारुण नाके आदिके कारण भयङ्कर समुद्रको देखकर मन-ही-मन विषाद करने लगे॥ ४६॥ उस आकाशके समान अगाध समुद्रको देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे सोचने लगे कि 'हम इस घोर वरुणालयको कैसे पार करेंगे॥ ४७॥ राक्षसाधम रावणको तो हमें आज ही मारना है (पर मारें कैसे?)' इस प्रकार सब लोग अति चिन्ताग्रस्त हो श्रीरघुनाथजीके पास बैठ गये॥ ४८॥

इधर श्रीरामचन्द्रजी भी सीताकी यादकर महान् दुःखमें डूब गये। वे यद्यपि एक अद्वितीय चिन्मात्र परमात्मा सनातन पुरुष थे, तथापि कार्यवश मनुष्यरूप होनेके कारण जानकीजीके लिये नाना प्रकारसे विलाप करने लगे। जो पुरुष परमात्मा रामका वास्तविक स्वरूप जानता है उसे भी दुःखादि स्पर्श नहीं कर सकते, फिर आनन्द-स्वरूप अविनाशी भगवान् रामकी तो बात ही क्या

अज्ञानलिङ्गान्येतानि कुतः सन्ति चिदात्मनि।
देहाभिमानिनो दुःखं न देहस्य चिदात्मनः ॥ ५२ ॥

सम्प्रसादे द्वयाभावात्सुखमात्रं हि दृश्यते।
बुद्ध्याद्यभावात्संशुद्धे दुःखं तत्र न दृश्यते।
अतो दुःखादिकं सर्वं बुद्धेरेव न संशयः ॥ ५३ ॥

रामः परात्मा पुरुषः पुराणो
नित्योदितो नित्यसुखो निरीहः।
तथापि मायागुणसङ्गतोऽसौ
सुखीव दुःखीव विभाव्यतेऽबुधैः ॥ ५४ ॥

है? दुःख, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह और मद आदि सब अज्ञानके ही चिह्न हैं; चिदात्मा राममें ये कैसे हो सकते हैं? देहका दुःख देहाभिमानीको ही होता है, चेतन आत्माको नहीं ॥ ४९—५२ ॥ समाधि-अवस्थामें द्वैत-प्रपञ्चका अभाव हो जानेके कारण वहाँ केवल सुखका ही साक्षात्कार होता है। उस अवस्थामें बुद्धि आदिका अभाव हो जानेसे शुद्ध आत्मामें दुःखका लेश भी दिखायी नहीं देता। अतः इसमें सन्देह नहीं ये दुःखादि सब बुद्धिके ही धर्म हैं ॥ ५३ ॥ भगवान् राम परमात्मा, पुराणपुरुष, नित्यप्रकाश-स्वरूप, नित्यसुख-स्वरूप और निरीह हैं; किन्तु अज्ञानी पुरुषोंको वे मायिक गुणोंके सम्बन्धसे सुखी या दुःखी-से प्रतीत होते हैं ॥ ५४ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीय सर्ग

रावणद्वारा विभीषणका तिरस्कार

श्रीमहादेव उवाच

लङ्कायां रावणो दृष्ट्वा कृतं कर्म हनूमता।
दुष्करं दैवतैर्वापि ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ॥ १ ॥
आहूय मन्त्रिणः सर्वानिदं वचनमब्रवीत्।
हनूमता कृतं कर्म भवद्भिर्दृष्टमेव तत् ॥ २ ॥
प्रविश्य लङ्कां दुर्धर्षां दृष्ट्वा सीतां दुरासदाम्।
हत्वा च राक्षसान्वीरानक्षं मन्दोदरीसुतम् ॥ ३ ॥
दग्ध्वा लङ्कामशेषेण लङ्घयित्वा च सागरम्।
युष्मान्सर्वानतिक्रम्य स्वस्थोऽगात्पुनरेव सः ॥ ४ ॥
किं कर्तव्यमितोऽस्माभिर्यूयं मन्त्रविशारदाः।
मन्त्रयध्वं प्रयत्नेन यत्कृतं मे हितं भवेत् ॥ ५ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! इधर लङ्कामें श्रीहनुमान्‌जीका देवताओंके लिये भी दुष्कर कृत्य देख रावणने अपने समस्त मन्त्रियोंको बुलाकर लज्जासे सिर नीचा करके कहा—"हनुमान्‌ने जो-जो कर्म किया वह सब आपलोगोंने देखा ही है ॥ १-२ ॥ वह दुष्प्रवेश्य लङ्कामें घुसकर सर्वथा दुष्प्राप्य सीतासे मिला तथा उसने अन्य राक्षस वीरोंके साथ मन्दोदरीके पुत्र अक्षको मारकर सम्पूर्ण लङ्काको जला दिया और फिर आप सब लोगोंका तिरस्कार कर कुशलपूर्वक समुद्र लाँघकर लौट गया ॥ ३-४ ॥ आप सब लोग नीति-निपुण हैं, अतः अब हमें क्या करना चाहिये और क्या करनेसे हमारा हित हो सकता है—इसका प्रयत्नपूर्वक विचार कीजिये" ॥ ५ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा राक्षसास्तमथाब्रुवन्।
देव शङ्का कुतो रामात्तव लोकजितो रणे ॥ ६ ॥
इन्द्रस्तु बद्ध्वा निक्षिप्तः पुत्रेण तव पत्तने।
जित्वा कुबेरमानीय पुष्पकं भुज्यते त्वया ॥ ७ ॥

रावणके वचन सुनकर राक्षसोंने उससे कहा—"देव! आपको रामसे क्या शंका है? आपने तो युद्धमें समस्त लोकोंको जीत लिया है ॥ ६ ॥ आपके पुत्रने इन्द्रको बाँधकर अपनी राजधानीमें डाल लिया था और आप स्वयं भी कुबेरको जीतकर उसका पुष्पक विमान

यमो जितः कालदण्डाद्भयं नाभूत्तव प्रभो ।
वरुणो हुङ्कृतेनैव जितः सर्वेऽपि राक्षसाः ॥ ८ ॥

मयो महासुरो भीत्या कन्यां दत्त्वा स्वयं तव ।
त्वद्वशे वर्ततेऽद्यापि किमुतान्ये महासुराः ॥ ९ ॥

हनूमद्धर्षणं यत्तु तदवज्ञाकृतं च नः ।
वानरोऽयं किमस्माकमस्मिन्पौरुषदर्शने ॥ १० ॥

इत्युपेक्षितमस्माभिर्धर्षणं तेन किं भवेत् ।
वयं प्रमत्ताः किं तेन वञ्चिताः स्मो हनूमता ॥ ११ ॥

जानीमो यदि तं सर्वे कथं जीवन् गमिष्यति ।
आज्ञापय जगत्कृत्स्नमवानरममानुषम् ॥ १२ ॥

कृत्वायास्यामहे सर्वे प्रत्येकं वा नियोजय ।
कुम्भकर्णस्तदा प्राह रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ १३ ॥

आरब्धं यत्त्वया कर्म स्वात्मनाशाय केवलम् ।
न दृष्टोऽसि तदा भाग्यात्त्वं रामेण महात्मना ॥ १४ ॥

यदि पश्यति रामस्त्वां जीवन्नायासि रावण ।
रामो न मानुषो देवः साक्षान्नारायणोऽव्ययः ॥ १५ ॥

सीता भगवती लक्ष्मी रामपत्नी यशस्विनी ।
राक्षसानां विनाशाय त्वयानीता सुमध्यमा ॥ १६ ॥

विषपिण्डमिवागीर्य महामीनो यथा तथा ।
आनीता जानकी पश्चात्त्वया किं वा भविष्यति ॥ १७ ॥

यद्यप्यनुचितं कर्म त्वया कृतमजानता ।
सर्वं समं करिष्यामि स्वस्थचित्तो भव प्रभो ॥ १८ ॥

कुम्भकर्णवचः श्रुत्वा वाक्यमिन्द्रजिदब्रवीत् ।
देहि देव ममानुज्ञां हत्वा रामं सलक्ष्मणम् ।
सुग्रीवं वानरांश्चैव पुनर्यास्यामि तेऽन्तिकम् ॥ १९ ॥

लाकर भोगते हैं ॥ ७ ॥ हे प्रभो ! आपने यमराजको भी जीत लिया, उसके कालदण्डसे भी आपको कोई भय नहीं हुआ तथा वरुण और समस्त राक्षसोंको आपने हुंकारसे ही जीत लिया था ॥ ८ ॥ और महासुरोंकी तो बात ही क्या है, स्वयं मयासुर भी आपके भयसे आपको अपनी कन्या देकर आजतक आपके अधीन बना हुआ है ॥ ९ ॥ हनुमान्‌ने जो हमारा तिरस्कार किया है वह तो हमारी ही उपेक्षासे हुआ है। हमने यह सोचकर कि यह वानर है इसे पुरुषार्थ दिखानेमें क्या रखा है उसकी उपेक्षा कर दी थी, नहीं तो वह हमारी अवज्ञा क्या कर सकता था ? ॥ १० ॥ अतः असावधान रहनेके कारण यदि हमें हनुमान्‌ने ठग लिया तो इससे क्या हुआ ? यदि हम सब उसे जानते तो वह जीता हुआ कैसे जा सकता था ? आप हमें आज्ञा दीजिये, हम सब अभी जाकर पृथ्वीको वानर और मनुष्योंसे शून्य कर आते हैं। अथवा हममेंसे एक-एकको ही इस कार्यके लिये नियुक्त कीजिये।''

तदनन्तर राक्षसराज रावणसे कुम्भकर्ण बोला— ॥ ११—१३ ॥ ''आपने जो कार्य आरम्भ किया है वह केवल आपका नाश करनेके लिये ही है। सौभाग्यवश इतना ही अच्छा हुआ कि सीताजीको चुरानेके समय महात्मा रामने आपको नहीं देखा ॥ १४ ॥ हे रावण ! यदि उस समय राम आपको देख लेते तो आप जीते-जागते नहीं लौट सकते थे। राम कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे साक्षात् अव्यय नारायणदेव हैं ॥ १५ ॥ भगवान् रामकी पत्नी यशस्विनी सीताजी साक्षात् भगवती लक्ष्मी हैं, उस सुन्दरीको आप राक्षसोंके नाशके लिये ही लाये हैं ॥ १६ ॥ जिस प्रकार कोई महामत्स्य विषका पिण्ड निगल जाय उसी प्रकार आप (अपने नाशके लिये) जानकीको ले आये हैं, न जाने आगे क्या होना है ? ॥ १७ ॥ यद्यपि आपने अनजानमें यह बड़ा ही अनुचित कार्य किया है, तथापि आप शान्त होइये, मैं सब काम ठीक किये देता हूँ ॥ १८ ॥ कुम्भकर्णके ये वचन सुनकर इन्द्रजित् बोला—'प्रभो ! आप मुझे आज्ञा दीजिये, मैं अभी लक्ष्मणके सहित राम, सुग्रीव और समस्त वानरोंको मारकर आपके पास लौट आता हूँ'' ॥ १९ ॥

तत्रागतो भागवतप्रधानो
विभीषणो बुद्धिमतां वरिष्ठः।
श्रीरामपादद्वय एकतानः
प्रणम्य देवारिमुपोपविष्टः॥ २०॥

विलोक्य कुम्भश्रवणादिदैत्या-
न्मत्तप्रमत्ताननतिविस्मयेन।
विलोक्य कामातुरमप्रमत्तो
दशाननं प्राह विशुद्धबुद्धिः॥ २१॥

न कुम्भकर्णेन्द्रजितौ च राजं-
स्तथा महापार्श्वमहोदरौ तौ।
निकुम्भकुम्भौ च तथातिकायः
स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥ २२॥

सीताभिधानेन महाग्रहेण
ग्रस्तोऽसि राजन् न च ते विमोक्षः।
तामेव सत्कृत्य महाधनेन
दत्त्वाभिरामाय सुखी भव त्वम्॥ २३॥

यावन्न रामस्य शिताः शिलीमुखा
लङ्कामभिव्याप्य शिरांसि रक्षसाम्।
छिन्दन्ति तावद्रघुनायकस्य भो-
स्तां जानकीं त्वं प्रतिदातुमर्हसि॥ २४॥

यावन्नगाभाः कपयो महाबला
हरीन्द्रतुल्या नखदंष्ट्रयोधिनः।
लङ्कां समाक्रम्य विनाशयन्ति ते
तावद्द्रुतं देहि रघूत्तमाय ताम्॥ २५॥

जीवन्न रामेण विमोक्ष्यसे त्वं
गुप्तः सुरेन्द्रैरपि शङ्करेण।
न देवराजाङ्कगतो न मृत्योः
पाताललोकानपि सम्प्रविष्टः॥ २६॥

शुभं हितं पवित्रं च विभीषणवचः खलः।
प्रतिजग्राह नैवासौ म्रियमाण इवौषधम्॥ २७॥

इसी समय वहाँ भागवत-प्रधान बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विभीषणजी आये। उनके अन्तःकरणकी वृत्ति एकाग्रतापूर्वक भगवान् रामके चरणयुगलमें लगी हुई थी। वहाँ आकर वे देवशत्रु रावणको प्रणाम कर उसके पास बैठ गये॥ २०॥ वहाँ बैठकर उन्होंने एक बार कुम्भकर्ण आदि समस्त मदोन्मत्त राक्षसोंको अति विस्मयके साथ देखा। फिर यह भी देखा कि रावण कामातुर है, (वह किसीकी माननेवाला नहीं है)। तथापि अति निर्मल-बुद्धि होनेसे वे अपने कर्तव्यमें सावधान थे, इसलिये उन्होंने रावणसे कहा—॥ २१॥ "हे राजन्! युद्धमें रघुनाथजीके सामने कुम्भकर्ण, इन्द्रजित्, महापार्श्व, महोदर, निकुम्भ, कुम्भ तथा अतिकाय आदि कोई भी नहीं ठहर सकते॥ २२॥

हे राजन्! आपको सीता नामक एक प्रबल ग्रहने ग्रस्त कर लिया है, इससे आपका छुटकारा इस तरह नहीं हो सकता। अब आप उसे सत्कारपूर्वक बहुत-से धनके साथ श्रीरामचन्द्रजीको लौटा दीजिये और सुखी हो जाइये॥ २३॥ जबतक श्रीरामचन्द्रजीके तीक्ष्ण बाण लंकामें व्याप्त होकर राक्षसोंके सिर नहीं काटते, तबतक ही उचित है कि आप उन्हें जानकीजी सौंप दें॥ २४॥ नख और दाढ़ोंसे ही लड़नेवाले, सिंहके समान महाबलवान् वे पर्वताकार वानरगण जबतक लंकामें फैलकर उसे नष्ट-भ्रष्ट नहीं करते तभीतक आप सीताजीको जल्दी-से-जल्दी श्रीरघुनाथजीको सौंप दीजिये॥ २५॥ नहीं तो, भले ही इन्द्र और शंकर भी आपकी रक्षा करें अथवा देवराज इन्द्र और मृत्यु भी आपको गोदमें लेकर बचायें या आप पातालमें भी घुस जायँ, तो भी रामसे आप जीवित नहीं बच सकते'॥ २६॥

विभीषणके इन शुभ, हितकर और पवित्र वचनोंको दुष्ट रावणने इसी प्रकार ग्रहण नहीं किया जैसे मरनेवाला पुरुष औषध ग्रहण नहीं करता॥ २७॥ बल्कि

कालेन नोदितो दैत्यो विभीषणमथाब्रवीत्।
मद्दत्तभोगैः पुष्टाङ्गो मत्समीपे वसन्नपि ॥ २८ ॥

प्रतीपमाचरत्येष ममैव हितकारिणः।
मित्रभावेन शत्रुर्मे जातो नास्त्यत्र संशयः ॥ २९ ॥

अनार्येण कृतघ्नेन सङ्गतिर्मे न युज्यते।
विनाशमभिकाङ्क्षन्ति ज्ञातीनां ज्ञातयः सदा ॥ ३० ॥

योऽन्यस्त्वेवंविधं ब्रूयाद्वाक्यमेकं निशाचरः।
हन्मि तस्मिन् क्षणे एव धिक् त्वां रक्षः कुलाधमम् ॥ ३१ ॥

रावणेनैवमुक्तः सन्परुषं स विभीषणः।
उत्पपात सभामध्याद्गदापाणिर्महाबलः ॥ ३२ ॥

चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्धं गगनस्थोऽब्रवीद्वचः।
क्रोधेन महताविष्टो रावणं दशकन्धरम्:
मा विनाशमुपैहि त्वं प्रियवादिनमेव माम् ॥ ३३ ॥

धिक्करोषि तथापि त्वं ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः।
कालो राघवरूपेण जातो दशरथालये ॥ ३४ ॥

काली सीताभिधानेन जाता जनकनन्दिनी।
तावुभावागतावत्र भूमेर्भारापनुत्तये ॥ ३५ ॥

तेनैव प्रेरितस्त्वं तु न शृणोषि हितं मम।
श्रीरामः प्रकृतेः साक्षात्परस्तात्सर्वदा स्थितः ॥ ३६ ॥

बहिरन्तश्च भूतानां समः सर्वत्र संस्थितः।
नामरूपादिभेदेन तत्तन्मय इवामलः ॥ ३७ ॥

यथा नानाप्रकारेषु वृक्षेष्वेको महानलः।
तत्तदाकृतिभेदेन भिद्यतेऽज्ञानचक्षुषाम् ॥ ३८ ॥

पञ्चकोशादिभेदेन तत्तन्मय इवाबभौ।
नीलपीतादियोगेन निर्मलः स्फटिको यथा ॥ ३९ ॥

स एव नित्यमुक्तोऽपि स्वमायागुणबिम्बितः।
कालः प्रधानं पुरुषोऽव्यक्तं चेति चतुर्विधः ॥ ४० ॥

वह दुष्ट दैत्य कालकी प्रेरणासे विभीषणसे इस प्रकार कहने लगा—"देखो, यह मेरे ही दिये हुए भोगोंसे पुष्ट होकर और मेरे ही पास रहकर भी मुझ अपने हित-कर्ताके ही विरुद्ध चलता है; निःसन्देह यह मित्ररूपसे मेरा शत्रु ही प्रकट हुआ है ॥ २८-२९ ॥ इस अनार्य और कृतघ्नका मेरे साथ रहना ठीक नहीं है। प्रायः यह देखनेमें आता है कि जातिवाले अपने ही जाति-भाइयोंके नाशकी सदा इच्छा किया करते हैं ॥ ३० ॥ यदि कोई और राक्षस ऐसा एक भी वाक्य कहता तो मैं उसे उसी क्षण मार डालता। अरे नीच ! तू राक्षसकुलमें अत्यन्त अधम है, तुझे धिक्कार है" ॥ ३१ ॥

रावणके इस प्रकार कटुवचन कहनेपर महाबली विभीषण हाथमें गदा लेकर सभासे उड़े ॥ ३२ ॥ और अपने चार मन्त्रियोंके साथ आकाशमें स्थित होकर अत्यन्त क्रोधमें भरकर दशशीश रावणसे कहा— ॥ ३३ ॥ "मैं तुम्हारे हितकी बात कहनेवाला हूँ, फिर भी तुम मुझे धिक्कारते हो ! तथापि मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा नाश न हो, क्योंकि तुम मेरे बड़े भाई हो; अतः पिताके समान हो। तुम्हारा काल रघुनाथजीके रूपसे महाराज दशरथके घरमें प्रकट हो गया है ॥ ३४ ॥ और महाशक्ति काली 'सीता' नामसे जनकजीकी पुत्री हुई हैं। ये दोनों पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ही यहाँ आये हैं ॥ ३५ ॥ उन्हींकी प्रेरणासे तुम मेरा हितकर वचन नहीं सुनते। भगवान् राम सर्वदा साक्षात् प्रकृतिसे परे हैं ॥ ३६ ॥ वे प्राणियोंके बाहर-भीतर सर्वत्र समानभावसे स्थित हैं और नित्य निर्मल होते हुए भी नाम-रूप आदि भेदसे विभिन्न-से भासते हैं ॥ ३७ ॥ जिस प्रकार अज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें एक ही महाग्नि नाना प्रकारके वृक्षोंमें उनके आकार-भेदसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, अथवा जैसे शुद्ध स्फटिकमणि नील-पीतादि रंगोंकी सन्निधिमात्रसे ही नील-पीत आदि वर्णोंवाली प्रतीत होती है, वैसे ही पञ्चकोश आदिके भेदसे आत्मा तद्रूप-सा भासता है ॥ ३८-३९ ॥ वे (श्रीभगवान् ही) नित्यमुक्त होकर भी अपनी मायाके गुणोंमें प्रतिबिम्बित होकर काल, प्रधान, पुरुष और अव्यक्त इन चार प्रकारके नामोंसे कहे जाते

प्रधानपुरुषाभ्यां स जगत्कृत्स्नं सृजत्यजः ।
कालरूपेण कलनां जगतः कुरुतेऽव्ययः ॥ ४१ ॥

कालरूपी स भगवान् रामरूपेण मायया ॥ ४२ ॥

ब्रह्मणा प्रार्थितो देवस्त्वद्वधार्थमिहागतः ।
तदन्यथा कथं कुर्यात्सत्यसंकल्प ईश्वरः ॥ ४३ ॥

हनिष्यति त्वां रामस्तु सपुत्रबलवाहनम् ।
हन्यमानं न शक्नोमि द्रष्टुं रामेण रावण ॥ ४४ ॥

त्वां राक्षसकुलं कृत्स्नं ततो गच्छामि राघवम् ।
मयि याते सुखीभूत्वा रमस्व भवने चिरम् ॥ ४५ ॥

विभीषणो रावणवाक्यतः क्षणा-
द्विसृज्य सर्वं सपरिच्छदं गृहम् ।
जगाम रामस्य पदारविन्दयोः
सेवाभिकाङ्क्षी परिपूर्णमानसः ॥ ४६ ॥

हैं ॥ ४० ॥ वे अजन्मा होकर भी प्रधान और पुरुषरूपसे सम्पूर्ण जगत्की रचना करते हैं और अविनाशी होकर भी कालरूपसे जगत्का संहार करते हैं ॥ ४१ ॥ वे ही कालरूपी भगवान् ब्रह्माकी प्रार्थनासे आपका वध करनेके लिये मायासे रामरूप होकर यहाँ आये हैं। ईश्वर सत्यसंकल्प हैं, इसलिये वे अपनी प्रतिज्ञाको अन्यथा कैसे कर सकते हैं ॥ ४२-४३ ॥ अतः राम अवश्य ही आपको पुत्र, सेना और वाहनादिके सहित मारेंगे। हे रावण ! मैं रामद्वारा सम्पूर्ण राक्षसवंश और आपका संहार होता नहीं देख सकता। अतः मैं रघुनाथजीके पास जाता हूँ। मेरे चले जानेपर आप आनन्दपूर्वक अपने महलमें बहुत समयतक भोग भोगना" ॥ ४४-४५ ॥

इस प्रकार, सन्तुष्टचित्त विभीषण रावणके कठोर भाषणसे एक क्षणमें ही समस्त सामग्रीके सहित अपने घरको छोड़कर भगवान् रामके चरणकमलोंकी सेवाकी कामनासे उनके पास चले गये ॥ ४६ ॥

★

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

★

तृतीय सर्ग

विभीषणकी शरणागति, समुद्रका त्रास तथा सेतु-बन्धका आरम्भ

श्रीमहादेव उवाच

विभीषणो महाभागश्चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सह ।
आगत्य गगने रामसम्मुखे समवस्थितः ॥ १ ॥

उच्चैरुवाच भोः स्वामिन् राम राजीवलोचन ।
रावणस्यानुजोऽहं ते दारहर्तुर्विभीषणः ॥ २ ॥

नाम्ना भ्रात्रा निरस्तोऽहं त्वामेव शरणं गतः ।
हितमुक्तं मया देव तस्य चाविदितात्मनः ॥ ३ ॥

सीतां रामाय वैदेहीं प्रेषयेति पुनः पुनः ।
उक्तोऽपि न शृणोत्येव कालपाशवशं गतः ॥ ४ ॥

हन्तुं मां खड्गमादाय प्राद्रवद्राक्षसाधमः ।
ततोऽचिरेण सचिवैश्चतुर्भिः सहितो भयात् ॥ ५ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! तदनन्तर महाभाग विभीषण अपने चार मन्त्रियोंके साथ आकर आकाशमें श्रीरघुनाथजीके सामने उपस्थित हुए ॥ १ ॥ और ऊँचे स्वरसे कहने लगे—"हे कमलनयन प्रभो राम ! मैं आपकी भार्याका हरण करनेवाले रावणका छोटा भाई हूँ। मेरा नाम विभीषण है। मुझे भाईने निकाल दिया है, इसलिये मैं आपकी शरणमें आया हूँ। हे देव ! मैंने उस अज्ञानीके हितकी बात कही थी ॥ २-३ ॥ उससे बार-बार कहा है कि 'तुम विदेहनन्दिनी सीताको रामके पास भेज दो,' तथापि कालके वशीभूत होनेके कारण वह कुछ सुनता ही नहीं है ॥ ४ ॥ इस समय वह राक्षसाधम मुझे तलवारसे मारनेके लिये दौड़ा; तब मैं भयसे तुरंत ही अपने चार मन्त्रियोंके सहित संसार-पाशसे मुक्त होनेके लिये

त्वामेव भवमोक्षाय मुमुक्षुः शरणं गतः ।
विभीषणवचः श्रुत्वा सुग्रीवो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

विश्वासार्हो न ते राम मायावी राक्षसाधमः ।
सीताहर्तुर्विशेषेण रावणस्यानुजो बली ॥ ७ ॥

मन्त्रिभिः सायुधैरस्मान् विवरे निहनिष्यति ।
तदाज्ञापय मे देव वानरैर्हन्यतामयम् ॥ ८ ॥

ममैवं भाति ते राम बुद्ध्या किं निश्चितं वद ।
श्रुत्वा सुग्रीववचनं रामः सस्मितमब्रवीत् ॥ ९ ॥

यदीच्छामि कपिश्रेष्ठ लोकान्सर्वान्सहेश्वरान् ।
निमिषार्धेन संहन्यां सृजामि निमिषार्धतः ॥ १० ॥

अतो मयाभयं दत्तं शीघ्रमानय राक्षसम् ॥ ११ ॥

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥ १२ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा सुग्रीवो हृष्टमानसः ।
विभीषणमथानाय्य दर्शयामास राघवम् ॥ १३ ॥

विभीषणस्तु साष्टाङ्गं प्रणिपत्य रघूत्तमम् ।
हर्षगद्गदया वाचा भक्त्या च परयान्वितः ॥ १४ ॥

रामं श्यामं विशालाक्षं प्रसन्नमुखपंकजम् ।
धनुर्बाणधरं शान्तं लक्ष्मणेन समन्वितम् ॥ १५ ॥

कृताञ्जलिपुटो भूत्वा स्तोतुं समुपचक्रमे ॥ १६ ॥

विभीषण उवाच

नमस्ते राम राजेन्द्र नमः सीतामनोरम ।
नमस्ते चण्डकोदण्ड नमस्ते भक्तवत्सल ॥ १७ ॥

नमोऽनन्ताय शान्ताय रामायामिततेजसे ।
सुग्रीवमित्राय च ते रघूणां पतये नमः ॥ १८ ॥

जगदुत्पत्तिनाशानां कारणाय महात्मने ।
त्रैलोक्यगुरवेऽनादिगृहस्थाय नमो नमः ॥ १९ ॥

मुमुक्षु होकर आपकी ही शरणमें चला आया हूँ।''

विभीषणके ये वचन सुनकर सुग्रीवने कहा— ॥ ५-६ ॥ 'हे राम ! इस मायावी राक्षसाधमका कुछ विश्वास न करना चाहिये। (यदि कोई और होता तब कोई विशेष चिन्ताकी बात भी नहीं थी; किन्तु) यह तो सीताका हरण करनेवाले रावणका ही छोटा भाई है और वैसे भी बहुत बलवान् दिखायी देता है ॥ ७ ॥ यह अपने सशस्त्र मन्त्रियोंके साथ किसी समय एकान्तमें हमें मार डालेगा। अतः हे प्रभो ! मुझे आज्ञा दीजिये मैं इसे वानरोंसे मरवा डालूँ ॥ ८ ॥ हे राम ! मुझे तो ऐसा ही जँचता है, आपका इस विषयमें क्या निश्चय है, सो कहिये।' सुग्रीवके वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने मुसकराकर कहा— ॥ ९ ॥ ''हे कपिश्रेष्ठ ! यदि मेरी इच्छा हो तो मैं आधे निमेषमें ही लोकपालोंके सहित सम्पूर्ण लोकोंको नष्ट कर सकता हूँ और आधे निमेषमें ही सबको रच सकता हूँ, अतः (तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो) मैं इस राक्षसको अभयदान देता हूँ, तुम इसे शीघ्र ही ले आओ ॥ १०-११ ॥ मेरा यह नियम है कि जो एक बार भी मेरी शरण आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय माँगता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ'' ॥ १२ ॥

रामके ये वचन सुनकर सुग्रीवने अति प्रसन्नचित्तसे विभीषणको लाकर रघुनाथजीसे मिलाया ॥ १३ ॥ विभीषणने रघुनाथजीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और हर्षसे गद्गदकण्ठ हो परम भक्तिपूर्वक हाथ जोड़कर शान्तमूर्ति प्रसन्नवदनारविन्द विशालनयन श्यामसुन्दर धनुर्बाणधारी भगवान् रामकी लक्ष्मणजीके सहित स्तुति करनी आरम्भ की ॥ १४—१६ ॥

विभीषण बोले—'हे राजराजेश्वर राम ! आपको नमस्कार है। हे सीताके मनमें रमण करनेवाले ! आपको नमस्कार है। हे प्रचण्डधनुर्धर ! आपको नमस्कार है। हे भक्तवत्सल ! आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ १७ ॥ हे अनन्त, शान्त, अतुलतेजोमय, सुग्रीवसखा रघुकुलनायक भगवान् राम ! आपको नमस्कार है ॥ १८ ॥ जो संसारकी उत्पत्ति और नाशके कारण हैं, त्रिलोकीके गुरु और अनादिकालीन गृहस्थ* हैं उन महात्मा रामको बारम्बार

* प्रकृतिरूपा पत्नीके साथ भगवान्का अनादि सम्बन्ध है, इसलिये वे अनादि गृहस्थ हैं।

त्वमादिर्जगतां राम त्वमेव स्थितिकारणम्।
त्वमन्ते निधनस्थानं स्वेच्छाचारस्त्वमेव हि ॥ २० ॥

चराचराणां भूतानां बहिरन्तश्च राघव।
व्याप्यव्यापकरूपेण भवान् भाति जगन्मयः ॥ २१ ॥

त्वन्मायया हृतज्ञाना नष्टात्मानो विचेतसः।
गतागतं प्रपद्यन्ते पापपुण्यवशात्सदा ॥ २२ ॥

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा।
यावन्न ज्ञायते ज्ञानं चेतसानन्यगामिना ॥ २३ ॥

त्वदज्ञानात्सदा युक्ताः पुत्रदारगृहादिषु।
रमन्ते विषयान्सर्वानन्ते दुःखप्रदान्विभो ॥ २४ ॥

त्वमिन्द्रोऽग्निर्यमो रक्षो वरुणश्च तथानिलः।
कुबेरश्च तथा रुद्रस्त्वमेव पुरुषोत्तम ॥ २५ ॥

त्वमणोरप्यणीयांश्च स्थूलात् स्थूलतरः प्रभो।
त्वं पिता सर्वलोकानां माता धाता त्वमेव हि ॥ २६ ॥

आदिमध्यान्तरहितः परिपूर्णोऽच्युतोऽव्ययः।
त्वं पाणिपादरहितश्चक्षुःश्रोत्रविवर्जितः ॥ २७ ॥

श्रोता द्रष्टा ग्रहीता च जवनस्त्वं खरान्तक।
कोशेभ्यो व्यतिरिक्तस्त्वं निर्गुणो निरुपाश्रयः ॥ २८ ॥

निर्विकल्पो निर्विकारो निराकारो निरीश्वरः।
षड्भावरहितोऽनादिः पुरुषः प्रकृतेः परः ॥ २९ ॥

मायया गृह्यमाणस्त्वं मनुष्य इव भाव्यसे।
ज्ञात्वा त्वां निर्गुणमजं वैष्णवा मोक्षगामिनः ॥ ३० ॥

अहं त्वत्पादसद्भक्तिनिःश्रेणीं प्राप्य राघव।
इच्छामि ज्ञानयोगाख्यं सौधमारोढुमीश्वर ॥ ३१ ॥

नमः सीतापते राम नमः कारुणिकोत्तम।
रावणारे नमस्तुभ्यं त्राहि मां भवसागरात् ॥ ३२ ॥

नमस्कार है ॥ १९ ॥ हे राम! आप संसारकी उत्पत्ति और स्थितिके कारण हैं तथा अन्तमें आप ही उसके लयस्थान हैं; आप अपने इच्छानुसार विहार करनेवाले हैं ॥ २० ॥ हे राघव! चराचर भूतोंके भीतर और बाहर व्याप्य-व्यापक-रूपसे आप विश्वरूप ही भास रहे हैं ॥ २१ ॥ आपकी मायाने जिनका सदसद्विवेक हर लिया है, वे नष्ट-बुद्धि मूढ़ पुरुष अपने पाप-पुण्यके वशीभूत होकर संसारमें बारम्बार आते-जाते रहते हैं ॥ २२ ॥ जबतक मनुष्य एकाग्रचित्तसे आपके ज्ञानस्वरूपको नहीं जानता तभीतक सीपीमें चाँदीके समान यह संसार सत्य प्रतीत होता है ॥ २३ ॥ हे विभो! आपको न जाननेसे ही लोग पुत्र, स्त्री और गृह आदिमें आसक्त होकर अन्तमें दुःख देनेवाले विषयोंमें सुख मानते हैं ॥ २४ ॥ हे पुरुषोत्तम! आप ही इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण और वायु हैं तथा आप ही कुबेर और रुद्र हैं ॥ २५ ॥ हे प्रभो! आप अणु-से-अणु और महान्-से-महान् हैं तथा आप ही समस्त लोकोंके पिता, माता और धाता (धारण-पोषण करनेवाले) हैं ॥ २६ ॥ आप आदि, मध्य और अन्तसे रहित सर्वत्र परिपूर्ण अच्युत और अविनाशी हैं। आप हाथ-पाँवसे रहित तथा नेत्र और कर्णहीन हैं ॥ २७ ॥ तथापि हे खरान्तक! आप सब कुछ देखनेवाले, सब कुछ सुननेवाले, सब कुछ ग्रहण करनेवाले और बड़े वेगवान् हैं। हे प्रभो! आप अन्नमय आदि पाँचों कोशोंसे रहित तथा निर्गुण और निराश्रय हैं ॥ २८ ॥ आप निर्विकल्प, निर्विकार और निराकार हैं, आपका कोई प्रेरक नहीं है, आप (उत्पत्ति, वृद्धि, परिणाम, क्षय, जीर्णता और नाश—इन) छः भाव-विकारोंसे रहित हैं तथा प्रकृतिसे अतीत अनादि पुरुष हैं ॥ २९ ॥ मायाके कारण ही आप साधारण मनुष्यके समान प्रतीत होते हैं, वैष्णवजन आपको निर्गुण और अजन्मा जानकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ३० ॥ हे राघव! हे प्रभो! मैं आपके चरण-कमलकी विशुद्ध भक्तिरूप सीढ़ी पाकर ज्ञानयोग नामक राजभवनके शिखरपर चढ़ना चाहता हूँ ॥ ३१ ॥ हे कारुणिकश्रेष्ठ सीतापते राम! आपको नमस्कार है; हे रावणारे! आपको बारम्बार नमस्कार है; आप इस संसार-सागरसे मेरी रक्षा कीजिये" ॥ ३२ ॥

ततः प्रसन्नः प्रोवाच श्रीरामो भक्तवत्सलः ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते वाञ्छितं वरदोऽस्म्यहम् ॥ ३३ ॥

विभीषण उवाच

धन्योऽस्मि कृतकृत्योऽस्मि कृतकार्योऽस्मि राघव ।
त्वत्पाददर्शनादेव विमुक्तोऽस्मि न संशयः ॥ ३४ ॥

नास्ति मत्सदृशो धन्यो नास्ति मत्सदृशः शुचिः ।
नास्ति मत्सदृशो लोके राम त्वन्मूर्तिदर्शनात् ॥ ३५ ॥

कर्मबन्धविनाशाय त्वज्ज्ञानं भक्तिलक्षणम् ।
त्वद्ध्यानं परमार्थं च देहि मे रघुनन्दन ॥ ३६ ॥

न याचे राम राजेन्द्र सुखं विषयसम्भवम् ।
त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे ॥ ३७ ॥

ओमित्युक्त्वा पुनः प्रीतो रामः प्रोवाच राक्षसम् ।
शृणु वक्ष्यामि ते भद्रं रहस्यं मम निश्चितम् ॥ ३८ ॥

मद्भक्तानां प्रशान्तानां योगिनां वीतरागिणाम् ।
हृदये सीतया नित्यं वसाम्यत्र न संशयः ॥ ३९ ॥

तस्मात्त्वं सर्वदा शान्तः सर्वकल्मषवर्जितः ।
मां ध्यात्वा मोक्ष्यसे नित्यं घोरसंसारसागरात् ॥ ४० ॥

स्तोत्रमेतत्पठेद्यस्तु लिखेद्यः शृणुयादपि ।
मत्प्रीतये ममाभीष्टं सारूप्यं समवाप्नुयात् ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं प्राह श्रीरामो भक्तभक्तिमान् ।
पश्यत्विदानीमेवैष मम सन्दर्शने फलम् ॥ ४२ ॥

लङ्काराज्येऽभिषेक्ष्यामि जलमानय सागरात् ।
यावच्चन्द्रश्च सूर्यश्च यावत्तिष्ठति मेदिनी ॥ ४३ ॥

यावन्मम कथा लोके तावद्राज्यं करोत्वसौ ।
इत्युक्त्वा लक्ष्मणेनाम्बु ह्यानाय्य कलशेन तम् ॥ ४४ ॥

लङ्काराज्याधिपत्यार्थमभिषेकं रमापतिः ।
कारयामास सचिवैर्लक्ष्मणेन विशेषतः ॥ ४५ ॥

तब भक्तवत्सल भगवान् रामने प्रसन्न होकर कहा—"विभीषण ! तेरा कल्याण हो, मैं तुझे वर देना चाहता हूँ; अतः तेरी जो इच्छा हो वही वर माँग ले" ॥ ३३ ॥

विभीषण बोले—"हे रघुनन्दन ! मैं तो आपके चरणोंका दर्शन पाकर ही धन्य और कृतकृत्य हो गया; मुझे जो कुछ पाना था वह मिल गया । अब तो मैं निःसन्देह मुक्त हो गया ॥ ३४ ॥ हे राम ! आपकी मनोहर मूर्तिका दर्शन करनेसे आज मेरे समान कोई धन्य और पवित्र नहीं है, अब इस संसारमें (किसी भी प्रकार) मेरी समता करनेवाला कोई नहीं है ॥ ३५ ॥ हे रघुनन्दन ! कर्म-बन्धनको नष्ट करनेके लिये आप मुझे अपनी भक्तिसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान और अपने परमार्थ-स्वरूपका साक्षात् करानेवाला ध्यान दीजिये ॥ ३६ ॥ हे राजराजेश्वर राम ! मुझे विषयजन्य सुखकी इच्छा नहीं है; मैं तो यही चाहता हूँ कि आपके चरण-कमलोंमें सर्वदा मेरी आसक्तिरूपा भक्ति बनी रहे" ॥ ३७ ॥

तब रघुनाथजीने 'तथास्तु' कहकर विभीषणसे प्रसन्न होकर कहा—"भद्र ! सुनो, मैं तुम्हें अपना निश्चित रहस्य सुनाता हूँ ॥ ३८ ॥ जो मेरे शान्तस्वभाव, विरक्त और योगनिष्ठ भक्त हैं, उनके हृदयमें मैं सीताजीके सहित सदा रहता हूँ—इसमें सन्देह नहीं ॥ ३९ ॥ अतः तुम सर्वदा शान्त और पापरहित रहकर मेरा ध्यान करनेसे घोर संसार-सागरसे पार हो जाओगे ॥ ४० ॥ जो पुरुष मुझे प्रसन्न करनेके लिये इस स्तोत्रको पढ़ता, लिखता अथवा सुनता है वह मेरा प्रिय सारूप्यपद प्राप्त करता है" ॥ ४१ ॥

विभीषणसे ऐसा कह भक्तवत्सल श्रीरामने लक्ष्मणजीसे कहा—"लक्ष्मण ! यह अभी मेरे दर्शनका फल देखे ॥ ४२ ॥ तुम समुद्रसे जल ले आओ; मैं इसे लंकाके राज्यपर अभिषिक्त किये देता हूँ। जबतक चन्द्र-सूर्य और पृथ्वीकी स्थिति है तथा जबतक लोकमें मेरी कथा रहेगी तबतक यह लंकाका राज्य करेगा ।"

ऐसा कह श्रीरमापतिने लक्ष्मणजीसे कलशमें जल मँगवाया और मन्त्रियों तथा विशेषतः लक्ष्मणजीसे उसे लंकाके राज्यपदपर अभिषिक्त कराया ॥ ४३—४५ ॥

साधु साध्विति ते सर्वे वानरास्तुष्टुवुर्भृशम्।
सुग्रीवोऽपि परिष्वज्य विभीषणमथाब्रवीत्॥ ४६॥

विभीषण वयं सर्वे रामस्य परमात्मनः।
किङ्करास्तत्र मुख्यस्त्वं भक्त्या रामपरिग्रहात्।
रावणस्य विनाशे त्वं साहाय्यं कर्तुमर्हसि॥ ४७॥

विभीषण उवाच

अहं कियान्सहायत्वे रामस्य परमात्मनः।
किंतु दास्यं करिष्येऽहं भक्त्या शक्त्या ह्यमायया॥ ४८॥

दशग्रीवेण सन्दिष्टः शुको नाम महासुरः।
संस्थितो ह्यम्बरे वाक्यं सुग्रीवमिदमब्रवीत्॥ ४९॥

त्वामाह रावणो राजा भ्रातरं राक्षसाधिपः।
महाकुलप्रसूतस्त्वं राजासि वनचारिणाम्॥ ५०॥

मम भ्रातृसमानस्त्वं तव नास्त्यर्थविप्लवः।
अहं यदहरं भार्यां राजपुत्रस्य किं तव॥ ५१॥

किष्किन्धां याहि हरिभिर्लङ्का शक्या न दैवतैः।
प्राप्तुं किं मानवैरल्पसत्त्वैर्वानरयूथपैः॥ ५२॥

तं प्रापयन्तं वचनं तूर्णमुत्प्लुत्य वानराः।
प्रापद्यन्त तदा क्षिप्रं निहन्तुं दृढमुष्टिभिः॥ ५३॥

वानरैर्हन्यमानस्तु शुको राममथाब्रवीत्।
न दूतान् घ्नन्ति राजेन्द्र वानरान्वारय प्रभो॥ ५४॥

रामः श्रुत्वा तदा वाक्यं शुकस्य परिदेवितम्।
मा वधिष्टेति रामस्तान्वारयामास वानरान्॥ ५५॥

पुनरम्बरमासाद्य शुकः सुग्रीवमब्रवीत्।
ब्रूहि राजन्दशग्रीवं किं वक्ष्यामि व्रजाम्यहम्॥ ५६॥

सुग्रीव उवाच

यथा वाली मम भ्राता तथा त्वं राक्षसाधम।
हन्तव्यस्त्वं मया यत्नात्सपुत्रबलवाहनः॥ ५७॥

ब्रूहि मे रामचन्द्रस्य भार्यां हृत्वा क्व यास्यसि।
ततो रामाज्ञया धृत्वा शुकं बध्वान्वरक्षयत्॥ ५८॥

उस समय समस्त वानर प्रसन्न होकर 'धन्य है, धन्य है' ऐसा कहने लगे; और सुग्रीवने विभीषणको गले लगाकर कहा— ॥ ४६॥ "विभीषण! हम सब परमात्मा रामके दास हैं, तथापि तुम हम सबमें प्रधान हो; क्योंकि तुमने केवल भक्तिसे ही उनकी शरण ली है। अब तुम्हें रावणका नाश करानेमें हमारी सहायता करनी चाहिये" ॥ ४७॥

विभीषण बोले—मैं परमात्मा रामकी क्या सहायता कर सकता हूँ, तथापि मुझसे जैसी कुछ बनेगी निष्कपट होकर भक्तिभावसे उनकी सेवा करता रहूँगा॥ ४८॥

इसी समय रावणका भेजा हुआ शुक नामका महादैत्य आकाशमें स्थित होकर सुग्रीवसे इस प्रकार बोला॥ ४९॥ "राक्षसराज रावण तुम्हें अपने भाईके समान मानते हैं, उन्होंने तुम्हारे लिये कहा है कि तुम बड़े कुलमें उत्पन्न हुए हो और वानरोंके राजा हो॥ ५०॥ तुम मेरे भाईके समान हो और तुम्हारा कोई स्वार्थघात भी नहीं हुआ है। यदि मैंने किसी राजकुमारकी स्त्रीको हर ही लिया तो उससे तुम्हें क्या?॥ ५१॥ अतः तुम अपने वानरोंके सहित किष्किन्धाको लौट जाओ। लंकाको पाना तो देवताओंके लिये भी कठिन है, फिर अल्पशक्ति मनुष्य और वानरयूथपोंकी तो बात ही क्या है?" ॥ ५२॥ जिस समय शुक इस प्रकार सन्देश सुना रहा था, वानरोंने अपने सुदृढ़ घूँसोंसे मारनेके लिये उसे तुरंत ही उछलकर पकड़ लिया॥ ५३॥ वानरोंके मारनेपर शुकने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—"हे राजेन्द्र! (विज्ञजन) दूतको मारा नहीं करते, अतः हे प्रभो! इन वानरोंको रोकिये" ॥ ५४॥ शुकका यह करुणायुक्त वचन सुनकर रामने 'इसे मत मारो' ऐसा कहकर वानरोंको रोक दिया॥ ५५॥ तब शुकने फिर आकाशमें चढ़कर सुग्रीवसे कहा—"हे राजन्! मैं जाता हूँ; कहिये, रावणको आपकी ओरसे क्या उत्तर दूँ?" ॥ ५६॥

सुग्रीवने कहा—उससे कहना, जिस प्रकार मैंने अपने भाई वालीको मारा था, हे राक्षसाधम! उसी प्रकार तू भी अपने पुत्र, सेना और वाहनादिके सहित मेरे हाथसे मारा जायगा। तू हमारे रामचन्द्रजीकी भार्याका हरण करके अब कहाँ जा सकता है? तदनन्तर भगवान् रामकी आज्ञासे शुकको पकड़ उन्होंने बन्धनमें डालकर वानरोंकी रक्षामें छोड़ दिया॥ ५७-५८॥

शार्दूलोऽपि ततः पूर्वं दृष्ट्वा कपिबलं महत्।
यथावत्कथयामास रावणाय स राक्षसः ॥ ५९ ॥

दीर्घचिन्तापरो भूत्वा निःश्वसन्नास मन्दिरे।
ततः समुद्रमावेक्ष्य रामो रक्तान्तलोचनः ॥ ६० ॥

पश्य लक्ष्मण दुष्टोऽसौ वारिधिर्मामुपागतम्।
नाभिनन्दति दुष्टात्मा दर्शनार्थं ममानघ ॥ ६१ ॥

जानाति मानुषोऽयं मे किं करिष्यति वानरैः।
अद्य पश्य महाबाहो शोषयिष्यामि वारिधिम् ॥ ६२ ॥

पादेनैव गमिष्यन्ति वानरा विगतज्वराः।
इत्युक्त्वा क्रोधताम्राक्ष आरोपितधनुर्धरः ॥ ६३ ॥

तूणीराद्बाणमादाय कालाग्निसदृशप्रभम्।
सन्धाय चापमाकृष्य रामो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ६४ ॥

पश्यन्तु सर्वभूतानि रामस्य शरविक्रमम्।
इदानीं भस्मसात्कुर्यां समुद्रं सरितां पतिम् ॥ ६५ ॥

एवं ब्रुवति रामे तु सशैलवनकानना।
चचाल वसुधा द्यौश्च दिशश्च तमसावृताः ॥ ६६ ॥

चुक्षुभे सागरो वेलां भयाद्योजनमत्यगात्।
तिमिनक्रझषा मीनाः प्रतप्ताः परितत्रसुः ॥ ६७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे साक्षात्सागरो दिव्यरूपधृक्।
दिव्याभरणसम्पन्नः स्वभासा भासयन् दिशः ॥ ६८ ॥

स्वान्तःस्थदिव्यरत्नानि कराभ्यां परिगृह्य सः।
पादयोः पुरतः क्षिप्त्वा रामस्योपायनं बहु ॥ ६९ ॥

दण्डवत्प्रणिपत्याह रामं रक्तान्तलोचनम्।
त्राहि त्राहि जगन्नाथ राम त्रैलोक्यरक्षक ॥ ७० ॥

जडोऽहं राम ते सृष्टः सृजता निखिलं जगत्।
स्वभावमन्यथा कर्तुं कः शक्तो देवनिर्मितम् ॥ ७१ ॥

शुकसे पहले ही शार्दूल नामक राक्षसने वानरोंकी महान् सेना देखकर रावणसे उसका यथावत् वर्णन कर दिया था ॥ ५९ ॥ यह सब सुनकर रावणको बड़ी चिन्ता हुई और वह दीर्घ निःश्वास छोड़ता अपने महलमें बैठा रहा। इसी समय भगवान् रामने समुद्रकी ओर देखकर क्रोधसे नेत्र लाल कर कहा— ॥ ६० ॥ "लक्ष्मण! यह समुद्र कैसा दुष्ट है ? मैं इसके तीरपर आया हूँ; किन्तु हे अनघ ! इस दुरात्माने दर्शन करके भी मेरा अभिनन्दन नहीं किया ॥ ६१ ॥ यह समझता है, 'यह एक मनुष्य ही तो है, वानरोंके साथ मिलकर भी यह मेरा क्या कर सकता है ?' सो हे महाबाहो ! देखो, आज मैं इसे सुखाये डालता हूँ ॥ ६२ ॥ फिर वानरगण निश्चिन्त होकर पैदल ही इसके पार चले जायँगे।" ऐसा कह भगवान् रामने क्रोधसे नेत्र लाल कर अपना धनुष चढ़ाया और तूणीरसे एक कालाग्निके समान तेजोमय बाण निकाल कर उसे धनुषपर रखकर खींचते हुए कहा— ॥ ६३-६४ ॥ "समस्त प्राणी रामके बाणका पराक्रम देखें; मैं इसी समय नदीपति समुद्रको भस्म किये डालता हूँ" ॥ ६५ ॥

भगवान् रामके ऐसा कहते ही वन और पर्वतादिके सहित सम्पूर्ण पृथ्वी हिलने लगी तथा आकाश और दिशाओंमें अन्धकार छा गया ॥ ६६ ॥ समुद्र क्षुभित हो गया और भयके कारण अपने तटसे एक योजन आगे बढ़ आया; तथा बड़े-बड़े मत्स्य, नाकें, मकर और मछलियाँ सन्तप्त होकर भयभीत हो गये ॥ ६७ ॥ इसी समय नाना प्रकारके दिव्य आभूषण धारण किये दिव्यरूपधारी समुद्र, हाथोंमें अपने ही भीतर स्थित दिव्य रत्न लिये, अपने प्रकाशसे दसों दिशाओंको प्रकाशित करता, स्वयं उपस्थित हुआ और भगवान् रामचन्द्रजीके चरणोंके आगे नाना प्रकारके उपहार रख, जिनके नेत्रोंके मध्यभाग क्रोधसे लाल हो रहे हैं उन रघुनाथजीको साष्टाङ्ग दण्डवत् कर बोला—'हे त्रैलोक्यरक्षक जगत्पति राम ! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो ॥ ६८—७० ॥ हे राम ! सम्पूर्ण संसारकी रचना करते समय आपने मुझे जड ही बनाया था; फिर आपके बनाये स्वभावको कोई कैसे बदल सकता

स्थूलानि पञ्चभूतानि जडान्येव स्वभावतः।
सृष्टानि भवतैतानि त्वदाज्ञां लङ्घयन्ति न ॥ ७२ ॥

तामसादहमो राम भूतानि प्रभवन्ति हि।
कारणानुगमात्तेषां जडत्वं तामसं स्वतः ॥ ७३ ॥

निर्गुणस्त्वं निराकारो यदा मायागुणान्प्रभो।
लीलयाङ्गीकरोषि त्वं तदा वैराजनामवान् ॥ ७४ ॥

गुणात्मनो विराजश्च सत्त्वाद्देवा बभूविरे।
रजोगुणात्प्रजेशाद्या मन्योर्भूतपतिस्तव ॥ ७५ ॥

त्वामहं मायया छन्नं लीलया मानुषाकृतिम् ॥ ७६ ॥

जडबुद्धिर्जडो मूर्खः कथं जानामि निर्गुणम्।
दण्ड एव हि मूर्खाणां सन्मार्गप्रापकः प्रभो ॥ ७७ ॥

भूतानाममरश्रेष्ठ पशूनां लगुडो यथा।
शरणं ते व्रजामीशं शरण्यं भक्तवत्सल।
अभयं देहि मे राम लङ्कामार्गं ददामि ते ॥ ७८ ॥

श्रीराम उवाच

अमोघोऽयं महाबाणः कस्मिन्देशे निपात्यताम्।
लक्ष्यं दर्शय मे शीघ्रं बाणस्यामोघपातिनः ॥ ७९ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा करे दृष्ट्वा महाशरम्।
महोदधिर्महातेजा राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ ८० ॥

रामोत्तरप्रदेशे तु द्रुमकुल्य इति श्रुतः।
प्रदेशस्तत्र बहवः पापात्मानो दिवानिशम् ॥ ८१ ॥

बाधन्ते मां रघुश्रेष्ठ तत्र ते पात्यतां शरः।
रामेण सृष्टो बाणस्तु क्षणादाभीरमण्डलम् ॥ ८२ ॥

हत्वा पुनः समागत्य तूणीरे पूर्ववत्स्थितः।
ततोऽब्रवीद्रघुश्रेष्ठं सागरो विनयान्वितः ॥ ८३ ॥

नलः सेतुं करोत्वस्मिन् जले मे विश्वकर्मणः।
सुतो धीमान् समर्थोऽस्मिन्कार्ये लब्धवरो हरिः ॥ ८४ ॥

कीर्तिं जानन्तु ते लोकाः सर्वलोकमलापहाम्।
इत्युक्त्वा राघवं नत्वा ययौ सिन्धुरदृश्यताम् ॥ ८५ ॥

है? ॥ ७१ ॥ पाँचों स्थूल भूतोंको आपने स्वभावसे जड ही बनाया है, वे आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥ ७२ ॥ हे राम! भूत तामस अहंकारसे उत्पन्न होते हैं, अतः अपने कारणका अनुगमन करनेसे उनमें तमोरूप जडत्व तो स्वतःसिद्ध है ॥ ७३ ॥ हे प्रभो! आप निर्गुण और निराकार हैं। जिस समय आप लीलासे ही मायिक गुणोंको अङ्गीकार करते हैं उस समय आपका नाम 'वैराज' पड़ जाता है ॥ ७४ ॥ उस गुणमय विराट्के सात्त्विकांशसे देवगण, राजसांशसे प्रजापतिगण और तामसांशसे रुद्रगण उत्पन्न होते हैं ॥ ७५ ॥ हे नाथ! लीलावश मायासे आच्छन्न होकर मनुष्यरूप हुए आप निर्गुण परमात्माको मैं जडबुद्धि मूर्ख कैसे जान सकता हूँ; हे अमरश्रेष्ठ प्रभो! पशुओंको जैसे लाठी ठीक-ठीक मार्गमें ले जाती है उसी प्रकार (मुझ-जैसे) मूर्ख जीवोंके लिये तो दण्ड ही सन्मार्गपर लानेवाला होता है। हे भक्तवत्सल भगवान् राम! आप शरणागतरक्षककी मैं शरण हूँ। आप मुझे अभयदान दीजिये। मैं आपको लङ्कामें जानेका मार्ग दूँगा ॥ ७६—७८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले—मेरा यह महाबाण व्यर्थ जानेवाला नहीं है; अतः इसे किस ओर चलावें; शीघ्र ही मुझे इस अमोघ बाणका लक्ष्य बताओ ॥ ७९ ॥

रामका यह वचन सुनकर और उनके हाथमें वह महाबाण देखकर महातेजस्वी समुद्रने रघुनाथजीसे कहा— ॥ ८० ॥ "हे राम! उत्तरकी ओर एक 'द्रुमकुल्य' नामक देश है। वहाँ बहुत-से पापी रहते हैं। वे मुझे रात-दिन पीड़ा पहुँचाते हैं। हे रघुश्रेष्ठ! आप अपना यह बाण वहीं गिराइये।" तदनन्तर रामका छोड़ा हुआ वह बाण एक क्षणमें ही समस्त आभीर-मण्डलको मारकर फिर पूर्ववत् तरकशमें लौट आया। तब समुद्रने रघुनाथजीसे अति विनीत भावसे कहा— ॥ ८१—८३ ॥ "हे राम! विश्वकर्माका पुत्र नल मेरे जलपर पुल निर्माण करे। वह चतुर वानर वरके प्रभावसे इस कार्यको करनेमें समर्थ है ॥ ८४ ॥ इससे सब लोग आपकी संसार-मलापहारिणी कीर्ति जान जायँगे।" रघुनाथजीसे इस प्रकार कह समुद्र उन्हें प्रणामकर अन्तर्धान हो गया ॥ ८५ ॥

ततो रामस्तु सुग्रीवलक्ष्मणाभ्यां समन्वितः ।
नलमाज्ञापयच्छीघ्रं वानरैः सेतुबन्धने ॥ ८६ ॥
ततोऽतिहृष्टः प्लवगेन्द्रयूथपै-
र्महानगेन्द्रप्रतिमैर्युतो नलः ।
बबन्ध सेतुं शतयोजनायतं
सुविस्तृतं पर्वतपादपैर्दृढम् ॥ ८७ ॥

तदनन्तर सुग्रीव और लक्ष्मणके सहित श्रीरामचन्द्रजीने नलको वानरोंकी सहायतासे तुरंत पुल बाँधनेकी आज्ञा दी ॥ ८६ ॥ तब नलने, महापर्वतके समान अन्य वानरयूथपतियोंके साथ, अति प्रसन्नतापूर्वक पर्वत और वृक्षादिकोंसे एक सौ योजन लंबा अति विस्तीर्ण और सुदृढ़ पुल बनाया ॥ ८७ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थ सर्ग

समुद्र-तरण, लङ्का-निरीक्षण तथा रावण-शुक-संवाद

श्रीमहादेव उवाच

सेतुमारभमाणस्तु तत्र रामेश्वरं शिवम् ।
संस्थाप्य पूजयित्वाह रामो लोकहिताय च ॥ १ ॥

प्रणमेत्सेतुबन्धं यो दृष्ट्वा रामेश्वरं शिवम् ।
ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मुच्यते मदनुग्रहात् ॥ २ ॥

सेतुबन्धे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा रामेश्वरं हरम् ।
सङ्कल्पनियतो भूत्वा गत्वा वाराणसीं नरः ॥ ३ ॥

आनीय गङ्गासलिलं रामेशमभिषिच्य च ।
समुद्रे क्षिप्ततद्भारो ब्रह्म प्राप्नोत्यसंशयम् ॥ ४ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! सेतुबन्धके आरम्भ होनेपर भगवान् रामने रामेश्वर महादेवकी स्थापना कर उनका पूजन करते हुए लोकहितके लिये इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

"जो पुरुष रामेश्वर शिवका दर्शन कर सेतुबन्धको प्रणाम करेगा वह मेरी कृपासे ब्रह्महत्या आदि पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ २ ॥ यदि कोई पुरुष सेतुबन्धमें स्नान कर रामेश्वर महादेवके दर्शन करे और फिर संकल्पपूर्वक काशी जाकर वहाँसे गङ्गाजल लावे तथा उससे रामेश्वरका अभिषेक कर उस जलके पात्रको समुद्रमें डाल दे तो वह निःसन्देह ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है" ॥ ३-४ ॥

कृतानि प्रथमेनाह्ना योजनानि चतुर्दश ।
द्वितीयेन तथा चाह्ना योजनानि तु विंशतिः ॥ ५ ॥

तृतीयेन तथा चाह्ना योजनान्येकविंशतिः ।
चतुर्थेन तथा चाह्ना द्वाविंशतिरिति श्रुतम् ॥ ६ ॥

पञ्चमेन त्रयोविंशद्योजनानि समन्ततः ।
बबन्ध सागरे सेतुं नलो वानरसत्तमः ॥ ७ ॥

तेनैव जग्मुः कपयो योजनानां शतं द्रुतम् ।
असङ्ख्याताः सुवेलाद्रिं रुरुधुः प्लवगोत्तमाः ॥ ८ ॥

सुना जाता है वानरश्रेष्ठ नलने पहले दिन चौदह योजन, दूसरे दिन बीस योजन, तीसरे दिन इक्कीस योजन, चौथे दिन बाईस योजन और पाँचवें दिन तेईस योजन समुद्रपर पुल बाँधा ॥ ५—७ ॥ उसी पुलसे वानरगण तुरंत ही सौ योजन समुद्रके उस पार चले गये। और फिर असंख्य वानरवीरोंने सुवेल-पर्वतको घेर लिया ॥ ८ ॥

आरुह्य मारुतिं रामो लक्ष्मणोऽप्यङ्गदं तथा ।
दिदृक्षू राघवो लङ्कामारुरोहाचलं महत् ॥ ९ ॥

फिर, श्रीरामकी लङ्का देखनेकी इच्छा होनेपर रामचन्द्रजी हनुमान्‌के और लक्ष्मणजी अङ्गदके ऊपर

दृष्ट्वा लङ्कां सुविस्तीर्णां नानाचित्रध्वजाकुलाम्।
चित्रप्रासादसम्बाधां स्वर्णप्राकारतोरणाम्॥ १०॥

परिखाभिः शतघ्नीभिः सङ्क्रमैश्च विराजिताम्।
प्रासादोपरि विस्तीर्णप्रदेशे दशकन्धरः॥ ११॥

मन्त्रिभिः सहितो वीरैः किरीटदशकोज्ज्वलः।
नीलाद्रिशिखराकारः कालमेघसमप्रभः॥ १२॥

रत्नदण्डैः सितच्छत्रैरनेकैः परिशोभितः।
एतस्मिन्नन्तरे बद्धो मुक्तो रामेण वै शुकः॥ १३॥

वानरैस्ताडितः सम्यग् दशाननमुपागतः।
प्रहसन् रावणः प्राह पीडितः किं परैः शुक॥ १४॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा शुको वचनमब्रवीत्।
सागरस्योत्तरे तीरेऽब्रवं ते वचनं यथा।
तत उत्प्लुत्य कपयो गृहीत्वा मां क्षणात्ततः॥ १५॥

मुष्टिभिर्नखदन्तैश्च हन्तुं लोप्तुं प्रचक्रमुः।
ततो मां राम रक्षेति क्रोशन्तं रघुपुङ्गवः॥ १६॥

विसृज्यतामिति प्राह विसृष्टोऽहं कपीश्वरैः।
ततोऽहमागतो भीत्या दृष्ट्वा तद्वानरं बलम्॥ १७॥

राक्षसानां बलौघस्य वानरेन्द्रबलस्य च।
नैतयोर्विद्यते सन्धिर्देवदानवयोरिव॥ १८॥

पुरप्राकारमायान्ति क्षिप्रमेकतरं कुरु।
सीतां वास्मै प्रयच्छाशु युद्धं वा दीयतां प्रभो॥ १९॥

मामाह रामस्त्वं ब्रूहि रावणं मद्वचः शुक।
यद्बलं च समाश्रित्य सीतां मे हृतवानसि॥ २०॥

तद्दर्शय यथाकामं ससैन्यः सहबान्धवः।
श्वःकाले नगरीं लङ्कां सप्राकारां सतोरणाम्॥ २१॥

राक्षसं च बलं पश्य शरैर्विध्वंसितं मया।
घोररोषमहं मोक्ष्ये बलं धारय रावण॥ २२॥

बैठकर उस महान् पर्वतपर चढ़ गये॥ ९॥ उन्होंने देखा कि लङ्कापुरी अति विस्तीर्ण है। वह नाना प्रकारकी ध्वजाओं, विचित्र प्रासादों तथा सुवर्णनिर्मित परकोटों और तोरणोंसे सुसज्जित है॥ १०॥ वह (सब ओरसे) खाइयों, तोपों और संक्रमों (सुरंगों) से सुशोभित है। उसके एक राजभवनके ऊपर अति विस्तृत भागमें अपने वीर मन्त्रियोंके सहित रावण बैठा है। उसके सिरोंपर दस मुकुट सुशोभित हैं, वह नीलाचलके शिखरके समान आकारवाला एवं श्याम मेघकी-सी आभावाला है॥ ११-१२॥ नाना प्रकारके रत्नदण्डयुक्त श्वेत छत्रोंसे उसकी अपूर्व शोभा हो रही है। इसी समय भगवान् रामद्वारा बाँधकर छोड़ा हुआ शुक नामक दैत्य वानरोंसे भली प्रकार मार खाकर रावणके पास पहुँचा। उसे देखकर रावणने हँसते हुए पूछा, "शुक! क्या शत्रुओंने तुम्हें कुछ कष्ट पहुँचाया है?" ॥ १३-१४॥

रावणके वचन सुनकर शुकने कहा—"समुद्रके उत्तरतटपर जाकर ज्यों ही मैं आपका सन्देश सुनाने लगा त्यों ही कुछ वानरोंने उछलकर मुझे तत्क्षण पकड़ लिया॥ १५॥ और मुझे घूँसों, नखों एवं दाँतोंसे मारने तथा लुप्त करनेका आयोजन करने लगे। तब, 'हे राम! मेरी रक्षा करो' इस प्रकार मुझे पुकारते सुन रघुश्रेष्ठ रामने कहा, 'इसे छोड़ दो।' इससे उन वानरोंने मुझे छोड़ दिया। तब मैं वानरोंकी सेना देखकर बड़ा डरता-डरता यहाँ आया हूँ॥ १६-१७॥ मेरे विचारसे देव और दानवोंके समान राक्षसोंके दलबल और वानरोंकी सेनामें किसी प्रकार मेल नहीं हो सकता॥ १८॥ हे प्रभो! वे शीघ्र ही नगरके परकोटेपर आनेवाले हैं, आप दोनोंमेंसे कोई एक काम कीजिये—या तो उन्हें सीता दे दीजिये और या उनके साथ युद्ध कीजिये॥ १९॥ रामने मुझसे कहा है कि 'शुक! रावणसे मेरी ओरसे कहना कि जिस शक्तिके भरोसे तुमने हमारी जानकीको हरा है उसे भली प्रकार अपनी सेना और बन्धु-बान्धवोंके सहित मुझे दिखलाना। तू कल ही प्राकार और तोरणादिके सहित लंकापुरी और राक्षसोंकी सेनाको मेरे बाणोंसे विध्वस्त हुई देखेगा। रावण! उस समय मैं भयंकर क्रोध छोड़ूँगा, तू अपने बलको स्थिर

इत्युक्त्वोपरराजाथ रामः कमललोचनः ।
एकस्थानगता यत्र चत्वारः पुरुषर्षभाः ॥ २३ ॥

श्रीरामो लक्ष्मणश्चैव सुग्रीवश्च विभीषणः ।
एत एव समर्थास्ते लङ्कां नाशयितुं प्रभो ॥ २४ ॥

उत्पाट्य भस्मीकरणे सर्वे तिष्ठन्तु वानराः ।
तस्य यादृग् बलं दृष्टं रूपं प्रहरणानि च ॥ २५ ॥

वधिष्यति पुरं सर्वमेकस्तिष्ठन्तु ते त्रयः ।
पश्य वानरसेनां तामसङ्ख्यातां प्रपूरिताम् ॥ २६ ॥

गर्जन्ति वानरास्तत्र पश्य पर्वतसन्निभाः ।
न शक्यास्ते गणयितुं प्राधान्येन ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥

एष योऽभिमुखो लङ्कां नदंस्तिष्ठति वानरः ।
यूथपानां सहस्राणां शतेन परिवारितः ॥ २८ ॥

सुग्रीवसेनाधिपतिर्नीलो नामाग्निनन्दनः ।
एष पर्वतशृङ्गाभः पद्मकिञ्जल्कसन्निभः ॥ २९ ॥

स्फोटयत्यभिसंरब्धो लाङ्गूलं च पुनः पुनः ।
युवराजोऽङ्गदो नाम वालिपुत्रोऽतिवीर्यवान् ॥ ३० ॥

येन दृष्टा जनकजा रामस्यातीववल्लभा ।
हनूमानेष विख्यातो हतो येन तवात्मजः ॥ ३१ ॥

श्वेतो रजतसङ्काशो महाबुद्धिपराक्रमः ।
तूर्णं सुग्रीवमागम्य पुनर्गच्छति वानरः ॥ ३२ ॥

यस्त्वेष सिंहसङ्काशः पश्यत्यतुलविक्रमः ।
रम्भो नाम महासत्त्वो लङ्कां नाशयितुं क्षमः ॥ ३३ ॥

एष पश्यति वै लङ्कां दिधक्षन्निव वानरः ।
शरभो नाम राजेन्द्र कोटियूथपनायकः ॥ ३४ ॥

पनसश्च महावीर्यो मैन्दश्च द्विविदस्तथा ।
नलश्च सेतुकर्तासौ विश्वकर्मसुतो बली ॥ ३५ ॥

वानराणां वर्णने वा सङ्ख्याने वा क ईश्वरः ।
शूराः सर्वे महाकायाः सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः ॥ ३६ ॥

शक्ताः सर्वे चूर्णयितुं लङ्कां रक्षोगणैः सह ।
एतेषां बलसङ्ख्यानं प्रत्येकं वच्मि ते शृणु ॥ ३७ ॥

रखना' ॥ २०—२२ ॥ ऐसा कहकर कमलनयन भगवान् राम चुप हो गये।

"हे प्रभो ! और सब वानर एक ओर रहें तो भी, एक साथ मिल जानेपर, लंकाको जड़से उखाड़कर उसे भस्म और नष्ट करनेमें तो राम, लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण—ये चार पुरुषश्रेष्ठ ही पर्याप्त हैं। और मैंने, जैसे उनके बल, रूप और अस्त्र-शस्त्रादि देखे हैं उससे तो यही मालूम होता है कि और तीनों अन्यत्र रहें, अकेले राम ही समस्त नगरको नष्ट कर सकते हैं। अब सब ओर फैली हुई वनरोंकी उस असंख्य सेनाको देखिये ॥ २३—२६ ॥ देखिये, ये पर्वतसदृश वानरवीर कैसे गर्ज रहे हैं। इन्हें गिना नहीं जा सकता, इसलिये मैं आपको इनमेंसे प्रधान-प्रधान बतलाता हूँ ॥ २७ ॥ यह वानर जो लंकाकी ओर देखकर बारम्बार गर्ज रहा है और एक लाख यूथपतियोंसे घिरा हुआ है, वानरराज सुग्रीवका सेनापति अग्निनन्दन 'नील' है। जो कमल-केशरकी-सी आभावाला तथा पर्वत-शिखरके समान विशालकाय है एवं रोषपूर्वक बारम्बार अपनी पूँछ पटक रहा है, वह अति वीर्यवान् वालिपुत्र युवराज 'अङ्गद' है ॥ २८—३० ॥ जिसने रामकी अत्यन्त प्रिया जनक-नन्दिनी सीताको देखा और आपके पुत्रका वध किया, यह वही विख्यात वीर 'हनुमान्' है ॥ ३१ ॥ जिसकी कान्ति चाँदीके समान शुभ्र वर्ण है, जो बड़ी शीघ्रतासे सुग्रीवके पास आकर फिर लौट जाता है तथा जो महाबुद्धिमान्, पुरुषार्थी और सिंहके समान अतुलित पराक्रमी वानर इधर देख रहा है वह 'रम्भ' है। लंकाको नष्ट करनेमें यह अकेला ही समर्थ है ॥ ३२-३३ ॥ हे राजेश्वर ! यह दूसरा वानर, जो लंकाकी ओर इस प्रकार देखता है मानो जला ही डालेगा, करोड़ यूथपतियोंका नायक 'शरभ' है ॥ ३४ ॥ इनके अतिरिक्त महापराक्रमी पनस, मैन्द, द्विविद और सेतु बाँधनेवाला विश्वकर्मीका पुत्र महाबली नल—ये सब भी प्रधान-प्रधान योद्धा हैं ॥ ३५ ॥ इन वानरोंका वर्णन करने और गिननेकी सामर्थ्य किसमें है। ये सभी बड़े शूरवीर, विशालकाय और युद्धके लिये उत्सुक हैं ॥ ३६ ॥ राक्षसोंके सहित लंकाको चूर्ण करनेमें ये सभी समर्थ हैं। अब मैं इनमेंसे प्रत्येककी सेनाकी संख्या बतलाता हूँ,

एषां कोटिसहस्राणि नव पञ्च च सप्त च।
तथा शङ्खसहस्राणि तथार्बुदशतानि च ॥ ३८ ॥

सुग्रीवसचिवानां ते बलमेतत्प्रकीर्तितम्।
अन्येषां तु बलं नाहं वक्तुं शक्तोऽस्मि रावण ॥ ३९ ॥

रामो न मानुषः साक्षादादिनारायणः परः।
सीता साक्षाज्जगद्धेतुश्चिच्छक्तिर्जगदात्मिका ॥ ४० ॥

ताभ्यामेव समुत्पन्नं जगत्स्थावरजङ्गमम्।
तस्माद्रामश्च सीता च जगतस्तस्थुषश्च तौ ॥ ४१ ॥

पितरौ पृथिवीपाल तयोर्वैरी कथं भवेत्।
अजानता त्वयानीता जगन्मातैव जानकी ॥ ४२ ॥

क्षणनाशिनि संसारे शरीरे क्षणभङ्गुरे।
पञ्चभूतात्मके राजंश्चतुर्विंशतितत्त्वके ॥ ४३ ॥

मलमांसास्थिदुर्गन्धभूयिष्ठेऽहङ्कृतालये।
कैवास्था व्यतिरिक्तस्य काये तव जडात्मके ॥ ४४ ॥

यत्कृते ब्रह्महत्यादिपातकानि कृतानि ते।
भोगभोक्ता तु यो देहः स देहोऽत्र पतिष्यति ॥ ४५ ॥

पुण्यपापे समायातो जीवेन सुखदुःखयोः।
कारणे देहयोगादिनात्मनः कुरुतोऽनिशम् ॥ ४६ ॥

यावद्देहोऽस्मि कर्तास्मीत्यात्माहंकुरुतेऽवशः।
अध्यासात्तावदेव स्याज्जन्मनाशादिसम्भवः ॥ ४७ ॥

तस्मात्त्वं त्यज देहादावभिमानं महामते।
आत्मातिनिर्मलः शुद्धो विज्ञानात्माचलोऽव्ययः ॥ ४८ ॥

स्वाज्ञानवशतो बन्धं प्रतिपद्य विमुह्यति।
तस्मात्त्वं शुद्धभावेन ज्ञात्वात्मानं सदा स्मर ॥ ४९ ॥

सावधान होकर सुनिये ॥ ३७ ॥ इनमेंसे प्रत्येकके नीचे इक्कीस हजार करोड़, हजारों शंख और सैकड़ों अरब सेना है ॥ ३८ ॥

"हे रावण ! यह तो मैंने सुग्रीवके मन्त्रियोंकी ही सेना बतायी है, उनके अतिरिक्त औरोंकी सेना गिनानेमें तो मैं सर्वथा असमर्थ हूँ ॥ ३९ ॥ राम भी कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे साक्षात् आदिनारायण परमात्मा हैं; और सीताजी जगत्की कारणरूपा साक्षात् जगद्रूपिणी चित्-शक्ति हैं ॥ ४० ॥ इन दोनोंसे ही समस्त स्थावर-जङ्गम संसार उत्पन्न हुआ है, अतः राम और सीता स्थावर-जङ्गम जगत्के माता-पिता हैं। हे पृथिवीपते ! सोचो तो, उनका वैरी कोई कैसे हो सकता है ? आप जिस जानकीको अनजानमें ले आये हैं, वे साक्षात् जगन्माता ही हैं ॥ ४१-४२ ॥ हे राजन् ! क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले संसारमें चौबीस तत्त्वों * के समूहरूप इस क्षणभंगुर पाञ्चभौतिक शरीरमें जिसमें मल, मांस, अस्थि आदि दुर्गन्धयुक्त पदार्थोंकी ही अधिकता है और जो अहंकारका आश्रयस्थान तथा जडरूप है आप क्या आस्था करते हैं ? आप तो इससे सर्वथा पृथक् हैं ॥ ४३-४४ ॥ हाय ! जिस शरीरके लिये आपने ब्रह्महत्यादि अनेकों पाप किये हैं, सम्पूर्ण भोगोंका भोक्ता वह शरीर तो यहीं पड़ा रह जायगा ! ॥ ४५ ॥ सुख-दुःखके कारणरूप (पूर्व-जन्मकृत) पाप-पुण्य जीवके साथ ही जाते हैं और वे ही देह-सम्बन्ध आदिके द्वारा जीवको अहर्निश सुख-दुःखकी प्राप्ति कराते हैं ॥ ४६ ॥ जबतक अज्ञानजन्य अध्यासके कारण जीव 'मैं देह हूँ, मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा अभिमान करता है तभीतक उसे विवश होकर जन्म-मृत्यु आदि भोगने पड़ते हैं ॥ ४७ ॥ अतः हे महामते ! आप देह आदिमें अभिमान छोड़िये। आत्मा तो अत्यन्त निर्मल, शुद्ध-स्वरूप, विज्ञानमय, अविचल और अविकारी है ॥ ४८ ॥ अपने अज्ञानके कारण ही वह बन्धनमें पड़कर मोहको प्राप्त होता है। अतः आप आत्माको शुद्ध भावसे जानकर नित्य

* प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ, पञ्चभूत और शब्द-स्पर्श आदि उनके पाँच विषय—ये सब मिलाकर चौबीस तत्त्व कहलाते हैं।

विरतिं भज सर्वत्र पुत्रदारगृहादिषु ।
निरयेष्वपि भोगः स्याच्छ्वशूकरतनावपि ॥ ५० ॥

देहं लब्ध्वा विवेकाढ्यं द्विजत्वं च विशेषतः ।
तत्रापि भारते वर्षे कर्मभूमौ सुदुर्लभम् ॥ ५१ ॥

को विद्वानात्मसात्कृत्वा देहं भोगानुगो भवेत् ।
अतस्त्वं ब्राह्मणो भूत्वा पौलस्त्यतनयश्च सन् ॥ ५२ ॥

अज्ञानीव सदा भोगाननुधावसि किं मुधा ।
इतः परं वा त्यक्त्वा त्वं सर्वसङ्गं समाश्रय ॥ ५३ ॥

राममेव परात्मानं भक्तिभावेन सर्वदा ।
सीतां समर्प्य रामाय तत्पादानुचरो भव ॥ ५४ ॥

विमुक्तः सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं प्रयास्यसि ।
नो चेद्गमिष्यसेऽधोऽधः पुनरावृत्तिवर्जितः ।
अङ्गीकुरुष्व मद्वाक्यं हितमेव वदामि ते ॥ ५५ ॥

सत्सङ्गतिं कुरु भजस्व हरिं शरण्यं
श्रीराघवं मरकतोपलकान्तिकान्तम् ।
सीतासमेतमनिशं धृतचापबाणं
सुग्रीवलक्ष्मणविभीषणसेविताङ्घ्रिम् ॥ ५६ ॥

उसीका स्मरण कीजिये ॥ ४९ ॥ पुत्र, स्त्री और गृह आदि सभीसे उपराम हो जाइये, क्योंकि भोग तो कुत्ते और शूकरादिकी योनिमें तथा नरकादिमें भी मिल सकते हैं ॥ ५० ॥ सदसद्-विवेक-बुद्धिसे युक्त मनुष्य-शरीर पाकर, उसमें भी विशेषतः द्विजत्व पाकर और अति दुर्लभ कर्मभूमि भारतवर्षमें जन्म ग्रहण कर, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो देहमें आत्मबुद्धि कर भोगोंका सेवन करेगा ?

"अतः आप ब्राह्मण-शरीर और सो भी पुलस्त्यनन्दन विश्रवाके पुत्र होकर अज्ञानीके समान सदा ही इन भोगोंकी ओर व्यर्थ क्यों दौड़ते हैं ? आजसे आप सब प्रकारका संग छोड़कर अति भक्तिभावसे सदा परमात्मा रामका ही आश्रय लीजिये और सीताजीको भगवान् रामके अर्पण कर उनके चरणकमलोंकी सेवा कीजिये ॥ ५१—५४ ॥ यदि आप ऐसा करेंगे तो सब पापोंसे छूटकर विष्णुलोक प्राप्त करेंगे, नहीं तो पुनः ऊपर लौटनेसे वञ्चित रहकर उत्तरोत्तर नीचेके लोकोंमें ही जाते रहेंगे। मैं आपके हितकी ही बात कहता हूँ, आप इसे स्वीकार कीजिये ॥ ५५ ॥ हे रावण ! आप अहर्निश सत्संग कीजिये और जिनके शरीरकी कान्ति मरकतमणिके समान है तथा सुग्रीव, लक्ष्मण और विभीषण जिनके चरणकमलोंकी सेवा कर रहे हैं, उन शरणागतवत्सल, धनुर्बाणधारी श्रीरघुनाथजीका सीताजीके सहित भजन कीजिये" ॥ ५६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चम सर्ग

शुकका पूर्व चरित्र, माल्यवान्का रावणको समझाना तथा वानर-राक्षस-संग्राम

श्रीमहादेव उवाच

श्रुत्वा शुकमुखोद्गीतं वाक्यमज्ञाननाशनम् ।
रावणः क्रोधताम्राक्षो दहन्निव तमब्रवीत् ॥ १ ॥

अनुजीव्य सुदुर्बुद्धे गुरुवद्भाषसे कथम् ।
शासिताहं त्रिजगतां त्वं मां शिक्षन्न लज्जसे ॥ २ ॥

इदानीमेव हन्मि त्वां किन्तु पूर्वकृतं तव ।
स्मरामि तेन रक्षामि त्वां यद्यपि वधोचितम् ॥ ३ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! शुकके मुखसे निकले हुए इन अज्ञाननाशक वचनोंको सुनकर रावण क्रोधसे मानो जलता हुआ उससे आँखें लाल करके बोला— ॥ १ ॥ "अरे दुर्बुद्धे ! मेरे ही टुकड़ोंसे पलकर तू इस प्रकार गुरुकी भाँति कैसे बोलता है ? तीनों लोकोंका शासन करनेवाला तो मैं हूँ, मुझे उपदेश देते हुए तुझको लज्जा नहीं आती ? ॥ २ ॥ तू यद्यपि वध करनेयोग्य है और मैं तुझे अभी मार डालता, परन्तु तेरे पूर्व कृत्योंको

इतो गच्छ विमूढ त्वमेवं श्रोतुं न मे क्षमम्।
महाप्रसाद इत्युक्त्वा वेपमानो गृहं ययौ ॥ ४ ॥

शुकोऽपि ब्राह्मणः पूर्वं ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मवित्तमः।
वानप्रस्थविधानेन वने तिष्ठन् स्वकर्मकृत् ॥ ५ ॥

देवानामभिवृद्ध्यर्थं विनाशाय सुरद्विषाम्।
चकार यज्ञविततिमविच्छिन्नां महामतिः ॥ ६ ॥

राक्षसानां विरोधोऽभूच्छुको देवहितोद्यतः।
वज्रदंष्ट्र इति ख्यातस्तत्रैको राक्षसो महान् ॥ ७ ॥

अन्तरं प्रेप्सुरातिष्ठच्छुकापकरणोद्यतः।
कदाचिदागतोऽगस्त्यस्तस्याश्रमपदं मुनेः ॥ ८ ॥

तेन सम्पूजितोऽगस्त्यो भोजनार्थं निमन्त्रितः।
गते स्नातुं मुनौ कुम्भसम्भवे प्राप्य चान्तरम् ॥ ९ ॥

अगस्त्यरूपधृक् सोऽपि राक्षसः शुकमब्रवीत्।
यदि दास्यसि मे ब्रह्मन् भोजनं देहि सामिषम् ॥ १० ॥

बहुकालं न भुक्तं मे मांसं छागाङ्गसम्भवम्।
तथेति कारयामास मांसभोज्यं सविस्तरम् ॥ ११ ॥

उपविष्टे मुनौ भोक्तुं राक्षसोऽतीव सुन्दरम्।
शुकभार्यावपुर्धृत्वा तां चान्तर्मोहयन् खलः ॥ १२ ॥

नरमांसं ददौ तस्मै सुपक्वं बहुविस्तरम्।
दत्त्वैवान्तर्दधे रक्षस्ततो दृष्ट्वा चुकोप सः ॥ १३ ॥

अमेध्यं मानुषं मांसमगस्त्यः शुकमब्रवीत्।
अभक्ष्यं मानुषं मांसं दत्तवानसि दुर्मते ॥ १४ ॥

मह्यं त्वं राक्षसो भूत्वा तिष्ठ त्वं मानुषाशनः।
इति शप्तः शुको भीत्या प्राहागस्त्यं मुने त्वया ॥ १५ ॥

इदानीं भाषितं मेऽद्य मांसं देहीति विस्तरम्।
तथैव दत्तं भो देव किं मे शापं प्रदास्यसि ॥ १६ ॥

याद करके मैं तुझे छोड़े देता हूँ ॥ ३ ॥ अरे मूढ़ ! तू तुरंत यहाँसे टल जा, मैं ऐसी बातें नहीं सुनना चाहता।'' रावणके ये वचन सुनकर शुक 'महाराजकी बड़ी कृपा है' ऐसा कहकर काँपता हुआ अपने घर चला गया ॥ ४ ॥

पूर्वजन्ममें शुक एक वेदज्ञ और ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण था तथा वानप्रस्थ-विधिसे अपने धर्म-कर्ममें तत्पर हुआ वनमें रहता था ॥ ५ ॥ इस महामतिने देवताओंकी वृद्धि और दैत्योंके नाशके लिये लगातार बहुत-से बड़े-बड़े यज्ञ किये ॥ ६ ॥ अतः देवताओंके हितमें लगे रहनेके कारण शुकका राक्षसोंसे विरोध हो गया। उस समय वज्रदंष्ट्र नामक एक महान् राक्षस शुकका अपकार करनेपर उतारू होकर अवसर देखने लगा।

एक दिन मुनिवर शुकके आश्रममें महर्षि अगस्त्य पधारे ॥ ७-८ ॥ शुकने अगस्त्यजीकी पूजा कर उन्हें भोजनके लिये निमन्त्रित किया। जिस समय महर्षि अगस्त्य स्नानके लिये गये हुए थे उस राक्षस (वज्रदंष्ट्र) ने अपना मौका देखकर अगस्त्यका रूप बनाया और शुकसे कहा—''ब्रह्मन् ! यदि तुम मुझे भोजन कराना चाहते हो तो मांसयुक्त अन्न खिलाओ ॥ ९-१० ॥ मैंने बहुत दिनोंसे छाग (बकरे) का मांस नहीं खाया है।'' तब शुकने 'जो आज्ञा' कह बड़ी तैयारीसे मांसमय भोजन बनवाया ॥ ११ ॥

जिस समय मुनि भोजन करने बैठे उस दुष्ट राक्षसने शुककी पत्नीका अति सुन्दर रूप धारण किया और उसे (शुककी स्त्रीको) आश्रमके भीतर ही मूर्च्छित कर मुनिवरको नाना प्रकारसे बनाया हुआ नरमांस परोसा। उसे परोसकर वह राक्षस अन्तर्धान हो गया। मुनिवर अगस्त्य अपने आगे अभक्ष्य नरमांस देखकर अति क्रोधित हुए और शुकसे बोले—''हे दुर्मते ! तुमने मुझे अभक्ष्य नरमांस खानेको दिया है, अतः तुम मनुष्यभोजी राक्षस होकर रहो।'' अगस्त्यजीके इस प्रकार शाप देनेपर शुकने डरते-डरते कहा—''मुने ! आपने अभी कहा था कि आज मुझे नाना प्रकारका मांस खानेको दो; हे देव ! मैंने आपके आज्ञानुसार ही आपको मांस दिया है फिर आप मुझे शाप क्यों देते हैं ?'' ॥ १२—१६ ॥

श्रुत्वा शुकस्य वचनं मुहूर्तं ध्यानमास्थितः ।
ज्ञात्वा रक्षःकृतं सर्वं ततः प्राह शुकं सुधीः ॥ १७ ॥

तवापकारिणा सर्वं राक्षसेन कृतं त्विदम् ।
अविचार्यैव मे दत्तः शापस्ते मुनिसत्तम ॥ १८ ॥

तथापि मे वचोऽमोघमेवमेव भविष्यति ।
राक्षसं वपुरास्थाय रावणस्य सहायकृत् ॥ १९ ॥

तिष्ठ तावद्यदा रामो दशाननवधाय हि ।
आगमिष्यति लङ्कायाः समीपं वानरैः सह ॥ २० ॥

प्रेषितो रावणेन त्वं चारो भूत्वा रघूत्तमम् ।
दृष्ट्वा शापाद्विनिर्मुक्तो बोधयित्वा च रावणम् ॥ २१ ॥

तत्त्वज्ञानं ततो मुक्तः परं पदमवाप्स्यसि ।
इत्युक्तोऽगस्त्यमुनिना शुको ब्राह्मणसत्तमः ॥ २२ ॥

बभूव राक्षसः सद्यो रावणं प्राप्य संस्थितः ।
इदानीं चाररूपेण दृष्ट्वा रामं सहानुजम् ॥ २३ ॥

रावणं तत्त्वविज्ञानं बोधयित्वा पुनर्द्रुतम् ।
पूर्ववद्ब्राह्मणो भूत्वा स्थितो वैखानसैः सह ॥ २४ ॥

शुकके वचन सुनकर महाबुद्धिमान् अगस्त्यजीने एक मुहूर्ततक ध्यानस्थ होकर राक्षसकी सब करतूत जान ली। तब वे शुकसे बोले— ॥ १७ ॥ "हे मुनिश्रेष्ठ ! यह सब करतूत तुम्हारे अपकार-कर्ता राक्षसकी है, मैंने तुम्हें बिना विचारे ही शाप दे दिया ॥ १८ ॥ तथापि मेरा वचन वृथा जानेवाला नहीं है, इसलिये होगा ऐसा ही। तुम राक्षसका शरीर धारण कर रावणकी तबतक सहायता करते रहो जबतक कि उसका नाश करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजी वानरोंके सहित लंकाके समीप न आयें ॥ १९-२० ॥ इसके पश्चात् तुम रावणके भेजनेसे उसके दूत होकर रघुनाथजीके पास जाओगे और उनका दर्शन कर शापसे मुक्त हो जाओगे, फिर रावणको तत्त्वज्ञानका उपदेश कर मुक्त होकर परमपद प्राप्त करोगे।"

मुनिवर अगस्त्यके ऐसा कहनेपर विप्रवर शुक राक्षस होकर तुरंत रावणके पास आकर रहने लगे। इस समय रावणके दूतरूपसे लक्ष्मणसहित भगवान् रामका दर्शन कर तथा रावणको तत्त्वज्ञानका उपदेश दे वे फिर शीघ्र ही पूर्ववत् ब्राह्मण-शरीर हो वानप्रस्थोंके साथ रहने लगे ॥ २१—२४ ॥

ततः समागमद्वृद्धो माल्यवान् राक्षसो महान् ।
बुद्धिमान्नीतिनिपुणो राज्ञो मातुः प्रियः पिता ॥ २५ ॥

प्राह तं राक्षसं वीरं प्रशान्तेनान्तरात्मना ।
शृणु राजन्वचो मेऽद्य श्रुत्वा कुरु यथेप्सितम् ॥ २६ ॥

यदा प्रविष्टा नगरीं जानकी रामवल्लभा ।
तदादि पुर्यां दृश्यन्ते निमित्तानि दशानन ॥ २७ ॥

घोराणि नाशहेतूनि तानि मे वदतः शृणु ।
खरस्तनितनिर्घोषा मेघा अतिभयङ्कराः ॥ २८ ॥

शोणितेनाभिवर्षन्ति लङ्कामुष्णेन सर्वदा ।
रुदन्ति देवलिङ्गानि स्विद्यन्ति प्रचलन्ति च ॥ २९ ॥

कालिका पाण्डुरैर्दन्तैः प्रहसत्यग्रतः स्थिता ।
खरा गोषु प्रजायन्ते मूषका नकुलैः सह ॥ ३० ॥

(शुकके चले जानेपर) राजा रावणकी माताका प्रिय पिता अति बुद्धिमान् और नीतिनिपुण वृद्ध राक्षस माल्यवान् वहाँ आया ॥ २५ ॥ वह शान्तचित्तसे उस राक्षसवीर (रावण) से बोला—"हे राजन् ! मेरी प्रार्थना सुनिये, फिर आपकी जैसी इच्छा हो वह करना ॥ २६ ॥ हे दशानन ! जबसे नगरमें राम-भार्या जानकीका प्रवेश हुआ है तभीसे यहाँ बड़े भयंकर नाशकारी हेतु दिखायी दे रहे हैं, सो मैं आपको बतलाता हूँ, सुनिये—अति भयंकर मेघगण तीक्ष्ण कड़कके साथ गर्जते हैं और सर्वदा लङ्काके ऊपर गर्म-गर्म रक्तकी वर्षा करते हैं। देवमूर्तियाँ रोती हैं, उनके शरीरमें पसीना आ जाता है और वे अपने स्थानसे स्खलित हो जाती हैं ॥ २७—२९ ॥ कालिका राक्षसोंके आगे अपने पीले-पीले दाँत निकालकर हँसती है, गौओंके गधे उत्पन्न होते हैं और चूहे न्योले तथा बिल्लीसे एवं सर्प

मार्जारेण तु युध्यन्ति पन्नगा गरुडेन तु।
करालो विकटो मुण्डः पुरुषः कृष्णपिङ्गलः ॥ ३१ ॥

कालो गृहाणि सर्वेषां काले काले त्ववेक्षते।
एतान्यन्यानि दृश्यन्ते निमित्तान्युद्भवन्ति च ॥ ३२ ॥

अतः कुलस्य रक्षार्थं शान्तिं कुरु दशानन।
सीतां सत्कृत्य सधनां रामायाशु प्रयच्छ भोः ॥ ३३ ॥

रामं नारायणं विद्धि विद्वेषं त्यज राघवे।
यत्पादपोतमाश्रित्य ज्ञानिनो भवसागरम् ॥ ३४ ॥

तरन्ति भक्तिपूतान्तास्ततो रामो न मानुषः।
भजस्व भक्तिभावेन रामं सर्वहृदालयम् ॥ ३५ ॥

यद्यपि त्वं दुराचारो भक्त्या पूतो भविष्यसि।
मद्वाक्यं कुरु राजेन्द्र कुलकौशलहेतवे ॥ ३६ ॥

तत्तु माल्यवतो वाक्यं हितमुक्तं दशाननः।
न मर्षयति दुष्टात्मा कालस्य वशमागतः ॥ ३७ ॥

मानवं कृपणं राममेकं शाखामृगाश्रयम्।
समर्थं मन्यसे केन हीनं पित्रा मुनिप्रियम् ॥ ३८ ॥

रामेण प्रेषितो नूनं भाषसे त्वमनर्गलम्।
गच्छ वृद्धोऽसि बन्धुस्त्वं सोढं सर्वं त्वयोदितम् ॥ ३९ ॥

इतो मत्कर्णपदवीं दहत्येतद्वचस्तव।
इत्युक्त्वा सर्वसचिवैः सहितः प्रस्थितस्तदा ॥ ४० ॥

प्रासादाग्रे समासीनः पश्यन्वानरसैनिकान्।
युद्धायायोजयत्सर्वराक्षसान्समुपस्थितान् ॥ ४१ ॥

रामोऽपि धनुरादाय लक्ष्मणेन समाहृतम्।
दृष्ट्वा रावणमासीनं कोपेन कलुषीकृतः ॥ ४२ ॥

किरीटिनं समासीनं मन्त्रिभिः परिवेष्टितम्।
शशाङ्कार्धनिभेनैव बाणेनैकेन राघवः ॥ ४३ ॥

गरुड़से युद्ध करते हैं। समस्त राक्षसोंके घरोंको समय-समयपर काले और पीले रंगका एक महाभयङ्कर विकरालवदन मुण्डित-केश कालपुरुष देखा करता है। इस प्रकार ये तथा और भी बहुत-से अपशकुन उत्पन्न होते और दिखायी देते हैं ॥ ३०—३२ ॥ अतः हे दशशीश! अपने कुलकी रक्षाके लिये इनकी शान्ति कीजिये और तुरंत ही सीताको सत्कारपूर्वक बहुत-से धनके सहित रघुनाथजीको दे दीजिये ॥ ३३ ॥ रामको आप साक्षात् नारायण समझिये, इसलिये उनमें द्वेषभाव छोड़ दीजिये। इन रघुनाथजीके चरण-कमलरूप नौकाका आश्रय लेकर भक्तिसे पवित्र अन्तःकरण हुए योगीजन संसारसागरको पार कर जाते हैं। अतः ये कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। ये सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान हैं, आप भक्तिभावसे इन रघुनाथजीका भजन कीजिये ॥ ३४-३५ ॥ यद्यपि आपका आचरण अच्छा नहीं है, तथापि उनकी भक्तिसे आप पवित्र हो जायँगे। हे राजेन्द्र! अपने कुलकी कुशलताके लिये मेरा यह वचन मान लीजिये" ॥ ३६ ॥

किन्तु माल्यवान्‌के ये हितकर वाक्य दुष्टचित्त रावणको सहन न हुए, क्योंकि वह कालके वशीभूत हो रहा था ॥ ३७ ॥ वह बोला—"इस बेचारे एक तुच्छ मनुष्य रामको, जिसने बंदरका आश्रय लिया हुआ है और जिसे उसके पिताने भी निकाल दिया है, तुम किस बातमें समर्थ मानते हो? वह तो केवल वनवासी मुनिजनोंका ही प्यारा है ॥ ३८ ॥ मालूम होता है, तुम्हें रामने ही भेजा है इसीलिये तुम इस प्रकार ऊटपटांग बातें बनाते हो। जाओ, तुम बूढ़े और अपने सगे-सम्बन्धी हो इसीलिये मैंने तुम्हारी सब बातें सहन कर ली हैं ॥ ३९ ॥ किन्तु अब तुम्हारे वचन मेरे कानोंको जलाते हैं।" ऐसा कहकर वह अपने समस्त मन्त्रियोंसहित वहाँसे चल दिया ॥ ४० ॥ और अपने राजभवनके सर्वोच्च तलपर बैठकर वानरसैनिकोंको देखता हुआ अपने आस-पास बैठे हुए राक्षसोंको युद्धके लिये नियुक्त करने लगा ॥ ४१ ॥

इधर, रामचन्द्रजीने रावणको बैठा देख अति क्रोधातुर हो लक्ष्मणजीका लाया हुआ धनुष उठाया ॥ ४२ ॥ वह सिरपर मुकुट धारण किये अपने अनेकों मन्त्रियोंसे घिरा हुआ बैठा था। भगवान् रामने

श्वेतच्छत्रसहस्राणि किरीटदशकं तथा।
चिच्छेद निमिषार्धेन तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४४ ॥

लज्जितो रावणस्तूर्णं विवेश भवनं स्वकम्।
आहूय राक्षसान् सर्वान्प्रहस्तप्रमुखान् खलः ॥ ४५ ॥

वानरैः सह युद्धाय नोदयामास सत्वरः।
ततो भेरीमृदङ्गाद्यैः पणवानकगोमुखैः ॥ ४६ ॥

महिषोष्ट्रैः खरैः सिंहैर्द्वीपिभिः कृतवाहनाः।
खड्गशूलधनुःपाशयष्टितोमरशक्तिभिः ॥ ४७ ॥

लक्षिताः सर्वतो लङ्कां प्रतिद्वारमुपाययुः।
तत्पूर्वमेव रामेण नोदिता वानरर्षभाः ॥ ४८ ॥

उद्यम्य गिरिशृङ्गाणि शिखराणि महान्ति च।
तरूंश्चोत्पाट्य विविधान्युद्धाय हरियूथपाः ॥ ४९ ॥

प्रेक्षमाणा रावणस्य तान्यनीकानि भागशः।
राघवप्रियकामार्थं लङ्कामारुरुहुस्तदा ॥ ५० ॥

ते द्रुमैः पर्वताग्रैश्च मुष्टिभिश्च प्लवङ्गमाः।
ततः सहस्रयूथाश्च कोटियूथाश्च यूथपाः ॥ ५१ ॥

कोटीशतयुताश्चान्ये रुरुधुर्नगरं भृशम्।
आप्लवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवङ्गमाः ॥ ५२ ॥

रामो जयत्यतिबलो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणानुपालितः ॥ ५३ ॥

इत्येवं घोषयन्तश्च समं युयुधिरेऽरिभिः।
हनूमानङ्गदश्चैव कुमुदो नील एव च ॥ ५४ ॥

नलश्च शरभश्चैव मैन्दो द्विविद एव च।
जाम्बवान्दधिवक्त्रश्च केसरी तार एव च ॥ ५५ ॥

अन्ये च बलिनः सर्वे यूथपाश्च प्लवङ्गमाः।
द्वाराण्युत्प्लुत्य लङ्कायाः सर्वतो रुरुधुर्भृशम्।
तदा वृक्षैर्महाकायाः पर्वताग्रैश्च वानराः ॥ ५६ ॥

निजघ्नुस्तानि रक्षांसि नखैर्दन्तैश्च वेगिताः।
राक्षसाश्च तदा भीमा द्वारेभ्यः सर्वतो रुषा ॥ ५७ ॥

आधे निमेषमें ही एक अर्धचन्द्राकार बाणसे उसके हजारों श्वेत छत्र और दसों मुकुट काट डाले। यह बड़ा आश्चर्य-सा हो गया ॥ ४३-४४ ॥ इससे लज्जित होकर रावण तुरंत अपने घरमें घुस गया; और उस दुष्टने शीघ्र ही प्रहस्त आदि मुख्य-मुख्य राक्षसोंको बुलाकर वानरोंके साथ युद्ध करनेकी आज्ञा दी।

तब राक्षस लोग भेरी, मृदंग, पणव, आनक और गोमुख आदि बाजे बजाते भैंसों, ऊँटों, गधों, सिंहों और व्याघ्रोंपर चढ़कर खड्ग, शूल, धनुष, पाश, यष्टि (डंडे), तोमर और शक्ति आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो लङ्काके प्रत्येक द्वारपर आ गये। भगवान् रामने वानरोंको पहले ही आज्ञा दे दी थी ॥ ४५—४८ ॥ अतः वे पर्वतोंकी शिलाएँ तथा बड़े-बड़े शिखर उठाकर और नाना प्रकारके वृक्ष उखाड़कर युद्धके लिये चले और रावणकी वह पृथक्-पृथक् सेना देखकर रघुनाथजीका प्रिय कार्य करनेके लिये लङ्कापर चढ़ गये ॥ ४९-५० ॥

उनमेंसे कोई सहस्रयूथपति, कोई कोटियूथप और कोई शतकोटि-यूथनायक थे। उन वानरोंने उछलते-कूदते और गर्जते हुए वृक्ष, पर्वतशिखर और मुट्ठियाँ तानकर नगरको सब ओरसे घेर लिया ॥ ५१-५२ ॥

'महाबली राम और वीरवर लक्ष्मणकी जय हो, रघुनाथजीसे सुरक्षित राजा सुग्रीवकी जय हो, इस प्रकार शब्द करते हुए वे शत्रुओंसे लड़ने लगे। हनुमान्, अङ्गद, कुमुद, नील, नल, शरभ, मैन्द, द्विविद, जाम्बवान्, दधिमुख, केसरी, तार तथा अन्य समस्त बलवान् वानर और यूथपतियोंने उछल-उछलकर लङ्काके सब द्वारोंको चारों ओरसे घेर लिया। तब वे महाकाय वानरगण वृक्ष, पर्वतशिखर और नख तथा दाँतोंसे अति वेगपूर्वक उन राक्षसोंको मारने लगे।

तब, महाभयानक और बड़े-बड़े डीलवाले महाबली राक्षसगण भी अति रोषपूर्वक सब द्वारोंसे निकलकर

निर्गत्य भिन्दिपालैश्च खड्गैः शूलैः परश्वधैः ।
निजघ्नुर्वानरानीकं महाकाया महाबलाः ॥ ५८ ॥

राक्षसांश्च तथा जघ्नुर्वानरा जितकाशिनः ।
तदा बभूव समरो मांसशोणितकर्दमः ॥ ५९ ॥

रक्षसां वानराणां च सम्बभूवाद्भुतोपमः ।
ते हयैश्च गजैश्चैव रथैः काञ्चनसन्निभैः ॥ ६० ॥

रक्षोव्याघ्रा युयुधिरे नादयन्तो दिशो दश ।
राक्षसाश्च कपीन्द्राश्च परस्परजयैषिणः ॥ ६१ ॥

राक्षसान्वानरा जघ्नुर्वानरांश्चैव राक्षसाः ।
रामेण विष्णुना दृष्टा हरयो दिविजांशजाः ॥ ६२ ॥

बभूवुर्बलिनो हृष्टास्तदा पीतामृता इव ।
सीताभिमर्शपापेन रावणेनाभिपालितान् ॥ ६३ ॥

हतश्रीकान्हतबलान् राक्षसान् जघ्नुरोजसा ।
चतुर्थांशावशेषेण निहतं राक्षसं बलम् ॥ ६४ ॥

स्वसैन्यं निहतं दृष्ट्वा मेघनादोऽथ दुष्टधीः ।
ब्रह्मदत्तवरः श्रीमानन्तर्धानं गतोऽसुरः ॥ ६५ ॥

सर्वास्त्रकुशलो व्योम्नि ब्रह्मास्त्रेण समन्ततः ।
नानाविधानि शस्त्राणि वानरानीकमर्दयन् ॥ ६६ ॥

ववर्ष शरजालानि तदद्भुतमिवाभवत् ।
रामोऽपि मानयन्ब्राह्ममस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ ६७ ॥

क्षणं तूष्णीमुवासाथ ददर्श पतितं बलम् ।
वानराणां रघुश्रेष्ठश्चुकोपानलसन्निभः ॥ ६८ ॥

चापमानय सौमित्रे ब्रह्मास्त्रेणासुरं क्षणात् ।
भस्मीकरोमि मे पश्य बलमद्य रघूत्तम ॥ ६९ ॥

मेघनादोऽपि तच्छ्रुत्वा रामवाक्यमतन्द्रितः ।
तूर्णं जगाम नगरं मायया मायिकोऽसुरः ॥ ७० ॥

पतितं वानरानीकं दृष्ट्वा रामोऽतिदुःखितः ।
उवाच मारुतिं शीघ्रं गत्वा क्षीरमहोदधिम् ॥ ७१ ॥

भिन्दिपाल, खड्ग, शूल और परशु आदि विविध अस्त्र-शस्त्रोंसे वानर-सेनापर प्रहार करने लगे ॥ ५३—५८ ॥ इसी प्रकार विजयी वानरवीर भी राक्षसोंको मारने लगे। उस समय वहाँ राक्षसों और वानरोंका बड़ा विचित्र युद्ध छिड़ गया, जिससे उस रणभूमिमें रक्त और मांसकी कीच हो गयी। वीर राक्षसकेसरी घोड़ों, हाथियों और सुवर्णमय रथोंपर चढ़कर अपने शब्दसे दसों दिशाओंको गुंजायमान करते हुए लड़ रहे थे और राक्षस तथा वानर दोनों ही परस्पर एक-दूसरेको जीतना चाहते थे ॥ ५९—६१ ॥ वानरगण राक्षसोंको और राक्षसलोग वानरोंको मारने लगे। विष्णुरूप भगवान् रामकी दृष्टि पड़नेसे देवताओंके अंशसे उत्पन्न हुए वानरगण बड़े प्रबल हो गये; और मानो अमृतपान कर अति हर्षसे उत्साहपूर्वक, सीताजीको (हरण करते समय) स्पर्श करनेके कारण महापापी रावणसे पालित निस्तेज और बलहीन राक्षसोंको मारने लगे। धीरे-धीरे राक्षसोंकी सेना नष्ट होकर केवल एक चौथाई रह गयी ॥ ६२—६४ ॥

अपनी सेनाको नष्ट हुई देख ब्रह्माजीके वरसे श्रीसम्पन्न हुआ दुष्टबुद्धि राक्षस मेघनाद अन्तर्धान हो गया ॥ ६५ ॥ वह दैत्य सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र चलानेमें कुशल था। अतः वह आकाशमें चढ़कर ब्रह्मास्त्रद्वारा वानर-सेनाको दलित करता हुआ सब ओर नाना प्रकारके शस्त्र और बाणसमूह बरसाने लगा। यह बड़ा आश्चर्य-सा होने लगा। अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् राम भी ब्रह्मास्त्रका मान रखनेके लिये एक क्षणतक चुपचाप वानर-सेनाका पतन देखते रहे। अन्तमें वे रघुश्रेष्ठ क्रोधसे अग्निके समान प्रज्वलित हो उठे ॥ ६६—६८ ॥ और बोले—"लक्ष्मण ! मेरा धनुष तो लाओ, मैं एक क्षणमें ही इस दुष्ट दानवको ब्रह्मास्त्रसे भस्म कर डालूँगा। हे रघुश्रेष्ठ ! आज तुम मेरा पराक्रम देखना" ॥ ६९ ॥

मेघनाद भी बहुत सावधान था; रामचन्द्रजीके ये वाक्य सुनते ही वह महामायावी दैत्य मायापूर्वक तुरंत अपने नगरको चला गया ॥ ७० ॥ वानर-सेनाको नष्ट हुई देख श्रीरामचन्द्रजी अति दुःखित होकर हनुमान्‌जीसे बोले—

तत्र द्रोणगिरिर्नाम दिव्यौषधिसमुद्भवः ।
तमानय द्रुतं गत्वा सञ्जीवय महामते ॥ ७२ ॥

वानरौघान्महासत्त्वान्कीर्तिस्ते सुस्थिरा भवेत् ।
आज्ञा प्रमाणमित्युक्त्वा जगामानिलनन्दनः ॥ ७३ ॥

आनीय च गिरिं सर्वान्वानरान्वानरर्षभः ।
जीवयित्वा पुनस्तत्र स्थापयित्वाययौ द्रुतम् ॥ ७४ ॥

पूर्ववद्भैरवं नादं वानराणां बलौघतः ।
श्रुत्वा विस्मयमापन्नो रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७५ ॥

राघवो मे महान् शत्रुः प्राप्तो देवविनिर्मितः ।
हन्तुं तं समरे शीघ्रं गच्छन्तु मम यूथपाः ॥ ७६ ॥

मन्त्रिणो बान्धवाः शूरा ये च मत्प्रियकाङ्क्षिणः ।
सर्वे गच्छन्तु युद्धाय त्वरितं मम शासनात् ॥ ७७ ॥

ये न गच्छन्ति युद्धाय भीरवः प्राणविप्लवात् ।
तान्हनिष्याम्यहं सर्वान्मच्छासनपराङ्मुखान् ॥ ७८ ॥

तच्छ्रुत्वा भयसन्त्रस्ता निर्जग्मू रणकोविदाः ।
अतिकायः प्रहस्तश्च महानादमहोदरौ ॥ ७९ ॥

देवशत्रुर्निकुम्भश्च देवान्तकनरान्तकौ ।
अपरे बलिनः सर्वे ययुर्युद्धाय वानरैः ॥ ८० ॥

एते चान्ये च बहवः शूराः शतसहस्रशः ।
प्रविश्य वानरं सैन्यं ममन्थुर्बलदर्पिताः ॥ ८१ ॥

भुशुण्डीभिन्दिपालैश्च बाणैः खड्गैः परश्वधैः ।
अन्यैश्च विविधैरस्त्रैर्निजघ्नुर्हरियूथपान् ॥ ८२ ॥

ते पादपैः पर्वताग्रैर्नखदंष्ट्रैश्च मुष्टिभिः ।
प्राणैर्विमोचयामासुः सर्वराक्षसयूथपान् ॥ ८३ ॥

रामेण निहताः केचित्सुग्रीवेण तथापरे ।
हनूमता चाङ्गदेन लक्ष्मणेन महात्मना ।
यूथपैर्वानराणां ते निहताः सर्वराक्षसाः ॥ ८४ ॥

रामतेजः समाविश्य वानरा बलिनोऽभवन् ।
रामशक्तिविहीनानामेवं शक्तिः कुतो भवेत् ॥ ८५ ॥

"हनुमान्! तुम तुरंत ही क्षीर-सागरपर जाओ। वहाँ द्रोणाचल नामक पर्वत है, जिसपर नाना प्रकारकी दिव्य ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। हे महामते! तुम झटपट जाकर उस पर्वतको ले आओ और इन महापराक्रमी वानरयूथोंको जीवित करो। इससे तुम्हारी कीर्ति अविचल हो जायगी।" यह सुनकर पवनकुमार 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर चल दिये ॥ ७१—७३ ॥ और तुरंत ही उस पर्वतको लाकर (उसकी ओषधियोंसे) समस्त वानरोंको जीवित कर उसे फिर वहीं रख आये ॥ ७४ ॥

तब वानर-सेनाका फिर पूर्ववत् भयानक शब्द सुनकर रावण अति विस्मित होकर कहने लगा ॥ ७५ ॥ "देवताओंका प्रकट किया हुआ यह राम मेरा महान् शत्रु आया है। इसे युद्धमें मारनेके लिये मेरे सेनापति, मन्त्री, बन्धु-बान्धव तथा और भी जो शूरवीर मेरा हित चाहते हों, वे सब मेरी आज्ञा मानकर तुरंत जायँ ॥ ७६-७७ ॥ जो डरपोक अपने प्राणोंके भयसे युद्ध करने नहीं जायँगे, अपनी आज्ञा न माननेवाले उन सबको मैं मार डालूँगा" ॥ ७८ ॥ रावणकी यह आज्ञा सुनकर अतिकाय, प्रहस्त, महानाद, महोदर, देवशत्रु, निकुम्भ, देवान्तक और नरान्तक आदि रणकुशल वीर तथा और भी समस्त बलवान् योद्धा भयभीत होकर वानरोंके साथ युद्ध करनेके लिये चले ॥ ७९-८० ॥ ये तथा और भी बहुत-से सैकड़ों-सहस्रों शूर-वीर अपने-अपने बलके गर्वसे उन्मत्त हो वानरसेनामें घुसकर उसे दलित करने लगे ॥ ८१ ॥ वे भुशुण्डि, भिन्दिपाल, बाण, खड्ग, परशु तथा और भी नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे वानर-यूथपतियोंपर प्रहार करने लगे ॥ ८२ ॥

इधर, वानरवीर भी वृक्षों, पर्वतशिखरों, नखों, दाढ़ों और मुट्ठियोंसे समस्त राक्षस-यूथपोंको निष्प्राण करने लगे ॥ ८३ ॥ उन राक्षसोंमेंसे कोई श्रीरामके हाथसे, कोई सुग्रीवके द्वारा, कोई हनुमान् और अङ्गदके द्वारा, कोई महात्मा लक्ष्मणजीके हाथसे और कोई अन्यान्य वानर-यूथपोंके द्वारा मारे गये। इस प्रकार उन समस्त राक्षसोंका अन्त हो गया ॥ ८४ ॥ राम-तेजके समावेशसे वानरगण अत्यन्त प्रबल हो रहे थे। राम-शक्तिसे शून्य होनेपर इनमें

सर्वेश्वरः सर्वमयो विधाता
मायामनुष्यत्वविडम्बनेन ।
सदा चिदानन्दमयोऽपि रामो
युद्धादिलीलां वितनोति मायाम् ॥ ८६ ॥

इतनी सामर्थ्य कैसे हो सकती थी ? ॥ ८५ ॥ भगवान् राम सर्वेश्वर, सर्वमय, सबके नियन्ता और सर्वदा चिदानन्दमय हैं, तथापि मायासे मानव-चरित्रका अनुकरण करते हुए युद्धादि लीलाका विस्तार करते हैं ॥ ८६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठ सर्ग

लक्ष्मण-मूर्च्छा, राम-रावण-संग्राम, हनुमान्‌जीका ओषधि लेने जाना और रावण-कालनेमि-संवाद

श्रीमहादेव उवाच

श्रुत्वा युद्धे बलं नष्टमतिकायमुखं महत्।
रावणो दुःखसन्तप्तः क्रोधेन महतावृतः ॥ १ ॥

निधायेन्द्रजितं लङ्कारक्षणार्थं महाद्युतिः ।
स्वयं जगाम युद्धाय रामेण सह राक्षसः ॥ २ ॥

दिव्यं स्यन्दनमारुह्य सर्वशस्त्रास्त्रसंयुतम्।
राममेवाभिदुद्राव राक्षसेन्द्रो महाबलः ॥ ३ ॥

वानरान्बहुशो हत्वा बाणैराशीविषोपमैः ।
पातयामास सुग्रीवप्रमुखान्यूथनायकान् ॥ ४ ॥

गदापाणिं महासत्त्वं तत्र दृष्ट्वा विभीषणम्।
उत्ससर्ज महाशक्तिं मयदत्तां विभीषणे ॥ ५ ॥

तामापतन्तीमालोक्य विभीषण विघातिनीम्।
दत्ताभयोऽयं रामेण वधार्हो नायमासुरः ॥ ६ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणो भीमं चापमादाय वीर्यवान्।
विभीषणस्य पुरतः स्थितोऽकम्प इवाचलः ॥ ७ ॥

सा शक्तिर्लक्ष्मणतनुं विवेशामोघशक्तितः ।
यावन्त्यः शक्तयो लोके मायायाः सम्भवन्ति हि ॥ ८ ॥

तासामाधारभूतस्य लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
मायाशक्त्या भवेत्किं वा शेषांशस्य हरेस्तनोः ॥ ९ ॥

तथापि मानुषं भावमापन्नस्तदनुव्रतः ।
मूर्च्छितः पतितो भूमौ तमादातुं दशाननः ॥ १० ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! युद्धमें अतिकाय आदि राक्षसोंकी महती सेनाको नष्ट हुई सुन रावण अति दुःखातुर हो महान् क्रोधसे भर गया ॥ १ ॥ और वह महातेजस्वी राक्षस लङ्काकी रक्षाके लिये इन्द्रजित्‌को नियुक्त कर स्वयं रघुनाथजीसे लड़नेके लिये चला ॥ २ ॥ महाबली राक्षसराज समस्त शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित एक दिव्य रथपर आरूढ़ हो श्रीरामचन्द्रजीकी ओर ही दौड़ा ॥ ३ ॥ उसने अपने सर्पके समान उग्र बाणोंसे बहुत-से वानरोंको मारकर सुग्रीव आदि यूथपतियोंको भी पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ४ ॥ फिर महापराक्रमी विभीषणको वहाँ गदा लिये खड़ा देख उसने उसकी ओर मयदानवकी दी हुई महान् शक्ति छोड़ी ॥ ५ ॥ उस शक्तिको विभीषणका नाश करनेके लिये बढ़ती देख 'रामने इसे अभय दिया है, यह असुरकुमार वध किये जानेयोग्य नहीं है' ऐसा कहते हुए महावीर्यवान् लक्ष्मणजी अपना प्रचण्ड धनुष लेकर विभीषणके आगे पर्वतके समान अचल होकर खड़े हो गये ॥ ६-७ ॥

उस शक्तिकी सामर्थ्य अमोघ (कभी व्यर्थ न जानेवाली) थी, अतः वह लक्ष्मणजीके शरीरमें घुस गयी। संसारमें मायासे जितनी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, महात्मा लक्ष्मणजी उन सबके आधार भगवान् विष्णुके स्वरूपभूत शेषनागके अंशावतार हैं। उनका उस मायाशक्तिसे क्या बिगड़ सकता था ? ॥ ८-९ ॥ तथापि इस समय मनुष्यभाव अंगीकार करनेसे उसका अनुकरण करते हुए

हस्तैस्तोलयितुं शक्तो न बभूवातिविस्मितः।
सर्वस्य जगतः सारं विराजं परमेश्वरम् ॥ ११ ॥

कथं लोकाश्रयं विष्णुं तोलयेल्लघुराक्षसः।
प्रहीतुकामं सौमित्रिं रावणं वीक्ष्य मारुतिः ॥ १२ ॥

आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रकल्पेन मुष्टिना।
तेन मुष्टिप्रहारेण जानुभ्यामपतद्भुवि ॥ १३ ॥

आस्यैश्च नेत्रश्रवणैरुद्वमन् रुधिरं बहु।
विघूर्णमाननयनो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ १४ ॥

अथ लक्ष्मणमादाय हनूमान् रावणार्दितम्।
आनयद्रामसामीप्यं बाहुभ्यां परिगृह्य तम् ॥ १५ ॥

हनूमतः सुहृत्त्वेन भक्त्या च परमेश्वरः।
लघुत्वमगमद्देवो गुरूणां गुरुरप्यजः ॥ १६ ॥

सा शक्तिरपि तं त्यक्त्वा ज्ञात्वा नारायणांशजम्।
रावणस्य रथं प्रागाद्रावणोऽपि शनैस्ततः ॥ १७ ॥

संज्ञामवाप्य जग्राह बाणासनमथो रुषा।
राममेवाभिदुद्राव दृष्ट्वा रामोऽपि तं क्रुधा ॥ १८ ॥

आरुह्य जगतां नाथो हनूमन्तं महाबलम्।
रथस्थं रावणं दृष्ट्वा अभिदुद्राव राघवः ॥ १९ ॥

ज्याशब्दमकरोत्तीव्रं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम्।
रामो गम्भीरया वाचा राक्षसेन्द्रमुवाच ह ॥ २० ॥

राक्षसाधम तिष्ठाद्य क्व गमिष्यसि मे पुरः।
कृत्वापराधमेवं मे सर्वत्र समदर्शिनः ॥ २१ ॥

येन बाणेन निहता राक्षसास्ते जनालये।
तेनैव त्वां हनिष्यामि तिष्ठाद्य मम गोचरे ॥ २२ ॥

श्रीरामस्य वचः श्रुत्वा रावणो मारुतात्मजम्।
वहन्तं राघवं सङ्ख्ये शरैस्तीक्ष्णैरताडयत् ॥ २३ ॥

हतस्यापि शरैस्तीक्ष्णैर्वायुसूनोः स्वतेजसा।
व्यवर्धत पुनस्तेजो ननर्द च महाकपिः ॥ २४ ॥

ततो दृष्ट्वा हनूमन्तं सव्रणं रघुसत्तमः।
क्रोधमाहारयामास कालरुद्र इवापरः ॥ २५ ॥

वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। लक्ष्मणजीको ले जानेके लिये रावण उन्हें अपने हाथोंसे उठानेमें सफल न हुआ, अतः उसे बड़ा ही विस्मय हुआ। भला, जो सम्पूर्ण जगत्का सार परमेश्वर विराट् पुरुष है उस निखिल लोकाधार विष्णुको एक क्षुद्र राक्षस कैसे उठा सकता था।

जब हनुमान्जीने देखा कि रावण लक्ष्मणजीको ले जाना चाहता है तो उन्होंने अति क्रुद्ध होकर उसकी छातीमें एक वज्र-सदृश घूँसा मारा। उस घूँसेके आघातसे रावण घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १०—१३ ॥ और अपने मुख, नेत्र और कानोंसे बहुत-सा रुधिर वमन करता हुआ घूमती हुई आँखोंसे रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥ १४ ॥ तदनन्तर हनुमान्जी रावणद्वारा आहत लक्ष्मणजीको अपनी भुजाओंपर उठाकर श्रीरामचन्द्रजीके पास ले आये ॥ १५ ॥ हनुमान्जीके लिये, उनके सौहार्द और भक्तिभावके कारण वे अजन्मा और प्रकाश-स्वरूप परमेश्वर (लक्ष्मणजी) भारी-से-भारी होनेपर भी अत्यन्त लघु (हलके) हो गये ॥ १६ ॥ श्रीलक्ष्मणजीको साक्षात् नारायणका अंश जानकर वह शक्ति भी उन्हें छोड़कर फिर रावणके रथपर चली गयी। इधर, रावणको भी जब धीरे-धीरे कुछ चेत हुआ तो उसने अत्यन्त क्रोधसे अपना धनुष उठाया और रामचन्द्रजीकी ओर दौड़ा। उसे (अपनी ओर आता) देख जगत्पति भगवान् राम अति क्रुद्ध होकर महाबली हनुमान्जीके कन्धेपर चढ़े और रावणको रथमें बैठा देख उसकी ओर दौड़े ॥ १७—१९ ॥ भगवान् रामने अपने धनुषकी प्रत्यञ्चाका ऐसा कठोर शब्द किया जो मानो वज्रको भी चूर्ण करनेवाला था और फिर अति गम्भीर वाणीसे राक्षसराज रावणसे ऐसा कहा— ॥ २० ॥ 'अरे राक्षसाधम ! जरा ठहर तो, मुझ सर्वत्र समदर्शीका ऐसा अपराध करके तू कहाँ जा सकता है ? ॥ २१ ॥ अरे ! तू तनिक मेरे सामने खड़ा रह, जिस बाणसे मैंने जनस्थानमें (खर-दूषणादिसे युद्ध करते समय) तेरे राक्षसोंको मारा था आज उसीसे तुझे भी मार डालूँगा' ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ये वचन सुनकर रावणने उन्हें वहन करनेवाले हनुमान्जीके बड़े तीखे बाण मारे ॥ २३ ॥ किन्तु उन तीक्ष्ण बाणोंके लगनेपर भी पवनपुत्रका तेज अपने प्रभावसे बराबर बढ़ता ही गया और वे महान् कपीश्वर बड़े जोरसे गरजने लगे ॥ २४ ॥ जब रघुनाथजीने

साश्वं रथं ध्वजं सूतं शस्त्रौघं धनुरञ्जसा ।
छत्रं पताकां तरसा चिच्छेद शितसायकैः ॥ २६ ॥

ततो महाशरेणाशु रावणं रघुसत्तमः ।
विव्याध वज्रकल्पेन पाकारिरिव पर्वतम् ॥ २७ ॥

रामबाणहतो वीरश्चचाल च मुमोह च ।
हस्तान्निपतितश्चापस्तं समीक्ष्य रघूत्तमः ॥ २८ ॥

अर्धचन्द्रेण चिच्छेद तत्किरीटं रविप्रभम् ।
अनुजानामि गच्छ त्वमिदानीं बाणपीडितः ॥ २९ ॥

प्रविश्य लङ्कामाश्वास्य श्वः पश्यसि बलं मम ।
रामबाणेन संविद्धो हतदर्पोऽथ रावणः ॥ ३० ॥

महत्या लज्जया युक्तो लङ्कां प्राविशदातुरः ।
रामोऽपि लक्ष्मणं दृष्ट्वा मूर्च्छितं पतितं भुवि ॥ ३१ ॥

मानुषत्वमुपाश्रित्य लीलयानुशुशोच ह ।
ततः प्राह हनूमन्तं वत्स जीवय लक्ष्मणम् ॥ ३२ ॥

महौषधीः समानीय पूर्ववद्वानरानपि ।
तथेति राघवेणोक्तो जगामाशु महाकपिः ॥ ३३ ॥

हनूमान्वायुवेगेन क्षणात्तीर्त्वा महोदधिम् ।
एतस्मिन्नन्तरे चारा रावणाय न्यवेदयन् ॥ ३४ ॥

रामेण प्रेषितो देव हनूमान् क्षीरसागरम् ।
गतो नेतुं लक्ष्मणस्य जीवनार्थं महौषधीः ॥ ३५ ॥

श्रुत्वा तच्चारवचनं राजा चिन्तापरोऽभवत् ।
जगाम रात्रावेकाकी कालनेमिगृहं क्षणात् ॥ ३६ ॥

गृहागतं समालोक्य रावणं विस्मयान्वितः ।
कालनेमिरुवाचेदं प्राञ्जलिर्भयविह्वलः ।
अर्घ्यादिकं ततः कृत्वा रावणस्याग्रतः स्थितः ॥ ३७ ॥

किं ते करोमि राजेन्द्र किमागमनकारणम् ।
कालनेमिमुवाचेदं रावणो दुःखपीडितः ॥ ३८ ॥

ममापि कालवशतः कष्टमेतदुपस्थितम् ।
मया शक्त्या हतो वीरो लक्ष्मणः पतितो भुवि ॥ ३९ ॥

हनुमान्‌जीको क्षत-विक्षत देखा तो दूसरे कालरुद्रके समान बड़ा भयंकर क्रोध धारण किया ॥ २५ ॥ और अपने तीक्ष्ण बाणोंसे बड़ी फुर्तीके साथ सुगमतासे ही रावणके घोड़ेसहित रथ, ध्वजा, सारथी, शस्त्रसमूह, धनुष, छत्र और पताका आदि काट डाले ॥ २६ ॥ फिर इन्द्रने जैसे पर्वतोंपर आक्रमण किया था वैसे ही उन्होंने एक वज्रतुल्य महाबाणसे रावणको वेध डाला ॥ २७ ॥ भगवान् रामका बाण लगनेसे वह वीर विचलित हो गया, उसे मूर्च्छा आ गयी और उसके हाथसे धनुष छूट गया। उसकी ऐसी दशा देखकर रघुनाथजीने एक अर्धचन्द्राकार बाणसे उसका सूर्यसदृश प्रकाशमान मुकुट काट डाला और कहा— 'रावण ! तुम मेरे बाणसे पीड़ित हो; अतः मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, इस समय तुम जाओ ॥ २८-२९ ॥ आज लङ्कामें जाकर विश्राम करो, फिर कल मेरा पराक्रम देखना।'

तब श्रीरामचन्द्रजीके बाणसे विद्ध होनेके कारण सारा दर्प चूर्ण हो जानेपर रावणने लज्जित और व्याकुल हो लङ्कामें प्रवेश किया। इधर रामचन्द्रजी भी लक्ष्मणजीको मूर्च्छित-अवस्थामें पृथिवीपर पड़े देख मनुष्यभावका आश्रय ले लीलासे शोक करने लगे और हनुमान्‌जीसे बोले—'वत्स ! पहली तरह ही (द्रोणाचलसे) महौषधि लाकर लक्ष्मण और वानरोंको जीवित करो।' रघुनाथजीके इस प्रकार कहनेपर महाकपि हनुमान्‌जी 'बहुत अच्छा' कह एक क्षणमें ही महासागरको पार कर वायुवेगसे चले। इसी समय रावणके गुप्तचरोंने उससे कहा— ॥ ३०—३४ ॥ "स्वामिन् ! रामने हनुमान्‌को क्षीर-समुद्रपर भेजा है और वह लक्ष्मणको जीवित करनेके लिये महौषधि लेने गया है" ॥ ३५ ॥ उनके ये वचन सुनकर राक्षसराज अति चिन्तातुर हुआ और उसी क्षण रात्रिमें ही अकेला कालनेमिके घर गया ॥ ३६ ॥

रावणको घर आया देख कालनेमिको बड़ा आश्चर्य हुआ; वह उसे अर्घ्यादि दे उसके सामने खड़ा हो गया और अति भयभीत हो हाथ जोड़कर बोला ॥ ३७ ॥ 'राज-राजेश्वर ! आज किस निमित्तसे आना हुआ ? कहिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?" तब रावणने अति दुःखित होकर कालनेमिसे कहा ॥ ३८ ॥ "आज कालक्रमसे मुझे भी यह कष्ट उपस्थित हो गया। मेरी शक्तिसे आहत

तं जीवयितुमानेतुमोषधीर्हनुमान् गतः ।
यथा तस्य भवेद्विघ्नस्तथा कुरु महामते ॥ ४० ॥

मायया मुनिवेषेण मोहयस्व महाकपिम् ।
कालात्ययो यथा भूयात्तथा कृत्वैहि मन्दिरे ॥ ४१ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा कालनेमिरुवाच तम् ।
रावणेश वचो मेऽद्य शृणु धारय तत्त्वतः ॥ ४२ ॥

प्रियं ते करवाण्येव न प्राणान् धारयाम्यहम् ।
मारीचस्य यथारण्ये पुराभून्मृगरूपिणः ॥ ४३ ॥

तथैव मे न सन्देहो भविष्यति दशानन ।
हताः पुत्राश्च पौत्राश्च बान्धवा राक्षसाश्च ते ॥ ४४ ॥

घातयित्वासुरकुलं जीवितेनापि किं तव ।
राज्येन वा सीतया वा किं देहेन जडात्मना ॥ ४५ ॥

सीतां प्रयच्छ रामाय राज्यं देहि विभीषणे ।
वनं याहि महाबाहो रम्यं मुनिगणाश्रयम् ॥ ४६ ॥

स्नात्वा प्रातः शुभजले कृत्वा सन्ध्यादिकाः क्रियाः ।
तत एकान्तमाश्रित्य सुखासनपरिग्रहः ॥ ४७ ॥

विसृज्य सर्वतः सङ्गमितरान्विषयान्बहिः ।
बहिःप्रवृत्ताक्षगणं शनैः प्रत्यक् प्रवाहय ॥ ४८ ॥

प्रकृतेर्भिन्नमात्मानं विचारय सदानघ ।
चराचरं जगत्कृत्स्नं देहबुद्धीन्द्रियादिकम् ॥ ४९ ॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यते श्रूयते च यत् ।
सैषा प्रकृतिरित्युक्ता सैव मायेति कीर्तिता ॥ ५० ॥

सर्गस्थितिविनाशानां जगद्वृक्षस्य कारणम् ।
लोहितश्वेतकृष्णादिप्रजाः सृजति सर्वदा ॥ ५१ ॥

कामक्रोधादिपुत्राद्यान्हिंसातृष्णादिकन्यकाः ।
मोहयन्त्यनिशं देवमात्मानं स्वैर्गुणैर्विभुम् ॥ ५२ ॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वमुखान् स्वगुणानात्मनीश्वरे ।
आरोप्य स्ववशं कृत्वा तेन क्रीडति सर्वदा ॥ ५३ ॥

होकर वीर लक्ष्मण पृथिवीपर गिर पड़ा है ॥ ३९ ॥ उसे जीवित करनेके लिये हनुमान् ओषधि लेने गया है। हे महामते ! तुम कोई ऐसा उपाय करो जिससे उसके लानेमें विघ्न खड़ा हो जाय ॥ ४० ॥ तुम मायासे मुनि-वेष बनाकर हनुमान्‌को मोहित करो जिससे (उस ओषधिके प्रयोगका) समय निकल जाय। यह कार्य करके फिर अपने घर लौट आना'' ॥ ४१ ॥

रावणके वचन सुनकर कालनेमिने उससे कहा— 'महाराज रावण ! मेरी बात सुनिये और उसे यथार्थ समझकर धारण कीजिये ॥ ४२ ॥ मैं आपका प्रिय करूँगा ही, उसके लिये मैं अपने प्राणोंकी परवा नहीं करता, (तथापि उससे क्या लाभ होगा ?) हे दशानन ! इसमें सन्देह नहीं जो कुछ दण्डकारण्यमें मृगरूपधारी मारीचका हुआ था वही दशा मेरी भी होगी। देखिये, आपके पुत्र, पौत्र और अनेकों सगे-सम्बन्धी राक्षसलोग मारे गये ॥ ४३-४४ ॥ इस प्रकार राक्षस-वंशका नाश कराकर आपके जीवन, राज्य, सीता अथवा इस जड देहसे भी क्या लाभ है ? ॥ ४५ ॥ हे महाबाहो ! आप रामचन्द्रजीको सीता और विभीषणको राज्य देकर मुनिगणसेवित सुरम्य तपोवनको जाइये ॥ ४६ ॥ वहाँ प्रातःकाल शुद्ध जलमें स्नानकर तथा सन्ध्योपासनादि नित्य-कर्मोंसे निवृत्त हो एकान्त देशमें सुखमय आसनसे बैठिये ॥ ४७ ॥ और सब ओरसे निःसङ्ग हो बाह्य विषयोंको छोड़ अपनी बाह्य वृत्तिवाली इन्द्रियोंको धीरे-धीरे अन्तर्मुख कीजिये ॥ ४८ ॥ हे अनघ ! अपने आत्माको सदा प्रकृतिसे भिन्न विचारिये। देह, बुद्धि और इन्द्रियादिसे युक्त सम्पूर्ण चराचर जगत् अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब (कीटविशेष) पर्यन्त जो कुछ दिखायी या सुनायी देता है वह सब प्रकृति है और वही माया भी कहलाती है ॥ ४९-५० ॥ वही सर्वदा संसाररूपी वृक्षकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकी कारणरूप श्वेत (सात्त्विक), लोहित (राजस) और कृष्णवर्ण (तामस) प्रजा उत्पन्न करती है ॥ ५१ ॥ तथा वही अपने गुणोंसे अहर्निश सर्वव्यापक आत्मदेवको मोहितकर काम-क्रोधादि पुत्रों और हिंसा-तृष्णादि कन्याओंको उत्पन्न करती है ॥ ५२ ॥ वह कतृत्व और भोक्तृत्व आदि अपने गुणोंको अपने प्रभु आत्मामें आरोपित कर उसे अपने वशीभूत कर उससे सदा

शुद्धोऽप्यात्मा यया युक्तः पश्यतीव सदा बहिः।
विस्मृत्य च स्वमात्मानं मायागुणविमोहितः॥ ५४॥

यदा सद्गुरुणा युक्तो बोध्यते बोधरूपिणा।
निवृत्तदृष्टिरात्मानं पश्यत्येव सदा स्फुटम्॥ ५५॥

जीवन्मुक्तः सदा देही मुच्यते प्राकृतैर्गुणैः।
त्वमप्येवं सदात्मानं विचार्य नियतेन्द्रियः॥ ५६॥

प्रकृतेरन्यमात्मानं ज्ञात्वा मुक्तो भविष्यसि।
ध्यातुं यद्यसमर्थोऽसि सगुणं देवमाश्रय॥ ५७॥

हृत्पद्मकर्णिके स्वर्णपीठे मणिगणान्विते।
मृदुश्लक्ष्णतरे तत्र जानक्या सह संस्थितम्॥ ५८॥

वीरासनं विशालाक्षं विद्युत्पुञ्जनिभाम्बरम्।
किरीटहारकेयूरकौस्तुभादिभिरन्वितम्॥ ५९॥

नूपुरैः कटकैर्भान्तं तथैव वनमालया।
लक्ष्मणेन धनुर्द्वन्द्वकरेण परिसेवितम्॥ ६०॥

एवं ध्यात्वा सदात्मानं रामं सर्वहृदि स्थितम्।
भक्त्या परमया युक्तो मुच्यते नात्र संशयः॥ ६१॥

शृणु वै चरितं तस्य भक्तैर्नित्यमनन्यधीः।
एवं चेत्कृतपूर्वाणि पापानि च महान्त्यपि।
क्षणादेव विनश्यन्ति यथाग्नेस्तूलराशयः॥ ६२॥

भजस्व रामं परिपूर्णमेकं
विहाय वैरं निजभक्तियुक्तः।
हृदा सदा भावितभावरूप-
मनामरूपं पुरुषं पुराणम्॥ ६३॥

खेलती रहती है॥ ५३॥ जिससे युक्त होकर आत्मा मायिक गुणोंसे मोहित होकर अपने स्वरूपको भूल जाता है, और नित्य शुद्ध होता हुआ भी सदा बाह्य विषयोंको देखने लगता है॥ ५४॥ जिस समय सद्गुरुका साक्षात्कार होता है और वे उसे निर्मल ज्ञानदृष्टिसे जाग्रत् करते हैं उस समय वह बाह्य विषयोंसे अपनी दृष्टि हटाकर अपने-आपको ही स्पष्ट देखता है॥ ५५॥ और फिर यह देहधारी जीव जीवन्मुक्त होकर प्राकृत गुणोंसे छूट जाता है।

हे रावण! आप संयतेन्द्रिय होकर इसी प्रकार अपने वास्तविक आत्मस्वरूपका चिन्तन कीजिये॥ ५६॥ इससे आत्माको प्रकृतिसे भिन्न जानकर आप मुक्त हो जायँगे। और यदि आप इस प्रकार ध्यान करनेमें असमर्थ हों तो सगुण-भगवान्‌का आश्रय लीजिये॥ ५७॥ (उस सगुण ध्यानकी विधि इस प्रकार है) हृदयकमलकी कर्णिकाओंमें मणिगणजटित अति मृदुल और स्वच्छ सुवर्ण-सिंहासनपर जो जानकीजीसहित विराजमान हैं, जो वीरासनसे बैठे हैं, जिनके नेत्र अति विशाल और वस्त्र विद्युल्लताके समान तेजोमय हैं तथा जो किरीट, हार, केयूर और कौस्तुभमणि आदि आभूषणोंसे सुशोभित हैं; नूपुर, कटक और वनमाला आदिसे जिनकी अपूर्व शोभा हो रही है तथा लक्ष्मणजी अपने हाथोंमें दो धनुष (एक अपना और एक प्रभु रामका) लिये जिनकी सेवामें खड़े हैं, उन सबके हृदयमें विराजमान अपने आत्मरूप भगवान् रामका इस प्रकार सर्वदा अत्यन्त भक्तिपूर्वक ध्यान करनेसे आप मुक्त हो जायँगे—इसमें सन्देह नहीं॥ ५८—६१॥ नित्य अनन्यबुद्धि होकर उनके भक्तोंके मुखारविन्दसे उनके पवित्र चरित्र सुनिये। ऐसा करनेसे आपके पूर्वकृत महान् पाप भी एक क्षणमें ही इस प्रकार भस्म हो जायँगे जैसे अग्निसे रूईका ढेर भस्म हो जाता है॥ ६२॥ जो सर्वत्र परिपूर्ण हैं उन अद्वितीय भगवान् रामके साथ वैर छोड़कर आत्मप्रेमपूर्वक उन नाम-रूपरहित पुराणपुरुषकी हृदयमें सगुणभावसे भावना कर उनका सर्वदा भजन कीजिये'॥ ६३॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे षष्ठः सर्गः॥ ६॥

सप्तम सर्ग

कालनेमिका कपट, हनुमान्‌जीद्वारा उसका वध, लक्ष्मणजीका सचेत होना और रावणका कुम्भकर्णको जगाना

श्रीमहादेव उवाच

कालनेमिवचः श्रुत्वा रावणोऽमृतसन्निभम् ।
जज्वाल क्रोधताम्राक्षः सर्पिरद्भिरिवाग्निमत् ॥ १ ॥

निहन्मि त्वां दुरात्मानं मच्छासनपराङ्मुखम् ।
परैः किञ्चिद्गृहीत्वा त्वं भाषसे रामकिंकरः ॥ २ ॥

कालनेमिरुवाचेदं रावणं देव किं क्रुधा ।
न रोचते मे वचनं यदि गत्वा करोमि तत् ॥ ३ ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ शीघ्रं कालनेमिर्महासुरः ।
नोदितो रावणेनैव हनूमद्विघ्नकारणात् ॥ ४ ॥

स गत्वा हिमवत्पार्श्वं तपोवनमकल्पयत् ।
तत्र शिष्यैः परिवृतो मुनिवेषधरः खलः ॥ ५ ॥

गच्छतो मार्गमासाद्य वायुसूनोर्महात्मनः ।
ततो गत्वा ददर्शाथ हनूमानाश्रमं शुभम् ॥ ६ ॥

चिन्तयामास मनसा श्रीमान्पवननन्दनः ।
पुरा न दृष्टमेतन्मे मुनिमण्डलमुत्तमम् ॥ ७ ॥

मार्गो विभ्रंशितो वा मे भ्रमो वा चित्तसम्भवः ।
यद्वाविश्याश्रमपदं दृष्ट्वा मुनिमशेषतः ॥ ८ ॥

पीत्वा जलं ततो यामि द्रोणाचलमनुत्तमम् ।
इत्युक्त्वा प्रविवेशाथ सर्वतो योजनायतम् ॥ ९ ॥

आश्रमं कदलीशालखर्जूरपनसादिभिः ।
समावृतं पक्वफलैर्नम्रशाखैश्च पादपैः ॥ १० ॥

वैरभाववविनिर्मुक्तं शुद्धं निर्मललक्षणम् ।
तस्मिन्महाश्रमे रम्ये कालनेमिः स राक्षसः ॥ ११ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! जैसे अग्निसे तपाया हुआ घृत जल डालनेसे छुनछुनाने लगता है वैसे ही कालनेमिके ये अमृततुल्य वचन सुनकर रावण जल उठा और क्रोधसे उसके नेत्र लाल हो गये ॥ १ ॥ वह कहने लगा—"अरे ! मालूम होता है तू शत्रुसे कुछ लेकर ही इस प्रकार रामके दासकी भाँति बातें बनाता है । याद रख, मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले तुझ दुष्टको मैं अभी मार डालूँगा" ॥ २ ॥ तब कालनेमिने रावणसे कहा—"देव ! क्रोधकी क्या बात है ? यदि आपको मेरा कथन अच्छा नहीं लगता तो मैं अभी जाकर (आप जैसा कहते हैं) वही करता हूँ" ॥ ३ ॥ इतना कह महादैत्य कालनेमि रावणकी ही प्रेरणासे हनुमान्‌जीके कार्यमें विघ्न करनेके लिये वहाँसे तुरंत चल दिया ॥ ४ ॥

उसने हिमालयकी तराईमें पहुँचकर उधरसे जाते हुए वायुपुत्र महात्मा हनुमान्‌के मार्गमें एक तपोवन बनाया और वहाँ वह दुष्ट स्वयं मुनिवेष बनाकर शिष्यवर्गसे घिरकर बैठ गया ।

जिस समय हनुमान्‌जी वहाँ पहुँचे तो उन्होंने वह सुन्दर आश्रम देखा ॥ ५-६ ॥ उसे देखकर श्रीमान् पवननन्दन मन-ही-मन सोचने लगे, 'मैंने पहले तो यह उत्तम मुनिमण्डल देखा नहीं था ॥ ७ ॥ क्या मैं मार्ग भूल गया हूँ या मेरे चित्तमें कोई भ्रम हो गया है ? अथवा चलो, इस आश्रममें चलकर सब मुनीश्वरोंका दर्शन करूँ और जल पीऊँ, तदुपरान्त पर्वतश्रेष्ठ द्रोणाचलपर चलूँगा ।' ऐसा विचार वे उस आश्रममें गये, वह सब ओरसे एक योजन विस्तारवाला था तथा उसमें सब ओर पके हुए फलोंसे जिनकी शाखाएँ झुकी हुई हैं ऐसे कदली, शाल, खजूर और कटहल आदिके वृक्ष लगे हुए थे ॥ ८—१० ॥ वह शुद्ध और निर्मल आश्रम वैरभावसे सर्वथा रहित था । उस अति सुरम्य महाश्रममें राक्षस

इन्द्रयोगं समास्थाय चकार शिवपूजनम्।
हनूमानभिवाद्याह गौरवेण महासुरम्॥ १२॥

भगवन् रामदूतोऽहं हनूमान्नाम नामतः।
रामकार्येण महता क्षीराब्धिं गन्तुमुद्यतः॥ १३॥

तृषा मां बाधते ब्रह्मन्नुदकं कुत्र विद्यते।
यथेच्छं पातुमिच्छामि कथ्यतां मे मुनीश्वर॥ १४॥

तच्छ्रुत्वा मारुतेर्वाक्यं कालनेमिस्तमब्रवीत्।
कमण्डलुगतं तोयं मम त्वं पातुमर्हसि॥ १५॥

भुङ्क्ष्व चेमानि पक्वानि फलानि तदनन्तरम्।
निवसस्व सुखेनात्र निद्रामेहि त्वरास्तु मा॥ १६॥

भूतं भव्यं भविष्यं च जानामि तपसा स्वयम्।
उत्थितो लक्ष्मणः सर्वे वानरा रामवीक्षिताः॥ १७॥

तच्छ्रुत्वा हनुमानाह कमण्डलुजलेन मे।
न शाम्यत्यधिका तृष्णा ततो दर्शय मे जलम्॥ १८॥

तथेत्याज्ञापयामास वटुं मायाविकल्पितम्।
वटो दर्शय विस्तीर्णं वायुसूनोर्जलाशयम्॥ १९॥

निमील्य चाक्षिणी तोयं पीत्वागच्छ ममान्तिकम्।
उपदेक्ष्यामि ते मन्त्रं येन द्रक्ष्यसि चौषधीः॥ २०॥

तथेति दर्शितं शीघ्रं वटुना सलिलाशयम्।
प्रविश्य हनुमांस्तोयमपिबन्मीलितेक्षणः॥ २१॥

ततश्चागत्य मकरी महामाया महाकपिम्।
अग्रसत्तं महावेगान्मारुतिं घोररूपिणी॥ २२॥

ततो ददर्श हनुमान् ग्रसन्तीं मकरीं रुषा।
दारयामास हस्ताभ्यां वदनं सा ममार ह॥ २३॥

ततोऽन्तरिक्षे ददृशे दिव्यरूपधराङ्गना।
धान्यमालीति विख्याता हनूमन्तमथाब्रवीत्॥ २४॥

कालनेमि इन्द्रजाल विद्याका आश्रय कर शिवजीका पूजन कर रहा था। हनुमान्‌जीने उस महादैत्यको बड़े गौरवसे नमस्कार कर कहा— ॥ ११-१२ ॥ "भगवन्! मैं भगवान् रामका दूत हूँ, मेरा नाम हनुमान् है और मैं श्रीरामचन्द्रजीके एक महान् कार्यसे क्षीरसागरको जा रहा हूँ॥ १३॥ ब्रह्मन्! मुझे बहुत प्यास लगी हुई है, मैं खूब जल पीना चाहता हूँ। हे मुनीश्वर! कृपया बतलाइये यहाँ जल कहाँ है?" ॥ १४॥

हनुमान्‌जीके ये वचन सुनकर कालनेमिने कहा— "तुम मेरे कमण्डलुका जल पी सकते हो॥ १५॥ यहाँ ये फल मौजूद हैं, इन्हें खाओ और फिर सुखपूर्वक यहाँ विश्राम लेकर कुछ सो लो, ऐसी जल्दी मत करो॥ १६॥ मैं अपने तपोबलसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंकी बात जानता हूँ। इस समय रामचन्द्रजीके देखनेसे ही लक्ष्मणजी और समस्त वानरगण सचेत होकर उठ बैठे हैं" ॥ १७॥ यह सुनकर हनुमान्‌जीने कहा—"मुझे बड़े जोरकी प्यास लगी हुई है, इस कमण्डलुके जलसे वह शान्त नहीं हो सकती, अतः मुझे जलाशय ही दिखला दीजिये" ॥ १८॥ तब 'अच्छी बात है' ऐसा कहकर उसने एक माया-कल्पित ब्रह्मचारीको आज्ञा दी, "ब्रह्मचारिन्! हनुमान्‌जीको वह विस्तृत जलाशय दिखला दो" ॥ १९॥ (फिर हनुमान्‌जीसे बोला—) "देखो, तुम आँखें मूँदकर जल पीना और फिर तुरंत मेरे पास चले आना। मैं तुम्हें एक मन्त्रका उपदेश करूँगा, जिससे तुम ओषधिको देख सकोगे" ॥ २०॥

तब बटुने 'जो आज्ञा' कह तुरंत ही जलाशय दिखला दिया। उसमें घुसकर हनुमान्‌जी आँखें मूँदकर जल पीने लगे॥ २१॥ इतनेहीमें वहाँ एक महामायाविनी घोररूपिणी मकरी आकर बड़ी शीघ्रतासे महाकपि हनुमान्‌जीको निगलने लगी॥ २२॥ हनुमान्‌जीने उस मकरीको अपनेको निगलते देख अति क्रुद्ध हो अपने हाथोंसे उसका मुख फाड़ डाला, जिससे वह तत्काल मर गयी॥ २३॥

इसी समय आकाशमें एक दिव्यरूपधारिणी स्त्री दिखलायी दी, उसका नाम धान्यमाली था। वह

त्वत्प्रसादादहं शापाद्विमुक्तास्मि कपीश्वर ।
शप्ताहं मुनिना पूर्वमप्सराः कारणान्तरे ॥ २५ ॥

आश्रमे यस्तु ते दृष्टः कालनेमिर्महासुरः ।
रावणप्रहितो मार्गे विघ्नं कर्तुं तवानघ ॥ २६ ॥

मुनिवेषधरो नासौ मुनिर्विप्रविहिंसकः ।
जहि दुष्टं गच्छ शीघ्रं द्रोणाचलमनुत्तमम् ॥ २७ ॥

गच्छाम्यहं ब्रह्मलोकं त्वत्स्पर्शाद्धुतकल्मषा ।
इत्युक्त्वा सा ययौ स्वर्गं हनूमानप्यथाश्रमम् ॥ २८ ॥

आगतं तं समालोक्य कालनेमिरभाषत ।
किं विलम्बेन महता तव वानरसत्तम ॥ २९ ॥

गृहाण मत्तो मन्त्रांस्त्वं देहि मे गुरुदक्षिणाम् ।
इत्युक्तो हनुमान्मुष्टिं दृढं बद्ध्वाह राक्षसम् ॥ ३० ॥

गृहाण दक्षिणामेतामित्युक्त्वा निजघान तम् ।
विसृज्य मुनिवेषं स कालनेमिर्महासुरः ॥ ३१ ॥

युयुधे वायुपुत्रेण नानामायाविधानतः ।
महामायिकदूतोऽसौ हनूमान्मायिनां रिपुः ॥ ३२ ॥

जघान मुष्टिना शीर्ष्णि भग्नमूर्धा ममार सः ।
ततः क्षीरनिधिं गत्वा दृष्ट्वा द्रोणं महागिरिम् ॥ ३३ ॥

अदृष्ट्वा चौषधीस्तत्र गिरिमुत्पाट्य सत्वरः ।
गृहीत्वा वायुवेगेन गत्वा रामस्य सन्निधिम् ॥ ३४ ॥

उवाच हनुमान् राममानीतोऽयं महागिरिः ।
यद्युक्तं कुरु देवेश विलम्बो नात्र युज्यते ॥ ३५ ॥

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं रामः सन्तुष्टमानसः ।
गृहीत्वा चौषधीः शीघ्रं सुषेणेन महामतिः ॥ ३६ ॥

चिकित्सां कारयामास लक्ष्मणाय महात्मने ।
ततः सुप्तोत्थित इव बुद्ध्वा प्रोवाच लक्ष्मणः ॥ ३७ ॥

हनुमान्‌जीसे बोली— ॥ २४ ॥ ''हे कपीश्वर ! आपकी कृपासे मैं आज शापमुक्त हो गयी। पहले मैं एक अप्सरा थी। किसी कारणवश मुझे एक मुनीश्वरने शाप दिया था। (इसीसे मैं मकरी हो गयी थी) ॥ २५ ॥ इस आश्रममें आपने जिस पुरुषको देखा है, वह कालनेमि नामक महादैत्य है। हे अनघ ! इसे रावणने आपके मार्गमें विघ्न डालनेके लिये भेजा है ॥ २६ ॥ यह मुनिवेष धारण करनेवाला वस्तुतः कोई मुनि नहीं है, बल्कि ब्राह्मणोंकी हिंसा करनेवाला है। इस दुष्टको शीघ्र ही मारकर आप पर्वतश्रेष्ठ द्रोणाचलको जाइये ॥ २७ ॥ मैं आपके स्पर्शसे निष्पाप होकर अब ब्रह्मलोकको जाती हूँ।'' ऐसा कह वह स्वर्गलोकको चली गयी और हनुमान्‌जी भी आश्रमको चले ॥ २८ ॥

हनुमान्‌जीको आये देख कालनेमिने कहा—''हे वानरश्रेष्ठ ! अब बहुत विलम्ब करनेसे तुम्हें क्या लाभ है ? ॥ २९ ॥ लो, मुझसे मन्त्र ग्रहण करो और मुझे गुरुदक्षिणा दो।'' उसके इस प्रकार कहनेपर हनुमान्‌जीने अपनी मुट्ठी कसकर बाँधी और उस राक्षससे कहा— ॥ ३० ॥ ''लो दक्षिणा तो यह लो''—ऐसा कह उसके एक मुक्का मारा। उसके लगते ही महादैत्य कालनेमि मुनिवेष त्याग कर नाना प्रकारकी मायाओंसे पवनपुत्रके साथ लड़ने लगा। किन्तु हनुमान्‌जी तो महामायावी (मायापति भगवान् राम) के दूत और इन तुच्छ मायावी राक्षसोंके शत्रु थे, (उनपर इन तुच्छ मायाओंका क्या प्रभाव हो सकता था ?) ॥ ३१-३२ ॥ उन्होंने उसके सिरमें एक मुक्का मारा जिससे मस्तक फट जानेके कारण वह तुरंत मर गया।

तदनन्तर वे क्षीर-समुद्रपर पहुँचे और महापर्वत द्रोणाचलको देखा। किन्तु उन्हें वह ओषधि न मिली। अतः फौरन ही उस पर्वतको उखाड़ लिया और उसे वायुवेगसे रामचन्द्रजीके पास ले जाकर उनसे कहा—''हे देवेश्वर ! मैं इस महापर्वतको ले आया हूँ। आप जो उचित समझें शीघ्र ही करें, इस कार्यमें विलम्ब करना ठीक नहीं है''॥ ३३—३५ ॥

हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर भगवान् राम अति प्रसन्न हुए और उन महामति प्रभुने तुरंत ही उस पर्वतसे ओषधि लेकर सुषेणसे महात्मा लक्ष्मणकी चिकित्सा करायी। तब नींदसे उठे हुएके समान लक्ष्मणजीने सचेत

तिष्ठ तिष्ठ क्व गन्तासि हन्मीदानीं दशानन।
इति ब्रुवन्तमालोक्य मूर्ध्न्यवघ्राय राघवः॥ ३८॥

मारुतिं प्राह वत्साद्य त्वत्प्रसादान्महाकपे।
निरामयं प्रपश्यामि लक्ष्मणं भ्रातरं मम॥ ३९॥

इत्युक्त्वा वानरैः सार्धं सुग्रीवेण समन्वितः।
विभीषणमतेनैव युद्धाय समवस्थितः॥ ४०॥

पाषाणैः पादपैश्चैव पर्वताग्रैश्च वानराः।
युद्धायाभिमुखा भूत्वा ययुः सर्वे युयुत्सवः॥ ४१॥

रावणो विव्यथे रामबाणैर्विद्धो महासुरः।
मातङ्ग इव सिंहेन गरुडेनेव पन्नगः॥ ४२॥

अभिभूतोऽगमद्राजा राघवेण महात्मना।
सिंहासने समाविश्य राक्षसानिदमब्रवीत्॥ ४३॥

मानुषेणैव मे मृत्युमाह पूर्वं पितामहः।
मानुषो हि न मां हन्तुं शक्तोऽस्ति भुवि कश्चन॥ ४४॥

ततो नारायणः साक्षान्मानुषोऽभून्न संशयः।
रामो दाशरथिर्भूत्वा मां हन्तुं समुपस्थितः॥ ४५॥

अनरण्येन यत्पूर्वं शप्तोऽहं राक्षसेश्वर।
उत्पत्स्यते च मद्वंशे परमात्मा सनातनः॥ ४६॥

तेन त्वं पुत्रपौत्रैश्च बान्धवैश्च समन्वितः।
हनिष्यसे न सन्देह इत्युक्त्वा मां दिवं गतः॥ ४७॥

स एव रामः संजातो मदर्थे मां हनिष्यति।
कुम्भकर्णस्तु मूढात्मा सदा निद्रावशं गतः॥ ४८॥

तं विबोध्य महासत्त्वमानयन्तु ममान्तिकम्।
इत्युक्तास्ते महाकायास्तूर्णं गत्वा तु यत्नतः॥ ४९॥

विबोध्य कुम्भश्रवणं निन्यू रावणसन्निधिम्।
नमस्कृत्य स राजानमासनोपरि संस्थितः॥ ५०॥

तमाह रावणो राजा भ्रातरं दीनया गिरा।
कुम्भकर्ण निबोध त्वं महत्कष्टमुपस्थितम्॥ ५१॥

होकर कहा— ॥ ३६-३७॥ "अरे दुष्ट दशानन! खड़ा रह, खड़ा रह, तू जायगा कहाँ? मैं तुझे अभी मारे डालता हूँ।" उन्हें इस प्रकार कहते देख रघुनाथजीने उनका सिर सूँघकर हनुमान्‌जीसे कहा—"हे वत्स! हे महाकपे! आज तुम्हारी कृपासे ही मैं अपने भाई लक्ष्मणको सकुशल देख रहा हूँ" ॥ ३८-३९॥ हनुमान्‌जीसे इस प्रकार कह श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीव और अन्यान्य वानरोंके साथ विभीषणकी सम्मतिसे युद्धकी तैयारी करने लगे॥ ४०॥ तब युद्धके लिये अत्यन्त उत्सुक समस्त वानरगण पाषाण, वृक्ष और पर्वतशिखर आदि लेकर लड़नेके लिये चले॥ ४१॥

इधर, भगवान् रामके बाणोंसे विद्ध होकर महाराक्षस रावण ऐसा व्याकुल हो रहा था जैसे सिंहसे हाथी और गरुड़से सर्प हो जाता है। अतः वह राक्षसराज महात्मा रामसे परास्त होकर लङ्कापुरीमें गया और अपने राजसिंहासनपर बैठकर राक्षसोंसे इस प्रकार कहने लगा— ॥ ४२-४३॥ "पूर्वकालमें पितामह ब्रह्माजीने मेरी मृत्यु मनुष्यके ही हाथसे बतलायी थी, किन्तु संसारमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो मुझे मार सके॥ ४४॥ अतः इसमें सन्देह नहीं साक्षात् नारायणहीने मनुष्यका अवतार लिया है और वे दशरथकुमार राम होकर मुझे मारनेके लिये आये हैं॥ ४५॥ पूर्वकालमें मुझे जो अनरण्यने शाप दिया था कि 'हे राक्षसराज! मेरे वंशमें सनातन पुरुष परमात्मा अवतार लेंगे और उन्हींके हाथसे तुम निःसन्देह अपने पुत्र, पौत्र और बान्धवोंके सहित मारे जाओगे' और ऐसा कहकर वह स्वर्गको चला गया था, सो उन्हीं रामने मेरे लिये अवतार लिया है और ये मुझे अवश्य मारेंगे। हमारा भाई कुम्भकर्ण तो बड़ा ही मूढ है, वह सदा ही निद्राके वशीभूत रहता है॥ ४६—४८॥ तुम उस महावीरको जगाकर मेरे पास ले आओ।" रावणके इस प्रकार कहनेपर वे महाकाय राक्षसगण तुरंत ही गये और प्रयत्नपूर्वक कुम्भकर्णको जगाकर रावणके पास ले आये। वहाँ पहुँचनेपर वह राजाको प्रणामकर आसनपर बैठ गया॥ ४९-५०॥

तब राजा रावणने अत्यन्त दीन-वाणीसे उस अपने भाईसे कहा—"कुम्भकर्ण! इस समय हमारे ऊपर बड़ा

रामेण निहताः शूराः पुत्राः पौत्राश्च बान्धवाः ।
किं कर्तव्यमिदानीं मे मृत्युकाल उपस्थिते ॥ ५२ ॥

एष दाशरथी रामः सुग्रीवसहितो बली ।
समुद्रं सबलस्तीर्त्वा मूलं नः परिकृन्तति ॥ ५३ ॥

ये राक्षसा मुख्यतमास्ते हता वानरैर्युधि ।
वानराणां क्षयं युद्धे न पश्यामि कदाचन ॥ ५४ ॥

नाशयस्व महाबाहो यदर्थं परिबोधितः ।
भ्रातुरर्थे महासत्त्व कुरु कर्म सुदुष्करम् ॥ ५५ ॥

श्रुत्वा तद्रावणेन्द्रस्य वचनं परिदेवितम् ।
कुम्भकर्णो जहासोच्चैर्वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ५६ ॥

पुरा मन्त्रविचारे ते गदितं यन्मया नृप ।
तदद्य त्वामुपगतं फलं पापस्य कर्मणः ॥ ५७ ॥

पूर्वमेव मया प्रोक्तो रामो नारायणः परः ।
सीता च योगमायेति बोधितोऽपि न बुध्यसे ॥ ५८ ॥

एकदाहं वने सानौ विशालायां स्थितो निशि ।
दृष्टो मया मुनिः साक्षान्नारदो दिव्यदर्शनः ॥ ५९ ॥

तमब्रवं महाभाग कुतो गन्तासि मे वद ।
इत्युक्तो नारदः प्राह देवानां मन्त्रणे स्थितः ॥ ६० ॥

तत्रोत्पन्नमुदन्तं ते वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः ।
युवाभ्यां पीडिता देवाः सर्वे विष्णुमुपागताः ॥ ६१ ॥

ऊचुस्ते देवदेवेशं स्तुत्वा भक्त्या समाहिताः ।
जहि रावणमक्षोभ्यं देव त्रैलोक्यकण्टकम् ॥ ६२ ॥

मानुषेण मृतिस्तस्य कल्पिता ब्रह्मणा पुरा ।
अतस्त्वं मानुषो भूत्वा जहि रावणकण्टकम् ॥ ६३ ॥

तथेत्याह महाविष्णुः सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।
जातो रघुकुले देवो राम इत्यभिविश्रुतः ॥ ६४ ॥

संकट है, सो तुम सुनो ॥ ५१ ॥ रामने हमारे बड़े-बड़े वीर, पुत्र, पौत्र और बन्धु-बान्धवगण मार डाले हैं। भाई ! इस समय मेरा मृत्युकाल आ गया है, अब मुझे क्या करना चाहिये ॥ ५२ ॥ यह महाबली दशरथकुमार राम सुग्रीवके सहित दलबलके साथ समुद्र पारकर सब ओरसे हमारी जड़ काट रहा है ॥ ५३ ॥ हमारे जो मुख्य-मुख्य राक्षस थे वे सब युद्धमें वानरोंके हाथसे मारे गये, किन्तु इस युद्धमें हमें वानरोंका क्षय होता कभी दिखायी नहीं देता ॥ ५४ ॥ हे महाबाहो ! तुम इनका नाश करो, मैंने इसीलिये तुम्हें जगाया है। हे महावीर ! अपने भाईके लिये इस दुष्कर कार्यको करो'' ॥ ५५ ॥

राजा रावणके ये दुःखमय वचन सुनकर कुम्भकर्ण बड़े जोरसे ठट्ठा मारकर हँसा और इस प्रकार कहने लगा— ॥ ५६ ॥ ''राजन् ! आपने जब पहले सम्मति की थी, उस समय मैंने जो कुछ कहा था आपके पापका वह फल आज उपस्थित हो ही गया ॥ ५७ ॥ मैंने तो आपसे पहले ही कहा था कि राम साक्षात् परब्रह्म नारायण हैं और सीताजी योगमाया हैं, किन्तु आप तो समझानेपर भी नहीं समझते ॥ ५८ ॥ एक दिन मैं रात्रिके समय वनमें एक विशाल शिलापर बैठा था। इसी समय मैंने दिव्यमूर्ति साक्षात् नारद मुनिको देखा ॥ ५९ ॥ उन्हें देखकर मैंने कहा—''हे महाभाग ! कहिये, इस समय आप कहाँ जा रहे हैं।'' मेरे इस प्रकार पूछनेपर नारदजीने कहा—''मैं अभीतक देवताओंकी एक गुप्त गोष्ठीमें था ॥ ६० ॥ वहाँ जो कुछ हुआ वह मैं तुम्हें ज्यों-का-त्यों सुनाता हूँ। तुम दोनों भाइयोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर समस्त देवगण विष्णुभगवान्‌के पास गये ॥ ६१ ॥ और उन देवदेवेश्वरकी अत्यन्त भक्ति और एकाग्रतासे स्तुति कर कहने लगे— 'हे देव ! इस रावणके आगे हमारी कुछ नहीं चलती। आप इस त्रिलोकीके काँटेका शीघ्र ही संहार कीजिये ॥ ६२ ॥ पूर्वकालमें ब्रह्माजीने उसकी मृत्यु मनुष्यके हाथसे निश्चित की है, अतः आप मनुष्य होकर इस रावणरूप कण्टकको नष्ट कीजिये' ॥ ६३ ॥ तब सत्यसंकल्प भगवान् विष्णुने 'बहुत अच्छा' कहा। अब वे रघुकुलमें अवतीर्ण होकर

स हनिष्यति वः सर्वानित्युक्त्वा प्रययौ मुनिः ।
अतो जानीहि रामं त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ॥ ६५ ॥

त्यज वैरं भजस्वाद्य मायामानुषविग्रहम् ।
भजतो भक्तिभावेन प्रसीदति रघूत्तमः ॥ ६६ ॥

भक्तिर्जनित्री ज्ञानस्य भक्तिर्मोक्षप्रदायिनी ।
भक्तिहीनेन यत्किञ्चित्कृतं सर्वमसत्समम् ॥ ६७ ॥

अवताराः सुबहवो विष्णोर्लीलानुकारिणः ।
तेषां सहस्रसदृशो रामो ज्ञानमयः शिवः ॥ ६८ ॥

रामं भजन्ति निपुणा मनसा वचसानिशम् ।
अनायासेन संसारं तीर्त्वा यान्ति हरेः पदम् ॥ ६९ ॥

ये राममेव सततं भुवि शुद्धसत्त्वा
ध्यायन्ति तस्य चरितानि पठन्ति सन्तः ।
मुक्तास्त एव भवभोगमहाहिपाशैः
सीतापतेः पदमनन्तसुखं प्रयान्ति ॥ ७० ॥

राम-नामसे विख्यात हुए हैं ॥ ६४ ॥ वे तुम सबको मारेंगे ।'' ऐसा कहकर नारद मुनि चले गये ।

''अतः आप रामको सनातन परब्रह्म ही जानिये ॥ ६५ ॥ और वैर छोड़कर उन मायामानवरूप भगवान्‌का भजन कीजिये । श्रीरघुनाथजी भक्तिभावसे भजन करनेवालेसे प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ६६ ॥ भक्ति ही ज्ञानकी जननी और मोक्षको देनेवाली है । भक्तिहीन पुरुष जो कुछ करता है वह सब न कियेके समान ही है ॥ ६७ ॥ भगवान् विष्णुके अनेकों अवतार हुए हैं और वे सभी अपने स्वरूपके अनुसार लीला करनेवाले थे । किन्तु यह शिवस्वरूप ज्ञानमय रामावतार वैसे एक सहस्र अवतारोंके समान है ॥ ६८ ॥ जो लोग रात-दिन मन और वचनसे भगवान् रामका भली प्रकार भजन करते हैं वे बिना प्रयास ही संसारको पारकर श्रीहरिके परम धामको जाते हैं ॥ ६९ ॥ जो शुद्धचित्त महानुभाव इस भूमण्डलमें निरन्तर रामका ही ध्यान करते और उन्हींके चरित्र पढ़ते हैं वे ही सांसारिक विषयरूप महान् नागपाशसे छूटकर श्रीसीतापतिके अनन्त सुखमय चरणकमलोंको प्राप्त होते हैं'' ॥ ७० ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टम सर्ग

कुम्भकर्ण-वध

श्रीमहादेव उवाच

कुम्भकर्णवचः श्रुत्वा भ्रुकुटीविकटाननः ।
दशग्रीवो जगादेदमासनादुत्पतन्निव ॥ १ ॥

त्वमानीतो न मे ज्ञानबोधनाय सुबुद्धिमान् ।
मया कृतं समीकृत्य युध्यस्व यदि रोचते ॥ २ ॥

नोचेद्गच्छ सुषुप्त्यर्थं निद्रा त्वां बाधतेऽधुना ।
रावणस्य वचः श्रुत्वा कुम्भकर्णो महाबलः ॥ ३ ॥

रुष्टोऽयमिति विज्ञाय तूर्णं युद्धाय निर्ययौ ।
स लङ्घयित्वा प्राकारं महापर्वतसन्निभः ॥ ४ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! कुम्भकर्णके ये वचन सुनकर रावणका मुख और भृकुटि (क्रोधसे) विकराल हो गये । और उसने मानो आसनसे उछलते हुए इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥ 'मैं जानता हूँ तुम बड़े बुद्धिमान् हो, किन्तु इस समय मैंने तुम्हें ज्ञानोपदेश करनेके लिये नहीं बुलाया है । यदि तुम्हें अच्छा लगे तो मेरे कृत्यको ठीक मानकर युद्ध करो ॥ २ ॥ नहीं तो जाओ शयन करो; तुम्हें इस समय नींद सता रही होगी ।'

रावणके ये वचन सुनकर महाबली कुम्भकर्ण, यह जानकर कि रावण रुष्ट हो गया है, तुरंत युद्धके लिये चल पड़ा । वह महापर्वतके समान विशालकाय राक्षस नगरके

निर्ययौ नगरात्तूर्णं भीषयन्हरिसैनिकान् ।
स ननाद महानादं समुद्रमभिनादयन् ॥ ५ ॥

वानरान्कालयामास बाहुभ्यां भक्षयन् रुषा ।
कुम्भकर्णं तदा दृष्ट्वा सपक्षमिव पर्वतम् ॥ ६ ॥

दुद्रुवुर्वानराः सर्वे कालान्तकमिवाखिलाः ।
भ्रमन्तं हरिवाहिन्यां मुद्गरेण महाबलम् ॥ ७ ॥

कालयन्तं हरीन्वेगाद्भक्षयन्तं समन्ततः ।
चूर्णयन्तं मुद्गरेण पाणिपादैरनेकधा ॥ ८ ॥

कुम्भकर्णं तदा दृष्ट्वा गदापाणिर्विभीषणः ।
ननाम चरणं तस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य बुद्धिमान् ॥ ९ ॥

विभीषणोऽहं भ्रातुर्मे दयां कुरु महामते ।
रावणस्तु मया भ्रातर्बहुधा परिबोधितः ॥ १० ॥

सीतां देहीति रामाय रामः साक्षाज्जनार्दनः ।
न शृणोति च मां हन्तुं खड्गमुद्यम्य चोक्तवान् ॥ ११ ॥

धिक् त्वां गच्छेति मां हत्वा पदा पापिभिरावृतः ।
चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्धं रामं शरणमागतः ॥ १२ ॥

तच्छ्रुत्वा कुम्भकर्णोऽपि ज्ञात्वा भ्रातरमागतम् ।
समालिङ्ग्य च वत्स त्वं जीव रामपदाश्रयात् ॥ १३ ॥

कुलसंरक्षणार्थाय राक्षसानां हिताय च ।
महाभागवतोऽसि त्वं पुरा मे नारदाच्छ्रुतम् ॥ १४ ॥

गच्छ तात ममेदानीं दृश्यते न च किञ्चन ।
मदीयो वा परो वापि मदमत्तविलोचनः ॥ १५ ॥

इत्युक्तोऽश्रुमुखो भ्रातुश्चरणावभिवन्द्य सः ।
रामपार्श्वमुपागत्य चिन्तापर उपस्थितः ॥ १६ ॥

कुम्भकर्णोऽपि हस्ताभ्यां पादाभ्यां पेषयन्हरीन् ।
चचार वानरीं सेनां कालयन् गन्धहस्तिवत् ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा तं राघवः क्रुद्धो वायव्यं शस्त्रमादरात् ।
चिक्षेप कुम्भकर्णाय तेन चिच्छेद रक्षसः ॥ १८ ॥

परकोटेको लाँघकर बाहर आया (क्योंकि अत्यन्त दीर्घकाय होनेके कारण वह नगरके संकुचित द्वारोंमें होकर नहीं निकल सकता था।) और सम्पूर्ण वानर सैनिकोंको भयभीत करते हुए उसने बड़ा घोर शब्द किया जिससे समुद्र भी गूँज उठा ॥ ३—५ ॥ फिर वह अत्यन्त क्रुद्ध हो अपनी भुजाओंसे वानरोंको निगल-निगलकर नष्ट करने लगा। तब तो जिस प्रकार समस्त प्राणी यमराजको देखकर भागते हैं उसी प्रकार सपक्ष पर्वतके समान विशालकाय कुम्भकर्णको देखकर समस्त वानरगण भागने लगे।

इसी समय, महाबली कुम्भकर्णको मुद्गर धारण कर वानरसेनामें घूमते; ठौर-ठौर वानरोंको मारते, उन्हें अत्यन्त वेगसे भक्षण करते और अपने मुद्गर तथा लात और घूँसोंसे नाना प्रकार कुचलते देख परम बुद्धिमान् गदापाणि विभीषणने उस अपने ज्येष्ठ भ्राताके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ६—९ ॥ और कहा—"हे महामते! मैं आपका भाई विभीषण हूँ, आप मुझपर दया करें। भाई! मैंने रावणको बारम्बार समझाया कि राम साक्षात् विष्णुभगवान् हैं, तुम उन्हें सीताजीको सौंप दो, किन्तु उन्होंने मेरी बात नहीं सुनी और मुझे मारनेके लिये तलवार खींचकर कहा कि 'तुझे धिक्कार है, तू यहाँसे टल जा।' पापी मन्त्रियोंसे घिरे हुए भाई रावणने ऐसा कहकर मेरे लात मारी तब मैं अपने चार मन्त्रियोंके सहित भगवान् रामकी शरणमें चला आया" ॥ १०—१२ ॥

ऐसा सुन कुम्भकर्णने भी अपने भाईको आया जान उन्हें हृदयमें लगाया और कहा—"वत्स! भगवान् रामके चरणका आश्रय पाकर अपने कुलकी रक्षा और राक्षसोंके कल्याणके लिये तुम चिरकालतक जीवित रहो। पूर्वकालमें मैंने नारदजीसे सुना था कि तुम बड़े ही भगवद्भक्त हो ॥ १३-१४ ॥ भैया! अब तुम जाओ, मेरे नेत्र मदसे मतवाले हो रहे हैं, अतः इस समय मुझे अपना-पराया कुछ नहीं सूझता" ॥ १५ ॥ भाई कुम्भकर्णके इस प्रकार कहनेपर विभीषणके नेत्रोंमें जल भर आया और वे उसके चरणोंमें प्रणाम कर चिन्ताग्रस्त हो भगवान् रामके पास आकर खड़े हो गये ॥ १६ ॥ इधर कुम्भकर्ण भी मदमत्त गजराजके समान अपने हाथ और पैरोंसे वानरोंको रौंदता हुआ समस्त वानर-सेनामें घूमने लगा ॥ १७ ॥

कुम्भकर्णको देखकर श्रीरघुनाथजीने क्रुद्ध हो वायव्यास्त्र चढ़ाया और उसे सावधानीसे उसकी ओर छोड़

समुद्गरं दक्षहस्तं तेन घोरं ननाद सः।
स हस्तः पतितो भूमावनेकानर्दयन्कपीन् ॥ १९ ॥

पर्यन्तमाश्रिताः सर्वे वानरा भयवेपिताः।
रामराक्षसयोर्युद्धं पश्यन्तः पर्यवस्थिताः ॥ २० ॥

कुम्भकर्णश्छिन्नहस्तः शालमुद्यम्य वेगतः।
समरे राघवं हन्तुं दुद्राव तमथोऽच्छिनत् ॥ २१ ॥

शालेन सहितं वामहस्तमैन्द्रेण राघवः।
छिन्नबाहुमथायान्तं नर्दन्तं वीक्ष्य राघवः ॥ २२ ॥

द्वावर्धचन्द्रौ निशितावादायास्य पदद्वयम्।
चिच्छेद पतितौ पादौ लङ्काद्वारि महास्वनौ ॥ २३ ॥

निकृत्तपाणिपादोऽपि कुम्भकर्णोऽतिभीषणः।
वडवामुखवद्वक्त्रं व्यादाय रघुनन्दनम् ॥ २४ ॥

अभिदुद्राव निनदन्राहुश्चन्द्रमसं यथा।
अपूरयच्छिताग्रैश्च सायकैस्तद्रघूत्तमः ॥ २५ ॥

शरपूरितवक्त्रोऽसौ चुक्रोशातिभयङ्करः।
अथ सूर्यप्रतीकाशमैन्द्रं शरमनुत्तमम् ॥ २६ ॥

वज्राशनिसमं रामश्चिक्षेपासुरमृत्यवे।
स तत्पर्वतसङ्काशं स्फुरत्कुण्डलदंष्ट्रकम् ॥ २७ ॥

चकर्त रक्षोऽधिपतेः शिरो वृत्रमिवाशनिः।
तच्छिरः पतितं लङ्काद्वारि कायो महोदधौ ॥ २८ ॥

शिरोऽस्य रोधयद्द्वारं कायो नक्राद्यचूर्णयत्।
ततो देवाः सऋषयो गन्धर्वाः पन्नगाः खगाः ॥ २९ ॥

सिद्धा यक्षा गुह्यकाश्च अप्सरोभिश्च राघवम्।
ईडिरे कुसुमासारैर्वर्षन्तश्चाभिनन्दिताः ॥ ३० ॥

आजगाम तदा रामं द्रष्टुं देवमुनीश्वरः।
नारदो गगनात्तूर्णं स्वभासा भासयन्दिशः ॥ ३१ ॥

राममिन्दीवरश्याममुदाराङ्गं धनुर्धरम्।
ईषत्ताम्रविशालाक्षमैन्द्रास्त्राङ्कितबाहुकम् ॥ ३२ ॥

दिया। उस अस्त्रसे उन्होंने उस राक्षसका मुद्गरसहित दाहिना हाथ काट डाला। इससे वह महाभयंकर गर्जना करने लगा। उसका वह (कटा हुआ) हाथ अनेकों वानरोंको कुचलता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १८-१९ ॥ तब, इधर-उधर खड़े हुए समस्त वानरगण भयसे काँपते हुए भगवान् राम और राक्षस कुम्भकर्णका युद्ध देखने लगे ॥ २० ॥ अपने दायें हाथके कट जानेपर कुम्भकर्ण युद्धमें रघुनाथजीको मारनेके लिये एक शाल-वृक्ष उठाकर बड़े वेगसे दौड़ा। किन्तु रघुनाथजीने ऐन्द्र शस्त्रसे शालसहित उसका बायाँ हाथ भी काट डाला। दोनों भुजाओंके कट जानेपर भी जब श्रीरामचन्द्रजीने उसे गर्ज-गर्जकर अपनी ओर आते देखा तो दो अत्यन्त तीक्ष्ण अर्द्धचन्द्राकार बाण चढ़ाकर उसके दोनों चरण भी काट डाले। वे दोनों चरण बड़ा शब्द करते हुए लङ्काके द्वारपर गिरे ॥ २१—२३ ॥ हाथ-पाँवोंके कट जानेपर भी महाभयानक कुम्भकर्ण राहु जैसे चन्द्रमाकी ओर दौड़ता है वैसे ही घोड़ीके समान मुख फाड़कर चिग्घाड़ता हुआ भगवान् रामकी ओर दौड़ा। किन्तु रघुनाथजीने उसे अत्यन्त तीक्ष्ण बाणोंसे भर दिया ॥ २४-२५ ॥ बाणोंसे मुख भर जानेपर वह अति भयंकर राक्षस चिल्लाने लगा। तब रघुनाथजीने सूर्यके समान देदीप्यमान अति उत्तम ऐन्द्र बाण चढ़ाया और वह वज्रके समान कठोर बाण उस राक्षसका वध करनेके लिये छोड़ा। इन्द्रके वज्रने जिस प्रकार वृत्रासुरका सिर काटा था, उसी प्रकार उस बाणने उसका पर्वत-सदृश सिर, जिसमें कुण्डल और दाढ़ें चमक रही थीं, काट डाला। कुम्भकर्णका सिर लङ्काके द्वारपर और उसका धड़ समुद्रमें गिरा ॥ २६—२८ ॥ उस मस्तकने लङ्काके द्वारको रोक लिया और धड़ने बहुत-से नाके आदि जलजन्तुओंको कुचल डाला। इस प्रकार कुम्भकर्णके मारे जानेपर ऋषियोंके सहित देवगण तथा अप्सराओंके सहित गन्धर्व, नाग, पक्षी, सिद्ध, यक्ष और गुह्यक आदि अति प्रसन्न होकर श्रीरघुनाथजीपर पुष्पावली बरसाते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥ २९-३० ॥

इसी समय अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए देवर्षि नारद भगवान् रामका दर्शन करनेके लिये तुरंत ही आकाशसे आये ॥ ३१ ॥ जो नीलकमलके समान श्यामवर्ण, अति मनोहरमूर्ति और धनुष धारण किये हुए हैं, जिनके नेत्र अति विशाल और

दयार्द्रदृष्ट्या पश्यन्तं वानराञ्छरपीडितान्।
दृष्ट्वा गद्गदया वाचा भक्त्या स्तोतुं प्रचक्रमे ॥ ३३ ॥

नारद उवाच

देवदेव जगन्नाथ परमात्मन् सनातन।
नारायणाखिलाधार विश्वसाक्षिन्नमोऽस्तु ते ॥ ३४ ॥

विशुद्धज्ञानरूपोऽपि त्वं लोकानतिवञ्चयन्।
मायया मनुजाकारः सुखदुःखादिमानिव ॥ ३५ ॥

त्वं मायया गुह्यमानः सर्वेषां हृदि संस्थितः।
स्वयंज्योतिःस्वभावस्त्वं व्यक्त एवामलात्मनाम् ॥ ३६ ॥

उन्मीलयन् सृजस्येतन्नेत्रे राम जगत्त्रयम्।
उपसंह्रियते सर्वं त्वया चक्षुर्निमीलनात् ॥ ३७ ॥

यस्मिन्सर्वमिदं भाति यतश्चैतच्चराचरम्।
यस्मान्न किञ्चिल्लोकेऽस्मिंस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ॥ ३८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं कालं व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणम्।
यं जानन्ति मुनिश्रेष्ठास्तस्मै रामाय ते नमः ॥ ३९ ॥

विकाररहितं शुद्धं ज्ञानरूपं श्रुतिर्जगौ।
त्वां सर्वजगदाकारमूर्तिं चाप्याह सा श्रुतिः ॥ ४० ॥

विरोधो दृश्यते देव वैदिको वेदवादिनाम्।
निश्चयं नाधिगच्छन्ति त्वत्प्रसादं विना बुधाः ॥ ४१ ॥

मायया क्रीडतो देव न विरोधो मनागपि।
रश्मिजालं रवेर्यद्वद्दृश्यते जलवद् भ्रमात् ॥ ४२ ॥

भ्रान्तिज्ञानात्तथा राम त्वयि सर्वं प्रकल्प्यते।
मनसोऽविषयो देव रूपं ते निर्गुणं परम् ॥ ४३ ॥

कथं दृश्यं भवेद्देव दृश्याभावे भजेत्कथम्।
अतस्त्वावतारेषु रूपाणि निपुणा भुवि ॥ ४४ ॥

भजन्ति बुद्धिसम्पन्नास्तरन्त्येव भवार्णवम्।
कामक्रोधादयस्तत्र बहवः परिपन्थिनः ॥ ४५ ॥

कुछ अरुणवर्ण हैं तथा भुजाएँ ऐन्द्रास्त्रसे सुशोभित हैं, जो अपनी दयामयी दृष्टिसे बाणोंसे पीड़ित वानरोंकी ओर देख रहे हैं, उन भगवान् रामका दर्शन कर श्रीनारदजी भक्तिसे गद्गदकण्ठ हो इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ ३२-३३ ॥

नारदजी बोले—हे देवाधिदेव ! हे जगत्पते ! हे परमात्मन् ! हे सनातन पुरुष ! हे नारायण ! हे सर्वाधार ! हे विश्वसाक्षिन् ! आपको नमस्कार है ॥ ३४ ॥ आप विशुद्ध विज्ञानस्वरूप हैं, तथापि लोकोंकी वञ्चना करनेके लिये आप अपनी मायासे मनुष्याकार धारणकर सुखी-दुःखी-से दिखायी देते हैं ॥ ३५ ॥ आप अपनी मायासे आच्छादित होकर (अन्तर्यामीरूपसे) सबके अन्तःकरणोंमें स्थित हैं। आप स्वभावसे ही स्वयंप्रकाश हैं और शुद्धचित्त व्यक्तियोंको ही आपका साक्षात्कार होता है ॥ ३६ ॥ हे राम ! आप नेत्र खोलकर ही इस सम्पूर्ण त्रिलोकीकी रचना कर देते हैं और आपके नेत्र मूँदते ही इस सबका लय हो जाता है ॥ ३७ ॥ जिसमें यह सम्पूर्ण चराचर जगत् भास रहा है, जिससे इसकी उत्पत्ति हुई है तथा जिसके अतिरिक्त संसारमें और कुछ भी नहीं है, वह ब्रह्म आप ही हैं; आपको नमस्कार है ॥ ३८ ॥ जिन्हें मुनिश्रेष्ठगण प्रकृति, पुरुष, काल और व्यक्ताव्यक्तस्वरूप जानते हैं उन्हीं श्रीरामरूप आपको नमस्कार है ॥ ३९ ॥ श्रुतिने विकाररहित, शुद्ध और ज्ञानस्वरूप कहकर आपका वर्णन किया है और वही आपको सम्पूर्ण जगद्रूप भी बतलाती है ॥ ४० ॥ हे देव ! इस प्रकार वेदवादियोंको यह वैदिक (वेद-वचनोंमें) विरोध दिखायी देता है; किन्तु आपकी कृपाके बिना तो विज्ञजन भी किसी निश्चयपर नहीं पहुँचते ॥ ४१ ॥ हे देव ! आप मायासे ही लीला कर रहे हैं, अतः इन वेदवाक्योंमें कुछ भी विरोध नहीं है। जिस प्रकार सूर्यका किरणसमूह भ्रमसे जलके समान प्रतीत होता है, हे राम ! उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् अज्ञानसे ही आपमें कल्पित हुआ है; आपका वास्तविक निर्गुण रूप तो मनका अविषय है ॥ ४२-४३ ॥ हे देव ! वह किस प्रकार किसीको दिखायी दे सकता है ? और दिखायी न देनेसे कोई उसका भजन भी कैसे कर सकता है ? अतः संसारमें बुद्धिमान् और निपुणलोग आपके अवतार-स्वरूपोंका ही चिन्तन करते हैं और वे ज्ञानसम्पन्न होकर संसार-सागरको पार कर ही लेते हैं। इस भक्तिमार्गमें

भीषयन्ति सदा चेतो मार्जारा मूषकं यथा।
त्वन्नाम स्मरतां नित्यं त्वद्रूपमपि मानसे ॥ ४६ ॥

त्वत्पूजानिरतानां ते कथामृतपरात्मनाम्।
त्वद्भक्तसङ्गिनां राम संसारो गोष्पदायते ॥ ४७ ॥

अतस्ते सगुणं रूपं ध्यात्वाहं सर्वदा हृदि।
मुक्तश्चरामि लोकेषु पूज्योऽहं सर्वदैवतैः ॥ ४८ ॥

राम त्वया महत्कार्यं कृतं देवहितेच्छया।
कुम्भकर्णवधेनाद्य भूभारोऽयं गतः प्रभो ॥ ४९ ॥

श्वो हनिष्यति सौमित्रिरिन्द्रजेतारमाहवे।
हनिष्यसेऽथ राम त्वं परश्वो दशकन्धरम् ॥ ५० ॥

पश्यामि सर्वं देवेश सिद्धैः सह नभोगतः।
अनुगृह्णीष्व मां देव गमिष्यामि सुरालयम् ॥ ५१ ॥

इत्युक्त्वा राममामन्त्र्य नारदो भगवानृषिः।
ययौ देवैः पूज्यमानो ब्रह्मलोकमकल्मषम् ॥ ५२ ॥

भ्रातरं निहतं श्रुत्वा कुम्भकर्णं महाबलम्।
रावणः शोकसन्तप्तो रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ५३ ॥

मूर्च्छितः पतितो भूमावुत्थाय विललाप ह।
पितृव्यं निहतं श्रुत्वा पितरं चातिविह्वलम् ॥ ५४ ॥

इन्द्रजित्प्राह शोकार्तं त्यज शोकं महामते।
मयि जीवति राजेन्द्र मेघनादे महाबले ॥ ५५ ॥

दुःखस्यावसरः कुत्र देवान्तक महामते।
व्येतु ते दुःखमखिलं स्वस्थो भव महीपते ॥ ५६ ॥

सर्वं समीकरिष्यामि हनिष्यामि च वै रिपून्।
गत्वा निकुम्भिलां सद्यस्तर्पयित्वा हुताशनम् ॥ ५७ ॥

लब्ध्वा रथादिकं तस्मादजेयोऽहं भवाम्यरेः।
इत्युक्त्वा त्वरितं गत्वा निर्दिष्टं हवनस्थलम् ॥ ५८ ॥

रक्तमाल्याम्बरधरो रक्तगन्धानुलेपनः।
निकुम्भिलास्थले मौनी हवनायोपचक्रमे ॥ ५९ ॥

काम, क्रोध आदि बहुत-से विघ्न भी होते हैं ॥ ४४-४५ ॥ वे बिल्ली जिस प्रकार चूहेको डराती है उसी प्रकार चित्तको सर्वदा भयभीत करते रहते हैं, हे राम ! जो लोग निरन्तर आपका नाम-स्मरण करते हैं, आपके रूपका हृदयमें ध्यान करते हैं, आपकी पूजामें तत्पर रहते हैं, आपके कथामृतका पान करते रहते हैं तथा आपके भक्तोंका सङ्ग करते हैं उनके लिये यह संसार (जो कि समुद्रके समान दुस्तर है) गोखुरके समान तुच्छ हो जाता है ॥ ४६-४७ ॥ अतः मैं हृदयमें सर्वदा आपके सगुण रूपका ध्यान करता हुआ जीवन्मुक्त होकर लोकान्तरोंमें विचरता हूँ और समस्त देवताओंसे पूजित होता हूँ ॥ ४८ ॥ हे राम ! आपने देवहितकी कामनासे यह बहुत बड़ा काम किया है; हे प्रभो ! इस कुम्भकर्णके वधसे आज पृथिवीका (बहुत-कुछ) भार उतर गया ॥ ४९ ॥ कल लक्ष्मणजी युद्धमें इन्द्रजित्को मारेंगे और परसों आप रावणका वध करेंगे ॥ ५० ॥ हे देवेश्वर ! मैं सिद्धोंके साथ आकाशमें स्थित होकर यह सब चरित्र देखूँगा। हे देव ! आप मुझपर दयादृष्टि रखें, अब मैं स्वर्गलोकको जाता हूँ ॥ ५१ ॥ ऐसा कह मुनिवर भगवान् नारदजी श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा पा देवताओंसे पूजित हो पापहीन ब्रह्मलोकको चले गये ॥ ५२ ॥

बिना प्रयास ही अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् रामद्वारा महाबली भाई कुम्भकर्णको मारा गया सुन रावण अत्यन्त शोकाकुल हुआ और मूर्च्छित होकर पृथिवीपर गिर पड़ा तथा (मूर्च्छा निवृत्त होनेपर) उठकर विलाप करने लगा। तब इन्द्रजित्ने अपने चचाको मारा गया और पिताको अति विह्वल सुन अपने शोकाकुल पितासे कहा—"हे महामते ! शोक दूर कीजिये। हे राजेन्द्र ! मुझ महाबली मेघनादके जीते हुए आपके दुःखका कारण ही कहाँ है ? हे देवताओंके कालस्वरूप महाबुद्धिमान् पृथिवीपते ! अपना समस्त दुःख छोड़कर आप शान्त होइये ॥ ५३—५६ ॥ मैं अभी सब कुछ ठीक किये देता हूँ, इन शत्रुओंको मैं अवश्य मार डालूँगा। इस समय मैं निकुम्भिला गुफामें जाता हूँ, वहाँ अग्निको तृप्तकर रथ आदि प्राप्त करूँगा, इससे मैं शत्रुओंके लिये अजेय हो जाऊँगा।" ऐसा कह वह निर्दिष्ट यज्ञशालामें गया ॥ ५७-५८ ॥ उस निकुम्भिला (नामकी देवी) के स्थानमें उसने रक्तवर्ण वस्त्र, रक्त पुष्पोंकी माला और रक्त चन्दनका लेप धारण कर हवन करना आरम्भ किया ॥ ५९ ॥

विभीषणोऽथ तच्छ्रुत्वा मेघनादस्य चेष्टितम् ।
प्राह रामाय सकलं होमारम्भं दुरात्मनः ॥ ६० ॥

जब विभीषणको मेघनादके इस कार्यका पता लगा; तब उन्होंने उस दुरात्माके होमारम्भका सारा समाचार श्रीरामचन्द्रजीको सुनाया ॥ ६० ॥ (और कहा—) "हे राम ! यदि दुरात्मा मेघनादका यह होम निर्विघ्न समाप्त हो गया तो वह देवता या असुर किसीसे भी नहीं जीता जा सकेगा ॥ ६१ ॥ अतः मैं शीघ्र ही लक्ष्मणजीके द्वारा उस रावण-कुमारका वध कराये देता हूँ। आप बलवानोंमें श्रेष्ठ श्रीलक्ष्मणजीको मेरे साथ जानेकी आज्ञा दीजिये। इसमें सन्देह नहीं, आपके छोटे भाई लक्ष्मणजी मेघनादको अवश्य मार डालेंगे" ॥ ६२ ॥

समाप्यते चेद्धोमोऽयं मेघनादस्य दुर्मतेः ।
तदाजेयो भवेद्राम मेघनादः सुरासुरैः ॥ ६१ ॥

अतः शीघ्रं लक्ष्मणेन घातयिष्यामि रावणिम् ।
आज्ञापय मया सार्धं लक्ष्मणं बलिनां वरम् ।
हनिष्यति न सन्देहो मेघनादं तवानुजः ॥ ६२ ॥

श्रीरामचन्द्र उवाच

अहमेवागमिष्यामि हन्तुमिन्द्रजितं रिपुम् ।
आग्नेयेन महास्त्रेण सर्वराक्षसघातिना ॥ ६३ ॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले—समस्त राक्षसोंको मारनेवाले महान् आग्नेय-अस्त्रसे अपने शत्रु इन्द्रजित्‌को मारनेके लिये मैं स्वयं ही आऊँगा ॥ ६३ ॥

विभीषणोऽपि तं प्राह नासावन्यैर्निहन्यते ।
यस्तु द्वादश वर्षाणि निद्राहारविवर्जितः ॥ ६४ ॥

तेनैव मृत्युर्निर्दिष्टो ब्रह्मणास्य दुरात्मनः ।
लक्ष्मणस्तु अयोध्याया निर्गम्यायात्त्वया सह ॥ ६५ ॥

तदादि निद्राहारादीन्न जानाति रघूत्तम ।
सेवार्थं तव राजेन्द्र ज्ञातं सर्वमिदं मया ॥ ६६ ॥

तदाज्ञापय देवेश लक्ष्मणं त्वरया मया ।
हनिष्यति न सन्देहः शेषः साक्षाद्धराधरः ॥ ६७ ॥

त्वमेव साक्षाज्जगतामधीशो
नारायणो लक्ष्मण एव शेषः ।
युवां धराभारनिवारणार्थं
जातौ जगन्नाटकसूत्रधारौ ॥ ६८ ॥

तब विभीषणने कहा—'यह राक्षस किसी औरसे नहीं मारा जा सकता। जिसने बारह वर्षतक निद्रा और आहारको छोड़ दिया हो, ब्रह्माजीने इस दुरात्माकी मृत्यु उसीके हाथ निश्चित की है। हे रघुनाथजी ! ये लक्ष्मणजी जबसे अयोध्यासे निकलकर आपके साथ आये हैं, तभीसे, आपकी सेवामें लगे रहनेके कारण, ये निद्रा और आहारादि तो जानते ही नहीं। हे राजेन्द्र ! मैं ये सब बातें जानता हूँ ॥ ६४—६६ ॥ अतः हे देवेश्वर ! आप शीघ्र ही लक्ष्मणजीको मेरे साथ जानेकी आज्ञा दीजिये। ये साक्षात् धराधारी शेषनाग हैं, इसमें सन्देह नहीं, उस राक्षसको ये अवश्य मार डालेंगे ॥ ६७ ॥ आप ही साक्षात् जगत्पति नारायण हैं और लक्ष्मणजी ही शेषनाग हैं। आप दोनों इस संसाररूपी नाटकके सूत्रधार हैं और पृथिवीका भार उतारनेके लिये ही आपने जन्म लिया है" ॥ ६८ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवम सर्ग

मेघनाद-वध

श्रीमहादेव उवाच

विभीषणवचः श्रुत्वा रामो वाक्यमथाब्रवीत् ।
जानामि तस्य रौद्रस्य मायां कृत्स्नां विभीषण ॥ १ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! विभीषणके ये वचन सुनकर श्रीरघुनाथजीने कहा—"विभीषण ! उस महाभयङ्कर दैत्यकी मैं सारी माया जानता हूँ ॥ १ ॥

स हि ब्रह्मास्त्रविच्छूरो मायावी च महाबलः ।
जानामि लक्ष्मणस्यापि स्वरूपं मम सेवनम् ॥ २ ॥

ज्ञात्वैवासमहं तूष्णीं भविष्यत्कार्यगौरवात् ।
इत्युक्त्वा लक्ष्मणं प्राह रामो ज्ञानवतां वरः ॥ ३ ॥

गच्छ लक्ष्मण सैन्येन महता जहि रावणिम् ।
हनूमत्प्रमुखैः सर्वैर्यूथपैः सह लक्ष्मण ॥ ४ ॥

जाम्बवानृक्षराजोऽयं सह सैन्येन संवृतः ।
विभीषणश्च सचिवैः सह त्वामभियास्यति ॥ ५ ॥

अभिज्ञस्तस्य देशस्य जानाति विवराणि सः ।
रामस्य वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणः सविभीषणः ॥ ६ ॥

जग्राह कार्मुकं श्रेष्ठमन्यद्भीमपराक्रमः ।
रामपादाम्बुजं स्पृष्ट्वा हृष्टः सौमित्रिरब्रवीत् ॥ ७ ॥

अद्य मत्कार्मुकान्मुक्ताः शरा निर्भिद्य रावणिम् ।
गमिष्यन्ति हि पातालं स्नातुं भोगवतीजले ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा स सौमित्रिः परिक्रम्य प्रणम्य तम् ।
इन्द्रजिन्निधनाकाङ्क्षी ययौ त्वरितविक्रमः ॥ ९ ॥

वानरैर्बहुसाहस्रैर्हनूमान्पृष्ठतोऽन्वगात् ।
विभीषणश्च सहितो मन्त्रिभिस्त्वरितं ययौ ॥ १० ॥

जाम्बवत्प्रमुखा ऋक्षाः सौमित्रिं त्वरयान्वयुः ।
गत्वा निकुम्भिलादेशं लक्ष्मणो वानरैः सह ॥ ११ ॥

अपश्यद्बलसङ्घातं दूराद्राक्षससङ्कुलम् ।
धनुरायम्य सौमित्रिर्यत्तोऽभूद्भूरिविक्रमः ॥ १२ ॥

अङ्गदेन च वीरेण जाम्बवान् राक्षसाधिपः ।
तदा विभीषणः प्राह सौमित्रिं पश्य राक्षसान् ॥ १३ ॥

यदेतद्राक्षसानीकं मेघश्यामं विलोक्यते ।
अस्यानीकस्य महतो भेदने यत्नवान् भव ॥ १४ ॥

राक्षसेन्द्रसुतोऽप्यस्मिन् भिन्ने दृश्यो भविष्यति ।
अभिद्रवाशु यावद्वै नैतत्कर्म समाप्यते ॥ १५ ॥

वह ब्रह्मास्त्र-विद्याका जाननेवला, बड़ा शूरवीर, मायावी और महाबली है। तथा लक्ष्मण मेरी जैसी सेवा करते हैं मैं उसका स्वरूप भी जानता हूँ (अर्थात् मुझे यह पता है कि मेरी सेवाके कारण उन्होंने निद्रा और आहार आदिको छोड़ रखा है) ॥ २ ॥ किन्तु इस आगामी कार्यकी कठिनताका विचार करते ही मैंने यह सब जान-बूझकर भी अभीतक कुछ नहीं कहा।"

विभीषणसे इस प्रकार कह ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवान् रामचन्द्र लक्ष्मणजीसे बोले ॥ ३ ॥ "भैया लक्ष्मण! तुम और हनुमान् आदि समस्त यूथपति, बहुत बड़ी सेनाके साथ जाओ और रावणके पुत्र मेघनादको मारो ॥ ४ ॥ अपनी सेनाके सहित ऋक्षराज जाम्बवान् और मन्त्रियोंके सहित विभीषण तुम्हारे साथ जायँगे ॥ ५ ॥ ये विभीषण उससे परिचित हैं और उसके छिपनेकी समस्त कन्दराओं-को जानते हैं, (अतः इनसे तुम्हें उसका पता लगानेमें बहुत सहायता मिलेगी)।" रामचन्द्रजीके वचन सुनकर महापराक्रमी लक्ष्मणजीने विभीषणको साथ ले अपना एक दूसरा उत्तम धनुष उठाया और अति प्रसन्नतापूर्वक भगवान् रामके चरणकमलका स्पर्श कर कहा ॥ ६-७ ॥ "प्रभो! आज मेरे धनुषसे छूटे हुए बाण रावण-पुत्र इन्द्रजित्के शरीरको भेदकर भोगवती (पाताल-गङ्गा) के जलमें स्नान करनेके लिये पाताल-लोकको चले जायँगे" ॥ ८ ॥

रघुनाथजीसे इस प्रकार कह सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजीने उनकी परिक्रमा की और इन्द्रजित्को मारनेके लिये बड़ी तेजीसे चले ॥ ९ ॥ उनके पीछे हजारों वानरोंके साथ हनुमान्जी और मन्त्रियोंके सहित विभीषणने भी बड़ी शीघ्रतासे कूच किया ॥ १० ॥ तथा जाम्बवान् आदि रीछ भी तुरंत ही श्रीलक्ष्मणजीके साथ चले। जिस समय वानरोंके सहित लक्ष्मणजी निकुम्भिलाके स्थानपर पहुँचे, उन्होंने दूरसे ही वहाँ राक्षसोंकी बड़ी भारी सेना एकत्रित देखी। तब महापराक्रमी लक्ष्मणजी धनुष चढ़ाकर सावधान हो गये ॥ ११-१२ ॥ उनके साथ ही वीरवर अङ्गदके सहित जाम्बवान् भी सावधान हो गये। तब राक्षसराज विभीषणजीने लक्ष्मणजीसे कहा—"लक्ष्मणजी! इन राक्षसोंको देखिये। सामने जो मेघके समान श्यामवर्ण राक्षस-सेना दिखायी दे रही है, इस प्रबल अनीकको नष्ट करनेका यत्न कीजिये ॥ १३-१४ ॥ इसके नष्ट हो जानेपर राक्षसराज रावणाका पुत्र इन्द्रजित् भी दिखायी देने लगेगा।

जहि वीर दुरात्मानं हिंसापरमधार्मिकम्।
विभीषणवचः श्रुत्वा लक्ष्मणः शुभलक्षणः ॥ १६ ॥

ववर्ष शरवर्षाणि राक्षसेन्द्रसुतं प्रति।
पाषाणैः पर्वताग्रैश्च वृक्षैश्च हरियूथपाः ॥ १७ ॥

निर्जघ्नुः सर्वतो दैत्यांस्तेऽपि वानरयूथपान्।
परश्वधैः शितैर्बाणैरसिभिर्यष्टितोमरैः ॥ १८ ॥

निर्जघ्नुर्वानरानीकं तदा शब्दो महानभूत्।
स सम्प्रहारस्तुमुलः संजज्ञे हरिरक्षसाम् ॥ १९ ॥

इन्द्रजित्स्वबलं सर्वमर्द्यमानं विलोक्य सः।
निकुम्भिलां च होमं च त्यक्त्वा शीघ्रं विनिर्गतः ॥ २० ॥

रथमारुह्य सधनुः क्रोधेन महतागमत्।
समाह्वयन् स सौमित्रिं युद्धाय रणमूर्धनि ॥ २१ ॥

सौमित्रे मेघनादोऽहं मया जीवन्न मोक्ष्यसे।
तत्र दृष्ट्वा पितृव्यं स प्राह निष्ठुरभाषणम् ॥ २२ ॥

इहैव जातः संवृद्धः साक्षाद् भ्राता पितुर्मम।
यस्त्वं स्वजनमुत्सृज्य परभृत्यत्वमागतः ॥ २३ ॥

कथं द्रुह्यसि पुत्राय पापीयानसि दुर्मतिः।
इत्युक्त्वा लक्ष्मणं दृष्ट्वा हनूमत्पृष्ठतः स्थितम् ॥ २४ ॥

उद्यदायुधनिस्त्रिंशे रथे महति संस्थितः।
महाप्रमाणमुद्यम्य घोरं विस्फारयन्धनुः ॥ २५ ॥

अद्य वो मामका बाणाः प्राणान्यास्यन्ति वानराः।
ततः शरं दाशरथिः सन्धायामित्रकर्षणः ॥ २६ ॥

ससर्ज राक्षसेन्द्राय क्रुद्धः सर्प इव श्वसन्।
इन्द्रजिद्रक्तनयनो लक्ष्मणं समुदैक्षत ॥ २७ ॥

शक्राशनिसमस्पर्शैर्लक्ष्मणेनाहतः शरैः।
मुहूर्तमभवन्मूढः पुनः प्रत्याहृतेन्द्रियः ॥ २८ ॥

इस कर्मके समाप्त होनेसे पहले ही तुरंत धावा कर दीजिये ॥ १५ ॥ हे वीर ! इस हिंसापरायण दुरात्मा पापीको आप शीघ्र ही मार डालिये।''

विभीषणके वचन सुनकर शुभलक्षण लक्ष्मणने राक्षस-राजकुमार मेघनादकी ओर बाण बरसाने आरम्भ किये तथा वानर-यूथपति भी सब ओरसे पत्थर, पर्वत-शिखर और वृक्षादिसे दैत्योंपर प्रहार करने लगे। इसी प्रकार राक्षसोंने भी वानरयूथपतियों और वानर-सेनापर परशु, तीक्ष्ण बाण, खड्ग, यष्टि और तोमरादि शस्त्रोंसे आक्रमण किया। तब वहाँ बड़ा भारी कोलाहल हुआ और राक्षस तथा वानरोंमें बड़ा घमासान युद्ध छिड़ गया ॥ १६—१९ ॥

अपनी सेनाको इस प्रकार दलित होते देख इन्द्रजित् निकुम्भिला और होमको छोड़कर बाहर आया ॥ २० ॥ और तुरंत ही रथपर चढ़ अत्यन्त क्रोधसे हाथमें धनुष ले रणभूमिमें सामने आया तथा लक्ष्मणजीको युद्धके लिये ललकारते हुए बोला— ॥ २१ ॥ ''लक्ष्मण ! मैं मेघनाद हूँ, अब तुम मुझसे जीवित नहीं बच सकते।'' फिर वहाँ अपने चचा विभीषणको देखकर वह कठोर शब्दोंमें कहने लगा ॥ २२ ॥ ''तुम इस लङ्कापुरीमें ही उत्पन्न हुए हो और इसीमें रहकर इतने बड़े हुए हो तथा मेरे पिताके सगे भाई हो, किंतु अब तुमने अपने स्वजनोंको छोड़कर शत्रुओंका दासत्व स्वीकार किया है ! ॥ २३ ॥ मैं तुम्हारे पुत्रके समान हूँ, न जाने तुम कैसे मुझसे द्रोह कर रहे हो ? अवश्य ही तुम बड़े पापी और दुरात्मा हो।'' ऐसा कह उसने हनुमान्‌जीकी पीठपर बैठे हुए लक्ष्मणजीकी ओर देखा ॥ २४ ॥ तथा जिसमें नाना प्रकारके तीक्ष्ण शस्त्र उपस्थित थे उस महान् रथमें बैठे हुए उस दैत्यने एक बड़ा लम्बा धनुष उठाकर उसकी भयङ्कर टंकार की ॥ २५ ॥ और बोला ''अरे वानरो ! आज मेरे बाण तुम्हारे प्राणोंको पियेंगे।'' तब क्रोधसे सर्पके समान फुफकारते हुए, शत्रुका दमन करनेवाले, दशरथकुमार लक्ष्मणजीने भी अपने धनुषपर एक बाण चढ़ाकर उसे मेघनादपर छोड़ा। इधर इन्द्रजित्‌ने भी क्रोधसे लाल-लाल नेत्र कर लक्ष्मणणजीकी ओर देखा ॥ २६-२७ ॥

श्रीलक्ष्मणजीके छोड़े हुए इन्द्रवज्रके समान महाकठोर बाणोंके लगनेसे वह एक मुहूर्तके लिये अचेत

ददर्शावस्थितं वीरं वीरो दशरथात्मजम्।
सोऽभिचक्राम सौमित्रिं क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ २९ ॥

शरान्धनुषि सन्धाय लक्ष्मणं चेदमब्रवीत्।
यदि ते प्रथमे युद्धे न दृष्टो मे पराक्रमः ॥ ३० ॥

अद्य त्वां दर्शयिष्यामि तिष्ठेदानीं व्यवस्थितः।
इत्युक्त्वा सप्तभिर्बाणैरभिविव्याध लक्ष्मणम् ॥ ३१ ॥

दशभिश्च हनूमन्तं तीक्ष्णधारैः शरोत्तमैः।
ततः शरशतेनैव सम्प्रयुक्तेन वीर्यवान् ॥ ३२ ॥

क्रोधद्विगुणसंरब्धो निर्बिभेद विभीषणम्।
लक्ष्मणोऽपि तथा शत्रुं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ३३ ॥

तस्य बाणैः सुसंविद्धं कवचं काञ्चनप्रभम्।
व्यशीर्यत रथोपस्थे तिलशः पतितं भुवि ॥ ३४ ॥

ततः शरसहस्रेण सङ्क्रुद्धो रावणात्मजः।
बिभेद समरे वीरं लक्ष्मणं भीमविक्रमम् ॥ ३५ ॥

व्यशीर्यतापतद्दिव्यं कवचं लक्ष्मणस्य च।
कृतप्रतिकृतान्योन्यं बभूवतुरभिद्रुतौ ॥ ३६ ॥

अभीक्ष्णं निःश्वसन्तौ तौ युध्येतां तुमुलं पुनः।
शरसंवृतसर्वाङ्गौ सर्वतो रुधिरोक्षितौ ॥ ३७ ॥

सुदीर्घकालं तौ वीरावन्योन्यं निशितैः शरैः।
अयुध्येतां महासत्त्वौ जयाजयविवर्जितौ ॥ ३८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो लक्ष्मणः पञ्चभिः शरैः।
रावणेः सारथिं साश्वं रथं च समचूर्णयत् ॥ ३९ ॥

चिच्छेद कार्मुकं तस्य दर्शयन्हस्तलाघवम्।
सोऽन्यत्तु कार्मुकं भद्रं सज्यं चक्रे त्वरान्वितः ॥ ४० ॥

तच्चापमपि चिच्छेद लक्ष्मणस्त्रिभिराशुगैः।
तमेव छिन्नधन्वानं विव्याधानेकसायकैः ॥ ४१ ॥

पुनरन्यत्समादाय कार्मुकं भीमविक्रमः।
इन्द्रजिल्लक्ष्मणं बाणैः शितैरादित्यसन्निभैः ॥ ४२ ॥

बिभेद वानरान्सर्वान्बाणैरापूरयन्दिशः।
तत ऐन्द्रं समादाय लक्ष्मणो रावणिं प्रति ॥ ४३ ॥

हो गया। फिर चेत होनेपर उसने अपने सामने दशरथनन्दन वीरवर लक्ष्मणजीको खड़े देखा। उन्हें देखकर वह राक्षस क्रोधसे नेत्र लाल कर उनकी ओर दौड़ा ॥ २८-२९ ॥ तथा अपने धनुषपर बाण चढ़ाकर उनसे यों कहने लगा, "यदि तूने पहले युद्धमें मेरा पराक्रम न देखा हो तो मैं तुझे अभी दिखाये देता हूँ; तू जरा स्थिरतापूर्वक खड़ा रह।" ऐसा कह उस महावीर्यवान्ने सात बाणोंसे लक्ष्मणजीको, बड़ी पैनी धारवाले दस बाणोंसे हनुमान्जीको और क्रोधसे दूने उत्साहके साथ भली प्रकार छोड़े हुए सौ बाणोंसे विभीषणको वेध डाला। इधर लक्ष्मणजी भी शत्रुपर बाणोंकी वर्षा-सी करने लगे ॥ ३०—३३ ॥ उनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर मेघनादका सुवर्णकी-सी आभावाला कवच तिल-तिल होकर रथके पिछले भागमें गिर पड़ा और फिर वहाँसे पृथ्वीपर जा गिरा ॥ ३४ ॥ तब रावणकुमार मेघनादने संग्राममें अत्यन्त क्रोधित हो महापराक्रमी लक्ष्मणजीको हजारों बाणोंसे बींध डाला ॥ ३५ ॥ इससे लक्ष्मणजीका दिव्य कवच भी छिन्न-भिन्न होकर गिर पड़ा। इस प्रकार वे दोनों ही एक-दूसरेकी क्रियाका प्रतिकार करते हुए आपसमें लड़ने लगे ॥ ३६ ॥ वे दोनों ही बारम्बार दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए बड़ा घोर युद्ध करने लगे। उनके शरीरोंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सब ओरसे बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर लोहू-लुहान हो गये ॥ ३७ ॥ वे दोनों महापराक्रमी वीर बड़ी देरतक एक-दूसरेपर तीखे-तीखे बाण छोड़कर लड़ते रहे। उनमेंसे किसीकी भी जय अथवा पराजय न हुई ॥ ३८ ॥

इतनेमें ही वीरवर लक्ष्मणने पाँच बाण छोड़कर मेघनादके सारथि और घोड़ोंके सहित रथको चूर्ण कर डाला ॥ ३९ ॥ और अपने हाथकी सफाई दिखलाते हुए उसका धनुष भी काट डाला। तब मेघनादने तुरंत ही दूसरा उत्तम धनुष चढ़ाया ॥ ४० ॥ लक्ष्मणजीने तीन बाणोंसे उसे भी काट डाला और धनुषहीन हुए उस राक्षसको भी अनेक बाणोंसे बींध दिया ॥ ४१ ॥ फिर भीमविक्रम इन्द्रजित्ने एक और धनुष लेकर सूर्यके समान चमकीले और पैने बाणोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको व्याप्त करते हुए लक्ष्मणजी तथा समस्त वानरोंको वेध डाला। तब लक्ष्मणजीने ऐन्द्र बाण निकालकर उसे मेघनादकी ओर

सन्धायाकृष्य कर्णान्तं कार्मुकं दृढनिष्ठुरम् ।
उवाच लक्ष्मणो वीरः स्मरन् रामपदाम्बुजम् ॥ ४४ ॥

धर्मात्मा सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यदि ।
त्रिलोक्यामप्रतिद्वन्द्वस्तदेनं जहि रावणिम् ॥ ४५ ॥

इत्युक्त्वा बाणमाकर्णाद्विकृष्य तमजिह्मगम् ।
लक्ष्मणः समरे वीरः ससर्जेन्द्रजितं प्रति ॥ ४६ ॥

स शरः सशिरस्त्राणं श्रीमज्ज्वलितकुण्डलम् ।
प्रमथ्येन्द्रजितः कायात्पातयामास भूतले ॥ ४७ ॥

ततः प्रमुदिता देवाः कीर्तयन्तो रघूत्तमम् ।
ववर्षुः पुष्पवर्षाणि स्तुवन्तश्च मुहुर्मुहुः ॥ ४८ ॥

जहर्ष शक्रो भगवान्सह देवैर्महर्षिभिः ।
आकाशेऽपि च देवानां शुश्रुवे दुन्दुभिस्वनः ॥ ४९ ॥

विमलं गगनं चासीत्स्थिराभूद्विश्वधारिणी ।
निहतं रावणिं दृष्ट्वा जयजल्पसमन्वितः ॥ ५० ॥

गतश्रमः स सौमित्रिः शङ्खमापूरयद्रणे ।
सिंहनादं ततः कृत्वा ज्याशब्दमकरोद्विभुः ॥ ५१ ॥

तेन नादेन संहृष्टा वानराश्च गतश्रमाः ।
वानरेन्द्रैश्च सहितः स्तुवद्भिर्हृष्टमानसैः ॥ ५२ ॥

लक्ष्मणः परितुष्टात्मा ददर्शाभ्येत्य राघवम् ।
हनूमद्राक्षसाभ्यां च सहितो विनयान्वितः ॥ ५३ ॥

ववन्दे भ्रातरं रामं ज्येष्ठं नारायणं विभुम् ।
त्वत्प्रसादाद्रघुश्रेष्ठ हतो रावणिराहवे ॥ ५४ ॥

श्रुत्वा तल्लक्ष्मणाद्भक्त्या तमालिङ्ग्य रघूत्तमः ।
मूर्ध्न्यवघ्राय मुदितः सस्नेहमिदमब्रवीत् ॥ ५५ ॥

लक्ष्य बाँधकर धनुषपर चढ़ाया और उस कठोर धनुषको कर्णपर्यन्त खींचकर वीरवर लक्ष्मणजी हृदयमें भगवान् रामके चरणकमलोंका स्मरण करते हुए बोले— ॥ ४२—४४ ॥ ''यदि दशरथनन्दन भगवान् राम परम धार्मिक, सत्यकी मर्यादा रखनेवाले और त्रिलोकीमें प्रतिद्वन्द्वी (मुकाबिला करनेवाले) से रहित हैं तो हे बाण ! तू इस मेघनादको मार डाल'' ॥ ४५ ॥ वीरवर लक्ष्मणजीने रणभूमिमें ऐसा कह उस सीधे जानेवाले बाणको कानतक खींचकर इन्द्रजित्‌की ओर छोड़ दिया ॥ ४६ ॥ उस बाणने शीर्षत्राणके सहित इन्द्रजित्‌के कान्तिमान् मस्तकको, जिसमें अति उज्ज्वल कुण्डल झिलमिला रहे थे, काटकर धड़से पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ४७ ॥

इस प्रकार मेघनादके मारे जानेपर देवगण प्रसन्न होकर रघुश्रेष्ठ लक्ष्मणजीका गुण गाने और उनकी बारम्बार प्रशंसा कर पुष्प बरसाने लगे ॥ ४८ ॥ देवता और महर्षियोंके सहित भगवान् इन्द्र अति हर्षित हुए। उस समय आकाशमण्डलमें भी देवताओंके नगाड़ोंका शब्द सुनायी देने लगा ॥ ४९ ॥ रावणके पुत्र मेघनादको मारा गया देख सर्वत्र जय-जयकार शब्द भर गया। आकाश निर्मल हो गया और जगद्धात्री धरणी स्थिर हो गयी ॥ ५० ॥ जब लक्ष्मणजीकी थकान उतर गयी तो उन्होंने शङ्ख बजाकर रणभूमिको गुञ्जायमान कर दिया और फिर भयङ्कर सिंहनाद कर अपने धनुषकी टङ्कार की ॥ ५१ ॥ उस सिंहनादसे समस्त वानरगण अति आनन्दित और श्रमहीन हो गये। फिर प्रसन्नचित्त वानर-वीरोंसे प्रशंसित होते हुए श्रीलक्ष्मणजीने उन सबके साथ प्रसन्न-मनसे श्रीरघुनाथजीके पास आ उनका दर्शन किया। श्रीलक्ष्मणजीने हनुमान् और विभीषणके सहित अति विनयपूर्वक अपने ज्येष्ठ भ्राता साक्षात् नारायणस्वरूप भगवान् रामको प्रणाम कर कहा—''हे रघुश्रेष्ठ ! आपकी कृपासे इन्द्रजित् युद्धमें मारा गया'' ॥ ५२—५४ ॥

लक्ष्मणजीके ये भक्तिमय वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी-ने अति प्रसन्न होकर उनका आलिङ्गन किया और फिर प्रेमपूर्वक सिर सूँघकर कहा— ॥ ५५ ॥

साधु लक्ष्मण तुष्टोऽस्मि कर्म ते दुष्करं कृतम्।
मेघनादस्य निधने जितं सर्वमरिन्दम ॥ ५६ ॥

अहोरात्रैस्त्रिभिर्वीरः कथञ्चिद्विनिपातितः।
निःसपत्नः कृतोऽस्म्यद्य निर्यास्यति हि रावणः ॥ ५७ ॥

पुत्रशोकान्मया योद्धुं तं हनिष्यामि रावणम् ॥ ५८ ॥

लक्ष्मण! तुम धन्य हो। मैं तुम्हारे इस कार्यसे बहुत सन्तुष्ट हूँ, आज तुमने बड़ा ही कठिन कार्य किया है। हे शत्रुदमन! इस मेघनादके मारे जानेसे हमने मानो सभी कुछ जीत लिया ॥ ५६ ॥ तुमने तीन दिन और तीन रात्रितक निरन्तर संग्राम कर किसी प्रकार उस महान् योद्धाको मार डाला। इससे आज तुमने मुझे शत्रुहीन कर दिया। अब पुत्र-शोकसे व्याकुल हुआ रावण मुझसे लड़ने आयगा, सो उसे मैं मार डालूँगा" ॥ ५७-५८ ॥

मेघनादं हतं श्रुत्वा लक्ष्मणेन महाबलम्।
रावणः पतितो भूमौ मूर्च्छितः पुनरुत्थितः।
विललापातिदीनात्मा पुत्रशोकेन रावणः ॥ ५९ ॥

पुत्रस्य गुणकर्माणि संस्मरन्पर्यदेवयत्।
अद्य देवगणाः सर्वे लोकपाला महर्षयः ॥ ६० ॥

हतमिन्द्रजितं ज्ञात्वा सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भयाः।
इत्यादि बहुशः पुत्रलालसो विललाप ह ॥ ६१ ॥

ततः परमसंक्रुद्धो रावणो राक्षसाधिपः।
उवाच राक्षसान्सर्वान्निनाशयिषुराहवे ॥ ६२ ॥

महाबली मेघनादको लक्ष्मणजीद्वारा मारा गया सुन रावण मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और फिर मूर्च्छासे उठनेपर पुत्र-शोकसे अत्यन्त दीन होकर विलाप करने लगा ॥ ५९ ॥ पुत्रके गुण और कर्मोंका स्मरण कर वह अत्यन्त शोक करने लगा। 'आज समस्त देवता, लोकपाल और महर्षिगण इन्द्रजित्को मारा गया सुनकर निर्भयतापूर्वक सुखसे सोयेंगे' इस प्रकार पुत्रकी आसक्तिवश वह भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगा ॥ ६०-६१ ॥ तदनन्तर राक्षसराज रावण अत्यन्त क्रुद्ध हो अपने शत्रुओंको युद्धमें नष्ट करानेकी कामनासे समस्त राक्षसोंसे बातचीत करने लगा ॥ ६२ ॥

स पुत्रवधसन्तप्तः शूरः क्रोधवशं गतः।
संवीक्ष्य रावणो बुद्ध्या हन्तुं सीतां प्रदुद्रुवे ॥ ६३ ॥

खड्गपाणिमथायान्तं क्रुद्धं दृष्ट्वा दशाननम्।
राक्षसीमध्यगा सीता भयशोकाकुलाभवत् ॥ ६४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तस्य सचिवो बुद्धिमान् शुचिः।
सुपार्श्वो नाम मेधावी रावणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ६५ ॥

ननु नाम दशग्रीव साक्षाद्वैश्रवणानुजः।
वेदविद्याव्रतस्नातः स्वकर्मपरिनिष्ठितः ॥ ६६ ॥

अनेकगुणसम्पन्नः कथं स्त्रीवधमिच्छसि।
अस्माभिः सहितो युद्धे हत्वा रामं च लक्ष्मणम्।
प्राप्स्यसे जानकीं शीघ्रमित्युक्तः स न्यवर्तत ॥ ६७ ॥

फिर, शूरवीर रावण पुत्र-शोकसे व्याकुल हो अपनी बुद्धिसे कुछ सोचकर क्रोधपूर्वक सीताजीको मारनेके लिये दौड़ा (अर्थात् शोक और क्रोधके कारण वह ऐसे निन्द्य कर्मको ही अपना कर्तव्य मान बैठा) ॥ ६३ ॥ रावणको हाथमें खड्ग लिये क्रोधपूर्वक अपनी ओर आता देख राक्षसियोंके बीचमें बैठी हुई सीताजी भयभीत हो गयीं ॥ ६४ ॥ इसी समय रावणके सुपार्श्व नामक मन्त्रीने, जो परम बुद्धिमान्, शुद्धहृदय और विचारवान् था, उससे कहा— ॥ ६५ ॥ "अहो दशानन! यह क्या? आप तो साक्षात् विश्रवानन्दन कुबेरजीके छोटे भाई हैं; वेदविद्यामें निपुण और यज्ञान्तमें स्नान करनेवाले एवं स्वधर्मपरायण हैं ॥ ६६ ॥ इस प्रकार अनेक गुणसम्पन्न होकर भी आप स्त्री-वध करना कैसे चाहते हैं? हम सबको साथ लेकर आप राम और लक्ष्मणको युद्धमें मारकर बहुत शीघ्र जानकीको प्राप्त कर लेंगे।" सुपार्श्वके इस प्रकार समझानेपर रावण लौट आया ॥ ६७ ॥

ततो दुरात्मा सुहृदा निवेदितं
वचः सुधर्म्यं प्रतिगृह्य रावणः।

तदनन्तर दुरात्मा रावण अपने बन्धुके कहे हुए धर्मानुकूल वाक्योंको ग्रहणकर शोकसे मूढ़बुद्धि हो तुरंत

गृहं जगामाशु शुचा विमूढधीः
पुनः सभां च प्रययौ सुहृद्वृतः ॥ ६८ ॥

अपने घर गया और फिर दूसरे दिन अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ सभामें आया ॥ ६८ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशम सर्ग

रावणका यज्ञ-विध्वंस तथा उसका मन्दोदरीको समझाना

श्रीमहादेव उवाच

स विचार्य सभामध्ये राक्षसैः सह मन्त्रिभिः ।
निर्ययौ येऽवशिष्टास्तै राक्षसैः सह राघवम् ॥ १ ॥

शलभः शलभैर्युक्तः प्रज्वलन्तमिवानलम् ।
ततो रामेण निहताः सर्वे ते राक्षसा युधि ॥ २ ॥

स्वयं रामेण निहतस्तीक्ष्णबाणेन वक्षसि ।
व्यथितस्त्वरितं लङ्कां प्रविवेश दशाननः ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा रामस्य बहुशः पौरुषं चाप्यमानुषम् ।
रावणो मारुतेश्चैव शीघ्रं शुक्रान्तिकं ययौ ॥ ४ ॥

नमस्कृत्य दशग्रीवः शुक्रं प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
भगवन् राघवेणैवं लङ्का राक्षसयूथपैः ॥ ५ ॥

विनाशिता महादैत्या निहताः पुत्रबान्धवाः ।
कथं मे दुःखसन्दोहस्त्वयि तिष्ठति सद्गुरौ ॥ ६ ॥

इति विज्ञापितो दैत्यगुरुः प्राह दशाननम् ।
होमं कुरु प्रयत्नेन रहसि त्वं दशानन ॥ ७ ॥

यदि विघ्नो न चेद्धोमे तर्हि होमानलोत्थितः ॥ ८ ॥

महान् रथश्च वाहाश्च चापतूणीरसायकाः ।
सम्भविष्यन्ति तैर्युक्तस्त्वमजेयो भविष्यसि ॥ ९ ॥

गृहाण मन्त्रान्मद्दत्तान् गच्छ होमं कुरु द्रुतम् ।
इत्युक्तस्त्वरितं गत्वा रावणो राक्षसाधिपः ॥ १० ॥

गुहां पातालसदृशीं मन्दिरे स्वे चकार ह ।
लङ्काद्वारकपाटादि बद्ध्वा सर्वत्र यत्नतः ॥ ११ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! फिर रावण सभामें अपने राक्षस-मन्त्रियोंके साथ विचार कर पतङ्ग जिस प्रकार अन्यान्य पतङ्गोंके साथ प्रज्वलित अग्निपर गिरता है, उसी प्रकार बचे-खुचे राक्षसोंको लेकर रघुनाथजीके पास चला; किन्तु श्रीरामचन्द्रजीने उन समस्त राक्षसोंको युद्धमें मार डाला ॥ १-२ ॥ और स्वयं रावण भी हृदयमें भगवान् रामका तीक्ष्ण बाण लगनेसे व्याकुल हो तुरंत लङ्कामें लौट आया ॥ ३ ॥

भगवान् राम और हनुमान्‌जीके बहुत-से अतिमानुष पौरुष देखकर रावण अति शीघ्रतासे शुक्राचार्यजीके पास गया ॥ ४ ॥ और उन्हें नमस्कार कर वह हाथ जोड़कर कहने लगा—"भगवन् ! रामने समस्त राक्षस-यूथपोंके सहित लङ्कापुरी नष्ट कर दी और जितने बड़े-बड़े दैत्य और मेरे बन्धु-बान्धव थे वे सभी मार डाले। आप-जैसे सद्गुरुके रहते हमें यह महान् दुःख क्यों देखना पड़ा ?" ॥ ५-६ ॥ रावणके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर दैत्यगुरु शुक्राचार्यजीने उससे कहा—"हे दशानन ! तुम जैसे हो सके वैसे किसी एकान्त देशमें हवन करो ॥ ७ ॥ यदि तुम्हारे हवनमें कोई विघ्न न हुआ तो उस होमाग्निसे एक बहुत बड़ा रथ, घोड़े, धनुष, तरकश और बाण उत्पन्न होंगे। उन्हें पाकर तुम अजेय हो जाओगे ॥ ८-९ ॥ मेरे दिये हुए मन्त्रोंको ग्रहण करो और इनसे तुरंत जाकर हवन करो।"

शुक्राचार्यजीके इस प्रकार कहनेपर राक्षसराज रावणने तुरंत ही जाकर अपने महलमें एक पातालके समान गम्भीर गुहा तैयार करायी और बड़ी सावधानीसे लङ्काके सब

होमद्रव्याणि सम्पाद्य यान्युक्तान्याभिचारिके ।
गुहां प्रविश्य चैकान्ते मौनी होमं प्रचक्रमे ॥ १२ ॥

उत्थितं धूममालोक्य महान्तं रावणानुजः ।
रामाय दर्शयामास होमधूमं भयाकुलः ॥ १३ ॥

पश्य राम दशग्रीवो होमं कर्तुं समारभत् ।
यदि होमः समाप्तः स्यात्तदाजेयो भविष्यति ॥ १४ ॥

अतो विघ्नाय होमस्य प्रेषयाशु हरीश्वरान् ।
तथेति रामः सुग्रीवसम्मतेनाङ्गदं कपिम् ॥ १५ ॥

हनूमत्प्रमुखान्वीरानादिदेश महाबलान् ।
प्राकारं लङ्घयित्वा ते गत्वा रावणमन्दिरम् ॥ १६ ॥

दशकोट्यः प्लवङ्गानां गत्वा मन्दिररक्षकान् ।
चूर्णयामासुरश्वांश्च गजांश्च न्यहनन् क्षणात् ॥ १७ ॥

ततश्च सरमा नाम प्रभाते हस्तसंज्ञया ।
विभीषणस्य भार्या सा होमस्थानमसूचयत् ॥ १८ ॥

गुहापिधानपाषाणमङ्गदः पादघट्टनैः ।
चूर्णयित्वा महासत्त्वः प्रविवेश महागुहाम् ॥ १९ ॥

दृष्ट्वा दशाननं तत्र मीलिताक्षं दृढासनम् ।
ततोऽङ्गदाज्ञया सर्वे वानरा विविशुर्द्रुतम् ॥ २० ॥

तत्र कोलाहलं चक्रुस्ताडयन्तश्च सेवकान् ।
सम्भारांश्चिक्षिपुस्तस्य होमकुण्डे समन्ततः ॥ २१ ॥

स्रुवमाच्छिद्य हस्ताच्च रावणस्य बलाद्रुषा ।
तेनैव सञ्जघानाशु हनूमान् प्लवगाग्रणीः ॥ २२ ॥

घ्नन्ति दन्तैश्च काष्ठैश्च वानरास्तमितस्ततः ।
न जहौ रावणो ध्यानं हतोऽपि विजिगीषया ॥ २३ ॥

प्रविश्यान्तःपुरे वेश्मन्यङ्गदो वेगवत्तरः ।
समानयत्केशबन्धे धृत्वा मन्दोदरीं शुभाम् ॥ २४ ॥

द्वारोंके फाटक आदि बंद करा दिये ॥ १०-११ ॥ तथा शास्त्रोंमें अभिचार कर्मोंकी जो-जो हवन-सामग्रियाँ बतायी गयी हैं वे सब एकत्रित कीं और गुहामें घुसकर एकान्तमें मौनावलम्बनपूर्वक होम करने लगा ॥ १२ ॥

तब रावणके छोटे भाई विभीषणने बड़ा भारी धुआँ उठते देख अति भयभीत हो उसे श्रीरामचन्द्रजीको दिखाया ॥ १३ ॥ (और कहा—) "हे राम! देखिये, दशशीशने हवन करना आरम्भ किया है; यदि यह हवन (निर्विघ्न) समाप्त हो गया तो वह अजेय हो जायगा ॥ १४ ॥ अतः इसमें विघ्न डालनेके लिये शीघ्र ही वानर-सेनापतियोंको भेजिये।" तब रघुनाथजीने 'अच्छा' कहकर सुग्रीवकी सम्मतिसे कपिवर अङ्गद और हनुमान् आदि महाबलवान् वानर-वीरोंको आज्ञा दी। वे सब नगरके परकोटेको लाँघकर रावणके महलपर पहुँचे ॥ १५-१६ ॥ इन दस करोड़ वानरोंने वहाँ पहुँचकर महलके द्वारपालोंको चूर्ण कर डाला और एक क्षणमें ही बहुत-से घोड़ों तथा हाथियोंका संहार कर दिया ॥ १७ ॥

(इस प्रकार लङ्कामें रातभर बड़ा भारी कोलाहल मचा रहा।) प्रातःकाल होते ही विभीषणकी भार्या सरमाने हाथके संकेतसे होमस्थान बतला दिया ॥ १८ ॥ गुहाको ढँकनेके लिये उसके मुखपर रखे हुए पत्थरको महापराक्रमी अङ्गद पैरकी ठोकरसे चूर-चूरकर उस महाकन्दरामें घुस गये ॥ १९ ॥ वहाँ उन्होंने रावणको नेत्र मूँदे, दृढ़ आसन लगाये बैठे देखा। तदनन्तर अङ्गदजीकी आज्ञासे समस्त वानरगण तुरंत उस गुहामें घुस गये ॥ २० ॥ गुहामें घुसकर वे सेवकोंको पीटने और बड़ा भारी कोलाहल करने लगे तथा जहाँ-तहाँ रखी हुई यज्ञ-सामग्रीको उन्होंने हवनकुण्डमें डाल दिया ॥ २१ ॥ वानराग्रणी हनुमान्‌जीने अति रोषपूर्वक बलात् रावणके हाथसे स्रुवा छीनकर उसीसे उसपर आघात किया ॥ २२ ॥ वानरगण रावणपर इधर-उधरसे दाँतों और लकड़ियोंसे प्रहार कर रहे थे; किन्तु उसने विजयकी कामनासे इस प्रकार आहत होनेपर भी अपना ध्यान नहीं छोड़ा ॥ २३ ॥

अब अत्यन्त वेगवान् अङ्गदजी अन्तःपुरमें जाकर तुरंत ही शुभलक्षणा मन्दोदरीको चोटी पकड़कर ले

रावणस्यैव पुरतो विलपन्तीमनाथवत्।
विददाराङ्गदस्तस्याः कञ्चुकं रत्नभूषितम्॥ २५॥

मुक्ता विमुक्ताः पतिताः समन्ताद्रत्नसञ्चयैः।
श्रोणिसूत्रं निपतितं त्रुटितं रत्नचित्रितम्॥ २६॥

कटिप्रदेशाद्विस्त्रस्ता नीवी तस्यैव पश्यतः।
भूषणानि च सर्वाणि पतितानि समन्ततः॥ २७॥

देवगन्धर्वकन्याश्च नीता हृष्टैः प्लवङ्गमैः।
मन्दोदरी रुरोदाथ रावणस्याग्रतो भृशम्॥ २८॥

क्रोशन्ती करुणं दीना जगाद दशकन्धरम्।
निर्लज्जोऽसि परैरेवं केशपाशे विकृष्यते॥ २९॥

भार्या तवैव पुरतः किं जुहोषि न लज्जसे।
हन्यते पश्यतो यस्य भार्या पापैश्च शत्रुभिः॥ ३०॥

मर्तव्यं तेन तत्रैव जीवितान्मरणं वरम्।
हा मेघनाद ते माता क्लिश्यते बत वानरैः॥ ३१॥

त्वयि जीवति मे दुःखमीदृशं च कथं भवेत्।
भार्या लज्जा च सन्त्यक्ता भर्त्रा मे जीविताशया॥ ३२॥

श्रुत्वा तद्देवितं राजा मन्दोदर्या दशाननः।
उत्तस्थौ खड्गमादाय त्यज देवीमिति ब्रुवन्॥ ३३॥

जघानाङ्गदमव्यग्रः कटिदेशे दशाननः।
तदोत्सृज्य ययुः सर्वे विध्वंस्य हवनं महत्॥ ३४॥

रामपार्श्वमुपागम्य तस्थुः सर्वे प्रहर्षिताः॥ ३५॥

रावणस्तु ततो भार्यामुवाच परिसान्त्वयन्।
दैवाधीनमिदं भद्रे जीवता किं न दृश्यते।
त्यज शोकं विशालाक्षि ज्ञानमालम्ब्य निश्चितम्॥ ३६॥

अज्ञानप्रभवः शोकः शोको ज्ञानविनाशकृत्।
अज्ञानप्रभवाहन्धीः शरीरादिष्वनात्मसु॥ ३७॥

तन्मूलः पुत्रदारादिसम्बन्धः संसृतिस्ततः।
हर्षशोकभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः॥ ३८॥

आये॥ २४॥ और रावणके सामने ही उन्होंने अनाथके समान विलाप करती हुई मन्दोदरीकी रत्नजटित कञ्चुकी (चोली) फाड़ डाली॥ २५॥ उसके मोती टूट-टूटकर रत्नसमूहके सहित सब ओर बिखर गये, (इसी प्रकार) मन्दोदरीकी रत्नजटित करधनी भी टूटकर पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ २६॥ रावणके देखते-देखते ही उसके अधोवस्त्रका बन्धन ढीला पड़कर कटि-प्रदेशसे खिसक गया और समस्त आभूषण जहाँ-तहाँ गिर गये॥ २७॥ ऐसे ही अन्यान्य वानरगण भी कुतूहलवश देव और गन्धर्व आदिकी कन्याओंको (जो रावणकी पत्नियाँ थीं) पकड़ लाये। तब मन्दोदरी रावणके सामने अत्यन्त विलाप करने लगी॥ २८॥ और करुणावश अति दीन होकर रावणसे कहने लगी, "अहो! तुम बड़े निर्लज्ज हो। तुम्हारे सामने ही शत्रुगण तुम्हारी भार्याको चोटी पकड़कर खींच रहे हैं, और फिर भी तुम हवन कर रहे हो! क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती? जिसकी भार्याको उसीके सामने पापी शत्रुगण मारते हों उसे तो वहीं मर जाना चाहिये। उसके जीनेसे तो मरना ही अच्छा है। हा मेघनाद! आज तेरी माता वानरोंके हाथोंमें पड़कर क्लेश पा रही है?॥ २९—३१॥ बेटा! तेरे जीते रहनेपर मुझे यह दुःख क्यों देखना पड़ता? मेरे पतिने तो अपना जीवन बचानेके लिये अपनी स्त्री और लज्जासे भी मुँह मोड़ लिया है!"॥ ३२॥

मन्दोदरीका यह विलाप सुनकर राक्षसराज रावण हाथमें खड्ग लेकर 'अरे, देवीको छोड़ो' यों कहता हुआ उठा॥ ३३॥ रावणने उठते ही अङ्गदजीकी कमरमें प्रहार किया। तब समस्त वानरगण उसका महायज्ञ विध्वंस कर वहाँसे चल दिये॥ ३४॥ और सब-के-सब अति प्रसन्न हो रघुनाथजीके पास आ उपस्थित हुए॥ ३५॥

तब रावण अपनी भार्या मन्दोदरीको ढाँढस बँधाते हुए बोला—'हे कल्याणि! ये सुख-दुःखादि दैवके अधीन हैं—जीता हुआ प्राणी क्या नहीं देखता? अतः हे विशालनयनि! इस निश्चित ज्ञानका आश्रयकर तुम शोक छोड़ दो॥ ३६॥ शोक अज्ञानसे होता है और वह ज्ञानको नष्ट कर देता है। शरीरादि अनात्म-पदार्थोंमें अहं-बुद्धि भी अज्ञानसे ही होती है॥ ३७॥ इस मिथ्या अहंकारके कारण ही पुत्र, स्त्री आदिका सम्बन्ध होता है और इन सम्बन्धोंमें आस्था होनेसे ही, जन्म-मरणरूप संसार तथा

अज्ञानप्रभवा ह्येते जन्ममृत्युजरादयः ।
आत्मा तु केवलं शुद्धो व्यतिरिक्तो ह्यलेपकः ॥ ३९ ॥

आनन्दरूपो ज्ञानात्मा सर्वभावविवर्जितः ।
न संयोगो वियोगो वा विद्यते केनचित्सतः ॥ ४० ॥

एवं ज्ञात्वा स्वमात्मानं त्यज शोकमनिन्दिते ।
इदानीमेव गच्छामि हत्वा रामं सलक्ष्मणम् ॥ ४१ ॥

आगमिष्यामि नोचेन्मां दारयिष्यति सायकैः ।
श्रीरामो वज्रकल्पैश्च ततो गच्छामि तत्पदम् ॥ ४२ ॥

तदा त्वया मे कर्तव्या क्रिया मच्छासनात्प्रिये ।
सीतां हत्वा मया सार्धं त्वं प्रवेक्ष्यसि पावकम् ॥ ४३ ॥

एवं श्रुत्वा वचस्तस्य रावणस्यातिदुःखिता ।
उवाच नाथ मे वाक्यं शृणु सत्यं तथा कुरु ॥ ४४ ॥

शक्यो न राघवो जेतुं त्वया चान्यैः कदाचन ।
रामो देववरः साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ ४५ ॥

मत्स्यो भूत्वा पुरा कल्पे मनुं वैवस्वतं प्रभुः ।
ररक्ष सकलापद्भ्यो राघवो भक्तवत्सलः ॥ ४६ ॥

रामः कूर्मोऽभवत्पूर्वं लक्षयोजनविस्तृतः ।
समुद्रमथने पृष्ठे दधार कनकाचलम् ॥ ४७ ॥

हिरण्याक्षोऽतिदुर्वृत्तो हतोऽनेन महात्मना ।
क्रोडरूपेण वपुषा क्षोणीमुद्धरता क्वचित् ॥ ४८ ॥

त्रिलोककण्टकं दैत्यं हिरण्यकशिपुं पुरा ।
हतवान्नारसिंहेन वपुषा रघुनन्दनः ॥ ४९ ॥

विक्रमैस्त्रिभिरेवासौ बलिं बद्ध्वा जगत्त्रयम् ।
आक्रम्यादात्सुरेन्द्राय भृत्याय रघुसत्तमः ॥ ५० ॥

राक्षसाः क्षत्रियाकारा जाता भूमेर्भरावहाः ।
तान्हत्वा बहुशो रामो भुवं जित्वा ह्यदान्मुनेः ॥ ५१ ॥

स एव साम्प्रतं जातो रघुवंशे परात्परः ।
भवदर्थे रघुश्रेष्ठो मानुषत्वमुपागतः ॥ ५२ ॥

हर्ष, शोक, भय, क्रोध, लोभ, मोह और स्पृहा आदि होते हैं ॥ ३८ ॥ ये जन्म, मृत्यु और जरा आदि अवस्थाएँ अज्ञानजन्य ही हैं। आत्मा तो एकमात्र, शुद्ध, सबसे पृथक् और असंग है ॥ ३९ ॥ वह आनन्दस्वरूप, ज्ञानमय और समस्त भावोंसे रहित है। उस सत्यस्वरूपका कभी किसीसे संयोग-वियोग नहीं होता ॥ ४० ॥ हे अनिन्दिते ! अपने आत्माका ऐसा स्वरूप जानकर तुम शोक छोड़ दो; मैं अभी जाता हूँ, और या तो लक्ष्मणसहित रामको मारकर ही आऊँगा या श्रीराम ही अपने वज्रसदृश बाणोंसे मुझे छिन्न-भिन्न कर देंगे। तब मैं उनके पदको प्राप्त होऊँगा ॥ ४१-४२ ॥ हे प्रिये ! मेरी आज्ञासे तब तुम मेरे लिये एक काम करना; तुम सीताको मारकर मेरे [शवके] साथ अग्निमें प्रवेश कर जाना" ॥ ४३ ॥

रावणके ये वचन सुनकर मन्दोदरीने अति दुःखित होकर कहा—"प्रभो ! मैं आपसे ठीक-ठीक बात कहती हूँ, आप उसे सुनकर वैसा ही कीजिये ॥ ४४ ॥ राम तुमसे अथवा और भी किसीसे कभी नहीं जीते जा सकते। देवाधिदेव भगवान् राम साक्षात् प्रकृति और पुरुषके नियामक हैं ॥ ४५ ॥ भक्तवत्सल रघुनाथजीने ही कल्पके आरम्भमें मत्स्यरूप होकर वैवस्वतमनुकी समस्त आपत्तियोंसे रक्षा की थी ॥ ४६ ॥ भगवान् राम ही पूर्वकालमें एक लक्ष्य योजन विस्तारवाले कच्छप हुए थे और समुद्र-मन्थनके समय इन्हींने अपनी पीठपर सुमेरु पर्वतको धारण किया था ॥ ४७ ॥ किसी समय वराहरूप धारण कर पृथ्वीका उद्धार करते समय इन्हीं महात्माने महादुराचारी हिरण्याक्ष दैत्यको मारा था ॥ ४८ ॥ इन रघुनन्दनने ही नृसिंह-शरीरसे त्रिलोकीके कण्टकरूप हिरण्यकशिपु दैत्यको मारा था ॥ ४९ ॥ और इन्हीं रघुश्रेष्ठने (वामन-अवतारमें) बलिको बाँधकर सम्पूर्ण त्रिलोकीको तीन ही पगोंसे मापकर अपने सेवक इन्द्रको दे दिया था ॥ ५० ॥ जिस समय राक्षसगण क्षत्रियरूपसे उत्पन्न होकर पृथ्वीके भाररूप हुए तब इन्हींने परशुरामरूपसे उन्हें कई बार संग्राममें मारा और पृथ्वीको जीतकर उसे कश्यपमुनिको दे दिया ॥ ५१ ॥ इस समय वे ही परात्पर प्रभु रघुवंशमें रामरूपसे अवतीर्ण होकर आपके लिये मनुष्यरूप हुए हैं ॥ ५२ ॥

तस्य भार्या किमर्थं वा हृता सीता वनाद्बलात् ।
मम पुत्रविनाशार्थं स्वस्यापि निधनाय च ॥ ५३ ॥

इतः परं वा वैदेहीं प्रेषयस्व रघूत्तमे ।
विभीषणाय राज्यं तु दत्त्वा गच्छामहे वनम् ॥ ५४ ॥

मन्दोदरीवचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
कथं भद्रे रणे पुत्रान् भ्रातॄन् राक्षसमण्डलम् ॥ ५५ ॥

घातयित्वा राघवेण जीवामि वनगोचरः ।
रामेण सह योत्स्यामि रामबाणैः सुशीघ्रगैः ॥ ५६ ॥

विदार्यमाणो यास्यामि तद्विष्णोः परमं पदम् ।
जानामि राघवं विष्णुं लक्ष्मीं जानामि जानकीम् ।
ज्ञात्वैव जानकी सीता मयानीता वनाद्बलात् ॥ ५७ ॥

रामेण निधनं प्राप्य यास्यामीति परं पदम् ।
विमुच्य त्वां तु संसाराद्गमिष्यामि सह प्रिये ॥ ५८ ॥

परानन्दमयी शुद्धा सेव्यते या मुमुक्षुभिः ।
तां गतिं तु गमिष्यामि हतो रामेण संयुगे ॥ ५९ ॥

प्रक्षाल्य कल्मषाणीह मुक्तिं यास्यामि दुर्लभाम् ॥ ६० ॥

क्लेशादिपञ्चकतरङ्गयुतं भ्रमाढ्यं
दारात्मजाप्तधनबन्धुझषाभियुक्तम् ।
और्वानलाभनिजरोषमनङ्गजालं
संसारसागरमतीत्य हरिं व्रजामि ॥ ६१ ॥

आपने उनकी स्त्री सीताको मेरे पुत्रके नाशके लिये और अपनी भी मौत बुलानेके लिये भला, बलात् तपोवनसे क्यों चुरा लिया ? ॥ ५३ ॥ आप अब भी जानकीको रघुनाथजीके पास भेज दीजिये; फिर विभीषणको राज्य देकर हम वनको चलेंगे'' ॥ ५४ ॥

मन्दोदरीके वचन सुनकर रावण बोला—''अयि भद्रे ! युद्धमें रघुनाथजीसे अपने पुत्र, भ्राता और राक्षस-समूहका नाश कराकर भला मैं वनवासी होकर कैसे जीवन काट सकता हूँ ? अब तो मैं भी रामके साथ युद्ध करूँगा और उनके शीघ्रगामी बाणोंसे विद्ध होकर उन विष्णुभगवान्‌के परमधामको ज़ाऊँगा । मैं रामको साक्षात् विष्णु और जानकीको भगवती लक्ष्मी जानता हूँ। और यह जानकर ही कि 'रामके हाथसे मरकर उनका परम-पद प्राप्त करूँगा' मैं जनकनन्दिनी सीताको बलात् तपोवनसे ले आया था। हे प्रिये ! अब मैं तुम्हें छोड़कर अपने अन्यान्य राक्षस-वीरोंके साथ संसारसे कूच करूँगा ॥ ५५—५८ ॥ और मुमुक्षुगण जिस परमानन्दमयी विशुद्ध गतिका सेवन करते हैं, संग्राममें भगवान् रामके हाथसे मरकर मैं उसी गतिको प्राप्त करूँगा ॥ ५९ ॥ इस प्रकार अपने समस्त पाप-पुञ्जका प्रक्षालन कर मैं दुर्लभ मोक्ष-पद प्राप्त करूँगा ॥ ६० ॥ जिसमें (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक) पाँच क्लेश ही तरंगें हैं, भ्रम ही भँवरें हैं, स्त्री, पुत्र, स्वजन, विभव और बन्धु आदि मत्स्य हैं, अपना क्रोध ही बड़वानल है तथा जिसके भीतर कामरूपी जाल फैला हुआ है, उस संसार-सागरको पार कर अब मैं श्रीहरिके निकट जाऊँगा'' ॥ ६१ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

एकादश सर्ग

राम-रावण-संग्राम और रावणका वध

श्रीमहादेव उवाच

इत्युक्त्वा वचनं प्रेम्णा राज्ञीं मन्दोदरीं तदा ।
रावणः प्रययौ योद्धुं रामेण सह संयुगे ॥ १ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! महारानी मन्दोदरीको प्रेमपूर्वक इस प्रकार समझा-बुझाकर रावण श्रीरामचन्द्रजीके साथ युद्ध करनेके लिये रणभूमिको

दृढं स्यन्दनमास्थाय वृतो घोरैर्निशाचरैः ।
चक्रैः षोडशभिर्युक्तं सवरूथं सकूबरम् ॥ २ ॥

पिशाचवदनैर्घोरैः खरैर्युक्तं भयावहम् ।
सर्वास्त्रशस्त्रसहितं सर्वोपस्करसंयुतम् ॥ ३ ॥

निश्चक्रामाथ सहसा रावणो भीषणाकृतिः ।
आयान्तं रावणं दृष्ट्वा भीषणं रणकर्कशम् ॥ ४ ॥

सन्त्रस्ताभूत्तदा सेना वानरी रामपालिता ॥ ५ ॥

हनूमानथ चोत्प्लुत्य रावणं योद्धुमाययौ ।
आगत्य हनुमान् रक्षोवक्षस्यतुलविक्रमः ॥ ६ ॥

मुष्टिबन्धं दृढं बद्ध्वा ताडयामास वेगतः ।
तेन मुष्टिप्रहारेण जानुभ्यामपतद्रथे ॥ ७ ॥

मूर्च्छितोऽथ मुहूर्तेन रावणः पुनरुत्थितः ।
उवाच च हनूमन्तं शूरोऽसि मम सम्मतः ॥ ८ ॥

हनूमानाह तं धिङ्मां यस्त्वं जीवसि रावण ।
त्वं तावन्मुष्टिना वक्षो मम ताडय रावण ॥ ९ ॥

पश्चान्मया हतः प्राणान्मोक्ष्यसे नात्र संशयः ।
तथेति मुष्टिना वक्षो रावणेनापि ताडितः ॥ १० ॥

विघूर्णमाननयनः किञ्चित्कश्मलमाययौ ।
संज्ञामवाप्य कपिराड् रावणं हन्तुमुद्यतः ॥ ११ ॥

ततोऽन्यत्र गतो भीत्या रावणो राक्षसाधिपः ।
हनूमानङ्गदश्चैव नलो नीलस्तथैव च ॥ १२ ॥

चत्वारः समवेत्याग्रे दृष्ट्वा राक्षसपुङ्गवान् ।
अग्निवर्णं तथा सर्परोमाणं खड्गरोमकम् ॥ १३ ॥

तथा वृश्चिकरोमाणं निर्जघ्नुः क्रमशोऽसुरान् ।
चत्वारश्चतुरो हत्वा राक्षसान् भीमविक्रमान् ।
सिंहनादं पृथक् कृत्वा रामपार्श्वमुपागताः ॥ १४ ॥

चला ॥ १ ॥ वह महाभयंकर राक्षसोंसे घिरकर एक सुदृढ़ रथपर सवार हुआ। उस रथमें सोलह पहिये तथा वरूथ[1] और कूबर[2] लगे हुए थे ॥ २ ॥ वह पिशाचके समान मुखवाले गधोंके जुते रहनेसे अति भयानक जान पड़ता था तथा सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित एवं समस्त युद्ध-सामग्रीसे सम्पन्न था ॥ ३ ॥ इस प्रकार महाभयंकर राक्षसराज रावण लङ्कापुरीसे निकला।

युद्धमें अत्यन्त निष्ठुर भीषणाकार रावणको आता देख भगवान्--रामसे सुरक्षित वानर-सेना भयभीत हो गयी ॥ ४-५ ॥ तब हनुमान्‌जी रावणसे युद्ध करनेके लिये उछलकर सामने आये। वहाँ आते ही अतुलित पराक्रमी पवनकुमारने कसकर मुट्ठी बाँधी और बड़े वेगसे उस राक्षसकी छातीमें प्रहार किया। उस घूँसेके लगते ही वह रथमें घुटनोंके बल गिर गया ॥ ६-७ ॥ एक मुहूर्त मूर्च्छित रहनेके अनन्तर रावणको फिर चेत हुआ। तब उसने हनुमान्‌जीसे कहा—"मैं मानता हूँ, तू वास्तवमें बड़ा शूरवीर है" ॥ ८ ॥

हनुमान्‌जीने कहा—"अरे रावण ! मुझे धिक्कार है कि (मेरा घूँसा खाकर भी) तू जीता रह गया। अच्छा, अब तू मेरी छातीमें घूँसा मार ॥ ९ ॥ फिर मेरा घूँसा लगनेपर तू प्राण छोड़ देगा, इसमें सन्देह नहीं।" तब रावणने 'अच्छा' ऐसा कहकर उनकी छातीमें घूँसा मारा ॥ १० ॥ उसके लगनेसे उनके नेत्र घूमने लगे और वे कुछ तिलमिला उठे। फिर चेत होनेपर कपिराज हनुमान्‌जी रावणको मारनेके लिये तैयार हुए ॥ ११ ॥ तब राक्षसराज रावण भयभीत होकर कहीं अन्यत्र चला गया। हनुमान्, अङ्गद, नल और नील इन—चारोंने एकत्र होकर अपने सामने अग्निवर्ण, सर्परोमा, खड्गरोमा और वृश्चिकरोमा नामक चार राक्षसोंको खड़े देखा। तब उन चारोंने क्रमशः इन चारों महापराक्रमी राक्षसोंको मार डाला और फिर पृथक्-पृथक् गरजते हुए श्रीरघुनाथजीके पास आ खड़े हुए ॥ १२—१४ ॥

१—रथकी रक्षाके लिये बना हुआ लोहे आदिका आवरण। २—रथका वह भाग जिसपर जूआ बाँधा जाता है।

ततः क्रुद्धो दशग्रीवः सन्दश्य दशनच्छदम् ॥ १५ ॥

विवृत्य नयने क्रूरो राममेवान्वधावत ।
दशग्रीवो रथस्थस्तु रामं वज्रोपमैः शरैः ॥ १६ ॥

आजघान महाघोरैर्धाराभिरिव तोयदः ।
रामस्य पुरतः सर्वान्वानरानपि विव्यथे ॥ १७ ॥

ततः पावकसङ्काशैः शरैः काञ्चनभूषणैः ।
अभ्यवर्षद्रणे रामो दशग्रीवं समाहितः ॥ १८ ॥

रथस्थं रावणं दृष्ट्वा भूमिष्ठं रघुनन्दनम् ।
आहूय मातलिं शक्रो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

रथेन मम भूमिष्ठं शीघ्रं याहि रघूत्तमम् ।
त्वरितं भूतलं गत्वा कुरु कार्यं ममानघ ॥ २० ॥

एवमुक्तोऽथ तं नत्वा मातलिर्देवसारथिः ।
ततो हयैश्च संयोज्य हरितैः स्यन्दनोत्तमम् ॥ २१ ॥

स्वर्गाज्जयार्थं रामस्य ह्युपचक्राम मातलिः ।
प्राञ्जलिर्देवराजेन प्रेषितोऽस्मि रघूत्तम ॥ २२ ॥

रथोऽयं देवराजस्य विजयाय तव प्रभो ।
प्रेषितश्च महाराज धनुरैन्द्रं च भूषितम् ॥ २३ ॥

अभेद्यं कवचं खड्गं दिव्यतूणीयुगं तथा ।
आरुह्य च रथं राम रावणं जहि राक्षसम् ॥ २४ ॥

मया सारथिना देव वृत्रं देवपतिर्यथा ।
इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य रथोत्तमम् ॥ २५ ॥

आरुरोह रथं रामो लोकाँल्लक्ष्म्या नियोजयन् ।
ततोऽभवन्महायुद्धं भैरवं रोमहर्षणम् ॥ २६ ॥

महात्मनो राघवस्य रावणस्य च धीमतः ।
आग्नेयेन च आग्नेयं दैवं दैवेन राघवः ॥ २७ ॥

अस्त्रं राक्षसराजस्य जघान परमास्त्रवित् ।
ततस्तु ससृजे घोरं राक्षसं चास्त्रमस्त्रवित् ।
क्रोधेन महताविष्टो रामस्योपरि रावणः ॥ २८ ॥

तदनन्तर अत्यन्त क्रूर दशग्रीव (रावण) क्रुद्ध होकर दाँतोंसे ओठ चबाता हुआ आँखें फाड़कर श्रीरामचन्द्रजीकी ओर ही दौड़ा। रावण रथमें चढ़ा हुआ था (और श्रीरघुनाथजी रथहीन थे, तो भी) वह, मेघ जिस प्रकार जलकी धाराएँ बरसाता है वैसे ही महाभयंकर वज्र-सदृश बाणोंसे श्रीरामचन्द्रजीपर प्रहार करने लगा और भगवान् रामके सामने ही उसने समस्त वानरोंको भी व्यथित कर दिया ॥ १५—१७ ॥ तब श्रीरामचन्द्रजी भी सावधान होकर रणभूमिमें रावणपर अग्निके समान तेजस्वी सुवर्ण-भूषित बाणोंकी वर्षा करने लगे। इन्द्रने जब देखा कि रावण रथपर चढ़ा हुआ है और श्रीरघुनाथजी पृथिवीपर ही खड़े हैं तो उसने अपने सारथि मातलिको बुलाकर कहा— ॥ १८-१९ ॥ "हे अनघ! देखो रघुनाथजी पृथिवीपर खड़े हैं, तुम तुरंत मेरा रथ लेकर भूर्लोकमें उनके पास जाओ और मेरा कार्य करो" ॥ २० ॥

इन्द्रकी यह आज्ञा पाकर देवसारथि मातलिने उन्हें नमस्कार किया और उनके उत्तम रथमें हरे रंगके घोड़े जोतकर भगवान् रामकी विजयके लिये स्वर्गसे चलकर उनके पास उपस्थित हुआ तथा उनसे हाथ जोड़कर बोला—"हे रघुश्रेष्ठ! मुझे देवराज इन्द्रने भेजा है ॥ २१-२२ ॥ हे प्रभो! यह रथ इन्द्रका ही है, इसे उन्होंने आपकी विजयके लिये भेजा है। हे महाराज! इसके साथ ही यह अति शोभायमान ऐन्द्र धनुष, अभेद्य कवच, खड्ग और दो दिव्य तूणीर भी भेजे हैं। हे राम! मुझ सारथिके साथ, इन्द्रने जिस प्रकार वृत्रासुरका वध किया था उसी प्रकार हे देव! आप इस रथपर आरूढ़ होकर राक्षस रावणका वध कीजिये।"

मातलिके इस प्रकार कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उस रथकी परिक्रमा कर उसे नमस्कार किया ॥ २३—२५ ॥ और सम्पूर्ण लोकोंको श्रीसम्पन्न करते हुए उसपर आरूढ़ हुए। फिर महात्मा राम और बुद्धिमान् रावणका महाभयानक और रोमाञ्चकारी घोर युद्ध होने लगा। अस्त्र-विद्यामें परम कुशल श्रीरामचन्द्रजीने रावणके आग्नेयास्त्रको आग्नेयास्त्रसे और दैवास्त्रको दैवास्त्रसे काट डाला। तब अस्त्रविद्याविशारद रावणने अत्यन्त क्रोधाविष्ट हो श्रीरामचन्द्रजीपर महाभयंकर राक्षसास्त्र छोड़ा ॥ २६—२८ ॥

रावणस्य धनुर्मुक्ताः सर्पा भूत्वा महाविषाः ।
शराः काञ्चनपुङ्खाभा राघवं परितोऽपतन् ॥ २९ ॥

तैः शरैः सर्पवदनैर्वमद्भिरनलं मुखैः ।
दिशश्च विदिशश्चैव व्याप्तास्तत्र तदाभवन् ॥ ३० ॥

रामः सर्पांस्ततो दृष्ट्वा समन्तात्परिपूरितान् ।
सौपर्णमस्त्रं तद्घोरं पुरः प्रावर्तयद्रणे ॥ ३१ ॥

रामेण मुक्तास्ते बाणा भूत्वा गरुडरूपिणः ।
चिच्छिदुः सर्पबाणांस्तान्समन्तात्सर्पशत्रवः ॥ ३२ ॥

अस्त्रे प्रतिहते युद्धे रामेण दशकन्धरः ।
अभ्यवर्षत्ततो रामं घोराभिः शरवृष्टिभिः ॥ ३३ ॥

ततः पुनः शरानीकै राममक्लिष्टकारिणम् ।
अर्दयित्वा तु घोरेण मातलिं प्रत्यविध्यत ॥ ३४ ॥

पातयित्वा रथोपस्थे रथकेतुं च काञ्चनम् ।
ऐन्द्रानश्वानभ्यहनद्रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ३५ ॥

विषेदुर्देवगन्धर्वाश्चारणाः पितरस्तथा ।
आर्त्ताकारं हरिं दृष्ट्वा व्यथिताश्च महर्षयः ॥ ३६ ॥

व्यथिता वानरेन्द्राश्च बभूवुः सविभीषणाः ।
दशास्यो विंशतिभुजः प्रगृहीतशरासनः ॥ ३७ ॥

ददृशे रावणस्तत्र मैनाक इव पर्वतः ।
रामस्तु भ्रुकुटिं बद्ध्वा क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ ३८ ॥

कोपं चकार सदृशं निर्दहन्निव राक्षसम् ।
धनुरादाय देवेन्द्रधनुराकारमद्भुतम् ॥ ३९ ॥

गृहीत्वा पाणिना बाणं कालानलसमप्रभम् ।
निर्दहन्निव चक्षुर्भ्यां ददृशे रिपुमन्तिके ॥ ४० ॥

पराक्रमं दर्शयितुं तेजसा प्रज्वलन्निव ।
प्रचक्रमे कालरूपी सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ४१ ॥

विकृष्य चापं रामस्तु रावणं प्रतिविध्य च ।
हर्षयन्वानरानीकं कालान्तक इवाबभौ ॥ ४२ ॥

क्रुद्धं रामस्य वदनं दृष्ट्वा शत्रुं प्रधावतः ।
तत्रसुः सर्वभूतानि चचाल च वसुन्धरा ॥ ४३ ॥

रावणके धनुषसे छूटे हुए बाण, जो सुवर्णमय पंखसे भासमान हो रहे थे, महाविषधर सर्प होकर श्रीरघुनाथजीके चारों ओर गिरने लगे ॥ २९ ॥ जिनके मुखसे अग्निकी लपटें निकल रही थीं, रावणके उन सर्पमुख बाणोंसे उस समय सम्पूर्ण दिशा-विदिशाएँ व्याप्त हो गयीं ॥ ३० ॥ रामने जब रणभूमिमें सब ओर सर्पोंको व्याप्त देखा तो महाभयंकर गारुडास्त्र छोड़ा ॥ ३१ ॥ श्रीरामचन्द्रजीके छोड़े हुए वे बाण सर्पोंके शत्रु गरुड होकर जहाँ-तहाँ सर्परूप बाणोंको काटने लगे ॥ ३२ ॥ इस प्रकार भगवान् रामद्वारा अपने शस्त्रको नष्ट हुआ देख रावणने उनके ऊपर भयंकर बाण-वर्षा की ॥ ३३ ॥ और फिर लीला-विहारी भगवान् रामको अति तीव्र बाणावलीसे पीड़ित कर मातलिको वेध डाला ॥ ३४ ॥ (इतना ही नहीं) क्रोधसे उन्मत्त हुए रावणने रथकी सुवर्णमयी ध्वजा काटकर उसके पृष्ठभागपर गिरा दी और इन्द्रके घोड़ोंको भी हताहत कर दिया ॥ ३५ ॥

भगवान्‌को इस आपत्तिमें देखकर देवता, गन्धर्व, चारण और पितर आदि विषादग्रस्त हो गये तथा महर्षिगण मन-ही-मन दुःख मानने लगे ॥ ३६ ॥ विभीषणके सहित समस्त वानर-यूथपतिगण अति चिन्तित हुए। उस समय हाथमें धनुष-बाण लिये दस मुख और बीस भुजाओंवाला रावण मैनाक पर्वतके समान दीख पड़ता था। भगवान् रामके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये, उनकी त्यौरी चढ़ गयी और उस राक्षसको मानो जला डालेंगे ऐसा क्रोध करते हुए उन्होंने इन्द्र-धनुषके समान एक विचित्र धनुष उठाया तथा हाथमें एक कालाग्निके समान तेजोमय बाण लेकर अपने नेत्रोंसे समीपवर्ती शत्रुकी ओर इस प्रकार निहारा मानो भस्म कर देंगे ॥ ३७—४० ॥ कालरूपी भगवान् रामने अपने तेजसे प्रज्वलित-से हो सम्पूर्ण लोकोंके सामने अपना पराक्रम दिखाना आरम्भ किया ॥ ४१ ॥ उन्होंने अपना धनुष खींचकर रावणको बींध डाला। और वे सम्पूर्ण वानर-सेनाको आनन्दित करते हुए लोकान्तकारी कालके समान सुशोभित होने लगे ॥ ४२ ॥

शत्रुपर धावा करते हुए भगवान् रामका क्रोधयुक्त मुख देखकर समस्त प्राणी भयभीत हो गये और पृथिवी

रामं दृष्ट्वा महारौद्रमुत्पातांश्च सुदारुणान् ।
त्रस्तानि सर्वभूतानि रावणं चाविशद्भयम् ॥ ४४ ॥

विमानस्थाः सुरगणाः सिद्धगन्धर्वकिन्नराः ।
ददृशुः सुमहायुद्धं लोकसंवर्तकोपमम् ।
ऐन्द्रमस्त्रं समादाय रावणस्य शिरोऽच्छिनत् ॥ ४५ ॥

मूर्धानो रावणस्याथ बहवो रुधिरोक्षिताः ।
गगनात्प्रपतन्ति स्म तालादिव फलानि हि ॥ ४६ ॥

न दिनं न च वै रात्रिर्न सन्ध्या न दिशोऽपि वा ।
प्रकाशन्ते न तद्रूपं दृश्यते तत्र सङ्गरे ॥ ४७ ॥

ततो रामो बभूवाथ विस्मयाविष्टमानसः ।
शतमेकोत्तरं छिन्नं शिरसां चैकवर्चसाम् ॥ ४८ ॥

न चैव रावणः शान्तो दृश्यते जीवितक्षयात् ।
ततः सर्वास्त्रविद्धीरः कौसल्यानन्दवर्धनः ॥ ४९ ॥

अस्त्रैश्च बहुभिर्युक्तश्चिन्तयामास राघवः ।
यैर्यैर्बाणैर्हता दैत्या महासत्त्वपराक्रमाः ॥ ५० ॥

त एते निष्फलं याता रावणस्य निपातने ।
इति चिन्ताकुले रामे समीपस्थो विभीषणः ॥ ५१ ॥

उवाच राघवं वाक्यं ब्रह्मदत्तवरो ह्यसौ ।
विच्छिन्ना बाहवोऽप्यस्य विच्छिन्नानि शिरांसि च ॥ ५२ ॥

उत्पत्स्यन्ति पुनः शीघ्रमित्याह भगवानजः ।
नाभिदेशेऽमृतं तस्य कुण्डलाकारसंस्थितम् ॥ ५३ ॥

तच्छोषयानलास्त्रेण तस्य मृत्युस्ततो भवेत् ।
विभीषणवचः श्रुत्वा रामः शीघ्रपराक्रमः ॥ ५४ ॥

पावकास्त्रेण संयोज्य नाभिं विव्याध रक्षसः ।
अनन्तरं च चिच्छेद शिरांसि च महाबलः ॥ ५५ ॥

बाहूनपि च संरब्धो रावणस्य रघूत्तमः ।
ततो घोरां महाशक्तिमादाय दशकन्धरः ॥ ५६ ॥

विभीषणवधार्थाय चिक्षेप क्रोधविह्वलः ।
चिच्छेद राघवो बाणैस्तां शितैर्हेमभूषितैः ॥ ५७ ॥

डगमगाने लगी ॥ ४३ ॥ रामको अति रौद्ररूप और इन दारुण उत्पातोंको देखकर समस्त जीवोंमें त्रास छा गया और रावणके अन्तःकरणमें भी आतंक समा गया ॥ ४४ ॥ उस समय देवता, सिद्ध, गन्धर्व और किन्नरगण विमानोंपर चढ़े हुए संसारके महाप्रलयके समान इस घोर युद्धको देख रहे थे। इसी बीचमें श्रीरामचन्द्रजीने ऐन्द्रास्त्र छोड़कर रावणके सिर काट डाले ॥ ४५ ॥ तब रावणके बहुत-से सिर रुधिरसे लथपथ हो आकाश-मण्डलसे इस प्रकार गिरने लगे जैसे ताल-वृक्षसे उसके फल गिरते हैं ॥ ४६ ॥ उस समय दिन, रात, सन्ध्या अथवा दिशाएँ आदि कुछ भी स्पष्ट नहीं जान पड़ती थीं तथा उस संग्राम-भूमिमें रावणका रूप भी दिखायी नहीं देता था (केवल कटे हुए सिर ही दीख पड़ते थे) ॥ ४७ ॥

तब तो श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा ही विस्मय हुआ। (वे सोचने लगे) 'मैंने समान-तेज-सम्पन्न एक सौ एक सिर काटे हैं ॥ ४८ ॥ किन्तु फिर भी रावण प्राणनाशसे शान्त हुआ दिखायी नहीं देता।' तब अनेक अस्त्रोंसे युक्त सर्वास्त्रविशारद धीरवीर कौसल्यानन्दन रघुनाथजीने विचारा—"मैंने जिन-जिन बाणोंसे बड़े-बड़े तेजस्वी और पराक्रमी दैत्योंको मारा था, इस रावणका वध करनेमें वे सभी निष्फल हो गये।"

भगवान् रामको इस प्रकार चिन्ताग्रस्त देख उनके पास खड़े हुए विभीषणने कहा—"भगवन्! ब्रह्माजीने इसे एक वर दिया था। उन्होंने कहा था कि 'इसकी भुजाएँ और सिर बारम्बार काट दिये जानेपर भी फिर तुरंत नये उत्पन्न हो जायँगे।' इसके नाभिदेशमें कुण्डलाकारसे अमृत रखा हुआ है ॥ ४९—५३ ॥ उसे आप आग्नेयास्त्रसे सुखा डालिये, तभी इसकी मृत्यु हो जायगी।" विभीषणके वचन सुनकर शीघ्रपराक्रमी भगवान् रामने अपने धनुषपर आग्नेयास्त्र चढ़ाकर उस राक्षसकी नाभिमें मारा और फिर महाबली रघुनाथजीने क्रोधित होकर उसके सिर और भुजाएँ काट डालीं।

इसपर रावणने अत्यन्त क्रोधातुर हो विभीषणको मारनेके लिये एक महाभयानक शक्ति छोड़ी। किन्तु रघुनाथजीने उसे तुरंत ही सुवर्णमण्डित तीक्ष्ण बाणोंसे काट डाला ॥ ५४—५७ ॥

दशग्रीवशिरश्छेदात्तदा तेजो विनिर्गतम्।
म्लानरूपो बभूवाथ छिन्नैः शीर्षैर्भयङ्करैः ॥ ५८ ॥

एकेन मुख्यशिरसा बाहुभ्यां रावणो बभौ।
रावणस्तु पुनः क्रुद्धो नानाशस्त्रास्त्रवृष्टिभिः ॥ ५९ ॥

ववर्ष रामं तं रामस्तथा बाणैर्ववर्ष च।
ततो युद्धमभूद्घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ ६० ॥

अथ संस्मारयामास मातली राघवं तदा।
विसृजास्त्रं वधायास्य ब्राह्मं शीघ्रं रघूत्तम ॥ ६१ ॥

विनाशकालः प्रथितो यः सुरैः सोऽद्य वर्तते।
उत्तमाङ्गं न चैतस्य छेत्तव्यं राघव त्वया ॥ ६२ ॥

नैव शीर्ष्णि प्रभो वध्यो वध्य एव हि मर्मणि।
ततः संस्मारितो रामस्तेन वाक्येन मातलेः ॥ ६३ ॥

जग्राह स शरं दीप्तं निःश्वसन्तमिवोरगम्।
यस्य पार्श्वे तु पवनः फले भास्करपावकौ ॥ ६४ ॥

शरीरमाकाशमयं गौरवे मेरुमन्दरौ।
पर्वस्वपि च विन्यस्ता लोकपाला महौजसः ॥ ६५ ॥

जाज्वल्यमानं वपुषा भातं भास्करवर्चसा।
तमुग्रमस्त्रं लोकानां भयनाशनमद्भुतम् ॥ ६६ ॥

अभिमन्त्र्य ततो रामस्तं महेषुं महाभुजः।
वेदप्रोक्तेन विधिना सन्दधे कार्मुके बली ॥ ६७ ॥

तस्मिन्सन्धीयमाने तु राघवेण शरोत्तमे।
सर्वभूतानि वित्रेसुश्चचाल च वसुन्धरा ॥ ६८ ॥

स रावणाय सङ्क्रुद्धो भृशमानम्य कार्मुकम्।
चिक्षेप परमायत्तस्तमस्त्रं मर्मघातिनम् ॥ ६९ ॥

स वज्र इव दुर्द्धर्षो वज्रपाणिविसर्जितः।
कृतान्त इव घोरास्यो न्यपतद्रावणोरसि ॥ ७० ॥

स निमग्नो महाघोरः शरीरान्तकरः परः।
बिभेद हृदयं तूर्णं रावणस्य महात्मनः ॥ ७१ ॥

रावणस्याहरत्प्राणान्विवेश धरणीतले।
स शरो रावणं हत्वा रामतूणीरमाविशत् ॥ ७२ ॥

रावणके सिर काटे जानेसे उसका तेज निकल गया और वह उन भयङ्कर सिरोंके कट जानेसे विरूप दिखायी देने लगा ॥ ५८ ॥ अब, रावणके एक मुख्य सिर और दो भुजाएँ रह गयी थीं। किन्तु फिर भी वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर भगवान् रामपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र बरसाने लगा। इसी प्रकार रामने भी उसपर भयंकर बाणवर्षा की। फिर तो वहाँ अत्यन्त रोमाञ्चकारी घमासान युद्ध छिड़ गया ॥ ५९-६० ॥

तब मातलिने श्रीरामचन्द्रजीको स्मरण दिलाया कि "हे रघुश्रेष्ठ ! इसका वध करनेके लिये आप शीघ्र ही ब्रह्मास्त्र छोड़िये ॥ ६१ ॥ देवताओंने इसके नाशका जो समय निश्चित किया है वह इस समय वर्तमान है। हे रघुनन्दन ! आप इसका मस्तक न काटियेगा ॥ ६२ ॥ (क्योंकि) हे प्रभो ! यह सिर काटनेसे नहीं मर सकता, बल्कि (हृदयरूप) मर्मस्थानके विद्ध होनेपर ही इसका अन्त हो सकता है।" मातलिके इन वाक्योंसे स्मरण दिलाये जानेपर भगवान् रामने फुफकारते हुए सर्पके समान एक परम तेजस्वी बाण निकाला। उसके पार्श्वभागमें पवनकी, नोंकपर सूर्य और अग्निकी, गुरुता (भारीपन) में सुमेरु और मन्दराचलकी तथा गाँठोंमें महातेजस्वी लोकपालोंकी स्थापना की गयी थी, एवं उसका स्वरूप आकाशमय था ॥ ६३—६५ ॥ उसका आकार अत्यन्त देदीप्यमान होनेके कारण वह सूर्यके समान प्रकाशमान था। महाबाहु भगवान् रामने सम्पूर्ण लोकोंका भय दूर करनेवाले उस अत्यन्त उग्र और अद्भुत अस्त्रको धनुर्वेदोक्त विधिसे अभिमन्त्रित कर अपने धनुषपर चढ़ाया ॥ ६६-६७ ॥ भगवान् रामद्वारा उस उत्तम बाणके चढ़ाये जानेपर समस्त प्राणी भयभीत हो गये और पृथ्वी काँपने लगी ॥ ६८ ॥ इसी समय उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध हो धनुषको भली प्रकार खींच बड़ी सावधानीसे वह मर्मघातक बाण रावणपर छोड़ दिया ॥ ६९ ॥ वह कालके समान अति भयंकर मुखवाला और वज्रपाणि इन्द्रद्वारा छोड़े हुए वज्रके समान अति असह्य बाण रावणके वक्षःस्थलमें लगा ॥ ७० ॥ वह शरीरान्तकारी महाभयंकर बाण उस महाकाय रावणके शरीरमें घुस गया और उसने तुरंत ही उसका हृदय फाड़ डाला ॥ ७१ ॥ उसने रावणके प्राणोंका अन्त कर दिया और फिर पृथ्वीमें घुस गया। इस प्रकार रावणका वध करनेके उपरान्त वह बाण फिर भगवान् रामके तरकशमें चला आया ॥ ७२ ॥

तस्य हस्तात्पपाताशु सशरं कार्मुकं महत्।
गतासुर्भ्रमिवेगेन राक्षसेन्द्रोऽपतद्भुवि ॥ ७३ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ हतशेषाश्च राक्षसाः।
हतनाथा भयत्रस्ता दुद्रुवुः सर्वतोदिशम् ॥ ७४ ॥

दशग्रीवस्य निधनं विजयं राघवस्य च।
ततो विनेदुः संहृष्टा वानरा जितकाशिनः ॥ ७५ ॥

वदन्तो रामविजयं रावणस्य च तद्वधम्।
अथान्तरिक्षे व्यनदत्सौम्यस्त्रिदशदुन्दुभिः ॥ ७६ ॥

पपात पुष्पवृष्टिश्च समन्ताद्राघवोपरि।
तुष्टुवुर्मुनयः सिद्धाश्चारणाश्च दिवौकसः ॥ ७७ ॥

अथान्तरिक्षे ननृतुः सर्वतोऽप्सरसो मुदा।
रावणस्य च देहोत्थं ज्योतिरादित्यवत्स्फुरत् ॥ ७८ ॥

प्रविवेश रघुश्रेष्ठं देवानां पश्यतां सताम्।
देवा ऊचुरहो भाग्यं रावणस्य महात्मनः ॥ ७९ ॥

वयं तु सात्त्विका देवा विष्णोः कारुण्यभाजनाः।
भयदुःखादिभिर्व्याप्ताः संसारे परिवर्तिनः ॥ ८० ॥

अयं तु राक्षसः क्रूरो ब्रह्महातीव तामसः।
परदाररतो विष्णुद्वेषी तापसहिंसकः ॥ ८१ ॥

पश्यत्सु सर्वभूतेषु राममेव प्रविष्टवान्।
एवं ब्रुवत्सु देवेषु नारदः प्राह सुस्मितः ॥ ८२ ॥

शृणुतात्र सुरा यूयं धर्मतत्त्वविचक्षणाः।
रावणो राघवद्वेषादनिशं हृदि भावयन् ॥ ८३ ॥

भृत्यैः सह सदा रामचरितं द्वेषसंयुतः।
श्रुत्वा रामात्स्वनिधनं भयात्सर्वत्र राघवम् ॥ ८४ ॥

पश्यन्ननुदिनं स्वप्ने राममेवानुपश्यति।
क्रोधोऽपि रावणस्याशु गुरुबोधाधिकोऽभवत् ॥ ८५ ॥

रामेण निहतश्चान्ते निर्धूताशेषकल्मषः।
रामसायुज्यमेवाप रावणो मुक्तबन्धनः ॥ ८६ ॥

बाणके लगते ही रावणका बड़ा भारी धनुष बाणसहित तुरंत उसके हाथसे गिर गया और वह राक्षसराज प्राणरहित हो चक्कर खाकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ७३ ॥ उसे पृथ्वीपर गिरा देख मरनेसे बचे हुए राक्षसगण अनाथ हो जानेसे भयभीत होकर चारों ओर भाग गये ॥ ७४ ॥

तब, विजय-विभूषित वानरगण अति प्रसन्न होकर श्रीरामचन्द्रजीकी जय और रावणकी उस पराजयका बखान करते हुए 'भगवान् रामकी जय और रावणका क्षय' का घोष करने लगे। तथा आकाश-मण्डलमें दिव्य दुन्दुभियोंका गम्भीर नाद होने लगा ॥ ७५-७६ ॥ भगवान् रामपर सब ओरसे फूलोंकी वर्षा होने लगी तथा मुनि, सिद्ध, चारण और देवगण उनकी स्तुति करने लगे ॥ ७७ ॥ फिर आकाशमें सब ओर अप्सराएँ प्रसन्नतापूर्वक नाचने लगीं। (इसी समय) रावणके देहसे एक सूर्यके समान प्रकाशमान ज्योति निकली और वह सब देवताओंके देखते-देखते श्रीरघुनाथजीमें प्रवेश कर गयी। यह देखकर देवगण कहने लगे—"अहो! महात्मा रावणका बड़ा भाग्य है ॥ ७८-७९ ॥ हम देवगण सत्त्वगुणप्रधान हैं और श्रीविष्णुभगवान्‌के कृपापात्र हैं, फिर भी हम भय और दुःखादिसे व्याप्त होकर संसारमें भटका करते हैं ॥ ८० ॥ और यह रावण महाक्रूर राक्षस है, (यही नहीं) यह ब्रह्मघाती, अत्यन्त तमोगुणी, परस्त्रीपरायण, भगवद्-विरोधी और तपस्वियोंको पीड़ित करनेवाला भी है ॥ ८१ ॥ किन्तु देखो, यह सबके देखते-देखते भगवान् राममें ही लीन हो गया।"

देवगणके इस प्रकार कहनेपर नारदजीने मुसकराते हुए कहा— ॥ ८२ ॥ "हे देवगण! तुमलोग धर्मके तत्त्वको भली प्रकार जाननेवाले हो, अतः (इस विषयमें मेरा मत) सुनो। रघुनाथजीसे द्वेष रहनेके कारण रावण अहर्निश अपने सेवकोंसहित द्वेषपूर्वक हृदयमें सदा श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रकी ही भावना रखता था; तथा रामके हाथसे अपना वध सुनकर सर्वत्र रामहीको देखता हुआ स्वप्नमें भी उन्हींको देखता था। इस प्रकार रावणका क्रोध भी उसके लिये गुरुके उपदेशसे कहीं अधिक उपयोगी हुआ ॥ ८३—८५ ॥ अन्तमें स्वयं भगवान् रामके हाथसे मारे जानेके कारण उसके समस्त पाप धुल गये थे। अतः बन्धनहीन हो जानेसे उसने राममें सायुज्य

पापिष्ठो वा दुरात्मा परधनपर-
दारेषु सक्तो यदि स्या-
न्नित्यं स्नेहाद्भयाद्वा रघुकुलतिलकं
भावयन्सम्परेतः ।
भूत्वा शुद्धान्तरङ्गो भवशतजनिता-
नेकदोषैर्विमुक्तः
सद्यो रामस्य विष्णोः सुरवरविनुतं
याति वैकुण्ठमाद्यम् ॥ ८७ ॥

हत्वा युद्धे दशास्यं त्रिभुवनविषमं
वामहस्तेन चापं
भूमौ विष्टभ्य तिष्ठन्नितरकरधृतं
भ्रामयन्बाणमेकम् ।
आरक्तोपान्तनेत्रः शरदलितवपुः
सूर्यकोटिप्रकाशो
वीरश्रीबन्धुराङ्गस्त्रिदशपतिनुतः
पातु मां वीररामः ॥ ८८ ॥

मोक्ष प्राप्त किया। ॥ ८६ ॥ यद्यपि कोई पुरुष (पहलेका) महापापी, दुराचारी तथा परधन और परस्त्रीमें आसक्त भी हो तथापि यदि नित्यप्रति प्रेमसे अथवा भयसे रघुकुल-तिलक भगवान् रामका चिन्तन करता हुआ प्राणत्याग करता है तो वह शुद्ध-चित्त होकर सैकड़ों जन्मके उपार्जित नाना दुःखोंसे छूटकर शीघ्र ही विष्णुस्वरूप भगवान् रामके देवेन्द्रवन्दित आदिस्थान वैकुण्ठलोकको चला जाता है ॥ ८७ ॥ जो त्रिलोकीके कण्टकस्वरूप रावणको युद्धमें मारकर अपने बायें हाथसे धनुषको पृथिवीपर टेके हुए खड़े हैं तथा दूसरे हाथमें एक बाण लेकर उसे घुमा रहे हैं, जिनके नेत्रोंके उपान्तभाग कुछ लाल हो रहे हैं, बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुआ शरीर करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशित हो रहा है और उन्नत देह वीरश्रीसे सुशोभित है, वे देवराज इन्द्रद्वारा वन्दित वीरवर राम मेरी रक्षा करें ॥ ८८ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

द्वादश सर्ग

विभीषणका राज्याभिषेक और सीताजीकी अग्नि-परीक्षा

श्रीमहादेव उवाच

रामो विभीषणं दृष्ट्वा हनूमन्तं तथाङ्गदम्।
लक्ष्मणं कपिराजं च जाम्बवन्तं तथा परान्॥ १ ॥

परितुष्टेन मनसा सर्वानेवाब्रवीद्वचः।
भवतां बाहुवीर्येण निहतो रावणो मया॥ २ ॥

कीर्तिः स्थास्यति वः पुण्या यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
कीर्तयिष्यन्ति भवतां कथां त्रैलोक्यपावनीम्॥ ३ ॥

मयोपेतां कलिहरां यास्यन्ति परमां गतिम्।
एतस्मिन्नन्तरे दृष्ट्वा रावणं पतितं भुवि॥ ४ ॥

मन्दोदरीमुखाः सर्वाः स्त्रियो रावणपालिताः।
पतिता रावणस्याग्रे शोचन्त्यः पर्यदेवयन्॥ ५ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! श्रीरामचन्द्रजीने विभीषण, हनुमान्, अंगद, लक्ष्मण, वानरराज सुग्रीव, जाम्बवान् तथा अन्यान्य वीरोंकी ओर देख सभी लोगोंसे प्रसन्न-चित्तसे कहा—"आपलोगोंके बाहुबलसे आज मैंने रावणको मार दिया॥ १-२ ॥ आप सब लोगोंकी पवित्र कीर्ति जबतक सूर्य और चन्द्र रहेंगे तबतक स्थिर रहेगी और जो लोग मेरेसहित आप सबकी कलि-कल्मष-नाशिनी त्रिलोकपावनी पवित्र कथाका कीर्तन करेंगे वे परमपदको प्राप्त होंगे।"

इसी समय रावणको पृथिवीपर गिरा देख उससे सुरक्षित मन्दोदरी आदि समस्त स्त्रियाँ उसके पास (आकर गिर गयीं तथा शोकसे विलाप करने लगीं॥ ३—५॥

विभीषणः शुशोचार्तः शोकेन महतावृतः ।
पतितो रावणस्याग्रे बहुधा पर्यदेवयत् ॥ ६ ॥

रामस्तु लक्ष्मणं प्राह बोधयस्व विभीषणम् ।
करोतु भ्रातृसंस्कारं किं विलम्बेन मानद ॥ ७ ॥

स्त्रियो मन्दोदरीमुख्याः पतिता विलपन्ति च ।
निवारयतु ताः सर्वा राक्षसी रावणप्रियाः ॥ ८ ॥

एवमुक्तोऽथ रामेण लक्ष्मणोऽगाद्विभीषणम् ।
उवाच मृतकोपान्ते पतितं मृतकोपमम् ॥ ९ ॥

शोकेन महताविष्टं सौमित्रिरिदमब्रवीत् ।
यं शोचसि त्वं दुःखेन कोऽयं तव विभीषण ॥ १० ॥

त्वं वास्य कतमः सृष्टेः पुरेदानीमतः परम् ।
यद्वत्तोयौघपतिताः सिकता यान्ति तद्वशाः ॥ ११ ॥

संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः ।
यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च ॥ १२ ॥

एवं भूतेषु भूतानि प्रेरितानीशमायया ।
त्वं चेमे वयमन्ये च तुल्याः कालवशोद्भवाः ॥ १३ ॥

जन्ममृत्यू यदा यस्मात्तदा तस्माद्भविष्यतः ।
ईश्वरः सर्वभूतानि भूतैः सृजति हन्त्यजः ॥ १४ ॥

आत्मसृष्टैरस्वतन्त्रैर्निरपेक्षोऽपि बालवत् ।
देहेन देहिनो जीवा देहाद्देहोऽभिजायते ॥ १५ ॥

बीजादेव यथा बीजं देहान्य इव शाश्वतः ।
देहिदेहविभागोऽयमविवेककृतः पुरा ॥ १६ ॥

नानात्वं जन्म नाशश्च क्षयो वृद्धिः क्रिया फलम् ।
द्रष्टुराभान्त्यतद्धर्मा यथाग्नेर्दारुविक्रियाः ॥ १७ ॥

विभीषण भी महान् शोकाकुल हो आर्तभावसे चिन्ताग्रस्त हो गये और रावणके पास गिरकर नाना प्रकारसे विलाप करने लगे ॥ ६ ॥ तब श्रीरघुनाथजीने लक्ष्मणजीसे कहा—"हे मानद ! विभीषणको समझाओ कि वह भाईका (और्ध्वदैहिक) संस्कार करे, अब व्यर्थ देरी करनेसे क्या लाभ है ? ॥ ७ ॥ और मन्दोदरी आदि स्त्रियाँ पछाड़ खा-खाकर विलाप कर रही हैं, सो उन रावणकी प्रेयसी राक्षसियोंको (समझाकर) ऐसा करनेसे रोके" ॥ ८ ॥

भगवान् रामके इस प्रकार कहनेपर श्रीलक्ष्मणजी मृतक रावणके समीप मरे हुएके समान पड़े हुए विभीषणके पास आये और उससे कहने लगे ॥ ९ ॥ इस समय विभीषण महान् शोकाकुल थे। उनसे श्रीलक्ष्मणजी इस प्रकार बोले—"विभीषण ! जिसके लिये तुम दुःखी होकर शोक कर रहे हो यह तुम्हारा कौन है ? ॥ १० ॥ तथा तुम भी अपने जन्मसे पूर्व इस समय अथवा इससे आगे इसके क्या हो ? जिस प्रकार जलके प्रवाहमें पड़ी हुई बालू उसके अधीन आती-जाती रहती है, उसी प्रकार देहधारी प्राणी कालके वशीभूत हुए ही संयोग और वियोगको प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार बीजोंसे अन्य बीज उत्पन्न होते और नष्ट भी हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान्‌की मायासे प्रेरित समस्त प्राणी अन्य प्राणियोंसे उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। तुम, हम, ये और अन्य सब भी समानभावसे कालके वशीभूत ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ११—१३ ॥ जन्म और मृत्यु जिस समय जिससे होनेवाले हैं; उस समय उसीके द्वारा हो जायँगे। अजन्मा ईश्वर ही, किसी प्रकारकी इच्छा न रहते हुए भी, बालकके समान (केवल विनोदार्थ) अपने रचे हुए अस्वतन्त्र प्राणियोंसे समस्त प्राणियोंको उत्पन्न करता और नष्ट कर देता है। जीव देह-संयोगके कारण ही देही कहलाता है और देह अन्य (माता-पिताके) देहसे ही उत्पन्न होता है, जैसे कि एक बीजसे दूसरा बीज। सनातन आत्मा तो देहसे पृथक्-सा है। वास्तवमें तो यह देह और देहीका विभाग भी पहलेहीसे अविवेकके ही कारण है ॥ १४—१६ ॥ जिस प्रकार अग्निमें लकड़ीके विकार दिखायी देते हैं उसी प्रकार साक्षी आत्मामें भिन्नता, जन्म, मरण, क्षय, वृद्धि, कर्म और कर्मफल आदि प्रतीत होते हैं, जो वास्तवमें

त इमे देहसंयोगादात्मना भान्त्यसद्ग्रहात् ।
यथा यथा तथा चान्यद्ध्यायतोऽसत्सदाग्रहात् ॥ १८ ॥

प्रसुप्तस्यानहम्भावात्तदा भाति न संसृतिः ।
जीवतोऽपि तथा तद्वद्विमुक्तस्यानहङ्कृतेः ॥ १९ ॥

तस्मान्मायामनोधर्मं जह्यहम्ममताभ्रमम् ।
रामभद्रे भगवति मनो धेह्यात्मनीश्वरे ॥ २० ॥

सर्वभूतात्मनि परे मायामानुषरूपिणि ।
बाह्येन्द्रियार्थसम्बन्धात्त्याजयित्वा मनः शनैः ॥ २१ ॥

तत्र दोषान्दर्शयित्वा रामानन्दे नियोजय ।
देहबुद्ध्या भवेद्भ्राता पिता माता सुहृत्प्रियः ॥ २२ ॥

विलक्षणं यदा देहाज्जानात्यात्मानमात्मना ।
तदा कः कस्य वा बन्धुर्भ्राता माता पिता सुहृत् ॥ २३ ॥

मिथ्याज्ञानवशाज्जाता दारागारादयः सदा ।
शब्दादयश्च विषया विविधाश्चैव सम्पदः ॥ २४ ॥

बलं कोशो भृत्यवर्गो राज्यं भूमिः सुतादयः ।
अज्ञानजत्वात्सर्वे ते क्षणसङ्गमभङ्गुराः ॥ २५ ॥

अथोत्तिष्ठ हृदा रामं भावयन् भक्तिभावितम् ।
अनुवर्तस्व राज्यादि भुञ्जन्प्रारब्धमन्वहम् ॥ २६ ॥

भूतं भविष्यदभजन्वर्तमानमथाचरन् ।
विहरस्व यथान्यायं भवदोषैर्न लिप्यसे ॥ २७ ॥

आज्ञापयति रामस्त्वां यद्भ्रातुः साम्परायिकम् ।
तत्कुरुष्व यथाशास्त्रं रुदतीश्चापि योषितः ॥ २८ ॥

निवारय महाबुद्धे लङ्कां गच्छन्तु मा चिरम् ।
श्रुत्वा यथावद्वचनं लक्ष्मणस्य विभीषणः ॥ २९ ॥

त्यक्त्वा शोकं च मोहं च रामपार्श्वमुपागमत् ।
विमृश्य बुद्ध्या धर्मज्ञो धर्मार्थसहितं वचः ॥ ३० ॥

रामस्यैवानुवृत्त्यर्थमुत्तरं पर्यभाषत ।
नृशंसमनृतं क्रूरं त्यक्तधर्मव्रतं प्रभो ॥ ३१ ॥

उसके धर्म नहीं हैं ॥ १७ ॥ मिथ्या भ्रान्तिके कारण आत्माके साथ देहका संयोग माननेसे जिस प्रकार ये (सब धर्म) (सत्यवत्) भासते हैं वैसे ही सत्य (आत्मा) का निश्चय कर उसीका ध्यान करते रहनेसे ये असत्य प्रतीत होने लगते हैं ॥ १८ ॥ जिस प्रकार गाढ़ निद्रामें सोये हुए पुरुषको अहंकारका अभाव हो जानेसे प्रपञ्चकी प्रतीति नहीं होती उसी प्रकार अहंकारहीन मुक्त पुरुषको जीते हुए ही प्रपञ्चका भान नहीं होता ॥ १९ ॥

"अतः तुम अहंता-ममता एवं भ्रान्तिरूप मायामय-मनोधर्मोंको त्यागो और इन्द्रियोंके बाह्य विषयोंसे अपने मनका सम्बन्ध छुड़ाकर उसे धीरे-धीरे अपने आत्मस्वरूप सर्वभूतान्तर्यामी परमेश्वर माया-मानवरूप भगवान् राममें स्थिर करो ॥ २०-२१ ॥ (चित्तको) बाह्य विषयोंमें दोष दिखाकर उसे रामानन्दमें नियुक्त कर दो; ये माता, पिता, भ्राता, सुहृद् और स्नेहीजन तो देह-बुद्धिसे ही होते हैं ॥ २२ ॥ जिस समय अपने विशुद्ध अन्तःकरणद्वारा मनुष्य आत्माको देहसे पृथक् जान लेता है उस समय कौन किसका माता, पिता, भाई, बन्धु अथवा सुहृद् है ? ॥ २३ ॥ ये स्त्री और गृह आदि, शब्दादि विषय, नाना प्रकारकी सम्पत्ति, बल, कोष, सेवकगण, राज्य, पृथिवी और पुत्रादि तो सदा मिथ्या ज्ञानके कारण ही उत्पन्न हुए हैं और अज्ञानजन्य होनेके कारण वे सब क्षणभङ्गुर हैं ॥ २४-२५ ॥ अतः अब खड़े हो जाओ और हृदयमें भक्तिभावित भगवान् रामका स्मरण करते हुए निरन्तर प्रारब्धभोगोंमें तत्पर हो राज्यादिका पालन करो ॥ २६ ॥ भूत और भविष्यत्की चिन्ता न करते हुए तथा वर्तमानका अनुगमन करते हुए न्यायानुकूल आचरण करो। इससे तुम संसार-दोषसे लिप्त न होगे ॥ २७ ॥ भगवान् राम तुम्हें आज्ञा देते हैं कि अपने भाईका जो कुछ और्ध्वदैहिक कर्म हो वह सब शास्त्रानुसारं करो और हे महाबुद्धे ! इन रोती हुई स्त्रियोंको यहाँसे अलग करो, ये सब लंकापुरीको जायँ इसमें देरी न हो।"

लक्ष्मणजीके यथार्थ वचन सुनकर विभीषण शोक और मोहको छोड़कर भगवान् रामके पास आये। धर्मज्ञ विभीषणने चित्तमें कुछ सोच-विचारकर श्रीरामचन्द्रजीका ही अनुवर्तन करनेके लिये यों धर्मार्थयुक्त उत्तर दिया—"प्रभो ! यह रावण बड़ा दुष्ट, मिथ्यावादी, क्रूर

नार्होऽस्मि देव संस्कर्तुं परदाराभिमर्शिनम्।
श्रुत्वा तद्वचनं प्रीतो रामो वचनमब्रवीत्॥ ३२॥

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥ ३३॥

रामाज्ञां शिरसा धृत्वा शीघ्रमेव विभीषणः।
सान्त्ववाक्यैर्महाबुद्धिं राज्ञीं मन्दोदरीं तदा॥ ३४॥

सान्त्वयामास धर्मात्मा धर्मबुद्धिर्विभीषणः।
त्वरयामास धर्मज्ञः संस्कारार्थं स्वबान्धवान्॥ ३५॥

चित्यां निवेश्य विधिवत्पितृमेधविधानतः।
आहिताग्नेर्यथा कार्यं रावणस्य विभीषणः॥ ३६॥

तथैव सर्वमकरोद्बन्धुभिः सह मन्त्रिभिः।
ददौ च पावकं तस्य विधियुक्तं विभीषणः॥ ३७॥

स्नात्वा चैवार्द्रवस्त्रेण तिलान्दर्भाभिमिश्रितान्।
उदकेन च सम्मिश्रान्प्रदाय विधिपूर्वकम्॥ ३८॥

प्रदाय चोदकं तस्मै मूर्ध्ना चैनं प्रणम्य च।
ताः स्त्रियोऽनुनयामास सान्त्वमुक्त्वा पुनः पुनः॥ ३९॥

गम्यतामिति ताः सर्वा विविशुर्नगरं तदा।
प्रविष्टासु च सर्वासु राक्षसीषु विभीषणः॥ ४०॥

रामपार्श्वमुपागत्य तदातिष्ठद्विनीतवत्।
रामोऽपि सह सैन्येन ससुग्रीवः सलक्ष्मणः॥ ४१॥

हर्षं लेभे रिपून्हत्वा यथा वृत्रं शतक्रतुः।
मातलिश्च तदा रामं परिक्रम्याभिवन्द्य च॥ ४२॥

अनुज्ञातश्च रामेण ययौ स्वर्गं विहायसा।
ततो हृष्टमना रामो लक्ष्मणं चेदमब्रवीत्॥ ४३॥

विभीषणाय मे लङ्काराज्यं दत्तं पुरैव हि।
इदानीमपि गत्वा त्वं लङ्कामध्ये विभीषणम्॥ ४४॥

अभिषेचय विप्रैश्च मन्त्रवद्विधिपूर्वकम्।
इत्युक्तो लक्ष्मणस्तूर्णं जगाम सह वानरैः॥ ४५॥

लङ्कां सुवर्णकलशैः समुद्रजलसंयुतैः।
अभिषेकं शुभं चक्रे राक्षसेन्द्रस्य धीमतः॥ ४६॥

और समस्त धर्मव्रत आदिसे रहित था। हे देव! इस परस्त्रीगामीका संस्कार करनेमें मैं समर्थ नहीं हूँ।" उसके ये वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने प्रसन्न होकर कहा—"भैया! वैर तो मरनेतक ही होता है, सो अब हमारा काम हो चुका; अब तो यह जैसा तुम्हारा है वैसा ही मेरा है। अतः इसका संस्कार करो" ॥ २८—३३॥

तब विभीषणने भगवान् रामकी आज्ञा सिरपर धारणकर तुरंत ही शान्त वचनोंसे महाबुद्धिशालिनी रानी मन्दोदरीको ढाँढस बँधाया और तदनन्तर धर्मबुद्धि धर्मात्मा धर्मज्ञ विभीषणने अपने बन्धु-बान्धवोंसे संस्कारके लिये शीघ्रता करनेको कहा॥ ३४-३५॥ विभीषणने पितृमेधकी विधिसे शवको विधिपूर्वक चितापर रखा और जिस प्रकार अग्निहोत्रीका होना चाहिये उसी प्रकार अपने बन्धु-बान्धवोंके और मन्त्रियोंके साथ मिलकर उन्होंने रावणके सब (अन्त्येष्टि) संस्कार किये। तत्पश्चात् विभीषणने उसे विधिवत् अग्निदान दिया॥ ३६-३७॥ फिर स्नानकर गीले वस्त्रसे तिल और दूब मिले जलसे विधिवत् जलाञ्जलि दी॥ ३८॥ तथा जलाञ्जलि देनेके अनन्तर पृथिवीपर सिर रखकर उसे प्रणाम किया और उन स्त्रियोंको बारम्बार सान्त्वनाके वचन कहकर ढाँढस बँधाया॥ ३९॥ (और कहा कि) 'अब तुम जाओ!' तब वे सब लङ्कापुरीको चली गयीं। समस्त राक्षसियोंके नगरमें चले जानेपर विभीषण भगवान् रामके पास आकर अति विनीतभावसे खड़े हो गये। सेना, सुग्रीव और लक्ष्मणके सहित भगवान् रामको भी शत्रुओंका नाश कर चुकनेपर बड़ा आनन्द हुआ, जैसा कि वृत्रासुरको मारनेके अनन्तर इन्द्रको हुआ था।

तदनन्तर, मातलिने श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की और उन्हें प्रणाम कर उनकी आज्ञा पा आकाश-मार्गसे स्वर्गलोकको चला गया। तब श्रीरघुनाथजीने प्रसन्नचित्तसे श्रीलक्ष्मणजीसे इस प्रकार कहा—॥ ४०—४३॥ "मैंने तो पहले ही विभीषणको लङ्काका राज्य दे दिया है, तथापि तुम इस समय भी लङ्कामें जाकर विभीषणका ब्राह्मणोंके द्वारा मन्त्र-पाठपूर्वक विधिवत् अभिषेक कराओ।" भगवान् रामकी ऐसी आज्ञा पा वानरोंके सहित श्रीलक्ष्मणजी तुरंत ही लङ्कापुरीको गये तथा समुद्रके जलसे भरे हुए सुवर्ण-कलशोंसे महाबुद्धिमान् राक्षसराज विभीषणका मङ्गलमय अभिषेक किया॥ ४४—४६॥

ततः पौरजनैः सार्धं नानोपायनपाणिभिः ।
विभीषणः ससौमित्रिरुपायनपुरस्कृतः ॥ ४७ ॥

दण्डप्रणाममकरोद्रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
रामो विभीषणं दृष्ट्वा प्राप्तराज्यं मुदान्वितः ॥ ४८ ॥

कृतकृत्यमिवात्मानममन्यत सहानुजः ।
सुग्रीवं च समालिङ्ग्य रामो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ४९ ॥

सहायेन त्वया वीर जितो मे रावणो महान् ।
विभीषणोऽपि लङ्कायामभिषिक्तो मयानघ ॥ ५० ॥

ततः प्राह हनूमन्तं पार्श्वस्थं विनयान्वितम् ।
विभीषणस्यानुमतेर्गच्छ त्वं रावणालयम् ॥ ५१ ॥

जानक्यै सर्वमाख्याहि रावणस्य वधादिकम् ।
जानक्याः प्रतिवाक्यं मे शीघ्रमेव निवेदय ॥ ५२ ॥

तब, पुरवासियोंके साथ हाथोंमें नाना प्रकारकी भेंटें लिये लक्ष्मणजीके सहित विभीषणने बहुत-सा उपहार आगे रख लीलाविहारी भगवान् रामको दण्डवत्-प्रणाम किया। विभीषणको राज्य प्राप्त हुआ देख श्रीरामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए और भाई लक्ष्मणके सहित अपनेको कृतकृत्य-सा मानने लगे। तदनन्तर भगवान् रामने सुग्रीवको हृदयसे लगाकर कहा— ॥ ४७—४९ ॥ "हे वीर ! तुम्हारी सहायतासे ही मैंने महाबली रावणको जीता है और हे अनघ ! (उसीसे) विभीषणको भी लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त किया है" ॥ ५० ॥ फिर पास ही बड़े विनीत भावसे खड़े हुए हनुमान्जीसे कहा—"तुम विभीषणकी सम्मतिसे रावणके महलमें जाओ ॥ ५१ ॥ और जानकीजीको रावणके वध आदिका समस्त वृत्तान्त सुनाओ, फिर वह जो कुछ उत्तर दे वह मुझे सुनाना" ॥ ५२ ॥

एवमाज्ञापितो धीमान् रामेण पवनात्मजः ।
प्रविवेश पुरीं लङ्कां पूज्यमानो निशाचरैः ॥ ५३ ॥

प्रविश्य रावणगृहं शिंशपामूलमाश्रिताम् ।
ददर्श जानकीं तत्र कृशां दीनामनिन्दिताम् ॥ ५४ ॥

राक्षसीभिः परिवृतां ध्यायन्तीं राममेव हि ।
विनयावनतो भूत्वा प्रणम्य पवनात्मजः ॥ ५५ ॥

कृताञ्जलिपुटो भूत्वा प्रह्वो भक्त्याग्रतः स्थितः ।
तं दृष्ट्वा जानकी तूष्णीं स्थित्वा पूर्वस्मृतिं ययौ ॥ ५६ ॥

ज्ञात्वा तं रामदूतं सा हर्षात्सौम्यमुखी बभौ ।
स तां सौम्यमुखीं दृष्ट्वा तस्यै पवननन्दनः ।
रामस्य भाषितं सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ५७ ॥

देवि रामः ससुग्रीवो विभीषणसहायवान् ।
कुशली वानराणां च सैन्यैश्च सहलक्ष्मणः ॥ ५८ ॥

रावणं ससुतं हत्वा सबलं सह मन्त्रिभिः ।
त्वामाह कुशलं रामो राज्ये कृत्वा विभीषणम् ॥ ५९ ॥

बुद्धिमान् पवननन्दनने, भगवान् रामकी ऐसी आज्ञा पा राक्षसोंसे पूजित हो, लङ्कापुरीमें प्रवेश किया ॥ ५३ ॥ फिर रावणके महलमें जाकर शिंशपावृक्षके तले बैठी हुई अति दुर्बल और दुःखिनी अनिन्दिता जनकनन्दिनीको देखा ॥ ५४ ॥ वे राक्षसियोंसे घिरी हुई थीं और एकमात्र भगवान् रामका ही ध्यान कर रही थीं। पवनकुमारने अति विनयावनत होकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ५५ ॥ और अत्यन्त नम्रतापूर्वक भक्तिभावसे हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गये। उन्हें देखकर जानकीजी (पहले तो कुछ देर) चुप रहीं, फिर उन्हें पूर्वस्मृति हो आयी ॥ ५६ ॥ और उन्हें रामका दूत जानकर उनका मुख हर्षसे खिल गया। हनुमान्जीने उन्हें प्रसन्नमुखी देख उनसे रामका सारा सन्देश कहना आरम्भ किया ॥ ५७ ॥ (वे बोले—) "देवि ! विभीषण जिनके सहायक हैं वे श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण, सुग्रीव और वानर-सेनाके सहित कुशलपूर्वक हैं ॥ ५८ ॥ उन भगवान् रामने पुत्र, सेना और मन्त्रियोंके सहित रावणको मारकर तथा लङ्काका राज्य विभीषणको देकर तुम्हें अपनी कुशल भेजी है" ॥ ५९ ॥

श्रुत्वा भर्तुः प्रियं वाक्यं हर्षगद्गदया गिरा ।
किं ते प्रियं करोम्यद्य न पश्यामि जगत्त्रये ॥ ६० ॥

पतिका यह प्रिय सन्देश सुन श्रीसीताजी हर्षसे गद्गद वाणीसे बोलीं—"भैया ! मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूँ ?

समं ते प्रियवाक्यस्य रत्नान्याभरणानि च।
एवमुक्तस्तु वैदेह्या प्रत्युवाच प्लवङ्गमः ॥ ६१ ॥

रत्नौघाद्विविधाद्वापि देवराज्याद्विशिष्यते।
हतशत्रुं विजयिनं रामं पश्यामि सुस्थिरम् ॥ ६२ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा मैथिली प्राह मारुतिम्।
सर्वे सौम्या गुणाः सौम्य त्वय्येव परिनिष्ठिताः ॥ ६३ ॥

रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रं मामाज्ञापयतु राघवः।
तथेति तां नमस्कृत्य ययौ द्रष्टुं रघूत्तमम् ॥ ६४ ॥

जानक्या भाषितं सर्वं रामस्याग्रे न्यवेदयत्।
यन्निमित्तोऽयमारम्भः कर्मणां च फलोदयः ॥ ६५ ॥

तां देवीं शोकसन्तप्तां द्रष्टुमर्हसि मैथिलीम्।
एवमुक्तो हनुमता रामो ज्ञानवतां वरः ॥ ६६ ॥

मायासीतां परित्यक्तुं जानकीमनले स्थिताम्।
आदातुं मनसा ध्यात्वा रामः प्राह विभीषणम् ॥ ६७ ॥

गच्छ राजन् जनकजामानयाशु ममान्तिकम्।
स्नातां विरजवस्त्राढ्यां सर्वाभरणभूषिताम् ॥ ६८ ॥

विभीषणोऽपि तच्छ्रुत्वा जगाम सहमारुतिः।
राक्षसीभिः सुवृद्धाभिः स्नापयित्वा तु मैथिलीम् ॥ ६९ ॥

सर्वाभरणसम्पन्नामारोप्य शिबिकोत्तमे।
याष्टीकैर्बहुभिर्गुप्तां कञ्चुकोष्णीषिभिः शुभाम् ॥ ७० ॥

तां द्रष्टुमागताः सर्वे वानरा जनकात्मजाम्।
तान्वारयन्तो बहवः सर्वतो वेत्रपाणयः ॥ ७१ ॥

कोलाहलं प्रकुर्वन्तो रामपार्श्वमुपाययुः।
दृष्ट्वा तां शिबिकारूढां दूरादथ रघूत्तमः ॥ ७२ ॥

विभीषण किमर्थं ते वानरान्वारयन्ति हि।
पश्यन्तु वानराः सर्वे मैथिलीं मातरं यथा ॥ ७३ ॥

तुम्हारे प्रिय वाक्योंके समान मुझे त्रिलोकीमें कोई रत्न-आभूषणादि भी दिखायी नहीं देते। (जिन्हें देकर तुमसे उऋण होऊँ)।'' जानकीजीके इस प्रकार कहनेपर वानरश्रेष्ठ हनुमान्जी बोले ॥ ६०-६१ ॥ ''मातः ! मैं शत्रुके नष्ट होनेपर स्वस्थ-चित्तसे विराजमान विजयशाली श्रीरामका दर्शन करता हूँ—यह मेरे लिये नाना प्रकारकी रत्नराशि और देवराज्यसे भी बढ़कर है'' ॥ ६२ ॥ उनके ये वचन सुनकर मिथिलेशकुमारीने मारुतिसे कहा—''हे सौम्य ! जितने शुभ गुण हैं वे सब तुम्हींमें वर्तमान हैं ॥ ६३ ॥ अब, मैं रघुनाथजीके दर्शन करूँगी, वे शीघ्र ही मुझे भी आज्ञा दें।'' तब हनुमान्जी 'बहुत अच्छा' कह उन्हें प्रणाम कर श्रीरघुनाथजीके दर्शनोंके लिये चल दिये ॥ ६४ ॥

(वहाँ पहुँचकर) हनुमान्जीने श्रीरामचन्द्रजीके आगे जानकीजीका सारा सम्भाषण कह सुनाया (और कहा—) ''भगवन् ! जिनके लिये यह युद्धादि सम्पूर्ण कर्म आरम्भ हुए थे और जो उन समस्त कर्मोंकी फलस्वरूपा हैं, अब उन शोकसन्तप्ता मिथिलेशनन्दिनी देवी जानकीको आप देखिये।'' हनुमान्जीके इस प्रकार कहनेपर ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवान् रामने माया-सीताको त्यागनेके लिये और अग्निस्थिता जानकीको ग्रहण करनेके लिये मनसे विचार करते हुए विभीषणसे कहा— ॥ ६५—६७ ॥ ''राजन् ! तुम जाओ और तुरंत ही जानकीको स्नान करा, शुद्ध निर्मल वस्त्र पहना तथा सम्पूर्ण आभूषणोंसे सुसज्जित कर मेरे पास ले आओ'' ॥ ६८ ॥

यह सुनकर विभीषण हनुमान्जीको साथ ले तुरंत ही चले और शुभलक्षणा जानकीजीको बड़ी-बूढ़ी राक्षसियोंद्वारा स्नान करा, सम्पूर्ण वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होनेपर एक सुन्दर पालकीपर चढ़ाया और फिर उन्हें, जामा-पगड़ी आदिसे बने-ठने बहुत-से छड़ीदारोंसे सुरक्षित कर ले चले ॥ ६९-७० ॥ उस समय सीताजीको देखनेके लिये सब वानर दौड़ आये। उन्हें चारों ओरसे रोकते तथा (हटो-हटो कहकर) बड़ा कोलाहल करते बहुत-से छड़ीदार रामचन्द्रजीके पास ले आये। रघुनाथजीने दूरसे ही सीताजीको पालकीपर चढ़ी देखकर कहा— ॥ ७१-७२ ॥ ''विभीषण ! तुम्हारे ये छड़ीदार वानरोंको क्यों रोकते हैं ? समस्त वानरगण जानकीका

पादचारेण सायातु जानकी मम सन्निधिम्।
श्रुत्वा तद्रामवचनं शिबिकादवरुह्य सा ॥ ७४ ॥

पादचारेण शनकैरागता रामसन्निधिम्।
रामोऽपि दृष्ट्वा तां मायासीतां कार्यार्थनिर्मिताम् ॥ ७५ ॥

अवाच्यवादान्बहुशः प्राह तां रघुनन्दनः।
अमृष्यमाणा सा सीता वचनं राघवोदितम् ॥ ७६ ॥

लक्ष्मणं प्राह मे शीघ्रं प्रज्वालय हुताशनम्।
विश्वासार्थं हि रामस्य लोकानां प्रत्ययाय च ॥ ७७ ॥

राघवस्य मतं ज्ञात्वा लक्ष्मणोऽपि तदैव हि।
महाकाष्ठचयं कृत्वा ज्वालयित्वा हुताशनम् ॥ ७८ ॥

रामपार्श्वमुपागम्य तस्थौ तूष्णीमरिन्दमः।
ततः सीता परिक्रम्य राघवं भक्तिसंयुता ॥ ७९ ॥

पश्यतां सर्वलोकानां देवराक्षसयोषिताम्।
प्रणम्य देवताभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली ॥ ८० ॥

बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपगा।
यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात् ॥ ८१ ॥

तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः।
एवमुक्त्वा तदा सीता परिक्रम्य हुताशनम् ॥ ८२ ॥

विवेश ज्वलनं दीप्तं निर्भयेन हृदा सती ॥ ८३ ॥

दृष्ट्वा ततो भूतगणाः ससिद्धाः
सीतां महावह्निगतां भृशार्ताः।
परस्परं प्राहुरहो स सीतां
रामः श्रियं स्वां कथमत्यजज्ञः ॥ ८४ ॥

माताके समान दर्शन करें ॥ ७३ ॥ और जानकीजी मेरे पास पैदल चलकर आयें।"

रामजीके ये वचन सुन श्रीसीताजी पालकीसे उतर पड़ीं और धीरे-धीरे पैदल ही श्रीरामचन्द्रजीके पास पहुँचीं। भगवान् रामने कार्यवश रची हुई मायासीताको देखकर उनसे बहुत-सी न कहनेयोग्य (उनके चरित्रके विषयमें सन्देहयुक्त) बातें कहीं। श्रीरघुनाथजीद्वारा कहे हुए उन वाक्योंको सहन न कर सकनेके कारण सीताजीने लक्ष्मणजीसे कहा—"भगवान् रामके विश्वासके लिये और लोकोंको निश्चय करानेके लिये तुम शीघ्र ही मेरे लिये अग्नि प्रज्वलित करो" ॥ ७४—७७ ॥ श्रीरघुनाथजीकी भी सम्मति समझकर शत्रुदमन लक्ष्मणजीने उसी समय बड़ा भारी काष्ठसमूह इकट्ठा किया और उसमें अग्नि प्रज्वलित कर चुपचाप रामजीके पास आकर खड़े हो गये। तब सीताजीने भक्तिपूर्वक श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की ॥ ७८-७९ ॥ और फिर श्रीमिथिलेशकुमारीने समस्त लोकों तथा देव और राक्षसोंकी स्त्रियोंके देखते-देखते देवता और ब्राह्मणोंको नमस्कार कर अग्निके पास जा हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—"यदि मेरा हृदय श्रीरघुनाथजीको छोड़कर कभी अन्यत्र नहीं जाता तो समस्त लोकोंके साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें" ऐसा कह सतीशिरोमणि श्रीसीताजी अग्निकी परिक्रमा कर निर्भय चित्तसे उस प्रज्वलित अग्निमें घुस गयीं ॥ ८०—८३ ॥

उस समय सीताजीको महाप्रचण्ड अग्निमें प्रविष्ट हुई देख समस्त सिद्ध और भूतगण अत्यन्त व्याकुल हो गये और आपसमें कहने लगे—"अहो ! सब कुछ जानते हुए भी श्रीरामचन्द्रजीने अपनी लक्ष्मी सीताजीको कैसे छोड़ दिया ?" ॥ ८४ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

त्रयोदश सर्ग

देवताओंका भगवान् रामकी स्तुति करना, सीताजीसहित अग्निदेवका प्रकट होना, अयोध्याके लिये प्रस्थान

श्रीमहादेव उवाच

ततः शक्रः सहस्राक्षो यमश्च वरुणस्तथा ।
कुबेरश्च महातेजाः पिनाकी वृषवाहनः ॥ १ ॥

ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो मुनिभिः सिद्धचारणैः ।
ऋषयः पितरः साध्या गन्धर्वाप्सरसोरगाः ॥ २ ॥

एते चान्ये विमानाग्र्यैराजग्मुर्यत्र राघवः ।
अब्रुवन्परमात्मानं रामं प्राञ्जलयश्च ते ॥ ३ ॥

कर्ता त्वं सर्वलोकानां साक्षी विज्ञानविग्रहः ।
वसूनामष्टमोऽसि त्वं रुद्राणां शङ्करो भवान् ॥ ४ ॥

आदिकर्तासि लोकानां ब्रह्मा त्वं चतुराननः ।
अश्विनौ घ्राणभूतौ ते चक्षुषी चन्द्रभास्करौ ॥ ५ ॥

लोकानामादिरन्तोऽसि नित्य एकः सदोदितः ।
सदा शुद्धः सदा बुद्धः सदा मुक्तोऽगुणोऽद्वयः ॥ ६ ॥

त्वन्मायासंवृतानां त्वं भासि मानुषविग्रहः ।
त्वन्नाम स्मरतां राम सदा भासि चिदात्मकः ॥ ७ ॥

रावणेन हृतं स्थानमस्माकं तेजसा सह ।
त्वयाद्य निहतो दुष्टः पुनः प्राप्तं पदं स्वकम् ॥ ८ ॥

एवं स्तुवत्सु देवेषु ब्रह्मा साक्षात्पितामहः ।
अब्रवीत्प्रणतो भूत्वा रामं सत्यपथे स्थितम् ॥ ९ ॥

ब्रह्मोवाच

वन्दे देवं विष्णुमशेषस्थितिहेतुं
त्वामध्यात्मज्ञानिभिरन्तर्हृदि भाव्यम् ।
हेयाहेयद्वन्द्वविहीनं परमेकं
सत्तामात्रं सर्वहृदिस्थं दृशिरूपम् ॥ १० ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! इसी समय सहस्राक्ष इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, महातेजस्वी वृषभ-वाहन महादेवजी, मुनि, सिद्ध और चारणोंके सहित ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्माजी, पितृगण, ऋषि, साध्य, गन्धर्व, अप्सराएँ और नागगण—ये सब तथा और भी अन्यान्य देवगण श्रेष्ठ विमानोंपर चढ़कर जहाँ श्रीरघुनाथजी थे आये। और वे सब हाथ जोड़कर परमात्मा श्रीरामसे बोले ॥ १—३ ॥ "आप समस्त लोकोंके कर्ता, सबके साक्षी और विशुद्ध विज्ञानस्वरूप हैं तथा वसुओंमें अष्टम वसु और रुद्रोंमें श्रीमहादेवजी हैं ॥ ४ ॥ आप ही समस्त लोकोंके आदिकर्ता चतुर्मुख ब्रह्माजी हैं, अश्विनीकुमार आपकी घ्राणेन्द्रिय हैं और सूर्य तथा चन्द्रमा नेत्र हैं ॥ ५ ॥ सब लोकोंके आदि (उत्पत्तिस्थान) और अन्त (लयस्थान) आप ही हैं तथा आप नित्यस्वरूप, एक सदोदित (आविर्भाव-तिरोभावसे रहित नित्यप्रकाशस्वरूप), नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त, निर्गुण और अद्वितीय हैं ॥ ६ ॥ हे राम ! जो लोग आपकी मायासे आच्छादित हैं उन्हें आप मनुष्यरूप प्रतीत होते हैं, किन्तु जो आपका नामस्मरण करते हैं उन्हें तो आप सर्वदा चैतन्य स्वरूप ही भासते हैं ॥ ७ ॥ रावणने हमारे तेजके सहित हमारा स्थान भी छीन लिया था, सो आज वह दुष्ट आपके हाथसे मारा गया और हमें फिर अपना पद प्राप्त हो गया" ॥ ८ ॥ देवताओंके इस प्रकार स्तुति करनेपर साक्षात् पितामह ब्रह्माजी अति विनम्र होकर सत्यपथपर स्थित भगवान् रामसे बोले— ॥ ९ ॥

ब्रह्माजी बोले—"हे राम ! सम्पूर्ण प्राणियोंकी स्थितिके कारण, आत्मज्ञानियोंद्वारा हृदयमें ध्यान किये जानेवाले, त्याज्य और ग्राह्यरूप द्वन्द्वसे रहित, सबसे परे अद्वितीय, सत्तामात्र; सबके हृदयमें विराजमान, साक्षीस्वरूप आप विष्णुभगवान्‌को मैं प्रणाम करता

प्राणापानौ निश्चयबुद्ध्या हृदि रुद्ध्वा
छित्त्वा सर्वं संशयबन्धं विषयौघान्।
पश्यन्तीशं यं गतमोहा यतयस्तं
वन्दे रामं रत्नकिरीटं रविभासम्॥ ११॥

मायातीतं माधवमाद्यं जगदादिं
मानातीतं मोहविनाशं मुनिवन्द्यम्।
योगिध्येयं योगविधानं परिपूर्णं
वन्दे रामं रञ्जितलोकं रमणीयम्॥ १२॥

भावाभावप्रत्ययहीनं भवमुख्यै-
र्योगासक्तैरर्चितपादाम्बुजयुग्मम्।
नित्यं शुद्धं बुद्धमनन्तं प्रणवाख्यं
वन्दे रामं वीरमशेषासुरदावम्॥ १३॥

त्वं मे नाथो नाथितकार्याखिलकारी
मानातीतो माधवरूपोऽखिलधारी।
भक्त्या गम्यो भावितरूपो भवहारी
योगाभ्यासैर्भावितचेतःसहचारी ॥ १४॥

त्वामाद्यन्तं लोकततीनां परमीशं
लोकानां नो लौकिकमानैरधिगम्यम्।
भक्तिश्रद्धाभावसमेतैर्भजनीयं
वन्दे रामं सुन्दरमिन्दीवरनीलम्॥ १५॥

को वा ज्ञातुं त्वामतिमानं गतमानं
मायासक्तो माधव शक्तो मुनिमान्यम्।
वृन्दारण्ये वन्दितवृन्दारकवृन्दं
वन्दे रामं भवमुखवन्द्यं सुखकन्दम्॥ १६॥

नानाशास्त्रैर्वेदकदम्बैः प्रतिपाद्यं
नित्यानन्दं निर्विषयज्ञानमनादिम्।

हूँ॥ १०॥ मोहहीन संन्यासीगण निश्चित बुद्धिके द्वारा प्राण और अपानको हृदयमें रोककर तथा अपने सम्पूर्ण संशय-बन्धन और विषय-वासनाओंका छेदन कर जिस ईश्वरका दर्शन करते हैं उन रत्नकिरीटधारी सूर्यके समान तेजस्वी भगवान् रामको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ११॥ जो मायासे परे, लक्ष्मीके पति, सबके आदिकारण, जगत्के उत्पत्ति-स्थान, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे परे, मोहका नाश करनेवाले, मुनिजनोंसे वन्दनीय, योगियोंसे ध्यान किये जानेयोग्य, योगमार्गके प्रवर्तक, सर्वत्र परिपूर्ण और सम्पूर्ण संसारको आनन्दित करनेवाले हैं उन परम सुन्दर भगवान् रामको मैं प्रणाम करता हूँ॥ १२॥ जो भाव और अभावरूप दोनों प्रकारकी प्रतीतियोंसे रहित हैं तथा जिनके युगलचरणकमलोंका योगपरायण शङ्कर आदि पूजन करते हैं और जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध और अनन्त हैं, सम्पूर्ण दानवोंके लिये दावानलके समान उन ओंकारनामक वीरवर रामको मैं प्रणाम करता हूँ॥ १३॥ हे राम! आप मेरे प्रभु हैं और मेरे सम्पूर्ण प्रार्थित कार्योंको पूर्ण करनेवाले हैं, आप देश-कालादि मान (परिमाण) से रहित, नारायणस्वरूप, अखिल विश्वको धारण करनेवाले, भक्तिसे प्राप्य, अपने स्वरूपका ध्यान किये जानेपर संसार-भयको दूर करनेवाले और योगाभ्याससे शुद्ध हुए चित्तमें विहार करनेवाले हैं॥ १४॥ आप इस लोक-परम्पराके आदि और अन्त (अर्थात् उत्पत्ति और प्रलयके स्थान) हैं, सम्पूर्ण लोकोंके महेश्वर हैं, आप किसी भी लौकिक प्रमाणसे जाने नहीं जा सकते, आप तो भक्ति और श्रद्धासम्पन्न पुरुषोंद्वारा ही भजन किये जानेयोग्य हैं, ऐसे नीलकमलके समान श्यामसुन्दर आप श्रीरामचन्द्रजीको मैं प्रणाम करता हूँ॥ १५॥ हे लक्ष्मीपते! आप प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे परे तथा सर्वथा निर्मान हैं। मायामें आसक्त कौन प्राणी आपको जाननेमें समर्थ हो सकता है? आप महर्षियोंके माननीय हैं, तथा (कृष्णावतारके समय) वृन्दावनमें अखिल देवसमूहकी वन्दना करते हुए भी रामरूपसे शिव आदि देवताओंके स्वयं वन्दनीय हैं; ऐसे आप आनन्दघन भगवान् रामको मैं प्रणाम करता हूँ॥ १६॥ जो नाना शास्त्र और वेदसमूहसे प्रतिपादित नित्य आनन्दस्वरूप निर्विकल्प ज्ञान-

मत्सेवार्थं मानुषभावं प्रतिपन्नं
वन्दे रामं मरकतवर्णं मथुरेशम् ॥ १७ ॥

श्रद्धायुक्तो यः पठतीमं स्तवमाद्यं
ब्राह्मं ब्रह्मज्ञानविधानं भुवि मर्त्यः ।
रामं श्यामं कामितकामप्रदमीशं
ध्यात्वा ध्याता पातकजालैर्विगतः स्यात् ॥ १८ ॥

श्रुत्वा स्तुतिं लोकगुरोर्विभावसुः
स्वाङ्के समादाय विदेहपुत्रिकाम् ।
विभ्राजमानां विमलारुणद्युतिं
रक्ताम्बरां दिव्यविभूषणान्विताम् ॥ १९ ॥

प्रोवाच साक्षी जगतां रघूत्तमं
प्रपन्नसर्वार्तिहरं हुताशनः ।
गृहाण देवीं रघुनाथ जानकीं
पुरा त्वया मय्यवरोपितां वने ॥ २० ॥

विधाय मायाजनकात्मजां हरे
दशाननप्राणविनाशनाय च ।
हतो दशास्यः सह पुत्रबान्धवै-
र्निराकृतोऽनेन भरो भुवः प्रभो ॥ २१ ॥

तिरोहिता सा प्रतिबिम्बरूपिणी
कृता यदर्थं कृतकृत्यतां गता ।
ततोऽतिहृष्टां परिगृह्य जानकीं
रामः प्रहृष्टः प्रतिपूज्य पावकम् ॥ २२ ॥

स्वाङ्के समावेश्य सदानपायिनीं
श्रियं त्रिलोकीजननीं श्रियः पतिः ।
दृष्ट्वाथ रामं जनकात्मजायुतं
श्रिया स्फुरन्तं सुरनायको मुदा ।
भक्त्या गिरा गद्गदया समेत्य
कृताञ्जलिः स्तोतुमथोपचक्रमे ॥ २३ ॥

इन्द्र उवाच

भजेऽहं सदा राममिन्दीवराभं
भवारण्यदावानलाभाभिधानम् ।

स्वरूप और अनादि हैं तथा जिन्होंने मेरा कार्य करनेके लिये मनुष्यरूप धारण किया है उन मरकतमणिके समान नीलवर्ण मथुरानाथ* भगवान् रामको प्रणाम करता हूँ ॥ १७ ॥ जो मनुष्य इच्छित कामनाओंको पूर्ण करनेवाले श्याममूर्ति भगवान् रामका ध्यान करते हुए ब्रह्माजीके कहे हुए इस ब्रह्मज्ञान-विधायक आद्य स्तोत्रका श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा वह ध्यानशील पुरुष सकल पापोंसे मुक्त हो जायगा" ॥ १८ ॥

लोकगुरु भगवान् ब्रह्माजीकी यह स्तुति सुन लोकसाक्षी अग्निदेवने अपनी गोदमें निर्मल अरुण कान्तिसे सुशोभित और लाल वस्त्र तथा दिव्य आभूषणोंसे विभूषित विदेहपुत्री जानकीजीको लिये (प्रकट होकर) शरणागत दुःखहारी श्रीरघुनाथजीसे कहा—"रघुवीर! पहले तपोवनमें मुझे सौंपी हुई देवी जानकीको अब ग्रहण कीजिये ॥ १९-२० ॥

हे हरे! रावणका प्राणहरण करनेके लिये अपनी मायामयी सीता रचकर रावणको उसके पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके सहित मार डाला। हे प्रभो! ऐसा करके आपने पृथिवीका भार उतार दिया ॥ २१ ॥ वह प्रतिबिम्बरूपिणी मायासीता, जिस कार्यके लिये रची गयी थी उसे पूरा करके अब अदृश्य हो गयी है।" अग्निदेवके ये वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने अति प्रसन्न हो उनका पूजन कर प्रसन्नवदना जानकीजीको ग्रहण किया ॥ २२ ॥ फिर लक्ष्मीपति भगवान् रामने अपनेसे कभी विलग न होनेवाली जगज्जननी जानकीको गोदमें बैठा लिया। उस समय जनकनन्दिनी सीताजीके सहित भगवान् रामको कान्तिसे सुशोभित देख देवराज इन्द्र अति प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़कर भक्ति-गद्गद वाणीसे स्तुति करने लगे ॥ २३ ॥

इन्द्र बोले—जो नीलकमलकी-सी आभावाले हैं, संसाररूप वनके लिये जिनका नाम दावानलके समान है,

* यहाँ भगवान् रामको 'मथुरानाथ' कहकर श्रीराम और कृष्णकी अभिन्नता प्रकट की है।

भवानीहृदा भावितानन्दरूपं
भवाभावहेतुं भवादिप्रपन्नम् ॥ २४ ॥
सुरानीकदुःखौघनाशैकहेतुं
नराकारदेहं निराकारमीड्यम् ।
परेशं परानन्दरूपं वरेण्यं
हरिं राममीशं भजे भारनाशम् ॥ २५ ॥
प्रपन्नाखिलानन्ददोहं प्रपन्नं
प्रपन्नार्तिनिःशेषनाशाभिधानम् ।
तपोयोगयोगीशभावाभिभाव्यं
कपीशादिमित्रं भजे राममित्रम् ॥ २६ ॥
सदा भोगभाजां सुदूरे विभान्तं
सदा योगभाजामदूरे विभान्तम् ।
चिदानन्दकन्दं सदा राघवेशं
विदेहात्मजानन्दरूपं प्रपद्ये ॥ २७ ॥
महायोगमायाविशेषानुयुक्तो
विभासीश लीलानराकारवृत्तिः ।
त्वदानन्दलीलाकथापूर्णकर्णाः
सदानन्दरूपा भवन्तीह लोके ॥ २८ ॥
अहं मानपानाभिमत्तप्रमत्तो
न वेदाखिलेशाभिमानाभिमानः ।
इदानीं भवत्पादपद्मप्रसादात्
त्रिलोकाधिपत्याभिमानो विनष्टः ॥ २९ ॥
स्फुरद्रत्नकेयूरहाराभिरामं
धराभारभूतासुरानीकदावम् ।
शरच्चन्द्रवक्त्रं लसत्पद्मनेत्रं
दुरावारपारं भजे राघवेशम् ॥ ३० ॥
सुराधीशनीलाभ्रनीलाङ्गकान्तिं
विराधादिरक्षोवधाल्लोकशान्तिम् ।
किरीटादिशोभं पुरारातिलाभं
भजे रामचन्द्रं रघूणामधीशम् ॥ ३१ ॥
लसच्चन्द्रकोटिप्रकाशादिपीठे
समासीनमङ्के समाधाय सीताम् ।

श्रीपार्वतीजी जिनके आनन्दस्वरूपका हृदयमें ध्यान करती हैं, जो (जन्म-मरणरूप) संसारसे छुड़ानेवाले हैं और शङ्करादि देवोंके आश्रय हैं उन भगवान् रामको मैं भजता हूँ ॥ २४ ॥ जो देवमण्डलके दुःखसमूहका नाश करनेके एकमात्र कारण हैं तथा जो मनुष्यरूपधारी, आकारहीन और स्तुति किये जानेयोग्य हैं, पृथिवीका भार उतारनेवाले उन परमेश्वर परानन्दरूप पूजनीय भगवान् रामको मैं भजता हूँ ॥ २५ ॥ जो शरणागतोंको सब प्रकारका आनन्द देनेवाले और उनके आश्रय हैं, जिनका नाम शरणागत भक्तोंके सम्पूर्ण दुःखोंको दूर करनेवाला है, जिनका तप और योग एवं बड़े-बड़े योगीश्वरोंकी भावनाओंद्वारा चिन्तन किया जाता है तथा जो सुग्रीवादिके मित्र हैं, उन मित्ररूप भगवान् रामको मैं भजता हूँ ॥ २६ ॥ जो भोगपरायण लोगोंसे सदा दूर रहते हैं और योगनिष्ठ पुरुषोंके सदा समीप ही विराजते हैं, श्रीजानकीजीके लिये आनन्दस्वरूप उन चिदानन्दघन श्रीरघुनाथजीको मैं सर्वदा भजता हूँ ॥ २७ ॥ हे भगवन्! आप अपनी महान् योगमायाके गुणोंसे युक्त होकर लीलासे ही मनुष्यरूप प्रतीत हो रहे हैं। जिनके कर्ण आपकी इन आनन्दमयी लीलाओंके कथामृतसे पूर्ण होते हैं वे संसारमें नित्यानन्दरूप हो जाते हैं ॥ २८ ॥ प्रभो मैं तो सम्मान और सोमपानके उन्मादसे मतवाला हो रहा था, सर्वेश्वरताके अभिमानवश मैं अपने आगे किसीको कुछ भी नहीं समझता था। अब आपके चरणकमलोंकी कृपासे मेरा त्रिलोकाधिपतित्वका अभिमान चूर हो गया ॥ २९ ॥ जो चमचमाते हुए रत्नजटित भुजबन्ध और हारोंसे सुशोभित हैं, पृथिवीके भाररूप राक्षसोंके लिये दावानलके समान हैं, जिनका शरच्चन्द्रके समान मुख और अति मनोहर नेत्रकमल हैं तथा जिनका आदि-अन्त जानना अत्यन्त कठिन है उन रघुनाथजीको मैं भजता हूँ ॥ ३० ॥ जिनके शरीरकी इन्द्रनील मणि और मेघके समान श्याम कान्ति है, जिन्होंने विराध आदि राक्षसोंको मारकर सम्पूर्ण लोकोंमें शान्ति स्थापित की है उन किरीटादिसे सुशोभित और श्रीमहादेवजीके परम धन रघुकुलेश्वर रामचन्द्रजीको मैं भजता हूँ ॥ ३१ ॥ जो तेजोमय सुवर्णके-से वर्णवाली और बिजलीके समान कान्तिमयी जानकीजीको गोदमें

स्फुरद्धेमवर्णां तडित्पुञ्जभासं
भजे रामचन्द्रं निवृत्तार्तितन्द्रम् ॥ ३२ ॥

ततः प्रोवाच भगवान्भवान्या सहितो भवः ।
रामं कमलपत्राक्षं विमानस्थो नभःस्थले ॥ ३३ ॥

आगमिष्याम्ययोध्यायां द्रष्टुं त्वां राज्यसत्कृतम् ।
इदानीं पश्य पितरमस्य देहस्य राघवः ॥ ३४ ॥

ततोऽपश्यद्विमानस्थं रामो दशरथं पुरः ।
ननाम शिरसा पादौ मुदा भक्त्या सहानुजः ॥ ३५ ॥

आलिङ्ग्य मूर्ध्न्यवघ्राय रामं दशरथोऽब्रवीत् ।
तारितोऽस्मि त्वया वत्स संसाराद्दुःखसागरात् ॥ ३६ ॥

इत्युक्त्वा पुनरालिङ्ग्य ययौ रामेण पूजितः ।
रामोऽपि देवराजं तं दृष्ट्वा प्राह कृताञ्जलिम् ॥ ३७ ॥

मत्कृते निहतान्सङ्ख्ये वानरान्पतितान् भुवि ।
जीवयाशु सुधावृष्ट्या सहस्राक्ष ममाज्ञया ॥ ३८ ॥

तथेत्यमृतवृष्ट्या तान् जीवयामास वानरान् ।
ये ये मृता मृधे पूर्वं ते ते सुप्तोत्थिता इव ।
पूर्ववद्बलिनो हृष्टा रामपार्श्वमुपाययुः ॥ ३९ ॥

नोत्थिता राक्षसास्तत्र पीयूषस्पर्शनादपि ।
विभीषणस्तु साष्टाङ्गं प्रणिपत्याब्रवीद्वचः ॥ ४० ॥

देव मामनुगृह्णीष्व मयि भक्तिर्यदा तव ।
मङ्गलस्नानमद्य त्वं कुरु सीतासमन्वितः ॥ ४१ ॥

अलङ्कृत्य सह भ्राता श्वो गमिष्यामहे वयम् ।
विभीषणवचः श्रुत्वा प्रत्युवाच रघूत्तमः ॥ ४२ ॥

लिये करोड़ों चन्द्रमाओंके समान देदीप्यमान सिंहासनपर विराजमान हैं उन निर्दुःख और आलस्यहीन भगवान् रामको मैं भजता हूँ ॥ ३२ ॥

तदनन्तर आकाशमें विमानपर बैठे हुए भवानीसहित भगवान् शंकरने कमलदललोचन श्रीरामचन्द्रजीसे कहा— ॥ ३३ ॥ "हे रघुनन्दन! मैं आपको राज्याभिषिक्त होते देखनेके लिये अयोध्यापुरीमें आऊँगा; इस समय आप अपने इस शरीरके पिता (दशरथ) का दर्शन कीजिये" ॥ ३४ ॥ तब श्रीरामचन्द्रजीने अपने सामने विमानपर बैठे हुए महाराज दशरथको देखा। (उन्हें देखते ही) उन्होंने प्रसन्न होकर भाई लक्ष्मणके सहित भक्तिपूर्वक चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया ॥ ३५ ॥ दशरथजीने श्रीरामचन्द्रजीको हृदयसे लगा लिया और उनका सिर सूँघकर कहा—"बेटा! तुमने मुझे संसाररूप दुःखसमुद्रसे पार कर दिया" ॥ ३६ ॥ ऐसा कह श्रीरामको फिर हृदयसे लगा और उनसे पूजित हो दशरथजी चले गये।

तब श्रीरामचन्द्रजीने देवराज इन्द्रको हाथ जोड़े खड़ा देखकर कहा— ॥ ३७ ॥ "हे सहस्राक्ष! मेरी आज्ञासे तुम अमृत बरसाकर मेरे लिये युद्धमें मरकर पृथ्वीपर गिरे हुए वानरोंको तुरंत जीवित कर दो ॥ ३८ ॥ (ऐसा सुन देवराजने) 'बहुत अच्छा' कह अमृत बरसाकर उन सब वानरोंको जीवित कर दिया। जो-जो वानर पहले युद्धमें मारे गये थे वे सभी सोकर उठे हुएके समान पहलेकी भाँति ही बलवान् और प्रसन्न होकर भगवान् रामके पास चले आये ॥ ३९ ॥ किन्तु वहाँ (युद्धमें मरकर गिरे हुए) राक्षसगण अमृतका स्पर्श होनेपर भी नहीं उठे।*

इसी समय विभीषणने साष्टाङ्ग प्रणाम करके कहा— ॥ ४० ॥ भगवन्! आपकी मुझपर अत्यन्त प्रीति है; अतः इतनी कृपा कीजिये कि आज श्रीसीताजीके सहित मङ्गल-स्नान कीजिये ॥ ४१ ॥ फिर कल भाई लक्ष्मणके सहित वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो हम सब

* अमृतका स्वाभाविक गुण जीवनदान करना है, अतः अमृतका स्पर्श होनेपर भी राक्षसोंके जीवित न होनेसे स्वभाव-विपर्ययका दोष आता है। परन्तु भगवदिच्छाका प्रभाव इतना प्रबल है कि उसके आगे कुछ भी असम्भव नहीं है; भगवान्‌की इच्छा न होनेसे अमृतका प्रभाव भी बाधित हो गया। इसके अतिरिक्त इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि साक्षात् भगवान् रामके द्वारा मारे जानेके कारण राक्षस मुक्त हो गये थे। इसलिये अमृतका संसर्ग भी उन्हें फिर जीवित न कर सका।

सुकुमारोऽतिभक्तो मे भरतो मामवेक्षते।
जटावल्कलधारी स शब्दब्रह्मसमाहितः ॥ ४३ ॥

कथं तेन विना स्नानमलङ्कारादिकं मम।
अतः सुग्रीवमुख्यांस्त्वं पूजयाशु विशेषतः ॥ ४४ ॥

पूजितेषु कपीन्द्रेषु पूजितोऽहं न संशयः।
इत्युक्तो राघवेणाशु स्वर्णरत्नाम्बराणि च ॥ ४५ ॥

ववर्ष राक्षसश्रेष्ठो यथाकामं यथारुचि।
ततस्तान्पूजितान्दृष्ट्वा रामो रत्नैश्च यूथपान् ॥ ४६ ॥

अभिनन्द्य यथान्यायं विससर्ज हरीश्वरान्।
विभीषणसमानीतं पुष्पकं सूर्यवर्चसम् ॥ ४७ ॥

आरुरोह ततो रामस्तद्विमानमनुत्तमम्।
अङ्के निधाय वैदेहीं लज्जमानां यशस्विनीम् ॥ ४८ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विक्रान्तेन धनुष्मता।
अब्रवीच्च विमानस्थः श्रीरामः सर्ववानरान् ॥ ४९ ॥

सुग्रीवं हरिराजं च अङ्गदं च विभीषणम्।
मित्रकार्यं कृतं सर्वं भवद्भिः सह वानरैः ॥ ५० ॥

अनुज्ञाता मया सर्वे यथेष्टं गन्तुमर्हथ।
सुग्रीव प्रतियाह्याशु किष्किन्धां सर्वसैनिकैः ॥ ५१ ॥

स्वराज्ये वस लङ्कायां मम भक्तो विभीषण।
न त्वां धर्षयितुं शक्ताः सेन्द्रा अपि दिवौकसः ॥ ५२ ॥

अयोध्यां गन्तुमिच्छामि राजधानीं पितुर्मम।
एवमुक्तास्तु रामेण वानरास्ते महाबलाः ॥ ५३ ॥

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे राक्षसश्च विभीषणः।
अयोध्यां गन्तुमिच्छामस्त्वया सह रघूत्तम ॥ ५४ ॥

दृष्ट्वा त्वामभिषिक्तं तु कौसल्यामभिवाद्य च।
पश्चाद्वृणीमहे राज्यमनुज्ञां देहि नः प्रभो ॥ ५५ ॥

रामस्तथेति सुग्रीव वानरैः सविभीषणः।
पुष्पकं सहनूमांश्च शीघ्रमारोह साम्प्रतम् ॥ ५६ ॥

चलेंगे।'' विभीषणके ये वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी बोले— ॥ ४२ ॥ ''मेरा भाई भरत अति सुकुमार और मेरा भक्त है; वह जटा-वल्कल धारण किये भगवन्नाममें तत्पर हुआ मेरी बाट देखता होगा ॥ ४३ ॥ उससे मिले बिना मैं कैसे स्नान अथवा वस्त्राभूषण धारण कर सकता हूँ ? अतः अब तुम शीघ्र ही सुग्रीवादि वानरोंका ही विशेष सत्कार कर दो ॥ ४४ ॥ इन वानर-वीरोंका सत्कार होनेसे मेरा ही सत्कार होगा—इसमें सन्देह नहीं।''

श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर राक्षसश्रेष्ठ विभीषणने वानरोंको उनकी इच्छा और रुचिके अनुसार बहुत-से रत्न और वस्त्रादि मुक्तहस्तसे दिये। इस प्रकार उन सब वानर-यूथपतियोंको रत्नादिसे सत्कृत देख श्रीरामचन्द्रजीने सबकी यथायोग्य बड़ाई की और उन्हें विदा किया। फिर वे, सकुचाती हुई यशस्विनी जानकीजीको गोदमें ले महापराक्रमी धनुर्धर भाई लक्ष्मणके सहित, विभीषणके लाये हुए सूर्यके समान तेजस्वी अति उत्तम पुष्पक विमानपर आरूढ़ हुए। विमानपर बैठकर भगवान् रामने वानरराज सुग्रीव, अङ्गद, विभीषण और समस्त वानरोंसे कहा—''आपलोगोंने अन्य समस्त वानर-वीरोंके सहित, मित्रका जो कुछ कार्य होता है वह खूब निभाया है ॥ ४५—५० ॥ अब मेरे आज्ञानुसार आप अपने-अपने इच्छित स्थानोंको जाइये। सुग्रीव ! तुम अपने समस्त सैनिकोंके सहित शीघ्र ही किष्किन्धाको जाओ ॥ ५१ ॥ विभीषण ! तुम मेरी भक्तिमें तत्पर रहकर अपने राज्यपर लंकामें रहो। अब इन्द्रके सहित देवगण भी तुम्हारा बाल बाँका नहीं कर सकते ॥ ५२ ॥ अब मैं अपने पिताजीकी राजधानी अयोध्यापुरीको जाना चाहता हूँ।''

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार कहनेपर वे समस्त महाबली वानरगण तथा राक्षसराज विभीषण हाथ जोड़कर बोले—''हे रघुश्रेष्ठ ! हम सब आपके साथ अयोध्या चलना चाहते हैं ॥ ५३-५४ ॥ हे प्रभो ! हम आपको राज्याभिषिक्त हुआ देखकर और माता कौसल्याकी वन्दना कर फिर अपना राज्य ग्रहण करेंगे; आप हमें (साथ चलनेकी) आज्ञा दीजिये'' ॥ ५५ ॥ तब रामचन्द्रजीने कहा—''बहुत अच्छा, सुग्रीव ! अब वानरोंके सहित तुम शीघ्र ही विभीषण और हनुमान्‌को

ततस्तु पुष्पकं दिव्यं सुग्रीवः सह सेनया।
विभीषणश्च सामात्यः सर्वे चारुरुहुर्द्रुतम्॥ ५७॥

तेष्वारूढेषु सर्वेषु कौबेरं परमासनम्।
राघवेणाभ्यनुज्ञातमुत्पपात विहायसा॥ ५८॥

बभौ तेन विमानेन हंसयुक्तेन भास्वता।
प्रहृष्टश्च तदा रामश्चतुर्मुख इवापरः॥ ५९॥

ततो बभौ भास्करबिम्बतुल्यं
कुबेरयानं तपसानुलब्धम्।
रामेण शोभां नितरां प्रपेदे
सीतासमेतेन सहानुजेन॥ ६०॥

साथ लेकर इस विमानपर चढ़ो'' ॥ ५६ ॥ तब सेनाके सहित सुग्रीव और मन्त्रियोंके सहित विभीषण—ये सभी बड़ी शीघ्रतासे दिव्य विमान पुष्पकपर चढ़ गये ॥ ५७ ॥

उन सबके आरूढ़ हो जानेपर वह कुबेरका परम यान भगवान् रामकी आज्ञा पा आकाश-मार्गसे उड़ चला ॥ ५८ ॥ उस तेजस्वी विमानपर जाते हुए भगवान् राम बड़े प्रसन्न हुए और ऐसे सुशोभित हुए मानो दूसरे ब्रह्माजी हंसपर चढ़े जा रहे हों ॥ ५९ ॥ उस समय, वह तपस्यासे प्राप्त हुआ कुबेरका यान सूर्यबिम्बके समान सुशोभित होने लगा तथा श्रीसीताजी और भाई लक्ष्मणके सहित भगवान् रामके कारण तो उसकी शोभा और भी अधिक बढ़ गयी ॥ ६० ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे त्रयोदशः सर्गः॥ १३॥

चतुर्दश सर्ग

अयोध्या-यात्रा, भरद्वाज मुनिका आतिथ्य तथा भरत-मिलाप

श्रीमहादेव उवाच

पातयित्वा ततश्चक्षुः सर्वतो रघुनन्दनः।
अब्रवीन्मैथिलीं सीतां रामः शशिनिभाननाम्॥ १॥

त्रिकूटशिखराग्रस्थां पश्य लङ्कां महाप्रभाम्।
एतां रणभुवं पश्य मांसकर्दमपङ्किलाम्॥ २॥

असुराणां प्लवङ्गानामत्र वैशसनं महत्।
अत्र मे निहतः शेते रावणो राक्षसेश्वरः॥ ३॥

कुम्भकर्णेन्द्रजिन्मुख्याः सर्वे चात्र निपातिताः।
एष सेतुर्मया बद्धः सागरे सलिलाशये॥ ४॥

एतच्च दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः।
सेतुबन्धमिति ख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम्॥ ५॥

एतत्पवित्रं परमं दर्शनात्पातकापहम्।
अत्र रामेश्वरो देवो मया शम्भुः प्रतिष्ठितः॥ ६॥

अत्र मां शरणं प्राप्तो मन्त्रिभिश्च विभीषणः।
एषा सुग्रीवनगरी किष्किन्धा चित्रकानना॥ ७॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! तदनन्तर सब ओर दृष्टि डालकर श्रीरघुनाथजीने मिथिलेशकुमारी चन्द्रमुखी सीताजीसे कहा— ॥ १ ॥ ''प्रिये ! त्रिकूट पर्वतकी चोटीपर बसी हुई यह परम प्रकाशमयी लंकापुरी देखो और यह मांसमयी कीचड़से भरी हुई रणभूमि देखो ॥ २ ॥ यहाँ राक्षसों और वानरोंका बड़ा भारी संहार हुआ है। यहीं मेरे हाथसे मरकर राक्षसराज रावण गिरा था ॥ ३ ॥ और यहीं कुम्भकर्ण, इन्द्रजित् आदि समस्त राक्षस-वीर मारे गये हैं। यह मैंने जलपूर्ण समुद्रपर पुल बाँधा था ॥ ४ ॥ देखो, इस विशाल समुद्रपर यह सेतुबन्ध नामसे विख्यात तीर्थ दिखायी देता है, जो तीनों लोकोंसे पूजनीय है ॥ ५ ॥ यह अत्यन्त पवित्र है और दर्शनमात्रसे ही सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला है। यहाँ मैंने श्रीरामेश्वर महादेवकी स्थापना की है ॥ ६ ॥ यहीं मन्त्रियोंके सहित विभीषण मेरी शरणमें आया था। (और देखो) यह विचित्र उपवनोंवाली सुग्रीवकी राजधानी किष्किन्धापुरी

तत्र रामाज्ञया ताराप्रमुखा हरियोषितः।
आनयामास सुग्रीवः सीतायाः प्रियकाम्यया ॥ ८ ॥

ताभिः सहोत्थितं शीघ्रं विमानं प्रेक्ष्य राघवः।
प्राह चाद्रिमृष्यमूकं पश्य वाल्यत्र मे हतः ॥ ९ ॥

एषा पञ्चवटी नाम राक्षसा यत्र मे हताः।
अगस्त्यस्य सुतीक्ष्णस्य पश्याश्रमपदे शुभे ॥ १० ॥

एते ते तापसाः सर्वे दृश्यन्ते वरवर्णिनि।
असौ शैलवरो देवि चित्रकूटः प्रकाशते ॥ ११ ॥

अत्र मां कैकयीपुत्रः प्रसादयितुमागतः।
भरद्वाजाश्रमं पश्य दृश्यते यमुनातटे ॥ १२ ॥

एषा भागीरथी गङ्गा दृश्यते लोकपावनी।
एषा सा दृश्यते सीते सरयूर्यूपमालिनी ॥ १३ ॥

एषा सा दृश्यतेऽयोध्या प्रणामं कुरु भामिनि।
एवं क्रमेण सम्प्राप्तो भरद्वाजाश्रमं हरिः ॥ १४ ॥

पूर्णे चतुर्दशे वर्षे पञ्चम्यां रघुनन्दनः।
भरद्वाजं मुनिं दृष्ट्वा ववन्दे सानुजः प्रभुः ॥ १५ ॥

पप्रच्छ मुनिमासीनं विनयेन रघूत्तमः।
शृणोषि कच्चिद्भरतः कुशल्यास्ते सहानुजः ॥ १६ ॥

सुभिक्षा वर्ततेऽयोध्या जीवन्ति च हि मातरः।
श्रुत्वा रामस्य वचनं भरद्वाजः प्रहृष्टधीः ॥ १७ ॥

प्राह सर्वे कुशलिनो भरतस्तु महामनाः।
फलमूलकृताहारो जटावल्कलधारकः ॥ १८ ॥

पादुके सकलं न्यस्य राज्यं त्वां सुप्रतीक्षते।
यद्यत्कृतं त्वया कर्म दण्डके रघुनन्दन ॥ १९ ॥

राक्षसानां विनाशं च सीताहरणपूर्वकम्।
सर्वं ज्ञातं मया राम तपसा ते प्रसादतः ॥ २० ॥

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादादिमध्यान्तवर्जितः।
त्वमग्रे सलिलं सृष्ट्वा तत्र सुप्तोऽसि भूतकृत् ॥ २१ ॥

है" ॥ ७ ॥ किष्किन्धामें पहुँचनेपर भगवान् रामकी आज्ञासे सीताजीको प्रसन्न करनेके लिये सुग्रीव अपनी तारा आदि स्त्रियोंको ले आये ॥ ८ ॥ जब रघुनाथजीने विमानको तुरंत ही उन सबको लेकर चलते देखा तो वे (फिर सीताजीसे) कहने लगे—"यह ऋष्यमूक पर्वत देखो, यहाँ मैंने वालीको मारा था ॥ ९ ॥ इधर, पञ्चवटी है जहाँ मैंने (खर-दूषणादि) राक्षसोंका संहार किया था। देखो, ये मुनिवर अगस्त्य और सुतीक्ष्णके अति पवित्र आश्रम हैं ॥ १० ॥ हे सुन्दर वर्णवाली ! देखो, ये वे सब तपस्वीगण दिखायी दे रहे हैं और हे देवि ! यह पर्वतश्रेष्ठ चित्रकूट दीख रहा है ॥ ११ ॥ यहीं मुझे मनानेके लिये कैकेयीके पुत्र भरत आये थे; और देखो, वह यमुनाजीके तटपर भरद्वाज मुनिका आश्रम दिखलायी दे रहा है ॥ १२ ॥ ये त्रिलोकपावनी भागीरथी गङ्गाजी दीख रही हैं और हे सीते ! (सूर्यवंशी राजाओंके किये हुए यज्ञोंके) यूपों (यज्ञस्तम्भों) से युक्त यह सरयू नदी दिखायी दे रही है ॥ १३ ॥ हे सुन्दरि ! देखो, वह अयोध्यापुरी दीख रही है, उसे प्रणाम करो।" इस प्रकार भगवान् राम क्रमसे भरद्वाज मुनिके आश्रमपर पहुँचे ॥ १४ ॥

श्रीरघुनाथजीने चौदहवें वर्षके समाप्त होनेपर पञ्चमी तिथिको मुनिवर भरद्वाजके दर्शन कर उन्हें भाई लक्ष्मणसहित प्रणाम किया ॥ १५ ॥ फिर आश्रममें विराजमान मुनिवरसे रघुश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने अति नम्रतापूर्वक पूछा—"आपने कुछ सुना है, भाई शत्रुघ्नसहित भरत कुशलसे हैं न ? ॥ १६ ॥ अयोध्यामें सुकाल तो है ? और हमारी माताएँ अभी जीवित हैं न ?"

भगवान् रामके ये वचन सुनकर भरद्वाज मुनिने प्रसन्न होकर कहा—"आपके यहाँ सब कुशल हैं। महामना भरतजी तो जटा-वल्कल धारण किये फल-मूलादिसे निर्वाह करते हुए राज्यका सारा भार आपकी पादुकाओंको सौंपकर आपहीकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हे रघुनन्दन ! आपने दण्डकारण्यमें जो-जो कार्य किये हैं तथा सीता-हरण होनेपर जैसे-जैसे राक्षसोंका वध किया है वह सब आपकी कृपासे मैंने तपोबलसे जान लिया है ॥ १७—२० ॥ आप आदि, अन्त और मध्यसे रहित साक्षात् परब्रह्म हैं। आप समस्त भूतोंको रचनेवाले हैं। आपने सबसे पहले जलरचकर उसपर शयन किया था।

नारायणोऽसि विश्वात्मन्नराणामन्तरात्मकः ।
त्वन्नाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ २२ ॥

अतस्त्वं जगतामीशः सर्वलोकनमस्कृतः ।
त्वंविष्णुर्जानकीलक्ष्मीःशेषोऽयंलक्ष्मणाभिधः ॥ २३ ॥

आत्मना सृजसीदं त्वमात्मन्येवात्ममायया ।
नसज्जसेनभोवत्त्वंचिच्छक्त्यासर्वसाक्षिकः ॥ २४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानां त्वमेव रघुनन्दन ।
पूर्णोऽपि मूढदृष्टीनां विच्छिन्न इव लक्ष्यसे ॥ २५ ॥

जगत्त्वं जगदाधारस्त्वमेव परिपालकः ।
त्वमेव सर्वभूतानां भोक्ता भोज्यं जगत्पते ॥ २६ ॥

दृश्यते श्रूयते यद्यत्स्मर्यते वा रघूत्तम ।
त्वमेव सर्वमखिलं त्वद्विनान्यन्न किञ्चन ॥ २७ ॥

माया सृजति लोकांश्च स्वगुणैरहमादिभिः ।
त्वच्छक्तिप्रेरिता राम तस्मात्त्वय्युपचर्यते ॥ २८ ॥

यथा चुम्बकसान्निध्याच्चलन्त्येवायसादयः ।
जडास्तथा त्वया दृष्टा माया सृजति वै जगत् ॥ २९ ॥

देहद्वयमदेहस्य तव विश्वं रिरक्षिषोः ।
विराट् स्थूलं शरीरं ते सूत्रं सूक्ष्ममुदाहृतम् ॥ ३० ॥

विराजः सम्भवन्त्येते अवताराः सहस्रशः ।
कार्यान्ते प्रविशन्त्येव विराजं रघुनन्दन ॥ ३१ ॥

अवतारकथां लोके ये गायन्ति गृणन्ति च ।
अनन्यमनसो मुक्तिस्तेषामेव रघूत्तम ॥ ३२ ॥

त्वं ब्रह्मणा पुरा भूमेर्भारहाराय राघव ।
प्रार्थितस्तपसा तुष्टस्त्वं जातोऽसि रघोः कुले ॥ ३३ ॥

देवकार्यमशेषेण कृतं ते राम दुष्करम् ।
बहुवर्षसहस्राणि मानुषं देहमाश्रितः ॥ ३४ ॥

हे विश्वात्मन् ! आप समस्त मनुष्योंके अन्तरात्मा हैं, अतः आप नारायण हैं। आपके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए ब्रह्माजी सम्पूर्ण लोकोंके पितामह हैं ॥ २१-२२ ॥ अतः आप समस्त लोकोंसे वन्दित और सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी हैं। आप साक्षात् विष्णुभगवान् हैं, जानकीजी लक्ष्मी हैं और ये लक्ष्मणजी शेषनाग हैं ॥ २३ ॥ आप अधिष्ठानरूपसे अपने भीतर ही अपनी मायाके द्वारा स्वयं अपने-आपसे ही इस सम्पूर्ण जगत्‌को रचते हैं, किन्तु आकाशके समान किसीसे भी लिप्त नहीं होते। आप अपनी चित्-शक्तिसे सबके साक्षी हैं ॥ २४ ॥ हे रघुनन्दन ! समस्त प्राणियोंके भीतर और बाहर आप ही व्याप्त हैं, इस प्रकार पूर्ण होनेपर भी आप मूढ़-बुद्धियोंको परिच्छिन्न-(एकदेशी) से दिखायी देते हैं ॥ २५ ॥ हे जगत्पते ! आप ही जगत्, जगत्‌के आधार और उसका पालन करनेवाले हैं; तथा आप ही समस्त प्राणियोंके (कालरूपसे) भोक्ता और (अन्नरूपसे) भोज्य हैं ॥ २६ ॥ हे रघुश्रेष्ठ ! जो कुछ भी दिखायी देता है तथा जो कुछ सुना और स्मरण किया जाता है वह सब आप ही हैं; आपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ॥ २७ ॥ हे राम ! आपकी शक्तिसे प्रेरित होकर ही माया अपने अहङ्कारादि गुणोंसे सम्पूर्ण लोकोंको रचती है, इसीलिये इन सबकी रचनाका आपहीमें आरोप किया जाता है ॥ २८ ॥ जिस प्रकार चुम्बककी सन्निधिसे लोहा आदि जड पदार्थ भी चलायमान हो जाते हैं उसी प्रकार आपकी दृष्टि पड़नेसे ही माया सम्पूर्ण जगत्‌की रचना करती है ॥ २९ ॥ विश्वकी रक्षा करनेके इच्छुक आप देहहीन होकर भी दो देहवाले हैं। आपका स्थूल शरीर 'विराट्' और सूक्ष्म शरीर 'सूत्र' कहलाता है ॥ ३० ॥ हे रघुनन्दन ! आपके विराट् शरीरसे ही ये सहस्रों अवतार उत्पन्न होते हैं और अपना कार्य समाप्त कर फिर उसीमें लीन हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ हे रघुश्रेष्ठ ! संसारमें जो लोग अनन्य चित्तसे आपके अवतारोंकी कथा गाते और सुनते हैं उनकी तो मुक्ति अवश्य ही हो जाती है ॥ ३२ ॥ हे राघव ! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने आपसे पृथ्वीका भार उतारनेके लिये प्रार्थना की थी। उनकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर ही आपने रघुकुलमें अवतार लिया है ॥ ३३ ॥ हे राम ! जो अत्यन्त दुष्कर था, देवताओंका वह सब काम आपने कर दिया। अब कई सहस्र वर्षतक मनुष्य-देहमें

कुर्वन्दुष्करकर्माणि लोकद्वयहिताय च।
पापहारीणि भुवनं यशसा पूरयिष्यसि ॥ ३५ ॥

प्रार्थयामि जगन्नाथ पवित्रं कुरु मे गृहम्।
स्थित्वाद्य भुक्त्वा सबलः श्वो गमिष्यसि पत्तनम् ॥ ३६ ॥

तथेति राघवोऽतिष्ठत्तस्मिन्नाश्रम उत्तमे।
ससैन्यः पूजितस्तेन सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३७ ॥

ततो रामश्चिन्तयित्वा मुहूर्तं प्राह मारुतिम्।
इतो गच्छ हनूमंस्त्वमयोध्यां प्रति सत्वरः ॥ ३८ ॥

जानीहि कुशली कश्चिज्जनो नृपतिमन्दिरे।
शृङ्गवेरपुरं गत्वा ब्रूहि मित्रं गुहं मम ॥ ३९ ॥

जानकीलक्ष्मणोपेतमागतं मां निवेदय।
नन्दिग्रामं ततो गत्वा भ्रातरं भरतं मम ॥ ४० ॥

दृष्ट्वा ब्रूहि सभार्यस्य सभ्रातुः कुशलं मम।
सीतापहरणादीनि रावणस्य वधादिकम् ॥ ४१ ॥

ब्रूहि क्रमेण मे भ्रातुः सर्वं तत्र विचेष्टितम्।
हत्वा शत्रुगणान्सर्वान्सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ४२ ॥

उपयाति समृद्धार्थः सह ऋक्षहरीश्वरैः।
इत्युक्त्वा तत्र वृत्तान्तं भरतस्य विचेष्टितम् ॥ ४३ ॥

सर्वं ज्ञात्वा पुनः शीघ्रमागच्छ मम सन्निधिम्।
तथेति हनुमांस्तत्र मानुषं वपुरास्थितः ॥ ४४ ॥

नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं वायुवेगेन मारुतिः।
गरुत्मानिव वेगेन जिघृक्षन् भुजगोत्तमम् ॥ ४५ ॥

शृङ्गवेरपुरं प्राप्य गुहमासाद्य मारुतिः।
उवाच मधुरं वाक्यं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ४६ ॥

रामो दाशरथिः श्रीमान्सखा ते सह सीतया।
सलक्ष्मणस्त्वां धर्मात्मा क्षेमी कुशलमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

अनुज्ञातोऽद्य मुनिना भरद्वाजेन राघवः।
आगमिष्यति तं देवं द्रक्ष्यसि त्वं रघूत्तमम् ॥ ४८ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः सम्प्रहृष्टतनूरुहम्।
उत्पपात महावेगो वायुवेगेन मारुतिः ॥ ४९ ॥

स्थित रहकर दोनों लोकोंके कल्याणके लिये बहुत-से कठिन और पाप-नाशक कार्य करते हुए आप सम्पूर्ण लोकोंको अपने सुयशसे परिपूर्ण करेंगे ॥ ३४-३५ ॥ हे जगन्नाथ ! मेरी यह प्रार्थना है कि आज सेनासहित यहाँ ठहरकर और भोजन कर मेरा घर पवित्र कीजिये। फिर कल अपनी राजधानीमें पधारें ॥ ३६ ॥ तब रघुनाथजी 'बहुत अच्छा' कह मुनिवर भरद्वाजसे सत्कृत हो सेना, सीताजी और लक्ष्मणजीके सहित उस अत्युत्तम आश्रममें ठहर गये ॥ ३७ ॥

इस समय एक मुहूर्त विचारकर भगवान् रामने श्रीमारुतिसे कहा—"हनुमन्! तुम शीघ्र ही यहाँसे अयोध्याको जाओ ॥ ३८ ॥ और यह मालूम करो कि राजमन्दिरमें सब कुशलसे तो हैं ? शृङ्गवेरपुरमें जाकर मेरे मित्र गुहसे बातचीत करना ॥ ३९ ॥ और उसे जानकी और लक्ष्मणके सहित मेरे आनेकी सूचना देना। तत्पश्चात् नन्दिग्राममें जाकर मेरे भाई भरतसे मिलकर उसे स्त्री और भाईसहित मेरी कुशल सुनाना। वहाँ भैया भरतको सीता-हरणसे लेकर रावणके वध आदिपर्यन्त मेरी समस्त लीलाएँ क्रमसे सुनाना और कहना कि रामचन्द्रजी समस्त शत्रुओंको मारकर सफल-मनोरथ हो स्त्री और लक्ष्मणके सहित रीछ और वानरोंके साथ आ रहे हैं। यह सब वृत्तान्त उसे सुनाकर और भरतकी सभी चेष्टाओंका पता लगाकर शीघ्र ही मेरे पास लौट आना।"

तब हनुमान्जी 'बहुत अच्छा' कह मनुष्य-शरीर धारण कर तुरंत ही वायुवेगसे नन्दिग्रामको चले, मानो किसी श्रेष्ठ सर्पको पकड़नेके लिये गरुड़जी जाते हों ॥ ४०—४५ ॥ शृङ्गवेरपुर पहुँचनेपर श्रीमारुतिने गुहके पास जाकर अति प्रसन्न चित्तसे मीठी बोलीमें कहा— ॥ ४६ ॥ "तुम्हारे मित्र परम धार्मिक एवं क्षेमयुक्त दशरथकुमार श्रीमान् रामचन्द्रजीने सीता और लक्ष्मणके सहित अपनी कुशल कही है ॥ ४७ ॥ आज मुनिवर भरद्वाजकी आज्ञा लेकर श्रीरघुनाथजी आयेंगे तब तुम्हें भी उन रघुश्रेष्ठ भगवान् रामका दर्शन होगा" ॥ ४८ ॥

जिसे हर्षसे रोमाञ्च हो रहा था ऐसे गुहसे इस प्रकार कह महातेजस्वी और अत्यन्त वेगशाली हनुमान्जी फिर

सोऽपश्यद्रामतीर्थं च सरयूं च महानदीम्।
तामतिक्रम्य हनुमान्नन्दिग्रामं ययौ मुदा ॥ ५० ॥

क्रोशमात्रे त्वयोध्यायाश्चीरकृष्णाजिनाम्बरम्।
ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम् ॥ ५१ ॥

मलपङ्कविदिग्धाङ्गं जटिलं वल्कलाम्बरम्।
फलमूलकृताहारं रामचिन्तापरायणम् ॥ ५२ ॥

पादुके ते पुरस्कृत्य शासयन्तं वसुन्धराम्।
मन्त्रिभिः पौरमुख्यैश्च काषायाम्बरधारिभिः ॥ ५३ ॥

वृतदेहं मूर्तिमन्तं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम्।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं हनूमान्मारुतात्मजः ॥ ५४ ॥

यं त्वं चिन्तयसे रामं तापसं दण्डके स्थितम्।
अनुशोचसि काकुत्स्थः स त्वां कुशलमब्रवीत् ॥ ५५ ॥

प्रियमाख्यामि ते देव शोकं त्यज सुदारुणम्।
अस्मिन्मुहूर्ते भ्रात्रा त्वं रामेण सह सङ्गतः ॥ ५६ ॥

समरे रावणं हत्वा रामः सीतामवाप्य च।
उपयाति समृद्धार्थः ससीतः सहलक्ष्मणः ॥ ५७ ॥

एवमुक्तो महातेजा भरतो हर्षमूर्च्छितः।
पपात भुवि चास्वस्थः कैकयीप्रियनन्दनः ॥ ५८ ॥

आलिङ्ग्य भरतः शीघ्रं मारुतिं प्रियवादिनम्।
आनन्दजैरश्रुजलैः सिषेच भरतः कपिम् ॥ ५९ ॥

देवो वा मानुषो वा त्वमनुक्रोशादिहागतः।
प्रियाख्यानस्य ते सौम्य ददामि ब्रुवतः प्रियम् ॥ ६० ॥

गवां शतसहस्रं च ग्रामाणां च शतं वरम्।
सर्वाभरणसम्पन्ना मुग्धाः कन्यास्तु षोडश ॥ ६१ ॥

एवमुक्त्वा पुनः प्राह भरतो मारुतात्मजम्।
बहूनीमानि वर्षाणि गतस्य सुमहद्वनम् ॥ ६२ ॥

शृणोम्यहं प्रीतिकरं मम नाथस्य कीर्तनम्।
कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे ॥ ६३ ॥

वायुवेगसे उड़े ॥ ४९ ॥ (कुछ दूर जानेपर) उन्होंने रामतीर्थ (अयोध्या) और महानदी सरयूके दर्शन किये। उसे भी पार कर हनुमान्‌जी अति प्रसन्न चित्तसे नन्दिग्रामको चले ॥ ५० ॥ अयोध्यासे एक कोसकी दूरीपर भरतजीको अति दीन और दुर्बल अवस्थामें चीरवस्त्र और कृष्णमृगचर्म धारण किये, आश्रममें निवास करते, शरीरमें भस्म रमाये, जटाजूट और वल्कलवस्त्र धारण किये, फल-मूलादि भोजनकर भगवान् रामके ध्यानमें तत्पर हुए, रामचन्द्रजीकी उन दोनों पादुकाओंको आगे रखकर पृथिवीका शासन करते तथा काषाय-वस्त्रधारी मन्त्रियों और मुख्य-मुख्य पुरवासियोंसे घिरे हुए साक्षात् मूर्तिमान् धर्मके समान देखकर पवनकुमार हनुमान्‌जी हाथ जोड़कर बोले— ॥ ५१—५४ ॥ "हे भरतजी ! जिन दण्डकारण्यवासी तपोनिष्ठ भगवान् रामका आप चिन्तन करते हैं तथा जिनके लिये आप इतना अनुताप करते हैं उन ककुत्स्थनन्दन रामने तुम्हें अपनी कुशल कहला भेजी है ॥ ५५ ॥ हे देव ! आप यह दारुण शोक त्यागिये। मैं आपको अति प्रिय समाचार सुनाता हूँ। आप इसी मुहूर्तमें अपने भाई रामसे मिलेंगे ॥ ५६ ॥ भगवान् राम युद्धमें रावणको मारकर और सीताजीको प्राप्तकर सफल-मनोरथ हो सीता और लक्ष्मणजीके सहित आ रहे हैं" ॥ ५७ ॥

श्रीहनुमान्‌जीके इस प्रकार कहनेपर कैकेयीके प्रिय पुत्र महातेजस्वी भरतजी हर्षसे मूर्च्छित हो अपनी सुध-बुध भुला पृथिवीपर गिर पड़े ॥ ५८ ॥ (फिर सँभलकर उठनेके अनन्तर) भरतजीने तुरंत ही प्रियवादी हनुमान्‌जीको हृदयसे लगा लिया और आनन्दके कारण उमड़े हुए अश्रुजलसे उन वानरश्रेष्ठको सींचने लगे ॥ ५९ ॥ (और बोले—) "भैया ! तुम कोई देवता हो या मनुष्य हो जो दया करके यहाँ आये हो ? हे सौम्य ! इस प्रिय समाचारके सुनानेके बदले मैं तुम्हें एक लक्ष गौ, अच्छे-अच्छे सौ गाँव और समस्त आभूषणोंसे युक्त परम सुन्दरी सोलह कन्याएँ देता हूँ" ॥ ६०-६१ ॥ ऐसा कह श्रीभरतजीने हनुमान्‌जीसे फिर कहा—"आज, भयंकर वनमें जानेके कितने ही वर्ष बीतनेपर मैं अपने प्रभुका यह प्रिय समाचार सुन रहा हूँ। आज मुझे यह कल्याणमयी लौकिक कहावत बहुत ठीक मालूम होती है कि 'जीवित

एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि।
राघवस्य हरीणां च कथमासीत्समागमः ॥ ६४ ॥

तत्त्वमाख्याहि भद्रं ते विश्वसेयं वचस्तव।
एवमुक्तोऽथ हनुमान् भरतेन महात्मना ॥ ६५ ॥

आचचक्षेऽथ रामस्य चरितं कृत्स्नशः क्रमात्।
श्रुत्वा तु परमानन्दं भरतो मारुतात्मजात् ॥ ६६ ॥

आज्ञापयच्छत्रुहणं मुदा युक्तं मुदान्वितः।
दैवतानि च यावन्ति नगरे रघुनन्दन ॥ ६७ ॥

नानोपहारबलिभिः पूजयन्तु महाधियः।
सूता वैतालिकाश्चैव बन्दिनः स्तुतिपाठकाः ॥ ६८ ॥

वारमुख्याश्च शतशो निर्यान्त्वद्यैव सङ्घशः।
राजदारास्तथामात्याः सेना हस्त्यश्वपत्तयः ॥ ६९ ॥

ब्राह्मणाश्च तथा पौरा राजानो ये समागताः।
निर्यान्तु राघवस्याद्य द्रष्टुं शशिनिभाननम् ॥ ७० ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नपरिचोदिताः।
अलञ्चक्रुश्च नगरीं मुक्तारत्नमयोज्ज्वलैः ॥ ७१ ॥

तोरणैश्च पताकाभिर्विचित्राभिरनेकधा।
अलङ्कुर्वन्ति वेश्मानि नानाबलिविचक्षणाः ॥ ७२ ॥

निर्यान्ति वृन्दशः सर्वे रामदर्शनलालसाः।
हयानां शतसाहस्रं गजानामयुतं तथा ॥ ७३ ॥

रथानां दशसाहस्रं स्वर्णसूत्रविभूषितम्।
पारमेष्ठीन्युपादाय द्रव्याण्युच्चावचानि च ॥ ७४ ॥

ततस्तु शिबिकारूढा निर्ययू राजयोषितः।
भरतः पादुके न्यस्य शिरस्येव कृताञ्जलिः ॥ ७५ ॥

शत्रुघ्नसहितो रामं पादचारेण निर्ययौ।
तदैव दृश्यते दूराद्विमानं चन्द्रसन्निभम् ॥ ७६ ॥

पुष्पकं सूर्यसङ्काशं मनसा ब्रह्मनिर्मितम्।
एतस्मिन् भ्रातरौ वीरौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ॥ ७७ ॥

सुग्रीवश्च कपिश्रेष्ठो मन्त्रिभिश्च विभीषणः।
दृश्यते पश्यत जना इत्याह पवनात्मजः ॥ ७८ ॥

रहनेपर सौ वर्षमें भी मनुष्यको आनन्द मिल सकता है।' तुम्हारा शुभ हो, तुम यह सच-सच बताओ कि श्रीरघुनाथजीके साथ वानरोंका समागम कैसे हुआ? जिससे मैं तुम्हारे वचनका पूर्ण विश्वास करूँ।''

महात्मा भरतजीके इस प्रकार कहनेपर हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीका क्रमशः सम्पूर्ण चरित्र सुना दिया। मारुतिसे वह चरित्र सुनकर श्रीभरतजीको अत्यन्त आनन्द हुआ ॥ ६२—६६ ॥ और उन्होंने अति प्रसन्न होकर आनन्दमग्न शत्रुघ्नजीको आज्ञा दी कि ''हे रघुनन्दन! नगरमें जितने देवता हैं महाबुद्धि पण्डितजन उन सबका नाना प्रकारकी भेंट और बलि आदि देकर पूजन करें। सूत, वैतालिक, स्तुति-गान करनेवाले वन्दीजन और मुख्य-मुख्य वाराङ्गनाएँ आज ही सैकड़ोंकी संख्यामें टोली बनाकर नगरके बाहर निकलें। इनके अतिरिक्त राज-महिलाएँ, मन्त्रिगण, हाथी-घोड़े और पदाति आदि सेना, ब्राह्मणलोग, पुरवासी और यहाँ आये हुए समस्त राजालोग भी श्रीरघुनाथजीका मुखचन्द्र निहारनेके लिये नगरके बाहर चलें ॥ ६७—७० ॥

भरतजीके वचन सुनकर शत्रुघ्नजीकी प्रेरणासे नाना प्रकारकी रचनाओंमें कुशल पुरवासियोंने अपने घरोंको सजाना आरम्भ किया तथा अनेक प्रकारके उज्ज्वल मोतियों और रत्नोंकी वन्दनवारोंसे एवं चित्र-विचित्र पताकाओंसे अयोध्यापुरीको सजा दिया ॥ ७१-७२ ॥ तब, भगवान् रामके दर्शनोंकी लालसासे सब लोग अनेकों टोलियाँ बनाकर उनकी भेंटके लिये एक लाख घोड़े, दस सहस्र हाथी और सुनहरी बागडोरोंसे विभूषित दस सहस्र रथ आदि बहुत-सी ऐश्वर्य-सूचक छोटी-बड़ी वस्तुएँ लेकर नगरके बाहर निकलने लगे ॥ ७३-७४ ॥ उनके पीछे पालकीमें चढ़कर राजमहिलाएँ चलीं और फिर श्रीरघुनाथजीसे मिलनेके लिये भाई शत्रुघ्नके सहित भरतजी सिरपर भगवान्‌की पादुकाएँ रखकर हाथ जोड़े हुए पैरों-पैरों चले। इसी समय दूरहीसे ब्रह्माजीका मनोनिर्मित चन्द्रमाके समान कान्तिमान् और सूर्यके समान तेजस्वी पुष्पक विमान दिखायी दिया। उसे देखकर श्रीहनुमान्‌जीने कहा—''अरे लोगो! देखो, इसी विमानमें श्रीजानकीजीके सहित दोनों वीर भ्राता राम और लक्ष्मण तथा कपिश्रेष्ठ सुग्रीव और मन्त्रियोंके सहित विभीषण दिखायी दे रहे

ततो हर्षसमुद्भूतो निःस्वनो दिवमस्पृशत्।
स्त्रीबालयुववृद्धानां रामोऽयमिति कीर्तनात्॥ ७९॥

रथकुञ्जरवाजिस्था अवतीर्य महीं गताः।
ददृशुस्ते विमानस्थं जनाः सोममिवाम्बरे॥ ८०॥

प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः।
ततो विमानाग्रगतं भरतो राघवं मुदा॥ ८१॥

ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम्।
ततो रामाभ्यनुज्ञातं विमानमपतद्भुवि॥ ८२॥

आरोपितो विमानं तद्भरतः सानुजस्तदा।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत्॥ ८३॥

समुत्थाप्य चिराद्दृष्टं भरतं रघुनन्दनः।
भ्रातरं स्वाङ्कमारोप्य मुदा तं परिषस्वजे॥ ८४॥

ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं नाम कीर्तयन्।
अभ्यवादयत प्रीतो भरतः प्रेमविह्वलः॥ ८५॥

सुग्रीवं जाम्बवन्तं च युवराजं तथाङ्गदम्।
मैन्दद्विविदनीलांश्च ऋषभं चैव सस्वजे॥ ८६॥

सुषेणं च नलं चैव गवाक्षं गन्धमादनम्।
शरभं पनसं चैव भरतः परिषस्वजे॥ ८७॥

सर्वे ते मानुषं रूपं कृत्वा भरतमादृताः।
पप्रच्छुः कुशलं सौम्याः प्रहृष्टाश्च प्लवङ्गमाः॥ ८८॥

ततः सुग्रीवमालिङ्ग्य भरतः प्राह भक्तितः।
त्वत्सहायेन रामस्य जयोऽभूद्रावणो हतः॥ ८९॥

त्वमस्माकं चतुर्णां तु भ्राता सुग्रीव पञ्चमः।
शत्रुघ्नश्च तदा राममभिवाद्य सलक्ष्मणम्॥ ९०॥

सीतायाश्चरणौ पश्चाद्ववन्दे विनयान्वितः।
रामो मातरमासाद्य विवर्णां शोकविह्वलाम्॥ ९१॥

जग्राह प्रणतः पादौ मनो मातुः प्रसादयन्।
कैकेयीं च सुमित्रां च ननामेतरमातरौ॥ ९२॥

भरतः पादुके ते तु राघवस्य सुपूजिते।
योजयामास रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुतः॥ ९३॥

हैं'' ॥ ७५—७८ ॥ तब तो 'राम ये हैं, राम ये हैं' ऐसा कहनेसे स्त्री, बालक, युवा और वृद्धोंका हर्षके कारण ऐसा शब्द हुआ कि जिससे आकाश गूँज उठा ॥ ७९ ॥ जो लोग रथ, हाथी और घोड़ोंपर चढ़े हुए थे वे उतरकर पृथिवीपर खड़े हो गये। उस समय वे सभी लोग विमानपर चढ़े हुए भगवान् रामको आकाशमें चन्द्रमाके समान देखने लगे ॥ ८० ॥

फिर प्रसन्नचित्त भरतजीने विमानपर बैठे हुए श्रीरघुनाथजीके सम्मुख हो उन्हें सुमेरु पर्वतपर प्रकट हुए सूर्यके समान अति विनीतभावसे हर्षपूर्वक प्रणाम किया। तब श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे विमान पृथिवीपर उतरा ॥ ८१-८२ ॥ तदनन्तर भगवान् रामने भाई शत्रुघ्नके सहित भरतजीको भी विमानपर चढ़ा लिया; रामचन्द्रजीके निकट पहुँचनेपर भरतजीने अति आनन्दित हो उन्हें फिर प्रणाम किया ॥ ८३ ॥ तब बहुत दिनोंमें देखे हुए भाई भरतको रघुनाथजीने तुरंत ही उठाकर प्रसन्नतासे गोदमें लेकर आलिङ्गन किया ॥ ८४ ॥ फिर प्रेमसे विह्वल हुए भरतजीने लक्ष्मणजीसे मिलकर श्रीसीताजीको अपना नाम उच्चारण करते हुए प्रीतिपूर्वक प्रणाम किया ॥ ८५ ॥ तत्पश्चात् भरतजीने सुग्रीव, जाम्बवान्, युवराज अङ्गद, मैन्द, द्विविद, नील और ऋषभको तथा सुषेण, नल, गवाक्ष, गन्धमादन, शरभ और पनसको भी हृदयसे लगाया ॥ ८६-८७ ॥ इस प्रकार भरतजीसे सत्कार पाकर प्रसन्न हुए उन सौम्य वानरोंने मनुष्यरूप धारणकर उनकी कुशल पूछी ॥ ८८ ॥ तब भरतजीने सुग्रीवको हृदयसे लगाकर अति प्रेमपूर्वक कहा—''सुग्रीव ! तुम्हारी सहायतासे ही श्रीरामचन्द्रजीकी विजय हुई और रावण मारा गया; अतः हम चारोंके तुम पाँचवें भाई हो।'' तदनन्तर शत्रुघ्नजीने लक्ष्मणजीके सहित श्रीरामचन्द्रजीको प्रणामकर अति विनीत भावसे सीताजीके चरणोंकी वन्दना की। फिर श्रीरामचन्द्रजीने शोकके कारण अति व्याकुल और कृश हुई माता कौसल्याके पास जाकर अति विनीत भावसे उनके चरण छुए और उनके चित्तको प्रसन्न किया तथा अपनी विमाता कैकेयी और सुमित्राको भी नमस्कार किया ॥ ८९—९२ ॥ तदुपरान्त भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीकी भली प्रकार पूजा की हुई पादुकाओंको भक्तिपूर्वक उनके चरणोंमें पहना दिया ॥ ९३ ॥

राज्यमेतन्न्यासभूतं मया निर्यातितं तव।
अद्य मे सफलं जन्म फलितो मे मनोरथः ॥ ९४ ॥

यत्पश्यामि समायातमयोध्यां त्वामहं प्रभो।
कोष्ठागारं बलं कोशं कृतं दशगुणं मया ॥ ९५ ॥

त्वत्तेजसा जगन्नाथ पालयस्व पुरं स्वकम्।
इति ब्रुवाणं भरतं दृष्ट्वा सर्वे कपीश्वराः ॥ ९६ ॥

मुमुचुर्नेत्रजं तोयं प्रशशंसुर्मुदान्विताः।
ततो रामः प्रहृष्टात्मा भरतं स्वाङ्कगं मुदा ॥ ९७ ॥

ययौ तेन विमानेन भरतस्याश्रमं तदा।
अवरुह्य तदा रामो विमानाग्र्यान्महीतलम् ॥ ९८ ॥

अब्रवीत्पुष्पकं देवो गच्छ वैश्रवणं वह।
अनुगच्छानुजानामि कुबेरं धनपालकम् ॥ ९९ ॥

रामो वसिष्ठस्य गुरोः पदाम्बुजं
नत्वा यथा देवगुरोः शतक्रतुः।
दत्त्वा महार्हासनमुत्तमं गुरो-
रुपाविवेशाथ गुरोः समीपतः ॥ १०० ॥

(और कहा—) "प्रभो ! मुझे धरोहररूपसे सौंपे हुए आपके इस राज्यको मैं फिर आपहीको सौंपता हूँ; आज मैं आपको अयोध्यामें आया हुआ देखता हूँ—इससे मेरा जन्म सफल हो गया और मेरी सारी कामनाएँ पूरी हो गयीं। हे जगन्नाथ ! आपके प्रतापसे मैंने अन्न-भण्डार, सेना और कोशादि पहलेसे दसगुने कर दिये हैं। अब आप अपने नगरका स्वयं पालन कीजिये।" भरतजीको इस प्रकार कहते देख सभी मुख्य-मुख्य वानर हर्षसे आँसू गिराते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे।

तब श्रीरामचन्द्रजी अति हर्षपूर्वक भरतजीको गोदमें लिये उसी विमानपर चढ़े हुए भरतजीके आश्रमको गये। वहाँ विमानश्रेष्ठ पुष्पकसे नीचे पृथिवीपर उतरकर भगवान् रामने उससे कहा—"जाओ, मैं आज्ञा देता हूँ—अब, तुम धनपति कुबेरका अनुसरण करते हुए उन्हींको वहन करो" ॥ ९४—९९ ॥ फिर, इन्द्र जैसे बृहस्पतिजीकी वन्दना करते हैं वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी गुरु वसिष्ठजीके चरणकमलोंमें प्रणाम कर और उन्हें एक अति सुन्दर बहुमूल्य आसन दे स्वयं भी उन्हींके पास बैठ गये ॥ १०० ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

पञ्चदश सर्ग

श्रीराम-राज्याभिषेक

श्रीमहादेव उवाच

ततस्तु कैकयीपुत्रो भरतो भक्तिसंयुतः।
शिरस्यञ्जलिमाधाय ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत् ॥ १ ॥

माता मे सत्कृता राम दत्तं राज्यं त्वया मम।
ददामि तत्ते च पुनर्यथा त्वमददा मम ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा पादयोर्भक्त्या साष्टाङ्गं प्रणिपत्य च।
बहुधा प्रार्थयामास कैकेय्या गुरुणा सह ॥ ३ ॥

तथेति प्रतिजग्राह भरताद्राज्यमीश्वरः।
मायामाश्रित्य सकलां नरचेष्टापुपागतः ॥ ४ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! फिर कैकेयीपुत्र भरतजीने शीश झुकाये अञ्जलि बाँधकर अति भक्तिपूर्वक ज्येष्ठ भ्राता रामजीसे कहा— ॥ १ ॥ "हे राम ! आपने मुझे राज्य दिया था, इससे मेरी माताका सत्कार तो हो चुका। अब, जैसे आपने मुझे दिया था वैसे ही मैं फिर आपहीको उसे सौंपता हूँ" ॥ २ ॥ ऐसा कह उन्होंने चरणोंमें भक्तिपूर्वक साष्टाङ्ग प्रणाम कर (राज्य स्वीकार करनेके लिये) कैकेयी और गुरुजीके सहित बहुत कुछ प्रार्थना की ॥ ३ ॥ तब अपनी मायाको आश्रय कर सब प्रकारकी मनुष्य-लीलाएँ करनेमें प्रवृत्त हुए भगवान् रामने 'बहुत अच्छा' कह भरतजीसे राज्य ले लिया ॥ ४ ॥

स्वाराज्यानुभवो यस्य सुखज्ञानैकरूपिणः ।
निरस्तातिशयानन्दरूपिणः परमात्मनः ॥ ५ ॥

मानुषेण तु राज्येन किं तस्य जगदीशितुः ।
यस्य भ्रूभङ्गमात्रेण त्रिलोकी नश्यति क्षणात् ॥ ६ ॥

यस्यानुग्रहमात्रेण भवन्त्याखण्डलश्रियः ।
लीलासृष्टमहासृष्टेः कियदेतद्रमापतेः ॥ ७ ॥

तथापि भजतां नित्यं कामपूरविधित्सया ।
लीलामानुषदेहेन सर्वमप्यनुवर्तते ॥ ८ ॥

ततः शत्रुघ्नवचनान्निपुणः श्मश्रुकृन्तकः ।
सम्भाराश्चाभिषेकार्थमानीता राघवस्य हि ॥ ९ ॥

पूर्वं तु भरते स्नाते लक्ष्मणे च महात्मनि ।
सुग्रीवे वानरेन्द्रे च राक्षसेन्द्रे विभीषणे ॥ १० ॥

विशोधितजटः स्नातश्चित्रमाल्यानुलेपनः ।
महार्हवसनोपेतस्तस्थौ तत्र श्रिया ज्वलन् ॥ ११ ॥

प्रतिकर्म च रामस्य लक्ष्मणश्च महामतिः ।
कारयामास भरतः सीताया राजयोषितः ॥ १२ ॥

महार्हवस्त्राभरणैरलञ्चक्रुः सुमध्यमाम् ।
ततो वानरपत्नीनां सर्वासामेव शोभना ॥ १३ ॥

अकारयत कौसल्या प्रहृष्टा पुत्रवत्सला ।
ततः स्यन्दनमादाय शत्रुघ्नवचनात्सुधीः ॥ १४ ॥

सुमन्त्रः सूर्यसङ्काशं योजयित्वाग्रतः स्थितः ।
आरुरोह रथं रामः सत्यधर्मपरायणः ॥ १५ ॥

सुग्रीवो युवराजश्च हनुमांश्च विभीषणः ।
स्नात्वा दिव्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिताः ॥ १६ ॥

राममन्वीयुरग्रे च रथाश्वगजवाहनाः ।
सुग्रीवपत्न्यः सीता च ययुर्यानैः पुरं महत् ॥ १७ ॥

वज्रपाणिर्यथा देवैर्हरिताश्वरथे स्थितः ।
प्रययौ रथमास्थाय तथा रामो महत्पुरम् ॥ १८ ॥

सारथ्यं भरतश्चक्रे रत्नदण्डं महाद्युतिः ।
श्वेतातपत्रं शत्रुघ्नो लक्ष्मणो व्यजनं दधे ॥ १९ ॥

जिन्हें हर समय स्वर्गीय राज्यका अनुभव होता है उन एकमात्र सुख और ज्ञानस्वरूप समस्त विषयानन्दोंसे रहित परमानन्दमूर्ति परमात्मा जगदीश्वरको तुच्छ मानवी राज्यसे क्या काम है ? जिनके भृकुटि-विलासमात्रसे तीनों लोक एक क्षणमें नष्ट हो जाते हैं ॥ ५-६ ॥ जिनकी कृपासे इन्द्रकी राज्यलक्ष्मी प्राप्त होती है तथा जिन्होंने लीलासे ही यह महान् सृष्टि रची है उन लक्ष्मीपतिके लिये यह (अयोध्याका राज्य) कितना है ? ॥ ७ ॥ तथापि अपने भक्तोंकी कामनाओंको सदैव पूर्ण करनेके लिये वे माया-मानवदेहसे सर्वदा सभी कुछ अभिनय करते हैं ॥ ८ ॥

तब शत्रुघ्नजीकी आज्ञासे कुशल क्षौरकार (नाई) बुलाया गया और रघुनाथजीके अभिषेकके लिये सामग्री इकट्ठी की गयी ॥ ९ ॥ पहले भरतजीने और फिर महात्मा लक्ष्मणजीने स्नान किया, तदुपरान्त वानरराज सुग्रीव और राक्षसराज विभीषण नहाये ॥ १० ॥ फिर जटाजूटके कट जानेपर श्रीरघुनाथजीने स्नान किया और रंग-विरंगी मालाओं, अङ्गरागों तथा बहुमूल्य वस्त्रोंसे सुसज्जित हो वे अपनी कान्तिसे देदीप्यमान होकर विराजमान हुए ॥ ११ ॥ महामति लक्ष्मण और भरतने श्रीरामचन्द्रजीको विभूषित कराया और राजमहिलाओंने सीताजीका शृङ्गार किया ॥ १२ ॥ उन्होंने उस सुन्दरीको नाना प्रकारके बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणोंसे सुसज्जित किया। तदनन्तर पुत्रवत्सला शोभामयी कौसल्याजीने अति प्रसन्न होकर समस्त वानरपत्नियोंका भी शृङ्गार कराया।

इसी समय शत्रुघ्नजीकी आज्ञासे बुद्धिमान् सुमन्त्रने सूर्यके समान तेजस्वी रथ जोड़कर सामने ला खड़ा किया। तब सत्यधर्मपरायण भगवान् राम उस रथपर चढ़े ॥ १३—१५ ॥ उस समय सुग्रीव, अङ्गद, हनुमान् और विभीषण स्नानादि कर दिव्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो रथ, घोड़े और हाथी आदि वाहनोंपर चढ़कर श्रीरामचन्द्रजीके आगे-पीछे चले तथा सुग्रीवकी पत्नियाँ और सीताजी सुन्दर पालकियोंपर बैठकर अति विशाल अयोध्यापुरीको चलीं ॥ १६-१७ ॥ जिस प्रकार हरितवर्ण घोड़ोंके रथमें बैठकर वज्रपाणि इन्द्र देवताओंके साथ चलते हैं उसी प्रकार भगवान् राम रथपर चढ़कर महापुरी अयोध्याको चले ॥ १८ ॥ तब महातेजस्वी भरतजीने सारथी होकर रथ चलाया, शत्रुघ्नजीने रत्नजटित दण्डयुक्त

चामरं च समीपस्थो न्यवीजयदरिन्दमः।
शशिप्रकाशं त्वपरं जग्राहासुरनायकः॥ २०॥

दिविजैः सिद्धसङ्घैश्च ऋषिभिर्दिव्यदर्शनैः।
स्तूयमानस्य रामस्य शुश्रुवे मधुरध्वनिः॥ २१॥

मानुषं रूपमास्थाय वानरा गजवाहनाः।
भेरीशङ्खनिनादैश्च मृदङ्गपणवानकैः॥ २२॥

प्रययौ राघवश्रेष्ठस्तां पुरीं समलङ्कृताम्।
ददृशुस्ते समायान्तं राघवं पुरवासिनः॥ २३॥

दूर्वादलश्यामतनुं महार्ह-
किरीटरत्नाभरणाञ्चिताङ्गम्।
आरक्तकञ्जायतलोचनान्तं
दृष्ट्वा ययुर्मोदमतीव पुण्याः॥ २४॥

विचित्ररत्नाञ्चितसूत्रनद्ध-
पीताम्बरं पीनभुजान्तरालम्।
अनर्घ्यमुक्ताफलदिव्यहारै-
र्विरोचमानं रघुनन्दनं प्रजाः॥ २५॥

सुग्रीवमुख्यैर्हरिभिः प्रशान्तै-
र्निषेव्यमाणं रवितुल्यभासम्।
कस्तूरिकाचन्दनलिप्तगात्रं
निवीतकल्पद्रुमपुष्पमालम्॥ २६॥

श्रुत्वा स्त्रियो राममुपागतं मुदा
प्रहर्षवेगोत्कलितानन श्रियः।
अपास्य सर्वं गृहकार्यमाहितं
हर्म्याणि चैवारुरुहुः स्वलङ्कृताः॥ २७॥

दृष्ट्वा हरिं सर्वदृगुत्सवाकृतिं
पुष्पैः किरन्त्यः स्मितशोभिताननाः।
दृग्भिः पुनर्नेत्रमनोरसायनं
स्वानन्दमूर्तिं मनसाभिरेभिरे॥ २८॥

रामः स्मितस्निग्धदृशा प्रजास्तथा
पश्यन्प्रजानाथ इवापरः प्रभुः।

श्वेत छत्र लिया और लक्ष्मणजीने व्यजन (पङ्खा) धारण किया॥ १९॥ एक ओर पास ही स्थित शत्रुदमन सुग्रीवने और दूसरी ओर राक्षसराज विभीषणने चन्द्रमाके समान कान्तियुक्त चँवर डुलाया॥ २०॥ उस समय भगवान् रामकी स्तुति करते हुए दिव्यदर्शन देवताओं, सिद्धसमूहों और ऋषियोंकी सुमधुर ध्वनि सुनायी देने लगी॥ २१॥

वानरगण मनुष्यरूप धारणकर हाथियोंपर सवार हुए। इस प्रकार रघुश्रेष्ठ भगवान् राम सहनाई, शङ्ख, मृदङ्ग, ताशे और नगाड़े आदि बाजोंके घोषके साथ भली प्रकार सजायी हुई अयोध्यापुरीमें गये। उस समय पुरवासी लोग श्रीरघुनाथजीको आते हुए देखने लगे॥ २२-२३॥ वे महाभाग पुरजन दूर्वादलके समान श्याम-शरीर, महामूल्य मुकुट और रत्नजटित आभूषणोंसे विभूषित, कमलके समान कुछ अरुणवर्ण विशाल नयनोंवाले, रंग-विरंगे रत्नोंसे युक्त (सुनहरी) तारके कामका पीताम्बर धारण किये, विशाल वक्षःस्थलवाले, बहुमूल्य मोतियोंके दिव्य हारोंसे सुशोभित, सुग्रीवादि शान्तस्वभाव वानरोंसे सेवित, सूर्यके समान तेजस्वी, समस्त शरीरमें कस्तूरी और चन्दनका लेप किये तथा कल्पवृक्षके पुष्पोंकी माला धारण किये श्रीरघुनाथजीको देखकर परम आनन्दको प्राप्त हुए॥ २४—२६॥

जब स्त्रियोंने भगवान् रामको आते सुना तो प्रसन्नतासे महान् हर्षके कारण उनके मुखकी कान्ति उज्ज्वल हो गयी और वे जिस गृहकार्यमें लगी हुई थीं उसे छोड़ भली प्रकार सज-धजकर अपने-अपने घरोंके ऊपर चढ़ गयीं॥ २७॥ सुमधुर मुसकानसे जिनका मुख मनोहर हो रहा है वे पुरनारियाँ, सबके नयनानन्द-स्वरूप भगवान् रामको देखकर, फूलोंकी वर्षा करने लगीं और फिर उन्होंने, नेत्र और मनको प्रिय लगनेवाली उस आनन्दमयी मूर्तिको नेत्रोंद्वारा हृदयमें ले जाकर, मनसे आलिङ्गन किया॥ २८॥ इस प्रकार विष्णुस्वरूप भगवान् राम दूसरे प्रजापतिके समान मुसकानयुक्त मनोहर दृष्टिसे अपनी

शनैर्जगामाथ पितुः स्वलङ्कृतं
गृहं महेन्द्रालयसन्निभं हरिः ॥ २९ ॥

प्रविश्य वेश्मान्तरसंस्थितो मुदा
रामो ववन्दे चरणौ स्वमातुः ।
क्रमेण सर्वाः पितृयोषितः प्रभु-
र्ननाम भक्त्या रघुवंशकेतुः ॥ ३० ॥

ततो भरतमाहेदं रामः सत्यपराक्रमः ।
सर्वसम्पत्समायुक्तं मम मन्दिरमुत्तमम् ॥ ३१ ॥

मित्राय वानरेन्द्राय सुग्रीवाय प्रदीयताम् ।
सर्वेभ्यः सुखवासार्थं मन्दिराणि प्रकल्पय ॥ ३२ ॥

रामेणैवं समादिष्टो भरतश्च तथाकरोत् ।
उवाच च महातेजाः सुग्रीवं राघवानुजः ॥ ३३ ॥

राघवस्याभिषेकार्थं चतुःसिन्धुजलं शुभम् ।
आनेतुं प्रेषयस्वाशु दूतांस्त्वरितविक्रमान् ॥ ३४ ॥

प्रेषयामास सुग्रीवो जाम्बवन्तं मरुत्सुतम् ।
अङ्गदं च सुषेणं च ते गत्वा वायुवेगतः ॥ ३५ ॥

जलपूर्णान् शातकुम्भकलशांश्च समानयन् ।
आनीतं तीर्थसलिलं शत्रुघ्नो मन्त्रिभिः सह ॥ ३६ ॥

राघवस्याभिषेकार्थं वसिष्ठाय न्यवेदयत् ।
ततस्तु प्रयतो वृद्धो वसिष्ठो ब्राह्मणैः सह ॥ ३७ ॥

रामं रत्नमये पीठे ससीतं संन्यवेशयत् ।
वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिर्गौतमस्तथा ॥ ३८ ॥

वाल्मीकिश्च तथा चक्रुः सर्वे रामाभिषेचनम् ।
कुशाग्रतुलसीयुक्तपुण्यगन्धजलैर्मुदा ॥ ३९ ॥

अभ्यषिञ्चन् रघुश्रेष्ठं वासवं वसवो यथा ।
ऋत्विग्भिर्ब्राह्मणैः श्रेष्ठैः कन्याभिः सह मन्त्रिभिः ॥ ४० ॥

सर्वौषधिरसैश्चैव दैवतैर्नभसि स्थितैः ।
चतुर्भिर्लोकपालैश्च स्तुवद्भिः सगणैस्तथा ॥ ४१ ॥

छत्रं च तस्य जग्राह शत्रुघ्नः पाण्डुरं शुभम् ।
सुग्रीवराक्षसेन्द्रौ तौ दधतुः श्वेतचामरे ॥ ४२ ॥

प्रजाको देखते हुए धीरे-धीरे भली प्रकार सजाये हुए अपने पिताके इन्द्रभवनके समान महलमें गये ॥ २९ ॥ राजमहलके भीतर जाकर श्रीरामचन्द्रजीने अतिप्रसन्न चित्तसे अपनी माता (कौसल्या) के चरणोंकी वन्दना की और फिर उन रघुवंशशिरोमणि प्रभुने क्रमशः सभी विमाताओंको भक्तिपूर्वक प्रणाम किया ॥ ३० ॥

तब सत्यपराक्रमी भगवान् रामने भरतजीसे कहा— "मेरा सर्वसम्पत्तियुक्त श्रेष्ठ महल मेरे मित्र वानरराज सुग्रीवको दो तथा और सबके लिये भी सुखपूर्वक रहने-योग्य महल बताओ" ॥ ३१-३२ ॥ श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा पाकर भरतजीने वैसा ही किया, फिर महातेजस्वी भरतजीने सुग्रीवसे कहा— ॥ ३३ ॥ "श्रीरामचन्द्रजीके अभिषेकके लिये चारों समुद्रोंका मङ्गलमय जल लानेके लिये तुरंत ही शीघ्रगामी दूत भेजिये" ॥ ३४ ॥ तब सुग्रीवने जाम्बवान्, हनुमान्, अङ्गद और सुषेणको भेजा। वे तुरंत ही वायुवेगसे जाकर सुवर्णकलशोंमें जल भरकर ले आये। उनके लाये हुए तीर्थजलको मन्त्रियोंके सहित शत्रुघ्नजीने भगवान् रामके अभिषेकके लिये वसिष्ठजीको निवेदन कर दिया। तब ब्राह्मणोंके सहित वयोवृद्ध जितेन्द्रिय वसिष्ठजीने सीताजीके सहित श्रीरामचन्द्रजीको रत्नसिंहासनपर बैठाया और फिर वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, गौतम तथा वाल्मीकि आदि समस्त महर्षियोंने अति प्रसन्न होकर कुश और तुलसीके सहित पवित्र गन्धयुक्त जलसे श्रीरामचन्द्रजीका अभिषेक किया ॥ ३५—३९ ॥ फिर ऋत्विजों, श्रेष्ठ ब्राह्मणों, कन्याओं और मन्त्रियोंके सहित उन महर्षियोंने आकाशस्थित देवताओं तथा अपने-अपने गणोंके सहित चारों लोकपालोंके स्तुति करते हुए सर्वौषधिके रसोंसे भी श्रीरघुनाथजीका इस प्रकार अभिषेक किया जैसे वसुओंने इन्द्रका किया था ॥ ४०-४१ ॥

उस समय शत्रुघ्नजीने भगवान् रामके ऊपर अति सुन्दर श्वेत छत्र लगाया और सुग्रीव तथा विभीषणने श्वेत चामर धारण किये ॥ ४२ ॥

मालां च काञ्चनीं वायुर्ददौ वासवचोदितः ।
सर्वरत्नसमायुक्तं मणिकाञ्चनभूषितम् ॥ ४३ ॥

ददौ हारं नरेन्द्राय स्वयं शक्रस्तु भक्तितः ।
प्रजगुर्देवगन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ४४ ॥

देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिः पपात खात् ।
नवदूर्वादलश्यामं पद्मपत्रायतेक्षणम् ॥ ४५ ॥

रविकोटिप्रभायुक्तकिरीटेन विराजितम् ।
कोटिकन्दर्पलावण्यं पीताम्बरसमावृतम् ॥ ४६ ॥

दिव्याभरणसम्पन्नं दिव्यचन्दनलेपनम् ।
अयुतादित्यसङ्काशं द्विभुजं रघुनन्दनम् ॥ ४७ ॥

वामभागे समासीनां सीतां काञ्चनसन्निभाम् ।
सर्वाभरणसम्पन्नां वामाङ्के समुपस्थिताम् ॥ ४८ ॥

रक्तोत्पलकराम्भोजां वामेनालिङ्ग्य संस्थितम् ।
सर्वातिशयशोभाढ्यं दृष्ट्वा भक्तिसमन्वितः ॥ ४९ ॥

उमया सहितो देवः शङ्करो रघुनन्दनम् ।
सर्वदेवगणैर्युक्तः स्तोतुं समुपचक्रमे ॥ ५० ॥

श्रीमहादेव उवाच

नमोऽस्तु रामाय सशक्तिकाय
नीलोत्पलश्यामलकोमलाय ।
किरीटहाराङ्गदभूषणाय
सिंहासनस्थाय महाप्रभाय ॥ ५१ ॥

त्वमादिमध्यान्तविहीन एकः
सृजस्यवस्यत्सि च लोकजातम् ।
स्वमायया तेन न लिप्यसे त्वं
यत्स्वे सुखेऽजस्त्ररतोऽनवद्यः ॥ ५२ ॥

लीलां विधत्से गुणसंवृतस्त्वं
प्रपन्नभक्तानुविधानहेतोः ।
नानावतारैः सुरमानुषाद्यैः
प्रतीयसे ज्ञानिभिरेव नित्यम् ॥ ५३ ॥

स्वांशेन लोकं सकलं विधाय तं
बिभर्षि च त्वं तदधः फणीश्वरः ।

इन्द्रकी प्रेरणासे वायुने सुवर्णमयी माला दी और फिर स्वयं इन्द्रने भी अति भक्तिपूर्वक महाराज रामको एक सम्पूर्ण रत्नोंसे युक्त और मणि तथा सुवर्णसे विभूषित हार दिया। तदनन्तर, देवता और गन्धर्वोंने गान आरम्भ किया और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ॥ ४३-४४ ॥ तथा आकाशसे देव-दुन्दुभियोंके घोषके साथ पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। फिर नवीन दूर्वादलके समान श्यामवर्ण, कमलदलके समान विशालनयन, करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशयुक्त मुकुटसे सुशोभित, करोड़ों कामदेवोंके समान कमनीय, पीताम्बर-परिवेष्टित, दिव्याभरण-विभूषित, दिव्यचन्दन-चर्चित, हजारों सूर्योंके समान तेजस्वी, सबसे अधिक शोभायमान द्विभुज रघुनाथजीको अपनी बायीं ओर करकमलमें रक्तकमल धारण किये बैठी हुई सर्वाभूषणविभूषिता सुवर्णवर्णा सीताजीको अपनी बायीं भुजासे आलिङ्गन किये देख पार्वतीजीसहित भगवान् शङ्कर भक्तिभावसे भरकर समस्त देवताओंके सहित स्तुति करने लगे ॥ ४५—५० ॥

श्रीमहादेवजी बोले—नीलकमलके समान सुकोमल श्यामशरीरवाले, किरीट, हार और भुजबन्ध आदिसे विभूषित तथा अपनी शक्ति (श्रीसीताजी) के सहित सिंहासनपर विराजमान महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार है ॥ ५१ ॥ हे राम ! आप आदि, अन्त और मध्यसे रहित अद्वितीय हैं, अपनी मायासे आप ही सम्पूर्ण लोकोंकी रचना, पालन और संहार करते हैं, तो भी उससे लिप्त नहीं होते; क्योंकि आप निरन्तर स्वानन्दमग्न और अनिन्द्य हैं ॥ ५२ ॥ अपनी मायाके गुणोंसे आवृत होकर आप अपने शरणागत भक्तोंको मार्ग दिखानेके लिये देव, मनुष्यादि नाना प्रकारके अवतार लेकर विचित्र लीलाएँ करते हैं। उस समय सदा ज्ञानीजन ही आपको जान पाते हैं ॥ ५३ ॥ आप अपने अंशसे सम्पूर्ण लोकोंकी रचना करके उन्हें शेषरूप होकर नीचेसे धारण करते हैं तथा सूर्य, वायु, चन्द्र, ओषधि और वृष्टिरूप होकर उनका नाना

उपर्यधो भान्वनिलोडुपौषधि-
प्रवर्षरूपोऽवसि नैकधा जगत् ॥ ५४ ॥
त्वमिह देहभृतां शिखिरूपः
पचसि भुक्तमशेषमजस्रम्।
पवनपञ्चकरूपसहायो
जगदखण्डमनेन बिभर्षि ॥ ५५ ॥
चन्द्रसूर्यशिखिमध्यगतं यत्
तेज ईश चिदशेषतनूनाम्।
प्राभवत्तनुभृतामिव धैर्यं
शौर्यमायुरखिलं तव सत्त्वम् ॥ ५६ ॥
त्वं विरिञ्चिशिवविष्णुविभेदात्
कालकर्मशशिसूर्यविभागात् ।
वादिनां पृथगिवेश विभासि
ब्रह्म निश्चितमनन्यदिहैकम् ॥ ५७ ॥
मत्स्यादिरूपेण यथा त्वमेकः
श्रुतौ पुराणेषु च लोकसिद्धः।
तथैव सर्वं सदसद्विभाग-
स्त्वमेव नान्यद्भवतो विभाति ॥ ५८ ॥
यद्यत्समुत्पन्नमनन्तसृष्टा-
वुत्पत्स्यते यच्च भवच्च यच्च।
न दृश्यते स्थावरजङ्गमादौ
त्वया विनातः परतः परस्त्वम् ॥ ५९ ॥
तत्त्वं न जानन्ति परात्मनस्ते
जनाः समस्तास्तव माययातः।
त्वद्भक्तसेवामलमानसानां
विभाति तत्त्वं परमेकमैशम् ॥ ६० ॥
ब्रह्मादयस्ते न विदुः स्वरूपं
चिदात्मतत्त्वं बहिरर्थभावाः।
ततो बुधस्त्वामिदमेव रूपं
भक्त्या भजन्मुक्तिमुपैत्यदुःखः ॥ ६१ ॥
अहं भवन्नाम गृणन्कृतार्थो
वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं
दिशामि मन्त्रं तव राम नाम ॥ ६२ ॥

प्रकारसे ऊपरसे पालन करते हैं ॥ ५४ ॥ आप ही जठराग्निरूप होकर (प्राण, अपान आदि) पाँच प्राणोंकी सहायतासे प्राणियोंके खाये हुए अन्नको पचाकर उसके द्वारा सर्वदा सम्पूर्ण जगत्का पालन करते हैं ॥ ५५ ॥ हे ईश ! चन्द्र, सूर्य और अग्निमें जो तेज है, समस्त प्राणियोंमें जो चेतनांश है तथा देहधारियोंमें जो धैर्य, शौर्य और आयुर्बल-सा दिखायी देता है वह आपहीकी सत्ता है ॥ ५६ ॥ हे राम ! भिन्न-भिन्न ईश्वरवादियोंको एक आप ही ब्रह्मा, महादेव और विष्णुके तथा काल, कर्म, चन्द्रमा और सूर्यके भेदसे पृथक्-पृथक्-से भासते हैं ? किन्तु इसमें सन्देह नहीं, वास्तवमें आप हैं एक अद्वितीय ब्रह्म ही ॥ ५७ ॥ जिस प्रकार वेद, पुराण और लोकमें आप एक ही मत्स्यादि अनेक रूपोंसे प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार संसारमें जो कुछ सत-असत्-रूप विभाग है, वह आप ही हैं—आपसे भिन्न और कुछ नहीं है ॥ ५८ ॥ इस अनन्त सृष्टिमें जो कुछ उत्पन्न हुआ है, जो उत्पन्न होगा और जो हो रहा है उस स्थावर-जंगमादिरूप सम्पूर्ण प्रपञ्चमें आपके बिना और कोई दिखायी नहीं देता। अतः आप (प्रकृति आदि) परसे भी पर हैं ॥ ५९ ॥ हे राम ! आपकी मायासे मोहित होनेके कारण सब लोग आपके परमात्मस्वरूपका तत्त्व नहीं जानते। अतः जिनका अन्तःकरण आपके भक्तोंकी सेवाके प्रभावसे निर्मल हो गया है उन्हींको आपका अद्वितीय ईश्वररूप भासता है ॥ ६० ॥ जिनकी बाह्य पदार्थोंमें सत्यबुद्धि है वे ब्रह्मादि भी आपके चित्स्वरूपको नहीं जानते, (फिर औरोंका तो कहना ही क्या है ?) अतः बुद्धिमान् पुरुष इस श्यामसुन्दरस्वरूपसे ही आपका भक्तिपूर्वक भजन करके दुःखोंसे पार होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ६१ ॥ प्रभो ! आपके नामोच्चारणसे कृतार्थ होकर मैं अहर्निश पार्वतीजीके सहित काशीमें रहता हूँ और वहाँ मरणासन्न पुरुषोंको उनके मोक्षके लिये आपके तारक मन्त्र 'राम' नामका उपदेश करता हूँ ॥ ६२ ॥

इमं स्तवं नित्यमनन्यभक्त्या
शृण्वन्ति गायन्ति लिखन्ति ये वै।
ते सर्वसौख्यं परमं च लब्ध्वा
भवत्पदं यान्तु भवत्प्रसादात्॥ ६३॥

(अब आपसे यही प्रार्थना है कि) जो लोग मेरे कहे इस स्तोत्रको अनन्य भक्तिसे नित्यप्रति सुनें, कहें अथवा लिखें वे आपकी कृपासे सम्पूर्ण परमानन्द लाभ करके आपके निज-पदको प्राप्त हों॥ ६३॥

इन्द्र उवाच

रक्षोऽधिपेनाखिलदेव सौख्यं
हृतं च मे ब्रह्मवरेण देव।
पुनश्च सर्वं भवतः प्रसादात्
प्राप्तं हतो राक्षसदुष्टशत्रुः॥ ६४॥

इन्द्र बोले—हे देव! ब्रह्माजीके वरके प्रभावसे राक्षसराज रावणने मेरे समस्त देवोचित सुखको हर लिया था। अब उस दुष्ट शत्रु राक्षसराजके मारे जानेपर आपकी कृपासे मुझे वह सब सुख फिर प्राप्त हो गया॥ ६४॥

देवा ऊचुः

हृता यज्ञभागा धरादेवदत्ता
मुरारे खलेनादिदैत्येन विष्णो।
हतोऽद्य त्वया नो वितानेषु भागाः
पुरावद्भविष्यन्ति युष्मत्प्रसादात्॥ ६५॥

देवगण बोले—हे मुरारे! हे विष्णो! इस दुष्ट आदिदैत्यने ब्राह्मणोंद्वारा दिये हुए हमारे समस्त यज्ञभागोंको हर लिया था। अब आपने उसे मार डाला अतः आपकी कृपासे अब हमें फिर पहलेके समान ही यज्ञोंमें भाग मिलने लगेंगे॥ ६५॥

पितर ऊचुः

हतोऽद्य त्वया दुष्टदैत्यो महात्मन्
गयादौ नरैर्दत्तपिण्डादिकान्नः।
बलादत्ति हत्वा गृहीत्वा समस्ता-
निदानीं पुनर्लब्धसत्त्वा भवामः॥ ६६॥

पितृगण बोले—हे महात्मन्! यह दुष्ट दैत्य गया आदि पुण्य-क्षेत्रोंमें मनुष्योंके दिये हुए हमारे पिण्डोदकादिको बलात् छीनकर खा लेता था; आज आपने इसे मार डाला। अतः अब अपना भाग प्राप्त करके हम फिर शक्ति प्राप्त कर लेंगे॥ ६६॥

यक्षा ऊचुः

सदा विष्टिकर्मण्यनेनाभियुक्ता
वहामो दशास्यं बलाद्दुःखयुक्ताः।
दुरात्मा हतो रावणो राघवेश
त्वया ते वयं दुःखजाताद्विमुक्ताः॥ ६७॥

यक्ष बोले—हे रघुनाथजी! यह रावण हमें बलात् बेगारमें लगा देता था और हम इसकी पालकी आदिमें जुतकर बड़ा कष्ट मानकर इसे ले चलते थे अतः आज इस दुरात्माको मारकर आपने हमें अनेकों दुःखोंसे छुड़ा दिया॥ ६७॥

गन्धर्वा ऊचुः

वयं सङ्गीतनिपुणा गायन्तस्ते कथामृतम्।
आनन्दामृतसन्दोहयुक्ताः पूर्णाः स्थिताः पुरा॥ ६८॥
पश्चाद्दुरात्मना राम रावणेनाभिविद्रुताः।
तमेव गायमानाश्च तदाराधनतत्पराः॥ ६९॥
स्थितास्त्वया परित्राता हतोऽयं दुष्टराक्षसः।
एवं महोरगाः सिद्धाः किन्नरा मरुतस्तथा॥ ७०॥
वसवो मुनयो गावो गुह्यकाश्च पतत्रिणः।
सप्रजापतयश्चैते तथा चाप्सरसां गणाः॥ ७१॥

गन्धर्व बोले—प्रभो! हम संगीतकुशल लोग आपकी अमृततुल्य कथाओंका गान करते हुए पहले आनन्दामृतसमूहसे युक्त होकर मग्न रहते थे॥ ६८॥ किन्तु फिर दुरात्मा रावणद्वारा आक्रान्त होकर हम उसीके गुणगान और उसीकी सेवामें तत्पर हो गये। इस दुष्ट राक्षसको मारकर अब आपने हमें भी बचा लिया।

इसी प्रकार महानाग, सिद्ध, किन्नर, मरुत, वसु, मुनि, गौ, गुह्यक, पक्षी, प्रजापति और अप्सराओंके समूह

सर्वे रामं समासाद्य दृष्ट्वा नेत्रमहोत्सवम्।
स्तुत्वा पृथक् पृथक् सर्वे राघवेणाभिवन्दिताः ॥ ७२ ॥

ययुः स्वं स्वं पदं सर्वे ब्रह्मरुद्रादयस्तथा।
प्रशंसन्तो मुदा रामं गायन्तस्तस्य चेष्टितम् ॥ ७३ ॥

ध्यायन्तस्त्वभिषेकार्द्रं सीतालक्ष्मणसंयुतम्।
सिंहासनस्थं राजेन्द्रं ययुः सर्वे हृदि स्थितम् ॥ ७४ ॥

खे वाद्येषु ध्वनत्सु प्रमुदितहृदयै-
देववृन्दैः स्तुवद्भि-
र्वर्षद्भिः पुष्पवृष्टिं दिवि मुनिनिकरै-
रीड्यमानः समन्तात्।
रामः श्यामः प्रसन्नस्मितरुचिरमुखः
सूर्यकोटिप्रकाशः
सीतासौमित्रिवातात्मजमुनिहरिभिः
सेव्यमानो विभाति ॥ ७५ ॥

सभी भगवान् रामके पास पृथिवीलोकमें आये और उन नयनानन्दवर्धन प्रभुके दर्शन कर उनकी पृथक्-पृथक् स्तुति की तथा उनसे प्रशंसित हो अपने-अपने लोकोंको चले गये। तदनन्तर ब्रह्मा और महादेव आदि भी आनन्द-पूर्वक भगवान् रामकी प्रशंसा करते, उनकी लीलाओंका गान करते और सिंहासनपर विराजमान अभिषेकसे आर्द्र राजराजेश्वर श्रीरामचन्द्रजीका सीताजी और लक्ष्मणके सहित हृदयमें ध्यान करते वहाँसे विदा हुए ॥ ६९—७४ ॥

उस समय, जब कि आकाशमें बाजे बज रहे थे, देवताओंका वृन्द स्वर्गमें प्रसन्न हृदयसे स्तुति करता हुआ पुष्प बरसा रहा था। तथा महर्षि-मण्डल चारों ओर स्थित होकर स्तुति कर रहा था, करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान प्रसन्नतायुक्त मुसकानसे मनोहर मुखवाले श्यामसुन्दर भगवान् राम सीता, लक्ष्मण, हनुमान्, मुनिजन तथा वानरगणोंसे सेवित होकर अत्यन्त सुशोभित हुए ॥ ७५ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडश सर्ग

वानरोंकी विदा तथा ग्रन्थप्रशंसा

श्रीमहादेव उवाच

रामेऽभिषिक्ते राजेन्द्रे सर्वलोकसुखावहे।
वसुधा सस्यसम्पन्ना फलवन्तो महीरुहाः ॥ १ ॥

गन्धहीनानि पुष्पाणि गन्धवन्ति चकाशिरे।
सहस्रशतमश्वानां धेनूनां च गवां तथा ॥ २ ॥

ददौ शतवृषान्पूर्वं द्विजेभ्यो रघुनन्दनः।
त्रिंशत्कोटि सुवर्णस्य ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुनः ॥ ३ ॥

वस्त्राभरणरत्नानि ब्राह्मणेभ्यो मुदा तथा।
सूर्यकान्तिसमप्रख्यां सर्वरत्नमयीं स्रजम् ॥ ४ ॥

सुग्रीवाय ददौ प्रीत्या राघवो भक्तवत्सलः।
अङ्गदाय ददौ दिव्ये ह्यङ्गदे रघुनन्दनः ॥ ५ ॥

चन्द्रकोटिप्रतीकाशं मणिरत्नविभूषितम्।
सीतायै प्रददौ हारं प्रीत्या रघुकुलोत्तमः ॥ ६ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! समस्त लोकोंको सुख देनेवाले राजराजेश्वर भगवान् रामके राज्याभिषिक्त होनेपर पृथिवी धन-धान्यसे पूर्ण हो गयी और वृक्ष फलयुक्त हो गये ॥ १ ॥ तथा जो पुष्प गन्धहीन थे वे भी सुगन्धयुक्त होकर शोभा पाने लगे। श्रीरघुनाथजीने (राज्याभिषिक्त होकर) पहले एक लाख घोड़े, एक लाख दूध देनेवाली गौएँ और सैकड़ों बैल ब्राह्मणोंको दिये और फिर उन्हें तीस करोड़ सुवर्णमुद्रा दिये ॥ २-३ ॥ तत्पश्चात् उन्होंने प्रसन्न होकर नाना प्रकारके वस्त्र, आभूषण और रत्नादि भी ब्राह्मणोंको दिये। फिर भक्तवत्सल रघुनाथजीने सब प्रकारके रत्नोंसे युक्त एक सूर्यकी कान्तिके समान चमकती हुई माला अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सुग्रीवको दी और अङ्गदको दो दिव्य अंगद (भुजबन्ध) दिये ॥ ४-५ ॥ तदनन्तर रघुकुल-तिलक श्रीरामचन्द्रजीने अति प्रेमभावसे करोड़ों चन्द्रमाओंके समान प्रकाशमान अमूल्य मणि और

अवमुच्यात्मनः कण्ठाद्धारं जनकनन्दिनी ।
अवैक्षत हरीन्सर्वान् भर्तारं च मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

रामस्तामाह वैदेहीमिङ्गितज्ञो विलोकयन् ।
वैदेहि यस्य तुष्टासि देहि तस्मै वरानने ॥ ८ ॥

हनूमते ददौ हारं पश्यतो राघवस्य च ।
तेन हारेण शुशुभे मारुतिर्गौरवेण च ॥ ९ ॥

रामोऽपि मारुतिं दृष्ट्वा कृताञ्जलिमुपस्थितम् ।
भक्त्या परमया तुष्ट इदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

हनूमंस्ते प्रसन्नोऽस्मि वरं वरय काङ्क्षितम् ।
दास्यामि देवैरपि यद्दुर्लभं भुवनत्रये ॥ ११ ॥

हनूमानपि तं प्राह नत्वा रामं प्रहृष्टधीः ।
त्वन्नाम स्मरतो राम न तृप्यति मनो मम ॥ १२ ॥

अतस्त्वन्नाम सततं स्मरन् स्थास्यामि भूतले ।
यावत्स्थास्यति ते नाम लोके तावत्कलेवरम् ॥ १३ ॥

मम तिष्ठतु राजेन्द्र वरोऽयं मेऽभिकाङ्क्षितः ।
रामस्तथेति तं प्राह मुक्तस्तिष्ठ यथासुखम् ॥ १४ ॥

कल्पान्ते मम सायुज्यं प्राप्स्यसे नात्र संशयः ।
तमाह जानकी प्रीता यत्र कुत्रापि मारुते ॥ १५ ॥

स्थितं त्वामनुयास्यन्ति भोगाः सर्वे ममाज्ञया ।
इत्युक्तो मारुतिस्ताभ्यामीश्वराभ्यां प्रहृष्टधीः ॥ १६ ॥

आनन्दाश्रुपरीताक्षो भूयो भूयः प्रणम्य तौ ।
कृच्छ्राद्ययौ तपस्तमुं हिमवन्तं महामतिः ॥ १७ ॥

ततो गुहं समासाद्य रामः प्राञ्जलिमब्रवीत् ।
सखे गच्छ पुरं रम्यं शृङ्गवेरमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

मामेव चिन्तयन्नित्यं भुङ्क्ष्व भोगान्निजार्जितान् ।
अन्ते ममैव सारूप्यं प्राप्स्यसे त्वं न संशयः ॥ १९ ॥

रत्नोंसे विभूषित एक हार श्रीजानकीजीको दिया ॥ ६ ॥

श्रीजनकनन्दिनी उस हारको अपने गलेसे उतारकर बारंबार अपने पतिदेव और वानरोंकी ओर देखने लगीं ॥ ७ ॥ श्रीरामचन्द्रजीने सीताजीका संकेत समझकर उनकी ओर देखते हुए कहा—"हे सुमुखि ! जनकनन्दिनि ! तुम जिससे प्रसन्न हो उसे यह हार दे दो' ॥ ८ ॥ तब सीताजीने श्रीरामचन्द्रजीके सामने ही वह हार हनुमान्‌जीको दे दिया। उस हारको पहन और गौरवान्वित हो श्रीहनुमान्‌जी अत्यन्त शोभाको प्राप्त हुए ॥ ९ ॥

भगवान् रामने भी सामने हाथ जोड़े खड़े हुए हनुमान्‌जीसे उनकी भक्तिके कारण अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा— ॥ १० ॥ 'हनुमन् ! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हें जिस वरकी इच्छा हो माँग लो। जो वर त्रिलोकीमें देवताओंको भी मिलना कठिन है वह भी मैं तुम्हें अवश्य दूँगा" ॥ ११ ॥ तब हनुमान्‌जीने अत्यन्त हर्षित होकर उनसे कहा—"हे रामजी ! आपका नाम-स्मरण करते हुए मेरा चित्त तृप्त नहीं होता ॥ १२ ॥ अतः मैं निरन्तर आपका नाम-स्मरण करता हुआ पृथ्वीपर रहूँ। हे राजेन्द्र ! मेरा मनोवाञ्छित वर यही है कि जबतक संसारमें आपका नाम रहे तबतक मेरा शरीर भी रहे।" श्रीरामचन्द्रजीने कहा—"ऐसा ही हो, तुम जीवन्मुक्त होकर संसारमें सुखपूर्वक रहो ॥ १३-१४ ॥ कल्पका अन्त होनेपर तुम मेरा सायुज्य प्राप्त करोगे, इसमें सन्देह नहीं।" फिर जानकीजीने उनसे कहा—"हे मारुते ! तुम जहाँ कहीं भी रहोगे वहीं मेरी आज्ञासे तुम्हारे पास सम्पूर्ण भोग उपस्थित हो जायँगे।" अपने प्रभु भगवान् राम और सीताजीके इस प्रकार कहनेपर महामति हनुमान्‌जी अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १५-१६ ॥ और फिर नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भर उन्हें बारंबार प्रणाम कर बड़ी कठिनतासे, तपस्या करनेके लिये हिमालयपर चले गये ॥ १७ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने हाथ जोड़े खड़े हुए गुहके पास जाकर कहा—'मित्र ! अब तुम अपने परम रमणीय ग्राम शृङ्गवेरपुरको जाओ ॥ १८ ॥ वहाँ मेरा ही चिन्तन करते हुए अपने शुभ कर्मोंसे प्राप्त हुए भोगोंको भोगो। इसमें संदेह नहीं, अन्तमें तुम मेरा ही सारूप्य प्राप्त

इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यान्याभरणानि च ।
राज्यं च विपुलं दत्त्वा विज्ञानं च ददौ विभुः ॥ २० ॥

रामेणालिङ्गितो हृष्टो ययौ स्वभवनं गुहः ।
ये चान्ये वानराः श्रेष्ठा अयोध्यां समुपागताः ॥ २१ ॥

अमूल्याभरणैर्वस्त्रैः पूजयामास राघवः ।
सुग्रीवप्रमुखाः सर्वे वानराः सविभीषणाः ॥ २२ ॥

यथार्हं पूजितास्तेन रामेण परमात्मना ।
प्रहृष्टमनसः सर्वे जग्मुरेव यथागतम् ॥ २३ ॥

सुग्रीवप्रमुखाः सर्वे किष्किन्धां प्रययुर्मुदा ।
विभीषणस्तु सम्प्राप्य राज्यं निहतकण्टकम् ॥ २४ ॥

रामेण पूजितः प्रीत्या ययौ लङ्कामनिन्दितः ।
राघवो राज्यमखिलं शशासाखिलवत्सलः ॥ २५ ॥

अनिच्छन्नपि रामेण यौवराज्येऽभिषेचितः ।
लक्ष्मणः परया भक्त्या रामसेवापरोऽभवत् ॥ २६ ॥

रामस्तु परमात्मापि कर्माध्यक्षोऽपि निर्मलः ।
कर्तृत्वादि विहीनोऽपि निर्विकारोऽपि सर्वदा ॥ २७ ॥

स्वानन्देनापि तुष्टः सन् लोकानामुपदेशकृत् ।
अश्वमेधादियज्ञैश्च सर्वैर्विपुलदक्षिणैः ॥ २८ ॥

अयजत्परमानन्दो मानुषं वपुराश्रितः ।
न पर्यदेवन्विधवा न च व्यालकृतं भयम् ॥ २९ ॥

न व्याधिजं भयं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति ।
लोके दस्युभयं नासीदनर्थो नास्ति कश्चन ॥ ३० ॥

वृद्धेषु सत्सु बालानां नासीन्मृत्युभयं तथा ।
रामपूजापराः सर्वे सर्वे राघवचिन्तकाः ॥ ३१ ॥

ववर्षुर्जलदास्तोयं यथाकालं यथारुचि ।
प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः ॥ ३२ ॥

औरसानिव रामोऽपि जुगोप पितृवत्प्रजाः ।
सर्वलक्षणसंयुक्तः सर्वधर्मपरायणः ॥ ३३ ॥
दशवर्षसहस्राणि रामो राज्यमुपास्त सः ॥ ३४ ॥

करोगे'' ॥ १९ ॥ ऐसा कह भगवान् रामने उसे दिव्य आभूषण, बहुत-सा राज्य और तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया ॥ २० ॥ फिर रघुनाथजीसे आलिङ्गित होकर गुह अपने घरको गया। और भी जो-जो वानरश्रेष्ठ अयोध्यामें आये थे, श्रीरामचन्द्रजीने उन सबका भी अमूल्य वस्त्र और आभूषणोंसे सत्कार किया। इस प्रकार विभीषणके सहित सुग्रीव आदि समस्त वानरगण परमात्मा रामसे यथोचित सत्कार पाकर अपने-अपने स्थानोंको चले गये ॥ २१—२३ ॥

सुग्रीवादि समस्त वानरगण प्रसन्न-चित्तसे किष्किन्धाको गये और भगवान् रामसे सत्कृत हो आनन्दित विभीषण अपना निष्कण्टक राज्य पाकर प्रीतिपूर्वक लंकाको गये तथा सबके ऊपर दया करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी अपने सम्पूर्ण राज्यका शासन करने लगे ॥ २४-२५ ॥

भगवान् रामने श्रीलक्ष्मणजीको उनकी इच्छा न होनेपर भी युवराजपदपर अभिषिक्त किया और वे भी अत्यन्त भक्तिपूर्वक रामजीकी सेवामें रहने लगे ॥ २६ ॥ परमात्मा रामने समस्त कर्मोंके साक्षी, नित्य निर्मल स्वरूप, कर्तृत्वादिसे रहित, सर्वदा निर्विकार और स्वानन्दतृप्त होकर भी समस्त लोकोंको उपदेश करनेके लिये मनुष्यरूप धारण कर बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले अश्वमेधादि समस्त यज्ञोंका अनुष्ठान किया। महाराज रामके राज्य-शासन करते समय कभी विधवाओंका क्रन्दन नहीं हुआ; सर्पों, व्याधियों और लुटेरोंका भय नहीं था और न कोई अनर्थ ही होता था ॥ २७—३० ॥ वृद्धोंके रहते हुए बालकोंकी मृत्युका भय नहीं था, सब लोग भगवान् रामकी पूजा और उनका स्मरण करनेवाले थे ॥ ३१ ॥ मेघ सर्वदा ठीक समयपर यथेष्ट जल बरसाते थे, प्रजा अपना-अपना धर्म पालन करनेवाली और वर्णाश्रमके गुणोंसे युक्त थी ॥ ३२ ॥ तथा श्रीरामचन्द्रजी भी अपनी प्रजाका सगे पुत्रोंके समान पितृवत् पालन करते थे, इस प्रकार सर्वलक्षणसम्पन्न, सर्वधर्मपरायण भगवान् रामने दस सहस्र वर्ष राज्य-शासन किया ॥ ३३-३४ ॥

इदं रहस्यं धनधान्यऋद्धिम-
दीर्घायुरारोग्यकरं सुपुण्यदम्।
पवित्रमाध्यात्मिकसंज्ञितं पुरा
रामायणं भाषितमादिशम्भुना ॥ ३५ ॥
शृणोति भक्त्या मनुजः समाहितो
भक्त्या पठेद्वा परितुष्टमानसः।
सर्वाः समाप्नोति मनोगताशिषो
विमुच्यते पातककोटिभिः क्षणात् ॥ ३६ ॥
रामाभिषेकं प्रयतः शृणोति यो
धनाभिलाषी लभते महद्धनम्।
पुत्राभिलाषी सुतमार्यसम्मतं
प्राप्नोति रामायणमादितः पठन् ॥ ३७ ॥
शृणोति योऽध्यात्मिकरामसंहितां
प्राप्नोति राजा भुवमृद्धसम्पदम्।
शत्रून्विजित्यारिभिरप्रधर्षितो
व्यपेतदुःखो विजयी भवेन्नृपः ॥ ३८ ॥
स्त्रियोऽपि शृण्वन्त्यधिरामसंहितां
भवन्ति ता जीविसुताश्च पूजिताः।
वन्ध्यापि पुत्रं लभते सुरूपिणं
कथामिमां भक्तियुता शृणोति या ॥ ३९ ॥
श्रद्धान्वितो यः शृणुयात्पठेन्नरो
विजित्य कोपं च तथा विमत्सरः।
दुर्गाणि सर्वाणि विजित्य निर्भयो
भवेत्सुखी राघवभक्तिसंयुतः ॥ ४० ॥
सुराः समस्ता अपि यान्ति तुष्टतां
विघ्नाः समस्ता अपयान्ति शृण्वताम्।
अध्यात्मरामायणमादितो नृणां
भवन्ति सर्वा अपि सम्पदः पराः ॥ ४१ ॥
रजस्वला वा यदि रामतत्परा
शृणोति रामायणमेतदादितः।
पुत्रं प्रसूते ऋषभं चिरायुषं
पतिव्रता लोकसुपूजिता भवेत् ॥ ४२ ॥
पूजयित्वा तु ये भक्त्या नमस्कुर्वन्ति नित्यशः।
सर्वैः पापैर्विनिर्मुक्ता विष्णोर्यान्ति परं पदम् ॥ ४३ ॥

धन-धान्यादि समस्त वैभव देनेवाले तथा दीर्घायु, आरोग्य और पुण्यकी वृद्धि करनेवाले इस आध्यात्मिक रामायण नामक परम पवित्र और गोपनीय रहस्यको पूर्वकालमें श्रीआदिमहादेवने पार्वतीजीको सुनाया था ॥ ३५ ॥ जो मनुष्य इसे भक्तिपूर्वक समाहितचित्तसे सुनता अथवा प्रसन्न-चित्तसे भक्तिपूर्वक पढ़ता है वह अपने मनकी समस्त कामनाओंको प्राप्त करता है और एक क्षणमें ही करोड़ों पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥ जो धनकी इच्छा रखनेवाला पुरुष इस रामाभिषेकका एकाग्र-चित्तसे श्रवण करता है वह महान् सम्पत्ति प्राप्त करता है और जो पुत्राभिलाषी इस ग्रन्थका आरम्भसे ही पाठ करता है वह सत्पुरुषोंद्वारा सम्मान पानेयोग्य पुत्र पाता है ॥ ३७ ॥ जो राजा इस अध्यात्मरामायणका श्रवण करता है वह धन-धान्यसम्पन्न पृथिवी प्राप्त करता है और शत्रुओंसे अपमानित न होकर सब प्रकारके दुःखसे छूटकर विजय लाभ करता है ॥ ३८ ॥ स्त्रियोंमें भी जो कोई इस आध्यात्मिक रामसंहिताको सुनती हैं उनकी सन्तान चिरजीवी होती है और वे स्वयं उनसे सम्मानित होती हैं तथा जो वन्ध्या भी इस कथाका भक्तिपूर्वक श्रवण करती है वह सुन्दर रूपवान् पुत्र प्राप्त करती है ॥ ३९ ॥ जो मनुष्य क्रोधको जीतकर ईर्ष्यारहित हो इसे श्रद्धापूर्वक सुनता या पढ़ता है वह समस्त अवगुणोंको जीतकर निर्भय, सुखी और रामभक्तिसे सम्पन्न हो जाता है ॥ ४० ॥ इस अध्यात्मरामायणका आरम्भसे ही श्रवण करनेवाले पुरुषोंसे समस्त देवगण प्रसन्न हो जाते हैं, उनके सम्पूर्ण विघ्न दूर हो जाते हैं और उन्हें सब प्रकारकी उत्तम सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४१ ॥ यदि रजस्वला स्त्री भगवान् रामका स्मरण करती हुई आदिसे ही इस रामायणका श्रवण करे तो अति उत्तम और दीर्घायु पुत्र उत्पन्न करती है और वह स्वयं संसारसे सम्मानित पतिव्रता होती है ॥ ४२ ॥ जो लोग इसका भक्तिपूर्वक पूजन कर इसे नित्यप्रति नमस्कार करते हैं वे समस्त पापोंसे मुक्त होकर भगवान् विष्णुके परमधामको प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

अध्यात्मरामचरितं कृत्स्नं शृण्वन्ति भक्तितः ।
पठन्ति वा स्वयं वक्त्रात्तेषां रामः प्रसीदति ॥ ४४ ॥
राम एव परं ब्रह्म तस्मिंस्तुष्टेऽखिलात्मनि ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यद्यदिच्छति तद्भवेत् ॥ ४५ ॥
श्रोतव्यं नियमेनैतद्रामायणमखण्डितम् ।
आयुष्यमारोग्यकरं कल्पकोट्यघनाशनम् ॥ ४६ ॥
देवाश्च सर्वे तुष्यन्ति ग्रहाः सर्वे महर्षयः ।
रामायणस्य श्रवणे तृप्यन्ति पितरस्तथा ॥ ४७ ॥
अध्यात्मरामायणमेतदद्भुतं
वैराग्यविज्ञानयुतं पुरातनम् ।
पठन्ति शृण्वन्ति लिखन्ति ये नरा-
स्तेषां भवेऽस्मिन्न पुनर्भवो भवेत् ॥ ४८ ॥
आलोड्याखिलवेदराशिमसकृ-
द्यत्तारकं ब्रह्म त-
द्रामो विष्णुरहस्यमूर्तिरिति यो
विज्ञाय भूतेश्वरः ।
उद्धृत्याखिलसारसङ्ग्रहमिदं
संक्षेपतः प्रस्फुटं
श्रीरामस्य निगूढतत्त्वमखिलं
प्राह प्रियायै भवः ॥ ४९ ॥

जो पुरुष इस सम्पूर्ण अध्यात्मरामायणको भक्तिपूर्वक सुनते अथवा स्वयं अपने मुखसे ही पढ़ते हैं उनसे भगवान् राम प्रसन्न होते हैं ॥ ४४ ॥ भगवान् राम ही परब्रह्म हैं; अतः उन सर्वात्मा रामके प्रसन्न होनेपर धर्म, अर्थ, काम, मोक्षमेंसे जिसकी इच्छा हो वही मिल सकता है ॥ ४५ ॥ इसलिये आयु और आरोग्यकी देनेवाली तथा करोड़ों कल्पोंके पापसमूहका नाश करनेवाली इस रामायणका निरन्तर नित्यप्रति नियमपूर्वक श्रवण करना चाहिये ॥ ४६ ॥ इसका श्रवण करनेसे समस्त देवगण, सम्पूर्ण ग्रह एवं महर्षिगण प्रसन्न हो जाते हैं तथा पितृगण भी तृप्ति लाभ करते हैं ॥ ४७ ॥ जो पुरुष ज्ञान-वैराग्यसे युक्त इस अति अद्भुत प्राचीन अध्यात्मरामायणको पढ़ते, लिखते अथवा सुनते हैं उनका इस संसारमें फिर जन्म नहीं होता ॥ ४८ ॥ भूतनाथ भगवान् शंकरने बारंबार समस्त वेद-राशिका मन्थन करके यह निश्चय किया कि तारक मन्त्र 'राम' विष्णुभगवान्‌की गुप्त मूर्ति है। अतः उन्होंने समस्त वेदोंके सार (उपनिषदों) का संग्रहरूप यह भगवान् रामका सम्पूर्ण गुप्त तत्त्व अपनी प्रिया श्रीपार्वतीजीको संक्षेपसे सुनाया ॥ ४९ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

समाप्तमिदं युद्धकाण्डम्

ॐ

अध्यात्मरामायण

उत्तरकाण्ड

प्रथम सर्ग

भगवान् रामके यहाँ अगस्त्यादि मुनीश्वरोंका आना और रावणादि राक्षसोंका पूर्वचरित्र सुनाना

जयति रघुवंशतिलकः कौसल्याहृदयनन्दनो रामः ।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥ १ ॥

पार्वत्युवाच

अथ रामः किमकरोत्कौसल्यानन्दवर्धनः ।
हत्वा मृधे रावणादीन् राक्षसान्भीमविक्रमः ॥ २ ॥

अभिषिक्तस्त्वयोध्यायां सीतया सह राघवः ।
मायामानुषतां प्राप्य कति वर्षाणि भूतले ॥ ३ ॥

स्थितवान् लीलया देवः परमात्मा सनातनः ।
अत्यजन्मानुषं लोकं कथमन्ते रघूद्वहः ॥ ४ ॥

एतदाख्याहि भगवन् श्रद्दधत्या मम प्रभो ।
कथापीयूषमास्वाद्य तृष्णा मेऽतीव वर्धते ।
रामचन्द्रस्य भगवन् ब्रूहि विस्तरशः कथाम् ॥ ५ ॥

श्रीमहादेव उवाच

राक्षसानां वधं कृत्वा राज्ये राम उपस्थिते ।
आययुर्मुनयः सर्वे श्रीराममभिवन्दितुम् ॥ ६ ॥

विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः ।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः ॥ ७ ॥

अगस्त्यः सह शिष्यैश्च मुनिभिः सहितोऽभ्यगात् ।
द्वारमासाद्य रामस्य द्वारपालमथाब्रवीत् ॥ ८ ॥

ब्रूहि रामाय मुनयः समागत्य बहिःस्थिताः ।
अगस्त्यप्रमुखाः सर्वे आशीर्भिरभिनन्दितुम् ॥ ९ ॥

श्रीकौसल्याजीके हृदयको आनन्दित करनेवाले, दशवदन रावणको मारनेवाले, रघुवंशतिलक दशरथकुमार कमलनयन भगवान् रामकी जय हो ॥ १ ॥

श्रीपार्वतीजी बोलीं—कौसल्याजीके आनन्दको बढ़ानेवाले महापराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीने युद्धमें रावणादि राक्षसोंको मारकर अयोध्यापुरीमें सीताजीके सहित राज्याभिषिक्त होनेके अनन्तर कौन-सा कार्य किया ? लीलाहीसे माया-मानव भावको प्राप्त हुए वे सनातन परमात्मा पृथ्वीतलपर कितने वर्ष रहे ? तथा अन्तमें उन रघुनन्दनने इस मर्त्यलोकका किस प्रकार त्याग किया ? ॥ २—४ ॥ हे प्रभो ! मुझ श्रद्धावतीको आप यह सब वृत्तान्त सुनाइये । हे भगवन् ! श्रीरामकथामृतका आस्वादन करनेसे मेरी तृष्णा बहुत ही बढ़ती जाती है, इसलिये आप श्रीरामचन्द्रजीकी कथा विस्तारपूर्वक कहिये ॥ ५ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! राक्षसोंका वध करनेके अनन्तर भगवान् रामके राजपदपर विराजमान होनेपर समस्त मुनिजन उनका अभिवादन करनेके लिये आये ॥ ६ ॥ उस समय विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अंगिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि तथा निर्मल स्वभाव सप्तर्षिगण और अपने शिष्यों तथा अन्यान्य मुनिजनोंके सहित अगस्त्यजी आये । उन अगस्त्यजीने भगवान् रामके द्वारपर पहुँचकर द्वारपालसे कहा— ॥ ७-८ ॥ तुम महाराज रामसे जाकर कहो कि आपका आशीर्वादोंसे अभिनन्दन करनेके लिये अगस्त्य आदि समस्त मुनिगण आये हैं और बाहर खड़े हुए हैं ॥ ९ ॥

प्रतीहारस्ततो राममगस्त्यवचनाद् द्रुतम्।
नमस्कृत्याब्रवीद्वाक्यं विनयावनतः प्रभुम्॥ १०॥

कृताञ्जलिरुवाचेदमगस्त्यो मुनिभिः सह।
देव त्वद्दर्शनार्थाय प्राप्तो बहिरुपस्थितः॥ ११॥

तमुवाच द्वारपालं प्रवेशय यथासुखम्।
पूजिता विविशुर्वेश्म नानारत्नविभूषितम्॥ १२॥

दृष्ट्वा रामो मुनीन् शीघ्रं प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः।
पाद्यार्घ्यादिभिरापूज्य गां निवेद्य यथाविधि॥ १३॥

नत्वा तेभ्यो ददौ दिव्यान्यासनानि यथार्हतः।
उपविष्टाः प्रहृष्टाश्च मुनयो रामपूजिताः॥ १४॥

सम्पृष्टकुशलाः सर्वे रामं कुशलमब्रुवन्।
कुशलं ते महाबाहो. सर्वत्र रघुनन्दन॥ १५॥

दिष्ट्येदानीं प्रपश्यामो हतशत्रुमरिन्दम।
न हि भारः स ते राम रावणो राक्षसेश्वरः॥ १६॥

सधनुस्त्वं हि लोकांस्त्रीन् विजेतुं शक्त एव हि।
दिष्ट्या त्वया हताः सर्वे राक्षसा रावणादयः॥ १७॥

सह्यमेतन्महाबाहो रावणस्य निबर्हणम्।
असह्यमेतत्सम्प्राप्तं रावणेर्यन्निषूदनम्॥ १८॥

अन्तकप्रतिमाः सर्वे कुम्भकर्णादयो मृधे।
अन्तकप्रतिमैर्बाणैर्हतास्ते रघुसत्तम॥ १९॥

दत्ता चेयं त्वयास्माकं पुरा ह्यभयदक्षिणा।
हत्वा रक्षोगणान्सङ्ख्ये कृतकृत्योऽद्य जीवसि॥ २०॥

श्रुत्वा तु भाषितं तेषां मुनीनां भावितात्मनाम्।
विस्मयं परमं गत्वा रामः प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ २१॥

रावणादीनतिक्रम्य कुम्भकर्णादिराक्षसान्।
त्रिलोकजयिनो हित्वा किं प्रशंसथ रावणिम्॥ २२॥

ततस्तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः।
कुम्भयोनिर्महातेजा रामं प्रीत्या वचोऽब्रवीत्॥ २३॥

शृणु राम यथा वृत्तं रावणे रावणस्य च।
जन्म कर्म वरादानं सङ्क्षेपाद्वदतो मम॥ २४॥

तब द्वारपाल अगस्त्यजीके कहनेसे तुरंत ही भगवान् रामको नमस्कार कर उनसे अति विनयपूर्वक यों कहने लगा॥ १०॥ वह हाथ जोड़कर बोला—"देव! आपके दर्शनोंके लिये मुनियोंके सहित श्रीअगस्त्यजी आये हैं और बाहर खड़े हुए हैं"॥ ११॥ भगवान् रामने द्वारपालसे कहा—"उन्हें आनन्दपूर्वक भीतर ले आओ।" तब मुनियोंने विधिवत् पूजित होकर नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित महलमें प्रवेश किया॥ १२॥ भगवान् राम मुनियोंको देखते ही तुरंत हाथ जोड़कर खड़े हो गये और अर्घ्य-पाद्यादिसे उनका पूजन कर उन्हें विधिपूर्वक एक-एक गौ भेंट की॥ १३॥ फिर उन सबको नमस्कार कर यथायोग्य दिव्य आसन दिये। उनपर वे मुनिगण भगवान् रामसे पूजित होकर अति हर्षपूर्वक विराजमान हुए॥ १४॥ श्रीरामचन्द्रजीद्वारा कुशल पूछे जानेपर सबने अपनी कुशल कही और उनसे बोले—"हे रघुनन्दन! हे महाबाहो! तुम्हारे राज्यमें तो सर्वत्र कुशल है न?॥ १५॥ हे शत्रुदमन! आज हम बड़े भाग्यसे आपको शत्रुहीन देख रहे हैं! हे राम! आपके लिये राक्षसराज रावण (का मारना) कुछ भारी नहीं था॥ १६॥ क्योंकि आप धनुष धारण करनेपर तीनों लोकोंको जीतनेमें भी समर्थ हैं! (हमारे) सौभाग्यसे आपने रावण आदि सभी राक्षसोंको मार डाला॥ १७॥ और हे महाबाहो! रावणका मारना तो फिर भी सुगम था परन्तु रावणके पुत्र मेघनादका वध करना तो बड़ा ही दुष्कर कार्य था॥ १८॥ ये कुम्भकर्णादि सभी राक्षस युद्धमें कालके समान थे! हे रघुश्रेष्ठ! वे सब आपके कालके समान कराल बाणोंसे मारे गये॥ १९॥ आपने हमें तो पहले ही अभयदान दे दिया था। अब आप स्वयं भी इन राक्षसोंको युद्धमें मारकर कृतकृत्य हुए जीवित हैं"॥ २०॥

उन आत्मनिष्ठ मुनीश्वरोंका भाषण सुन श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त विस्मित हो उनसे हाथ जोड़कर पूछा॥ २१॥ "हे मुनिगण! आपलोग त्रिलोकविजयी रावण और कुम्भकर्णादि राक्षसोंको छोड़कर रावणके पुत्र मेघनादकी ही प्रशंसा क्यों करते हैं?"॥ २२॥

महात्मा रघुनाथजीके ये वचन सुनकर परम तेजस्वी मुनिवर अगस्त्यजीने उनसे अति प्रीतिपूर्वक कहा—॥ २३॥ "हे राम! तुम रावण और उसके पुत्रके जन्म, कर्म और वर-प्राप्ति आदिका वृत्तान्त सुनो; मैं उनका

पुरा कृतयुगे राम पुलस्त्यो ब्रह्मणः सुतः।
तपस्तप्तुं गतो विद्वान्मेरोः पार्श्वं महामतिः॥ २५॥

तृणबिन्दोराश्रमेऽसौ न्यवसन्मुनिपुङ्गवः।
तपस्तेपे महातेजाः स्वाध्यायनिरतः सदा॥ २६॥

तत्राश्रमे महारम्ये देवगन्धर्वकन्यकाः।
गायन्त्यो ननृतुस्तत्र हसन्त्यो वादयन्ति च॥ २७॥

पुलस्त्यस्य तपोविघ्नं चक्रुः सर्वा अनिन्दिताः।
ततः क्रुद्धो महातेजा व्याजहार वचो महत्॥ २८॥

या मे दृष्टिपथं गच्छेत्सा गर्भं धारयिष्यति।
ताः सर्वाः शापसंविग्ना न तं देशं प्रचक्रमुः॥ २९॥

तृणबिन्दोस्तु राजर्षेः कन्या तन्नाशृणोद्वचः।
विचचार मुनेरग्रे निर्भया तं प्रपश्यती॥ ३०॥

बभूव पाण्डुरतनुर्व्यञ्जितान्तःशरीरजा।
दृष्ट्वा सा देहवैवर्ण्यं भीता पितरमन्वगात्॥ ३१॥

तृणबिन्दुश्च तां दृष्ट्वा राजर्षिरमितद्युतिः।
ध्यात्वा मुनिकृतं सर्वमवैद्विज्ञानचक्षुषा॥ ३२॥

तां कन्यां मुनिवर्याय पुलस्त्याय ददौ पिता।
तां प्रगृह्याब्रवीत्कन्यां बाढमित्येव स द्विजः॥ ३३॥

शुश्रूषणपरां दृष्ट्वा मुनिः प्रीतोऽब्रवीद्वचः।
दास्यामि पुत्रमेकं ते उभयोर्वंशवर्धनम्॥ ३४॥

ततः प्रासूत सा पुत्रं पुलस्त्याल्लोकविश्रुतम्।
विश्रवा इति विख्यातः पौलस्त्यो ब्रह्मविन्मुनिः॥ ३५॥

तस्य शीलादिकं दृष्ट्वा भरद्वाजो महामुनिः।
भार्यार्थं स्वां दुहितरं ददौ विश्रवसे मुदा॥ ३६॥

तस्यां तु पुत्रः सञ्जज्ञे पौलस्त्याल्लोकसम्मतः।
पितृतुल्यो वैश्रवणो ब्रह्मणा चानुमोदितः॥ ३७॥

ददौ तत्तपसा तुष्टो ब्रह्मा तस्मै वरं शुभम्।
मनोऽभिलषितं तस्य धनेशत्वमखण्डितम्॥ ३८॥

संक्षेपसे वर्णन करता हूँ॥ २४॥ हे राम! पूर्वकालमें सत्ययुगमें ब्रह्माके पुत्र महामति विद्वान् पुलस्त्यजी तप करनेके लिये सुमेरु पर्वतपर गये॥ २५॥ वे महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ तृणबिन्दुके आश्रममें रहने लगे और वहाँ निरन्तर स्वाध्याय (प्रणव-जप) में तत्पर रह तप करने लगे॥ २६॥ उस महारमणीय आश्रममें देवता और गन्धर्वोंकी सुन्दरी कन्याएँ गाती, बजाती और हँसती हुई नाचने तथा पुलस्त्यजीके तपमें विघ्न डालने लगीं तब महातेजस्वी पुलस्त्यजी अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोले—॥ २७-२८॥ "जिस (देव या गन्धर्व) कन्यापर मेरी दृष्टि पड़ जायगी वही गर्भवती हो जायगी।" तब उस शापसे भयभीत होकर उनमेंसे कोई भी उस स्थानपर न आयी॥ २९॥ किन्तु राजर्षि तृणबिन्दुकी कन्याने ये वाक्य नहीं सुने; इसलिये वह मुनीश्वरके सामने निर्भयतापूर्वक उन्हें देखती हुई घूमती रही॥ ३०॥ इससे वह (गर्भावस्थाको प्राप्त होकर) पीली पड़ गयी, तथा उसके स्तन (स्थूल होकर) साफ प्रकट होने लगे। अपने शरीरको विवर्ण हुआ देख वह डरती हुई अपने पिताके पास आयी॥ ३१॥ जब उसे महातेजस्वी, राजर्षि तृणबिन्दुने देखा तो उन्होंने ध्यानद्वारा अपनी ज्ञानदृष्टिसे मुनिवर पुलस्त्यका सब कृत्य जान लिया॥ ३२॥ तब पिता तृणबिन्दुने वह कन्या मुनिश्रेष्ठ पुलस्त्यको दी और उन्होंने 'बहुत अच्छा' कह उसे स्वीकार कर लिया॥ ३३॥ उसे अत्यन्त शुश्रूषापरायण देख मुनिवर पुलस्त्यने उससे प्रसन्न होकर कहा—"मैं तुझे दोनों वंशों (मातृपक्ष और पितृपक्ष) को बढ़ानेवाला एक पुत्र दूँगा"॥ ३४॥

तब उस कन्याने पुलस्त्यजीद्वारा एक त्रिलोक-विख्यात पुत्रको जन्म दिया, जो पुलस्त्य-पुत्र ब्रह्मवेत्ता मुनिवर विश्रवाके नामसे प्रसिद्ध हुआ॥ ३५॥ विश्रवाका शील-स्वभावादि देखकर महामुनि भरद्वाजने प्रसन्न होकर उन्हें अपनी पुत्री विवाह दी॥ ३६॥ उससे पुलस्त्यनन्दन विश्रवाने एक त्रिलोकीमें प्रतिष्ठित पुत्र उत्पन्न किया। वह विश्रवाका पुत्र अपने पिताहीके समान था तथा ब्रह्माजीने भी उसकी प्रशंसा की थी॥ ३७॥ उसके तपसे प्रसन्न होकर ब्रह्माजीने उसे मनोवाञ्छित श्रेष्ठ वर देकर

ततो लब्धवरः सोऽपि पितरं द्रष्टुमागतः ।
पुष्पकेण धनाध्यक्षो ब्रह्मदत्तेन भास्वता ॥ ३९ ॥

नमस्कृत्याथ पितरं निवेद्य तपसः फलम् ।
प्राह मे भगवान् ब्रह्मा दत्त्वा वरमनिन्दितम् ॥ ४० ॥

निवासाय न मे स्थानं दत्तवान्परमेश्वरः ।
ब्रूहि मे नियतं स्थानं हिंसा यत्र न कस्यचित् ॥ ४१ ॥

विश्रवा अपि तं प्राह लङ्कानाम पुरी शुभा ।
राक्षसानां निवासाय निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ ४२ ॥

त्यक्त्वा विष्णुभयाद्दैत्या विविशुस्ते रसातलम् ।
सा पुरी दुष्प्रधर्षान्यैर्मध्येसागरमास्थिता ॥ ४३ ॥

तत्र वासाय गच्छ त्वं नान्यैः साधिष्ठिता पुरा ।
पित्रादिष्टस्त्वसौ गत्वा तां पुरीं धनदोऽविशत् ॥ ४४ ॥

स तत्र सुचिरं कालमुवास पितृसम्मतः ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य सुमाली नाम राक्षसः ॥ ४५ ॥

रसातलान्मर्त्यलोकं चचार पिशिताशनः ।
गृहीत्वा तनयां कन्यां साक्षाद्देवीमिव श्रियम् ॥ ४६ ॥

अपश्यद्धनदं देवं चरन्तं पुष्पकेण सः ।
हिताय चिन्तयामास राक्षसानां महामनाः ॥ ४७ ॥

उवाच तनयां तत्र कैकसीं नाम नामतः ।
वत्से विवाहकालस्ते यौवनं चातिवर्तते ॥ ४८ ॥

प्रत्याख्यानाच्च भीतैस्त्वं न वरैर्गृह्यसे शुभे ।
सा त्वं वरय भद्रं ते मुनिं ब्रह्मकुलोद्भवम् ॥ ४९ ॥

स्वयमेव ततः पुत्रा भविष्यन्ति महाबलाः ।
ईदृशाः सर्वशोभाढ्या धनदेन समाः शुभे ॥ ५० ॥

तथेति साश्रमं गत्वा मुनेरग्रे व्यवस्थिता ।
लिखन्ती भुवमग्रेण पादेनाधोमुखी स्थिता ॥ ५१ ॥

तामपृच्छन्मुनिः का त्वं कन्यासि वरवर्णिनि ।
साब्रवीत्प्राञ्जलिर्ब्रह्मन् ध्यानेन ज्ञातुमर्हसि ॥ ५२ ॥

अखण्डित धनेश्वरता दी ॥ ३८ ॥ ब्रह्माजीके वरदानसे धनाध्यक्ष होकर वह उन्हींके दिये हुए महातेजस्वी पुष्पक विमानपर चढ़कर अपने पितासे मिलनेके लिये आया ॥ ३९ ॥ और उन्हें अपने तपका फल निवेदन कर प्रणाम करके बोला—"भगवान् ब्रह्माजीने मुझे यह अत्युत्तम वर दिया है ॥ ४० ॥ किन्तु उन परमेश्वरने मुझे रहनेके लिये कोई स्थान नहीं दिया । अतः आप मुझे कोई ऐसा निश्चित स्थान बताइये जहाँ रहनेसे किसीकी हिंसा न हो" ॥ ४१ ॥ तब विश्रवाने उससे कहा—"(दानवोंके) विश्वकर्माने लंका नामकी एक सुन्दर पुरी राक्षसोंके रहनेके लिये बनायी है ॥ ४२ ॥ किन्तु दैत्यलोग विष्णुभगवान्‌के भयसे उसे छोड़कर रसातलको चले गये हैं । उस पुरीका किसी शत्रुसे आक्रान्त होना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वह समुद्रके बीचमें बसी हुई है ॥ ४३ ॥ तुम वहीं रहनेके लिये जाओ । उस पुरीपर इससे पहले और किसीका अधिकार नहीं हुआ ।" तब धनपति कुबेरने पिताकी आज्ञासे जाकर उसी पुरीमें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥ वहाँ अपने पिताकी सम्मतिसे उन्होंने बहुत समयतक निवास किया ।

किसी समय सुमाली नामक एक मांस-भोजी राक्षस साक्षात् लक्ष्मीदेवीके समान रूपवती अपनी क्वारी पुत्रीको साथ लिये रसातलसे आकर मर्त्यलोकमें घूम रहा था ॥ ४५-४६ ॥ उसने भगवान् कुबेरको पुष्पक विमानपर चढ़कर विचरते देखा । तब महामति सुमाली राक्षसोंके हितका उपाय सोचने लगा ॥ ४७ ॥ वह कैकसी नामवाली अपनी कन्यासे बोला—"बेटी ! तेरे विवाहका समय और यौवनकाल बीता जा रहा है ॥ ४८ ॥ किन्तु हे सुन्दरि ! 'तू छोड़ देगी' इस भयसे तुझे कोई वर वरण नहीं करता । अतः तेरा कल्याण हो, तू स्वयं ही जाकर ब्रह्माजीके वंशमें उत्पन्न हुए मुनिवर विश्रवाको वरण कर । हे शुभे ! उनसे तेरे इस कुबेरके समान सर्वशोभासम्पन्न महाबलवान् पुत्र उत्पन्न होंगे" ॥ ४९-५० ॥

तब वह 'बहुत अच्छा' कह मुनीश्वरके आश्रमपर जाकर खड़ी हो गयी और नीचेको मुख किये चरण-नखसे पृथिवी कुरेदने लगी ॥ ५१ ॥ मुनीश्वरने उससे पूछा—"हे सुन्दरवर्णवाली ! तू कौन और किसकी कन्या है ? (तथा किस लिये यहाँ आयी है ?)" कैकसीने हाथ जोड़कर कहा—"ब्रह्मन् ! आप ध्यानद्वारा सभी कुछ

ततो ध्यात्वा मुनिः सर्वं ज्ञात्वा तां प्रत्यभाषत ।
ज्ञातं तवाभिलषितं मत्तः पुत्रानभीप्ससि ॥ ५३ ॥

दारुणायां तु वेलायामागतासि सुमध्यमे ।
अतस्ते दारुणौ पुत्रौ राक्षसौ सम्भविष्यतः ॥ ५४ ॥

साब्रवीन्मुनिशार्दूल त्वत्तोऽप्येवंविधौ सुतौ ।
तामाह पश्चिमो यस्ते भविष्यति महामतिः ॥ ५५ ॥

महाभागवतः श्रीमान् रामभक्त्येकतत्परः ।
इत्युक्ता सा तथा काले सुषुवे दशकन्धरम् ॥ ५६ ॥

रावणं विंशतिभुजं दशशीर्षं सुदारुणम् ।
तद्रक्षोजातमात्रेण चचाल च वसुन्धरा ॥ ५७ ॥

बभूवुर्नाशहेतूनि निमित्तान्यखिलान्यपि ।
कुम्भकर्णस्ततो जातो महापर्वतसन्निभः ॥ ५८ ॥

ततः शूर्पणखा नाम जाता रावणसोदरी ।
ततो विभीषणो जातः शान्तात्मा सौम्यदर्शनः ॥ ५९ ॥

स्वाध्यायी नियताहारो नित्यकर्मपरायणः ।
कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा द्विजान् सन्तुष्टचेतसः ॥ ६० ॥

भक्षयन्नृषिसङ्घांश्च विचचारातिदारुणः ।
रावणोऽपि महासत्त्वो लोकानां भयदायकः ।
ववृधे लोकनाशाय ह्यामयो देहिनामिव ॥ ६१ ॥

राम त्वं सकलान्तरस्थमभितो
जानासि विज्ञानदृक्
साक्षी सर्वहृदि स्थितो हि परमो
नित्योदितो निर्मलः ।
त्वं लीलामनुजाकृतिः स्वमहिमन्
मायागुणैर्नाज्यसे
लीलार्थं प्रतिचोदितोऽद्य भवता
वक्ष्यामि रक्षोद्भवम् ॥ ६२ ॥

जानामि केवलमनन्तमचिन्त्यशक्तिं
चिन्मात्रमक्षरमजं विदितात्मतत्त्वम् ।
त्वां राम गूढनिजरूपमनुप्रवृत्तो
मूढोऽप्यहं भवदनुग्रहतश्चरामि ॥ ६३ ॥

जान सकते हैं'' ॥ ५२ ॥ तब मुनिवरने ध्यानद्वारा सब बातें जानकर उससे कहा—''मैं तेरी अभिलाषा जान गया, तू मुझसे पुत्रोंकी इच्छा करती है ॥ ५३ ॥ किन्तु हे सुन्दरि ! तू इस दारुण समयमें आयी है इसलिये तेरे पुत्र भी दो महाभयङ्कर राक्षस होंगे'' ॥ ५४ ॥ उसने कहा—''हे मुनिश्रेष्ठ ! क्या आपके द्वारा भी ऐसे पुत्र होने चाहिये ?'' तब मुनीश्वरने उससे कहा—''उनके पश्चात् तेरे जो पुत्र होगा वह महाबुद्धिमान्, परम भगवद्भक्त श्रीसम्पन्न और एकमात्र रामभक्तिमें ही तत्पर होगा।''

मुनीश्वरके ऐसा कहनेपर उसने यथासमय दस सिर और बीस भुजाओंवाले अति भयंकर रावणको जन्म दिया। उस राक्षसके जन्म लेते ही पृथिवी काँपने लगी ॥ ५५—५७ ॥ और संसारके नाशके समस्त कारण उपस्थित हो गये। उसके पश्चात् महापर्वतके समान बड़े डील-डौलवाला कुम्भकर्ण उत्पन्न हुआ ॥ ५८ ॥ फिर रावणकी बहिन शूर्पणखाका जन्म हुआ और उसके पीछे अति शान्तचित्त सौम्यमूर्ति विभीषण उत्पन्न हुआ, जो अत्यन्त स्वाध्यायशील मिताहारी और नित्यकर्मपरायण था। अत्यन्त दारुण दुष्टात्मा कुम्भकर्ण सन्तुष्टचित्त ब्राह्मण और ऋषियोंके समूहोंको भक्षण करता हुआ पृथिवीपर घूमने लगा। तथा सम्पूर्ण लोकोंको भयभीत करनेवाला महाबली रावण भी प्राणियोंका नाश करनेवाले रोगके समान त्रिलोकीको नष्ट करनेके लिये बढ़ने लगा ॥ ५९—६१ ॥

हे राम ! आप सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान हैं और साक्षीरूपसे अपनी ज्ञानदृष्टिद्वारा सबके हृदयस्थित विचारोंको भलीभाँति जानते हैं। आप परम श्रेष्ठ, नित्य-प्रबुद्ध और निर्मल हैं। हे अपनी महिमामें स्थित रहनेवाले परमेश्वर ! आपने लीलासे ही यह मनुष्यरूप धारण किया है, किन्तु आप मायाके गुणोंसे लिप्त नहीं होते। आपने लीलावश मुझसे पूछा है, इसीलिये मैं यह राक्षसोंका जन्मवृत्तान्त सुना रहा हूँ ॥ ६२ ॥ हे राम ! मैं आपको एकमात्र, अनन्त, अचिन्त्यशक्ति, चिन्मात्र, अक्षर, अजन्मा और आत्मबोधस्वरूप जानता हूँ तथा (मायाके द्वारा) अपने स्वरूपको गुप्त रखनेवाले आपमें (भजनद्वारा) परायण हो मैं मूढ़ भी आपकी कृपासे स्वच्छन्द विचरता रहता हूँ ॥ ६३ ॥

एवं वदन्तमिनवंशपवित्रकीर्तिः
कुम्भोद्भवं रघुपतिः प्रहसन्बभाषे ।
मायाश्रितं सकलमेतदनन्यकत्वा-
न्मत्कीर्तनं जगति पापहरं निबोध ॥ ६४ ॥

अगस्त्यजीके इस प्रकार कहनेपर सूर्यवंशके सुयशस्वरूप श्रीरघुनाथजीने अगस्त्यजीसे हँसकर कहा—''यह सम्पूर्ण संसार मायामय है, क्योंकि वास्तवमें यह मुझसे पृथक् नहीं है; हे मुने ! तुम मेरे गुण-कीर्तनको ही इस संसारमें सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला जानो'' ॥ ६४ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीय सर्ग

राक्षसोंके राज्यस्थापनका विवरण

श्रीमहादेव उवाच

श्रीरामवचनं श्रुत्वा परमानन्दनिर्भरः ।
मुनिः प्रोवाच सदसि सर्वेषां तत्र शृण्वताम् ॥ १ ॥

अथ वित्तेश्वरो देवस्तत्र कालेन केनचित् ।
आययौ पुष्पकारूढः पितरं द्रष्टुमञ्जसा ॥ २ ॥

दृष्ट्वा तं कैकसी तत्र भ्राजमानं महौजसम् ।
राक्षसी पुत्रसामीप्यं गत्वा रावणमब्रवीत् ॥ ३ ॥

पुत्र पश्य धनाध्यक्षं ज्वलन्तं स्वेन तेजसा ।
त्वमप्येवं यथा भूयास्तथा यत्नं कुरु प्रभो ॥ ४ ॥

तच्छ्रुत्वा रावणो रोषात् प्रतिज्ञामकरोद्द्रुतम् ।
धनदेन समो वापि ह्यधिको वाचिरेण तु ॥ ५ ॥

भविष्याम्यम्ब मां पश्य सन्तापं त्यज सुव्रते ।
इत्युक्त्वा दुष्करं कर्तुं तपः स दशकन्धरः ॥ ६ ॥

अगमत्फलसिद्ध्यर्थं गोकर्णं तु सहानुजः ।
स्वं स्वं नियममास्थाय भ्रातरस्ते तपो महत् ॥ ७ ॥

आस्थिता दुष्करं घोरं सर्वलोकैकतापनम् ।
दशवर्षसहस्राणि कुम्भकर्णोऽकरोत्तपः ॥ ८ ॥

विभीषणोऽपि धर्मात्मा सत्यधर्मपरायणः ।
पञ्चवर्षसहस्राणि पादेनैकेन तस्थिवान् ॥ ९ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! रघुनाथजीके ये वचन सुनकर अगस्त्य मुनि अत्यन्त आनन्दसे भर गये और उस सभामें सबके सुनते हुए फिर कहने लगे— ॥ १ ॥

''हे राम ! किसी समय धनपति कुबेरजी अकस्मात् अपने पितासे मिलनेके लिये पुष्पक विमानपर चढ़कर आये ॥ २ ॥ जब राक्षसी कैकसीने महातेजस्वी कुबेरको पिताके पास विराजमान देखा तो वह अपने पुत्र रावणके पास जाकर बोली ॥ ३ ॥

''बेटा ! अपने तेजसे प्रकाशमान इस धनपतिको देखो और हे समर्थ ! तुम भी वही प्रयत्न करो जिससे ऐसे हो जाओ'' ॥ ४ ॥ यह सुनकर रावणने तुरंत ही बड़े रोषसे प्रतिज्ञा की—''हे शुभव्रतवाली ! तुम खेद न करो, देखो, मातः ! मैं शीघ्र ही कुबेरके समान अथवा इससे भी अधिक ऐश्वर्यशाली हो जाऊँगा।''

ऐसा कह भाइयोंके सहित रावण इच्छित फल-प्राप्तिके लिये गोकर्ण-क्षेत्रमें दुष्कर तपस्या करने चला गया। वहाँ वे तीनों भाई अपने-अपने व्रतमें दृढ़ रहकर समस्त लोकोंको तपानेवाला अति महान् तप करने लगे। उनमेंसे कुम्भकर्णने दस हजार वर्ष तप किया ॥ ५—८ ॥ सत्य-धर्मपरायण धर्मात्मा विभीषण भी पाँच हजार वर्षतक एक

दिव्यवर्षसहस्रं तु निराहारो दशाननः।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शीर्षमग्नौ जुहाव सः।
एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमुः ॥ १० ॥

अथ वर्षसहस्रं तु दशमे दशमं शिरः।
छेत्तुकामस्य धर्मात्मा प्राप्तश्चाथ प्रजापतिः।
वत्स वत्स दशग्रीव प्रीतोऽस्मीत्यभ्यभाषत ॥ ११ ॥

वरं वरय दास्यामि यत्ते मनसि काङ्क्षितम्।
दशग्रीवोऽपि तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १२ ॥

अमरत्वं वृणोमीश वरदो यदि मे भवान्।
सुपर्णनागयक्षाणां देवतानां तथासुरैः।
अवध्यत्वं तु मे देहि तृणभूता हि मानुषाः ॥ १३ ॥

तथास्त्विति प्रजाध्यक्षः पुनराह दशाननम्।
अग्नौ हुतानि शीर्षाणि यानि तेऽसुरपुङ्गव ॥ १४ ॥

भविष्यन्ति यथापूर्वमक्षयाणि च सत्तम ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा ततो राम दशग्रीवं प्रजापतिः।
विभीषणमुवाचेदं प्रणतं भक्तवत्सलः ॥ १६ ॥

विभीषण त्वया वत्स कृतं धर्मार्थमुत्तमम्।
तपस्ततो वरं वत्स वृणीष्वाभिमतं हितम् ॥ १७ ॥

विभीषणोऽपि तं नत्वा प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्।
देव मे सर्वदा बुद्धिर्धर्मे तिष्ठतु शाश्वती।
मा रोचयत्वधर्मं मे बुद्धिः सर्वत्र सर्वदा ॥ १८ ॥

ततः प्रजापतिः प्रीतो विभीषणमथाब्रवीत्।
वत्स त्वं धर्मशीलोऽसि तथैव च भविष्यसि ॥ १९ ॥

अयाचितोऽपि ते दास्ये ह्यमरत्वं विभीषण।
कुम्भकर्णमथोवाच वरं वरय सुव्रत ॥ २० ॥

वाण्या व्याप्तोऽथ तं प्राह कुम्भकर्णः पितामहम्।
स्वप्स्यामि देव षण्मासान्दिनमेकं तु भोजनम् ॥ २१ ॥

एवमस्त्विति तं प्राह ब्रह्मा दृष्ट्वा दिवौकसः।
सरस्वती च तद्वक्त्रान्निर्गता प्रययौ दिवम् ॥ २२ ॥

ही पाँवसे खड़े रहे ॥ ९ ॥ रावण एक हजार दिव्य वर्षतक निराहार रहा, फिर सहस्र वर्ष पूर्ण होनेपर उसने अपना एक मस्तक अग्निमें हवन कर दिया। इसी प्रकार उसे नौ हजार दिव्य वर्ष बीत गये ॥ १० ॥ जब दस हजार वर्ष बीतनेको हुए और जिस समय रावण अपना दसवाँ सिर भी काटनेको उद्यत हुआ तो धर्मात्मा ब्रह्माजी प्रकट हुए और बोले—"बेटा रावण ! मैं प्रसन्न हूँ ॥ ११ ॥ तू वर माँग, मैं तेरी जो इच्छा होगी वही पूर्ण करूँगा।" यह सुन रावणने अति प्रसन्न होकर कहा— ॥ १२ ॥ 'हे ईश्वर ! यदि आप मुझे वर ही देना चाहते हैं तो मैं अमरता माँगता हूँ। मैं गरुड, सर्प, यक्ष, देव और दानव आदि किसीसे भी न मारा जा सकूँ। (बस, मैं यही वर माँगता हूँ) बेचारे मनुष्य तो तिनकोंके समान हैं—(उनसे मुझे भय नहीं है) ॥ १३ ॥ तब ब्रह्माजीने 'ऐसा ही हो' यह कहकर रावणसे फिर कहा—"हे असुरश्रेष्ठ ! तुमने अपने जो सिर अग्निमें होम दिये हैं वे पहलेके समान फिर हो जायँगे तथा हे साधुश्रेष्ठ ! उनका कभी नाश न होगा" ॥ १४-१५ ॥

हे राम ! रावणसे इस प्रकार कह फिर भक्तवत्सल ब्रह्माजीने अति विनीत विभीषणसे कहा— ॥ १६ ॥ "वत्स विभीषण ! तुमने यह श्रेष्ठ तप धर्मसम्पादनके लिये किया है, इसलिये बेटा ! तुम्हें जो हितकर वर अभीष्ट हो माँगो" ॥ १७ ॥ तब विभीषणने उन्हें नमस्कार कर उनसे हाथ जोड़कर कहा—"भगवन् ! मेरी बुद्धि सर्वदा निश्चलरूपसे धर्ममें ही रहे, उसकी कभी किसी अवस्थामें भी अधर्ममें रुचि न हो" ॥ १८ ॥ इसपर ब्रह्माजीने अति प्रसन्न होकर विभीषणसे कहा—"बेटा ! तुम बड़े धर्मनिष्ठ हो, जैसा चाहते हो वैसा ही होगा ॥ १९ ॥ हे विभीषण ! यद्यपि तुमने माँगा नहीं है, फिर भी मैं तुम्हें अमरत्वका वर और देता हूँ।" तदनन्तर वे कुम्भकर्णसे बोले—"हे सुव्रत ! तुम वर माँगो" ॥ २० ॥ तब कुम्भकर्णने (देवताओंकी प्रेरणासे फैलायी हुई) सरस्वती देवीकी मायासे मोहित होकर ब्रह्माजीसे कहा—"हे देव ! मैं छः महीने सोऊँ और एक दिन भोजन करूँ" ॥ २१ ॥ ब्रह्माजीने उससे, देवताओंकी ओर देखते हुए कहा—"ऐसा ही हो।" उनके ऐसा कहते ही सरस्वती तुरंत ही उसके मुखसे निकलकर स्वर्गलोकको चली गयीं ॥ २२ ॥

कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा चिन्तयामास दुःखितः ।
अनभिप्रेतमेवास्याल्किं निर्गतमहो विधिः ॥ २३ ॥

सुमाली वरलब्धांस्तान् ज्ञात्वा पौत्रान् निशाचरान् ।
पातालान्निर्भयः प्रायात् प्रहस्तादिभिरन्वितः ॥ २४ ॥

दशग्रीवं परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत् ।
दिष्ट्या ते पुत्र संवृत्तो वाञ्छितो मे मनोरथः ॥ २५ ॥

यद्भयाच्च वयं लङ्कां त्यक्त्वा याता रसातलम् ।
तद्गतं नो महाबाहो महद्विष्णुकृतं भयम् ॥ २६ ॥

अस्माभिः पूर्वमुषिता लङ्केयं धनदेन ते ।
भ्रात्राक्रान्तामिदानीं त्वं प्रत्यानेतुमिहार्हसि ॥ २७ ॥

साम्ना वाथ बलेनापि राज्ञां बन्धुः कुतः सुहृत् ।
इत्युक्तो रावणः प्राह नार्हस्येवं प्रभाषितुम् ॥ २८ ॥

वित्तेशो गुरुरस्माकमेवं श्रुत्वा तमब्रवीत् ।
प्रहस्तः प्रश्रितं वाक्यं रावणं दशकन्धरम् ॥ २९ ॥

शृणु रावण यत्नेन नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ।
नाधीता राजधर्मास्ते नीतिशास्त्रं तथैव च ॥ ३० ॥

शूराणां नहि सौभ्रात्रं शृणु मे वदतः प्रभो ।
कश्यपस्य सुता देवा राक्षसाश्च महाबलाः ॥ ३१ ॥

परस्परमयुध्यन्त त्यक्त्वा सौहृदमायुधैः ।
नैवेदानीन्तनं राजन् वैरं देवैरनुष्ठितम् ॥ ३२ ॥

प्रहस्तस्य वचः श्रुत्वा दशग्रीवो दुरात्मनः ।
तथेति क्रोधताम्राक्षस्त्रिकूटाचलमन्वगात् ॥ ३३ ॥

दूतं प्रहस्तं सम्प्रेष्य निष्कास्य धनदेश्वरम् ।
लङ्कामाक्रम्य सचिवै राक्षसैः सुखमास्थितः ॥ ३४ ॥

धनदः पितृवाक्येन त्यक्त्वा लङ्कां महायशाः ।
गत्वा कैलासशिखरं तपसातोषयच्छिवम् ॥ ३५ ॥

तब दुष्टचित्त कुम्भकर्णने मन-ही-मन दुःखित होकर सोचा—"अहो ! भाग्यका चक्र तो देखो, जिसकी मुझे इच्छा ही नहीं है ऐसी बात मेरे मुखसे क्यों निकल गयी ?" ॥ २३ ॥

अपने नाती तीनों राक्षसोंको वर मिलनेका समाचार सुनकर सुमाली प्रहस्तादि राक्षसोंको साथ लिये निर्भयता-पूर्वक पातालसे आया ॥ २४ ॥ और रावणको हृदयसे लगाकर बोला—"बेटा ! बड़े आनन्दकी बात है कि आज मेरा चाहा हुआ तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया ॥ २५ ॥ जिसके भयसे हम लङ्कापुरीको छोड़कर पाताललोकको चले गये थे, हे महाबाहो ! आज हमारा वह विष्णुका भय जाता रहा ॥ २६ ॥ इस लंकापुरीमें, जो अब तुम्हारे भाई कुबेरके अधिकारमें है, पहले हम रहा करते थे। अब तुम्हें इसे सामनीतिसे अथवा बलपूर्वक फिर लौटा लेना चाहिये, (बन्धुत्वका विचार न करना चाहिये) क्योंकि राजाओंके बन्धु उनके कब हितकारी हुए हैं ?

सुमालीके ऐसा कहनेपर रावणने कहा—"आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥ २७-२८ ॥ धनपति कुबेर हमारे बड़े हैं।" यह सुनकर प्रहस्तने रावणसे अति नम्रतापूर्वक कहा— ॥ २९ ॥ "हे रावण ! मैं जो कुछ कहता हूँ सावधान होकर सुनो। तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। अभी तुमने राजधर्म और नीतिशास्त्रका अध्ययन नहीं किया है॥ ३० ॥ शूरवीरोंमें भ्रातृत्व नहीं हुआ करता। हे समर्थ ! इस विषयमें मैं जो कुछ निवेदन करता हूँ सुनिये। महर्षि कश्यपजीकी सन्तान देवता और राक्षस बड़े शूरवीर थे ॥ ३१ ॥ इसलिये वे बन्धुत्वको तिलाञ्जलि देकर परस्पर अस्त्र-शस्त्रोंसे लड़ने लगे। हे राजन् ! देवताओंके साथ हमारा वैर कुछ हालहीका नहीं है (यह तो आरम्भसे ही चला आता है)" ॥ ३२ ॥

दुरात्मा प्रहस्तके ये वचन सुनकर रावणने कहा—'तो ठीक है।' उस समय उसके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वह तुरंत ही त्रिकूट पर्वतपर पहुँचा ॥ ३३ ॥ उसने प्रहस्तको अपना दूत बनाकर भेजा और कुबेरको लंकापुरीसे निकालकर उसपर अपना अधिकार किया तथा अपने राक्षस-मन्त्रियोंके सहित वहाँ सुखपूर्वक रहने

तेन सख्यमनुप्राप्य तेनैव परिपालितः ।
अलकां नगरीं तत्र निर्ममे विश्वकर्मणा ॥ ३६ ॥

दिक्पालत्वं चकारात्र शिवेन परिपालितः ।
रावणो राक्षसैः सार्धमभिषिक्तः सहानुजैः ॥ ३७ ॥

राज्यं चकारासुराणां त्रिलोकीं बाधयन् खलः ।
भगिनीं कालखञ्जाय ददौ विकटरूपिणीम् ॥ ३८ ॥

विद्युज्जिह्वाय नाम्नासौ महामायी निशाचरः ।
ततो मयो विश्वकर्मा राक्षसानां दितेः सुतः ॥ ३९ ॥

सुतां मन्दोदरीं नाम्ना ददौ लोकैकसुन्दरीम् ।
रावणाय पुनः शक्तिममोघां प्रीतमानसः ॥ ४० ॥

वैरोचनस्य दौहित्रीं वृत्रज्वालेति विश्रुताम् ।
स्वयंदत्तामुदवहत्कुम्भकर्णाय रावणः ॥ ४१ ॥

गन्धर्वराजस्य सुतां शैलूषस्य महात्मनः ।
विभीषणस्य भार्यार्थे धर्मज्ञां समुदावहत् ॥ ४२ ॥

सरमां नाम सुभगां सर्वलक्षणसंयुताम् ।
ततो मन्दोदरी पुत्रं मेघनादमजीजनत् ॥ ४३ ॥

जातमात्रस्तु यो नादं मेघवत्प्रमुमोच ह ।
ततः सर्वेऽब्रुवन्मेघनादोऽयमिति चासकृत् ॥ ४४ ॥

कुम्भकर्णस्ततः प्राह निद्रा मां बाधते प्रभो ।
ततश्च कारयामास गुहां दीर्घां सुविस्तराम् ॥ ४५ ॥

तत्र सुष्वाप मूढात्मा कुम्भकर्णो विघूर्णितः ।
निद्रिते कुम्भकर्णे तु रावणो लोकरावणः ॥ ४६ ॥

ब्राह्मणान् ऋषिमुख्यांश्च देवदानवकिन्नरान् ।
देवश्रियो मनुष्यांश्च निजघ्ने समहोरगान् ॥ ४७ ॥

धनदोऽपि ततः श्रुत्वा रावणस्याक्रमं प्रभुः ।
अधर्मं मा कुरुष्वेति दूतवाक्यैर्न्यवारयत् ॥ ४८ ॥

ततः क्रुद्धो दशग्रीवो जगाम धनदालयम् ।
विनिर्जित्य धनाध्यक्षं जहारोत्तमपुष्पकम् ॥ ४९ ॥

लगा ॥ ३४ ॥ महायशस्वी कुबेरने लंकापुरीको छोड़कर पिताके कहनेसे कैलास-पर्वतपर जाकर तपस्याद्वारा श्रीमहादेवजीको प्रसन्न किया ॥ ३५ ॥ तथा उनसे मित्रता स्थापित कर उन्हींसे सुरक्षित हो वहाँ विश्वकर्मासे अलका नामकी नगरी बनवायी ॥ ३६ ॥ वहाँ वे भगवान् शङ्करकी रक्षामें रहकर दिक्पालत्व (एक दिशाका अधिकार) भोगने लगे।

इधर, महादुष्ट रावण राक्षसोंसे अभिषिक्त हो अपने भाइयोंके सहित तीनों लोकोंको कष्ट देता हुआ राक्षसोंका राज्य करने लगा। उस महामायावी राक्षसने अपनी विकरालवदना बहिन कालखञ्जके वंशमें उत्पन्न हुए विद्युज्जिह्व नामक राक्षसको विवाह दी। इसी समय, राक्षसोंके विश्वकर्मा दितिपुत्र मयने अपनी त्रिलोकसुन्दरी कन्या मन्दोदरी रावणको दी और फिर उसे प्रसन्न-चित्तसे एक अमोघ शक्ति भी दी ॥ ३७—४० ॥ तदनन्तर रावणने, स्वयं लाकर दी हुई वैरोचनकी धेवती वृत्रज्वालाके साथ कुम्भकर्णका विवाह किया ॥ ४१ ॥ तथा गन्धर्वराज महात्मा शैलूषकी पुत्री सरमाको, जो अति सुन्दरी सर्वसुलक्षणसम्पन्ना और समस्त धर्मोंको जाननेवाली थी, उसने पत्नीरूपसे विभीषणको विवाह दिया। तत्पश्चात् मन्दोदरीने मेघनाद नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥ ४२-४३ ॥ जिसने उत्पन्न होते ही मेघके समान शब्द किया। इसलिये सबने बारंबार यही कहा कि 'यह मेघनाद है' ॥ ४४ ॥ तदनन्तर कुम्भकर्ण बोला—"प्रभो ! मुझे निद्रा सता रही है।" फिर उसने एक बड़ी लंबी-चौड़ी गुहा बनवायी ॥ ४५ ॥ वहाँ मन्दमति कुम्भकर्ण खुर्राटे लेता हुआ सो गया। कुम्भकर्णके सो जानेपर समस्त लोकोंको रुलानेवाले रावणने ब्राह्मण, मुख्य-मुख्य ऋषि, देवता, दानव, किन्नर, सर्प और मनुष्य सभीको मारा तथा देवताओंकी सम्पत्ति नष्ट कर दी ॥ ४६-४७ ॥

भगवान् कुबेरने जब रावणकी उच्छृङ्खलताका समाचार सुना तो उन्होंने दूतके मुखसे यह सन्देश भेजकर कि 'अधर्म मत करो' उसे रोका ॥ ४८ ॥ इसपर रावण क्रोधित होकर कुबेरकी पुरीपर चढ़ आया और उन्हें परास्त कर उनका अति उत्तम पुष्पक विमान छीन लाया ॥ ४९ ॥

ततो यमं च वरुणं निर्जित्य समरेऽसुरः ।
स्वर्गलोकमगात्तूर्णं देवराजजिघांसया ॥ ५० ॥

ततोऽभवन्महद्युद्धमिन्द्रेण सह दैवतैः ।
ततो रावणमभ्येत्य बबन्ध त्रिदशेश्वरः ॥ ५१ ॥

तच्छ्रुत्वा सहसागत्य मेघनादः प्रतापवान् ।
कृत्वा घोरं महद्युद्धं जित्वा त्रिदशपुङ्गवान् ॥ ५२ ॥

इन्द्रं गृहीत्वा बध्वासौ मेघनादो महाबलः ।
मोचयित्वा तु पितरं गृहीत्वेन्द्रं ययौ पुरम् ॥ ५३ ॥

ब्रह्मा तु मोचयामास देवेन्द्रं मेघनादतः ।
दत्त्वा वरान्बहूंस्तस्मै ब्रह्मा स्वभवनं ययौ ॥ ५४ ॥

रावणो विजयी लोकान्सर्वान् जित्वा क्रमेण तु ।
कैलासं तोलयामास बाहुभिः परिघोपमैः ॥ ५५ ॥

तत्र नन्दीश्वरेणैवं शप्तोऽयं राक्षसेश्वरः ।
वानरैर्मानुषैश्चैव नाशं गच्छेति कोपिना ॥ ५६ ॥

शप्तोऽप्यगणयन् वाक्यं ययौ हैहयपत्तनम् ।
तेन बद्धो दशग्रीवः पुलस्त्येन विमोचितः ॥ ५७ ॥

ततोऽतिबलमासाद्य जिघांसुर्हरिपुङ्गवम् ।
धृतस्तेनैव कक्षेण वालिना दशकन्धरः ॥ ५८ ॥

भ्रामयित्वा तु चतुरः समुद्रान् रावणं हरिः ।
विसर्जयामास ततस्तेन सख्यं चकार सः ॥ ५९ ॥

रावणः परमप्रीत एवं लोकान्महाबलः ।
चकार स्ववशे राम बुभुजे स्वयमेव तान् ॥ ६० ॥

एवम्प्रभावो राजेन्द्र दशग्रीवः सहेन्द्रजित् ।
त्वया विनिहतः सङ्ख्ये रावणो लोकरावणः ॥ ६१ ॥

मेघनादश्च निहतो लक्ष्मणेन महात्मना ।
कुम्भकर्णश्च निहतस्त्वया पर्वतसन्निभः ॥ ६२ ॥

भवान्नारायणः साक्षाज्जगतामादिकृद्विभुः ।
त्वत्स्वरूपमिदं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ ६३ ॥

त्वन्नाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा लोकपितामहः ।
अग्निस्ते मुखतो जातो वाचा सह रघूत्तम ॥ ६४ ॥

तदनन्तर वह राक्षस युद्धमें यम और वरुणको भी जीतकर इन्द्रका वध करनेकी इच्छासे तुरंत ही स्वर्गलोकपर चढ़ आया ॥ ५० ॥ वहाँ इन्द्र और अन्य देवताओंके साथ उसका बड़ा घमासान युद्ध हुआ। इस समय देवराज इन्द्रने आगे बढ़कर रावणको बाँध लिया ॥ ५१ ॥ जब यह समाचार महाप्रतापी मेघनादने सुना तो उसने अकस्मात् आकर देवताओंसे घोर युद्ध किया और उन्हें जीतकर इन्द्रको पकड़कर बाँध लिया। फिर महाबली मेघनादने अपने पिताको छुड़ाया और इन्द्रको अपने साथ लेकर लंकापुरीमें लौट आया ॥ ५२-५३ ॥ फिर ब्रह्माजीने जाकर इन्द्रको मेघनादसे छुड़ाया और उसे बहुत-से वर देकर वे अपने लोकको चले गये ॥ ५४ ॥

विजयी रावणने क्रमसे सब लोकोंको जीतकर अपने परिघके समान बड़ी-बड़ी भुजाओंसे कैलास पर्वतको उठा लिया ॥ ५५ ॥ वहाँ नन्दीश्वरने क्रोधित होकर राक्षसराज रावणको शाप दिया कि 'तू मनुष्य और वानरोंके हाथसे मारा जायगा' ॥ ५६ ॥ किन्तु रावणने इस शापको कुछ भी न गिना और वह तुरंत ही हैहयराज (सहस्रार्जुन) की राजधानीको चल दिया। वहाँ सहस्रार्जुनने रावणको बाँध लिया। तब उसे पुलस्त्यजीने छुड़ाया ॥ ५७ ॥ फिर वह अत्यन्त बली वानरराज वालीको मारनेके लिये उद्यत हुआ, किन्तु उलटे उन्होंने रावणको अपनी काँखमें दबा लिया ॥ ५८ ॥ और फिर चारों समुद्रोंपर घुमाकर उसे छोड़ दिया। तब रावणने उनसे मित्रता कर ली ॥ ५९ ॥ हे राम ! इस प्रकार महाबली रावण सम्पूर्ण लोकोंको अपने अधीन कर उन्हें प्रसन्नतापूर्वक स्वयं ही भोगने लगा ॥ ६० ॥

हे राजेन्द्र ! ये दशानन और इन्द्रजित् ऐसे प्रभावशाली थे। (उनमेंसे) लोकोंको रुलानेवाले रावणको आपने मारा और मेघनादका वध महात्मा लक्ष्मणजीने किया तथा पर्वतके समान दीर्घकाय कुम्भकर्णका भी आपहीने संहार किया ॥ ६१-६२ ॥ आप सब लोकोंके रचनेवाले साक्षात् सर्वव्यापक नारायणदेव हैं। यह सारा चराचर जगत् आपहीका स्वरूप है ॥ ६३ ॥ लोकपितामह ब्रह्माजी आपकी नाभिसे प्रकट हुए कमलसे उत्पन्न हुए हैं तथा हे रघुश्रेष्ठ ! वाणीके सहित अग्निदेवने आपके मुखसे जन्म

बाहुभ्यां लोकपालौघाश्चक्षुर्भ्यां चन्द्रभास्करौ ।
दिशश्च विदिशश्चैव कर्णाभ्यां ते समुत्थिताः ॥ ६५ ॥

घ्राणात्प्राणः समुत्पन्नश्चाश्विनौ देवसत्तमौ ।
जङ्घाजानूरुजघनाद्भुवर्लोकादयोऽभवन् ॥ ६६ ॥

कुक्षिदेशात्समुत्पन्नाश्चत्वारः सागरा हरे ।
स्तनाभ्यामिन्द्रवरुणौ वालखिल्याश्च रेतसः ॥ ६७ ॥

मेढ्राद्यमो गुदान्मृत्युर्मन्यो रुद्रस्त्रिलोचनः ।
अस्थिभ्यः पर्वता जाताः केशेभ्यो मेघसंहतिः ॥ ६८ ॥

ओषध्यस्तव रोमभ्यो नखेभ्यश्च खरादयः ।
त्वं विश्वरूपः पुरुषो मायाशक्तिसमन्वितः ॥ ६९ ॥

नानारूप इवाभासि गुणव्यतिकरे सति ।
त्वामाश्रित्यैव विबुधाः पिबन्त्यमृतमध्वरे ॥ ७० ॥

त्वया सृष्टमिदं सर्वं विश्वं स्थावरजङ्गमम् ।
त्वामाश्रित्यैव जीवन्ति सर्वे स्थावरजङ्गमाः ॥ ७१ ॥

त्वद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारेऽपि राघव ।
क्षीरमध्यगतं सर्पिर्यथा व्याप्याखिलं पयः ॥ ७२ ॥

त्वद्भासा भासतेऽर्कादि न त्वं तेनावभाससे ।
सर्वगं नित्यमेकं त्वां ज्ञानचक्षुर्विलोकयेत् ॥ ७३ ॥

नाज्ञानचक्षुस्त्वां पश्येदन्धदृग् भास्करं यथा ।
योगिनस्त्वां विचिन्वन्ति स्वदेहे परमेश्वरम् ॥ ७४ ॥

अतन्निरसनमुखैर्वेदशीर्षैरहर्निशम् ।
त्वत्पादभक्तिलेशेन गृहीता यदि योगिनः ॥ ७५ ॥

विचिन्वन्तो हि पश्यन्ति चिन्मात्रं त्वां न चान्यथा ।
मया प्रलपितं किञ्चित्सर्वज्ञस्य तवाग्रतः ।
क्षन्तुमर्हसि देवेश तवानुग्रहभागहम् ॥ ७६ ॥

दिग्देशकालपरिहीनमनन्यमेकं
चिन्मात्रमक्षरमजं चलनादिहीनम् ।
सर्वज्ञमीश्वरमनन्तगुणं व्युदस्त-
मायं भजे रघुपतिं भजतामभिन्नम् ॥ ७७ ॥

लिया है ॥ ६४ ॥ आपकी भुजाओंसे लोकपालोंके समूह, नेत्रोंसे चन्द्रमा और सूर्य तथा कानोंसे दिशा-विदिशाएँ उत्पन्न हुई हैं ॥ ६५ ॥ इसी प्रकार आपकी घ्राणेन्द्रियसे प्राण और देवताओंमें श्रेष्ठ अश्विनीकुमार प्रकट हुए हैं तथा जङ्घा, जानु, ऊरु और जघनादि अङ्गोंसे भुवर्लोक आदि हुए हैं ॥ ६६ ॥ हे हरे ! आपकी कुक्षिसे चार समुद्र, स्तनोंसे इन्द्र और वरुण तथा वीर्यसे वालखिल्यादि मुनीश्वर हुए हैं ॥ ६७ ॥ आपकी उपस्थेन्द्रियसे यम, गुदासे मृत्यु, क्रोधसे त्रिनयन महादेवजी, अस्थियोंसे पर्वतसमूह, केशोंसे मेघ, रोमोंसे ओषधियाँ तथा नखोंसे गधे आदि उत्पन्न हुए हैं। अपनी मायाशक्तिसे युक्त आप ही विश्वरूप परम पुरुष हैं ॥ ६८-६९ ॥ प्रकृतिके गुणोंसे युक्त होनेपर आप ही नानारूप-से दिखायी देने लगते हैं; आपहीके आश्रयसे देवगण यज्ञोंमें अमृतपान करते हैं ॥ ७० ॥ यह सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत् आपहीने रचा है और समस्त चराचर प्राणी आपहीके आश्रयसे जीवित रहते हैं ॥ ७१ ॥ हे रघुनाथजी ! जिस प्रकार दूधमें मिला हुआ घी उसमें सर्वत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार व्यवहारकालमें भी सम्पूर्ण वस्तुएँ आपहीसे व्याप्त रहती हैं ॥ ७२ ॥ सूर्य-चन्द्रादि भी सब आपहीके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं किन्तु आप उनसे प्रकाशित नहीं होते। आप सर्वगत, नित्य और एक हैं, जिस पुरुषको ज्ञानदृष्टि प्राप्त हो जाती है वही आपको देख सकता है ॥ ७३ ॥ जिस प्रकार अन्धेको सूर्य नहीं दिखायी दे सकता उसी प्रकार जो ज्ञाननेत्रसे रहित है वह आपका दर्शन नहीं कर सकता। योगिजन अनात्म-पदार्थोंका बाध करनेवाले उपनिषद्वाक्योंद्वारा अहर्निश आप परमात्माको अपने शरीरमें ही खोजते हैं। यदि उन योगियोंपर आपके चरणोंकी भक्तिका लेशमात्र भी प्रभाव होता है तभी वे खोजते-खोजते अन्तमें चिन्मात्रस्वरूप आपको देख पाते हैं, और किसी प्रकार नहीं। मैंने आप सर्वज्ञके सामने कुछ प्रलाप (बकवाद) किया है, सो आप क्षमा करें, क्योंकि हे देवेश्वर ! मैं आपकी कृपाका पात्र हूँ ॥ ७४—७६ ॥ जो दिशा, देश और कालसे रहित तथा अनन्य, एक, चिन्मात्र, अविनाशी, अजन्मा और चलनादि क्रियासे रहित हैं उन सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, अनन्तगुणसम्पन्न, मायाहीन और अपने भक्तजनोंसे सदा अभिन्न रहनेवाले रघुनाथजीको मैं भजता हूँ ॥ ७७ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीय सर्ग

वाली और सुग्रीवका पूर्वचरित्र तथा रावण-सनत्कुमार-संवाद

श्रीराम उवाच

वालिसुग्रीवयोर्जन्म श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
रवीन्द्रौ वानराकारौ जज्ञात इति नः श्रुतम्॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले—हे मुने! मैं वाली और सुग्रीवके जन्मका यथावत् वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। मैंने सुना है कि ये इन्द्र और सूर्य ही वानररूपसे उत्पन्न हुए थे॥ १॥

अगस्त्य उवाच

मेरोः स्वर्णमयस्याद्रेर्मध्यशृङ्गे मणिप्रभे।
तस्मिन्सभास्ते विस्तीर्णा ब्रह्मणः शतयोजना॥ २ ॥
तस्यां चतुर्मुखः साक्षात्कदाचिद्योगमास्थितः।
नेत्राभ्यां पतितं दिव्यमानन्दसलिलं बहु॥ ३ ॥
तद्गृहीत्वा करे ब्रह्मा ध्यात्वा किञ्चित्तदत्यजत्।
भूमौ पतितमात्रेण तस्माज्जातो महाकपिः॥ ४ ॥
तमाह द्रुहिणो वत्स किञ्चित्कालं वसात्र मे।
समीपे सर्वशोभाढ्ये ततः श्रेयो भविष्यति॥ ५ ॥
इत्युक्तो न्यवसत्तत्र ब्रह्मणा वानरोत्तमः।
एवं बहुतिथे काले गते ऋक्षाधिपः सुधीः॥ ६ ॥
कदाचित्पर्यटन्नद्रौ फलमूलार्थमुद्यतः।
अपश्यद्दिव्यसलिलां वापीं मणिशिलान्विताम्॥ ७ ॥
पानीयं पातुमागच्छत्तत्रच्छायामयं कपिम्।
दृष्ट्वा प्रतिकपिं मत्वा निपपात जलान्तरे॥ ८ ॥
तत्रादृष्ट्वा हरिं शीघ्रं पुनरुत्प्लुत्य वानरः।
अपश्यत्सुन्दरीं रामामात्मानं विस्मयं गतः॥ ९ ॥
ततः सुरेशो देवेशं पूजयित्वा चतुर्मुखम्।
गच्छन्मध्याह्नसमये दृष्ट्वा नारीं मनोरमाम्॥ १० ॥
कन्दर्पशरविद्धाङ्गस्त्यक्तवान्वीर्यमुत्तमम्।
तामप्राप्यैव तद्बीजं वालदेशेऽपतद्भुवि॥ ११ ॥
वाली समभवत्तत्र शक्रतुल्यपराक्रमः।
तस्य दत्त्वा सुरेशानः स्वर्णमालां दिवं गतः॥ १२ ॥

अगस्त्यजी बोले—हे राम! मेरुपर्वतके मणिके समान प्रकाशमान सुवर्णमय मध्यशिखरपर ब्रह्माजीकी सौ योजन विस्तारवाली सभा है॥ २॥ उसमें चतुर्मुख ब्रह्माजी किसी समय ध्यानस्थ हुए बैठे थे, उस समय उनके नेत्रोंसे बहुत-से दिव्य आनन्दाश्रु गिरे॥ ३॥ उन्हें अपने हाथमें लेकर ब्रह्माजीने कुछ चिन्तन कर पृथिवीपर डाल दिया। पृथिवीपर गिरते ही उनसे एक बहुत बड़ा वानर उत्पन्न हुआ॥ ४॥ उससे ब्रह्माजीने कहा, "वत्स! तू कुछ समय यहाँ मेरे पास इस सर्वशोभासम्पन्न स्थानमें रह, इससे तेरा कल्याण होगा"॥ ५॥ ब्रह्माजीके इस प्रकार कहनेपर वह वानरश्रेष्ठ वहीं रहने लगा। इस प्रकार बहुत समय बीत जानेपर एक दिन उस परम बुद्धिमान् ऋक्षराजने* फल-मूलादिके लिये घूमते-घूमते एक दिव्य जलपूर्ण और रत्नजटित शिलाओंसे सुशोभित बावड़ी देखी॥ ६-७॥ जब वह वहाँ पानी पीनेके लिये गया तो उसने जलमें एक छायामय वानर देखा। उसे अपना प्रतिद्वन्द्वी वानर समझकर वह जलमें कूद पड़ा॥ ८॥ किन्तु वहाँ कोई भी वानर न मिलनेपर वह तुरंत ही उछलकर बाहर निकल आया और अपनेको एक अति सुन्दरी रमणीके रूपमें देखकर बड़ा ही चकित हुआ॥ ९॥

उस समय देवराज इन्द्र मध्याह्न कालमें ब्रह्माजीकी पूजा करके लौट रहे थे। उस परमसुन्दरी स्त्रीको देखकर वे कामदेवके बाणोंसे बिंध गये और उनका उत्तम वीर्य स्खलित हो गया। वह वीर्य उस स्त्रीको प्राप्त न होकर उसके बालोंको छूता हुआ पृथिवीपर गिर पड़ा॥ १०-११॥ उससे इन्द्रके समान पराक्रमी वालीका जन्म हुआ। देवराज इन्द्र उसे एक सुवर्णमयी माला देकर स्वर्गलोकको चले गये॥ १२॥

* यह उस वानरका नाम था।

भानुरप्यागतस्तत्र तदानीमेव भामिनीम्।
दृष्ट्वा कामवशो भूत्वा ग्रीवादेशेऽसृजन्महत्॥ १३॥

बीजं तस्यास्ततः सद्यो महाकायोऽभवद्धरिः।
तस्य दत्त्वा हनूमन्तं सहायार्थं गतो रविः॥ १४॥

पुत्रद्वयं समादाय गत्वा सा निद्रिता क्वचित्।
प्रभातेऽपश्यदात्मानं पूर्ववद्वानराकृतिम्॥ १५॥

फलमूलादिभिः सार्धं पुत्राभ्यां सहितः कपिः।
नत्वा चतुर्मुखस्याग्रे ऋक्षराजः स्थितः सुधीः॥ १६॥

ततोऽब्रवीत्समाश्वास्य बहुशः कपिकुञ्जरम्।
तत्रैकं देवतादूतमाहूयामरसन्निभम्॥ १७॥

गच्छ दूत मयादिष्टो गृहीत्वा वानरोत्तमम्।
किष्किन्धां दिव्यनगरीं निर्मितां विश्वकर्मणा॥ १८॥

सर्वसौभाग्यवलितां देवैरपि दुरासदाम्।
तस्यां सिंहासने वीरं राजानमभिषेचय॥ १९॥

सप्तद्वीपगता ये ये वानराः सन्ति दुर्जयाः।
सर्वे ते ऋक्षराजस्य भविष्यन्ति वशेऽनुगाः॥ २०॥

यदा नारायणः साक्षाद्रामो भूत्वा सनातनः।
भूभारासुरनाशाय सम्भविष्यति भूतले॥ २१॥

तदा सर्वे सहायार्थे तस्य गच्छन्तु वानराः।
इत्युक्तो ब्रह्मणा दूतो देवानां स महामतिः॥ २२॥

यथाज्ञप्तस्तथा चक्रे ब्रह्मणा तं हरीश्वरम्।
देवदूतस्ततो गत्वा ब्रह्मणे तन्न्यवेदयत्॥ २३॥

तदादि वानराणां सा किष्किन्धाभून्नृपाश्रयः॥ २४॥

सर्वेश्वरस्त्वमेवासीरिदानीं ब्रह्मणार्थितः।
भूमेर्भारो हृतः कृत्स्नस्त्वया लीलानृदेहिना।
सर्वभूतान्तरस्थस्य नित्यमुक्तचिदात्मनः॥ २५॥

अखण्डानन्तरूपस्य कियानेष पराक्रमः।
तथापि वर्ण्यते सद्भिर्लीलामानुषरूपिणः॥ २६॥

यशस्ते सर्वलोकानां पापहत्यै सुखाय च।
य इदं कीर्तयेन्मर्त्यो वालिसुग्रीवयोर्महत्॥ २७॥

उसी समय वहाँ सूर्यदेव भी आये। उस सुन्दरीको देखकर वे कामवश हो गये तथा उसकी ग्रीवापर अपना उग्र वीर्य छोड़ा। उससे उसी समय एक बहुत बड़े शरीरवाला वानर उत्पन्न हुआ। सूर्यदेव उसकी सहायताके लिये उसे हनुमान्‌जीको देकर चले गये॥ १३-१४॥

उन दोनों पुत्रोंको लेकर वह स्त्री कहीं जाकर सो गयी। दूसरे दिन सबेरे (उठनेपर) उसने पहलेके समान अपनेको फिर वानररूप ही देखा॥ १५॥ फिर वह परम बुद्धिमान् ऋक्षराज फल-मूलादि लेकर अपने पुत्रोंके सहित ब्रह्माजीकी सभामें आया और उन्हें नमस्कार कर उनके आगे खड़ा हो गया॥ १६॥ तब ब्रह्माजीने उस वानर-वीरको बहुत कुछ समझाया और एक देवतुल्य देवदूतको बुलाकर उससे कहा—॥ १७॥ "हे दूत! तू मेरी आज्ञासे इस वानरश्रेष्ठको लेकर विश्वकर्माकी बनायी हुई किष्किन्धा नामकी दिव्य पुरीको जा॥ १८॥ वह सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे सम्पन्न है और देवताओंके लिये भी दुर्जय है। उसके सिंहासनपर इस वीरका राज्याभिषेक कर दे॥ १९॥ सातों द्वीपोंमें जो-जो बड़े दुर्जय वानर-वीर हैं वे सब ऋक्षराजके अधीन रहेंगे॥ २०॥ जिस समय साक्षात् सनातन पुरुष नारायणदेव पृथिवीका भार उतारनेके लिये भूलोकमें रामरूपसे अवतीर्ण हों उस समय समस्त वानरगण उनकी सहायताके लिये जायँ!" ब्रह्माजीके इस प्रकार कहनेपर उस महाबुद्धिमान् देवदूतने जिस प्रकार उनकी आज्ञा हुई थी उसी प्रकार उस वानरराजकी सब व्यवस्था कर दी और फिर ब्रह्माजीके पास जाकर उन्हें सब समाचार सुना दिया। तबसे वह किष्किन्धापुरी वानरोंकी राजधानी हो गयी॥ २१—२४॥

हे राम! आप सबके स्वामी हैं। ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे अब माया-मानव-रूप धारण कर आपने पृथिवीका सब भार उतार दिया। जो सब भूतोंके भीतर विराजमान नित्यमुक्त और चेतनस्वरूप हैं उन अखण्ड और अनन्तरूप आपके लिये यह ऐसा कौन बड़ा पराक्रम है? तथापि सम्पूर्ण लोकोंके पापोंका नाश करनेके लिये और उन्हें सुख देनेके लिये साधुजन आप माया-मानुष-रूप भगवान्‌का सुयश वर्णन करते ही हैं। जो मनुष्य वाली और सुग्रीवके

जन्म त्वदाश्रयत्वात्स मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २८ ॥

अथान्यां सम्प्रवक्ष्यामि कथां राम त्वदाश्रयाम्।
सीता हृता यदर्थं सा रावणेन दुरात्मना ॥ २९ ॥

पुरा कृतयुगे राम प्रजापतिसुतं विभुम्।
सनत्कुमारमेकान्ते समासीनं दशाननः।
विनयावनतो भूत्वा ह्यभिवाद्येदमब्रवीत् ॥ ३० ॥

को त्वस्मिन्प्रवरो लोके देवानां बलवत्तरः।
देवाश्च यं समाश्रित्य युद्धे शत्रुं जयन्ति हि ॥ ३१ ॥

कं यजन्ति द्विजा नित्यं कं ध्यायन्ति च योगिनः।
एतन्मे शंस भगवन् प्रश्नं प्रश्नविदांवर ॥ ३२ ॥

ज्ञात्वा तस्य हृदिस्थं यत्तदशेषेण योगदृक्।
दशाननमुवाचेदं शृणु वक्ष्यामि पुत्रक ॥ ३३ ॥

भर्ता यो जगतां नित्यं यस्य जन्मादिकं न हि।
सुरासुरैर्नुतो नित्यं हरिर्नारायणोऽव्ययः ॥ ३४ ॥

यन्नाभिपङ्कजाज्जातो ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः।
सृष्टं येनैव सकलं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ ३५ ॥

तं समाश्रित्य विबुधा जयन्ति समरे रिपून्।
योगिनो ध्यानयोगेन तमेवानुजपन्ति हि ॥ ३६ ॥

महर्षेर्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच दशाननः।
दैत्यदानवरक्षांसि विष्णुना निहतानि च ॥ ३७ ॥

कां वा गतिं प्रपद्यन्ते प्रेत्य ते मुनिपुङ्गव।
तमुवाच मुनिश्रेष्ठो रावणं राक्षसाधिपम् ॥ ३८ ॥

दैवतैर्निहता नित्यं गत्वा स्वर्गमनुत्तमम्।
भोगक्षये पुनस्तस्माद्भ्रष्टा भूमौ भवन्ति ते ॥ ३९ ॥

पूर्वार्जितैः पुण्यपापैर्म्रियन्ते चोद्भवन्ति च।
विष्णुना ये हतास्ते तु प्राप्नुवन्ति हरेर्गतिम् ॥ ४० ॥

श्रुत्वा मुनिमुखात्सर्वं रावणो हृष्टमानसः।
योत्स्येऽहं हरिणा सार्धमिति चिन्तापरोऽभवत् ॥ ४१ ॥

इस महान् चरित्रका कीर्तन करेगा वह आपके आश्रित होनेके कारण सब पापोंसे छूट जायगा ॥ २५—२८ ॥

हे राम! अब आपसे सम्बन्ध रखनेवाली एक वह कथा और सुनाता हूँ जिस कारण कि दुरात्मा रावणने सीताजीको हरा था ॥ २९ ॥ पहले एक बार रावणने एकान्तमें बैठे हुए ब्रह्माजीके पुत्र श्रीसनत्कुमारजीसे अति नम्रतापूर्वक प्रणाम करके कहा— ॥ ३० ॥ "जिसका आश्रय पाकर देवगण संग्राममें शत्रुको जीतते हैं इस संसारमें सब देवताओंमें श्रेष्ठ और अधिक बलवान् वह कौन देव है? ॥ ३१ ॥ ब्राह्मणगण किसका पूजन करते हैं और योगीगण किसका ध्यान धरते हैं? भगवन्! आप सब प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, अतः मेरे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये" ॥ ३२ ॥ भगवान् सनत्कुमारने योगदृष्टिसे रावणके अन्तःकरणकी सब बात जानकर उससे कहा—"वत्स! मैं तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देता हूँ, सुनो ॥ ३३ ॥ जो सर्वदा सम्पूर्ण संसारका पोषण करनेवाले हैं; जिनके जन्म-मृत्यु आदि नहीं होते, जो देवता और दैत्योंसे सदा वन्दित अविनाशी नारायण श्रीहरि कहलाते हैं ॥ ३४ ॥ सृष्टि-कर्ताओंके स्वामी श्रीब्रह्माजी भी जिनके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए हैं तथा जिन्होंने यह स्थावर-जङ्गमरूप सारा संसार भी रचा है उन्हींके आश्रयसे देवगण संग्राममें शत्रुओंको जीतते हैं तथा योगिजन भी ध्यानयोगके द्वारा उन्हींका जप करते हैं" ॥ ३५-३६ ॥

महर्षि सनत्कुमारके ये वचन सुनकर रावणने फिर पूछा—"हे मुनिश्रेष्ठ! उन विष्णुभगवान्द्वारा मारे हुए दैत्य, दानव और राक्षसगण मरकर किस गतिको प्राप्त होते हैं?" तब मुनिवर सनत्कुमारने राक्षसराज रावणसे कहा— ॥ ३७-३८ ॥ "अन्य साधारण देवताओंके हाथसे मरकर तो वे अति उत्तम स्वर्गलोकको ही जाते हैं और अपना भोग क्षीण होनेपर वहाँसे गिरकर फिर भूर्लोकमें उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥ फिर पूर्वजन्मोंमें किये हुए अपने पाप-पुण्योंके अनुसार जन्मते-मरते रहते हैं, किन्तु जो भगवान् विष्णुके हाथसे मारे जाते हैं वे तो विष्णुपद ही प्राप्त कर लेते हैं" ॥ ४० ॥

श्रीसनत्कुमारजीके मुखसे ये सब बातें सुनकर रावण मन-ही-मन अति प्रसन्न हुआ और वह सोचने लगा कि मैं

मनःस्थितं परिज्ञाय रावणस्य महामुनिः ।
उवाच वत्स तेऽभीष्टं भविष्यति न संशयः ॥ ४२ ॥

कञ्चित्कालं प्रतीक्षस्व सुखी भव दशानन ।
एवमुक्त्वा महाबाहो मुनिः पुनरुवाच तम् ॥ ४३ ॥

तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि ह्यरूपस्यापि मायिनः ।
स्थावरेषु च सर्वेषु नदेषु च नदीषु च ॥ ४४ ॥

ओङ्कारश्चैव सत्यं च सावित्री पृथिवी च सः ।
समस्तजगदाधारः शेषरूपधरो हि सः ॥ ४५ ॥

सर्वे देवाः समुद्राश्च कालः सूर्यश्च चन्द्रमाः ।
सूर्योदयो दिवारात्री यमश्चैव तथानिलः ॥ ४६ ॥

अग्निरिन्द्रस्तथा मृत्युः पर्जन्यो वसवस्तथा ।
ब्रह्मा रुद्रादयश्चैव ये चान्ये देवदानवाः ॥ ४७ ॥

विद्योतते ज्वलत्येष पाति चात्तीति विश्वकृत् ।
क्रीडां करोत्यव्ययात्मा सोऽयं विष्णुः सनातनः ॥ ४८ ॥

तेन सर्वमिदं व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
नीलोत्पलदलश्यामो विद्युद्वर्णाम्बरावृतः ॥ ४९ ॥

शुद्धजाम्बूनदप्रख्यां श्रियं वामाङ्कसंस्थिताम् ।
सदानपायिनीं देवीं पश्यन्नालिङ्ग्य तिष्ठति ॥ ५० ॥

द्रष्टुं न शक्यते कैश्चिद्देवदानवपन्नगैः ।
यस्य प्रसादं कुरुते स चैनं द्रष्टुमर्हति ॥ ५१ ॥

न च यज्ञतपोभिर्वा न दानाध्ययनादिभिः ।
शक्यते भगवान्द्रष्टुमुपायैरितरैरपि ॥ ५२ ॥

तद्भक्तैस्तद्गतप्राणैस्तच्चित्तैर्धूतकल्मषैः ।
शक्यते भगवान्विष्णुर्वेदान्तामलदृष्टिभिः ॥ ५३ ॥

अथवा द्रष्टुमिच्छा ते शृणु त्वं परमेश्वरम् ।
त्रेतायुगे स देवेशो भविता नृपविग्रहः ॥ ५४ ॥

हितार्थं देवमर्त्यानामिक्ष्वाकूणां कुले हरिः ।
रामो दाशरथिर्भूत्वा महासत्त्वपराक्रमः ॥ ५५ ॥

श्रीहरिके साथ अवश्य युद्ध करूँगा ॥ ४१ ॥ मुनिवरने रावणके चित्तकी बात जानकर कहा—"वत्स ! इसमें सन्देह नहीं तेरी इच्छा अवश्य सफल होगी ॥ ४२ ॥ हे दशानन ! अभी चैनसे रह, कुछ काल और प्रतीक्षा कर।"

हे महाबाहो रघुनाथजी ! रावणसे ऐसा कह मुनि उससे फिर बोले— ॥ ४३ ॥ "रावण ! वे रूपरहित हैं, तथापि मैं तुझे उन मायावीके (मायासे धारण किये हुए) रूप बतलाता हूँ। वे नद और नदी आदि समस्त स्थावरोंमें व्याप्त हैं ॥ ४४ ॥ ओंकार, सत्य, सावित्री, पृथ्वी तथा सम्पूर्ण जगत्‌के आधार शेषनाग भी वे ही हैं ॥ ४५ ॥ सम्पूर्ण देवगण, समुद्र, काल, सूर्य, चन्द्रमा, सूर्योदय, दिन, रात्रि, यम, वायु, अग्नि, इन्द्र, मृत्यु, मेघ, वसुगण, ब्रह्मा और रुद्र आदि तथा और भी जितने देव या दानव हैं वे सब भी उन्हींके रूप हैं ॥ ४६-४७ ॥ सम्पूर्ण विश्वको रचनेवाले वे सनातन विष्णुभगवान् निर्विकार होकर भी (अपनी मायाके आश्रयसे) नाना प्रकारकी लीलाएँ करते हैं। वे (विद्युत् होकर) चमकते हैं, (अग्नि होकर) प्रज्वलित होते हैं, (विष्णुरूपसे) रक्षा करते हैं और (रुद्ररूपसे) सबको भक्षण कर जाते हैं ॥ ४८ ॥ यह स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण त्रिलोकी एकमात्र उन्हींसे व्याप्त है। वे नीलकमलदलके समान श्यामवर्ण और बिजलीकी-सी आभावाला पीताम्बर धारण किये हुए हैं ॥ ४९ ॥ तथा अपने वाम भागमें बैठी हुई शुद्ध सुवर्णकी-सी कान्तिवाली, कभी नष्ट न होनेवाली भगवती लक्ष्मीजीकी ओर निहारते हुए उन्हें आलिङ्गन किये विराजमान हैं ॥ ५० ॥ वे किसी भी देव, दानव या नागसे देखे नहीं जा सकते, जिसपर उनकी प्रसन्नता होती है वही उनका दर्शन कर सकता है ॥ ५१ ॥ यज्ञ, तप, दान, अध्ययन अथवा और किसी भी उपायसे भगवान् नहीं देखे जा सकते ॥ ५२ ॥ जो उनके भक्त हैं, जिनके प्राण और मन उन्हींमें लगे रहते हैं तथा वेदान्त-विचारसे जिनकी दृष्टि मलहीन हो गयी है उन निष्पाप महात्माओंको ही भगवान् विष्णुके दर्शन हो सकते हैं ॥ ५३ ॥ अब यदि तुझे भी (बिना किसी उपायके ही) उन परमेश्वरके दर्शनोंकी इच्छा है तो सुन—वे देवाधिदेव श्रीहरि त्रेतायुगमें देव और मनुष्योंके कल्याणके लिये, राजवेषसे, इक्ष्वाकुके वंशमें दशरथजीके पुत्र महावीर और पराक्रमी भगवान् राम होकर

पितुर्नियोगात्स भ्रात्रा भार्यया दण्डके वने ।
विचरिष्यति धर्मात्मा जगन्मात्रा स्वमायया ॥ ५६ ॥

एवं ते सर्वमाख्यातं मया रावण विस्तरात् ।
भजस्व भक्तिभावेन सदा रामं श्रिया युतम् ॥ ५७ ॥

अगस्त्य उवाच

एवं श्रुत्वासुराध्यक्षो ध्यात्वा किञ्चिद्विचार्य च ।
त्वया सह विरोधेप्सुर्मुमुदे रावणो महान् ॥ ५८ ॥

युद्धार्थी सर्वतो लोकान् पर्यटन् समवस्थितः ।
एतदर्थं महाराज रावणोऽतीव बुद्धिमान् ।
हतवान् जानकीं देवीं त्वयात्मवधकाङ्क्षया ॥ ५९ ॥

इमां कथां यः शृणुयात्पठेद्वा
संश्रावयेद्वा श्रवणार्थिनां सदा ।
आयुष्यमारोग्यमनन्तसौख्यं
प्राप्नोति लाभं धनमक्षयं च ॥ ६० ॥

अवतीर्ण होंगे ॥ ५४-५५ ॥ वे परम धार्मिक रघुनाथजी पिताकी आज्ञासे अपने भाई (लक्ष्मण) और अपनी स्त्री जगज्जननी मायाके सहित दण्डक वनमें विचरेंगे ॥ ५६ ॥ हे रावण ! इस प्रकार यह सारा तत्त्व मैंने तुझे विस्तारसे सुना दिया । अब तू लक्ष्मीजीसहित भगवान् रामका सदा भक्तिपूर्वक भजन कर'' ॥ ५७ ॥

अगस्त्यजी बोले—हे राम ! यह सुनकर राक्षसराज रावणने कुछ देर सोच-विचार करनेके अनन्तर आपके साथ विरोध करना निश्चित किया और ऐसा निश्चयकर वह मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ ॥ ५८ ॥ वह युद्धकी इच्छासे सम्पूर्ण लोकोंमें घूमने लगा । हे महाराज ! आपके हाथसे मारे जानेकी इच्छासे ही महाबुद्धिमान् रावणने देवी जानकीजीको चुरा लिया था ॥ ५९ ॥ जो पुरुष इस कथाको सुने या पढ़ेगा अथवा सुननेकी इच्छावालोंको सदा सुनावेगा वह दीर्घ-आयु, आरोग्य, अनन्तसुख, इच्छित लाभ और अक्षय धन प्राप्त करेगा ॥ ६० ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थ सर्ग

रामराज्यका वर्णन तथा सीता-वनवास

श्रीमहादेव उवाच

एकदा ब्रह्मणो लोकादायान्तं नारदं मुनिम् ।
पर्यटन् रावणो लोकान्दृष्ट्वा नत्वाब्रवीद्वचः ॥ १ ॥

भगवन्ब्रूहि मे योद्धुं कुत्र सन्ति महाबलाः ।
योद्धुमिच्छामि बलिभिस्त्वं ज्ञातासि जगत्त्रयम् ॥ २ ॥

मुनिर्ध्यात्वाह सुचिरं श्वेतद्वीपनिवासिनः ।
महाबला महाकायास्तत्र याहि महामते ॥ ३ ॥

विष्णुपूजारता ये वै विष्णुना निहताश्च ये ।
त एव तत्र सञ्जाता अजेयाश्च सुरासुरैः ॥ ४ ॥

श्रुत्वा तद्रावणो वेगान्मन्त्रिभिः पुष्पकेण तान् ।
योद्धुकामः समागत्य श्वेतद्वीपसमीपतः ॥ ५ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! लोकान्तरोंमें घूमते हुए रावणने एक दिन श्रीनारदजीको ब्रह्मलोकसे आते हुए देखकर उनसे नमस्कार करके पूछा— ॥ १ ॥ ''भगवन् ! मैं बलवानोंके साथ युद्ध करना चाहता हूँ, आप तीनों लोकोंसे परिचित हैं । कृपया बतलाइये मुझसे लड़ने योग्य महाबली पुरुष कहाँ हैं ?'' ॥ २ ॥

तब मुनीश्वरने बहुत देरतक सोचकर कहा—''हे महामते ! श्वेतद्वीपके रहनेवाले बड़े बलवान् और विशाल शरीरवाले हैं; तुम वहीं जाओ ॥ ३ ॥ जो लोग भगवान् विष्णुकी पूजामें तत्पर रहते हैं अथवा जो स्वयं विष्णुभगवान्के ही हाथसे मारे गये हैं वे ही वहाँ उत्पन्न हुए हैं । वे देवता या दानव आदि किसीसे भी नहीं जीते जा सकते'' ॥ ४ ॥

यह सुनकर रावण तुरंत ही अपने मन्त्रियोंके सहित

तत्प्रभाहततेजस्कं पुष्पकं नाचलत्ततः ।
त्यक्त्वा विमानं प्रययौ मन्त्रिणश्च दशाननः ॥ ६ ॥

प्रविशन्नेव तद्द्वीपं धृतो हस्तेन योषिता ।
पृष्टश्च त्वं कुतः कोऽसि प्रेषितः केन वा वद ॥ ७ ॥

इत्युक्तो लीलया स्त्रीभिर्हसन्तीभिः पुनः पुनः ।
कृच्छ्राद्धस्ताद्विनिर्मुक्तस्तासां स्त्रीणां दशाननः ॥ ८ ॥

आश्चर्यमतुलं लब्ध्वा चिन्तयामास दुर्मतिः ।
विष्णुना निहतो यामि वैकुण्ठमिति निश्चितः ॥ ९ ॥

मयि विष्णुर्यथा कुप्येत्तथा कार्यं करोम्यहम् ।
इति निश्चित्य वैदेहीं जहार विपिनेऽसुरः ॥ १० ॥

जानन्नेव परात्मानं स जहारावनीसुताम् ।
मातृवत्पालयामास त्वत्तः काङ्क्षन्वधं स्वकम् ॥ ११ ॥

राम त्वं परमेश्वरोऽसि सकलं
जानासि विज्ञानदृग्
भूतं भव्यमिदं त्रिकालकलना-
साक्षी विकल्पोज्झितः ।
भक्तानामनुवर्तनाय सकलां
कुर्वन् क्रियासंहतिं
त्वं शृण्वन्मनुजाकृतिर्मुनिवचो
भासीश लोकार्चितः ॥ १२ ॥

स्तुत्वैवं राघवं तेन पूजितः कुम्भसम्भवः ।
स्वाश्रमं मुनिभिः सार्धं प्रययौ हृष्टमानसः ॥ १३ ॥

रामस्तु सीतया सार्धं भ्रातृभिः सह मन्त्रिभिः ।
संसारीव रमानाथो रममाणोऽवसद्गृहे ॥ १४ ॥

अनासक्तोऽपि विषयान्बुभुजे प्रियया सह ।
हनुमत्प्रमुखैः सद्भिर्वानरैः परिवेष्टितः ॥ १५ ॥

पुष्पकं चागमद्राममेकदा पूर्ववत्प्रभुम् ।
प्राह देव कुबेरेण प्रेषितं त्वामहं ततः ॥ १६ ॥

पुष्पक विमानपर चढ़कर श्वेतद्वीपके निकट आया ॥ ५ ॥ उस द्वीपकी प्रभासे तेजोहीन हो जानेके कारण पुष्पक और आगे नहीं बढ़ सका। अतः विमान और मन्त्रियोंको छोड़कर रावण स्वयं ही चला ॥ ६ ॥ उस द्वीपमें घुसते ही एक स्त्रीने उसका हाथ पकड़कर पूछा—"बता, तू कौन है? कहाँसे आया है? और यहाँ तुझे किसने भेजा है?" ॥ ७ ॥ इसी प्रकार वहाँ बहुत-सी स्त्रियोंने लीलापूर्वक हँसते-हँसते उससे वही बात कही और रावणको उन स्त्रियोंके हाथसे बड़ी कठिनतासे छुटकारा मिला ॥ ८ ॥ यह देखकर उसे असीम आश्चर्य हुआ और वह दुर्बुद्धि सोचने लगा, 'मैं विष्णुभगवान्‌के हाथसे मरकर निःसन्देह वैकुण्ठको जाऊँगा ॥ ९ ॥ अतः मुझे ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे भगवान् विष्णु मुझपर कुपित हों, ऐसा सोचकर ही उस असुरने वनमें श्रीजानकीजीको हर लिया था ॥ १० ॥ हे राम! आपके हाथसे अपना वध करानेकी इच्छासे ही रावणने आपको परमात्मा जानते हुए भी श्रीसीताजीको चुरा लिया और उनका माताके समान पालन किया ॥ ११ ॥ हे राम! आप परमेश्वर हैं, आप त्रिकालदर्शी एवं विकल्पसे रहित होकर अपनी ज्ञानदृष्टिसे भूत, भविष्य और वर्तमान—ये सब कुछ जानते हैं, हे स्वामिन्! आप अपने भक्तोंको मार्ग दिखानेके लिये ही सारी लीलाएँ रचते हैं तथा आप सम्पूर्ण लोकोंसे पूजित होकर भी मनुष्यरूपसे हम-जैसे मुनियोंके वचन सुनते हुए दिखलायी दे रहे हैं ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीरघुनाथजीकी स्तुति कर और उनसे सत्कार पा श्रीअगस्त्यजी अन्य मुनीश्वरोंके साथ प्रसन्न-चित्तसे अपने आश्रमको चले गये ॥ १३ ॥

लक्ष्मीपति भगवान् राम सीताजी, भाइयों तथा मन्त्रियोंके सहित संसारी पुरुषोंके समान रमण (आचरण) करते हुए घरमें रहने लगे ॥ १४ ॥ उन्होंने असंग होते हुए भी अपनी प्रियाके साथ नाना प्रकारके भोगोंको भोगा। वे सदा ही हनुमान् आदि श्रेष्ठ वानरोंसे घिरे रहते थे ॥ १५ ॥ एक बार पहलेहीके समान भगवान् रामके पास पुष्पक विमान आया और बोला—"भगवन्! मुझे कुबेरजीने अपने यहाँसे फिर आपहीकी सेवामें भेजा है ॥ १६ ॥

जितं त्वं रावणेनादौ पश्चाद्रामेण निर्जितम्।
अतस्त्वं राघवं नित्यं वह यावद्वसेद्भुवि ॥ १७ ॥

यदा गच्छेद्रघुश्रेष्ठो वैकुण्ठं याहि मां तदा।
तच्छ्रुत्वा राघवः प्राह पुष्पकं सूर्यसन्निभम् ॥ १८ ॥

यदा स्मरामि भद्रं ते तदागच्छ ममान्तिकम्।
तिष्ठान्तर्धाय सर्वत्र गच्छेदानीं ममाज्ञया ॥ १९ ॥

इत्युक्त्वा रामचन्द्रोऽपि पौरकार्याणि सर्वशः।
भ्रातृभिर्मन्त्रिभिः सार्धं यथान्यायं चकार सः ॥ २० ॥

राघवे शासति भुवं लोकनाथे रमापतौ।
वसुधा सस्यसम्पन्ना फलवन्तश्च भूरुहाः ॥ २१ ॥

जना धर्मपराः सर्वे पतिभक्तिपराः स्त्रियः।
नापश्यत्पुत्रमरणं कश्चिद्राजनि राघवे ॥ २२ ॥

समारुह्य विमानाग्र्यं राघवः सीतया सह।
वानरैर्भ्रातृभिः सार्धं सञ्चचारावनिं प्रभुः ॥ २३ ॥

अमानुषाणि कार्याणि चकार बहुशो भुवि।
ब्राह्मणस्य सुतं दृष्ट्वा बालं मृतमकालतः ॥ २४ ॥

शोचन्तं ब्राह्मणं चापि ज्ञात्वा रामो महामतिः।
तपस्यन्तं वने शूद्रं हत्वा ब्राह्मणबालकम् ॥ २५ ॥

जीवयामास शूद्रस्य ददौ स्वर्गमनुत्तमम्।
लोकानामुपदेशार्थं परमात्मा रघूत्तमः ॥ २६ ॥

कोटिशः स्थापयामास शिवलिङ्गानि सर्वशः।
सीतां च रमयामास सर्वभोगैरमानुषैः ॥ २७ ॥

शशास रामो धर्मेण राज्यं परमधर्मवित्।
कथां संस्थापयामास सर्वलोकमलापहाम् ॥ २८ ॥

दशवर्षसहस्राणि मायामानुषविग्रहः।
चकार राज्यं विधिवल्लोकवन्द्यपदाम्बुजः ॥ २९ ॥

एकपत्नीव्रतो रामो राजर्षिः सर्वदा शुचिः।
गृहमेधीयमखिलमाचरन् शिक्षयन् जनान् ॥ ३० ॥

(वे कहते हैं कि) पहले तुझे रावणने जीता था और फिर उससे श्रीरामचन्द्रजीने जीता है। अतः जबतक वे पृथिवीतलपर रहें तबतक तू उन्हींको धारण कर ॥ १७ ॥ जिस समय रघुनाथजी वैकुण्ठको चले जायँ उस समय तू मेरे पास आ जाना ?'' यह सुनकर श्रीरघुनाथजीने सूर्यके समान देदीप्यमान पुष्पकसे कहा— ॥ १८ ॥ "तेरा कल्याण हो, जिस समय मैं तेरा स्मरण करूँ उसी समय तू मेरे पास आ जाना, अब तू जा और मेरी आज्ञासे गुप्तरूपसे सर्वत्र रह'' ॥ १९ ॥ पुष्पकको इस प्रकार आज्ञा दे श्रीरामचन्द्रजी अपने भाइयों और मन्त्रियोंके साथ मिलकर पुरवासियोंके सम्पूर्ण कार्य यथायोग्य रीतिसे करने लगे ॥ २० ॥

त्रिलोकीनाथ लक्ष्मीपति भगवान् रामके शासन-कालमें पृथिवी धनधान्यसे पूर्ण और वृक्ष फलादिसे सम्पन्न थे ॥ २१ ॥ श्रीरघुनाथजीके राज्यमें समस्त पुरुष धर्मपरायण थे, स्त्रियाँ पति-सेवामें तत्पर रहती थीं और किसीको भी अपने पुत्रका मरण नहीं देखना पड़ता था ॥ २२ ॥ भगवान् राम सीताजी, भाइयों और वानरोंके साथ विमानपर चढ़कर पृथिवीपर घूमा करते थे ॥ २३ ॥ उन्होंने संसारमें बहुत-सी अमानवीय लीलाएँ कीं। एक बार एक ब्राह्मण-पुत्रको बाल्यावस्थामें ही असमय मरा देख और उस ब्राह्मणको बहुत शोक करते जान रघुश्रेष्ठ परमात्मा महामति रामने वनमें तपस्या करते हुए शूद्रको (उसका कारण मानकर) मारा और उस बालकको जीवित किया तथा शूद्रको अत्युत्तम स्वर्गलोक दिया। उन्होंने लोगोंको उपदेश देनेके लिये जगह-जगह करोड़ों शिवलिङ्ग स्थापित किये और सीताजीका सब प्रकारके अलौकिक भोगोंसे अनुरञ्जन किया ॥ २४—२७ ॥ इस प्रकार परमधार्मिक भगवान् राम धर्मपूर्वक राज्यशासन करते रहे और उन्होंने सम्पूर्ण लोकोंके पाप दूर करनेवाली अपनी पवित्र कीर्ति-कथा संसारमें स्थापित की ॥ २८ ॥ तीनों लोक जिनके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं उन माया-मानव-शरीरधारी श्रीरामचन्द्रजीने विधिपूर्वक दस हजार वर्ष राज्य किया ॥ २९ ॥

राजर्षि भगवान् राम एकपत्नीव्रतका पालन करनेवाले थे। वे पवित्र-चरित्र रामजी लोगोंको शिक्षा देते हुए

सीता प्रेम्णानुवृत्त्या च प्रश्रयेण दमेन च।
भर्तुर्मनोहरा साध्वी भावज्ञा सा ह्रिया भिया ॥ ३१ ॥

एकदाक्रीडविपिने सर्वभोगसमन्विते।
एकान्ते दिव्यभवने सुखासीनं रघूत्तमम् ॥ ३२ ॥

नीलमाणिक्यसंकाशं दिव्याभरणभूषितम्।
प्रसन्नवदनं शान्तं विद्युत्पुञ्जनिभाम्बरम् ॥ ३३ ॥

सीता कमलपत्राक्षी सर्वाभरणभूषिता।
राममाह कराभ्यां सा लालयन्ती पदाम्बुजे ॥ ३४ ॥

देवदेव जगन्नाथ परमात्मन्सनातन।
चिदानन्दादिमध्यान्तरहिताशेषकारण ॥ ३५ ॥

देव देवाः समासाद्य मामेकान्तेऽब्रुवन्वचः।
बहुशोऽर्थयमानास्ते वैकुण्ठागमनं प्रति ॥ ३६ ॥

त्वया समेतश्चिच्छक्त्या रामस्तिष्ठति भूतले।
विसृज्यास्मान्स्वकं धाम वैकुण्ठं च सनातनम् ॥ ३७ ॥

आस्ते त्वया जगद्धात्रि रामः कमललोचनः।
अग्रतो याहि वैकुण्ठं त्वं तथा चेद्रघूत्तमः ॥ ३८ ॥

आगमिष्यति वैकुण्ठं सनाथान्नः करिष्यति।
इति विज्ञापिताहं तैर्मया विज्ञापितो भवान् ॥ ३९ ॥

यद्युक्तं तत्कुरुष्वाद्य नाहमाज्ञापये प्रभो।
सीतायास्तद्वचः श्रुत्वा रामो ध्यात्वाब्रवीत्क्षणम् ॥ ४० ॥

देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते।
कल्पयित्वा मिषं देवि लोकवादं त्वदाश्रयम् ॥ ४१ ॥

त्यजामि त्वां वने लोकवादाद्भीत इवापरः।
भविष्यतः कुमारौ द्वौ वाल्मीकेराश्रमान्तिके ॥ ४२ ॥

इदानीं दृश्यते गर्भः पुनरागत्य मेऽन्तिकम्।
लोकानां प्रत्ययार्थं त्वं कृत्वा शपथमादरात् ॥ ४३ ॥

भूमेर्विवरमात्रेण वैकुण्ठं यास्यसि द्रुतम्।
पश्चादहं गमिष्यामि एष एव सुनिश्चयः ॥ ४४ ॥

गृहस्थाश्रमके समस्त धर्मोंका पालन करते रहे ॥ ३० ॥ साध्वी सीताजी भी उनके हृदयका रुख परखनेवाली थीं। उन्होंने अपने प्रेम, आज्ञापालन, नम्रता, इन्द्रियसंयम, लज्जा और भीरुता आदि गुणोंसे पतिका मन हर लिया था ॥ ३१ ॥ एक दिन श्रीरघुनाथजी अपने क्रीडावनके सम्पूर्ण भोगोंसे सम्पन्न भवनमें एकान्तमें सुखपूर्वक बैठे थे। उनके शरीरकी आभा नीलमणिके समान थी, वे दिव्य भूषणोंसे भूषित थे, उनका मुख प्रसन्न और भाव गम्भीर था तथा वे विद्युत्पुञ्जके समान देदीप्यमान पीताम्बर धारण किये थे। उस समय सर्वालङ्कारसुसज्जिता कमलदल-लोचना श्रीसीताजीने अपने करकमलोंसे रघुनाथजीकी चरणसेवा करते हुए उनसे कहा— ॥ ३२—३४ ॥ "हे देवाधिदेव! हे जगन्नाथ! हे सनातन परमात्मन्! हे चिदानन्दस्वरूप! हे आदि, मध्य और अन्तसे रहित सबके कारण! हे देव! देवताओंने आकर मुझसे एकान्तमें बहुत कुछ प्रार्थना करते हुए आपके वैकुण्ठ पधारनेके विषयमें कहा है ॥ ३५-३६ ॥ वे कहते हैं कि 'तुझ चिच्छक्तिसे युक्त होकर ही राम हम सबको और अपने सनातन स्थान वैकुण्ठको छोड़कर पृथिवीतलमें ठहरे हुए हैं ॥ ३७ ॥ हे जगद्धात्रि! कमलनयन राम सदा तेरे साथ ही रहते हैं। यदि तू पहले वैकुण्ठको चली जाय तो श्रीरघुनाथजी भी वहाँ आकर हमें सनाथ कर देंगे।' मुझसे उन्होंने इस प्रकार कहा है सो मैंने आपको सुना दिया ॥ ३८-३९ ॥ हे प्रभो! मेरा कोई आदेश तो है नहीं, अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें।"

सीताजीके ये वचन सुनकर रघुनाथजीने कुछ देर सोचकर कहा ॥ ४० ॥ "देवि! मैं यह सब जानता हूँ। उसके लिये मैं तुम्हें उपाय बतलाता हूँ। मैं तुमसे सम्बन्ध रखनेवाले लोकापवादके मिषसे तुम्हें लोकनिन्दासे डरनेवाले अन्य पुरुषोंके समान वनमें त्याग दूँगा। वहाँ श्रीवाल्मीकिजीके आश्रमके पास तुम्हारे दो बालक होंगे ॥ ४१-४२ ॥ इस समय तुम्हारे शरीरमें गर्भावस्थाके चिह्न दिखायी दे रहे हैं। (बालकोंके उत्पन्न होनेपर) तुम मेरे पास फिर आओगी और लोकोंकी प्रतीतिके लिये आदर-पूर्वक शपथ करके तुरंत ही पृथिवीके (फटनेपर उसके) छिद्रद्वारा वैकुण्ठको चली जाओगी। पीछे मैं भी वहाँ आ जाऊँगा; बस अब यही निश्चय रहा" ॥ ४३-४४ ॥

इत्युक्त्वा तां विसृज्याथ रामो ज्ञानैकलक्षणः ।
मन्त्रिभिर्मन्त्रतत्त्वज्ञैर्बलमुख्यैश्च संवृतः ॥ ४५ ॥

तत्रोपविष्टं श्रीरामं सुहृदः पर्युपासत ।
हास्यप्रौढकथासुज्ञा हासयन्तः स्थिता हरिम् ॥ ४६ ॥

एकमात्र ज्ञानस्वरूप भगवान् रामने सीताजीसे ऐसा कह उन्हें अन्तःपुरको भेज दिया और स्वयं नीतिशास्त्रके जाननेवाले मन्त्रियों तथा मुख्य-मुख्य सेनापतियोंसे घिरकर वहाँ विराजमान हुए। सुहृद्गण वहाँ बैठे हुए रामकी परिचर्यामें लगे हुए थे और हास्योक्तिमें कुशल विदूषकगण उन्हें हँसा रहे थे ॥ ४५-४६ ॥

कथाप्रसङ्गात्पप्रच्छ रामो विजयनामकम् ।
पौरा जानपदा मे किं वदन्तीह शुभाशुभम् ॥ ४७ ॥

सीतां वा मातरं वा मे भ्रातॄन्वा कैकयीमथ ।
न भेतव्यं त्वया ब्रूहि शापितोऽसि ममोपरि ॥ ४८ ॥

तब भगवान् रामने प्रसंगवश विजय नामक एक दूतसे पूछा—"मेरे, सीताके, मेरी माता और भाइयोंके अथवा कैकेयीके विषयमें पुरवासी लोग क्या कहते हैं ? मैं तुम्हें अपनी शपथ कराता हूँ, तुम भय न करके सच-सच कहना" ॥ ४७-४८ ॥

इत्युक्तः प्राह विजयो देव सर्वे वदन्ति ते ।
कृतं सुदुष्करं सर्वं रामेण विदितात्मना ॥ ४९ ॥

किन्तु हत्वा दशग्रीवं सीतामाहृत्य राघवः ।
अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा स्वं वेश्म प्रत्यपादयत् ॥ ५० ॥

कीदृशं हृदये तस्य सीतासम्भोगजं सुखम् ।
या हृता विजनेऽरण्ये रावणेन दुरात्मना ॥ ५१ ॥

अस्माकमपि दुष्कर्म योषितां मर्षणं भवेत् ।
यादृग्भवति वै राजा तादृश्यो नियतं प्रजाः ॥ ५२ ॥

भगवान्‌के इस प्रकार पूछनेपर विजयने कहा—"देव ! सभी लोग कहते हैं कि आत्मज्ञानी महाराज रामने जो कार्य किये हैं वे सभी बड़े दुष्कर हैं ॥ ४९ ॥ किन्तु उन्होंने रावणको मारकर सीताको बिना किसी प्रकारका सन्देह किये ही अपने साथ लाकर घर रख लिया (यह ठीक नहीं किया) ॥ ५० ॥ भला, जिस सीताको दुरात्मा रावणने निर्जन वनमें हर लिया था न जाने उसके साथ भोग भोगते हुए उन्हें क्या सुख मिलता है ? ॥ ५१ ॥ अब हमें भी अपनी स्त्रियोंके दुश्चरित्रको सहन करना पड़ेगा, क्योंकि जैसा राजा होता है प्रजा भी निस्सन्देह वैसी ही होती है" ॥ ५२ ॥

श्रुत्वा तद्वचनं रामः स्वजनान्पर्यपृच्छत ।
तेऽपि नत्वाब्रुवन् राममेवमेतन्न संशयः ॥ ५३ ॥

उसके ये वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने अपने आत्मीयोंसे पूछा। उन्होंने भी रघुनाथजीको प्रणाम करके यही कहा कि निःसन्देह ऐसी ही बात है ॥ ५३ ॥

ततो विसृज्य सचिवान्विजयं सुहृदस्तथा ।
आहूय लक्ष्मणं रामो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ५४ ॥

लोकापवादस्तु महान्सीतामाश्रित्य मेऽभवत् ।
सीतां प्रातः समानीय वाल्मीकेराश्रमान्तिके ॥ ५५ ॥

त्यक्त्वा शीघ्रं रथेन त्वं पुनरायाहि लक्ष्मण ।
वक्ष्यसे यदि वा किञ्चित्तदा मां हतवानसि ॥ ५६ ॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने मन्त्रीगण, विजय और अपने सुहृदोंको विदाकर श्रीलक्ष्मणजीको बुलाया और उनसे इस प्रकार कहने लगे—"भैया लक्ष्मण ! सीताके कारण मेरी बड़ी लोकनिन्दा हो रही है। अतः तुम कल सबेरे ही सीताको रथपर चढ़ाकर वाल्मीकि मुनिके आश्रमके समीप छोड़ आओ। इस विषयमें यदि तुम कुछ कहोगे तो मानो मेरी हत्या ही करोगे" ॥ ५४—५६ ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणो भीत्या प्रातरुत्थाय जानकीम् ।
सुमन्त्रेण रथे कृत्वा जगाम सहसा वनम् ॥ ५७ ॥

भगवान्‌की ऐसी आज्ञा पाकर लक्ष्मणजी डर गये। उन्होंने सबेरे उठते ही सुमन्त्रसे रथ जुड़वाया और उसमें

वाल्मीकेराश्रमस्यान्ते त्यक्त्वा सीतामुवाच सः ।
लोकापवादभीत्या त्वां त्यक्तवान् राघवो वने ॥ ५८ ॥

दोषो न कश्चिन्मे मातर्गच्छाश्रमपदं मुनेः ।
इत्युक्त्वा लक्ष्मणः शीघ्रं गतवान् रामसन्निधिम् ॥ ५९ ॥

सीतापि दुःखसन्तप्ता विललापातिमुग्धवत् ।
शिष्यैः श्रुत्वा च वाल्मीकिः सीतां ज्ञात्वा स दिव्यदृक् ॥ ६० ॥

अर्घ्यादिभिः पूजयित्वा समाश्वास्य च जानकीम् ।
ज्ञात्वा भविष्यं सकलामर्पयन्मुनियोषिताम् ॥ ६१ ॥

तास्तां सम्पूजयन्ति स्म सीतां भक्त्या दिने दिने ।
ज्ञात्वा परात्मनो लक्ष्मीं मुनिवाक्येन योषितः ।
सेवां चक्रुः सदा तस्या विनयादिभिरादरात् ॥ ६२ ॥

रामोऽपि सीतारहितः परात्मा
विज्ञानदृक्केवल आदिदेवः ।
सन्त्यज्य भोगानखिलान्विरक्तो
मुनिव्रतोऽभून्मुनिसेविताङ्घ्रिः ॥ ६३ ॥

जानकीजीको चढ़ाकर तुरंत वनको चल दिये ॥ ५७ ॥ वाल्मीकि मुनिके आश्रमपर पहुँचते ही उन्होंने सीताको उतार दिया और उनसे कहा—"रघुनाथजीने लोकापवादसे डरकर तुम्हें त्याग दिया है ॥ ५८ ॥ हे मातः ! इसमें मेरा कोई दोष नहीं है, अब तुम मुनीश्वरके आश्रमपर चली जाओ।" सीताजीसे इस प्रकार कह लक्ष्मणजी तुरंत श्रीरामचन्द्रजीके पास चले आये ॥ ५९ ॥

उस समय सीताजी अत्यन्त दुःखातुरा होकर अति मूर्खा स्त्रियोंके समान विलाप करने लगीं। महर्षि वाल्मीकिने जब शिष्योंके मुखसे यह बात सुनी (कि एक स्त्री रो रही है) तो उन्होंने दिव्यदृष्टिसे जान लिया कि वह सीताजी ही हैं ॥ ६० ॥ मुनि भविष्यमें होनेवाली सब बातें जानते थे। अतः उन्होंने अर्घ्यादिसे सीताजीका पूजन किया और उन्हें समझा-बुझाकर मुनिपत्नियोंको सौंप दिया ॥ ६१ ॥ वे मुनिपत्नियाँ मुनीश्वरके कहनेसे उन्हें साक्षात् परमात्माकी भार्या लक्ष्मीजी जानकर नित्यप्रति भक्ति-भावसे उनकी पूजा करतीं और सदा ही अत्यन्त आदरसे नम्रतापूर्वक उनकी सेवा करती थीं ॥ ६२ ॥ इधर, सीताजीको त्याग देनेपर जिनके चरणकमलोंका मुनिजन सेवन करते हैं वे विज्ञानचक्षु, अद्वितीय, आदिदेव परमात्मा राम भी समस्त भोगोंको छोड़कर वैराग्यपूर्वक मुनियोंके समान रहने लगे ॥ ६३ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चम सर्ग

रामगीता

श्रीमहादेव उवाच

ततो जगन्मङ्गलमङ्गलात्मना
विधाय रामायणकीर्तिमुत्तमाम् ।
चचार पूर्वाचरितं रघूत्तमो
राजर्षिवर्यैरभिसेवितं यथा ॥ १ ॥
सौमित्रिणा पृष्ट उदारबुद्धिना
रामः कथाः प्राह पुरातनीः शुभाः ।
राज्ञः प्रमत्तस्य नृगस्य शापतो
द्विजस्य तिर्यक्त्वमथाह राघवः ॥ २ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! तदनन्तर, रघुश्रेष्ठ भगवान् राम, संसारके मङ्गलके लिये धारण किये अपने दिव्यमङ्गल देहसे रामायणरूप अति उत्तमकीर्तिकी स्थापना कर पूर्वकालमें जैसा आचरण राजर्षिश्रेष्ठोंने किया है वैसा ही स्वयं भी करने लगे ॥ १ ॥ उदारबुद्धि लक्ष्मणजीके पूछनेपर वे प्राचीन उत्तम कथाएँ सुनाया करते थे। इसी प्रसङ्गमें श्रीरघुनाथजीने, राजा नृगको प्रमादवश ब्राह्मणके शापसे तिर्यग्योनि प्राप्त करनेका वृत्तान्त भी सुनाया ॥ २ ॥

कदाचिदेकान्त उपस्थितं प्रभुं
रामं रमालालितपादपङ्कजम्।
सौमित्रिरासादितशुद्धभावनः
प्रणम्य भक्त्या विनयान्वितोऽब्रवीत्॥ ३॥

त्वं शुद्धबोधोऽसि हि सर्वदेहिना-
मात्मास्यधीशोऽसि निराकृतिः स्वयम्।
प्रतीयसे ज्ञानदृशां महामते
पादाब्जभृङ्गाहितसङ्गसङ्गिनाम् ॥ ४॥

अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुजं प्रभो
भवापवर्गं तव योगिभावितम्।
यथाञ्जसाज्ञानमपारवारिधिं
सुखं तरिष्यामि तथानुशाधि माम्॥ ५॥

श्रुत्वाथ सौमित्रिवचोऽखिलं तदा
प्राह प्रपन्नार्तिहरः प्रसन्नधीः।
विज्ञानमज्ञानतमःप्रशान्तये
श्रुतिप्रपन्नं क्षितिपालभूषणः॥ ६॥

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः
कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः
समाश्रयेत्सद्गुरुमात्मलब्धये ॥ ७॥

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः॥ ८॥

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं
तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी
न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्॥ ९॥

नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो
भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत्।
ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता
तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान्भवेत्॥ १०॥

किसी दिन भगवान् राम, जिनके चरणकमलोंकी सेवा साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी करती हैं, एकान्तमें बैठे हुए थे। उस समय शुद्ध विचारवाले लक्ष्मणजीने (उनके पास जा) उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम कर अति विनीतभावसे कहा—॥ ३॥ "हे महामते! आप शुद्धज्ञानस्वरूप, समस्त देहधारियोंके आत्मा, सबके स्वामी और स्वरूपसे निराकार हैं। जो आपके चरणकमलोंके लिये भ्रमररूप हैं उन परमभागवतोंके सहवासके रसिकोंको ही आप ज्ञानदृष्टिसे दिखलायी देते हैं॥ ४॥ हे प्रभो! योगिजन जिनका निरन्तर चिन्तन करते हैं, संसारसे छुड़ानेवाले उन आपके चरणकमलोंकी मैं शरण हूँ, आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिससे मैं सुगमतासे ही अज्ञानरूपी अपार समुद्रके पार हो जाऊँ"॥ ५॥

श्रीलक्ष्मणजीके ये सब वचन सुनकर शरणागत-वत्सल भूपालशिरोमणि भगवान् राम सुननेके लिये उत्सुक हुए लक्ष्मणको उनके अज्ञानान्धकारका नाश करनेके लिये प्रसन्नचित्तसे ज्ञानोपदेश करने लगे॥ ६॥ (वे बोले—) सबसे पहले अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये (शास्त्रोंमें) बतलायी हुई क्रियाओंका यथावत् पालन कर, चित्त शुद्ध हो जानेपर उन कर्मोंको छोड़ दे और शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न हो आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी शरणमें जाय॥ ७॥ कर्म देहान्तरकी प्राप्तिके लिये ही स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि उनमें प्रेम रखनेवाले पुरुषोंसे इष्ट-अनिष्ट दोनों ही प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं। उनसे धर्म और अधर्म दोनोंहीकी प्राप्ति होती है और उनके कारण शरीर प्राप्त होता है जिससे फिर कर्म होते हैं। इसी प्रकार यह संसार चक्रके समान चलता रहता है॥ ८॥ संसारका मूल कारण अज्ञान ही है और इन (शास्त्रीय) विधिवाक्योंमें उस (अज्ञान) का नाश ही (संसारसे मुक्त होनेका) उपाय बतलाया गया है? अज्ञानका नाश करनेमें ज्ञान ही समर्थ है, (सकाम) कर्म नहीं, क्योंकि उस (अज्ञान) से उत्पन्न होनेवाला कर्म उसका विरोधी नहीं हो सकता॥ ९॥ सकाम कर्मद्वारा अज्ञानका नाश अथवा रागका क्षय नहीं हो सकता बल्कि उससे दूसरे सदोष कर्मकी उत्पत्ति होती है उससे पुनः संसारकी प्राप्ति होना अनिवार्य है। इसलिये बुद्धिमान्‌को ज्ञान-विचारमें ही तत्पर होना चाहिये॥ १०॥

ननु क्रिया वेदमुखेन चोदिता
तथैव विद्या पुरुषार्थसाधनम्।
कर्तव्यता प्राणभृतः प्रचोदिता
विद्यासहायत्वमुपैति सा पुनः ॥ ११ ॥

कर्माकृतौ दोषमपि श्रुतिर्जगौ
तस्मात्सदा कार्यमिदं मुमुक्षुणा।
ननु स्वतन्त्रा ध्रुवकार्यकारिणी
विद्या न किञ्चिन्मनसाप्यपेक्षते ॥ १२ ॥

न सत्यकार्योऽपि हि यद्वदध्वरः
प्रकाङ्क्षतेऽन्यानपि कारकादिकान्।
तथैव विद्या विधितः प्रकाशितै-
र्विशिष्यते कर्मभिरेव मुक्तये ॥ १३ ॥

केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिन-
स्तदप्यसद्दृष्टविरोधकारणात्।
देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया
विद्या गताहङ्कृतितः प्रसिद्ध्यति ॥ १४ ॥

विशुद्धविज्ञानविरोचनाञ्चिता
विद्यात्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते।
उदेति कर्माखिलकारकादिभि-
र्निहन्ति विद्याखिलकारकादिकम् ॥ १५ ॥

तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधी-
र्विद्याविरोधान्न समुच्चयो भवेत्।
आत्मानुसन्धानपरायणः सदा
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरः ॥ १६ ॥

यावच्छरीरादिषु माययात्मधी-
स्तावद्विधेयो विधिवादकर्मणाम्।
नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्य त-
ज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः ॥ १७ ॥

यदा परात्मात्मविभेदभेदकं
विज्ञानमात्मन्यवभाति भास्वरम्।
तदैव माया प्रविलीयतेऽञ्जसा
सकारका कारणमात्मसंसृतेः ॥ १८ ॥

कुछ वितर्कवादी ऐसा कहते हैं कि जिस प्रकार वेदके कथनानुसार ज्ञान पुरुषार्थका साधक है वैसे ही कर्म वेदविहित हैं; और प्राणियोंके लिये कर्मोंकी अवश्य-कर्तव्यताका विधान भी है, इसलिये वे कर्म ज्ञानके सहकारी हो जाते हैं। साथ ही श्रुतिने कर्म न करनेमें दोष भी बतलाया है; इसलिये मुमुक्षुको उन्हें सर्वदा करते रहना चाहिये, और यदि कोई कहे कि ज्ञान स्वतन्त्र है एवं निश्चय ही अपना फल देनेवाला है, उसे मनसे भी किसी औरकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है, तो उसका यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार (वेदोक्त) यज्ञ सत्य कर्म होनेपर भी अन्य कारकादिकी अपेक्षा करता ही है, उसी प्रकार विधिसे प्रकाशित कर्मोंके द्वारा ही ज्ञान मुक्तिका साधक हो सकता है (अतः कर्मोंका त्याग उचित नहीं है) ॥ ११—१३ ॥

(सिद्धान्ती-) ऐसा जो कोई कुतर्की कहते हैं उनके कथनमें प्रत्यक्ष विरोध होनेके कारण वह ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म देहाभिमानसे होता है और ज्ञान अहंकारके नाश होनेपर सिद्ध होता है ॥ १४ ॥ (वेदान्तवाक्योंका विचार करते-करते) विशुद्ध विज्ञानके प्रकाशसे उद्भासित जो चरम आत्मवृत्ति होती है उसीको विद्या (आत्मज्ञान) कहते हैं। इसके अतिरिक्त कर्म सम्पूर्ण कारकादिकी सहायतासे होता है किन्तु विद्या समस्त कारकादिका (अनित्यत्वकी भावनाद्वारा) नाश कर देती है ॥ १५ ॥ इसलिये समस्त इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त होकर निरन्तर आत्मानुसन्धानमें लगा हुआ बुद्धिमान् पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे। क्योंकि विद्याका विरोधी होनेके कारण कर्मका उसके साथ समुच्चय नहीं हो सकता ॥ १६ ॥ जबतक मायासे मोहित रहनेके कारण मनुष्यका शरीरादिमें आत्मभाव है तभीतक उसे वैदिक कर्मानुष्ठान कर्तव्य है। 'नेति-नेति' आदि वाक्योंसे सम्पूर्ण अनात्म-वस्तुओंका निषेध करके अपने परमात्मस्वरूपको जान लेनेपर फिर उसे समस्त कर्मोंको छोड़ देना चाहिये ॥ १७ ॥ जिस समय परमात्मा और जीवात्माके भेदको दूर करनेवाला प्रकाशमय विज्ञान अन्तःकरणमें स्पष्टतया भासित होने लगता है उसी समय आत्माके लिये संसार-प्राप्तिकी कारण माया अनायास ही कारकादिके सहित लीन हो जाती है ॥ १८ ॥

श्रुतिप्रमाणाभिविनाशिता च सा
कथं भविष्यत्यपि कार्यकारिणी।
विज्ञानमात्रादमलाद्वितीयत-
स्तस्मादविद्या न पुनर्भविष्यति ॥ १९ ॥

यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसूयते
कर्ताहमस्येति मतिः कथं भवेत्।
तस्मात्स्वतन्त्रा न किमप्यपेक्षते
विद्या विमोक्षाय विभाति केवला ॥ २० ॥

सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं
न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम्।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुति-
र्ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम् ॥ २१ ॥

विद्यासमत्वेन तु दर्शितस्त्वया
क्रतुर्न दृष्टान्त उदाहृतः समः।
फलैः पृथक्त्वाद्बहुकारकैः क्रतुः
संसाध्यते ज्ञानमतो विपर्ययम् ॥ २२ ॥

सप्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधी-
रज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः।
तस्माद्बुधैस्त्याज्यमविक्रियात्मभि-
र्विधानतः कर्म विधिप्रकाशितम् ॥ २३ ॥

श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो
गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः।
विज्ञाय चैकात्म्यमथात्मजीवयोः
सुखी भवेन्मेरुरिवाप्रकम्पनः ॥ २४ ॥

आदौ पदार्थावगतिर्हि कारणं
वाक्यार्थविज्ञानविधौ विधानतः।
तत्त्वम्पदार्थौ परमात्मजीवका-
वसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत् ॥ २५ ॥

श्रुति-प्रमाणसे उसके नष्ट कर दिये जानेपर फिर वह अपना कार्य करनेमें समर्थ भी किस प्रकार हो सकेगी? क्योंकि परमार्थतत्त्व एकमात्र ज्ञानस्वरूप, निर्मल और अद्वितीय है। अतः (बोध हो जानेपर) फिर अविद्या उत्पन्न नहीं होगी ॥ १९ ॥ जब एक बार नष्ट हो जानेपर अविद्याका फिर जन्म ही नहीं होता तो बोधवान्‌को 'मैं इस कर्मका कर्ता हूँ' ऐसी बुद्धि कैसे हो सकती है? इसलिये ज्ञान स्वतन्त्र है, उसे जीवके मोक्षके लिये किसी और (कर्मादि) की अपेक्षा नहीं है, वह स्वयं अकेला ही उसके लिये समर्थ है ॥ २० ॥ इसके सिवा तैत्तिरीय शाखाकी प्रसिद्ध श्रुति* भी आग्रहपूर्वक स्पष्ट कहती है कि समस्त कर्मोंका त्याग करना ही अच्छा है तथा 'एतावत्' इत्यादि वाजसनेयी शाखाकी श्रुति† भी कहती है कि मोक्षका साधन ज्ञान ही है कर्म नहीं ॥ २१ ॥ और तुमने जो ज्ञानकी समानतामें यज्ञादिका दृष्टान्त दिया सो ठीक नहीं है। क्योंकि उन दोनोंके फल अलग-अलग हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञ तो (होता, ऋत्विक्, यजमान आदि) बहुत-से कारकोंसे सिद्ध होता है और ज्ञान इससे विपरीत है (अर्थात् वह कारकादिसे साध्य नहीं है) ॥ २२ ॥ (कर्मके त्याग करनेसे) मैं अवश्य प्रायश्चित्त-भागी होऊँगा—ऐसी अनात्म-बुद्धि अज्ञानियोंको हुआ करती है, तत्त्वज्ञानीको नहीं। इसलिये विकाररहित चित्तवाले बोधवान् पुरुषको विहित कर्मोंका भी विधिपूर्वक त्याग कर देना चाहिये ॥ २३ ॥

फिर शुद्ध-चित्त होकर श्रद्धापूर्वक गुरुकी कृपासे 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यके द्वारा परमात्मा और जीवात्माकी एकता जानकर सुमेरुके समान निश्चल एवं सुखी हो जाय ॥ २४ ॥ यह नियम ही है कि प्रत्येक वाक्यका अर्थ जाननेमें पहले उसके पदोंके अर्थका ज्ञान ही कारण है। (इस 'तत्त्वमसि' महावाक्यके) 'तत्' और 'त्वम्' पद क्रमसे परमात्मा और जीवात्माके वाचक हैं और 'असि' उन दोनोंकी एकता करता है ॥ २५ ॥ इन दोनों

* 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (तै० आ० १० । १०)
† 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' (बृ० उ० ४ । ५ । १५)

प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनो-
विहाय सङ्गृह्य तयोश्चिदात्मताम्।
संशोधितां लक्षणया च लक्षितां
ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत्॥ २६॥

(जीवात्मा और परमात्मा) में जीवात्मा प्रत्यक् (अन्तःकरणका साक्षी) है और परमात्मा परोक्ष (इन्द्रियातीत) है, इस (वाच्यार्थरूप) विरोधको छोड़कर और लक्षणावृत्तिसे लक्षित उनकी शुद्ध चेतनताको ग्रहणकर उसे ही अपना आत्मा जाने और इस प्रकार एकीभावसे स्थित हो॥ २६॥

एकात्मकत्वाज्जहती न सम्भवे-
त्तथाजहल्लक्षणता विरोधतः।
सोऽयम्पदार्थाविव भागलक्षणा
युज्येत तत्त्वम्पदयोरदोषतः॥ २७॥

इन 'तत्' और 'त्वम्' पदोंमें एकरूप होनेके कारण जहतीलक्षणा नहीं हो सकती और परस्पर विरुद्ध होनेके कारण अजहल्लक्षणा भी नहीं हो सकती। इसलिये 'सोऽयम्' (यह वही है) इन दोनों पदोंके अर्थकी भाँति इन 'तत्' और 'त्वम्' पदोंमें भी भागत्यागलक्षणा ही निर्दोषतासे हो सकती है*॥ २७॥

रसादिपञ्चीकृतभूतसम्भवं
भोगालयं दुःखसुखादिकर्मणाम्।
शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं
मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः॥ २८॥

सूक्ष्मं मनोबुद्धिदशेन्द्रियैर्युतं
प्राणैरपञ्चीकृतभूतसम्भवम्।
भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवे-
च्छरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः॥ २९॥

पृथिवी आदि पञ्चीकृत भूतोंसे उत्पन्न हुए, सुख-दुःखादि कर्म-भोगोंके आश्रय और पूर्वोपार्जित कर्मफलसे प्राप्त होनेवाले इस मायामय आदि-अन्तवान् शरीरको विज्ञजन आत्माकी स्थूल उपाधि मानते हैं और मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण (इन सत्रह अङ्गों) से युक्त और अपञ्चीकृत भूतोंसे उत्पन्न हुए सूक्ष्म शरीरको जो भोक्ताके सुख-दुःखादि अनुभवका साधन है, आत्माका दूसरा देह मानते हैं॥ २८-२९॥

अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं
मायाप्रधानं तु परं शरीरकम्।
उपाधिभेदात्तु यतः पृथक् स्थितं
स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत्क्रमात्॥ ३०॥

(इनके अतिरिक्त) अनादि और अनिर्वाच्य मायामय कारण-शरीर ही जीवका तीसरा देह है। इस प्रकार उपाधि-भेदसे सर्वथा पृथक् स्थित अपने आत्मस्वरूपको क्रमशः (उपाधियोंका बाध करते हुए) अपने हृदयमें निश्चय करे॥ ३०॥

---

* जहाँ शब्दोंके वाच्यार्थ (अर्थात् उनकी शक्तिवृत्तिसे सिद्ध होनेवाले अर्थ) को छोड़कर दूसरा अर्थ लिया जाता है वहाँ लक्षणा वृत्ति होती है। वह जहती, अजहती और जहत्यजहती नामसे तीन प्रकारकी है। जहती-लक्षणामें शब्दके वाच्यार्थका सर्वथा त्याग करके उसका बिलकुल नया ही अर्थ किया जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गाजीपर पशुशाला है) इस वाक्यके वाच्यार्थसे गङ्गाजीके प्रवाहपर पशुशालाका होना सिद्ध होता है। परन्तु यह सर्वथा असम्भव है। इसलिये यहाँ 'गङ्गा' शब्दका अर्थ 'गङ्गाप्रवाह' न करके 'गङ्गा-तीर' किया जाता है। परन्तु 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थ 'ईश्वर' और 'जीव' का सर्वथा त्याग कर देनेसे उन दोनोंकी चेतनताका भी त्याग हो जाता है और चेतनताकी एकता ही अभीष्ट है; इसलिये जहतीलक्षणासे इन पदोंके अर्थकी एकता नहीं हो सकती। अजहतीलक्षणामें वाच्यार्थका त्याग न करके उसके साथ अन्य अर्थ भी ग्रहण किया जाता है। जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओंसे दहीकी रक्षा करो) इस वाक्यका अभिप्राय केवल कौओंसे दहीकी रक्षा कराना ही नहीं है बल्कि उसके साथ कुत्ता, बिल्ली आदि अन्य जीवोंसे सुरक्षित रखना भी है। यहाँ 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थमें विरोध है, फिर अन्य अर्थको सम्मिलित करनेसे भी वह विरोध तो दूर होगा ही नहीं; इसलिये अजहल्लक्षणासे भी इनकी एकता सिद्ध नहीं हो सकती। इन दोनोंके सिवा जहाँ कुछ अर्थ रखा जाता है और कुछ छोड़ा जाता है वह जहत्यजहती (भागत्याग) लक्षणा होती है। जैसे 'सोऽयम्' (यह वही है) इस वाक्यमें 'अयम्' पदसे कहे जानेवाले पदार्थकी अपरोक्षता और 'सः' पदके वाच्य पदार्थकी परोक्षताका त्याग करके इन दोनोंसे रहित जो निर्विशेष पदार्थ है उसकी एकता कही जाती है। इसी प्रकार महावाक्यके 'तत्' पदके वाच्य 'ईश्वर' के गुण सर्वज्ञता, परोक्षता आदिका और 'त्वम्' पदके वाच्य 'जीव' के गुण अल्पज्ञता, प्रत्यक्ता आदिका त्याग करके केवल चेतनांशमें एकता बतलायी जाती है।

कोशेष्वयं तेषु तु तत्तदाकृति-
विभाति सङ्गात्स्फटिकोपलो यथा ।
असङ्गरूपोऽयमजो यतोऽद्वयो
विज्ञायतेऽस्मिन्परितो विचारिते ॥ ३१ ॥

बुद्धेस्त्रिधा वृत्तिरपीह दृश्यते
स्वप्नादिभेदेन गुणत्रयात्मनः ।
अन्योन्यतोऽस्मिन्व्यभिचारतो मृषा
नित्ये परे ब्रह्मणि केवले शिवे ॥ ३२ ॥

देहेन्द्रियप्राणमनश्चिदात्मनां
सङ्घादजस्रं परिवर्तते धियः ।
वृत्तिस्तमोमूलतयाज्ञलक्षणा
यावद्भवेत्तावदसौ भवोद्भवः ॥ ३३ ॥

नेतिप्रमाणेन निराकृताखिलो
हृदा समास्वादितचिद्घनामृतः ।
त्यजेदशेषं जगदात्तसद्रसं
पीत्वा यथाम्भः प्रजहाति तत्फलम् ॥ ३४ ॥

कदाचिदात्मा न मृतो न जायते
न क्षीयते नापि विवर्धतेऽनवः ।
निरस्तसर्वातिशयः सुखात्मकः
स्वयम्प्रभः सर्वगनोऽयमद्वयः ॥ ३५ ॥

एवंविधे ज्ञानमये सुखात्मके
कथं भवो दुःखमयः प्रतीयते ।
अज्ञानतोऽध्यासवशात्प्रकाशते
ज्ञाने विलीयेत विरोधतः क्षणात् ॥ ३६ ॥

यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमा-
दध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः ।
असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा
रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत् ॥ ३७ ॥

विकल्पमायारहिते चिदात्मके-
ऽहङ्कार एष प्रथमः प्रकल्पितः ।
अध्यास एवात्मनि सर्वकारणे
निरामये ब्रह्मणि केवले परे ॥ ३८ ॥

स्फटिकमणिके समान यह आत्मा भी (अन्नमयादि) भिन्न-भिन्न कोशोंमें उनके सङ्गसे उन्हींके आकारका भासने लगता है। किन्तु इसका भली प्रकार विचार करनेसे यह अद्वितीय होनेके कारण असङ्गरूप और अजन्मा निश्चित होता है ॥ ३१ ॥ त्रिगुणात्मिका बुद्धिकी ही स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति-भेदसे तीन प्रकारकी वृत्तियाँ दिखायी देती हैं, किन्तु इन तीनों वृत्तियोंमेंसे प्रत्येकका एक-दूसरीमें व्यभिचार होनेके कारण, ये (तीनों ही) एकमात्र कल्याणस्वरूप नित्य परब्रह्ममें मिथ्या हैं (अर्थात् उसमें इन वृत्तियोंका सर्वथा अभाव है) ॥ ३२ ॥ बुद्धिकी वृत्ति ही देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और चेतन आत्माके संघातरूपसे निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। यह वृत्ति तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाली होनेके कारण अज्ञानरूपा है और जबतक यह रहती है तबतक ही संसारमें जन्म होता रहता है ॥ ३३ ॥ 'नेति-नेति' आदि श्रुतिप्रमाणसे निखिल संसारका बाध करके और हृदयमें चिद्घनामृतका आस्वादन करके सम्पूर्ण जगत्‌को, उसके साररूप सत् (ब्रह्म) को ग्रहण करके त्याग दे, जैसे नारियलके जलको पीकर मनुष्य उसे फेंक देते हैं ॥ ३४ ॥ आत्मा न कभी मरता है, न जन्मता है; वह न कभी क्षीण होता है और न बढ़ता ही है। वह पुरातन, सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित, सुखस्वरूप, स्वयंप्रकाश, सर्वगत और अद्वितीय है ॥ ३५ ॥

जो इस प्रकार ज्ञानमय और सुखस्वरूप है उसमें यह दुःखमय संसारकी प्रतीति कैसे हो सकती है ? यह तो अध्यासके कारण अज्ञानसे ही दिखायी दे रहा है, ज्ञानसे तो यह एक क्षणमें ही लीन हो जाता है; क्योंकि ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध है ॥ ३६ ॥ भ्रमसे जो अन्यमें अन्यकी प्रतीति होती है उसीको विद्वानोंने अध्यास कहा है। जिस प्रकार असर्परूप रज्जु आदिमें सर्पकी प्रतीति होती है उसी प्रकार ईश्वरमें संसारकी प्रतीति हो रही है ॥ ३७ ॥ जो विकल्प और मायासे रहित है उस सबके कारण निरामय, अद्वितीय और चित्स्वरूप परमात्मा ब्रह्ममें पहले इस 'अहंकार' रूप अध्यासकी ही कल्पना होती

इच्छादिरागादिसुखादिधर्मिकाः
सदा धियः संसृतिहेतवः परे।
यस्मात्प्रसुप्तौ तदभावतः परः
सुखस्वरूपेण विभाव्यते हि नः ॥ ३९ ॥

अनाद्यविद्योद्भवबुद्धिबिम्बितो
जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः।
आत्मा धियः साक्षितया पृथक् स्थितो
बुद्ध्यापरिच्छिन्नपरः स एव हि ॥ ४० ॥

चिद्बिम्बसाक्ष्यात्मधियां प्रसङ्गत-
स्त्वेकत्र वासादनलाक्तलोहवत्।
अन्योन्यमध्यासवशात्प्रतीयते
जडाजडत्वं च चिदात्मचेतसोः ॥ ४१ ॥

गुरोः सकाशादपि वेदवाक्यतः
सञ्जातविद्यानुभवो निरीक्ष्य तम्।
स्वात्मानमात्मस्थमुपाधिवर्जितं
त्यजेदशेषं जडमात्मगोचरम् ॥ ४२ ॥

प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयो-
ऽसकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः।
विशुद्धविज्ञानघनो निरामयः
सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः ॥ ४३ ॥

सदैव मुक्तोऽहमचिन्त्यशक्तिमा-
नतीन्द्रियज्ञानमविक्रियात्मकः।
अनन्तपारोऽहमहर्निशं बुधै-
र्विभावितोऽहं हृदि वेदवादिभिः ॥ ४४ ॥

एवं सदात्मानमखण्डितात्मना
विचारमाणस्य विशुद्धभावना।
हन्यादविद्यामचिरेण कारकै
रसायनं यद्वदुपासितं रुजः ॥ ४५ ॥

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो
विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः।
विभावयेदेकमनन्यसाधनो
विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थितः ॥ ४६ ॥

है ॥ ३८ ॥ सबके साक्षी आत्मामें इच्छा, अनिच्छा, राग-द्वेष और सुख-दुःखादिरूप बुद्धिकी वृत्तियाँ ही जन्म-मरणरूप संसारकी कारण हैं; क्योंकि सुषुप्तिमें इनका अभाव हो जानेपर हमें आत्माका सुखरूपसे भान होता है ॥ ३९ ॥ अनादि अविद्यासे उत्पन्न हुई बुद्धिमें प्रतिबिम्बित यह चेतनका प्रकाश ही 'जीव' कहलाता है। बुद्धिके साक्षीरूपसे आत्मा उससे पृथक् है, वह परात्मा तो बुद्धिसे अपरिच्छिन्न है ॥ ४० ॥ अग्निसे तपे हुए लोहेके समान चिदाभास, साक्षी आत्मा तथा बुद्धिके एकत्र रहनेसे परस्पर अन्योन्याध्यास होनेके कारण क्रमशः उनकी चेतनता, और जडता प्रतीत होती है। (अर्थात् जिस प्रकार अग्निसे तपे हुए लोहपिण्डमें अग्नि और लोहेका तादात्म्य हो जानेसे लोहेका आकार अग्निमें और अग्निकी उष्णता लोहेमें दिखायी देने लगती है। उसी प्रकार बुद्धि और आत्माका तादात्म्य हो जानेसे आत्माकी चेतनता बुद्धि आदिमें और बुद्धि आदिकी जडता आत्मामें प्रतीत होने लगती है। इसलिये अध्यासवश बुद्धिसे लेकर शरीरपर्यन्त अनात्म-वस्तुओंको ही आत्मा मानने लगते हैं) ॥ ४१ ॥ गुरुके समीप रहनेसे और वेदवाक्योंसे आत्मज्ञानका अनुभव होनेपर अपने हृदयस्थ उपाधिरहित आत्माका साक्षात्कार करके आत्मारूपसे प्रतीत होनेवाले देहादि सम्पूर्ण जडपदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ ४२ ॥ मैं प्रकाशस्वरूप, अजन्मा, अद्वितीय, निरन्तर, भासमान, अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध विज्ञानघन, निरामय, क्रियारहित और एकमात्र आनन्दस्वरूप हूँ ॥ ४३ ॥ मैं सदा ही मुक्त, अचिन्त्यशक्ति, अतीन्द्रिय, ज्ञानस्वरूप, अविकृतरूप और अनन्तपार हूँ। वेदवादी पण्डितजन अहर्निश मेरा हृदयमें चिन्तन करते हैं ॥ ४४ ॥ इस प्रकार सदा आत्माका अखण्ड-वृत्तिसे चिन्तन करनेवाले पुरुषके अन्तःकरणमें उत्पन्न हुई विशुद्ध भावना तुरंत ही कारकादिके सहित अविद्याका नाश कर देती है, जिस प्रकार नियमानुसार सेवन की हुई ओषधि रोगको नष्ट कर डालती है ॥ ४५ ॥

(आत्मचिन्तन करनेवाले पुरुषको चाहिये कि) एकान्त देशमें इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर और अन्तःकरणको अपने अधीन करके बैठे तथा आत्मामें स्थित होकर और किसी साधनका आश्रय न लेकर शुद्धचित्त हुआ केवल ज्ञानदृष्टिद्वारा एक आत्माकी ही

विश्वं यदेतत्परमात्मदर्शनं
विलापयेदात्मनि सर्वकारणे।
पूर्णश्चिदानन्दमयोऽवतिष्ठते
न वेद बाह्यं न च किञ्चिदान्तरम्॥ ४७॥

पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तये-
दोङ्कारमात्रं सचराचरं जगत्।
तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको
विभाव्यतेऽज्ञानवशान्न बोधतः॥ ४८॥

अकारसंज्ञः पुरुषो हि विश्वको
ह्युकारकस्तैजस ईर्यते क्रमात्।
प्राज्ञो मकारः परिपठ्यतेऽखिलैः
समाधिपूर्वं न तु तत्त्वतो भवेत्॥ ४९॥

विश्वं त्वकारं पुरुषं विलापये-
दुकारमध्ये बहुधा व्यवस्थितम्।
ततो मकारे प्रविलाप्य तैजसं
द्वितीयवर्णं प्रणवस्य चान्तिमे॥ ५०॥

मकारमप्यात्मनि चिद्घने परे
विलापयेत्प्राज्ञमपीह कारणम्।
सोऽहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तिम-
द्विज्ञानदृङ्मुक्त उपाधितोऽमलः॥ ५१॥

एवं सदा जातपरात्मभावनः
स्वानन्दतुष्टः परिविस्मृताखिलः।
आस्ते स नित्यात्मसुखप्रकाशकः
साक्षाद्विमुक्तोऽचलवारिसिन्धुवत्॥ ५२॥

एवं सदाभ्यस्तसमाधियोगिनो
निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य हि।
विनिर्जिताशेषरिपोरहं सदा
दृश्यो भवेयं जितषड्गुणात्मनः॥ ५३॥

ध्यात्वैवमात्मानमहर्निशं मुनि-
स्तिष्ठेत्सदा मुक्तसमस्तबन्धनः।
प्रारब्धमश्नन्नभिमानवर्जितो
मय्येव साक्षात्प्रविलीयते ततः॥ ५४॥

भावना करे॥ ४६॥ यह विश्व परमात्मस्वरूप है ऐसा समझकर इसे सबके कारणरूप आत्मामें लीन करे; इस प्रकार जो पूर्ण चिदानन्दस्वरूपसे स्थित हो जाता है उसे बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं रहता॥ ४७॥ समाधि प्राप्त होनेके पूर्व ऐसा चिन्तन करे कि सम्पूर्ण चराचर जगत् केवल ओंकारमात्र है। यह संसार वाच्य है और ओंकार इसका वाचक है। अज्ञानके कारण ही इसकी प्रतीति होती है। ज्ञान होनेपर इसका कुछ भी नहीं रहता॥ ४८॥ (ओंकारमें अ, उ और म—ये तीन वर्ण हैं; इनमेंसे) अकार विश्व (जागृतिके अभिमानी) का वाचक है, उकार तैजस (स्वप्नका अभिमानी) कहलाता है और मकार प्राज्ञ (सुषुप्तिके अभिमानी) को कहते हैं; यह व्यवस्था समाधिलाभसे पहलेकी है, तत्त्वदृष्टिसे ऐसा कोई भेद नहीं है॥ ४९॥ नाना प्रकारसे स्थित अकाररूप विश्व पुरुषको उकारमें लीन करे और ओंकारके द्वितीय वर्ण तैजसरूप उकारको उसके अन्तिम वर्ण मकारमें लीन करे॥ ५०॥ फिर कारणात्मा प्राज्ञरूप मकारको भी चिद्घनरूप परमात्मामें लीन करे; (और ऐसी भावना करे कि) वह नित्यमुक्त विज्ञानस्वरूप उपाधिहीन निर्मल परब्रह्म मैं ही हूँ॥ ५१॥

इस प्रकार निरन्तर परमात्मभावना करते-करते जो आत्मानन्दमें मग्न हो गया है तथा जिसे सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च विस्मृत हो गया है वह नित्य आत्मानन्दका अनुभव करनेवाला जीवन्मुक्त योगी निस्तरङ्ग समुद्रके समान साक्षात् मुक्तस्वरूप हो जाता है॥ ५२॥ इस प्रकार जो निरन्तर समाधियोगका अभ्यास करता है, जिसके सम्पूर्ण इन्द्रियगोचर विषय निवृत्त हो गये हैं तथा जिसने काम-क्रोधादि सम्पूर्ण शत्रुओंको परास्त कर दिया है, उस छहों इन्द्रियों (मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों) को जीतनेवाले महात्माको मेरा निरन्तर साक्षात्कार होता है॥ ५३॥ इस प्रकार अहर्निश आत्माका ही चिन्तन करता हुआ मुनि सर्वदा समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर रहे तथा (कर्ता-भोक्तापनके) अभिमानको छोड़कर प्रारब्ध-फल भोगता रहे। इससे वह अन्तमें साक्षात् मुझहीमें लीन हो जाता

आदौ च मध्ये च तथैव चान्ततो
भवं विदित्वा भयशोककारणम्।
हित्वा समस्तं विधिवादचोदितं
भजेत्स्वमात्मानमथाखिलात्मनाम् ॥ ५५ ॥
आत्मन्यभेदेन विभावयन्निदं
भवत्यभेदेन मयात्मना तदा।
यथा जलं वारिनिधौ यथा पयः
क्षीरे वियद्व्योम्न्यनिले यथानिलः ॥ ५६ ॥
इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो
जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः।
निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो
यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः ॥ ५७ ॥
यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं
तावन्मदाराधनतत्परो भवेत्।
श्रद्धालुरत्यूर्जितभक्तिलक्षणो
यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि ॥ ५८ ॥
रहस्यमेतच्छ्रुतिसारसङ्ग्रहं
मया विनिश्चित्य तवोदितं प्रिय।
यस्त्वेतदालोचयतीह बुद्धिमान्
स मुच्यते पातकराशिभिः क्षणात् ॥ ५९ ॥
भ्रातर्यदीदं परिदृश्यते जग-
न्मायैव सर्वं परिहृत्य चेतसा।
मद्भावनाभावितशुद्धमानसः
सुखी भवानन्दमयो निरामयः ॥ ६० ॥
यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः ॥ ६१ ॥
विज्ञानमेतदखिलं श्रुतिसारमेकं
वेदान्तवेद्यचरणेन मयैव गीतम्।
यः श्रद्धया परिपठेद् गुरुभक्तियुक्तो
मद्रूपमेति यदि मद्वचनेषु भक्तिः ॥ ६२ ॥

है ॥ ५४ ॥ संसारको आदि, अन्त और मध्यमें सब प्रकार भय और शोकका ही कारण जानकर समस्त वेदविहित कर्मोंको त्याग दे तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मारूप अपने आत्माका भजन करे ॥ ५५ ॥ जिस प्रकार समुद्रमें जल, दूधमें दूध, महाकाशमें घटाकाशादि और वायुमें वायु मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको अपने आत्माके साथ अभिन्नरूपसे चिन्तन करनेसे जीव मुझ परमात्माके साथ अभिन्न भावसे स्थित हो जाता है ॥ ५६ ॥ यह जो जगत् है वह श्रुति, युक्ति और प्रमाणसे बाधित होनेके कारण चन्द्रभेद और दिशाओंमें होनेवाले दिग्भ्रमके समान मिथ्या ही है—ऐसी भावना करता हुआ लोक (व्यवहार) में स्थित मुनि इसे देखे ॥ ५७ ॥ जबतक सारा संसार मेरा ही रूप दिखलायी न दे तबतक निरन्तर मेरी आराधना करता रहे। जो श्रद्धालु और उत्कट भक्त होता है, उसे अपने हृदयमें सर्वदा मेरा ही साक्षात्कार होता है ॥ ५८ ॥

हे प्रिय ! सम्पूर्ण श्रुतियोंके साररूप इस गुप्त रहस्यको मैंने निश्चय करके तुमसे कहा है। जो बुद्धिमान् इसका मनन करेगा वह तत्काल समस्त पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ ५९ ॥ भाई ! यह जो कुछ जगत् दिखायी देता है वह सब माया है। इसे अपने चित्तसे निकालकर मेरी भावनासे शुद्धचित्त और सुखी होकर आनन्दपूर्ण और क्लेशशून्य हो जाओ ॥ ६० ॥ जो पुरुष अपने चित्तसे मुझ गुणातीत निर्गुणका अथवा कभी-कभी मेरे सगुण स्वरूपका भी सेवन करता है वह मेरा ही रूप है। वह अपनी चरणरजके स्पर्शसे सूर्यके समान सम्पूर्ण त्रिलोकीको पवित्र कर देता है ॥ ६१ ॥ यह अद्वितीय ज्ञान समस्त श्रुतियोंका एकमात्र सार है। इसे वेदान्तवेद्य भगवत्पाद मैंने ही कहा है। जो गुरुभक्तिसम्पन्न पुरुष इसका श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा उसकी यदि मेरे वचनोंमें प्रीति होगी तो वह मेरा ही रूप हो जायगा ॥ ६२ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठ सर्ग

लवण-वध, भगवान् रामके यज्ञमें कुश-लवके सहित महर्षि वाल्मीकिका पधारना और कुशको परमार्थोपदेश करना

श्रीमहादेव उवाच

एकदा मुनयः सर्वे यमुनातीरवासिनः ।
आजग्मू राघवं द्रष्टुं भयाल्लवणरक्षसः ॥ १ ॥

कृत्वाग्रे तु मुनिश्रेष्ठं भार्गवं च्यवनं द्विजाः ।
असङ्ख्याताः समायाता रामादभयकाङ्क्षिणः ॥ २ ॥

तान्पूजयित्वा परया भक्त्या रघुकुलोत्तमः ।
उवाच मधुरं वाक्यं हर्षयन्मुनिमण्डलम् ॥ ३ ॥

करवाणि मुनिश्रेष्ठाः किमागमनकारणम् ।
धन्योऽस्मि यदि यूयं मां प्रीत्या द्रष्टुमिहागताः ॥ ४ ॥

दुष्करं चापि यत्कार्यं भवतां तत्करोम्यहम् ।
आज्ञापयन्तु मां भृत्यं ब्राह्मणा दैवतं हि मे ॥ ५ ॥

तच्छ्रुत्वा सहसा हृष्टश्च्यवनो वाक्यमब्रवीत् ।
मधुनामा महादैत्यः पुरा कृतयुगे प्रभो ॥ ६ ॥

आसीदतीव धर्मात्मा देवब्राह्मणपूजकः ।
तस्य तुष्टो महादेवो ददौ शूलमनुत्तमम् ॥ ७ ॥

प्राह चानेन यं हंसि स तु भस्मीभविष्यति ।
रावणस्यानुजा भार्या तस्य कुम्भीनसी श्रुता ॥ ८ ॥

तस्यां तु लवणो नाम राक्षसो भीमविक्रमः ।
आसीद्दुरात्मा दुर्धर्षो देवब्राह्मणहिंसकः ॥ ९ ॥

पीडितास्तेन राजेन्द्र वयं त्वां शरणं गताः ।
तच्छ्रुत्वा राघवोऽप्याह मा भीर्वो मुनिपुङ्गवाः ॥ १० ॥

लवणं नाशयिष्यामि गच्छन्तु विगतज्वराः ।
इत्युक्त्वा प्राह रामोऽपि भ्रातॄन् को वा हनिष्यति ॥ ११ ॥

लवणं राक्षसं दद्याद् ब्राह्मणेभ्योऽभयं महत् ।
तच्छ्रुत्वा प्राञ्जलिः प्राह भरतो राघवाय वै ॥ १२ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! एक दिन यमुनातटपर रहनेवाले समस्त मुनिजन लवणराक्षससे भयभीत होकर श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करनेके लिये आये ॥ १ ॥ वे अगणित मुनिगण भृगुपुत्र मुनिश्रेष्ठ च्यवनको आगे कर भगवान् रामसे अभय-लाभ करनेकी इच्छासे आये ॥ २ ॥ रघुकुलश्रेष्ठ रामजीने उन मुनीश्वरोंका अत्यन्त भक्तिभावसे पूजन कर उन्हें प्रसन्न करते हुए मधुर वाणीसे कहा— ॥ ३ ॥ "हे मुनिश्रेष्ठगण ! आपके यहाँ पधारनेका क्या कारण है ? (मुझे जो आज्ञा होगी) मैं वैसा ही करूँगा । यदि आपलोग मुझे प्रीतिपूर्वक देखनेके लिये ही यहाँ आये हैं, तो मैं धन्य हूँ ॥ ४ ॥ आपका जो अत्यन्त दुष्कर कार्य होगा वह भी मैं अवश्य करूँगा। आप मुझ सेवकको आज्ञा दीजिये, ब्राह्मण ही मेरे इष्टदेव हैं" ॥ ५ ॥

भगवान् रामके ये वचन सुनकर महर्षि च्यवनने सहसा प्रसन्न होकर कहा—"प्रभो ! पहले सत्ययुगमें मधु नामक एक बड़ा ही धर्मात्मा और देवता तथा ब्राह्मणोंका भक्त महादैत्य था । उससे प्रसन्न होकर श्रीमहादेवजीने उसे एक अत्युत्तम त्रिशूल दिया ॥ ६-७ ॥ और कहा कि इससे तू जिसपर प्रहार करेगा वही भस्मीभूत हो जायगा । सुना जाता है, रावणकी छोटी बहिन कुम्भीनसी उसकी भार्या थी ॥ ८ ॥ उससे उसके लवण नामक एक महापराक्रमी दुष्ट-चित्त, दुर्जय और देवता-ब्राह्मणोंको दुःख देनेवाला राक्षस उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥ हे राजेन्द्र ! उससे अत्यन्त पीडित होकर हम आपकी शरण आये हैं ।" यह सुनकर श्रीरघुनाथजीने कहा—"हे मुनिश्रेष्ठ ! आपलोग किसी प्रकारका भय न करें ॥ १० ॥ आप निश्चिन्त होकर पधारें, मैं लवणको अवश्य मार डालूँगा ।" मुनीश्वरोंसे ऐसा कह भगवान् रामने अपने भाइयोंसे पूछा—"तुममेंसे कौन लवण राक्षसको मारेगा और ब्राह्मणोंको महान् अभय देगा ?" यह सुनकर भरतजीने श्रीरघुनाथजीसे हाथ

अहमेव हनिष्यामि देवाज्ञापय मां प्रभो ।
ततो रामं नमस्कृत्य शत्रुघ्नो वाक्यमब्रवीत् ॥ १३ ॥

लक्ष्मणेन महत्कार्यं कृतं राघव संयुगे ।
नन्दिग्रामे महाबुद्धिर्भरतो दुःखमन्वभूत् ॥ १४ ॥

अहमेव गमिष्यामि लवणस्य वधाय च ।
त्वत्प्रसादाद्रघुश्रेष्ठ हन्यां तं राक्षसं युधि ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा स्वाङ्कमारोप्य शत्रुघ्नं शत्रुसूदनः ।
प्राहाद्यैवाभिषेक्ष्यामि मथुराराज्यकारणात् ॥ १६ ॥

आनाय्य च सुसम्भारॉंल्लक्ष्मणेनाभिषेचने ।
अनिच्छन्तमपि स्नेहादभिषेकमकारयत् ॥ १७ ॥

दत्त्वा तस्मै शरं दिव्यं रामः शत्रुघ्नमब्रवीत् ।
अनेन जहि बाणेन लवणं लोककण्टकम् ॥ १८ ॥

स तु सम्पूज्य तच्छूलं गेहे गच्छति काननम् ।
भक्षणार्थं तु जन्तूनां नानाप्राणिवधाय च ॥ १९ ॥

स तु नायाति सदनं यावद्वनचरो भवेत् ।
तावदेव पुरद्वारि तिष्ठ त्वं धृतकार्मुकः ॥ २० ॥

योत्स्यते स त्वया क्रुद्धस्तदा वध्यो भविष्यति ।
तं हत्वा लवणं क्रूरं तद्वनं मधुसंज्ञितम् ॥ २१ ॥

निवेश्य नगरं तत्र तिष्ठ त्वं मेऽनुशासनात् ।
अश्वानां पञ्चसाहस्रं रथानां च तदर्धकम् ॥ २२ ॥

गजानां षट् शतानीह पत्तीनामयुतत्रयम् ।
आगमिष्यति पश्चात्त्वमग्रे साधय राक्षसम् ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वा मूर्ध्न्यवघ्राय प्रेषयामास राघवः ।
शत्रुघ्नं मुनिभिः सार्धमाशीर्भिरभिनन्द्य च ॥ २४ ॥

शत्रुघ्नोऽपि तथा चक्रे यथा रामेण चोदितः ।
हत्वा मधुसुतं युद्धे मथुरामकरोत्पुरीम् ॥ २५ ॥

स्फीतां जनपदां चक्रे मथुरां दानमानतः ।
सीतापि सुषुवे पुत्रौ द्वौ वाल्मीकेरथाश्रमे ॥ २६ ॥

जोड़कर कहा— ॥ ११-१२ ॥ "देव ! लवणको मैं ही मारूँगा। प्रभो ! इसके लिये मुझे ही आज्ञा दीजिये।" फिर शत्रुघ्नजीने श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम करके कहा— ॥ १३ ॥ "हे राघव ! श्रीलक्ष्मणजी युद्धमें बड़ा भारी कार्य कर चुके हैं, महामति भरतजीने भी नन्दिग्राममें रहकर बहुत कष्ट सहा है ॥ १४ ॥ अब लवणका वध करनेके लिये तो मैं ही जाऊँगा। हे रघुश्रेष्ठ ! आपकी कृपासे मैं उस राक्षसको युद्धमें अवश्य मार डालूँगा" ॥ १५ ॥

शत्रुघ्नके ये वचन सुनकर शत्रुदमन रघुनाथजीने उन्हें अपनी गोदमें उठा लिया और कहा—"मैं आज ही तुम्हारा (लवणकी राजधानी) मथुराके राज्यपर अभिषेक करूँगा" ॥ १६ ॥ ऐसा कह लक्ष्मणजीसे अभिषेककी सामग्री मँगा शत्रुघ्नजीकी इच्छा न होनेपर भी श्रीरामचन्द्रजीने उनका प्रीतिपूर्वक अभिषेक कर दिया ॥ १७ ॥ फिर उन्हें दिव्य बाण देकर कहा— "तुम संसारके कण्टकरूप लवणको इस बाणसे मार डालना ॥ १८ ॥ राक्षस लवण अपने घरमें ही उस त्रिशूलकी पूजाकर नाना प्रकारके जीवोंको खाने और मारनेके लिये वनको जाया करता है ॥ १९ ॥ अतः जबतक वह लौटकर घर न आवे, वनहीमें रहे, उससे पूर्व ही तुम नगरके द्वारपर धनुष धारण कर खड़े हो जाना ॥ २० ॥ लौटनेपर वह क्रोधपूर्वक तुमसे लड़ेगा और उसी समय मारा जायगा। इस प्रकार महाक्रूर लवणासुरको मारकर उसके मधुवनमें नगर बसाकर मेरी आज्ञासे वहीं रहो। तुम पहले जाकर उस राक्षसको ठीक करो, फिर तुम्हारे पीछे वहाँ पाँच हजार घोड़े, उनसे आधे (ढाई हजार) रथ, छः सौ हाथी और तीस हजार पैदल भी पहुँचेंगे" ॥ २१—२३ ॥

ऐसा कह श्रीरघुनाथजीने शत्रुघ्नका सिर सूँघकर तथा मुनियोंके सहित आशीर्वादसे उनका अभिनन्दन कर उन्हें विदा किया ॥ २४ ॥ शत्रुघ्नजीने भी, भगवान् रामने जैसी आज्ञा दी थी वैसा ही किया। उन्होंने मधुपुत्र लवणासुरको मारकर मथुरापुरी बसायी ॥ २५ ॥ और दान-मानसे (लोगोंको सन्तुष्ट कर) उन्होंने मथुराको एक समृद्धिशाली नगर बना दिया।

इस बीचमें श्रीसीताजीके वाल्मीकि मुनिके आश्रममें दो

मुनिस्तयोर्नाम चक्रे कुशो ज्येष्ठोऽनुजो लवः ।
क्रमेण विद्यासम्पन्नौ सीतापुत्रौ बभूवतुः ॥ २७ ॥

उपनीतौ च मुनिना वेदाध्ययनतत्परौ ।
कृत्स्नं रामायणं प्राह काव्यं बालकयोर्मुनिः ॥ २८ ॥

शङ्करेण पुरा प्रोक्तं पार्वत्यै पुरहारिणा ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥ २९ ॥

कुमारौ स्वरसम्पन्नौ सुन्दरावश्विनाविव ।
तन्त्रीतालसमायुक्तौ गायन्तौ चेरतुर्वने ॥ ३० ॥

तत्र तत्र मुनीनां तौ समाजे सुररूपिणौ ।
गायन्तावभितो दृष्ट्वा विस्मिता मुनयोऽब्रुवन् ॥ ३१ ॥

गन्धर्वेष्विव किन्नरेषु भुवि वा देवेषु देवालये
पातालेष्वथवा चतुर्मुखगृहे लोकेषु सर्वेषु च ।
अस्माभिश्चिरजीविभिश्चिरतरं दृष्ट्वा दिशः सर्वतो
नाज्ञायीदृशगीतवाद्यगरिमा नादर्शि नाश्रावि च ॥ ३२ ॥

एवं स्तुवद्भिरखिलैर्मुनिभिः प्रतिवासरम् ।
आसाते सुखमेकान्ते वाल्मीकेराश्रमे चिरम् ॥ ३३ ॥

अथ रामेऽश्वमेधादींश्चकार बहुदक्षिणान् ।
यज्ञान् स्वर्णमयीं सीतां विधाय विपुलद्युतिः ॥ ३४ ॥

तस्मिन्विताने ऋषयः सर्वे राजर्षयस्तथा ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः समाजग्मुर्दिदृक्षवः ॥ ३५ ॥

वाल्मीकिरपि सङ्गृह्य गायन्तौ तौ कुशीलवौ ।
जगाम ऋषिवाटस्य समीपं मुनिपुङ्गवः ॥ ३६ ॥

तत्रैकान्ते स्थितं शान्तं समाधिविरमे मुनिम् ।
कुशः पप्रच्छ वाल्मीकिं ज्ञानशास्त्रं कथान्तरे ॥ ३७ ॥

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि सङ्क्षेपाद्भवतोऽखिलम् ।
देहिनः संसृतिर्बन्धः कथमुत्पद्यते दृढः ॥ ३८ ॥

कथं विमुच्यते देही दृढबन्धाद्भवाभिधात् ।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ मह्यं शिष्याय ते मुने ॥ ३९ ॥

पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २६ ॥ मुनिने उनमेंसे बड़ेका नाम कुश और छोटेका लव रखा। धीरे-धीरे सीताजीके वे दोनों पुत्र विद्यासम्पन्न हो गये ॥ २७ ॥ मुनिके उपनयन-संस्कार करनेपर वे वेदाध्ययनमें तत्पर हुए। श्रीवाल्मीकिजीने उन दोनों बालकोंको सम्पूर्ण रामायणकाव्य पढ़ा दिया ॥ २८ ॥ पूर्वकालमें इसे त्रिपुरविनाशक भगवान् शंकरने पार्वतीजीको सुनाया था। उसी आख्यानको समर्थ मुनि वाल्मीकिने वेदोंका विस्तृत ज्ञान करानेके लिये उन बालकोंको पढ़ाया ॥ २९ ॥ वे अश्विनीकुमारके समान अति सुन्दर कुमार उसे वीणा बजाकर स्वरसहित गाते हुए वनमें विचरा करते थे ॥ ३० ॥ उन देवस्वरूप बालकोंको जहाँ-तहाँ मुनियोंके समाजमें गाते देख वे मुनिगण अत्यन्त विस्मित हो आपसमें कहने लगते थे ॥ ३१ ॥ "हम चिरजीवियोंने बहुत दिनोंसे सभी दिशाएँ देखीं, किन्तु गन्धर्व, किन्नर, भूलोंक, देवलोक, देवालय, पाताल अथवा ब्रह्मलोक आदि किसी भी लोकमें गाने-बजानेकी ऐसी कुशलता न कभी जानी न देखी और न सुनी ही है" ॥ ३२ ॥ इस प्रकार प्रतिदिन प्रशंसा करनेवाले समस्त मुनियोंके साथ वे दोनों बालक बहुत समयतक श्रीवाल्मीकिजीके एकान्त आश्रममें सुखपूर्वक रहे ॥ ३३ ॥

इधर परम तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने सुवर्णकी सीता बनाकर अश्वमेध आदि बहुत-से बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञ किये ॥ ३४ ॥ उस यज्ञशालामें यज्ञोत्सव देखनेके लिये उत्सुक होकर सभी ऋषि, राजर्षि, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि आये थे ॥ ३५ ॥ मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकिजी भी गान करते हुए कुश और लवको साथ ले वहाँ आये और जहाँ मुनियोंके ठहरनेका स्थान था वहाँ उतरे ॥ ३६ ॥ वहाँ एक दिन एकान्तमें शान्तभावसे बैठे हुए वाल्मीकि मुनिसे उनकी समाधि खुलनेपर कुशने कथाके बीचमें ही ज्ञानशास्त्रके विषयमें पूछा ॥ ३७ ॥ (वह बोला)— "भगवन्! मैं आपके मुखारविन्दसे संक्षेपमें यह बात सुनना चाहता हूँ कि जीवको यह सुदृढ़ संसारबन्धन किस प्रकार प्राप्त होता है ? ॥ ३८ ॥ और फिर इस संसार नामक दृढ़ बन्धनसे उसे छुटकारा कैसे मिलता है ? हे मुने ! आप सर्वज्ञ हैं, मुझ प्रणत शिष्यसे आप यह सम्पूर्ण रहस्य कहिये" ॥ ३९ ॥

वाल्मीकिरुवाच

शृणु वक्ष्यामि ते सर्वं सङ्क्षेपाद्बन्धमोक्षयोः।
स्वरूपं साधनं चापि मत्तः श्रुत्वा यथोदितम्॥ ४०॥

तथैवाचर भद्रं ते जीवन्मुक्तो भविष्यसि।
देह एव महागेहमदेहस्य चिदात्मनः॥ ४१॥

तस्याहङ्कार एवास्मिन्मन्त्री तेनैव कल्पितः।
देहगेहाभिमानं स्वं समारोप्य चिदात्मनि॥ ४२॥

तेन तादात्म्यमापन्नः स्वचेष्टितमशेषतः।
विदधाति चिदानन्दे तद्वासितवपुः स्वयम्॥ ४३॥

तेन सङ्कल्पितो देही सङ्कल्पनिगडावृतः।
पुत्रदारगृहादीनि सङ्कल्पयति चानिशम्॥ ४४॥

सङ्कल्पयन्स्वयं देही परिशोचति सर्वदा।
त्रयस्तस्याहमो देहा अधमोत्तममध्यमाः॥ ४५॥

तमः सत्त्वरजःसंज्ञा जगतः कारणं स्थितेः।
तमोरूपाद्धि सङ्कल्पान्नित्यं तामसचेष्टया॥ ४६॥

अत्यन्तं तामसो भूत्वा कृमिकीटत्वमाप्नुयात्।
सत्त्वरूपो हि सङ्कल्पो धर्मज्ञानपरायणः॥ ४७॥

अदूरमोक्षसाम्राज्यः सुखरूपो हि तिष्ठति।
रजोरूपो हि सङ्कल्पो लोके स व्यवहारवान्॥ ४८॥

परितिष्ठति संसारे पुत्रदारानुरञ्जितः।
त्रिविधं तु परित्यज्य रूपमेतन्महामते॥ ४९॥

सङ्कल्पं परमाप्नोति पदमात्मपरिक्षये।
दृष्टीः सर्वाः परित्यज्य नियम्य मनसा मनः॥ ५०॥

सबाह्याभ्यन्तरार्थस्य सङ्कल्पस्य क्षयं कुरु।
यदि वर्षसहस्राणि तपश्चरसि दारुणम्॥ ५१॥

पातालस्थस्य भूस्थस्य स्वर्गस्थस्यापि तेऽनघ।
नान्यः कश्चिदुपायोऽस्ति सङ्कल्पोपशमादृते॥ ५२॥

अनाबाधेऽविकारे स्वे सुखे परमपावने।
सङ्कल्पोपशमे यत्नं पौरुषेण परं कुरु॥ ५३॥

वाल्मीकिजी बोले—सुन, मैं तुझे संक्षेपसे साधनके सहित बन्ध और मोक्षका सम्पूर्ण स्वरूप सुनाता हूँ। मैं जैसा कहूँ वह सब सुनकर तू उसी प्रकार आचरण कर। इससे तेरा कल्याण होगा और तू जीवन्मुक्त हो जायगा। देहहीन चेतन आत्माका यह देह ही बड़ा भारी घर है॥ ४०-४१॥ इसमें उसने अहंकारको ही अपना मन्त्री बना रखा है। यह अहंकाररूप मन्त्री देहगेहाभिमानरूप अपने-आपको चेतन आत्मामें आरोपितकर उससे एकरूप होकर अपनी सारी चेष्टाओंका आरोप उस चिदानन्दरूप आत्मामें ही करता है। उस अहंकारसे व्याप्त हुआ देही (जीव) उसीके संकल्पसे प्रेरित होकर संकल्परूपी बेड़ियोंसे बँधता है और फिर रात-दिन पुत्र, स्त्री और गृह आदिके लिये संकल्प-विकल्प करता रहता है॥ ४२—४४॥ संकल्प करनेसे जीव स्वयं ही सदा शोक करता है।

इस अहंकारके सत्त्व, रज, तम नामक उत्तम, अधम और मध्यम तीन प्रकारके देह हैं। ये ही तीनों संसारकी स्थितिके कारण हैं। इनमेंसे तामस संकल्पसे नित्यप्रति तामसिक चेष्टाएँ करनेसे ही जीव अत्यन्त तमोगुणी होकर कीड़े-मकोड़े आदि योनियोंको प्राप्त होता है। जो सात्त्विक संकल्पवाला होता है वह धर्म और ज्ञानमें ही तत्पर रहनेके कारण मोक्ष-साम्राज्यके पास ही सुखपूर्वक रहता है। तथा राजस संकल्प होनेसे लोकव्यवहार करता हुआ संसारमें पुत्र, स्त्री आदिमें अनुरक्त रहता है। हे महामते! जो पुरुष इन तीनों प्रकारके संकल्पोंको छोड़ देता है वह चित्तके लीन होनेपर परमपद प्राप्त कर लेता है। इसलिये तू समस्त विचारोंको छोड़कर और अपने मनसे ही मनका संयम कर बाहर-भीतरके सम्पूर्ण संकल्पोंका क्षय कर दे। हे अनघ! यदि तू पाताल, पृथिवी अथवा स्वर्ग आदिमें कहीं भी रहकर हजारों वर्ष कठोर तपस्या भी करे तो भी (संसार-बन्धनसे मुक्त होनेका तो) तेरे लिये संकल्पनाशके अतिरिक्त और कोई उपाय है ही नहीं॥ ४५—५२॥ इसलिये जो दुःखहीन, विकारहीन, स्वानन्दस्वरूप और परम पवित्र है उस संकल्पशान्तिके लिये तू पुरुषार्थपूर्वक

सङ्कल्पतन्तौ निखिला भावाः प्रोताः किलानघ ।
छिन्ने तन्तौ न जानीमः क्व यान्ति विभवाः पराः ॥ ५४ ॥

निःसङ्कल्पो यथाप्राप्तव्यवहारपरो भव ।
क्षये सङ्कल्पजालस्य जीवो ब्रह्मत्वमाप्नुयात् ॥ ५५ ॥

अधिगतपरमार्थतामुपेत्य
प्रसभमपास्य विकल्पजालमुच्चैः ।
अधिगमय पदं तदद्वितीयं
विततसुखाय सुषुप्तचित्तवृत्तिः ॥ ५६ ॥

पूर्ण प्रयत्न कर ॥ ५३ ॥ हे अनघ ! ये जितने भाव पदार्थ हैं वे सब संकल्पके तागेमें पिरोये हुए हैं; जिस समय वह तागा टूट जाता है उस समय पता भी नहीं चलता कि संसारके ये परम वैभव कहाँ चले जाते हैं ? ॥ ५४ ॥ अतः संकल्प-विकल्पको छोड़कर प्रारब्ध-प्रवाहसे प्राप्त हुए व्यवहारमें तत्पर रह । संकल्पजालके क्षीण हो जानेपर जीवको ब्रह्मत्व प्राप्त हो जाता है ॥ ५५ ॥ परमार्थज्ञानसे सम्पन्न होकर तू हठपूर्वक सम्पूर्ण विकल्पजालको त्याग दे और पूर्ण आनन्दकी प्राप्तिके लिये चित्तवृत्तिको लीन करके उस अद्वितीय पदको प्राप्त कर ले ॥ ५६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तम सर्ग

भगवान् रामके यज्ञमें कुश और लवका गान, सीताजीका पृथिवी-प्रवेश, रामचन्द्रजीका माताको उपदेश

श्रीमहादेव उवाच

वाल्मीकिना बोधितोऽसौ कुशः सद्योगतभ्रमः ।
अन्तर्मुक्तो बहिः सर्वमनुकुर्वंश्चचार सः ॥ १ ॥

वाल्मीकिरपि तौ प्राह सीतापुत्रौ महाधियौ ।
तत्र तत्र च गायन्तौ पुरे वीथिषु सर्वतः ॥ २ ॥

रामस्याग्रे प्रगायेतं शुश्रूषुर्यदि राघवः ।
न ग्राह्यं वै युवाभ्यां तद्यदि किञ्चित्प्रदास्यति ॥ ३ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! वाल्मीकि मुनिके इस प्रकार समझानेपर तुरंत ही कुशका सारा भ्रम जाता रहा और वह अपने अन्तःकरणसे मुक्त होकर बाहरसे सम्पूर्ण क्रियाएँ करते हुए विचरने लगा ॥ १ ॥ तब वाल्मीकिजीने उन दोनों महाबुद्धिमान् सीता-पुत्रोंसे कहा—"तुम दोनों जहाँ-तहाँ नगरकी गलियोंमें सब ओर गाते हुए विचरो और यदि महाराज रामकी सुननेकी इच्छा हो तो उनके सामने भी गाओ, परन्तु वे कुछ देने लगें तो लेना मत ॥ २-३ ॥

इति तौ चोदितौ तत्र गायमानौ विचेरतुः ।
यथोक्तमृषिणा पूर्वं तत्र तत्राभ्यगायताम् ॥ ४ ॥

तां स शुश्राव काकुत्स्थः पूर्वचर्यां ततस्ततः ।
अपूर्वपाठजातिं च गेयेन समभिप्लुताम् ॥ ५ ॥

बालयो राघवः श्रुत्वा कौतूहलमुपेयिवान् ।
अथ कर्मान्तरे राजा समाहूय महामुनीन् ॥ ६ ॥

राज्ञश्चैव नरव्याघ्रः पण्डितांश्चैव नैगमान् ।
पौराणिकान् शब्दविदो ये च वृद्धा द्विजातयः ॥ ७ ॥

मुनिकी ऐसी आज्ञा होनेपर वे गाते हुए विचरने लगे । ऋषिने जहाँ-जहाँ गान करनेको पहले कहा था उन्हीं-उन्हीं स्थानोंपर उन्होंने गान किया । तब ककुत्स्थनन्दन रघुनाथजीने जहाँ-तहाँ अपने पूर्व-चरित्रके गाये जानेका समाचार सुना । भगवान् रामको यह सुनकर कि, उन बालकोंकी गान-विधि निराले ही ढंगकी और स्वर-ताल-सम्पन्न है, बड़ा ही कुतूहल हुआ । अतः नरशार्दूल महाराज रामने यज्ञकर्मके विश्राम-समयमें सम्पूर्ण मुनीश्वरों, राजाओं, पण्डितों, शास्त्रज्ञों, पौराणिकों, शब्दशास्त्रियों, बड़े-बूढ़ों और द्विजातियोंको

एतान्सर्वान्समाहूय गायकौ समवेशयत्।
ते सर्वे हृष्टमनसो राजानो ब्राह्मणादयः॥ ८॥

रामं तौ दारकौ दृष्ट्वा विस्मिताः ह्यनिमेषणाः।
अवोचन् सर्व एवैते परस्परमथागताः॥ ९॥

इमौ रामस्य सदृशौ बिम्बाद्बिम्बमिवोदितौ।
जटिलौ यदि न स्यातां न च वल्कलधारिणौ॥ १०॥

विशेषं नाधिगच्छामो राघवस्यानयोस्तदा।
एवं संवदतां तेषां विस्मितानां परस्परम्॥ ११॥

उपचक्रमतुर्गातुं तावुभौ मुनिदारकौ।
ततः प्रवृत्तं मधुरं गान्धर्वमतिमानुषम्॥ १२॥

श्रुत्वा तन्मधुरं गीतमपराह्णे रघूत्तमः।
उवाच भरतं चाभ्यां दीयतामयुतं वसु॥ १३॥

दीयमानं सुवर्णं तु न तज्जगृहतुस्तदा।
किमनेन सुवर्णेन राजन्नो वन्यभोजनौ॥ १४॥

इति सन्त्यज्य सन्दत्तं जग्मतुर्मुनिसन्निधिम्।
एवं श्रुत्वा तु चरितं रामः स्वस्यैव विस्मितः॥ १५॥

ज्ञात्वा सीताकुमारौ तौ शत्रुघ्नं चेदमब्रवीत्।
हनूमन्तं सुषेणं च विभीषणमथाङ्गदम्॥ १६॥

भगवन्तं महात्मानं वाल्मीकिं मुनिसत्तमम्।
आनयध्वं मुनिवरं ससीतं देवसम्मितम्॥ १७॥

अस्यास्तु पर्षदो मध्ये प्रत्ययं जनकात्मजा।
करोतु शपथं सर्वे जानन्तु गतकल्मषाम्॥ १८॥

सीतां तद्वचनं श्रुत्वा गताः सर्वेऽतिविस्मिताः।
ऊचुर्यथोक्तं रामेण वाल्मीकिं रामपार्षदाः॥ १९॥

रामस्य हृद्गतं सर्वं ज्ञात्वा वाल्मीकिरब्रवीत्।
श्वः करिष्यति वै सीता शपथं जनसंसदि॥ २०॥

योषितां परमं दैवं पतिरेव न संशयः।
तच्छ्रुत्वा सहसा गत्वा सर्वे प्रोचुर्मुनेर्वचः॥ २१॥

राघवस्यापि रामोऽपि श्रुत्वा मुनिवचस्तथा।
राजानो मुनयः सर्वे शृणुध्वमिति चाब्रवीत्॥ २२॥

बुलाया॥ ४—७॥ इन सबको बुला चुकनेपर उन्होंने गानेवाले बालकोंको बुलाया। वे सब राजा और ब्राह्मण आदि प्रसन्न-चित्तसे महाराज राम और उन दोनों बालकोंको देखकर आश्चर्यचकित हो गये और उनकी टकटकी बँध गयी। तब वहाँ एकत्रित हुए वे सब लोग आपसमें कहने लगे॥ ८-९॥ "ये दोनों तो, बिम्बसे प्रकट हुए प्रतिबिम्बके समान, श्रीरामचन्द्रजीके समान ही दिखायी देते हैं। यदि ये जटाजूट और वल्कल धारण किये न होते तो इनमें और रघुनाथजीमें कोई अन्तर ही न जान पड़ता।" इस प्रकार जब वे सब लोग आश्चर्यचकित होकर आपसमें विवाद कर रहे थे, उन दोनों मुनिकुमारोंने गानेकी तैयारी की और (कुछ ही देरमें) वहाँ अत्यन्त मधुर एवं अलौकिक गान होने लगा॥ १०—१२॥

वह मधुर गान सुनकर श्रीरघुनाथजीने दिन ढलनेपर भरतजीसे कहा—"इन्हें दस सहस्र सुवर्ण-मुद्रा दो"॥ १३॥ किन्तु उन बालकोंने उस दिये हुए सुवर्णको ग्रहण न किया। वे ऐसा कहकर कि 'हे राजन्! हम तो वनके कन्द-मूल-फलादि खानेवाले हैं, हम यह द्रव्य लेकर क्या करेंगे' उस दिये हुए सुवर्णको वहीं छोड़कर मुनिके निकट चले आये। इस प्रकार भगवान् राम अपना ही चरित्र सुनकर विस्मित हो गये॥ १४-१५॥ और उन्हें सीताजीके पुत्र जानकर शत्रुघ्न, हनुमान्, सुषेण, विभीषण और अंगदादिसे कहा—॥ १६॥ "देवतुल्य महानुभाव मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीवाल्मीकि मुनिको सीताजीके सहित लाओ॥ १७॥ इस सभामें जानकीजी सबको विश्वास करानेके लिये शपथ करें, जिससे सब लोग सीताको निष्कलंक जान जायँ।" भगवान् रामके ये वचन सुनकर उनके वे सब दूत अति आश्चर्यचकित हो वाल्मीकिजीके पास गये और जैसा श्रीरामचन्द्रजीने कहा था वह सब उनसे कह दिया॥ १८-१९॥ इससे भगवान् रामका आशय जानकर श्रीवाल्मीकिजीने कहा—"सीताजी कल जनसाधारणमें शपथ करेंगी॥ २०॥ इसमें सन्देह नहीं, स्त्रियोंके लिये सबसे बड़ा देव पति ही है।" मुनिके ये वचन सुनकर उन सबने सहसा जाकर वे सब बातें

सीतायाः शपथं लोका विजानन्तु शुभाशुभम् ।
इत्युक्ता राघवेणाथ लोकाः सर्वे दिदृक्षवः ॥ २३ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव महर्षयः ।
वानराश्च समाजग्मुः कौतूहलसमन्विताः ॥ २४ ॥

ततो मुनिवरस्तूर्णं ससीतः समुपागमत् ।
अग्रतस्तमृषिं कृत्वायान्ती किञ्चिदवाङ्मुखी ॥ २५ ॥

कृताञ्जलिर्बाष्पकण्ठा सीता यज्ञं विवेश तम् ।
दृष्ट्वा लक्ष्मीमिवायान्तीं ब्रह्माणमनुयायिनीम् ॥ २६ ॥

वाल्मीकेः पृष्ठतः सीतां साधुवादो महानभूत् ।
तदा मध्ये जनौघस्य प्रविश्य मुनिपुङ्गवः ॥ २७ ॥

सीतासहायो वाल्मीकिरिति प्राह च राघवम् ।
इयं दाशरथे सीता सुव्रता धर्मचारिणी ॥ २८ ॥

अपापा ते पुरा त्यक्ता ममाश्रमसमीपतः ।
लोकापवादभीतेन त्वया राम महावने ॥ २९ ॥

प्रत्ययं दास्यते सीता तदनुज्ञातुमर्हसि ।
इमौ तु सीतातनयाविमौ यमलजातकौ ॥ ३० ॥

सुतौ तु तव दुर्धर्षौ तथ्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो रघुकुलोद्वह ॥ ३१ ॥

अनृतं न स्मराम्युक्तं तथेमौ तव पुत्रकौ ।
बहून्वर्षगणान् सम्यक्तपश्चर्या मया कृता ॥ ३२ ॥

नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली ।
वाल्मीकिनैवमुक्तस्तु राघवः प्रत्यभाषत ॥ ३३ ॥

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि सुव्रत ।
प्रत्ययो जनितो मह्यं तव वाक्यैरकिल्बिषैः ॥ ३४ ॥

लङ्कायामपि दत्तो मे वैदेह्या प्रत्ययो महान् ।
देवानां पुरतस्तेन मन्दिरे सम्प्रवेशिता ॥ ३५ ॥

सेयं लोकभयाद्ब्रह्मन्नपापापि सती पुरा ।
सीता मया परित्यक्ता भवांस्तत्क्षन्तुमर्हति ॥ ३६ ॥

रघुनाथजीसे कह दीं । तब श्रीरामचन्द्रजीने मुनिका सन्देश सुनकर कहा—"हे नृपतिगण और मुनिजन ! अब आप सब लोग सीताजीकी शपथ सुनें; और उससे उनका शुभाशुभ जान लें ।"

भगवान् रामके इस प्रकार कहनेपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, महर्षि और वानर आदि सभी लोग कुतूहलवश सीताजीकी शपथ देखनेके लिये आये ॥ २१—२४ ॥ तब तुरंत ही सीताजीके सहित मुनीश्वर भी आये। श्रीसीताजीने वाल्मीकि मुनिको आगे कर (उनके पीछे-पीछे) मुख कुछ नीचेको किये हाथ जोड़े गद्गद-कण्ठसे यज्ञशालामें प्रवेश किया। ब्रह्माजीके पीछे आती हुई लक्ष्मीजीके समान सीताजीको वाल्मीकि मुनिके पीछे आती देख उस जन-समाजमें बड़ा भारी साधुवाद (धन्य है, धन्य है—ऐसा शब्द) होने लगा। तब सीताजीके सहित मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकिने उस जनसमूहमें घुसकर श्रीरघुनाथजीसे कहा—"हे दशरथनन्दन ! इस पतिव्रता धर्मपरायणा निष्कलंका सीताको तुमने कुछ समय हुआ लोकापवादसे डरकर भयंकर वनमें मेरे आश्रमके पास छोड़ दिया था ॥ २५—२९ ॥ अब वह अपना विश्वास देना चाहती है, आप उसे आज्ञा दीजिये। ये दोनों (कुश और लव) सीताके एक साथ उत्पन्न हुए पुत्र हैं ॥ ३० ॥ मैं सच कहता हूँ, ये दोनों दुर्जय वीर आपहीकी सन्तान हैं। हे राघव ! मैं प्रजापति प्रचेताका दसवाँ पुत्र हूँ ॥ ३१ ॥ मैंने कभी मिथ्या भाषण किया हो—ऐसा मुझे स्मरण नहीं है; वही मैं आपसे कहता हूँ कि ये बालक आपहीके पुत्र हैं। मैंने अनेकों वर्षतक खूब तपस्या की है ॥ ३२ ॥ यदि इस मिथिलेशकुमारीमें कोई दोष हो तो मुझे उस तपस्याका कोई फल न मिले ।"

वाल्मीकिजीके इस प्रकार कहनेपर श्रीरघुनाथजी बोले— ॥ ३३ ॥ "हे महाप्राज्ञ ! हे सुव्रत ! आप जैसा कहते हैं, बात ऐसी ही है। मुझे तो आपके निर्दोष वाक्योंसे ही विश्वास हो गया ॥ ३४ ॥ जानकीजीने लंकामें भी देवताओंके सामने बड़ी विकट परीक्षा दी थी, इसीलिये मैंने उन्हें अपने घरमें रख लिया था ॥ ३५ ॥ किन्तु हे ब्रह्मन् ! उन्हीं सती सीताजीको सर्वथा निर्दोष होते हुए भी मैंने लोकनिन्दाके भयसे कुछ दिन हुए छोड़ दिया, सो आप

ममैव जातौ जानामि पुत्रावेतौ कुशीलवौ।
शुद्धायां जगतीमध्ये सीतायां प्रीतिरस्तु मे॥ ३७॥

देवाः सर्वे परिज्ञाय रामाभिप्रायमुत्सुकाः।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा समाजग्मुः सहस्रशः॥ ३८॥

प्रजाः समागमन्हृष्टाः सीता कौशेयवासिनी।
उदङ्मुखी ह्यधोदृष्टिः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥ ३९॥

रामादन्यं यथाहं वै मनसापि न चिन्तये।
तथा मे धरणी देवी विवरं दातुमर्हति॥ ४०॥

तथा शपन्त्याः सीतायाः प्रादुरासीन्महाद्भुतम्।
भूतलाद्दिव्यमत्यर्थं सिंहासनमनुत्तमम्॥ ४१॥

नागेन्द्रैर्ध्रियमाणं च दिव्यदेहै रविप्रभम्।
भूदेवी जानकीं दोर्भ्यां गृहीत्वा स्नेहसंयुता॥ ४२॥

स्वागतं तामुवाचैनामासने संन्यवेशयत्।
सिंहासनस्थां वैदेहीं प्रविशन्तीं रसातलम्॥ ४३॥

निरन्तरा पुष्पवृष्टिर्दिव्या सीतामवाकिरत्।
साधुवादश्च सुमहान् देवानां परमाद्भुतः॥ ४४॥

ऊचुश्च बहुधा वाचो ह्यन्तरिक्षगताः सुराः।
अन्तरिक्षे च भूमौ च सर्वे स्थावरजङ्गमाः॥ ४५॥

वानराश्च महाकायाः सीताशपथकारणात्।
केचिच्चिन्तापरास्तस्य केचिद्ध्यानपरायणाः॥ ४६॥

केचिद्रामं निरीक्षन्तः केचित्सीतामचेतसः।
मुहूर्तमात्रं तत्सर्वं तूष्णीभूतमचेतनम्॥ ४७॥

सीताप्रवेशनं दृष्ट्वा सर्वं सम्मोहितं जगत्।
रामस्तु सर्वं ज्ञात्वैव भविष्यत्कार्यगौरवम्॥ ४८॥

अजानन्निव दुःखेन शुशोच जनकात्मजाम्।
ब्रह्मणा ऋषिभिः सार्धं बोधितो रघुनन्दनः॥ ४९॥

प्रतिबुद्ध इव स्वप्नाद्यकारानन्तराः क्रियाः।
विससर्ज ऋषीन् सर्वानृत्विजो ये समागताः॥ ५०॥

मेरा यह अपराध क्षमा करें॥ ३६॥ मैं यह भी जानता हूँ कि ये दोनों पुत्र कुश और लव मुझहीसे उत्पन्न हुए हैं; संसारमें परम साध्वी सीतामें मेरी प्रीति हो" ॥ ३७॥

उस समय, रामजीका अभिप्राय जानकर समस्त देवगण अति उत्सुक हो ब्रह्माजीको आगे कर सहस्रोंकी संख्यामें वहाँ आये॥ ३८॥ तथा बहुत-से प्रजाजन भी प्रसन्नचित्तसे वहाँ एकत्रित हो गये। तब रेशमी वस्त्र धारण किये उत्तरकी ओर मुख और नीचेको नेत्र किये खड़ी हुई श्रीसीताजीने हाथ जोड़कर कहा—॥ ३९॥ "यदि मैं भगवान् रामके अतिरिक्त अन्य पुरुषका मनसे भी चिन्तन नहीं करती तो पृथिवीदेवी मुझे आश्रय दें" ॥ ४०॥

श्रीसीताजीके इस प्रकार शपथ करते ही भूमितलसे एक अति अद्भुत परम दिव्य और अत्यन्त श्रेष्ठ सिंहासन प्रकट हुआ॥ ४१॥ वह सूर्यके समान तेजस्वी सिंहासन दिव्यशरीरधारी नागराजोंद्वारा धारण किया हुआ था। तब पृथिवीदेवीने जानकीजीको अपनी दोनों भुजाओंसे प्रेम-पूर्वक ग्रहण कर उनका स्वागत किया और उन्हें आसनपर बिठा लिया। जब श्रीसीताजी सिंहासनपर बैठकर रसातलको जाने लगीं तो उनपर दिव्य पुष्पोंकी निरन्तर वर्षा होने लगी और देवताओंके मुखसे साधुवादका अति अद्भुत और महान् घोष होने लगा॥ ४२—४४॥ आकाशमें स्थित देवगण नाना प्रकारके वचन बोलने लगे। सीताजीके शपथ करनेसे आकाश और पृथिवी-तलके समस्त स्थावर-जंगम प्राणियों और बड़े-बड़े डीलवाले वानरोंमेंसे कोई चिन्ता करने लगे, कोई ध्यानस्थ हो गये॥ ४५-४६॥ तथा कोई रामजीकी और कोई सीताजीकी ओर देखकर अचेत हो गये। एक मुहूर्तके लिये वह सारा समाज स्तब्ध और चेतनाशून्य हो गया॥ ४७॥

सीताजीका पृथिवी-प्रवेश देखकर सारा संसार मोहित हो गया। भगवान् राम आगामी कार्यका सम्पूर्ण महत्त्व जानते थे तथापि अनजानके समान सीताजीके लिये शोक करने लगे। तब ऋषियोंके सहित ब्रह्माजीने रघुनाथजीको समझाया॥ ४८-४९॥ तदनन्तर उन्होंने सोकर उठे हुएके समान यज्ञका अवशेष कर्म समाप्त किया और यज्ञके ऋत्विक् होकर जो ऋषिगण आये थे उन

तान् सर्वान् धनरत्नाद्यैस्तोषयामास भूरिशः ।
उपादाय कुमारौ तावयोध्यामगमत्प्रभुः ॥ ५१ ॥

तदादि निःस्पृहो रामः सर्वभोगेषु सर्वदा ।
आत्मचिन्तापरो नित्यमेकान्ते समुपस्थितः ॥ ५२ ॥

एकान्ते ध्याननिरते एकदा राघवे सति ।
ज्ञात्वा नारायणं साक्षात्कौसल्या प्रियवादिनी ॥ ५३ ॥

भक्त्यागत्य प्रसन्नं तं प्रणता प्राह हृष्टधीः ।
राम त्वं जगतामादिरादिमध्यान्तवर्जितः ॥ ५४ ॥

परमात्मा परानन्दः पूर्णः पुरुष ईश्वरः ।
जातोऽसि मे गर्भगृहे मम पुण्यातिरेकतः ॥ ५५ ॥

अवसाने ममाप्यद्य समयोऽभूद्रघूत्तम ।
नाद्याप्यबोधजः कृत्स्नो भवबन्धो निवर्तते ॥ ५६ ॥

इदानीमपि मे ज्ञानं भवबन्धनिवर्तकम् ।
यथा सङ्क्षेपतो भूयात्तथा बोधय मां विभो ॥ ५७ ॥

निर्वेदवादिनीमेवं मातरं मातृवत्सलः ।
दयालुः प्राह धर्मात्मा जराजर्जरितां शुभाम् ॥ ५८ ॥

मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ताः पुरा मोक्षाप्तिसाधकाः ।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च शाश्वतः ॥ ५९ ॥

भक्तिर्विभिद्यते मातस्त्रिविधा गुणभेदतः ।
स्वभावो यस्य यस्तेन तस्य भक्तिर्विभिद्यते ॥ ६० ॥

यस्तु हिंसां समुद्दिश्य दम्भं मात्सर्यमेव वा ।
भेददृष्टिश्च संरम्भी भक्तो मे तामसः स्मृतः ॥ ६१ ॥

फलाभिसन्धिर्भोगार्थी धनकामो यशस्तथा ।
अर्चादौ भेदबुद्ध्या मां पूजयेत्स तु राजसः ॥ ६२ ॥

परस्मिन्नर्पितं यस्तु कर्म निर्हरणाय वा ।
कर्तव्यमिति वा कुर्याद्भेदबुद्ध्या स सात्त्विकः ॥ ६३ ॥

मद्गुणाश्रयणादेव मय्यनन्तगुणालये ।
अविच्छिन्ना मनोवृत्तिर्यथा गङ्गाम्बुनोऽम्बुधौ ॥ ६४ ॥

सबको रत्न और धन आदिसे भली प्रकार सन्तुष्ट कर विदा किया। फिर प्रभु राम उन दोनों कुमारोंको साथ लेकर अयोध्यापुरीमें आये ॥ ५०-५१ ॥ तबसे श्रीरामचन्द्रजी सब भोगोंसे विरक्त होकर निरन्तर आत्मचिन्तन करते हुए एकान्तमें रहने लगे ॥ ५२ ॥

एक दिन जब श्रीरघुनाथजी एकान्तमें ध्यानमग्न थे, प्रियभाषिणी श्रीकौसल्याजीने उन्हें साक्षात् नारायण जानकर अति भक्तिभावसे उनके पास आ उन्हें प्रसन्न जान अति हर्षसे विनयपूर्वक कहा—"हे राम ! तुम संसारके आदिकारण हो तथा स्वयं आदि, अन्त और मध्यसे रहित हो ॥ ५३-५४ ॥ तुम परमात्मा, परानन्दस्वरूप, सर्वत्र पूर्ण, जीवरूपसे शरीररूप पुरमें शयन करनेवाले और सबके स्वामी हो; मेरे प्रबल पुण्यके उदय होनेसे ही तुमने मेरे गर्भसे जन्म लिया है ॥ ५५ ॥ हे रघुश्रेष्ठ ! अब अन्त समयमें मुझे आज ही (आपसे कुछ पूछनेका) समय मिला है, अभीतक मेरा अज्ञानजन्य संसार-बन्धन पूर्णतया नहीं टूटा ॥ ५६ ॥ हे विभो ! मुझे संक्षेपमें कोई ऐसा उपदेश दीजिये जिससे अब भी मुझे भवबन्धन काटनेवाला ज्ञान हो जाय" ॥ ५७ ॥

तब मातृभक्त, दयामय, धर्मपरायण भगवान् रामने इस प्रकार वैराग्यपूर्ण वचन कहनेवाली अपनी जराजर्जरित शुभलक्षणा मातासे कहा— ॥ ५८ ॥ "मैंने पूर्वकालमें मोक्षप्राप्तिके साधनरूप तीन मार्ग बतलाये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और सनातन भक्तियोग ॥ ५९ ॥ हे मातः ! (साधकके) गुणानुसार भक्तिके तीन भेद हैं। जिसका जैसा स्वभाव होता है उसकी भक्ति भी वैसे ही भेदवाली होती है ॥ ६० ॥ जो पुरुष हिंसा, दम्भ या मात्सर्यके उद्देश्यसे भक्ति करता है, तथा जो भेददृष्टिवाला और क्रोधी होता है वह तामस भक्त माना गया है ॥ ६१ ॥ जो फलकी इच्छावाला, भोग चाहनेवाला तथा धन और यशकी कामनावाला होता है और भेदबुद्धिसे अर्चा आदिमें मेरी पूजा करता है वह रजोगुणी होता है ॥ ६२ ॥ तथा जो पुरुष परमात्माको अर्पण किये हुए कर्म-सम्पादन करनेके लिये अथवा 'करना चाहिये' इसलिये भेदबुद्धिसे कर्म करता है वह सात्त्विक है ॥ ६३ ॥ जिस प्रकार गङ्गाजीका जल समुद्रमें लीन हो जाता है उसी प्रकार जब मनोवृत्ति मेरे गुणोंके आश्रयसे मुझ अनन्त गुणधाममें

तदेव भक्तियोगस्य लक्षणं निर्गुणस्य हि।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिर्मयि जायते ॥ ६५ ॥

सा मे सालोक्यसामीप्यसार्ष्टिसायुज्यमेव वा।
ददात्यपि न गृह्णन्ति भक्ता मत्सेवनं विना ॥ ६६ ॥

स एवात्यन्तिको योगो भक्तिमार्गस्य भामिनि।
मद्भावं प्राप्नुयात्तेन अतिक्रम्य गुणत्रयम् ॥ ६७ ॥

महता कामहीनेन स्वधर्माचरणेन च।
कर्मयोगेन शस्तेन वर्जितेन विहिंसनात् ॥ ६८ ॥

मद्दर्शनस्तुतिमहापूजाभिः स्मृतिवन्दनैः।
भूतेषु मद्भावनया सङ्गेनासत्यवर्जनैः ॥ ६९ ॥

बहुमानेन महतां दुःखिनामनुकम्पया।
स्वसमानेषु मैत्र्या च यमादीनां निषेवया ॥ ७० ॥

वेदान्तवाक्यश्रवणान्मम नामानुकीर्तनात्।
सत्सङ्गेनार्जवेनैव ह्यहमः परिवर्जनात् ॥ ७१ ॥

काङ्क्षया मम धर्मस्य परिशुद्धान्तरो जनः।
मद्गुणश्रवणादेव याति मामञ्जसा जनः ॥ ७२ ॥

यथा वायुवशाद्गन्धः स्वाश्रयाद्घ्राणमाविशेत्।
योगाभ्यासरतं चित्तमेवमात्मानमाविशेत् ॥ ७३ ॥

सर्वेषु प्राणिजातेषु ह्यहमात्मा व्यवस्थितः।
तमज्ञात्वा विमूढात्मा कुरुते केवलं बहिः ॥ ७४ ॥

क्रियोत्पन्नैर्नैकभेदैर्द्रव्यैर्मे नाम्ब तोषणम्।
भूतावमानिनार्चायामर्चितोऽहं न पूजितः ॥ ७५ ॥

तावन्मामर्चयेद्देवं प्रतिमादौ स्वकर्मभिः।
यावत्सर्वेषु भूतेषु स्थितं चात्मनि न स्मरेत् ॥ ७६ ॥

यस्तु भेदं प्रकुरुते स्वात्मनश्च परस्य च।
भिन्नदृष्टेर्भयं मृत्युस्तस्य कुर्यान्न संशयः ॥ ७७ ॥

निरन्तर लगी रहे, तो वही मेरे निर्गुण भक्तियोगका लक्षण है। मेरे प्रति जो निष्काम और अखण्ड भक्ति उत्पन्न होती है वह साधकको सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य* चार प्रकारकी मुक्ति देती है; किन्तु उसके देनेपर भी वे भक्तजन मेरी सेवाके अतिरिक्त और कुछ ग्रहण नहीं करते ॥ ६४—६६ ॥ हे मातः ! भक्तिमार्गका आत्यन्तिक योग यही है। इसके द्वारा भक्त तीनों गुणोंको पारकर मेरा ही रूप हो जाता है ॥ ६७ ॥

(अब इस निर्गुण भक्तिका साधन बतलाता हूँ—) अपने धर्मका अत्यन्त निष्काम भावसे आचरण करनेसे, अत्युत्तम हिंसाहीन कर्म-योगसे ॥ ६८ ॥ मेरे दर्शन, स्तुति, महापूजा, स्मरण और वन्दनसे, प्राणियोंमें मेरी भावना करनेसे, असत्यके त्याग और सत्सङ्गसे ॥ ६९ ॥ महापुरुषोंका अत्यन्त मान करनेसे, दुःखियोंपर दया करनेसे, अपने समान पुरुषोंसे मैत्री करनेसे, यम-नियमादिका सेवन करनेसे ॥ ७० ॥ वेदान्त-वाक्योंका श्रवण करनेसे, मेरा नाम-संकीर्तन करनेसे, सत्सङ्ग और कोमलतासे, अहङ्कारका त्याग करनेसे ॥ ७१ ॥ और मेरे भागवत-धर्मोंकी इच्छा करनेसे जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वह पुरुष मेरे गुणोंका श्रवण करनेसे ही अति सुगमतासे मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ ७२ ॥ जिस प्रकार वायुके द्वारा गन्ध अपने आश्रयको छोड़कर घ्राणेन्द्रियमें प्रविष्ट होता है उसी प्रकार योगाभ्यासमें लगा हुआ चित्त आत्मामें लीन हो जाता है ॥ ७३ ॥ समस्त प्राणियोंमें आत्मरूपसे मैं ही स्थित हूँ, हे मातः ! उसे न जानकर मूढ़ पुरुष केवल बाह्य भावना करता है ॥ ७४ ॥ किन्तु क्रियासे उत्पन्न हुए अनेक पदार्थोंसे भी मेरा सन्तोष नहीं होता। अन्य जीवोंका तिरस्कार करनेवाले प्राणियोंसे प्रतिमामें पूजित होकर भी मैं वास्तवमें पूजित नहीं होता ॥ ७५ ॥ मुझ परमात्मदेवका अपने कर्मोंद्वारा प्रतिमा आदिमें तभीतक पूजन करना चाहिये जबतक कि समस्त प्राणियोंमें और अपने-आपमें मुझे स्थित न जाने ॥ ७६ ॥ जो अपने आत्मा और परमात्मामें भेदबुद्धि करता है उस भेददर्शीको मृत्यु अवश्य भय उत्पन्न करती है; इसमें सन्देह

* वैकुण्ठादि भगवान्‌के लोकोंको प्राप्त करना 'सालोक्य' मुक्ति है। हर समय भगवान्‌हीके निकट रहना 'सामीप्य' है, भगवान्‌के समान ऐश्वर्य लाभ करना 'सार्ष्टि' है और भगवान्‌में लीन हो जाना 'सायुज्य' है।

मामतः सर्वभूतेषु परिच्छिन्नेषु संस्थितम्।
एकं ज्ञानेन मानेन मैत्र्या चार्चेदभिन्नधीः ॥ ७८ ॥

चेतसैवानिशं सर्वभूतानि प्रणमेत्सुधीः।
ज्ञात्वा मां चेतनं शुद्धं जीवरूपेण संस्थितम् ॥ ७९ ॥

तस्मात्कदाचिन्नेक्षेत भेदमीश्वरजीवयोः।
भक्तियोगो ज्ञानयोगो मया मातरुदीरितः ॥ ८० ॥

आलम्ब्यैकतरं वापि पुरुषः शुभमृच्छति।
ततो मां भक्तियोगेन मातः सर्वहृदि स्थितम् ॥ ८१ ॥

पुत्ररूपेण वा नित्यं स्मृत्वा शान्तिमवाप्स्यसि।
श्रुत्वा रामस्य वचनं कौसल्यानन्दसंयुता ॥ ८२ ॥

रामं सदा हृदि ध्यात्वा छित्त्वा संसारबन्धनम्।
अतिक्रम्य गतीस्तिस्त्रोऽप्यवाप परमां गतिम् ॥ ८३ ॥

कैकेयी चापि योगं रघुपतिगदितं
पूर्वमेवाधिगम्य
श्रद्धाभक्तिप्रशान्ता हृदि रघुतिलकं
भावयन्ती गतासुः।
गत्वा स्वर्गं स्फुरन्ती दशरथसहिता
मोदमानावतस्थे
माता श्रीलक्ष्मणस्याप्यतिविमलमतिः
प्राप भर्तुः समीपम् ॥ ८४ ॥

नहीं ॥ ७७ ॥ इसलिये अभेददर्शी भक्त समस्त परिच्छिन्न प्राणियोंमें स्थित मुझ एकमात्र परमात्माका ज्ञान, मान और मैत्री आदिसे पूजन करे ॥ ७८ ॥ इस प्रकार मुझ शुद्ध चेतनको ही जीवरूपसे स्थित जानकर बुद्धिमान् पुरुष अहर्निश सब प्राणियोंको चित्तसे ही प्रणाम करे ॥ ७९ ॥ इसलिये जीव और ईश्वरका भेद कभी न देखे। हे मातः ! मैंने तुमसे यह भक्तियोग और ज्ञानयोगका वर्णन किया ॥ ८० ॥ इनमेंसे एकका भी अवलम्बन करनेसे पुरुष आत्यन्तिक शुभ प्राप्त कर लेता है। अतः हे मातः ! मुझे सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित जानते हुए अथवा पुत्ररूपसे भक्तियोगके द्वारा नित्यप्रति स्मरण करते रहनेसे तुम शान्ति प्राप्त करोगी।''

भगवान् रामके ये वचन सुनकर कौसल्याजी आनन्दसे भर गयीं ॥ ८१-८२ ॥ और हृदयमें निरन्तर श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करतीं हुई संसार-बन्धनको काटकर तीनों प्रकारकी गतियोंको पारकर परम गतिको प्राप्त हुईं ॥ ८३ ॥ कैकेयीने भी रघुनाथजीद्वारा पहले (चित्रकूट-पर्वतपर) कहे हुए योगको हृदयंगम कर श्रद्धा और भक्तिभावसे शान्तिपूर्वक हृदयमें रघुकुलतिलक भगवान् रामका ध्यान करते हुए प्राणत्याग किया और स्वर्गलोकमें जाकर दशरथजीके साथ सुशोभित हो आनन्दपूर्वक रहने लगीं। इसी प्रकार श्रीलक्ष्मणजीकी माता अत्यन्त विमल बुद्धिवाली सुमित्राने भी अपने पतिका सामीप्य प्राप्त किया ॥ ८४ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टम सर्ग

कालका आगमन, लक्ष्मणजीका परित्याग और उनका स्वर्गगमन

श्रीमहादेव उवाच

अथ काले गते कस्मिन् भरतो भीमविक्रमः।
युधाजिता मातुलेन ह्याहूतोऽगात्ससैनिकः ॥ १ ॥

रामाज्ञया गतस्तत्र हत्वा गन्धर्वनायकान्।
तिस्रः कोटीः पुरे द्वे तु निवेश्य रघुनन्दनः ॥ २ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! कुछ काल बीतनेपर उग्रपराक्रमी भरतजी अपने मामा युधाजितद्वारा बुलाये जानेपर भगवान् रामकी आज्ञा लेकर सेनासहित उनके यहाँ गये। वहाँ पहुँचकर रघुकुलनन्दन भरतजीने तीन करोड़ प्रमुख गन्धर्वोंको मार कर दो नगर

पुष्करं पुष्करावत्यां तक्षं तक्षशिलाह्वये।
अभिषिच्य सुतौ तत्र धनधान्यसुहृद्वृतौ॥ ३ ॥

पुनरागत्य भरतो रामसेवापरोऽभवत्।
ततः प्रीतो रघुश्रेष्ठो लक्ष्मणं प्राह सादरम्॥ ४ ॥

उभौ कुमारौ सौमित्रे गृहीत्वा पश्चिमां दिशम्।
तत्र भिल्लान्विनिर्जित्य दुष्टान् सर्वापकारिणः॥ ५ ॥

अङ्गदश्चित्रकेतुश्च महासत्त्वपराक्रमौ।
द्वयोर्द्वे नगरे कृत्वा गजाश्वधनरत्नकैः॥ ६ ॥

अभिषिच्य सुतौ तत्र शीघ्रमागच्छ मां पुनः।
रामस्याज्ञां पुरस्कृत्य गजाश्वबलवाहनः॥ ७ ॥

गत्वा हत्वा रिपून् सर्वान् स्थापयित्वा कुमारकौ।
सौमित्रिः पुनरागत्य रामसेवापरोऽभवत्॥ ८ ॥

ततस्तु काले महति प्रयाते
रामं सदा धर्मपथे स्थितं हरिम्।
द्रष्टुं समागादृषिवेषधारी
कालस्ततो लक्ष्मणमित्युवाच॥ ९ ॥

निवेदयस्वातिबलस्य दूतं
मां द्रष्टुकामं पुरुषोत्तमाय।
रामाय विज्ञापनमस्ति तस्य
महर्षिमुख्यस्य चिराय धीमन्॥ १० ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिस्त्वरयान्वितः।
आचचक्षेऽथ रामाय स सम्प्राप्तं तपोधनम्॥ ११ ॥

एवं ब्रुवन्तं प्रोवाच लक्ष्मणं राघवो वचः।
शीघ्रं प्रवेशयतां तात मुनिः सत्कारपूर्वकम्॥ १२ ॥

लक्ष्मणस्तु तथेत्युक्त्वा प्रावेशयत तापसम्।
स्वतेजसा ज्वलन्तं तं घृतसिक्तं यथानलम्॥ १३ ॥

सोऽभिगम्य रघुश्रेष्ठं दीप्यमानः स्वतेजसा।
मुनिर्मधुरवाक्येन वर्धस्वेत्याह राघवम्॥ १४ ॥

तस्मै स मुनये रामः पूजां कृत्वा यथाविधि।
पृष्ट्वानामयमव्यग्रो रामः पृष्टोऽथ तेन सः॥ १५ ॥

बसाये॥ १-२॥ उनमेंसे पुष्करावतीमें पुष्कर और तक्षशिलामें तक्ष नामक अपने दोनों पुत्रोंको अभिषिक्त कर और उन्हें धन-धान्य तथा मित्र-मण्डलसे सम्पन्न कर वे लौट आये और भगवान् रामकी सेवामें तत्पर हो गये। तब रघुनाथजीने प्रसन्न होकर आदरपूर्वक लक्ष्मणजीसे कहा— ॥ ३-४॥ "हे सुमित्रानन्दन! तुम अपने दोनों कुमारोंको लेकर पश्चिम दिशामें जाओ और वहाँ सबका अपकार करनेवाले दुष्ट भीलोंको जीतकर दोनोंके लिये दो नगर बसाओ और उनमें महाबलवान् और पराक्रमी अङ्गद तथा चित्रकेतुका हाथी, घोड़े, धन और रत्नादि उपकरणोंसे राजतिलक कर फिर तुरंत ही मेरे पास लौट आओ।" भगवान् रामकी इस आज्ञाको शिरोधार्य कर लक्ष्मणजी हाथी-घोड़े आदि दल-बलके सहित गये और समस्त शत्रुओंको मारकर दोनों कुमारोंको राजपदपर नियुक्त कर लौट आये तथा फिर राम-सेवामें तत्पर हो गये॥ ५-८॥

तदनन्तर बहुत-सा काल व्यतीत होनेपर सर्वदा धर्म-मार्गका अवलम्बन करनेवाले भगवान् रामका दर्शन करनेके लिये ऋषिवेष धारण कर काल आया और लक्ष्मणजीसे यों बोला॥ ९॥ "हे बुद्धिमन्! तुम पुरुषोत्तम महाराज रामसे निवेदन करो कि महर्षि अतिबलका दूत आपके दर्शनकी इच्छासे आया है। मुझे उन्हें बहुत देरतक उन महर्षिश्रेष्ठका सन्देश सुनाना है"॥ १०॥ उसके ये वचन सुनकर लक्ष्मणजीने बड़ी शीघ्रतासे श्रीरघुनाथजीको उन तपोधनके आनेकी सूचना दी॥ ११॥ लक्ष्मणजीके ऐसा कहनेपर श्रीरघुनाथजीने उनसे कहा—"भैया! मुनिराजको तुरंत ही बड़े सत्कारपूर्वक भीतर ले आओ"॥ १२॥

तब लक्ष्मणजी 'बहुत अच्छा' कह घृताहुतिसे प्रज्वलित हुए अग्निके समान अपने तेजसे देदीप्यमान उस तपस्वीको भीतर ले आये॥ १३॥ अपनी कान्तिसे प्रकाशमान उस मुनिने श्रीरघुनाथजीके पास पहुँचनेपर उनसे अति मधुर वाणीमें 'आपका अभ्युदय हो' इस प्रकार कहा॥ १४॥ तब श्रीरामचन्द्रजीने उस मुनिकी विधिपूर्वक पूजा की और फिर शान्तभावसे रामचन्द्रजीने मुनिसे और मुनिने रामचन्द्रजीसे कुशल पूछी॥ १५॥

दिव्यासने समासीनो रामः प्रोवाच तापसम्।
यदर्थमागतोऽसि त्वमिह तत्प्रापयस्व मे ॥ १६ ॥

वाक्येन चोदितस्तेन रामेणाह मुनिर्वचः।
द्वन्द्वमेव प्रयोक्तव्यमनालक्ष्यं तु तद्वचः ॥ १७ ॥

नान्येन चैतच्छ्रोतव्यं नाख्यातव्यं च कस्यचित्।
शृणुयाद्वा निरीक्षेद्वा यः स वध्यस्त्वया प्रभो ॥ १८ ॥

तथेति च प्रतिज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
तिष्ठ त्वं द्वारि सौमित्रे नायात्वत्र जनो रहः ॥ १९ ॥

यथागच्छति को वापि स वध्यो मे न संशयः।
ततः प्राह मुनिं रामो येन वा त्वं विसर्जितः ॥ २० ॥

यत्ते मनीषितं वाक्यं तद्वदस्व ममाग्रतः।
ततः प्राह मुनिर्वाक्यं शृणु राम यथातथम् ॥ २१ ॥

ब्रह्मणा प्रेषितोऽस्मीश कार्यार्थे तेऽन्तिकं प्रभो।
अहं हि पूर्वजो देव तव पुत्रः परन्तप ॥ २२ ॥

मायासङ्गमजो वीर कालः सर्वहरः स्मृतः।
ब्रह्मा त्वामाह भगवान् सर्वदेवर्षिपूजितः ॥ २३ ॥

रक्षितुं स्वर्गलोकस्य समयस्ते महामते।
पुरा त्वमेक एवासीर्लोकान् संहृत्य मायया ॥ २४ ॥

भार्यया सहितस्त्वं मामादौ पुत्रमजीजनः।
तथा भोगवतं नागमनन्तमुदकेशयम् ॥ २५ ॥

मायया जनयित्वा त्वं द्वौ ससत्त्वौ महाबलौ।
मधुकैटभकौ दैत्यौ हत्वा मेदोऽस्थिसञ्चयम् ॥ २६ ॥

इमां पर्वतसम्बद्धां मेदिनीं पुरुषर्षभ।
पद्मे दिव्यार्कसङ्काशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि ॥ २७ ॥

मां विधाय प्रजाध्यक्षं मयि सर्वं न्यवेदयत्।
सोऽहं संयुक्तसम्भारस्त्वामवोचं जगत्पते ॥ २८ ॥

रक्षां विधत्स्व भूतेभ्यो ये मे वीर्यापहारिणः।
ततस्त्वं कश्यपाज्जातो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥ २९ ॥

तदनन्तर दिव्यासनपर विराजमान महाराज रामने मुनिसे कहा—"आप जिस लिये यहाँ पधारे हैं वह (सन्देश) मुझसे कहिये" ॥ १६ ॥ भगवान् रामके इस वाक्यसे प्रेरित होकर मुनिने कहा—"वह बात किसी दूसरेको प्रकट न करते हुए हम दोनोंके बीच ही कही जा सकती है ॥ १७ ॥ उसे न तो कोई सुने और न वह किसीके प्रति कही जाय। यदि उसे कोई सुने अथवा देखे तो हे प्रभो! आपको उसे मारना होगा" ॥ १८ ॥ तब रामचन्द्रजीने 'बहुत अच्छा' कह लक्ष्मणजीसे कहा—"लक्ष्मण! तुम द्वारपर रहो, इस एकान्त स्थानमें मेरे पास कोई न आवे ॥ १९ ॥ यदि यहाँ कोई भी आया तो इसमें सन्देह नहीं, वह अवश्य मेरे हाथसे मारा जायगा।" फिर उन्होंने मुनिसे कहा—"तुम्हें जिसने भेजा है और तुम्हारे मनमें जो बात है वह सब मुझसे कहो।"

तब मुनिने कहा—"हे राम! जो वास्तविक बात है सो सुनिये। हे ईश! हे प्रभो! मुझे एक कार्यके लिये ब्रह्माजीने आपके पास भेजा है। हे देव! हे शत्रुदमन! मैं आपका ज्येष्ठ पुत्र हूँ ॥ २०—२२ ॥ हे वीर! मायाके साथ आपका सङ्गम होनेपर मैं प्रकट हुआ था। मैं सबका नाश करनेवाला हूँ और काल नामसे प्रसिद्ध हूँ। समस्त देवर्षियोंसे पूजित भगवान् ब्रह्माजीने आपके लिये कहा है कि हे महामते! अब आपका स्वर्गलोककी रक्षा करनेका समय है। पूर्वकालमें समस्त लोकोंका संहार कर एकमात्र आप ही रह गये थे ॥ २३-२४ ॥ फिर आपने अपनी भार्या मायाके संयोगसे सबसे पहले अपने पुत्र मुझको तथा जलमें शयन करनेवाले अनन्त नामक फणधारी शेषनागको रचा ॥ २५ ॥ इस प्रकार मायासे हमें उत्पन्न कर आपने महाबली और बड़े शूरवीर दो मधु-कैटभ नामक दैत्योंको मारा तथा उनके मेद और अस्थियोंके समूहरूप इस पर्वतादिसे युक्त पृथिवीको रचा। हे पुरुषश्रेष्ठ! फिर अपनी नाभिसे प्रकट हुए दिव्य सूर्यके समान तेजस्वी कमलसे मुझे उत्पन्न कर और मुझे ही प्रजापति बनाकर सृष्टि-रचनाका सारा भार मुझे ही सौंप दिया। हे जगत्पते! इस प्रकार भार ग्रहण करनेपर मैं आपसे बोला ॥ २६—२८ ॥ "जो प्राणी मेरे वीर्य (प्रजा) का नाश करनेवाले हैं उनसे रक्षा कीजिये।" तब आप कश्यपजीके यहाँ वामनरूपधारी विष्णुभगवान् होकर

हतवानसि भूभारं वधाद्रक्षोगणस्य च।
सर्वासूत्सार्यमाणासु प्रजासु धरणीधर ॥ ३० ॥

रावणस्य वधाकाङ्क्षी मर्त्यलोकमुपागतः।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥ ३१ ॥

कृत्वा वासस्य समयं त्रिदशेष्वात्मनः पुरा।
स ते मनोरथः पूर्णः पूर्णे चायुषि ते नृषु ॥ ३२ ॥

कालस्तापसरूपेण त्वत्समीपमुपागमत्।
ततो भूयश्च ते बुद्धिर्यदि राज्यमुपासितुम् ॥ ३३ ॥

तत्तथा भव भद्रं ते एवमाह पितामहः।
यदि ते गमने बुद्धिर्देवलोकं जितेन्द्रिय ॥ ३४ ॥

सनाथा विष्णुना देवा भजन्तु विगतज्वराः।
चतुर्मुखस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा कालेन भाषितम् ॥ ३५ ॥

हसन् रामस्तदा वाक्यं कृत्स्नस्यान्तकमब्रवीत्।
श्रुतं तव वचो मेऽद्य ममापीष्टतरं तु तत् ॥ ३६ ॥

सन्तोषः परमो ज्ञेयस्त्वदागमनकारणात्।
त्रयाणामपि लोकानां कार्यार्थं मम सम्भवः ॥ ३७ ॥

भद्रं तेऽस्त्वागमिष्यामि यत एवाहमागतः।
मनोरथस्तु सम्प्राप्तो न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ३८ ॥

मत्सेवकानां देवानां सर्वकार्येषु वै मया।
स्थातव्यं मायया पुत्र यथा चाह प्रजापतिः ॥ ३९ ॥

एवं तयोः कथयतोर्दुर्वासा मुनिरभ्यगात्।
राजद्वारं राघवस्य दर्शनापेक्षया द्रुतम् ॥ ४० ॥

मुनिर्लक्ष्मणमासाद्य दुर्वासा वाक्यमब्रवीत्।
शीघ्रं दर्शय रामं मे कार्यं मेऽत्यन्तमाहितम् ॥ ४१ ॥

तच्छ्रुत्वा प्राह सौमित्रिर्मुनिं ज्वलनतेजसम्।
रामेण कार्यं किं तेऽद्य किं तेऽभीष्टं करोम्यहम् ॥ ४२ ॥

राजा कार्यान्तरे व्यग्रो मुहूर्तं सम्प्रतीक्ष्यताम्।
तच्छ्रुत्वा क्रोधसन्तप्तो मुनिः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४३ ॥

अस्मिन् क्षणे तु सौमित्रे न दर्शयसि चेद्विभुम्।
रामं सविषयं वंशं भस्मीकुर्यां न संशयः ॥ ४४ ॥

प्रकट हुए ॥ २९ ॥ और राक्षसोंका नाश करके आपने पृथिवीका भार उतारा। हे धरणीधर! (इस समय भी) सारी प्रजाको उच्छिन्न होते देख आप रावणका वध करनेके लिये मर्त्यलोकमें पधारे थे। यहाँ रहनेके लिये आपने पूर्वकालमें देवताओंमें ग्यारह सहस्र वर्ष समय निश्चित किया था, सो आपकी मानव-शरीरकी आयु पूर्ण होनेके साथ ही आपका वह मनोरथ पूर्ण हो चुका है ॥ ३०—३२ ॥ अब, तापसरूपसे काल आपके पास आया है! यदि अभी आपका विचार कुछ दिन और राज्य करनेका हो तो आपका शुभ हो, वैसा ही कीजिये—ऐसा पितामह ब्रह्माजीने कहा है। हे जितेन्द्रिय! यदि आपका विचार देवलोक चलनेका हो तो (आप) विष्णुभगवान्से सनाथ होकर देवगण निश्चिन्त हो जायँ।''

कालके मुखसे ब्रह्माजीके ये वचन सुनकर रामजी हँसे और सबका अन्त करनेवाले कालसे बोले—''मैंने तुम्हारी सब बातें सुन लीं। वे मुझे भी अत्यन्त इष्ट हैं ॥ ३३—३६ ॥ तुम्हारे आनेके कारण मुझे बड़ा सन्तोष हुआ है। मेरा अवतार तीनों लोकोंका कार्य करनेके लिये ही हुआ करता है ॥ ३७ ॥ तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं जहाँसे आया था वहीं फिर चला जाऊँगा; मेरा सारा मनोरथ पूर्ण हो गया, इसमें मुझे कुछ विचारना नहीं है ॥ ३८ ॥ हे पुत्र! देवगण मेरे सेवक हैं; मुझे जैसा कि ब्रह्माजीने कहा है, मायासे उनके सब कार्योंमें अवश्य तत्पर रहना चाहिये'' ॥ ३९ ॥

उनके इस प्रकार वार्तालाप करते समय मुनिवर दुर्वासाजी रघुनाथजीका दर्शन करनेकी इच्छासे शीघ्रताके साथ राजद्वारपर पहुँचे ॥ ४० ॥ वहाँ दुर्वासा मुनिने लक्ष्मणजीके पास आकर कहा—''मुझे तुरंत ही महाराज रामसे मिलाओ, मेरा उनसे एक अत्यन्त आवश्यक कार्य आ पड़ा है'' ॥ ४१ ॥ यह सुन श्रीलक्ष्मणजीने उन अग्निके समान तेजस्वी मुनिसे कहा—''इस समय महाराज रामसे आपको क्या काम है? आपकी क्या इच्छा है? उसे मैं ही पूरा करूँगा ॥ ४२ ॥ इस समय महाराज एक और कार्यमें संलग्न हैं, कुछ देर ठहरिये।'' यह सुनते ही मुनिने क्रोधसे व्याकुल होकर लक्ष्मणजीसे कहा— ॥ ४३ ॥ ''लक्ष्मण! यदि इसी क्षण तुमने मुझे भगवान् रामसे न मिलाया, तो इसमें सन्देह नहीं, मैं देशके सहित तुम्हारे वंशको अभी भस्म कर डालूँगा'' ॥ ४४ ॥

श्रुत्वा तद्वचनं घोरमृषेर्दुर्वाससो भृशम्।
स्वरूपं तस्य वाक्यस्य चिन्तयित्वा स लक्ष्मणः ॥ ४५ ॥

सर्वनाशाद्वरं मेऽद्य नाशो ह्येकस्य कारणात्।
निश्चित्यैवं ततो गत्वा रामाय प्राह लक्ष्मणः ॥ ४६ ॥

सौमित्रेर्वचनं श्रुत्वा रामः कालं व्यसर्जयत्।
शीघ्रं निर्गम्य रामोऽपि ददर्शात्रेः सुतं मुनिम् ॥ ४७ ॥

रामोऽभिवाद्य सम्प्रीतो मुनिं पप्रच्छ सादरम्।
किं कार्यं ते करोमीति मुनिमाह रघूत्तमः ॥ ४८ ॥

तच्छ्रुत्वा रामवचनं दुर्वासा राममब्रवीत्।
अद्य वर्ष सहस्राणामुपवाससमापनम् ॥ ४९ ॥

अतो भोजनमिच्छामि सिद्धं यत्ते रघूत्तम।
रामो मुनिवचः श्रुत्वा सन्तोषेण समन्वितः ॥ ५० ॥

स सिद्धमन्नं मुनये यथावत्समुपाहरत्।
मुनिर्भुक्त्वान्नममृतं सन्तुष्टः पुनरभ्यगात् ॥ ५१ ॥

स्वमाश्रमं गते तस्मिन् रामः सस्मार भाषितम्।
कालेन शोकदुःखार्तो विमनाश्चाति विह्वलः ॥ ५२ ॥

अवाङ्मुखो दीनमना न शशाकाभिभाषितुम्।
मनसा लक्ष्मणं ज्ञात्वा हतप्रायं रघूद्वहः ॥ ५३ ॥

अवाङ्मुखो बभूवाथ तूष्णीमेवाखिलेश्वरः।
ततो रामं विलोक्याह सौमित्रिर्दुःखसम्प्लुतम् ॥ ५४ ॥

तूष्णीम्भूतं चिन्तयन्तं गर्हन्तं स्नेहबन्धनम्।
मत्कृते त्यज सन्तापं जहि मां रघुनन्दन ॥ ५५ ॥

गतिः कालस्य कलिता पूर्वमेवेदृशी प्रभो।
त्वयि हीनप्रतिज्ञे तु नरको मे ध्रुवं भवेत् ॥ ५६ ॥

मयि प्रीतिर्यदि भवेद्यद्यनुग्राह्यता तव।
त्यक्त्वा शङ्कां जहि प्राज्ञ मा मा धर्मं त्यज प्रभो ॥ ५७ ॥

सौमित्रिणोक्तं तच्छ्रुत्वा रामश्चलितमानसः।
आहूय मन्त्रिणः सर्वान् वसिष्ठं चेदमब्रवीत् ॥ ५८ ॥

दुर्वासा ऋषिका यह भयङ्कर वाक्य सुनकर लक्ष्मणजीने उसके स्वरूपका भलीभाँति विचार किया और यह निश्चय कर कि एकके कारण सबके नाशसे तो (अकेले) मेरा नष्ट होना ही अच्छा है, उन्होंने रामचन्द्रजीके पास जाकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ४५-४६ ॥ लक्ष्मणजीके वचन सुनकर रामचन्द्रजीने कालको विदा किया और शीघ्र ही बाहर आ अत्रिनन्दन दुर्वासाजीसे मिले ॥ ४७ ॥ रघुश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने मुनिको प्रणामकर चित्तमें प्रसन्न हो उनसे आदरपूर्वक पूछा। रामने मुनिसे कहा—"हे मुने! मैं आपका क्या कार्य करूँ?" ॥ ४८ ॥ श्रीरामके ये वचन सुनकर दुर्वासाजीने कहा—"आज मेरा एक हजार वर्षका उपवास समाप्त हुआ है ॥ ४९ ॥ इसलिये हे रघुश्रेष्ठ! आपके यहाँ जो भोजन तैयार हो मुझे उसीकी इच्छा है।" मुनिके ये वचन सुन रामचन्द्रजीने सन्तुष्ट हो उन्हें विधिपूर्वक सिद्ध (पकाया हुआ) अन्न दिया और मुनि उस अमृततुल्य अन्नको खाकर तृप्त होकर चले गये ॥ ५०-५१ ॥

जब दुर्वासा मुनि अपने आश्रमको चले गये तो रघुनाथजीको कालके कहे हुए वचनोंका स्मरण हुआ। इससे वे शोक और दुःखसे आर्त्त तथा अति उदास और व्याकुल हो गये ॥ ५२ ॥ रघुकुलभूषण रामने मन-ही-मन लक्ष्मणको मरा हुआ-सा मान लिया; किन्तु वे दीन चित्तसे नीचेको मुख किये बैठे रहे, उनसे कुछ कह न सके ॥ ५३ ॥ सर्वेश्वर भगवान् राम नीचा मुख किये चुपचाप रह गये। तब रघुनाथजीको अत्यन्त दुःखातुर, मौन, चिन्तित और स्नेहबन्धनकी निन्दा करते देख लक्ष्मणजीने कहा—"हे रघुनन्दन! मेरे लिये सन्ताप न कीजिये, मुझे शीघ्र ही मार डालिये ॥ ५४-५५ ॥ प्रभो! मैंने पहले ही निश्चय कर लिया था, कालकी गति ऐसी ही है। आपके प्रतिज्ञा-भङ्ग करनेसे तो मुझे भी अवश्य नरक भोगना पड़ेगा ॥ ५६ ॥ अतः यदि आपकी मुझपर प्रीति है और यदि मैं अनुग्रह करनेयोग्य हूँ तो हे मतिमान् रामजी! शङ्का छोड़कर मुझे मार डालिये। प्रभो! धर्मका त्याग न कीजिये ॥ ५७ ॥

लक्ष्मणजीका यह कथन सुनकर श्रीरघुनाथजीका चित्त चञ्चल हो गया। उन्होंने सब मन्त्रियोंको बुलाकर यह

मुनेरागमनं यत्तु कालस्यापि हि भाषितम्।
प्रतिज्ञामात्मनश्चैव सर्वमावेदयत्प्रभुः ॥ ५९ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं मन्त्रिणः सपुरोहिताः।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे राममक्लिष्टकारिणम् ॥ ६० ॥

पूर्वमेव हि निर्दिष्टं तव भूभारहारिणः।
लक्ष्मणेन वियोगस्ते ज्ञातो विज्ञानचक्षुषा ॥ ६१ ॥

त्यजाशु लक्ष्मणं राम मा प्रतिज्ञां त्यज प्रभो।
प्रतिज्ञाते परित्यक्ते धर्मो भवति निष्फलः ॥ ६२ ॥

धर्मे नष्टेऽखिले राम त्रैलोक्यं नश्यति ध्रुवम्।
त्वं तु सर्वस्य लोकस्य पालकोऽसि रघूत्तम ॥ ६३ ॥

त्यक्त्वा लक्ष्मणमेवैकं त्रैलोक्यं त्रातुमर्हसि।
रामो धर्मार्थसहितं वाक्यं तेषामनिन्दितम् ॥ ६४ ॥

सभामध्ये समाश्रुत्य प्राह सौमित्रिमञ्जसा।
यथेष्टं गच्छ सौमित्रे मा भूद्धर्मस्य संशयः ॥ ६५ ॥

परित्यागो वधो वापि सतामेवोभयं समम्।
एवमुक्ते रघुश्रेष्ठे दुःखव्याकुलितेक्षणः ॥ ६६ ॥

रामं प्रणम्य सौमित्रिः शीघ्रं गृहमगात्स्वकम्।
ततोऽगात्सरयूतीरमाचम्य स कृताञ्जलिः ॥ ६७ ॥

नव द्वाराणि संयम्य मूर्ध्नि प्राणमधारयत्।
यदक्षरं परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ॥ ६८ ॥

पदं तत्परमं धाम चेतसा सोऽभ्यचिन्तयत्।
वायुरोधेन संयुक्तं सर्वे देवाः सहर्षयः ॥ ६९ ॥

साग्नयो लक्ष्मणं पुष्पैस्तुष्टुवुश्च समाकिरन्।
अदृश्यं विबुधैः कैश्चित्सशरीरं च वासवः ॥ ७० ॥

गृहीत्वा लक्ष्मणं शक्रः स्वर्गलोकमथागमत्।
ततो विष्णोश्चतुर्भागं तं देवं सुरसत्तमाः।
सर्वे देवर्षयो दृष्ट्वा लक्ष्मणं समपूजयन् ॥ ७१ ॥

सब वृत्तान्त वसिष्ठजीको सुनाया ॥ ५८ ॥ प्रभु रामने दुर्वासा मुनिका आगमन, कालका भाषण और अपनी प्रतिज्ञा—ये सब बातें उनसे कह दीं ॥ ५९ ॥ रामचन्द्रजीका कथन सुन पुरोहित वसिष्ठजीके सहित समस्त मन्त्रियोंने अनायास ही सब कार्य करनेवाले भगवान् रामसे हाथ जोड़कर कहा— ॥ ६० ॥ "प्रभो ! पृथ्वीका भार उतारनेवाले आपका लक्ष्मणजीसे पहले ही वियोग होना निश्चित है—यह बात हमने ज्ञान-दृष्टिसे जान ली है ॥ ६१ ॥ अतः हे राम ! तुरंत ही लक्ष्मणजीको त्याग दीजिये, प्रभो ! अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग न कीजिये; क्योंकि प्रतिज्ञा-भङ्ग करनेसे सारा धर्म निष्फल हो जाता है ॥ ६२ ॥ और हे राम ! सम्पूर्ण धर्मका नाश हो जानेपर निश्चय ही त्रिलोकीका नाश हो जाता है। हे रघुश्रेष्ठ ! आप तो सम्पूर्ण लोकोंके रक्षक हैं ॥ ६३ ॥ अतः अकेले लक्ष्मणजीको ही त्याग कर आपको त्रिलोकीकी रक्षा करनी चाहिये।"

रघुनाथजीने सभामें उनके धर्मार्थयुक्त और निर्दोष वचन सुनकर तुरंत ही लक्ष्मणजीसे कहा—"लक्ष्मण ! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ जाओ, जिससे धर्ममें संशय उपस्थित न हो ॥ ६४-६५ ॥ सत्पुरुषोंके लिये त्याग और वध दोनों समान ही हैं।" रघुश्रेष्ठ भगवान् रामके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणजीकी आँखें दुःखसे डबडबा आयीं और वे शीघ्र ही उन्हें प्रणामकर अपने घर आये। वहाँसे वे सरयूतटपर पहुँचे और आचमन करनेके अनन्तर उन्होंने हाथ जोड़ अपने नवों इन्द्रियगोलकोंको रोककर प्राणोंको ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिर किया। फिर जो वासुदेव नामक अव्यय और अविनाशी परब्रह्म पद है उस परमधामका चित्तमें ध्यान किया। इस प्रकार प्राणनिरोध करनेपर ऋषियों तथा अग्निके सहित समस्त देवताओंने लक्ष्मणजीपर पुष्प बरसाये और उनकी स्तुति की। इसी समय इन्द्र किसी भी देवताको दिखायी न देते हुए उन्हें सशरीर लेकर स्वर्गलोकमें चले आये। तब विष्णुभगवान्के चतुर्थांशरूप उन लक्ष्मणदेवको देखकर समस्त देवताओं और देवर्षियोंने उनका पूजन किया ॥ ६६—७१ ॥

लक्ष्मणे हि दिवमागते हरौ
सिद्धलोकगतयोगिनस्तदा ।
ब्रह्मणा सह समागमन्मुदा
द्रष्टुमाहितमहाहिरूपकम् ॥ ७२ ॥

भगवान् लक्ष्मणजीके स्वर्ग पधारनेपर, ब्रह्माजीके सहित सिद्धलोकनिवासी समस्त योगीजन अति प्रसन्न होकर महासर्प (शेष) रूपधारी श्रीलक्ष्मणजीका दर्शन करनेके लिये आये ॥ ७२ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवम सर्ग

महाप्रयाण

श्रीमहादेव उवाच

लक्ष्मणं तु परित्यज्य रामो दुःखसमन्वितः ।
मन्त्रिणो नैगमांश्चैव वसिष्ठं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

अभिषेक्ष्यामि भरतमधिराज्ये महामतिम् ।
अद्य चाहं गमिष्यामि लक्ष्मणस्य पदानुगः ॥ २ ॥

एवमुक्ते रघुश्रेष्ठे पौरजानपदास्तदा ।
द्रुमा इवच्छिन्नमूला दुःखार्ताः पतिता भुवि ॥ ३ ॥

मूर्च्छितो भरतो वापि श्रुत्वा रामाभिभाषितम् ।
गर्हयामास राज्यं स प्राहेदं रामसन्निधौ ॥ ४ ॥

सत्येन च शपे नाहं त्वां विना दिवि वा भुवि ।
काङ्क्षे राज्यं रघुश्रेष्ठ शपे त्वत्पादयोः प्रभो ॥ ५ ॥

इमौ कुशलवौ राजन्नभिषिञ्चस्व राघव ।
कोशलेषु कुशं वीरमुत्तरेषु लवं तथा ॥ ६ ॥

गच्छन्तु दूतास्त्वरितं शत्रुघ्नानयनाय हि ।
अस्माकमेतद्गमनं स्वर्वासाय शृणोतु सः ॥ ७ ॥

भरतेनोदितं श्रुत्वा पतितास्ताः समीक्ष्य तम् ।
प्रजाश्च भयसंविग्ना रामविश्लेषकातराः ॥ ८ ॥

वसिष्ठो भगवान् राममुवाच सदयं वचः ।
पश्य तातादरात्सर्वाः पतिता भूतले प्रजाः ॥ ९ ॥

तासां भावानुगं राम प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
श्रुत्वा वसिष्ठवचनं ताः समुत्थाप्य पूज्य च ॥ १० ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति ! लक्ष्मणजीको त्याग देनेपर रघुनाथजीने अत्यन्त दुःखातुर हो मन्त्रियों, वेदवेत्ताओं और वसिष्ठजीसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥ "आज महामति भरतको राजतिलककर मैं भी लक्ष्मणके मार्गका अनुसरण करूँगा" ॥ २ ॥ रघुनाथजीके इस प्रकार कहनेपर पुरवासी तथा देशवासी लोग दुःखातुर होकर जड़से कटे हुए वृक्षके समान पृथिवीपर गिर पड़े ॥ ३ ॥ रामजीका कथन सुनकर भरतजीको भी मूर्च्छा आ गयी । उन्होंने रघुनाथजीके निकट राज्यकी निन्दा करते हुए इस प्रकार कहा— ॥ ४ ॥ "हे रघुश्रेष्ठ ! मैं सत्यकी शपथ करके कहता हूँ, हे प्रभो ! मुझे आपके चरणोंकी सौगन्ध है, मैं आपके बिना स्वर्गलोक या भूर्लोक कहींके भी राज्यकी इच्छा नहीं करता ॥ ५ ॥ हे महाराज राम ! इन कुश और लवको ही राजतिलक कीजिये—अवधमें वीरवर कुशको और उत्तरमें लवको राजा बनाइये ॥ ६ ॥ शीघ्र ही शत्रुघ्नको लानेके लिये दूत जाने चाहिये, जिससे वह भी हमारे स्वर्गवासके लिये जानेका वृत्तान्त सुन ले" ॥ ७ ॥

भरतजीका कथन सुन उनकी ओर देखकर सम्पूर्ण प्रजा भयभीत तथा रामजीके वियोगसे व्याकुल हो पृथिवीपर गिर पड़ी ॥ ८ ॥ तब भगवान् वसिष्ठजीने रघुनाथजीसे करुणायुक्त वचन कहा—"हे तात ! सारी प्रजा पृथिवीपर पड़ी हुई है उसे कृपा-दृष्टिसे देखो ॥ ९ ॥ हे राम ! इनके प्रेम-भावानुसार तुम्हें भी इनपर कृपा करनी चाहिये ।" वसिष्ठजीके ये वचन सुनकर रघुनाथजीने उन

सस्नेहो रघुनाथस्ताः किं करोमीति चाब्रवीत्।
ततः प्राञ्जलयः प्रोचुः प्रजा भक्त्या रघूद्वहम् ॥ ११ ॥

गन्तुमिच्छसि यत्र त्वमनुगच्छामहे वयम्।
अस्माकमेषा परमा प्रीतिर्धर्मोऽयमक्षयः ॥ १२ ॥

तवानुगमने राम हृद्गता नो दृढा मतिः।
पुत्रदारादिभिः सार्धमनुयामोऽद्य सर्वथा ॥ १३ ॥

तपोवनं वा स्वर्गं वा पुरं वा रघुनन्दन।
ज्ञात्वा तेषां मनोदार्ढ्यं कालस्य वचनं तथा ॥ १४ ॥

भक्तं पौरजनं चैव बाढमित्याह राघवः।
कृत्वैवं निश्चयं रामस्तस्मिन्नेवाहनि प्रभुः ॥ १५ ॥

प्रस्थापयामास च तौ रामभद्रः कुशीलवौ।
अष्टौ रथसहस्राणि सहस्रं चैव दन्तिनाम् ॥ १६ ॥

षष्टिं चाश्वसहस्राणामेकैकस्मै ददौ बलम्।
बहुरत्नौ बहुधनौ हृष्टपुष्टजनावृतौ ॥ १७ ॥

अभिवाद्य गतौ रामं कृच्छ्रेण तु कुशीलवौ।
शत्रुघ्नानयने दूतान्प्रेषयामास राघवः ॥ १८ ॥

ते दूतास्त्वरितं गत्वा शत्रुघ्नाय न्यवेदयन्।
कालस्यागमनं पश्चादत्रिपुत्रस्य चेष्टितम् ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्य च निर्याणं प्रतिज्ञां राघवस्य च।
पुत्राभिषेचनं चैव सर्वं रामचिकीर्षितम् ॥ २० ॥

श्रुत्वा तद् दूतवचनं शत्रुघ्नः कुलनाशनम्।
व्यथितोऽपि धृतिं लब्ध्वा पुत्रावाहूय सत्वरः।
अभिषिच्य सुबाहुं वै मथुरायां महाबलः ॥ २१ ॥

यूपकेतुं च विदिशानगरे शत्रुसूदनः।
अयोध्यां त्वरितं प्रागात्स्वयं रामदिदृक्षया ॥ २२ ॥

ददर्श च महात्मानं तेजसा ज्वलनप्रभम्।
दुकूलयुगसंवीतं ऋषिभिश्चाक्षयैर्वृतम् ॥ २३ ॥

अभिवाद्य रमानाथं शत्रुघ्नो रघुपुङ्गवम्।
प्राञ्जलिर्धर्मसहितं वाक्यं प्राह महामतिः ॥ २४ ॥

सबोंको उठाया और उनका सत्कार कर उनसे प्रेमपूर्वक पूछा—"कहो, मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ?" तब प्रजाजन हाथ जोड़कर रघुनाथजीसे भक्तिपूर्वक बोले— ॥ १०-११ ॥ "आप जहाँ जाना चाहते हैं हम भी वहीं आपका अनुगमन करेंगे। यही हमारी सबसे बड़ी प्रसन्नता और अक्षय धर्म है ॥ १२ ॥ हे राम! हमारे हृदयमें आपका अनुगमन करनेका ही दृढ़ विचार है। अतः हे रघुनन्दन! आप तपोवन, नगर, स्वर्ग आदि कहीं भी जायँ अब हम स्त्री-पुत्रादिके सहित सर्वथा आपका ही अनुसरण करेंगे।" तब रघुनाथजीने उनके मनकी दृढ़ता और कालका वचन समझकर उन भक्त पुरवासियोंसे 'बहुत अच्छा, (ऐसा ही करो)' यह कह दिया। फिर, ऐसा निश्चयकर प्रभु रामने उसी दिन कुश और लवको (अपने-अपने राज्यपर) भेजा। उनमेंसे प्रत्येकको आठ हजार रथ, एक हजार हाथी और साठ हजार घोड़े दिये तथा बहुत-से रत्न, धन और हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंको साथ कर दिया ॥ १३—१७ ॥ कुश और लव रामजीको प्रणाम करके बड़ी कठिनतासे चले। इसी समय रघुनाथजीने शत्रुघ्नजीको लानेके लिये दूत भेजे ॥ १८ ॥

उन दूतोंने तुरंत ही जाकर कालका आगमन, दुर्वासाजीकी करतूत, लक्ष्मणजीका महाप्रयाण, रघुनाथजीकी प्रतिज्ञा, पुत्रोंका अभिषेक और अब राम क्या करना चाहते हैं—ये सब समाचार शत्रुघ्नजीसे निवेदन कर दिये ॥ १९-२० ॥ इस प्रकार दूतोंके मुखसे अपने कुलके नाशका समाचार सुनकर शत्रुघ्नजी अति व्याकुल हुए, किन्तु फिर धैर्य धारण कर तुरंत ही अपने दोनों पुत्रोंको बुलाया; और उनमेंसे महाबली सुबाहुको मथुराके और यूपकेतुको विदिशा नगरीके राज्यपर अभिषिक्त कर स्वयं बड़ी शीघ्रतासे रघुनाथजीके दर्शनके लिये अयोध्याको चले ॥ २१-२२ ॥

वहाँ पहुँचनेपर उन्होंने अपने तेजसे अग्निके समान देदीप्यमान महात्मा रामको दो वस्त्र धारण किये और चिरजीवी ऋषियोंसे घिरे हुए देखा ॥ २३ ॥ महामति शत्रुघ्नजीने लक्ष्मीपति श्रीरघुनाथजीको प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर ये धर्मयुक्त वाक्य कहे— ॥ २४ ॥

अभिषिच्य सुतौ तत्र राज्ये राजीवलोचन ।
तवानुगमने राजन्विद्धि मां कृतनिश्चयम् ॥ २५ ॥

त्यक्तुं नार्हसि मां वीर भक्तं तव विशेषतः ।
शत्रुघ्नस्य दृढां बुद्धिं विज्ञाय रघुनन्दनः ॥ २६ ॥

सज्जीभवतु मध्याह्ने भवानित्यब्रवीद्वचः ।
अथ क्षणात्समुत्पेतुर्वानराः कामरूपिणः ॥ २७ ॥

ऋक्षाश्च राक्षसाश्चैव गोपुच्छाश्च सहस्रशः ।
ऋषीणां देवतानां च पुत्रा रामस्य निर्गमम् ॥ २८ ॥

श्रुत्वा प्रोचू रघुश्रेष्ठं सर्वे वानरराक्षसाः ।
तवानुगमने विद्धि निश्चितार्थान्हि नः प्रभो ॥ २९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे रामं सुग्रीवोऽपि महाबलः ।
यथावदभिवाद्याह राघवं भक्तवत्सलम् ॥ ३० ॥

अभिषिच्याङ्गदं राज्ये आगतोऽस्मि महाबलम् ।
तवानुगमने राम विद्धि मां कृतनिश्चयम् ॥ ३१ ॥

श्रुत्वा तेषां दृढं वाक्यं ऋक्षवानरराक्षसाम् ।
विभीषणमुवाचेदं वचनं मृदु सादरम् ॥ ३२ ॥

धरिष्यति धरा यावत्प्रजांस्तावत्प्रशाधि मे ।
वचनाद्राक्षसं राज्यं शापितोऽसि ममोपरि ॥ ३३ ॥

न किञ्चिदुत्तरं वाच्यं त्वया मत्कृतकारणात् ।
एवं विभीषणं तूक्त्वा हनूमन्तमथाब्रवीत् ॥ ३४ ॥

मारुते त्वं चिरञ्जीव ममाज्ञां मा मृषा कृथाः ।
जाम्बवन्तमथ प्राह तिष्ठ त्वं द्वापरान्तरे ॥ ३५ ॥

मया सार्धं भवेद्युद्धं यत्किञ्चित्कारणान्तरे ।
ततस्तान् राघवः प्राह ऋक्षराक्षसवानरान् ।
सर्वानेव मया सार्धं प्रयातेति दयान्वितः ॥ ३६ ॥

ततः प्रभाते रघुवंशनाथो
विशालवक्षाः सितकञ्जनेत्रः ।
पुरोधसं प्राह वसिष्ठमार्यं
यान्त्वग्निहोत्राणि पुरो गुणो मे ॥ ३७ ॥

ततो वसिष्ठोऽपि चकार सर्वं
प्रास्थानिकं कर्म महद्विधानात् ।

'हे कमलनयन ! मैं अपने राज्यपर दोनों पुत्रोंका अभिषेक कर आया हूँ; हे राजन् ! अब मैंने भी आपहीका अनुगमन करनेका निश्चय कर लिया है—ऐसा आप जानें ॥ २५ ॥ हे वीर ! मैं आपका भक्त हूँ; अतः आपको मुझे छोड़ना न चाहिये।' शत्रुघ्नका दृढ़ निश्चय जान श्रीरघुनाथजीने कहा—'तुम आज दोपहरके समय तैयार रहो।'

इसी समय इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानर, रीछ, राक्षस और गोपुच्छ वानर हजारोंकी संख्यामें आ कूदे तथा ऋषि और देवताओंके पुत्ररूप वे समस्त वानर और राक्षसगण रघुनाथजीका निर्याण सुनकर उनसे कहने लगे—'प्रभो ! आप हमें भी अपने पीछे चलनेके लिये कटिबद्ध समझें ॥ २६—२९ ॥ इतनेहीमें महाबली सुग्रीवने भी यथावत् प्रणाम करके भक्तवत्सल रघुनाथजीसे कहा— ॥ ३० ॥ 'हे राम ! मैं महाबली अङ्गदको राजतिलक कर आपके साथ चलनेका निश्चय करके आया हूँ—ऐसा आप जानें ॥ ३१ ॥

तब उन रीछ, वानर और राक्षसोंके ऐसे दृढ़ वाक्य सुनकर श्रीरघुनाथजीने विभीषणसे आदरपूर्वक इस प्रकार मधुर वचन कहा— ॥ ३२ ॥ 'मैं तुम्हें अपनी शपथ कराता हूँ, जबतक पृथ्वी प्रजा धारण करे तबतक मेरे कहनेसे तुम राक्षसोंका राज्य करो ॥ ३३ ॥ अब तुम मेरी की हुई इस व्यवस्थाके विषयमें कुछ और उत्तर न देना।' विभीषणसे इस प्रकार कह फिर वे हनुमान्जीसे बोले— ॥ ३४ ॥ 'हे मारुते ! तुम चिरकालतक जीवित रहो, मेरी (पूर्व) आज्ञाको मिथ्या मत करो।' फिर जाम्बवान्से कहा—'तुम द्वापरके अन्ततक रहो ॥ ३५ ॥ किसी कारणवश मेरे साथ तुम्हारा युद्ध होगा।' फिर श्रीरघुनाथजीने शेष सब रीछ, वानर और राक्षसोंसे दयापूर्वक कहा—'तुम सब लोग मेरे साथ चलो' ॥ ३६ ॥

दूसरे दिन सबेरे ही विशालहृदय कमलनयन भगवान् रामने पूज्य पुरोहित वसिष्ठजीसे कहा—'हे गुरो ! मेरे आगे अग्निहोत्रकी आहवनीयादि अग्नियाँ चलें' ॥ ३७ ॥ तब वसिष्ठजीने बड़े विधिपूर्वक समस्त प्रास्थानिक कर्म किये। उस समय करोड़ों चन्द्रमाओंके

क्षौमाम्बरो दर्भपवित्रपाणि-
महाप्रयाणाय गृहीतबुद्धिः ॥ ३८ ॥
निष्क्रम्य रामो नगरात्सिताभ्रा-
च्छशीव यातः शशिकोटिकान्तिः ।
रामस्य सव्ये सितपद्महस्ता
पद्मा गता पद्मविशालनेत्रा ॥ ३९ ॥
पार्श्वेऽथ दक्षेऽरुणकञ्जहस्ता
श्यामा ययौ भूरपि दीप्यमाना ।
शास्त्राणि शस्त्राणि धनुश्च बाणा
जग्मुः पुरस्ताद् धृतविग्रहास्ते ॥ ४० ॥
वेदाश्च सर्वे धृतविग्रहाश्च
ययुश्च सर्वे मुनयश्च दिव्याः ।
माता श्रुतीनां प्रणवेन साध्वी
ययौ हरिं व्याहृतिभिः समेता ॥ ४१ ॥
गच्छन्तमेवानुगता जनास्ते
सपुत्रदाराः सह बन्धुवर्गैः ।
अनावृतद्वारमिवापवर्गं
रामं व्रजन्तं ययुराप्तकामाः ।
सान्तःपुरः सानुचरः सभार्यः
शत्रुघ्नयुक्तो भरतोऽनुयातः ॥ ४२ ॥
गच्छन्तमालोक्य रमासमेतं
श्रीराघवं पौरजनाः समस्ताः ।
सबालवृद्धाश्च ययुर्द्विजाग्र्याः
सामात्यवर्गाश्च समन्त्रिणो ययुः ॥ ४३ ॥
सर्वे गताः क्षत्रमुखाः प्रहृष्टा
वैश्याश्च शूद्राश्च तथा परे च ।
सुग्रीवमुख्या हरिपुङ्गवाश्च
स्नाता विशुद्धाः शुभशब्दयुक्ताः ॥ ४४ ॥
न कश्चिदासीद्भवदुःखयुक्तो
दीनोऽथवा बाह्यसुखेषु सक्तः ।
आनन्दरूपानुगता विरक्ता
ययुश्च रामं पशुभृत्यवर्गैः ॥ ४५ ॥
भूतान्यदृश्यानि च यानि तत्र
ये प्राणिनः स्थावरजङ्गमाश्च ।

समान कान्तिमान् भगवान् राम रेशमी वस्त्र धारण किये, कुशाकी पवित्री हाथमें पहने तथा महाप्रयाणमें चित्त लगाये नगरसे इस प्रकार निकले जैसे श्वेत बादलोंमेंसे चन्द्रमा निकलता हो। उनके बायीं ओर हाथमें श्वेत कमल लिये कमलके समान विशाल नेत्रवाली लक्ष्मीजी चलीं ॥ ३८-३९ ॥ तथा दायीं ओर हाथमें लाल कमल लिये अत्यन्त दीप्तिशालिनी श्यामवर्णा पृथ्वी चली। भगवान्‌के आगे सम्पूर्ण शास्त्र, शस्त्र और उनके धनुष-बाण मूर्तिमान् होकर चले ॥ ४० ॥ इसी प्रकार समस्त वेद, समस्त दिव्य मुनिजन तथा ॐकार और व्याहृतियोंके सहित वेदमाता गायत्री—ये सब भी शरीर धारणकर श्रीहरिके साथ चले ॥ ४१ ॥

इस प्रकार रघुनाथजीके चलनेपर अपने बन्धु-बान्धव और स्त्री-पुत्रादिके सहित समस्त पुरजन इस प्रकार चले मानो सफलमनोरथ हो मोक्षके खुले द्वारको जाते हों। फिर रनिवास, सेवकगण, स्त्री और शत्रुघ्नके सहित भरतजी भी चले ॥ ४२ ॥ रघुनाथजीको लक्ष्मीजीके सहित जाते देख बालक और वृद्धोंके सहित समस्त पुरजन तथा अमात्य और मन्त्रियोंके सहित समस्त ब्राह्मणगण चले ॥ ४३ ॥ उनके पश्चात् मुख्य-मुख्य क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्य अन्त्यजादि सभी लोग अति हर्षपूर्वक चले। फिर सुग्रीवादि श्रेष्ठ वानरगण स्नानादिसे शुद्ध हो ('श्रीरामचन्द्रजीकी जय' आदि) मङ्गलमय शब्द करते हुए चले ॥ ४४ ॥ (उनमेंसे) कोई भी संसार-दुःखसे दुःखी, दीन अथवा बाह्य विषयोंमें आसक्त नहीं था। वे सभी परमानन्दस्वरूप भगवान् रामके अनुगामी संसारसे उपराम होकर अपने पशु और नौकर-चाकरोंके सहित रघुनाथजीके साथ चले गये ॥ ४५ ॥ जो प्राणी कभी दिखलायी नहीं पड़ते थे तथा जितने स्थावर और जङ्गम जीव थे—वे सभी संसारसे विरक्त होकर एकमात्र

साक्षात्परात्मानमनन्तशक्तिं
जग्मुर्विरक्ताः परमेकमीशम् ॥ ४६ ॥
नासीदयोध्यानगरे तु जन्तुः
कश्चित्तदा राममना न यातः ।
शून्यं बभूवाखिलमेव तत्र
पुरं गते राजनि रामचन्द्रे ॥ ४७ ॥
ततोऽतिदूरं नगरात्स गत्वा
दृष्ट्वा नदीं तां हरिनेत्रजाताम् ।
ननन्द रामः स्मृतपावनोऽतो
ददर्श चाशेषमिदं हृदिस्थम् ॥ ४८ ॥
अथागतस्तत्र पितामहो महान्
देवाश्च सर्वे ऋषयश्च सिद्धाः ।
विमानकोटीभिरपारपारं
समावृतं खं सुरसेविताभिः ॥ ४९ ॥
रविप्रकाशाभिरभिस्फुरत्त्वं
ज्योतिर्मयं तत्र नभो बभूव ।
स्वयम्प्रकाशैर्महतां महद्भिः
समावृतं पुण्यकृतां वरिष्ठैः ॥ ५० ॥
ववुश्च वाताश्च सुगन्धवन्तो
ववर्ष वृष्टिः कुसुमावलीनाम् ।
उपस्थिते देवमृदङ्गनादे
गायत्सु विद्याधरकिन्नरेषु ॥ ५१ ॥
रामस्तु पद्भ्यां सरयूजलं सकृत्
स्पृष्ट्वा परिक्रामदनन्तशक्तिः ।
ब्रह्मा तदा प्राह कृताञ्जलिस्तं
रामं परात्मन् परमेश्वरस्त्वम् ॥ ५२ ॥
विष्णुः सदानन्दमयोऽसि पूर्णो
जानासि तत्त्वं निजमैशमेकम् ।
तथापि दासस्य ममाखिलेश
कृतं वचो भक्तपरोऽसि विद्वन् ॥ ५३ ॥
त्वं भ्रातृभिर्वैष्णवमेवमाद्यं
प्रविश्य देहं परिपाहि देवान् ।
यद्वा परो वा यदि रोचते तं
प्रविश्य देहं परिपाहि नस्त्वम् ॥ ५४ ॥

परमेश्वर अनन्तशक्ति साक्षात् परमात्मा रामके साथ चले ॥ ४६ ॥ उस समय अयोध्यामें ऐसा कोई जीव नहीं था जो भगवान् राममें चित्त लगाकर उनका अनुगामी न हुआ हो । महाराज रामचन्द्रके कूच करते ही वह सारा नगर सूना हो गया ॥ ४७ ॥ नगरसे बहुत दूर निकल जानेपर श्रीरघुनाथजीने विष्णुभगवान्‌के नेत्रसे प्रकट हुई (सरयू) नदी देखी । स्मरण करते ही पवित्र करनेवाले भगवान् रामचन्द्रजी उसे देखकर बड़े प्रसन्न हुए और फिर इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपने हृदयमें देखने लगे ॥ ४८ ॥

इसी समय, वहाँ पितामह ब्रह्माजी तथा अन्य समस्त देवता, ऋषि और सिद्धगण आये । उस समय जिनमें देवगण विराजमान थे ऐसे सूर्यके समान तेजस्वी करोड़ों विमानोंसे अनन्तपार आकाश खचाखच भर गया । (उनके प्रकाशसे) प्रज्वलित होकर वह स्वयं भी देदीप्यमान हो उठा । (इनके अतिरिक्त पुण्यलोकोंसे आये हुए) पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ तथा महात्माओंमें महान् स्वयंप्रकाशमय दिव्य पुरुषोंसे भी आकाश मानो ढक गया ॥ ४९-५० ॥ उस समय सुगन्धमय वायु चलने लगा और कुसुमसमूहोंकी (निरन्तर) वर्षा होने लगी । तब देवताओंका मृदङ्गनाद और विद्याधर तथा किन्नरोंका गान होते समय अनन्तशक्ति भगवान् रामने एक बार सरयूजलका स्पर्श (आचमन) कर चरणोंसे उसकी परिक्रमा की ।

उस समय, ब्रह्माजी हाथ जोड़कर भगवान् रामसे कहने लगे—"हे परमात्मन् ! आप सबके स्वामी, नित्यानन्दमय, सर्वत्र परिपूर्ण और साक्षात् विष्णुभगवान् हैं । अपने एकमात्र ईश्वरीय तत्त्वको आप ही जानते हैं । तथापि हे अखिलेश्वर ! आपने मुझ दासका निवेदन पूर्ण कर दिया, (सो ठीक ही है, क्योंकि) हे विद्वन् ! आप भक्तवत्सल हैं ॥ ५१—५३ ॥ हे प्रभो ! अब आप भाइयोंसहित अपने आदिविग्रह विष्णुदेहमें प्रविष्ट होकर देवताओंकी रक्षा कीजिये, अथवा यदि आपको कोई और शरीर प्रिय हो तो उसीमें प्रवेश करके हम सबका पालन

त्वमेव देवाधिपतिश्च विष्णु-
र्जानन्ति न त्वां पुरुषा विना माम्।
सहस्रकृत्वस्तु नमो नमस्ते
प्रसीद देवेश पुनर्नमस्ते ॥ ५५ ॥
पितामहप्रार्थनया स रामः
पश्यत्सु देवेषु महाप्रकाशः।
मुष्णंश्च चक्षूंषि दिवौकसां तदा
बभूव चक्रादियुतश्चतुर्भुजः ॥ ५६ ॥
शेषो बभूवेश्वरतल्पभूतः
सौमित्रिरत्यद्भुतभोगधारी ।
बभूवतुश्चक्रदरौ च दिव्यौ
कैकेयिसूनूर्लवणान्तकश्च ॥ ५७ ॥
सीता च लक्ष्मीरभवत्पुरेव
रामो हि विष्णुः पुरुषः पुराणः।
सहानुजः पूर्वशरीरकेण
बभूव तेजोमयदिव्यमूर्तिः ॥ ५८ ॥
विष्णुं समासाद्य सुरेन्द्रमुख्या
देवाश्च सिद्धा मुनयश्च दक्षाः।
पितामहाद्याः परितः परेशं
स्तवैर्गृणन्तः परिपूजयन्तः ॥ ५९ ॥
आनन्दसम्प्लावितपूर्णचित्ता
बभूविरे प्राप्तमनोरथास्ते।
तदाह विष्णुर्द्रुहिणं महात्मा
एते हि भक्ता मयि चानुरक्ताः ॥ ६० ॥
यान्तं दिवं मामनुयान्ति सर्वे
तिर्यक्शरीरा अपि पुण्ययुक्ताः।
वैकुण्ठसाम्यं परमं प्रयान्तु
समाविशस्वाशु ममाज्ञया त्वम् ॥ ६१ ॥
श्रुत्वा हरेर्वाक्यमथाब्रवीत्कः
सान्तानिकान्यान्तु विचित्रभोगान्।
लोकान्मदीयोपरि दीप्यमानां-
स्त्वद्भावयुक्ताः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥ ६२ ॥
ये चापि ते राम पवित्रनाम
गृणन्ति मर्त्या लयकाल एव।

कीजिये ॥ ५४ ॥ आप ही देवाधिपति विष्णुभगवान् हैं। इस बातको मेरे सिवा और कोई पुरुष नहीं जानता। हे देवेश! आपको हजारों बार नमस्कार है, आप प्रसन्न होइये, आपको पुनः-पुनः नमस्कार है" ॥ ५५ ॥

तब पितामह ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे महातेजोमय भगवान् राम सब देवताओंके देखते-देखते उनकी दृष्टिको चुराते हुए चक्रादि आयुधोंसे युक्त चतुर्भुजरूप हो गये ॥ ५६ ॥ लक्ष्मणजी अद्भुत फण धारण कर भगवान्की शय्यारूप शेषनाग हो गये तथा कैकेयीपुत्र भरत और लवणान्तक शत्रुघ्न दिव्य चक्र और शंख हो गये ॥ ५७ ॥ सीताजी तो पहले ही लक्ष्मीजी हो गयी थीं। भगवान् राम पुराणपुरुष विष्णुभगवान् ही हैं। वे भाइयोंके सहित अपने पूर्व-शरीरसे तेजोमय दिव्य-स्वरूपवाले हो गये ॥ ५८ ॥

फिर उन विष्णुभगवान्के पास चारों ओरसे इन्द्रादि देवता, सिद्ध, मुनि, यक्ष और ब्रह्मा आदि प्रजापतिगण आकर उन परमेश्वरकी स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करते हुए पूजा करने लगे और अपना मनोरथ पूर्ण हो जानेसे मन-ही-मन आनन्दमग्न हो गये। तब महात्मा विष्णुभगवान्ने ब्रह्माजीसे कहा—"ये सब मेरे भक्त और मुझमें प्रीति रखनेवाले हैं ॥ ५९-६० ॥ मेरे साथ ये सब भी स्वर्ग-लोकको जाना चाहते हैं। इनमें जो तिर्यक्शरीरधारी हैं वे भी बड़े पुण्यात्मा हैं। ये सब वैकुण्ठके समान उत्तम लोकोंको प्राप्त हों; मेरी आज्ञासे तुम शीघ्र वहाँ इनका प्रवेश करा दो" ॥ ६१ ॥

भगवान्के ये वचन सुनकर ब्रह्माजीने कहा—"भगवन्! आपकी भक्तिसे युक्त ये महापुण्यशाली लोग मेरे लोकसे भी ऊपर अत्यन्त दीप्तिशाली और विचित्र भोगोंसे सम्पन्न सान्तानिक लोकोंको प्राप्त हों ॥ ६२ ॥ हे राम! और भी जो लोग मरनेके समय ही आपका पवित्र

अज्ञानतो वापि भजन्तु लोकां-
स्तानेव योगैरपि चाधिगम्यान् ॥ ६३ ॥

नाम लेंगे अथवा जो भूलकर भी आपका भजन करेंगे वे भी योगियोंको प्राप्त होनेयोग्य उन्हीं लोकोंको जायँगे" ॥ ६३ ॥

ततोऽतिहृष्टा हरिराक्षसाद्याः
स्पृष्ट्वा जलं त्यक्तकलेवरास्ते।
प्रपेदिरे प्राक्तनमेव रूपं
यदंशजा ऋक्षहरीश्वरास्ते ॥ ६४ ॥
प्रभाकरं प्राप हरिप्रवीरः
सुग्रीव आदित्यजवीर्यवत्त्वात्।
ततो विमग्नाः सरयूजलेषु
नराः परित्यज्य मनुष्यदेहम् ॥ ६५ ॥
आरुह्य दिव्याभरणा विमानं
प्रापुश्च ते सान्तनिकाख्यलोकान्।
तिर्यक्प्रजाता अपि रामदृष्टा
जलं प्रविष्टा दिवमेव याताः ॥ ६६ ॥

यह सुनकर समस्त वानर और राक्षसादि अति प्रसन्न हुए और जलस्पर्श करके शरीर छोड़ने लगे। वे रीछ और वानर आदि जिस-जिसके अंशसे उत्पन्न हुए थे उस-उस देवताके पूर्वरूपको ही प्राप्त हो गये ॥ ६४ ॥ वानरराज सुग्रीव सूर्यके वीर्यसे उत्पन्न हुए थे, अतः वे सूर्यमें लीन हो गये, तदनन्तर अयोध्या-निवासी लोग सरयूके जलमें डूब-डूबकर मनुष्य-देहको त्याग दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो विमानोंपर चढ़कर सान्तनिक नामक लोकोंमें पहुँच गये। जो तिर्यक् योनियोंमें उत्पन्न हुए थे वे (कूकर-शूकर आदि) भी भगवान् रामकी दृष्टि पड़नेसे जलमें डूबकर स्वर्गलोकको ही चले गये ॥ ६५-६६ ॥

दिदृक्षवो जानपदाश्च लोका
रामं समालोक्य विमुक्तसङ्गाः।
स्मृत्वा हरिं लोकगुरुं परेशं
स्पृष्ट्वा जलं स्वर्गमवापुरञ्जः ॥ ६७ ॥

जो देशवासी लोग यह सब कौतुक देखनेके लिये आये थे वे भी श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन कर संसारकी आसक्तिको छोड़ लोकगुरु परमेश्वर भगवान् विष्णुका स्मरण करते हुए जलस्पर्श कर अनायास स्वर्गको चले गये ॥ ६७ ॥

एतावदेवोत्तरमाह शम्भुः
श्रीरामचन्द्रस्य कथावशेषम्।
यः पादमप्यत्र पठेत्स पापा-
द्विमुच्यते जन्मसहस्रजातात् ॥ ६८ ॥
दिने दिने पापचयं प्रकुर्वन्
पठेन्नरः श्लोकमपीह भक्त्या।
विमुक्तसर्वाघचयः प्रयाति
रामस्य सालोक्यमनन्यलभ्यम् ॥ ६९ ॥
आख्यानमेतद्रघुनायकस्य
कृतं पुरा राघवचोदितेन।
महेश्वरेणाप्तभविष्यदर्थं
श्रुत्वा तु रामः परितोषमेति ॥ ७० ॥
रामायणं काव्यमनन्तपुण्यं
श्रीशङ्करेणाभिहितं भवान्यै।
भक्त्या पठेद्यः शृणुयात्स पापै-
र्विमुच्यते जन्मशतोद्भवैश्च ॥ ७१ ॥

श्रीमहादेवजीने भगवान् रामकी कथाका परिशिष्टरूप यह इतना ही उत्तरकाण्ड कहा है। जो पुरुष इसका एक पाद (चौथाई श्लोक) भी पढ़ता है वह अपने हजारों जन्मोंके पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ६८ ॥ नित्यप्रति अनेकों पाप करनेवाला पुरुष यदि भक्तिपूर्वक इसका एक श्लोक भी पढ़े तो सम्पूर्ण पापराशिसे छूटकर श्रीरामके सालोक्यपदको प्राप्त हो जाता है, जो दूसरोंके लिये अलभ्य है ॥ ६९ ॥ श्रीरघुनाथजीकी प्रेरणासे उनकी इस कथाको, जिसमें भविष्य चरित्रोंका ही वर्णन किया गया है, पहले श्रीमहादेवजीने रचा था। इसको सुनकर श्रीरामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न होते हैं ॥ ७० ॥ रामायण नामक यह अनन्त पुण्यप्रद काव्य श्रीशंकरभगवान्ने पार्वतीजीसे कहा है। जो पुरुष इसे भक्तिपूर्वक पढ़ता अथवा सुनता है वह अपने सैकड़ों जन्मोंके पापपुञ्जसे मुक्त हो जाता

अध्यात्मरामं पठतश्च नित्यं
श्रोतुश्च भक्त्या लिखितुश्च रामः।
अतिप्रसन्नश्च सदा समीपे
सीतासमेतः श्रियमातनोति ॥ ७२ ॥
रामायणं जनमनोहरमादिकाव्यं
ब्रह्मादिभिः सुरवरैरपि संस्तुतं च।
श्रद्धान्वितः पठति यः शृणुयात्तु नित्यं
विष्णोः प्रयाति सदनं स विशुद्धदेहः ॥ ७३ ॥

है ॥ ७१ ॥ इस अध्यात्मरामायणको नित्यप्रति पढ़ने, सुनने अथवा भक्तिपूर्वक लिखनेवालेसे अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् राम सीताजीके सहित उसके पास रहकर उसकी श्रीवृद्धि करते हैं ॥ ७२ ॥ ब्रह्मा आदि सुरश्रेष्ठोंसे प्रशंसित और मनुष्योंके मनको हरनेवाले इस आदिकाव्य रामायणको जो पुरुष नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक पढ़ता या सुनता है, वह विशुद्ध शरीर धारणकर भगवान् विष्णुके धामको प्राप्त होता है ॥ ७३ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

समाप्तमिदमुत्तरकाण्डम्

पार्वत्यै परमेश्वरेण गदिते ह्यध्यात्मरामायणे
काण्डैः सप्तभिरन्वितेऽतिशुभदे सर्गाश्चतुःषष्टिकाः।
श्लोकानां तु शतद्वयेन सहितान्युक्तानि चत्वारि वै
साहस्राणि समासितः श्रुतिशतान्युक्तानि तत्त्वार्थतः ॥

साक्षात् परमेश्वर (श्रीमहादेवजी) द्वारा पार्वतीजीके प्रति कहे हुए सात काण्डोंसे युक्त इस शुभप्रद अध्यात्मरामायणमें चौंसठ सर्ग हैं। इसकी समाप्तिपर्यन्त कुल चार हजार दो सौ श्लोक कहे गये हैं तथा तत्त्वार्थका विवेचन करते हुए सैकड़ों श्रुतियाँ कही गयी हैं।

श्रीरामाय नमः

श्रीजानकीजीवनाष्टकम्

आलोक्य यस्यातिललामलीलां सद्भाग्यभाजौ पितरौ कृतार्थौ।
तमर्भकं दर्पकदर्पचौरं श्रीजानकीजीवनमानतोऽस्मि ॥ १ ॥
श्रुत्वैव यो भूपतिमात्तवाचं वनं गतस्तेन न नोदितोऽपि।
तं लीलयाह्लादविषादशून्यं श्रीजानकीजीवनमानतोऽस्मि ॥ २ ॥
जटायुषो दीनदशां विलोक्य प्रियावियोगप्रभवं च शोकम्।
यो वै विसस्मार तमार्द्रचित्तं श्रीजानकीजीवनमानतोऽस्मि ॥ ३ ॥
यो वालिना ध्वस्तबलं सुकण्ठं न्ययोजयद्राजपदे कपीनाम्।
तं स्वीयसन्तापसुतप्तचित्तं श्रीजानकीजीवनमानतोऽस्मि ॥ ४ ॥
यद्ध्याननिर्धूतवियोगवह्निर्विदेहबाला विबुधारिवन्याम्।
प्राणान्दधे प्राणमयं प्रभुं तं श्रीजानकीजीवनमानतोऽस्मि ॥ ५ ॥
यस्यातिवीर्याम्बुधिवीचिराजौ वंश्यैरहो वैश्रवणो विलीनः।
तं वैरिविध्वंसनशीललीलं श्रीजानकीजीवनमानतोऽस्मि ॥ ६ ॥
यद्रूपराकेशमयूखमालानुरञ्जिता राजरमापि रेजे।
तं राघवेन्द्रं विबुधेन्द्रवन्द्यं श्रीजानकीजीवनमानतोऽस्मि ॥ ७ ॥
एवं कृता येन विचित्रलीला मायामनुष्येण नृपच्छलेन।
तं वै मरालं मुनिमानसानां श्रीजानकीजीवनमानतोऽस्मि ॥ ८ ॥

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित श्रीरामचरितमानसके विभिन्न संस्करण

कोड-नं०	संस्करण
80	श्रीरामचरितमानस-बृहदाकार (हिन्दी-टीकासहित) बहुत बड़े अक्षरोंमें
81	श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार (हिन्दी-टीकासहित) बड़े अक्षरोंमें
82	श्रीरामचरितमानस-मझला (हिन्दी-टीकासहित) सामान्य अक्षरोंमें
83	श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार (केवल मूल) मोटे अक्षरोंमें
84	श्रीरामचरितमानस-मझला (केवल मूल) सामान्य संस्करण
85	श्रीरामचरितमानस-गुटका (केवल मूल)
697	श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार (हिन्दी-टीकासहित) सामान्य अक्षरोंमें
790	श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार (केवल हिन्दी अनुवाद) मोटे अक्षरोंमें
1095	श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार (हिन्दी-टीकासहित) राजसंस्करण
1282	श्रीरामचरितमानस-मझला (केवल मूल) राजसंस्करण

कोड-नं०	अन्य भाषाओंमें प्रकाशित श्रीरामचरितमानसके विभिन्न संस्करण
1318	श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार (केवल, अंग्रेजी अनुवाद)
786	श्रीरामचरितमानस-मझला (अंग्रेजी अनुवाद)
1314	श्रीरामचरितमानस-ग्रंथाकार (मराठी टीकासहित)
799	श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार (मूल एवं टीका) गुजराती, बड़े अक्षरोंमें
785	श्रीरामचरितमानस-मझला (मूल एवं टीका) गुजराती
878	श्रीरामचरितमानस-मझला (केवल मूल) गुजराती, सामान्य अक्षरोंमें
879	श्रीरामचरितमानस (केवल मूल) गुटका, गुजराती
954	श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार (मूल एवं टीका) बँगला, बड़े अक्षरोंमें
1218	श्रीरामचरितमानस (केवल मूल) ओडिआ, बड़े अक्षरोंमें

श्रीरामचरितमानसके अलग-अलग काण्ड सटीक एवं सुन्दरकाण्डके अन्य भारतीय भाषाओंमें विभिन्न संस्करण भी उपलब्ध हैं।

श्रीरामचरितमानस-सम्बन्धी अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मानस-पीयूष (कोड-नं० 86) सात खण्डोंमें—श्रीरामचरितमानसकी विस्तृत टीका (सम्पादक—श्रीअञ्जनीनन्दनशरण) अनेक मानस-तत्त्वान्वेषकों, विभिन्न संत-महात्माओं तथा अन्यान्य सुप्रसिद्ध कथावाचकोंके द्वारा प्रस्तुत श्रीरामचरितमानसके गूढ़तम भावोंका सुन्दर संकलन।

'मानस-गूढ़ार्थ-चन्द्रिका' हिन्दी-टीका (सात खण्डोंमें) कोड-नं० 1322 (टीकाकार—प० प० दण्डी स्वामी श्रीप्रज्ञानानन्दजी सरस्वती), श्रीरामचरितमानसपर एक नवीन प्रकाशन—मानस-पीयूषकी भाँति श्रीरामचरितमानसके आध्यात्मिक अर्थ, योगपरक अर्थ, शंका-समाधान, तात्त्विक-चर्चा आदि अनेक गूढ़ विषयोंका सुन्दर प्रतिपादन।

मानसमें नाम-वन्दना (कोड-नं० 401), **मानस-रहस्य** (कोड-नं० 103), **मानस-शंका-समाधान** (कोड-नं० 104), भी उपलब्ध।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासकृत अन्य साहित्य

105	विनय-पत्रिका (सरल भावार्थसहित)	108	कवितावली (सरल भावार्थसहित)	112	हनुमानबाहुक (सरल भावार्थसहित)
106	गीतावली (,, ,,)	109	रामाज्ञाप्रश्न (,, ,,)	113	पार्वतीमंगल (,, ,,)
107	दोहावली (,, ,,)	110	श्रीकृष्णगीतावली (,, ,,)	114	वैराग्य-संदीपनी एवं बरवै रामायण (,, ,,)
		111	जानकीमंगल (,, ,,)		